श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २०८

तन्त्रस्वतन्त्रश्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिता

ख्यतत्त्व-कौमुदी

सटिप्पण 'तत्त्वप्रकाशिका' हिन्दी-व्याख्यया

बृहद्भूमिका-परिशिष्टादिभिश्च समलङ्कृता

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

मीमांसा-वेदान्त-साहित्याचार्य-साहित्यरत्न, एम० ए०, पी-एच० डी०

डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगांवकरः

(भूतपूर्व अध्यक्ष, मीमांसा-धर्मशास्त्र विभाग.
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा सम्मानित वरिष्ठ प्रोफेसर,
बड़ौदा युनिवर्सिटी, बड़ौदा

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी (भारत)

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
२०८

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीवाचस्पतिमिश्रविरचिता

सांख्यतत्त्व-कौमुदी

सटिप्पण 'तत्त्वप्रकाशिका' हिन्दीव्याख्यया
बृहद्भूमिका-परिशिष्टादिभिश्च समलङ्कृता

व्याख्याकारः सम्पादकश्च
मीमांसा-वेदान्त-साहित्याचार्य-साहित्यरत्न, एम० ए०, पी-एच० डी०
डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगांवकरः
(भूतपूर्व अध्यक्ष, मीमांसा-धर्मशास्त्र विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा सम्मानित वरिष्ठ प्रोफेसर,
बड़ोदा युनिवर्सिटी, बड़ोदा

चौखम्भा संस्कृत संस्थान
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९
जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी (भारत)

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
208
*****

THE

SĀṀKHYA-TATTVA KAUMUDĪ

OF

ŚRĪ VĀCASPATI MIŚRA

Edited with the 'Tattva Prakāśikā' Hindī commentary, Notes and Preface,

By

Dr. GAJĀNANA ŚĀSTRĪ MUSALAGAONKAR
M. A., Ph.-D.
(Ex. Head of the Mīmāṁsā and Dharmaśāstra Department.
Banaras Hindu University, Varanasi)
UGC Hony. Sr. Professor, Baroda University, Baroda

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 1139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASĪ (INDIA)

Phone : 65889

Fourth Edition : 1985

Price : Rs. 35–00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI–221001

Phone : 65444

ब्रह्मभावमवाप्तानाम् प्रातःस्मरणीयानां पुण्यश्लोकानां श्रीगुरुचरणानां
श्रीपितृचरणानां च पूजनीयचरणेषु 'तत्त्वप्रकाशिके'त्याख्यया
प्रथितसहजसुरभितपुष्पाञ्जलेः

समर्पणम्

श्रीमत्पण्डितराजमार्यचरितं 'राजेश्वरं' सद्गुरुं
विद्यामूर्ति'सदाशिवं' स्वपितरं प्रीतः प्रणम्यादरात् ।
प्रह्वीभूतमना 'गजानन' इति ब्रूते निबद्धाञ्जलि-
ष्टीका यत्कृपयोदिता भवतु तत्प्रीत्यै मया साऽर्पिता ॥

एतां कृतिं भवदनुग्रहमात्रपूर्णां
भक्त्याऽर्पयामि भवतोः परितोषहेतोः ।
नैवेहते यदपि भक्तवरास्तथापि
लक्ष्मीपतेश्चरणयोः पणमर्पयन्ति ॥

प्राक्कथन

डॉ० अतुलचन्द्र वन्द्योपाध्याय
एम० ए०, पी-एच० डी०
(प्राध्यापक तथा अध्यक्ष : संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय)

सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने के कारण ही ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका, सांख्यसम्प्रदाय की सर्वाधिक लोकप्रिय कृति है, जिसपर अनेकानेक भाष्यकारों ने टीका, टिप्पणी लिखी हैं। इन टीकाओं में षड्-दर्शनाचार्य वाचस्पतिमिश्र की 'तत्त्वकौमुदी' को ही सांख्यदर्शन का आकरग्रन्थ बनने का सर्वातिशायी गौरव प्राप्त है।

तत्त्व-कुमुदों को विकसित करने वाली तत्त्व-कौमुदी में पूर्णावगाहन का आनन्द तो कतिपय तत्त्वभेदि-वैदुष्य के अधिकारी ही प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु साधारण बुद्धि के धनी दर्शनप्रेमियों के लिये एक माध्यम की आवश्यकता है, जिसके द्वारा स्वतः प्रकाशमयी कौमुदी प्रकाशित हो सके। इसी दिशा में काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर जी की यह 'तत्त्व-प्रकाशिका' टीका चिरानुभूत आवश्यकता की पूर्ति करती है। यह 'प्रकाशिका' कौमुदी के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों को उद्भासित करती है।

प्राञ्जल भाषा, विशुद्ध शास्त्रीय शैली, अमूल न लिखने की सतत प्रवृत्ति और दुरूहता का अपनोदन इस कृति की प्रमुख विशेषतायें हैं। मैं श्री मुसलगाँवकरजी को इस स्तुत्य प्रयास के लिये हार्दिक बधाई देता हूँ। निश्चय ही यह कृति विद्यार्थी-वर्ग एवं जिज्ञासु जनों के लिये अत्यन्त लाभप्रद होगी। आशा है कि वे निकट भविष्य में अन्य शास्त्रों के तत्त्वों को भी इसी रूप में आलोकित करेंगे।

गोरखपुर
१।८।१९७२

—अतुलचन्द्र वन्द्योपाध्याय

ब्रह्मलीनाः पूजनीयाः श्रीगुरुचरणाः

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-शास्त्ररत्नाकर-पद्मभूषण-

महामहिमोपाध्याय-पण्डितराज-

श्रीराजेश्वरशास्त्रिचरणाः
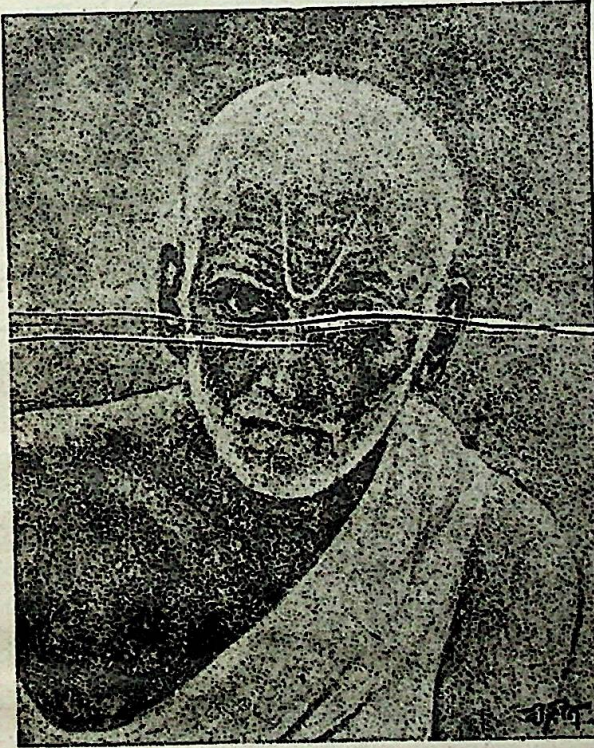
वाग्देवता यस्य वशङ्गताऽऽस्ते वशङ्गतो यो नहि भौतिकानाम् ।
पूज्यो गुरुः पण्डितराज एष राजेश्वरद्राविडशास्त्रिपादः ॥

ब्रह्मलीनाः पूजनीयाः श्रीपितृचरणाः

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-शास्त्ररत्नाकर-धर्मरत्न-धर्ममार्तण्ड-धर्म-
शास्त्रकाननप्रचण्डपञ्चानन-महामहोपाध्याय-
श्रीसदाशिवशास्त्रिचरणाः
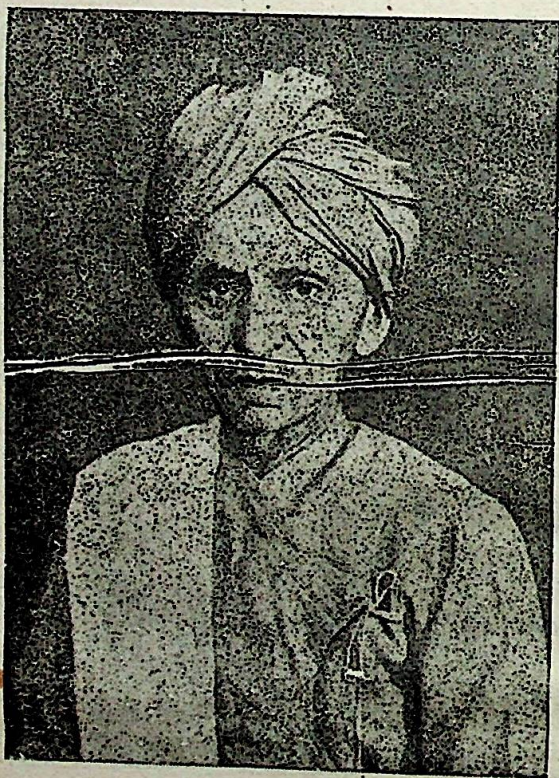
शास्त्रीयतत्त्वाकलनैकदक्षः सदैव चिच्चिन्तनमग्नचेताः ।
त्विषां चयो योगपथे स्थितोऽसौ सदाशिवः पूज्यपिता मदीयः ॥

दक्षिणामूर्ति पीठाधीश्वर परमहंस परिव्राजकाचार्य
स्वामी १०८ श्रीमहेशानन्द गिरि का

शुभाशंसन

भारतीय साहित्य में जिन दार्शनिक ग्रन्थों में अध्यात्म चेतना प्रकट हुई है उनमें सांख्य कारिकाओं का विशेष स्थान है। वैसे भी ईश्वर कृष्ण विरचित इस ग्रन्थ में न केवल सांख्यशास्त्र स्पष्ट किया गया है वरन् पुराण, तंत्र, महाभारत आदि ग्रन्थों का आधार सांख्य होने से सांख्य कारिकाओं के द्वारा इन सभी ग्रन्थों को हृदयंगम करना सरल हो जाता है। स्वयं कारिकायें भी ७० श्लोकों में एक प्रकार से अतिरहस्यमय हैं परन्तु सर्वतंत्र स्वतंत्र आचार्य वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रणीत 'सांख्यतत्त्व-कौमुदी' से ये कारिकायें और भी अधिक प्रभावशाली बन गई हैं। अध्यात्म शास्त्र में प्रविष्ट होने के लिये सांख्य-सिद्धान्त सर्वप्रथम सामने उपस्थित होता है। सांख्यतत्त्वकौमुदी गहन गम्भीर है एवं इसको बिना गुरुपरम्परा के अध्ययन किये समझना असम्भव है। हमारे परम प्रेमास्पदीय पं० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर ने मानो 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' के अनुवाद में अदृश्य गुरुमूर्ति धारण करके ही सांख्य का रहस्योद्घाटन किया है। भूमिका के ८८ पृष्ठ सांख्यतत्त्व-रहस्योद्घाटन के लिये मणिरूप हैं। विशेषत: सेश्वर सांख्य की तरफ मुसलगांवकर जी का झुकाव रहा है और वह ठीक भी है। यह बात दूसरी है कि अति प्राचीन-काल से ही सांख्यों में सेश्वर-निरीश्वर भेद रहा है तथा कपिल के विषय में भी वैसा ही मतभेद रहा है जैसा औपनिषद् तत्त्व के सांख्यानुकूल या सांख्यप्रतिकूल मानने में। पुराणों के आधार पर आपने सेश्वर सांख्य को ही मूल सांख्य के अधिक अनुकूल माना है। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने भी सेश्वर सांख्य का वर्णन वार्तिक में किया। परन्तु उन्होंने निरीश्वर सांख्य का भी वर्णन साथ ही साथ किया है। अतः दोनों की परम्परा अति प्राचीन अवश्य ही है। मुसलगांवकर जी का अध्ययन बड़ा गम्भीर है। यह उनकी वेदांत परिभाषा की हिन्दी व्याख्या मे ही स्पष्ट है। परन्तु सांख्यतत्त्वकौमुदी पर प्रौढ़ता की जैसी पूर्णता है, उससे हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में वह भारतीय अध्यात्म शास्त्र के ग्रन्थों का और भी अधिक विवेचनपूर्ण विश्लेषण करने में समर्थ हो सकेंगे। 'यस्य देवे पराभक्तिः' वाला मंत्र यद्यपि श्वेताश्वर उपनिषद् में उपलब्ध होता है तथापि उसको सुबालोपनिषद् से उद्धृत करके व्याख्याता ने एक अच्छी परम्परा का प्रारंभ किया है, जिसके अनुसार स्मार्त ग्रन्थों में स्मार्त उपनिषदों का प्रमाण देने की अधिक संगतता का प्रतिपादन है। आप्त श्रुति एवं अनुमान का भेद करने में आपने जो विचार का विस्तार किया है, वह न केवल सांख्यवादियों को वरन् मीमांसा तथा वेदांत के विचारकों के लिये भी अत्यधिक उपादेय है। वैसे भी स्थान-स्थान पर मीमांसा के न्यायों का सहारा लेकर आपने इस ग्रन्थ को और अधिक उपयोगी बना दिया है। तंत्रयुक्ति शब्द के अनेक प्रकार के अर्थ करके एवं उस विषय में सुश्रुत, चरक, अर्थशास्त्र जैसे भिन्न-

भिन्न विचारों का समन्वय करने में आपकी विलक्षण प्रतिभा है। सुख, दुःख, मोह के विषय में भी आपके विचार सबके लिये उपादेय हैं। केवल कारिकाओं के अर्थ को ही स्पष्ट नहीं किया गया, वरन् दार्शनिक दृष्टि से नवीन पूर्वपक्षों का उद्भावन करके तथा उसका सिद्धान्तानुकूल परिहार भी जगह-जगह पर किया गया है। इस प्रकार अष्टैश्वर्य के विषय में योगी क्या ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध उनका प्रयोग कर सकता है अथवा नहीं? इत्यादि शंका समाधान भी बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जहाँ जिस किसी भी शास्त्र से जो भी जानना आवश्यक था उसे वहीं स्पष्ट कर दिया गया है। फलस्वरूप इस एक ग्रन्थ को पढ़ने से न केवल सांख्य का ज्ञान हो जाता है वरन् अध्यात्म शास्त्र के उपयोगी अनेक शब्द और भावों का भली प्रकार अवगम भी हो जाता है। इसके लिये तम व मोह के ८, महामोह के १०, तामिस्र के १८ और अंधतामिस्र के १८ भेद इतने विस्तार से निरूपित किये हैं कि जिसे किसी भी प्रकार के दार्शनिक ग्रन्थों के पढ़ने का अभ्यास न हो, उसे भी हृदयंगम हो जायेंगे। इसी प्रकार तुष्टियों का वर्णन समझना चाहिये। भाग्य के विषय में भी आपके विचार चतुर्थ तुष्टि के रूप में यद्यपि अत्यधिक संक्षिप्त हैं तथापि सम्पूर्ण दृष्टि को उपस्थित करने में समर्थ हो पाये हैं। इस प्रकार प्रिय मुसलगांवकर जी का यह अनुवाद न केवल संस्कृत के अनभिज्ञ लोगों के लिये 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' का द्वार है वरन् अल्पश्रुत संस्कृतज्ञों के लिये भी अध्यात्म दर्शन का मार्ग बन गया है, एवं बहुश्रुतों को अनेक नवीन बातों का ज्ञान कराने के साथ पूर्ण आह्लाद प्राप्त कराने का आवश्यक ग्रन्थ हो गया है। ग्रन्थ के अंत में चित्रपटों के द्वारा सांख्य के रहस्य को हस्तामलकवत् बना दिया गया है। भगवान् उमारमण से प्रार्थना है कि वह श्री पं० मुसलगांवकर जी को दीर्घायुष्य के साथ-साथ इस प्रकार के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन करने में प्रवृत्त करें जिससे छिपे हुए आध्यात्मिक रहस्य प्रकट होकर जनसामान्य में जो अध्यात्म शास्त्र के प्रति एक उत्कण्ठा उत्पन्न होती है, और जिसे पूर्ण करने के लिये वे लोग तरह-तरह के नवीन नास्तिक अवैदिक सम्प्रदायों की ओर झुक रहे हैं, तथा सामान्य लोगों को भगवान्, महर्षि आदि शब्दों से सम्बोधित करके अपने हृदय के शून्य को पूर्ण करने का प्रयत्न कर रहे हैं· उसकी जगह ऐसे वास्तविक महामनीषियों में उन लोगों को पूज्य बुद्धि उत्पन्न हो और शनैः शनैः केवल एक मिथ्या आडम्बर के प्रवाह को छोड़कर, जो ब्राह्मण का भूषण स्वाध्याय, चिंतन तथा त्याग रहा है, एवं जिसका मूर्त रूप मुसलगांवकर जी हैं, उनकी तरफ श्रद्धा भक्ति से प्रवृत्त होकर अपना कल्याण साधन कर सकें। हमारा आपका परिचय न्यूनतम एक युग का है एवं इतने काल में उनका त्याग और प्रखर वैदुष्य उनको हमारा अधिकाधिक प्रिय पात्र बनाता रहा है। परब्रह्म परमात्मदेव उन्हें जीवन्मुक्ति का आनंद प्रदान करें, यही हमारी अभिलाषा है।

वाराणसी,
जया एकादशी २०३५

महेशानंदगिरि मण्डलेश्वर

भूमिका

(द्वितीय संस्करण)

करुणावरुणालय उस परमपिता परमेश्वर को अनेकानेक धन्यवाद है, जिसकी अनुपम अनुकम्पा के फलस्वरूप सांख्यतत्त्वकौमुदी की 'तत्त्वप्रकाशिका' व्याख्या का यह द्वितीय संस्करण जिज्ञासु पाठकों के करकमलों में स्थान प्राप्त कर रहा है।

इसका प्रथम संस्करण वि० सम्वत् २०२८, ई० सन् १९७१ में प्रकाशित हुआ था। इधर दो वर्षों से वह अप्राप्य हो रहा था और उसकी माँग बराबर बढ़ रही थी। तथापि अपरिहार्य कारणों से उसका प्रकाशन नहीं हो पा रहा था। किन्तु जनताजनार्दन की प्रबलतम इच्छा को ध्यान में रखकर बड़ी प्रसन्नता से चौखम्भा बन्धु उसे पुनः प्रकाशित कर रहे हैं।

षड्दर्शन टीकाकार श्रीमद्वाचस्पति मिश्र की लेखनी से लिखित 'सांख्यतत्त्व-कौमुदी' अपने प्रौढ़गाम्भीर्य के कारण जितनी क्लिष्ट है, उतनी ही वह उपादेय भी है। आजकल की अध्ययन-अध्यापन की दुखवस्था के कारण उसकी क्लिष्टता और भी अधिक विकराल रूप धारण करती जा रही है। आगे चलकर इसका अध्ययन-अध्यापन ही कहीं लुप्त न हो जाय, इस भय से राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस 'तत्त्व-प्रकाशिका' व्याख्या का निर्माण किया गया था। इस तत्त्वकौमुदी पर न्याय-शैली में लिखित वंशीधरी व्याख्या तथा अन्य 'सुषमा', बालरामोदसीनव्याख्या आदि कितनी ही उत्कृष्ट संस्कृतव्याख्याओं का भी उपसंहार इस 'तत्त्वप्रकाशिका' व्याख्या में किया गया है। ग्रन्थ में मूलसांख्यकारिका, उनका अन्वय और भावार्थ, देते हुए तत्त्वकौमुदीपर 'तत्त्वप्रकाशिका' व्याख्या दी गई है, साथ ही प्रायः सर्वत्र टीपण्णी के रूप में प्रासंगिक ज्ञातव्य विषयों को एवं प्रमाणों तथा सन्दर्भों को भी सन्निविष्ट किया गया है। विस्तृत और प्रमाणपरिप्लुत ऐतिहासिक भूमिका भी साथ में जोड़ दी गई है। इस कारण यह अनुसन्धान कर्त्ता छात्रों और छात्राओं के लिये भी उपादेय सिद्ध हुई है। अब इस द्वितीय संस्करण के लिए कोई नवीन वक्तव्य विषय शेष नहीं रह जाता। वैसे तो सभी शास्त्र स्वयं अपने आप में ही इतने गम्भीर होते हैं, जिनके प्रतिपाद्य विषय का उपपादन कितना भी किया जाय न्यून ही प्रतीत होता है। अतएव गुरुचरणों के पास अध्ययन करने का महत्त्व माना गया है। गुरुकृपा से ही शास्त्र के गूढरहस्य समय-समय पर सच्छिष्यों

को स्वयं स्फुरित होते रहते हैं। व्याख्या, टीका, टिप्पणी, अनुवाद आदि तो गुरुगम्य किये गये विषयों की सुरक्षा और उनकी स्फूर्ति कराने में सहायक हुआ करते हैं। अतः शास्त्रों का अध्यन गुरुपरंपरा से ही करना चाहिये, यही भारत की परिपाटी है।

इसी अवसर पर द्वितीय संस्करण में जिज्ञासु बालक छात्रों के कल्याणार्थ सांख्यशास्त्र की कतिपय महत्त्वपूर्ण उपकारक बातों को बताना अनुपयुक्त न होगा।

सांख्यदर्शन या सांख्यशास्त्र द्वैतवादी है। इसके प्रवर्तक देवहूतिपुत्र महर्षि कपिल महामुनि हैं। इस दर्शन में 'पुरुष' और 'प्रकृति' इन दो तत्त्वों का निरूपण किया गया है। अपने-अपने अस्तित्व में वे दोनों परस्पर निरपेक्ष हैं। 'पुरुष' चेतनतत्त्व है। चैतन्य उसका स्वरूप ही है। नैयायिकों की तरह चैतन्य उसका गुण नहीं है। यह 'पुरुष' नित्य है। वह शरीर, मन, और इन्द्रिय से भिन्न है। वह स्वयं न किसी कार्य को करता है और न उसमें कभी कोई परिवर्तन (परिणाम) ही होता है। वल्कि सांसारिक परिवर्तनों को अलग से ही वह देखता रहता है, द्रष्टामात्र है। प्रकृति के परिणामों का उपयोग करने के लिये भोक्ता की आवश्यकता होने के कारण वह पुरुष उनका भोग लेता है अर्थात् भोक्ता है। प्रत्येक शरीर में एक पुरुष है। अतः अनेक पुरुष हैं, एक नहीं।

इसी तरह 'प्रकृति' समस्त सृष्टि का आदि कारण है। वह भी नित्य है किन्तु जड़ है। वह सर्वदैव परिवर्तनशील है। पुरुष का उद्देश्य सिद्ध करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य है। वह प्रकृति 'त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण ही उसका स्वरूप है। सृष्टि के पूर्व ये तीन गुण साम्यावस्था में रहते हैं। सत्त्व, रज और तम में गुण शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया गया है। वास्तव में सत्त्व, रज और तम ये द्रव्य हैं। जिस प्रकार कोई तिगुनी रस्सी तीन डोरियों की बनी रहती है, उसी प्रकार यह प्रकृति तीन तरह के द्रव्यों से बनी हुई है। संसार की सभी वस्तुएँ सुख, दुःख या मोह की जनक होती है। इन सुख दुःख या मोह के कारण ही हम उस वस्तु के तीन गुणों का अनुमान कर लेते हैं। अनुमान के द्वारा हम जान लेते हैं कि सुख, दुःख और मोह ये तीनों पैदा होने से कार्यरूप हैं, और उस कार्य के उपर्युक्त सत्त्व, रज और तम ये नोनों क्रमशः कारणरूप हैं। कारण तथा कार्य में वस्तुतः ऐक्य रहता है। कारण का विकसित रूप ही कार्य है। संसार के सभी विषय (वस्तुएं) परिणाम रूप हैं, इसीलिये उनसे सुख, दुःख और मोह (विषाद) का अनुभव हुआ करता है। कार्य को कारण का विकसितरूप मानना ही सत्कार्यवाद है। यह 'सत्कार्यवाद' ही सांख्यदर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति के अन्तर्गत सत्त्व, रज और तम का अस्तित्व सिद्ध होता है। सत्त्वगुण,

लघु और प्रकाशक है, रजोगुण चल और उपष्टम्भक है, और तमोगुण अचल तथा आवरणकारी होता है।

सृष्टि का आरंभ पुरुष और प्रकृति के संयोग से होता है। प्रकृति जब पुरुष का संयोग प्राप्त करती है, तब गुणों की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है। यह संयोग घट-पट के संयोग के समान नहीं है। यह संयोग 'योग्यता' रूप है प्रकृति में जडत्व, विषयत्व, भोग्यत्व की योग्यता है, वैसे ही द्रष्टा में चेतनत्व, भोक्तृत्व की योग्यता रहती है। यह योग्यतारूप संयोग अनादि काल से चली आनेवाली विपर्यय-ज्ञानवासना से होता रहता है। अतः यह संयोग भी अनादि है, लेकिन अनन्त नहीं है। विवेक ज्ञान के द्वारा विपर्यय ज्ञानवासना (अज्ञान) रूप निमित्त के नष्ट होने पर उस संयोग का नाश हो जाता है। क्योंकि सम्यक् दर्शन (विवेक ज्ञान) ही विपर्ययज्ञान (अज्ञान) का विरोधी है। प्रकृति अपने में भोग्यत्व सिद्ध करने के लिये और पुरुष अपनी मोक्ष प्राप्ति के लिये परस्पर एक दूसरे को चाहते हैं। इसलिये प्रकृति और पुरुष दोनों का संयोग होता है। जैसे पंगु और अन्धे का संयोग होने पर अन्धा, पंगु के निर्देशन के अनुसार चलता जाता है और पंगु को उसके प्राप्तव्य स्थान पर पहुँचा देता है। पंगु के प्राप्तव्य स्थान पर उसे पहुँचा देना ही अन्धे का एकमात्र लक्ष्य रहता है। उसी तरह यह अन्धी प्रकृति, उस पंगु पुरुष को अपने कन्धे पर चढ़ा कर ले चलती है और पंगु पुरुष उसे मार्ग दर्शन कराता हुआ उस प्रकृति को चलाता रहता है। प्रकृति से अपने को अलग न समझने वाला पुरुष, प्रकृतिगत त्रिविध दुःखों को अपने में ही समझता हुआ, वह उन दुःखों से छुटकारा पाने के लिये कैवल्य (मोक्ष) की इच्छा करता है। किन्तु वह कैवल्य, विवेक ज्ञान से ही हो पाता है। यह पुरुष भोग के लिये प्रकृति से जैसे संयुक्त होता है, उसी तरह वह कैवल्य के लिये भी उससे संयुक्त होता है। प्रतिक्षण परिणाम-शील भावपदार्थों के परिणाम विशेष को ही संयोग कहते हैं। अतः प्रकृति-पुरुष का संयोग भी प्रकृति का परिणाम ही है। आपेक्षिक संयोग जैसे भिन्न-भिन्न होते हैं, वैसे ही भोग के लिये और कैवल्य के लिये भी संयोग भिन्न भिन्न होता है। अर्थात् भोगापेक्षिक संयोग की तरह कैवल्यापेक्षिक संयोग भी अनादि काल से चला आरहा है। हमारे मनोगत सुख-दुःख आत्मा को प्रभावित करते रहते हैं, क्योंकि हम मन तथा आत्मा के भेद को यथार्थतः नहीं समझ पाते हैं। किन्तु जब उनके भेद का यथार्थतः ज्ञान हो जाता है, त्यों ही सुख, दुःखों का अन्त हो जाता है। तब पुरुष का संसार के साथ कोई अनुराग अथवा आसक्ति नहीं रहती, बल्कि संसार के घटनाक्रम का साक्षी या द्रष्टा मात्र वह रह जाता है। इसकी सत्यता को यदि कोई परखना चाहे तो परमपूज्य प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज को प्रत्यक्ष उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है। इसी अवस्था को मुक्ति या कैवल्य कहते हैं। जीवन में रहते हुए भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसे

जीवन्मुक्ति कहते हैं। सांख्यदर्शन को निरीश्वर समझना बड़ी भारी भूल है। सांख्यदर्शन ने ईश्वर पर सृष्टि के कर्तृत्व का भार नहीं थोपा है। सृष्टि के कर्तृत्व का भार उठाने के लिये तो प्रकृति ही पर्याप्त है। शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील ईश्वर, सृष्टि का कारण इसलिये नहीं माना जा सकता कि कारण तथा परिणाम वस्तुतः अभिन्न होते हैं। कारण ही परिणाम में परिणत हुआ करता है। ईश्वर तो संसार के रूप में परिणत हो नहीं सकता, क्योंकि वह परिवर्तनशील नहीं है। सांख्यदर्शन ने ईश्वर के अस्तित्व को एक विशिष्ट पुरुष के रूप में माना है, ऐसा विज्ञानभिक्षु का कथन है, वे कहते हैं कि ईश्वर, प्रकृति का द्रष्टामात्र है, स्रष्टा नहीं। सांख्य का 'पुरुष' शब्द पारिभाषिक है वह चेतन तत्त्व के लिये प्रयुक्त हुआ है। सांख्य के मूल उपादान और विकार रूप में चौबीस जड तत्त्व बताकर पच्चीसवाँ चेतनतत्त्व बताया है। सांख्य ने जड और चेतन दो ही तत्त्व माने हैं। इस दर्शन का लक्ष्य तो प्रकृति और उसके विकारों का तथा चेतन का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करना है अतः जडतत्त्व के संक्षिप्त विकारतत्त्व गिनाकर पच्चीसवाँ पुरुष अर्थात् चेतनतत्त्व कह दिया गया है। यह पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष केवल जीवात्मा-चेतनतत्त्व के लिये ही प्रयुक्त नहीं किया गया है, बल्कि वह भी जडवर्ग के समान चेतनवर्ग के लिये है, जो दो में विभाजित हैं—परमात्मपुरुष और जीवात्मपुरुष। जिस किसी आचार्य ने सांख्य को निरीश्वर कहा है, वहाँ उसका अभिप्राय सृष्टि-कर्तृत्व को लेकर ही समझना चाहिये। उसका द्रष्टृत्व तो सभी को सम्मत है, अतः सांख्य को निरीश्वर न समझकर उसे सेश्वर ही समझना उचित है।

अन्त में हम अपने गुरुचरणों में प्रणाम निवेदन करते हुए चौखम्भा संस्कृत संस्थान के संचालक बन्धुओं को धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने बड़े ही मनोयोग से इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया है तथा श्री कपिलदेव गिरि साहित्याचार्य को मेरा शुभाशीर्वाद है जिन्होंने प्रूफसंशोधनादि में मेरे गुरुतर भार को लगन से सम्हाला है। श्री गिरीजी उन व्यक्तियों में से है, जो दांभिक-कर्मठता के युग में भी वास्तविक कर्मठता का निर्वाह करते रहे हैं। उनकी शुद्ध सरस्वती सेवा का ससम्मान समुज्ज्वल पुरस्कार शीघ्र भविष्य में उन्हें प्राप्त हो यह शुभ कामना करता हूँ।

दि० २४-१२-१९७८

—गजाननशास्त्री मुसलगांवकर

आत्म-निवदने

मेरे मन में सांख्यदर्शन की अभिरुचि पैदा कराने का सम्पूर्ण श्रेय आराध्यचरण, प्रातःस्मरणीय पूज्य पितृचरणों को ही है। शैशवकाल में ही पूज्य पितृचरण अपने वात्सल्यपूर्ण अध्यापन तथा रोचक कथाओं के द्वारा मेरे मन पर सांख्य के संस्कार डालते रहे। सांख्य के सिद्धान्तों को ऐसे रोचक ढंग से वे हृदयंगम करा देते थे कि जिन्हें भुलाने से भी भुलाया नही जा सकता था। कुछ समय के बाद पूज्य पितृचरणों ने मुझे अध्ययनार्थ आराध्यचरण, प्रातःस्मरणीय, पुण्यश्लोक पण्डितराज श्री शास्त्रीजो के समीप काशी भेजा। करुणावरुणालय मेरे गुरुचरण शास्त्रीजी ने अपनी अहैतुकी अनुपम अनुकम्पा से मुझे आप्यायित किया और शनैः शनैः मेरे निमीलित चक्षुओं को उन्मीलित कर मुझे अनुगृहीत किया। दिव्य ज्ञानसम्पन्न अपने पूर्वज ऋषि-महर्षियों के द्वारा भारतीय संस्कृति की मंजूषा में सुरक्षित जगमगाते रत्न दृष्टिगोचर होने लगे, जिन्हें परख-परख कर अद्भुत किन्तु स्वानुभवैकसंवेदनीय आनन्द की अनुभूति होने लगी। व्यावहारिकदृष्टि से अध्ययन की अवस्था को पार कर आज पच्चीस वर्षों से यद्यपि मैं अध्यापन की अवस्था का आनन्द ले रहा हूँ, तथापि भक्त-कामकल्पद्रुम भगवान से अहर्निश यही कामना करता हूँ कि आराध्यचरण समर्थ गुरुचरण और अभिवंदनीय समर्थ पितृचरणों के सान्निध्य में सदैव विविध शास्त्रीय विषयों का अधिकाधिक अध्ययन करता ही रहूँ। परमेश्वर के अपरिमित अनुग्रह से आज दिन तक मेरी शुभ कामना पूर्ण होती आ रही है और भविष्य में भी पूर्ण होती रहेगी यह विश्वास है।

जब मैंने अध्यापन क्षेत्र में पदार्पण किया, तब क्रमशः सांख्य-योग के अध्यापन का भी सुअवसर मुझे प्राप्त होगा यह जानकर उसी समय से मैंने सांख्यकारिका की सभी व्याख्याओं के समान सांख्यतत्त्वकौमुदी की सभी उपलब्ध व्याख्याओं का चिर काल तक निरन्तर लगन के साथ साभिनिवेश अध्ययन किया, पश्चात् अपने सांख्य-

जिज्ञासु छात्रों को पढ़ाया। अध्यापन के समय छात्रों के विविध प्रश्नों की ओर ध्यान देकर उचित समाधान करने के हेतु बुद्धि को निदिध्यासन का पर्याप्त व्यायाम भी करना पड़ता था।

तत्त्वकौमुदी की दो हिन्दी व्याख्याएँ भी मुझे उपलब्ध हुईं, जिनमें से एक 'प्रभा' व्याख्या जो प्रथितयशोवैभव, सांख्यशास्त्र के रहस्यवेत्ता विद्वान् डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र की थी और दूसरी डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य महोदय की थी। दोनों में अपनी अपनी विशेषता थी, उसके अवलोकन से मुझे बहुत लाभ हुआ। कुछ समय के पश्चात् मेरे मन में आया कि आज के युग में राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से एक ऐसी सुविस्तृत व्याख्या की परम आवश्यकता है, जिसके पढ़ते समय छात्रगणों को भी परम्पराशुद्ध अध्ययन का अनुभव हो सके। छात्रों के समक्ष मैंने जब अपना विचार प्रस्तुत किया, तब सभी छात्र प्रसन्न होकर बोल उठे—गुरुवर ! साथ ही बृहत् भूमिका और कतिपय प्रश्नोत्तरों के रूप में नोट्स, एवं सांख्य का शब्द-कोष भी रहे तो हम सभी परीक्षार्थी छात्रों का भी अत्यन्त उपकार होगा।

इस प्रकार अपने छात्रों तथा चौखम्बा प्रकाशन संस्थान के वरिष्ठ संचालक श्री मोहनदास जी गुप्त महोदय के सदिच्छानुसार मुझे इस शुभ कार्य के लिये प्रवृत्त होना पड़ा।

मैंने पूज्य पितृचरण एवं पूज्य गुरुचरणों का बारबार ध्यान करते हुए लेखनकार्य प्रारम्भ कर दिया। बीच-बीच में विघ्न आते गये, किन्तु पूज्य चरणारविन्दों के ध्यानमात्र से ही आगत समस्त विघ्न काल के गाल में विलीन होते रहे। पूज्य चरणों के स्मरण मात्र से सब पद-पदार्थ प्रस्फुरित होने लगे, श्रीमद्वाचस्पतिमिश्र की दुरूह पङ्क्तियों का रहस्य सहजगम्य होने लगा, और व्याख्यालेखन का कार्य समाप्त हुआ। पश्चात् भूमिका लिखने का जब अवसर आया, तब ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक आधुनिक पद्धति छात्रों के लिए उपकारक हो सकती है, यह सोचकर मैंने सांख्य के उपलब्ध अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। उन ग्रन्थों में मुझे प्रामाणिक एवं विश्वसनीय इतिहास श्री पं० प्र० उदयवीरशास्त्री जी का ही प्रतीत हुआ। श्रद्धेय शास्त्रीजी ने निष्पक्ष होकर सप्रमाण और तर्क की कसौटी पर कसते हुए ऐतिहासिक एवं भौगोलिक विषयों का प्रतिपादन तथा सांख्य-सम्बन्धी कितने ही भ्रमों का अपाकरण कर दिया है। उनके 'सांख्यसिद्धान्त' तथा 'सांख्य-

दर्शन का इतिहास' नामक दोनों ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक होने से विद्वानों की दृष्टि में उपादेय सिद्ध हुए हैं। अतः सांख्यदर्शन से संबन्धित इतिहास-जिज्ञासु छात्रों के उपकारक विषय की दृष्टि से सांख्यदर्शन के ऐतिहासिक विद्वान् पं० प्रवर श्री उदयवीर शास्त्रीजी की कृतियों का भूमिका-लेखन में पर्याप्त उपयोग किया गया है। हमें विश्वास है कि सांख्यदर्शन के जिज्ञासु छात्रगण, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक अंश को पढ़कर प्रामाणिक विद्वान् पं० प्र० श्री उदयवीर शास्त्रीजी के घोर परिश्रम पर आश्चर्य चकित हो उठेंगे और अनुसन्धित्सु छात्र श्री शास्त्रीजी की अन्वेषणशैली का अनुकरण करेंगे। तदर्थ हम श्री शास्त्रीजी के अत्यन्त आभारी हैं और कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इस संस्करण के अन्त में विदुषी छात्रा सुश्री कु० विमला कर्नाटक एम० ए० विद्यालंकार, रिसर्चस्कॉलर के द्वारा अध्ययन के समय लिखे गये नोट्स (टिप्पणी) को ही मैंने यत्र तत्र संशोधित कर परीक्षार्थी छात्रों के कल्याणार्थ समाविष्ट कर दिया है। साथ ही सुश्री विमला कर्नाटक द्वारा निर्माण किये गये कतिपय सांख्यीय तत्त्व-संबंधी रेखाचित्र भी दिये गये है, जिनके देखने मात्र से सांख्यकारिका के संपूर्ण प्रमाण-प्रमेयों की अवगति हो सकती है। इसके अनन्तर सांख्यदर्शन का एक छोटा सा शब्दकोश भी जोड़ा गया है, जिससे जिज्ञासुओं को पारिभाषिक शब्दों के समझने में सहायता मिल सकेगी। इसके अतिरिक्त सूचीपत्र, शुद्धिपत्र प्रेसकापी तथा पुनः प्रूफसंशोधनादि—जैसे अत्यन्त सावधानी और परिश्रम के कार्यों को सुश्री० कु० विमला कर्नाटक रिसर्चस्कॉलर तथा विदुषी श्रीमती सुभद्रा चौधरी, रिसर्चस्कॉलर ने रिसर्च कार्य में व्यस्त रहते हुए भी अपना बहुमूल्य समय देकर सम्पन्न किया है, तदर्थ उन दोनों विदुषियों के अभ्युदय की कामना करता हुआ उन्हें हृदय से आशीर्वाद दे रहा हूँ।

सांख्यकारिका तथा तत्त्वकौमुदी की उपलब्ध प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृत व्याख्याओं के सभी व्याख्याकारों को पुनः पुनः प्रणतिपुरःसर धन्यवाद समर्पण करता हूँ, जिनकी व्याख्याओं के द्वारा निर्मलज्ञान प्राप्त कर सर्वतन्त्रस्वतंत्र श्रीमद्वाचस्पति मिश्र की तत्त्वकौमुदी के रहस्योद्घाटन में पटीयसी 'तत्त्वप्रकाशिका' नाम की व्याख्या के निर्माण में अपने को मैंने सक्षम बना पाया। अन्त में उस भक्तकाम-कल्पद्रुम करुणावरुणालय भगवान् के मधुरमनोहरचरणारविन्दयुगल पर अनन्त

प्रणाम हैं, जिनके कृपाकटाक्षमात्र से यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होकर अब वह सदय सहृदय विवेकी विद्वानों के करकमलों तक प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में पहुँच रहा है। चौखम्बा प्रकाशन के प्रमुख सञ्चालक बन्धुद्वय श्री मोहनदासजी गुप्त तथा श्री विट्ठलदासजी गुप्त महोदयों का तो जितना भी साधुवाद किया जाय थोड़ा ही होगा।

अन्त में विवेकी विद्वानों से सविनय प्रार्थना है :—

'न चात्रातीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते॥
निर्दोषत्वैकवाक्यत्वं क्व वा लोकस्य दृश्यते।
सापवादा यतः केचिन्मोक्षस्वर्गावपि प्रति॥'

विजयादशमी
वि० सं० २०२८

निवेदयिता—
गजाननशास्त्री मुसलगांवकर

भूमिका

यस्याख्यया प्रथितपण्डितराजतायै स्पर्धालवः प्रवयसः स्पृहयन्ति विज्ञाः।
राजेश्वरं गुरुवरं विदुषां वरेण्यं पूज्यं सदाशिव महम्पितरं च नौमि ॥

दर्शनशास्त्रों की प्रवृत्ति का उद्देश्य

प्राणिमात्र की प्रवृत्ति सुख की ओर होती दिखाई देती है। एक क्षण के लिये भी दुःख कोई नहीं चाहता। सांसारिक दुःखों से उद्विग्न होने पर कतिपय लोगों की आत्महत्या की ओर प्रवृत्ति होती जो दिखाई पड़ती है, वह भी सुख के मोह से ही होती है। विद्वानों ने कहा भी है—'दुःखादुद्विजते लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम्' इति।

किन्तु सुख क्या है ? इस प्रश्न का समाधान साधारण जनसमाज नहीं कर पाता; वह तो कामोपभोग में तत्पर रहकर इन्द्रियों की तृप्ति को ही परम सुख मानकर चलता है, किन्तु तत्त्वज्ञ विद्वानों का कहना है कि वह दुःखमिश्रित होने से त्याज्य कोटि में ही गिनने योग्य है, अतः ऐहिक सुखोपभोग दुःख से पूर्ण होने के कारण—विषमिश्रित मधु के तुल्य उसे त्यागकर ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक सुख की खोज और उसकी उपलब्धि के लिए तत्त्वज्ञ विद्वान् स्वयं प्रयत्नशील रहकर दुःख सागर में निमग्न हुए साधारण लोगों के उद्धारार्थ उसका प्रचार तथा प्रसार करते हैं। दर्शन शास्त्रों की प्रवृत्ति का यही एकमात्र उद्देश्य है।

सांख्यदर्शन और उसके रचयिता

भारतीय दर्शनों में बारह दर्शन अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनमें छह वैदिक दर्शन और छह अवैदिक दर्शन हैं. उन छह वैदिक दर्शनों में से ही यह प्रस्तुत सांख्य दर्शन है, जिसके रचयिता परमर्षि भगवान् कपिल महामुनि समझे जाते हैं। उन्होंने वेदनिहित सांख्यज्ञान को सूत्रों में ग्रथित कर शिष्यपरम्परा द्वारा उसका प्रचार एवं प्रसार किया।

सांख्यदर्शन का महत्त्व और उसकी प्राचीनता

भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्यदर्शन का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। महाभारतकार ने इसकी साक्ष्य दी है—"ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्"—[शां० प० ३०१।१०३]। शान्ति पर्व में पंचशिख और धर्मध्वज जनक, ब्रह्मवादिनी सुलभा और धर्मध्वजजनक, याज्ञवल्क्य और

दैवरातिजनक के संवादरूप में सांख्य के सिद्धान्तों का काव्यमयशैली से उल्लेख हुआ है। उसी प्रकार यत्र तत्र अनेक प्रकरणों में सांख्यसिद्धान्तों का प्रसंगतः वर्णन किया गया है। शान्तिपर्व में अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों के संवादों का उल्लेख है। उन संवादों में जो दार्शनिक विचार प्रकट किये गये हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि वे किन्हीं सांख्यग्रन्थों अथवा सांख्यपरंपराओं के आधारपर वर्णन किये गये हैं।

(१) उन संवादों में एक कपिल-आसुरि का संवाद है।[1] वहाँ जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

'सत्त्व, रजस्, तमस्—प्रधान अथवा प्रकृति हैं। प्रधान से महत् की उत्पत्ति होती है, महत् से अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकार से एकादश इन्द्रियां और पञ्च-महाभूत उत्पन्न होते हैं। प्रकृति का 'आद्य' पद से उल्लेख किया है। बुद्धि आदि तेईस तत्त्वों को 'मध्यम' कहा है। इन चौबीस तत्त्वों के ज्ञान से प्रकृति में स्थिति बताई है। इनके अतिरिक्त पच्चीसवें पुरुष का उल्लेख है। पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान अर्थात् प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञान से अपवर्ग होता है।'

(२) महाभारत में अनेक स्थलों पर पंचशिख का उल्लेख है। शान्तिपर्व के २२० वें अध्याय में आसुरि के शिष्यरूप से पंचशिख का उल्लेख किया गया है। इसी पर्व के २२०—२२२ तथा ३२४ अध्याय में पंचशिख और जनक के संवाद का वर्णन आया है। इन संवादों में जिन सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—'सत्त्व, रजस्, तमस्—ये तीन गुण हैं। प्रत्येक वस्तु में इन तीनों की स्थिति पाई जाती है। सत्त्व के धर्म हैं—प्रीति प्रहर्ष आनन्द शान्ति। रजस् के धर्म हैं:—अप्रीति, अतुष्टि, परिताप, शोक, लोभ, अक्षमा। तमस् के धर्म हैं:—विषाद, अविवेक, मोह, प्रमाद, स्वप्न, तन्द्रा। बुद्धि, अहंकार और एकादश इन्द्रिय—ये तेरह करण हैं। मन का दोनों प्रकार की इन्द्रियों—[ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय] के साथ सम्बन्ध होता है। पाँच भूत हैं। शरीर की उत्पत्ति पाँचों भूतों से होती है। ज्ञान से मुक्ति का होना बताया गया है।'

(३) इसके अतिरिक्त महाभारत शान्तिपर्व [३०८–३१४ तक] के सात अध्यायों में वशिष्ठ और जनक के संवाद का विस्तारपूर्वक वर्णन है। इस संवाद में जिन सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

'प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। अव्यक्त प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत् से अहंकार और अहंकार से पंचभूत। ये आठ प्रकृति और सोलह विकार हैं। जिनमें पाँच महाभूत और सम्पूर्ण इन्द्रियां हैं। प्रकृति का अधिष्ठाता एक चेतन पुरुष है। प्रलयकाल में अव्यक्त प्रकृति एकरूप रहती है। सर्गकाल में उसका बहुरूप परिणाम हो जाता है। पुरुष और प्रकृति भिन्न भिन्न हैं। यह पुरुष जब इस भेद को जान लेता है, तब वह प्रकृति से छूट जाता है।'

१. म० भार० शां० प० ३२६-३२८ अ०।

इसी प्रकार महाभारत शान्तिपर्व के [३१५-३२३ तक] नौ अध्यायों में याज्ञवल्क्य और दैवराति जनक के संवाद का उल्लेख है। इस संवाद में जिन सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, उनका संक्षेप इस प्रकार है:—

'अव्यक्त, महान्, अहंकार, और पांच सूक्ष्मभूत—ये आठ प्रकृति हैं, इनमें महत् आदि सात् व्यक्त हैं। एकादश इन्द्रिय और पांच महाभूत—ये सब सोलह विकार हैं। अव्यक्त से महान् की उत्पत्ति होती है। महान् से अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से मन, इन्द्रियां और भूत उत्पन्न होते हैं। त्रिगुणात्मक जगत् प्रकृति का परिणाम है। सत्त्व, रजस्, तमस् इनके आनन्द, दुःख, अप्रकाश आदि स्वरूप हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। पुरुष नाना हैं।'

साधारणरूप से ये इतने स्पष्ट सांख्य सिद्धान्त हैं, जिनके विषय में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।'

सांख्य सिद्धान्त की दृष्टि से 'षड्विंश' परमात्मा

"शान्तिपर्व के ३०६ ठे अध्याय में राजा विश्वावसु और ब्राह्मण याज्ञवल्क्य के संवाद का उल्लेख है। विश्वावसु याज्ञवल्क्य से प्रश्न करता है, पञ्चविंश के विषय में मैंने आपसे सुना, तथा कपिल, आसुरि, पञ्चशिख, पराशर, वार्षगण्य, गौतम, गर्ग आदि के विस्तृत साहित्य को देखा है, पञ्चविंशविषयक कथन कहाँ तक युक्त है, यह मैं आपके मुख से सुनना चाहता हूँ, आप शास्त्रों के प्रगल्भ ज्ञाता हैं और अति बुद्धिमान् हैं। आपने सांख्यज्ञान को पूर्णरूप में प्राप्त किया है, आप निःसंशय महाज्ञानी हैं, चराचर को आपने जान लिया है, सांख्यज्ञान के विषय में आपसे मैं सुनना चाहता हूँ।

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया, गन्धर्वराज विश्वावसु! तुम योग्य अधिकारी हो, जो जिज्ञासा तुमने प्रस्तुत की है, उसके विषय में जैसा मैं जानता हूँ, वह कह रहा हूँ, सुनो—सांख्यशास्त्र में प्रकृति को जड़ कहा गया है और पञ्चविंश अर्थात् पुरुष को चेतन। चेतन पुरुष जड़तत्त्व को जान लेता है, पर जड़तत्त्व चेतन को नहीं जान पाता, ज्ञान चेतन का स्वरूप है। प्रकृति का 'प्रधान' नाम इसी कारण है कि वह इस समस्त भूत-भौतिक ब्रह्माण्ड का आधार है। प्रलयकाल में कार्य जड़ कारण जड़ में लीन हो जाता है, इसी आधार पर प्रकृति को प्रधान कहते हैं। सांख्यशास्त्र के तत्त्व को समझने वाले विद्वानों ने ऐसा ही कहा है।

यह पञ्चविंश-चेतन जीव पुरुष कुछ देखता है, कुछ नहीं देखता। साधारण सांसारिक दशा में यह केवल अपने देह गेह आदि को तथा अन्य भूत-भौतिक सुख साधन सामग्री को देखता है, पर स्वयं अपने को एवं अपने से परे 'षड्विंश' तत्त्व को अर्थात् परमात्मा को नहीं देख पाता। वह परमात्माचेतन विश्व का नियन्ता व सर्वज्ञ है, वह समस्त जीवात्माओं तथा प्रकृति एवं सकल भूत-भौतिक को बराबर देखता है [षड्विंशः पञ्चविंशं च चतुर्विंशं च पश्यति] परन्तु चेतन होता हुआ

भी यह जीवात्मा संसारी अवस्था में उसको नहीं देख पाता, जो इसको प्रतिक्षण देख रहा है। मानव देह को प्राप्तकर यह जीवात्मा अभिमान करता है, मुझसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है। प्रकृति एवं प्राकृत जड़ साधनों में डूबा हुआ यह अपने चेतन स्वरूप को भूला रहता है, परन्तु जब वह जड़तत्त्व से अतिरिक्त अपने चेतन स्वरूप को साक्षात् करता है, उस समय समाधिलाभ से कैवल्य अवस्था को प्राप्त हुआ यह परमात्मा का दर्शन कर पाता है[1]। वह मूल उपादान जड़तत्त्व अन्य है, जीवचेतन (पञ्चविंश) अन्य है। जीव चेतन में स्थित होने से वह आत्मा एकमात्र परमात्मा को जान लेता है। जन्म और मृत्यु के कष्ट से भीत सांख्यवित् पवित्रान्तःकरण होकर विधिपूर्वक समाधिलाभ द्वारा परमात्मा (षड्विंश) का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करते हैं[2]।" महाभारतकार ने सांख्य की महत्ता के सम्बन्ध में यहाँ तक कह दिया है कि "नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्। अत्र वः संशयो मा भूत् ज्ञानं सांख्यं परं स्मृतम्॥" [महाभा० शां० प० ३१६।२]

इस प्रकार सांख्य दर्शन का महत्त्व एवं उसकी प्राचीनता भलीभाँति अवगत हो जाती है। उसकी प्राचीनता में दो मत हो ही नहीं सकते। सभी दर्शनों में कहीं[3] खण्डनार्थ तो कहीं[4] मण्डनार्थ इसका उल्लेख किया हुआ पाया जाता है। एवं च सांख्यदर्शन के महत्त्व का परिचय सभी शास्त्र दे रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं।

सांख्यदर्शन की श्रुतिमूलकता

विचारशील विद्वानों का कहना है कि सांख्य शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषत् में पाया जाता है। सांख्य-प्रतिपादित विचारों का उल्लेख ऋग्वेद[6] में उपलब्ध होने से उसकी अति-प्राचीनता में किसी प्रकार भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद की ऋचा इस प्रकार है:—

"दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्त होता विषुरूपेषु जन्मसु॥"

---

१. यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः। तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति॥

२. अन्यश्च राजन्नवरस्तथान्यः पञ्चविंशकः। तत्स्थत्वादनुपश्यन्ति एक एवेति साधवः॥ ७५॥
जन्ममृत्युभयाद्भीता योगाः सांख्याश्च काश्यप। षड्विंशमनुपश्यन्ति शुचयस्तत्परायणाः॥

३. ब्र० सू० भाष्य—२।४।२८ "स (प्रधानकारणवादः) च कार्यकारणानन्यत्वाभ्युपगमात् प्रत्यासन्नो वेदान्तवादस्य, देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः। तेन तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कर्तव्यः।"

४. महाभारत—शां० प० ३१६।२—नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्।
अत्र वः संशयो मा भूत् ज्ञानं सांख्यं परं स्मृतम्॥

५. श्वेता० उप०—६।१३ "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥"

६. ऋ० [१०।६४।५]

अदिते=हे अदिति! दक्षस्य जन्मनि व्रते=पुरुष के व्यवस्थानुकूल जन्म में, राजाना=दीप्तियुक्त, मित्रावरुणा=मित्र और वरुण की, विवाससि=तुम परिचर्या करती हो, अतूर्तपन्था:=व्यवस्थित मार्गवाला, पुरुरथ:=अनेक भोगों से युक्त, अर्यमा=विरोधों को सहन करने वाला, वह पुरुष होता है। विषुरूपेषु=इन विविध-रूप, जन्मसु=जन्मों में, सप्त होता=सात होताओं से युक्त, वह है।

जब आदि सृष्टि में सर्वप्रथम पुरुष जन्म लेता है अर्थात् जीव-चेतन, स्थूल शरीर के साथ सम्बद्ध होकर प्रकाश में आता है, उस समय उसके जन्म के लिये अदिति, तेजोरूप शक्तिशाली मित्र और वरुण की सेवा करती है। वह पुरुष अपनी नियमित गति से चलने वाला, विविध भोगों को भोगने वाला, तथा अपने विरोधों को सहन करनेवाला होता है। वैषम्य अवस्था के इन विविध जन्मों में सात होता सदा उसके साथ रहते हैं।

यहाँ पुरुष-दक्ष और प्रकृति-अदिति कही गई है। पुरुष चेतनसत्ता सदा रहने वाली नित्यवस्तु है। उसके विषय में उत्पत्ति का निर्देश औपचारिक है। वस्तुतः शारीरिक तत्त्वों का उत्पत्ति से सम्बन्ध है, चेतनसत्ता का नहीं, तथापि व्यवहार में प्रयोग मात्र हुआ करता है। जन्म लेकर पुरुष व्यवस्थाओं के अनुसार नियमित गति से अपनी जीवनयात्रा सम्पन्न करता है। अनेक भोगों को भोगता तथा सांसारिक संघर्षों का सामना करता है। इस यात्रा में 'सात-होता=सात प्रकृति-विकृति तत्त्व सदा उसके साथ रहते हैं। प्रकृति की साम्यावस्था में, जो संसार की प्रलयावस्था है, उसमें यह सब कुछ नहीं होता। विषमावस्था में सृष्टि आरम्भ होकर पूर्व सर्गों के समान यह चक्र चल पड़ता है।"

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'दक्ष' पद से पुरुष और 'अदिति' पद से प्रकृति को क्यों समझा जाय? किन्तु इसका समाधान इस प्रकार है—

'दक्ष' पद पुरुष अर्थात् चेतन तत्त्व का द्योतक है। ऐतरेय ब्राह्मण[1] में 'क्रतुं दक्षं वरुण संशिशाधि'[2] मंत्र का प्रतीक देकर लिखा है—'इति वीर्यं प्रज्ञान वरुणं संशिशाधीति'। इससे स्पष्ट होता है कि उक्त ब्राह्मण में 'दक्ष' पद का प्रज्ञान अर्थ किया है। 'प्रज्ञान' और 'चेतन' एक अर्थ को कहने वाले दो पद हैं। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता[3] और जैमिनीय ब्राह्मण[4] में 'प्राण' को दक्ष कहा है। 'प्राण' चैतन्य का प्रतीक है। चेतना के बिना शरीर में प्राण की स्थिति संभव नहीं। इसी प्रकार 'अदिति' पद प्रकृति का बोधक है। निघण्टु[5] की व्याख्या में देवराजयज्वा लिखते हैं—अदितिः''' आत्मपक्षे प्रकृतिः। निरुक्त[6] की व्याख्या करते हुए स्कन्दस्वामी ने लिखा है—अदितिः'''अध्यात्म पक्षे प्रकृतिः' तथा अध्यात्ममपि अदितिः। प्रकृतिः कारण ब्रह्म' इन स्थलों में 'अदिति' पद का अर्थ-मूल उपादान कारण प्रकृति किया गया है।

१. [२।२३] २. [८।४२।३] ३. [२।५।२।४] ४. [२।२५२]
५. [४।२] ६. [४।२२, २३]

कतिपय विद्वान् भगवान् शंकराचार्य के द्वारा अद्वैत सिद्धान्त के स्थापनार्थ किये गये सांख्यसंमत प्रकृतिवाद के खण्डन को देखकर उन्हें भी अपने मत के अनुकूल समझते हैं और कहते हैं कि "भगवान् शंकराचार्य ने भी सांख्यदर्शन को अपने अद्वैत-सिद्धान्त का विरोधी देखकर उसकी वेदमूलकता का निषेध[1] किया है। कापिल सांख्य के अवैदिक होने के सम्बन्ध में भगवान् शंकराचार्य ने अपना मत प्रदर्शित किया है कि कपिलमत श्रुतिविरुद्ध होने से वह श्रद्धेय नहीं है।"[2] किन्तु भगवान् शंकराचार्य का अभिप्राय ऐसा नहीं है जैसा आपाततः प्रतीत हो रहा है। अपने उद्दिष्ट सिद्धान्त की सिद्धि के लिये कभी-कभी मतान्तर की निन्दा भी करनी पड़ती है, किन्तु उसका तात्पर्य निन्दा करने में न होकर अपने सिद्धान्त की पुष्टि में रहता है—'नहि निन्दा निन्दितुम्प्रवर्तते अपितु विधेयं स्तोतुम्'—यह प्रसिद्ध है।

महाभारत में सांख्य का पर्याय शब्द 'यथाश्रुतिनिर्दशनम्' उपलब्ध होता है।[3] उसी प्रकार प्रकृति विभूतियों के अध्यात्म, अधिदैव अधिभूतरूप से वर्णन करने के प्रकरण में सांख्यवादियों के अनेक पर्याय उपलब्ध होते हैं।[4] इन पर्याय शब्दों में चार बार 'यथाश्रुतिनिदर्शिनः' शब्द आया है, जिससे सांख्य का श्रुतिमूलकत्व उपपन्न हो जाता है। सांख्य की प्राचीनता को स्वीकार करनेवाले पाश्चात्य विद्वान् मिस्टर याकोवी-महोदय उपनिषद्, भगवद्गीता, और महाभारतान्तर्गत अन्यान्य भागों में सांख्य–योग का समन्वय हुआ बताते हैं।[5] ऋषितर्पण में सांख्यचार्यों के नाम उपलब्ध होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि पूर्व समय में परम आस्तिक वैदिक विद्वानों की भी सांख्य के अध्ययन में प्रवृत्ति हुआ करती थी।[6] अतः सांख्य यदि श्रुतिमूलक न होता तो

---

१. सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु सांख्ययोगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः। सांख्ययोगौ हि परमपुरुषार्थसाधनत्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन श्रौतेनोपबृंहितौ।' [श्वेत० उप० ६।१३]

"तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' इति निराकरणन्तु न सांख्यज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निःश्रेयसमधिगम्यते" [ब्र० सू० भा० २।१।३]

२. "या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्। 'कपिलम्' इति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणाम्प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्य असाधकत्वात्।" [ब्र० सू० भा० २।१।१]

३. 'एतानि नव वर्गाणि तत्त्वानि च नराधिप।
चतुर्विंशतिरुक्तानि यथाश्रुतिनिर्दशनात्॥' [महाभार० शां० पर्व ३१०।२५]

४. [महाभारत शां० प० अ० ३१३] "ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः, तत्त्वार्थदर्शिनः, योगप्रदर्शिनः, संख्यान-दर्शिनः, योगनिदर्शिनः, यथाश्रुतिनिदर्शिनः, तत्त्वबुद्धिविशारदाः, यथाशास्त्रविशारदाः, सूक्ष्मनिदर्शिनः, यथावदभिदर्शिनः।

५. Die Entwicklung der Gottesidee bie den Inderm, P. 32.

६. Keith : Sāṁkhya System, P. 22.

यह उपर्युक्त कथन उपपन्न नहीं होता। इस तर्क की पुष्टि वेदों में सांख्यीय पदार्थों की उपलब्धि से हो जाती है। देखिये ऋग्वेद का मंत्र बता रहा है—'तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्"—[ऋ० १०।१२९।३] तम ने ही आगे चलकर अव्यक्तरूप धारण किया। भूत-भौतिक जगत् का अपने कारणभूत तम में लय बतानेवाली यह श्रुति सत्कार्यवाद का निरूपण कर रही है। यह अर्थ सायणाचार्य को भी अभिप्रेत है—"अग्रे सृष्टेः प्राक् प्रलयदशायां भूत-भौतिकं सर्वं जगत् तमसा गूळ्हम्। यथा नैशन्तमः सर्वपदार्थजातमावृणोति तद्वत्। आत्मतत्त्वस्य आवरकत्वात् मायापरसंज्ञं भावरूपाज्ञानमत्र तम उच्यते। तेन तमसा निगूढं संवृतं कारणभूतेन तेन आच्छादितं भवति। आच्छादकात् तस्मात् तमसो नामरूपाभ्यां यदाविर्भवनं तदेव तस्य जन्मेत्युच्यते। एतेन कारणावस्थायामसदेव कार्यमुत्पद्यते, इत्यसद्वादिनोऽसत्कार्यवादिनो ये मन्यन्ते ते प्रत्याख्याताः।" इसी अर्थ का अन्यत्र प्रतिपादन करती हुई श्रुति 'प्रधान' का नामान्तर 'अज' होना भी बताती है—'तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समागच्छन्त विश्वे। अजस्य अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः।'—(ऋ० १०। ८२।६), उसी तरह बृहदारण्यक[1] श्रुति ने 'पुरुष' को द्रष्टा मात्र बताया है, कर्ता नहीं और उसकी क्रिया शून्यता के कारण ही उसे असंग भी बताया है। उसी तरह एक[2] मन्त्र में 'महत्' शब्द का उल्लेख किया है, जिससे सांख्य का महत् (बुद्धितत्त्व) द्योतित होता है। उसी मन्त्र में 'विज्ञानघन' शब्द से बुद्धि की ज्ञानरूपता का भी प्रतिपादन किया गया है। सांख्य सिद्धान्त में ज्ञानस्वरूप बुद्धि को अचेतन माना गया है। उक्त सांख्यसिद्धान्त को पढ़कर मिस्टर याकोबी[3] आश्चर्यचकित हो उठते हैं। छान्दोग्य[4] के छठे प्रपाठक में 'एकमेवाद्वितीयम्' के सिद्धान्त का उल्लेख कर पूर्वपक्ष के रूप में असत्कार्यवाद[5] का उपन्यास किया है, उसके पश्चात् अग्रिम मंत्र में असत्कार्यवाद का निरसन करते हुए—'सतः सज्जायते'—सत्कार्यवाद की स्थापना[6] की गई है। उस मंत्र में कार्यमात्र का सत्त्व बताया गया है, माया के तुल्य वह तुच्छ (असत्) नहीं है। अतः शाङ्कर वेदान्त से इसकी भिन्नता स्पष्ट है। यच्चेयावत् कार्य अपने अपने

---

१. "स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव ''असंगो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्यः।" [बृ० आ० उप० ४।३।१५]

२. "स यथा सैन्धव''यतो यतस्त्वाददीतलवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय" [बृ० आ० उ० २।४।१२]

३. Ent. Gott. Ind. P. 32. अत्र च "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्" [गौ० सू० १।१५] तदुपरि वात्स्यायनभाष्यञ्च द्रष्टव्यम्।

४. "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।"

५. "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तस्मादसतः सज्जायत" [६।२।१]

६. "कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" [६।२।२]

कारण में सद्‌रूप से रहता है, यह बताकर सत्कार्य का सिद्धान्त स्पष्ट किया है। कार्य के समान कारण का सत्त्व भी एक मंत्र[१] के द्वारा बताया गया है। इस प्रकार सांख्य का परिणाम वाद उपनिषदों के द्वारा प्रकट किया गया है। जैकोबी ने भी इसे स्वीकार किया है।[२]

इस सत्[३] से ही तेज, अप्, अन्न पदार्थ प्रकट हुए हैं। उनके तीन रूपों का प्रतिपादन ही सांख्यशास्त्रीय सत्त्व, रज, तम का पूर्व रूप है। तेज का लौहित्य रजोगुण को सूचित करता है, जैसे लालरंग वस्त्र को रंग देता है उसी तरह रज भी प्रवृत्ति-धर्मवाला होने से चित्त को रंग देता है। उसी तरह जल की शुक्लता सत्त्व को सूचित करती है, क्योंकि शुक्ल जल किसी वस्तु को विमल करने में सक्षम होता है, उसी प्रकार सत्त्व भी ज्ञान के द्वारा मन को विमल कर देता है। एवं अन्न (पृथ्वी) की कृष्णता तम को सूचित करती है। जैसे कृष्णवर्ण सबको आवृत कर देता है, उसी प्रकार जडात्मक तम भी सत्त्वजज्ञान को आवृत कर देता है। इसी अभिप्राय को श्वेताश्वतर उपनिषद्[४] तथा [५]महानारायणोपनिषद् के 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' मन्त्र के द्वारा बताया गया है। छान्दोग्य के षष्ठ प्रपाठक की त्रिवृत्करणश्रुति[६] से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है। तीन गुणों के वाचक त्रिवृत् शब्द का श्वेताश्वतर[७] में प्रयोग उपलब्ध होता है। इस प्रयोग के द्वारा स्थूल, मध्य, अणु भाग से अन्न आदि पदार्थों का त्रित्व बताया है। यह त्रित्व गुणों का गुणों में रहने के समान ही प्रतीत हो रहा है। पाश्चात्य विद्वान् याकोबी[८] ने भी इस कल्पना का समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त अन्य कठ,[९] मण्डूकादि[१०] उपनिषदों में भी सांख्योक्त अहंकारवाचक महत् और अव्यक्त पुरुष उनका असंगत्व तथा अकर्तृत्व आदि पदार्थों की उपलब्धि और भी अधिक स्पष्ट हो रही है। सर [११]राधाकृष्णन् ने भी इसे स्वीकार किया है।

---

१. "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।" [छां० उ० ६।१।४]

२. Ent. Gott. Ind. p. 14

३. 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्। [छां० उ० ६।४।१]

४. [४।५]   ५. [पृ० २४१]

६. [४–५ खण्ड द्रष्टव्य]   ७. 'तमेकनेमिं त्रिवृतम्' [श्वे० उ० १।४]

७. [Ent. Gott. Ind. p. 32]

८. "मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः" [कठ० ३।१०]

९. "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥" [३।११]

१०. "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" [मुं० उ० ३।१।१]

११. [Indian Philosophy 1, 259 ,In

श्वेताश्वतर उपनिषद् को तो सांख्योपनिषद् ही कहा जाता है। इसमें सांख्य के विचार और सांख्य के पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इस उपनिषत् में 'व्यक्त', 'अव्यक्त', 'ज्ञ' पदों का भी प्रयोग किया गया है तथा सांख्य और कपिल पद का भी प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। इसी आशय का महाभारत[२] के वनपर्व में भी अर्द्ध श्लोक उल्लिखित किया उपलब्ध होता है, जो [३]सांख्यकारिका के गौडपादभाष्य में संपूर्णरूप से दिया गया है। उसी प्रकार प्रधान-प्रकृति, गुण शब्दों का प्रयोग भी यहाँ[४] मिलता है। इसी उपनिषद्[५] के एक मंत्र में सांख्य के पदार्थों की संख्या तक बताई है। उस मंत्र में त्रिवृत् शब्द गुणत्रय का द्योतक है, षोडशान्तपद षोडशविकार परक है और शतार्धार पद पचास भेदवाले प्रत्ययसर्ग को सूचित करता है। इन मंत्रों की सांख्यपरकता पाश्चात्य विद्वान् मिस्टर कीथ[६] को सम्मत नहीं है। उनका कहना है कि 'ब्राह्मणग्रन्थों में प्रायशः संख्या-प्रयोग हुआ है, अतः उसे सांख्यीयतत्त्वसंख्यापरक समझ लेना उचित नहीं है'। किन्तु मिस्टर कीथ का उक्त कथन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि यदि वह सांख्यीयसंख्यापरक नहीं है तो किंपरक है? उसे वे नहीं बता पा रहे हैं। अतः सोपपत्तिक अर्थ का त्याग करना उचित नहीं है।

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे० उ० ४।१०) आदि मंत्रों में सांख्य के पारिभाषिक शब्दों का स्पष्ट रूप से ही उल्लेख है। उक्त मन्त्र से वेदान्त मत का भी पोषण हो जाता है, जिससे मिस्टर याकोबी[७] सांख्य-योग की उत्पत्ति में अपना अटकलपच्चू विचार रखते हैं। अन्य[८] अनेक उपनिषदों में तो 'सत्त्व', 'रज',

---

१. संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" [श्वे० उ० १।८]
'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्' 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे' [श्वे० उ० ५।२]

२. "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।" [म० भार० व० प० ३०।२८]

३. [सां० कारि० ६१ के गौडपादभाष्य में द्रष्टव्य]

४. "क्षरम्प्रधानम्" [श्वे० उ० १।१०], "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्" [श्वे० उ० ४।१७]
"देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" [श्वे० उ० १।३]

५. "तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः। अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्" [श्वे० उ० १।४]

६. [Sāmkhya System, P. 11]

७. "प्राचीनतम और प्राचीन उपनिषदों के मध्यवर्ती काल में सांख्ययोग की उत्पत्ति हुई है"
[Ent. Gott. Ind. P. 21]

८. "तमो वा इदमेकमास; तत्पश्चात्तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै तमसो रूपं तत्तमः खल्वीरितं तमसः सम्प्रास्रवत्येतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं तत्सत्त्वात् सम्प्रास्रवत् सोंऽशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिः" [मैत्रा० उ० ४।५]
"पञ्चतन्मात्राणि भूतशब्देनोच्यन्ते, पञ्चमहाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्ते" [मैत्रा० उ० ३।२]
"पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा" [प्रश्नोप० ४।८]

'तम' तीन गुणों का उल्लेख नाम पुरःसर किया गया है, उसी प्रकार पञ्चतन्मात्रा, पंचमहाभूत, क्षेत्रज्ञ, संकल्प अध्यवसाय, अभिमान, लिंग आदि सांख्यीय पदार्थों का उपन्यास भी स्पष्ट किया गया है।

सांख्यदर्शन की स्मृतिमूलकता

सांख्यीय तत्त्वों के उल्लेख जैसे श्रुतियों में उपलब्ध होते हैं वैसे ही स्मृतियों में भी पाये जाते हैं। मनुस्मृति में सांख्य शब्द का उल्लेख न रहने पर भी सत्त्व, रज, तम का सविस्तर वर्णन[1] और तीन प्रमाणों का निर्देश उपलब्ध होता है। मनुस्मृति प्रथमाध्याय के ७६ वें श्लोक "आकाशात्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः' की व्याख्या 'विकुर्वाणादहंकारात् आकाशस्तस्माद्वायुः' करते हुए मेधातिथि ने सांख्यसिद्धान्त के अस्तित्व को सूचित किया है। विष्णुस्मृति में भी चौबीस तत्त्वों की पुरुष से भिन्नता स्पष्ट बताई है, वहीं पर तीन गुणों का निर्देश भी किया गया है। विष्णु स्मृति का एक श्लोक (२, २५) तो द्वितीय कारिका के गौड़पादभाष्य से बिलकुल मिलता जुलता सा है। शङ्खस्मृति के सातवें अध्याय में श्लोक इक्कीस–पच्चीस तक के श्लोकों द्वारा पच्चीस तत्त्वों का उल्लेख किया है, और पुरुष का विष्णु के साथ तादात्म्य बताया गया है। उसी प्रकार [2]याज्ञवल्क्यस्मृति में भी सांख्यीय तत्त्वों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

सांख्यदर्शन की ऐतिहासिकता और पौराणिकता

महाभारत तथा अन्य पुराणों में तो सांख्यशास्त्र का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब ही लक्षित होता है। महाभारत के वनपर्व (३०१, १६–२१) में महाभूत, व्यक्ताऽव्यक्त रूप के चतुर्विंशतितत्त्व, तथा (२११, ४) गुणत्रय का लक्षण उपलब्ध होता है। उसी तरह शान्तिपर्व (२८५, ३३–४०) में प्रकृति, पुरुष के भेद का सविस्तार प्रतिपादन किया गया है।

यहाँ 'सत्त्व' शब्द से 'प्रकृति' का व्यपदेश किया गया है, ब्रह्म का नहीं। ऊर्णनाभि से सत्त्व की उपमा देखकर मिस्टर कीथ को भ्रम हो गया, जिससे [3]उन्होंने सत्त्व पद को यहाँ ब्रह्मपरक बताया है। मिस्टर कीथ की दृष्टि प्रकरण की ओर नहीं पहुँच पायी, अतः ब्रह्मपरक अर्थ करना उनका भ्रम ही सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त 'सृजते हि गुणान् सत्त्वं क्षेत्रज्ञः परिपश्यति। सम्प्रयोगस्तयोरेषः सत्त्वक्षेत्रज्ञयोर्ध्रुवः॥" "स्वभावसिद्धमेवैतद्यदिमान् सृजते गुणान्। ऊर्णनाभिर्यथा सूत्रं विज्ञेयास्तन्तुवद्गुणाः" इन दो श्लोकों से

---

१. [मनु० अ० १२५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २७, ३१।९।८१–९३।१२।३४–५२।१०५]

२. "बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात्ततोऽहंकारसंभवः।
तन्मात्रादीन्यहंकारा देकोत्तरगुणानि च" [या० स्मृ० ३।१७९]

३. [Sāṁkhya System, P. 17]

भी उनका भ्रम अच्छी तरह स्पष्ट होजाता है। पराशर गोत्र के पंचशिख ने जनक को सांख्य ज्ञान का उपदेश किया, यह[1] महाभारत के उल्लेख से ज्ञात होता है। [2]वहीं पर मोक्ष की तीन प्रकार की निष्ठा भी बताई है, केवल ज्ञान-कर्म की निष्ठा के अतिरिक्त एक तीसरी ज्ञान-कर्म समुच्चयनिष्ठा भी प्रकरण के अनुरोध से [3]उपलब्ध होती है। जनक-सुलभा संवाद के अनेक वाक्यार्थों में से किसी एक अर्थ में सांख्य शब्द का प्रयोग किया[4] है। महाभारत में एक जगह शरीर को त्रिंशद्गुणात्मक[5] बताया है। उसी प्रकार प्रकृति की अष्टविधता तथा विकारों की षोडशविधता भी [6]महाभारत में बताई गई है। [7]नवविध सर्ग का भी वहाँ वर्णन किया गया है। शान्तिपर्व के २१९वें अध्याय में पंचशिख के द्वारा कितने ही पदार्थ बताये गये हैं, इसी आचार्य के कुछ सिद्धान्त ३२१वें अध्याय के ९६–११२ तक के श्लोकों में उपलब्ध होते हैं। २७४ वें अध्याय में असित, देवल, आदि आचार्यों के सिद्धान्त भी प्रतिपादित किये गये हैं। इन सिद्धान्तों में परस्पर भिन्नता रहने पर भी ब्रह्म या ईश्वर के प्रतिपादन में सभी का समन्वय लक्षित हो रहा है। पुरुषबहुत्व रहने पर भी उनका आधार [8]ब्रह्म ही है। पञ्चशिख को सांख्योपदेश कर आसुरि, ब्रह्म में लीन हो गया[9]। श्रीमद् भागवत के तृतीय स्कन्ध में विस्तार के साथ सांख्यसिद्धान्तों को विष्णुभक्तिपरक बताया गया है। अन्यान्य पुराणों में भी—सांख्य-पद्धति को अपने-अपने सम्प्रदायपरक बताया गया है[10]। विष्णु पुराण के प्रथम, द्वितीय अध्याय के १९–२३ श्लोकों में प्रकृति-पुरुष तथा परमात्मा का वर्णन है। विष्णु पुराण

---

१. "यस्माच्चैतन्मया प्राप्तज्ञानं वैशेषिकम्पुरा"—[म० भार० शां० प० ३१०, २१]

२. [शां० प० ३२०, ३८—४०]

३. [Proceedings of the 5th Oriental Conference, Lahore, 11, 1927 f.]

४. 'शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध-(६–१०), दश इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, अहङ्कार, सामग्र्य, संघात, प्रकृति, व्यक्ति, द्वन्द्वयोग, काल,-(२१–५), पञ्चमहाभूत, सद्भावयोग, असद्भावयोग, विधि, शुक्र, बल,-(३२०, ९७–११२)।

५. 'विंशतिर्दश चैवं हि गुणाः संख्यानतः स्मृताः।
समग्रा यत्र वर्तन्ते तच्छरीरमिति स्मृतम्'–[शां० प० ३२०, ११२]।

६. [म० भार० शां० प० ३१०]

७. अव्यक्तान्महत्सर्गः तस्मादहंकारसर्गः, तस्मान्मनःसर्गः, तस्मात्पञ्चमहाभूतसर्गः, तस्मात्पञ्चगुणसर्गः, तस्मात्पञ्चेन्द्रियसर्गः, तस्मादैन्द्रियकसर्गः, तस्मात् तिर्यगूर्ध्वमेदात्मकः सर्गः, तिर्यक्स्रोतसश्चाधः सर्गः।

८. "बहुनां पुरुषाणां स यथैका योनिरुच्यते"—[शां० प० ३५०, २६]

९. "यत्तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते।
आसुरिर्मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम् ॥" [शां० प० २१८, १३]

१०. विष्णुपुराण १–५, २, ८, ६, ४, ३५। स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड, १८, ११–२५। ब्रह्मपुराण २११ वें अध्याय के आगे देखिये।

के इन श्लोकों के आगे द्वितीय अध्याय की समाप्ति तक साख्यसिद्धान्त के अनुसार प्रकृति से महत् आदि की उत्पत्ति का क्रमपूर्वक वर्णन किया गया है। कूर्मपुराण[1] में समुद्रमंथन से प्रादुर्भूत लक्ष्मी को सर्वजगत्सूक्तित्रिगुणात्मिका प्रकृतिः' कहा है। अव्यक्त, जगत्कारण, प्रधान अथवा प्रकृति को 'सदसदात्मक' बताया गया है[2]। प्रकृति से महदादि समस्त सर्ग की उत्पत्ति सांख्यमत के अनुसार वर्णन की गई है[3]। इसके आगे तीनों गुणों की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता का स्पष्ट उल्लेख है[4]। अग्निपुराण[5] में सांख्य सिद्धान्त के अनुसार पच्चीस तत्त्वों का निर्देश किया गया है। आगे चलकर लिङ्ग शरीर अथवा सूक्ष्म शरीर का स्पष्ट उल्लेख[6] है। ब्रह्मपुराण के २३८ और २३९ वें अध्याय में कपिल और कापिल-सांख्य का प्रशंसापूर्ण शब्दों में उल्लेख किया गया है[7]। गरुडपुराण के २२७–२२९ अध्यायों में सांख्य का विस्तृत वर्णन है। अ० २२७ के १६ में लिखा है—'साम्यावस्था गुणकृता प्रकृतिः' अर्थात् गुणों की साम्यावस्था प्रकृति कही जाती है। अ० २२९ के ७–१० श्लोकों में सांख्य के सब पदार्थों का निर्देश किया गया है। वायुपुराण के सृष्टि-प्रकरण (४, ५ अध्यायों) में सविस्तर सर्गोत्पत्ति का वर्णन सांख्य के अनुसार किया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्मखण्ड (३।४,५) में संसार के कारण रूप तीन गुणों का उल्लेख किया गया है। उस त्रिगुणात्मक मूल कारण से महत् अहंकार और पञ्चतन्मात्र आदि की सृष्टि का उल्लेख है। प्रकृतिखण्ड में प्रकृति के स्वरूप का एक विशिष्ट रीति से वर्णन किया गया है। प्रकृति पद के तीन अक्षरों (प्र–कृ–ति) को यथाक्रम तीनों गुणों का प्रतिनिधि बताकर यह स्पष्ट किया है, कि स्वयं 'प्रकृति' पद सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन गुणों का द्योतक है। यह सर्व शक्तिसम्पन्न त्रिगुणात्मक प्रकृति सृष्टि रचना में प्रधान साधन है, इसीलिये इसका यह (प्रकृति) नाम है। मत्स्यपुराण के तृतीय अध्याय (१४-२९) में सांख्य के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति का सविस्तर वर्णन है। सांख्य के रचयिता कपिल का भी उल्लेख किया गया है। पद्मपुराण के आदि खण्ड (२।६–२५) में सांख्यानुसार सर्गोत्पत्ति का वर्णन है। स्कन्दपुराण के माहेश्वर खण्डान्तर्गत कौमारिका खण्ड (३७।६–११) में प्रकृति तथा पुरुष का उल्लेख है। प्रकृति से सर्गोत्पत्ति का वर्णन सांख्यानुसार किया गया है। पुरुष और प्रकृति के पृथक् उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि चेतन और जड़ की सत्ता परस्पर सर्वथा पृथक् है। ऐसा नहीं है कि चेतनपुरुष

१. [[illegible], २७–३८]   २. [कू० पु० ४।६, वि० पु० १।२।१९, मनु० १।११]

३. [४।२६–३२]   ४. [४।३३–३४]

५. [३६९।१–५]   ६. [३७६।१२–१३]

७. 'सांख्यं वै मोक्षदर्शनम्'—[२३८।५]
सांख्याः शास्त्रविनिश्चयाः [२३८।७]
मार्गज्ञाः कापिलाः सांख्याः [२३९।५१]
सांख्या विप्रा महाप्राज्ञाः [२३९।५८, ९७]
कापिलानां महात्मनाम् [२३९।८२]
सांख्याश्चामितदर्शनाः [२३९।१०२]

स्वयं परिणत होकर जगत् रूप में जड़ हो जाता हो। मूलतः ये दोनों सत्ता पृथक् हैं। इसी पुराण के प्रभास खण्ड में [वस्त्रापथ (गिरनार) क्षेत्र माहात्म्य अध्या० १८ श्लोक ११–१६] ईश्वर-राजा संवादरूप से सांख्यीय तत्त्वों का बहुत स्पष्ट वर्णन किया गया है। लिङ्गपुराण में भी सांख्यसम्मत तत्त्वों का वर्णन एवं सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है।

सांख्यदर्शन का ईश्वर वाद

साधारणतया सांख्य के विषय में मध्यकालिक विद्वानों की ऐसी धारणा रही है कि सांख्य चेतनतत्त्व के नाम पर केवल जीवात्मपुरुष को स्वीकार करता है, परमात्मा अथवा ईश्वर को नहीं, इसी कारण कापिलसांख्य को निरीश्वरवादी कहा जाता रहा है। सांख्य में जहाँ पच्चीस तत्त्वों का वर्णन है, वहाँ चौबीस तत्त्व जड़ हैं, जिनमें एक मूल प्रकृति और तेईस उसके विकार हैं, उसके आगे केवल पुरुष 'पञ्चविंश' गिनाया गया है। इसमें साधारण रूप में केवल जीवात्म पुरुष को समझ लिया जाता है। यह भूलना नहीं होगा कि सांख्य में 'पुरुष' शब्द पारिभाषिक है, वह चेतनतत्त्व के लिये प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः सांख्य में दो प्रकार के मूलभूत तत्त्व माने गये हैं—चेतन और जड। मूल उपादान और विकाररूप में चौबीस जड़तत्त्व बताकर पच्चीसवाँ चेतनतत्त्व बताया है। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य तो प्रकृति और उसके विकारों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करना है, इसलिये जड़ के संक्षिप्त विकारतत्त्व गिनाकर पच्चीसवाँ पुरुष अर्थात् चेतनतत्त्व कह दिया गया है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि 'पञ्चविंश पुरुष' केवल जीवात्म चेतनतत्त्व के लिये ही है। वास्तव में यह भी जडवर्ग के समान चेतनवर्ग है, जो दो में विभाजित हैं—परमात्मपुरुष और जीवात्मपुरुष।

सांख्यदर्शन सेश्वर है, निरीश्वर नहीं

सांख्यदर्शन में "ईश्वराऽसिद्धेः"—[सां० सू० १।९२] सूत्र को देखकर ईश्वर के निराकरण का भ्रम कतिपय विद्वानों को हुआ और उन्होंने उसे निरीश्वर तथा वेद विरोधी कह डाला[1]। वास्तविक स्थिति को न समझ पाने से यह भ्रम हुआ है। वास्तविकता इस प्रकार है—कापिलसांख्यसूत्र के प्रथमाध्याय में" "यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्—[सां० सू० १।८९] इस सूत्र के द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षज्ञान के लक्षण की ईश्वर प्रत्यक्ष में अव्याप्ति की आशंका उपस्थित करने पर, किसी नास्तिक ने पूर्वपक्ष किया है—"ईश्वराऽसिद्धेः"—[सां० सू० १।९२]। नास्तिक का कहना है कि जब ईश्वर ही सिद्ध नहीं हो पा रहा है, तब उसका प्रत्यक्ष भी कैसे सिद्ध होगा अर्थात् वह (ईश्वर-प्रत्यक्ष) भी असिद्ध है, तो उसमें (ईश्वर-प्रत्यक्ष में) अव्याप्ति की आशंका हो कैसे सकती है?

---

१. [कीथः—'सांख्यसिस्टम' पृ० २१]

तब सांख्यवादी उत्तर देता है—"मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धि:—[सां० सू० १।९३] मुक्त उस चेतन को कहते हैं जो दुःखत्रय से रहित होता हुआ नित्य ऐश्वर्य से रहित हो अर्थात् 'दुःखत्रयाभाववन्नित्यैश्वर्याद्यनधिकरणचेतनत्वम्—मुक्तत्वम्'। और जो चेतन दुःखत्रय से युक्त हो उसे बद्ध कहते हैं। अर्थात् 'दुःखत्रयविशिष्टचेतनत्वम्—बद्धत्वम्'। तथा ईश्वर उस चेतन को कहते हैं, जो नित्य ऐश्वर्यादि से युक्त हो, अर्थात् 'नित्यैश्वर्यादिमच्चेतनत्वम्—ईश्वरत्वम् नित्य ऐश्वर्यादिमान् चेतन ईश्वर का मुक्त चेतन में अन्तर्भाव तो हो नहीं सकता क्योंकि ईश्वरचेतन नित्यैश्वर्य से रहता नहीं है और दुःखत्रय से युक्त न होने के कारण बद्धचेतन में भी उसका अन्तर्भाव नहीं कर सकते। अतः दोनों से भिन्न ईश्वरतत्त्व की सिद्धि हो जाती है। अतः 'न तत्सिद्धिः' न तस्याः ईश्वराऽसिद्धेः सिद्धिः इत्यर्थः, अर्थात् 'ईश्वराऽसिद्धेः, पूर्वपक्षीय सूत्र की सिद्धि नहीं हो पाई। एवञ्च 'ईश्वराऽसिद्धेः' इस पूर्वपक्ष के अनुपपन्न हो जाने से ईश्वरतत्त्व सिद्ध हो जाता है। अतः पूर्वोक्तप्रत्ययलक्षण की ईश्वरप्रत्यक्ष में अव्याप्ति हो रही है।

इस अव्याप्ति को दूर करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—'उभयथाऽप्यसत्करत्वम्'—[सां० सू० १।९४] प्रत्यक्ष का लक्षण सन्निकर्षजन्यत्वघटित—कहा गया था, सन्निकर्ष तो नित्य है नहीं। अनित्य सन्निकर्ष तो मुक्तचेतनों के अपने आत्मप्रत्यक्ष के उपयोग में आता है। और बद्धचेतन बाह्यविषय का प्रत्यक्ष करने में उसका उपयोग करते हैं। अतः यह लक्षण मुक्त चेतन और बद्धचेतनों के प्रत्यक्ष का ही है। ईश्वर को न बद्ध कह सकते हैं, न मुक्त। बद्ध और मुक्तों को बाह्यपदार्थ एवं स्वात्मविषयक प्रत्यक्षीकरण में अनित्यसन्निकर्ष की जैसे आवश्यकता पड़ती है, वैसी ईश्वर को नहीं। उसका तो नित्यज्ञानात्म प्रत्यक्ष है, उसके लिये उसे सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः ईश्वर का प्रत्यक्ष उस लक्षण का लक्ष्य ही नहीं है।

इसलिये अव्याप्ति की शंका नहीं करनी चाहिये। ईश्वरतत्त्व और जीवतत्त्व का भेद श्रुतियों के द्वारा बताया है, उसे सूत्रकार बता रहे हैं—'मुक्तात्मनः—प्रशंसा, उपासा सिद्धस्य वा"—[सां० सू० १।९५] 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि श्रुतियों में मुक्तस्वभाव के आत्मा की प्रशंसा की गई है 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'तद् ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इत्यादि श्रुतियों में सदा सिद्ध नित्येश्वर की उपासा अर्थात् मोक्ष के लिये उपासना भी प्रदर्शित की गई हैं, अतः परमेश्वर की सिद्धि निराबाध है। सांख्यदर्शन ईश्वर को स्वीकार करता है।[1] विद्वत्प्रवर पं० उदयवीर शास्त्री जी ने कहा है कि "सांख्य में जो ईश्वर की असिद्धि का वर्णन उपलब्ध होता है,[2] वह जगत् के उपादानभूत ईश्वर की असद्धि का वर्णन है। सांख्य जड़ जगत् के उपादानरूप में सत्त्वरजस्तमोमय त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति को स्वीकार करता है तथा प्रमाणपूर्वक उसका प्रतिपादन

१. सां० सू० अ० १, ६२।३, ५६-५७।५, ७९।   २. सां० सू० अ० १, ५७।५, २-२१।

करता है, इसीलिए उसने चेतनतत्त्व को जगत् का उपादान नहीं माना। इस प्रकार कल्पित ईश्वर की असिद्धि का उपपादन किया है।" अतः सांख्यदर्शन को निरीश्वर सांख्य कहना भ्रान्त धारणाओं का ही एकमात्र परिणाम है। अतः सांख्यदर्शन को भ्रमवश निरीश्वर समझकर उसे वेदविरोधी कह देना उचित नहीं है।

सांख्यदर्शन के आचार्यगण

स्मृति, महाभारत, कारिका आदि ग्रन्थों में निर्दिष्ट २६ सांख्याचार्यों के नाम उपलब्ध[1] होते हैं—१. कपिल, २. आसुरि, ३. पंचशिख, ४. विन्ध्यवासी (विन्ध्यवासक), ५. वार्षगण्य, ६. जैगीषव्य, ७. वोढु, ८. असितदेवल (देवल), ९. सनक, १०. सनन्दन, ११. सनातन, १२. सनत्कुमार, १३. भृगु, १४. शुक्र, १५. काश्यप, १६. पराशर, १७. गर्ग, (गार्ग्य), १८. गौतम, १९. नारद, २०. आर्ष्टिषेणा, २१. अगस्त्य, २२. पुलस्त्य, २३. हारीत, २४. उलूक, २५. वाल्मीकि, २६. शुक।

कपिल की ऐतिहासिकता

श्वेताश्वतर उपनिषद्[2] में सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल के नाम का उल्लेख उपलब्ध होता है। उसकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों को सन्देह है। पाश्चात्य विद्वान् कोलब्रुक, मेक्समूलर आदि का कहना है कि मि० गार्वे ऐसा मानते हैं कि "रामायण, महाभारत आदि पुराणों में जहाँ तहाँ कपिल का नाम उपलब्ध होता है, वह भारतीय परम्परा के अनुसार काल्पनिक नहीं है। बौद्धलोग[3] तो कपिलवस्तु नगर का निर्माता भी उसे बताते हैं।" और मिस्टर कीथ ने कपिल शब्द को हिरण्यगर्भ का पर्याय मानकर उसका अग्नि, विष्णु या शिव के साथ तादात्म्य स्वीकार किया है और अपने उक्त मन्तव्य के समर्थन में पाश्चात्य विद्वान् याकोबी की सम्मति प्रदर्शित की है और उसे काल्पनिक माना है।[4] इसी प्रकार का अभिप्राय जयमंगला की भूमिका में म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज ने भी प्रकट किया है।[5] किन्तु भगवती श्रुति[6] ने तो कपिल को ज्ञान की प्राप्ति उसके जन्म के साथ ही बताई है। भागवतकार[7] भी कपिल की ऐतिहासिकता को ही बताते हैं। भागवतकार उसे विष्णु का पंचम अवतार बता रहे हैं। अतः महाभारत में जो कहा है 'अग्निः स कपिलो नाम

---

१. महा० भा० शां० प० २१८, ५८–६२, सां० कारि० टीका आदि।
२. [५, २]
३. [Sāṁkhya and Yoga 2. 3]
४. [Sāṁkhya System. 9.]
५. [जयमंगला भूमिका पृ० ३]
६. 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्'—श्रुतिः।
७. 'पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥'—[भाग० १।३।११]

सांख्यशास्त्रप्रवर्तकः। उसे भिन्नकल्पपरक समझना चाहिये। कल्पभेद को ध्यान में रखकर ही कपिल को ब्रह्मपुत्र भी बताया गया है। भास्कराचार्यप्रभृतियों ने तो 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्' में कपिलपद से हिरण्यगर्भ का ही ग्रहण किया है, क्योंकि 'यो ब्रह्माणम्' इत्यादि पूर्वोत्तर अनेक मंत्रों का संवाद उपपन्न होता है।

बौधायन के द्वारा उल्लिखित एक वाक्य में प्रह्लाद के पुत्र किसी असुर के द्वारा चार आश्रमों का विभाजन करना पाया जाता है।[1] बारह अध्यायों में विभक्त श्राद्ध, विवाह, प्रायश्चित्तादि धर्मों की प्रतिपादक कपिलस्मृति का कर्ता भी कपिल नाम से प्रसिद्ध है।[2] भगवान् शंकराचार्य ने भी सांख्यशास्त्र के प्रणेता कपिल को वैदिक कपिल से भिन्न ही बताया है।[3] किन्तु पद्मपुराण में इसके विपरीत उपलब्ध होता है। इस प्रकार उपर्युक्त विद्वान् कपिल की ऐतिहासिकता में प्रमाण उपलब्ध नहीं कर पा रहे हैं। किन्तु श्रीमद्भागवत के आधार पर कपिल की ऐतिहासिकता में यत् किञ्चित् भी सन्देह नहीं रहता। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के इक्कीसवें अध्याय के आरंभ में ही मैत्रेय से विदुर ने पूछा है कि स्वायंभुव मनु का कुल बड़ा प्रशंसनीय है। उस मनु की देवहूति नाम की कन्या है, जो कर्दम प्रजापति की पत्नी है। उसकी सन्तान के विषय में मुझे सुनने की इच्छा हो रही है, आप कृपाकर उसे सुनावें। तब मैत्रेय कहते हैं—ब्रह्माजी ने कर्दम से कहा कि सृष्टि पैदा करो। कर्दमजी सरस्वती के तट पर पहुँचे और वहाँ दीर्घ काल तक उन्होंने घोर तपस्या की, उस तपस्या से भगवान् विष्णु प्रसन्न हुए और सशरीर होकर उन्होंने कर्दम को साक्षात् दर्शन दिया। विष्णु ने कहा कि हे कर्दम! तुम्हारे आन्तरिक भाव को मैंने जान लिया है, तदनुसार मैंने उसकी योजना पहिले ही कर दी है। आप जैसे आत्मसंयमी व्यक्ति के द्वारा की हुई मेरी उपासना कभी व्यर्थ नहीं हो सकती। प्रजापति का पुत्र सम्राट् मनु, जो ब्रह्मावर्त में रहता है और सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करता है, अपनी महारानी के साथ तुम्हें देखने की इच्छा से परसों यहाँ आवेगा और अपनी शीलसंपन्न गुणान्विता कन्या को तुम्हें ब्याह देगा। मैं अपनी अंशकला के द्वारा, तुम्हारे वीर्य से तुम्हारी पत्नी देवहूति में उत्पन्न होकर तत्त्वसंहिता का निर्माण करूँगा।

इतना कहकर भगवान् अन्तर्हित हो गये। निर्दिष्ट समय में सम्राट् मनु अपनी रानी और कन्या के साथ कर्दमप्रजापति के आश्रम में आया, और अपनी कन्या देवहूति का कर्दम के साथ विवाह कर रानी के सहित अपने नगर को वापस चला गया।[4]

---

१. [२।६।१०] २. [Kāṇe: Hist, Dharm, Vol. 1, pp. 25. 525]

३. ब्र० सू० भा० २।१।१] "या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम्, 'कपिल' मितिश्रुतिसामान्यमात्रात्"।

४. श्रीमद्भागवत—[स्कं० ३ अध्याय २१, १–८; २३–२७, ३३, ३६, ३७, स्कं० ३ अध्याय २२।२२, २६।]

कुछ समय के पश्चात् कर्दम से देवहूति में कई कन्यायें उत्पन्न हुईं। संसारधर्म से कर्दम को कुछ विरक्त हुआ जान, देवहूति बहुत खिन्न हुई। उसकी खिन्नावस्था को जानकर महर्षि कर्दमप्रजापति ने कहा, कि बहुत शीघ्र ही तुम्हारे गर्भ में साक्षात् भगवान् प्राप्त होनेवाले हैं, वे तुम्हारे हृदय के समस्त संशयों का उच्छेद करेंगे। देवहूति भी कर्दमप्रजापति के उक्त सन्देश को स्वीकार कर श्रद्धा-भक्ति के साथ भगवान् का भजन करने लगी। निर्धारित समय पर भगवान् विष्णु कर्दमप्रजापति के वीर्य को प्राप्त होकर, काष्ठ में अग्नि के समान, देवहूति में उत्पन्न हुए। तब सरस्वती के किनारे कर्दम के आश्रम में मरीचि आदि ऋषियों के साथ ब्रह्मा उपस्थित हुए और बड़ी प्रसन्नता से कर्दम प्रजापति को कहने लगे—मैं जानता हूँ; आदि-पुरुष भगवान् ने अपनी माया से प्राणियों के कल्याण के लिए कपिलदेह को धारण किया है। पश्चात् देवहूति को लक्ष्य कर कहा—हे मनुपुत्रि! तेरे गर्भ में साक्षात् विष्णु का प्रवेश हुआ है। यह तेरी अविद्याजन्य संशयग्रन्थियों को दूर कर पृथिवी पर विचरण करेगा। यह सिद्ध समुदाय में सबसे श्रेष्ठ, सांख्याचार्यों में सुप्रतिष्ठित, संसार में कपिल नाम से प्रसिद्ध होगा[1]।

इस प्रकार देवहूति और कर्दम को आश्वासन देकर ब्रह्मा अपने स्थान को चले गये और कर्दम ने कपिलरूप में अवतीर्ण हुए भगवान् को एकान्त में प्रणाम कर उनकी अनेक प्रकार से स्तुति की। तदनन्तर भगवान् कपिल ने कहा—वैदिक लौकिक कार्यों में लोगों को सचाई का प्रमाण देने के लिये ही मैंने यह जन्म लिया है। क्योंकि मैं प्रथम प्रतिज्ञा कर चुका था कि आपके घर में पुत्र रूप से उत्पन्न होऊँगा। इस संसार में मेरा यह जन्म मुमुक्षुओं को सन्मार्ग दिखाने और आत्मज्ञान में उपयोगी तत्त्वों के प्रसंख्यान के लिये ही हुआ है ऐसा जानो। पुनः २५ वें अध्याय के आरम्भ में ही शौनक ने यह कहा है कि स्वयं भगवान् ही, मनुष्यों को आत्मा का साक्षात् ज्ञान कराने के लिये मायावश, तत्त्वों की विवेचना करनेवाला कपिल[2] हुआ है।

श्रीमद्भागवत के इस विस्तृत वर्णन से स्पष्ट है कि प्रजापति कर्दम और मनु-पुत्री देवहूति के कपिल को ही विष्णु का अवतार बताया गया है और वही सांख्य का आदि प्रवर्तक है—यह उल्लेख श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अध्याय २१, श्लोक ३२, अध्याय २४, श्लोक १९, ३६ और अध्याय २५, श्लोक १ में स्पष्ट रूप से किया गया है। अन्तिम श्लोक पर व्याख्याकार ने स्पष्ट लिखा है—'तत्त्वानां संख्यानां गणकः सांख्यप्रवर्तक इत्यर्थः।' श्री उदयवीर शास्त्री जी ने 'सांख्य' पद में 'संख्या' शब्द को गणनापरक न लगाकर उसे 'तत्त्वज्ञान' परक लगाया है और उसके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन अपने 'सांख्य सिद्धान्त' ग्रन्थ में किया भी है। उपर्युक्त कथन से यह निश्चय

---

१. श्रीमद्भागवत—[३।२१, ४८–५०, ५७।, ३।२४।२, ४–६, ९, ११, १६, १८, २१।]
२. श्रीमद्भागवत,—[३।२४।२०–३६।, ३।२५।१।]

किया जा सकता है कि यही कपिल सांख्य का प्रवर्तक अथवा रचयिता है। कपिल की उत्पत्ति के समय ब्रह्मा ने स्वयं उपस्थित होकर अनेक सूचनाएँ दी हैं, अथवा ब्रह्मा के समान ही यह भी स्वतः सिद्ध ज्ञानी था अथवा कपिल के पिता कर्दम प्रजापति ब्रह्मा के पुत्र थे। अथवा विष्णु और ब्रह्मा का अभेद कल्पित है, इसलिये कपिल को ब्रह्मा का मानस पुत्र भी कहा जा सकता है। इसी आधार पर गौडपादाचार्य ने सांख्यप्रवर्तक कपिल को ब्रह्मा का पुत्र मान लिया होगा[1]। श्रीमद्भागवत के २५–३३ अध्यायों के द्वारा कपिल की सांख्यप्रवर्तकता तथा अपनी माता देवहूति को तत्त्वज्ञान का उपदेश देने का वर्णन किया गया है, सांख्यशास्त्र के अनुसार ही प्रकृति और पुरुष का उल्लेख भी किया गया है। अतः भागवत का सांख्य तथा प्रचलित ईश्वरकृष्ण के सांख्य में कोई अन्तर नहीं है। दोनों में प्रकृति आदि चौबीस ही जड़तत्त्व [2]बताये हैं। ईश्वरकृष्ण के सांख्य में पच्चीसवाँ तत्त्व 'पुरुषतत्त्व' बताया है। श्रीमद्भागवत में उसी पुरुष को 'कालतत्त्व' के नाम से वर्णित किया[3] है।

इसी महर्षि कपिल को अग्नि का अवतार भी कहा गया है। तत्त्वसमास की सर्वोपकारिणी टीका में अग्नि के अवतार महर्षि कपिल का स्पष्ट उल्लेख किया है

---

१. सांख्यकारिका के भाष्यकार गौडपादाचार्य ने पहिली कारिका के उपोद्घात में लिखा है—इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम। तद्यथा—

'सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा॥
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः॥'

२. श्रीमद्भागवत—"पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्मन् चतुर्भिर्दशभिस्तथा।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः॥"

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशादि पञ्चमहाभूतों से; गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं से, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्तादि चार अन्तःकरणों से; श्रोत्र, त्वक्, रसना, नासिकादि पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, वाक्, हस्त, पाद, पायु, उपस्थादि पञ्चकर्मेन्द्रिय दोनों को मिलाकर दश इन्द्रियों से युक्त हुआ यह प्राकृतिक गण है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं।

ईश्वरकृष्ण के सांख्य में—'प्रकृतिर्बुद्ध्यहङ्कारौ तन्मात्रैकादशेन्द्रियम्।
भूतानि चेति सामान्यांश्चतुर्विंशतिरेव ते॥'

३. श्रीमद्भागवत—"एतावानेव संख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः॥"

इस कालतत्त्व के सम्बन्ध में दो मत हैं। कुछ विद्वान् कहते हैं कि अज्ञानियों को जो भय लगता है वह पुरुष का ही प्रभाव है। दूसरा मत यह है—कालरूप से प्रतीत होनेवाले यह भगवान् ही हैं, जिसके सम्बन्ध मात्र से गुणों की साम्यावस्था रूप जड प्रधान में भी चेष्टा होने लगती है, वही भगवान् शरीर के भीतर पुरुषरूप से और बाहर कालरूप से प्रतीत होता रहता है।

"प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्। अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः॥"
"प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि। चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः॥"
"अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः। समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया॥'

और उन्हें ही षडध्यायी का कर्ता कहा गया है। महाभारत में कई जगह महर्षि कपिल का उल्लेख उपलब्ध होता है। महाभारत में एक[1] जगह सगर के अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में कपिल का उल्लेख है। राजा सगर के साठ हजार पुत्र अश्वमेध यज्ञ के अश्व की रक्षा करने के लिये उसके साथ-साथ जाते हैं। अश्व समुद्र के किनारे पहुँचकर अन्तर्हित हो जाता है। उसे अपहृत हुआ जान, सगरपुत्र वापस आते हैं। और पिता को संपूर्ण वृत्तान्त सुनाते हैं। पिता के पुनः आज्ञा देने पर वे खोजते-खोजते वहाँ तक पहुँच जाते हैं, जहाँ घोड़ा बँधा हुआ है। उसी स्थानपर तेजोनिधि महर्षि कपिल समाधिमग्न होकर बैठे हुए हैं। अश्व को देखकर सगरपुत्र बड़े प्रसन्न हुए। अश्व को अपने अधीन करने के लिये क्रोधान्ध होकर कपिल महर्षि पर झपट पड़े। उनकी इस प्रकार की उद्दण्डता से महर्षि की समाधि भंग हुई। उन्होंने अपने नेत्र को विकृत कर उन सगरपुत्रों पर एक तेज छोड़ा, जिससे वे साठ हजार सगरपुत्र तत्काल भस्म हो गए। इस प्रसंग में महर्षि कपिल को 'वासुदेव' कहा गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इसी महर्षि कपिल को विष्णु का अवतार बताया गया है। कपिल ने क्रुद्ध होकर सगरपुत्रों को भस्म कर दिया, क्योंकि क्रोध, अग्नि का ही रूप है। वायुपुराण में कपिल को आदित्य अथवा अग्नि का रूप लिखा[2] है।

उक्त घटना का वर्णन वाल्मीकि[3] रामायण में भी विस्तार के साथ किया गया है। बलशाली सगरपुत्रों ने वहाँ सनातन वासुदेव कपिल को देखा और उसके समीप ही घोड़े को चरते हुए पाया। घोड़े को देखकर तो वे बहुत प्रसन्न हुए किन्तु कपिल के पीछे पड़ गये और कहने लगे कि तूने हमारा घोड़ा चुराया है, इस प्रकार सगरपुत्रों के वचनों को सुनकर क्रोधाविष्ट हुए कपिल ने एक हुँकार मात्र से उन समस्त साठ हजार सगरपुत्रों को भस्म कर दिया। उक्त वर्णन में भी कपिल के लिये सनातन और वासुदेव दो विशेषण दिये गये हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि कपिल विष्णु के ही अवतार हैं। भागवतकार ने इन्हीं को सांख्य का आदिप्रवर्तक कहा है। रामायण महाभारत के समान उपर्युक्त घटना का उल्लेख विष्णुपुराण, वायुपुराण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण गरुड़पुराण, मत्स्यपुराण में भी उपलब्ध होता है[4]। कपिल के सम्बन्ध में विज्ञान-

---

१. महाभारत वनपर्व अध्याय १०६, १०७

२. आदित्यसंज्ञः कपिलस्त्वग्रजोऽग्निरिति स्मृतः।'— वा० पु० ५।४५।

३. वाल्मीकि रामायण, बा० का० सर्ग ४० श्लोक० २५-३०।

४. वि०-पु० [४।४।१०-१३] द्रष्टव्य है, यहाँ कपिल का ऋषि और भगवान् पदों से उल्लेख है। और उसी के २।१३।४८, ४९ तथा २।१४।७, ९ में भी कपिल को साक्षात् विष्णु का अंश कहा गया है।

वा० पु० [८८।१४५—१४८] कपिल को विष्णु का रूप बताया है।

पद्मपु०—सृष्टि खण्ड [८।१४७] साक्षात् को विष्णु के रूप में कपिल का निर्देश किया गया है। स्कन्दपु० रेवाखण्ड [१७५।२—७] कपिल को साक्षात् विष्णु का स्वरूप बताया है।

भक्षु ने भी षडध्यायीभाष्य के अन्त में अपना यही मत व्यक्त किया है। 'कपिल' पद के 'कनककपिलवर्णम्' अर्थ से कतिपय भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान् भ्रम में पड़ गये और कपिल को अनैतिहासिक कहने लगे तथा भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्य को भी अपने ही मत का समर्थक समझने लगे किन्तु वस्तुस्थिति बिलकुल भिन्न है। यदि पूज्यपाद शंकराचार्य कपिल के अनैतिहासिक (काल्पनिक) होने के पक्ष में होते तो वे श्वेताश्वतरश्रुति का अर्थ करते समय 'कपिलं' पद का अर्थ परमर्षि कपिल कैसे करते? शंकराचार्य ने श्रुतिप्रतिपादित कपिल को ही विष्णु का अवतार सांख्य का कर्ता कपिल बताया[1] है। अतः सांख्यकर्ता कपिल को ऐतिहासिक व्यक्ति न माननेवाले मि० कोलब्रुक, जैकोबी, मैक्समूलर तथा मि० कीथ एवं कतिपय भारतीय विद्वानों के मत का खण्डन अच्छी तरह से हो जाता है। इस विषय पर श्रद्धेय पण्डितप्रवर उदयवीरशास्त्री का लिखा हुआ 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पठन और मनन के योग्य है। अध्ययनशील लोगों के मन में एक विकल्प उठ सकता है कि यदि कपिल सचमुच एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, काल्पनिक नहीं, तो पाश्चात्य एवं तदनुकरणशील कतिपय भारतीय विद्वानों के बुद्धिगम्य वह क्यों नहीं हो पाया? किन्तु इस प्रश्न का उत्तर 'सांख्य दर्शन के इतिहास' में श्रद्धेय पं० प्रवर उदयवीरशास्त्रीजी ने अच्छी तरह दिया है। वे कहते हैं— "प्रतीत होता है, प्रथम प्रायः योरोपीय विद्वानों ने और तदनन्तर तदनुगामी कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी अपने इस विचार को एक विशेष भित्ति पर आधारित किया है। इन विद्वानों को सांख्यषडध्यायी की रचना के संबंध में पूर्ण निश्चय न होने, अथवा तत्संबंधी अनेक सन्देह सम्मुख उपस्थित होने से, सांख्यसूत्रों को अत्यन्त आधुनिक रचना मान लेने के कारण, यह चिन्ता उत्पन्न हुई, कि इन सूत्रों के साथ भारतीयपरंपरा में

'पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचाऽऽसुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥' (गरु० पु०)

विष्णु का पञ्चम अवतार कपिल को बताया है और उसी को सांख्य का प्रवक्ता कहा है। मत्स्यपुराण [३।२९, १७१।१०] में भी इसी प्रकार का वर्णन है।

१. 'तदिदं सांख्यशास्त्रं कपिलमूर्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोकहिताय प्रकाशितवान्।'

'एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्। प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शनम् ॥'

इत्यादिस्मृतिषु विष्ण्ववतारस्य देवहूतिपुत्रस्यैव सांख्योपदेष्टृत्वावगमात्। कपिलद्वयकल्पनागौरवाच्च। तत्र चाग्निशब्दोऽन्याख्यशक्त्यावेशादेव प्रयुक्तः। यथा—'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः' इति श्रीकृष्णवाक्ये कालशक्त्यावेशादेव कालशब्दः। अन्यथा विश्वरूपप्रदर्शककृष्णस्यापि विष्ण्ववतारकृष्णाद् भेदापत्तेः इति दिक्।

२. 'कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै किल। विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय समुपागतः ॥
कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृक्। ददाति सर्वभूतात्मा सर्वस्य जगतो हितम् ॥
त्वं शुक्रः सर्वदेवानां ब्रह्मा ब्रह्मविदामसि। वायुर्बलवतां देवो योगिनां त्वं कुमारकः ॥
ऋषीणां च वसिष्ठस्त्वं व्यासो वेदविदामसि। सांख्यानां कपिलो देवो रुद्राणामसि शङ्करः ॥'

सर्वत्र प्रसिद्ध कपिल का सम्बन्ध किस प्रकार दूर किया जाय? ऐसी स्थिति में और कोई उपाय संभव न होने पर कपिल की ऐतिहासिक सत्ता से ही नकार कर देना सीधा मार्ग समझा गया। न होगा बांस न बजेगी बांसुरी। क्योंकि जब कपिल कोई ऐतिहासिक व्यक्ति ही नहीं था, तो उसके द्वारा सांख्यसूत्रों की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिये अवश्य ही किसी आधुनिक विद्वान् ने कपिल के नाम पर इन सूत्रों को गढ़ डाला है। यह है वह आधारभूत भावना, जिससें प्रेरित होकर कपिल की ऐतिहासिकता पर हरताल फेरने का असफल प्रयत्न किया गया है।" किन्तु वाचस्पति मिश्र ने अपनी सांख्यतत्त्वकौमुदी में 'पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्' की व्याख्या में 'परमर्षिणा' का अर्थ 'कपिलेन' किया है। उसी प्रकार 'सांसिद्धिकाश्च भावाः' की व्याख्या में सांसिद्धिक भावों का उदाहरण देते हुए कहा है 'यथा सर्गादावादिविद्वान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूवेति स्मरन्ति।'

उसी प्रकार 'तत्रनिरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (यो. सू. १-२५) के भाष्य में व्यास ने पञ्चशिखाचार्य के सूत्र[1] को अंकित किया है। उस पर वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त सूत्रगत आदि विद्वान् पद से कपिल को लिया है। वाचस्पति मिश्र के लेख से यह निःसंकोच कह सकते हैं कि विष्णु के अवतार आदि विद्वान् कपिल ने अपने शिष्य आसुरि के लिये 'तन्त्र' का प्रवचन किया। अतः सांख्य के प्रवर्तक कपिल देवहूति के पुत्र ही हैं। कहीं कहीं इन्हीं को नामान्तर से भी याद किया है। वाचस्पति ने 'आदिविद्वान्' पद की व्याख्या पर बड़ा बल दिया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि कपिल किसी काल विशेष में ही मुक्त हुए थे अतः वे भी हम लोगों की तरह ही दृश्य देहधारी थे।

वैसे तो देवहूति पुत्र कपिल के अतिरिक्त अन्य अनेक कपिलों का उल्लेख प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है। जैसे प्रह्लाद पुत्र असुर कपिल[2], धर्मसूत्रकार कपिल[3], उपपुराणकार कपिल[4] और विश्वामित्रपुत्र कपिल[5]। परन्तु इनमें से कोई भी सांख्य का प्रवंतक नहीं है अपितु देवहूति कर्दम प्रजापति के पुत्र भगवान् कपिल ही सांख्य के प्रवर्तक हैं।

---

१. 'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।'

२. बौधायन धर्म सूत्र—[२।६।३०].

३. कपिलस्मृति का कर्ता, इस स्मृति में दस अध्याय हैं। इसमें विवाह, श्राद्ध, प्रायश्चित्त, दत्तक, कलि में ब्राह्मणों के पतन आदि विषयों का प्रतिपादन है।

४. शैवसंप्रदाय की सूत संहिता में—'अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु·········· कापिलं सप्तमं विदुः॥ [१।१२–१४] कूर्मपुराण—[१।१९] सप्तम 'कापिल' उपपुराण का उल्लेख।

५. अनुशासनपर्व —[७।५६]

सांख्यप्रवर्तक कपिल का समय

श्वेताश्वतर उपनिषद्[1] में तो कपिल के नाम का उल्लेख ही किया गया है, उसके अतिरिक्त सांख्य के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख भी किया गया है[2], उसी प्रकार अन्यान्य उपनिषदों में सांख्य सिद्धान्तों के उल्लेख स्पष्ट रूप से पाये जाते हैं। जैसे—छान्दोग्य के षष्ठ प्रपाठक के आरम्भ में ही तेज, जल, अन्न, जो रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण के प्रतीक बताये गये हैं। प्रकरण के अनुरोध ये यह कहा जाता है कि रजस्, सत्त्व, तमस् का संघात तेज, जल, अन्न के रूप में परिणत हो जाता है। सर्ग के आदि में सत्त्व, रजस्, तमस् में से प्रत्येक को त्रिवृत् किया जाता है। 'त्रिवृत्' का अर्थ सत्त्व, रजस्, तमस् की अन्योन्य मिथुनवृत्तिता है। उपसंहार में कहा है[3] कि जिसका भी ज्ञान हमें हो रहा है वह सब इन तीन का ही समास (संघात) है। पुरुष के संसर्ग से इनका यह त्रिवृत् अर्थात् अन्योन्य मिथुन हो जाता है, जिसका परिणाम यह समस्त संसार है। कठोपनिषद्[4] में इन्द्रिय, तन्मात्राएँ, मन, अहंकार, महत्, अव्यक्त, पुरुष इन सांख्यतत्त्वों का उल्लेख किया गया है। प्रश्नोपनिषद[5] में पृथिव्यादि स्थूलभूत और सूक्ष्म भूतों का उल्लेख उपलब्ध होता है। शांखायन आरण्यक में कहा गया है कि इस प्रज्ञा के ही अंगरूप में मन आविर्भूत होता है। काम संकल्प आदि उसी के धर्म हैं, इसी प्रकरण में दश इन्द्रियों और उनके दश विषयों को भी बताया गया है।

उपर्युक्त उल्लेखों से यह समझ में आ जाता है कि सांख्य के सिद्धान्त सुदूरवर्ती प्राचीनतम काल से चले आ रहे हैं जो आज भी विद्यमान रूप में पाये जाते हैं। वेदों में उपलब्ध मूलभूत सांख्य सिद्धान्तों के आधार पर ही महर्षि भगवान् कपिल ने उन्हें दार्शनिक रूप देकर शिष्य परंपरया उसका प्रचार एवं प्रसार किया। उक्त उल्लेखों के आधार पर भी महर्षि कपिल के समय का निर्धारण करने में सहायता मिल सकती है।

महर्षि कपिल के समय का साधक एक उल्लेख पांचरात्र संप्रदाय की अहिर्बुध्न्य संहिता[6] में भी पाया जाता है। अहिर्बुध्न्य संहिताकार लिखते हैं कि त्रेतायुग के आरम्भ में समस्त संसार जब मोहग्रस्त हो गया, तब उसे पूर्ववत् सुव्यवस्थित करने की चिन्ता कतिपय लोककर्ता व्यक्तियों को हुई। उन लोककर्ता व्यक्तियों में सांख्यशास्त्र प्रणेता

---

१. श्वे० उ० [५।२]

२. श्वे० उप० [१।१०।४।१०, ४।५।६ कण्ठि०]

३. यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति······इमास्तिस्रो देवता पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति ।—छां० उ० [६।४।७]

४. कठ. [१।३।१०।११]

५. प्रश्नोप० [४।८]

६. अहिर्बुध्न्य संहित, [अध्या० ११, श्लो० ५०—५४]

महर्षि कपिल भी थे। इससे स्पष्ट प्रतीत है कि कपिल के आविर्भाव का समय सत्ययुग के अन्त अथवा त्रेतायुग के आरंभ में होना चाहिये। इस विचार का समर्थन रामायण से भी होता है। विष्णु पुराण[1] के उल्लेख से भी कपिल का जन्म सत्ययुग में सिद्ध होता है।

महर्षि कपिल के समय-निर्धारण में महामहोपाध्याय कालीपद भट्टाचार्य अपना विचार कुछ पृथक् रखते हैं। उन्होंने अपने[2] एक लेख में श्रीमदीश्वरकृष्ण की ७१ वीं कारिका के अनुसार शिष्य परंपरा के २६ आचार्यों की कपिल और ईश्वरकृष्ण के बीच गणना की है और प्रत्येक के लिये तीस-तीस वर्ष का समय रखकर बताया है कि ईसापूर्व सप्तम शतक के पहिले ही महर्षि कपिल का समय होना चाहिये।

म. म. भट्टाचार्य जी ने आचार्यों की जो गणना की है, उनमें सांख्यकारिका तथा उसकी व्याख्या माठरवृत्ति एवं जयमंगला से दस आचार्य हैं, चार आचार्य, गौडपाद भाष्य से और एक आचार्य, गुणरत्न सूरि के 'आत्रेयतन्त्र' पद प्रयोग के आधार पर कल्पित किया है। ग्यारह आचार्यों के नाम ऋषितर्पण मन्त्र से उद्धृत किये हैं[3]।

किन्तु महाभारत[4] और बुद्धचरित[5] के आधार पर सात अन्य सांख्याचार्यों का भी पता लगता है। उसी प्रकार सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका[6] नामक व्याख्या से उक्त आचार्यों के अतिरिक्त भी ग्यारह आचार्यों के नाम दृष्टिगोचर होते हैं, इतने ही से समाप्ति नहीं है, उनके आगे 'आदि' शब्द भी जोड़ दिया गया है। इस प्रकार म० म० भट्टाचार्यजी की सूची में यदि इन १८ आचार्यों को और जोड़ दिया जाय तो उनकी विचार पद्धति से ही महर्षि कपिल के समय में पांच, छह शताब्दियों का अन्तर आवेगा। उक्त सूची में प्रदर्शित सांख्याचार्यों के अतिरिक्त अन्य कोई सांख्याचार्य हुआ ही न हो,

---

१. 'कृते युगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृक्।
ददाति सर्वभूतानां सर्वभूतहिते रतः॥ वि० पु० [३।२।५४]

२. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, सेपटेंबर १९३२ में प्रकाशित 'Some Problems of Sānkhya Philosophy and sānkhya Literature' शीर्षक लेख, पृ० ५१०–११]

३. सां० कारि० ६९–७० के आधार पर कपिल, आसुरि, पञ्चशिख। माठरवृत्ति—[कारि० ७१] के आधारपर भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल।
जयमंगला के आधारपर गर्ग, गौतम। गौडपाद भाष्य [कारि० १] के आधारपर सनक, सनन्दन, सनातन, वोढु। हरिभद्रसूरि विरचित षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरि की व्याख्या, पृ० १०९ पं० १५, [रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता संस्करण]। सनकस्तृप्यतु……आदि अथर्ववेदपरिशिष्ट [४३।३।१–२५]

४. महाभारत [१२।३२३।५९–६२ कुम्भको० संस्क०]

५. 'जैगीषव्योऽथ जनको वृद्धश्चैव पराशरः।
इमं पन्थानमासाद्य मुक्ता ह्यन्ये च मोक्षिणः॥' बुद्धचरित [१२।६७]

६. ई० १९३८ में कलकत्ता से प्रकाशित, पृ० १७५।

ऐसा निश्चय कर सकने में कोई प्रमाण नहीं है, जिससे यह कहा जा सके कि सांख्य के आचार्य इतने ही हैं। जो नाम उपलब्ध हो रहे हैं, वे केवल परंपराप्राप्त प्रसिद्ध आचार्यों के ही नाम हैं। उतने ही से सांख्याचार्यों की सूची समाप्त नहीं हो जाती। इनके अतिरिक्त पता नहीं कितने आचार्य हुए होंगे, जिनके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं जानते। अतः महामहोपाध्य भट्टाचार्य जी के द्वारा भारतीय परंपरा के विरुद्ध जो प्रकार प्रदर्शित किया गया है, वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

महर्षि कपिल का जन्मस्थान

श्रीमद्भागवत[1] तथा अन्यान्य पुराणों[2] के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कर्दम प्रजापति का आश्रम सरस्वती नदी के तटपर बिन्दुसर के कुछ अन्तर पर विद्यमान था। ब्रह्मावर्त में रहने वाले सम्राट् मनु एक समय कर्दम प्रजापति के आश्रम में आये[3] थे। मनुस्मृति[4] के अनुसार ब्रह्मावर्त की यही सीमा मान ली जाय, तो यह कहना होगा कि सरस्वती और दृषद्वती इन दो नदियों के बीच का प्रदेश ब्रह्मावर्त कहलाता था। मनु ने इन नदियों को देवनदी कहा है। इन नदियों के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों के अनुसन्धानों[5] का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत शास्त्रसम्बन्धित इतिहासकार श्रद्धेय विद्वान् श्री उदयवीर शास्त्री जी ने लिखा है कि वर्तमान अम्बाला जिले की जगाधारी तहसील की लगभग पश्चिम और पूर्व दक्षिण की सीमाओं को ये नदियाँ बनाती हैं और इनका बहाव कुछ पश्चिम की ओर हो जाता है। इस प्रदेश के उत्तर पूर्व में वर्तमान नाहन (सिर मौर) राज्य का कुछ भाग और दक्षिण पश्चिम में करनाल, हिसार जिले और जींन्द राज्य के अधिक भाग, प्राचीन ब्रह्मावर्त प्रदेश में परिगणित होते हैं। ब्रह्मावर्त की यह सीमा चार्ल्ज जापेन एस. जे. द्वारा संपादित, और लांगमैन्ज कम्पनी द्वारा प्रकाशित 'हिस्टॉरिकल एँटलेस ऑफ इण्डिया' १९१४ ई० के तृतीय संस्करण के आधार पर दी गई है। उक्त दोनों नदियों में से सरस्वती नदी के चिह्न आज भी विद्यमान हैं। इसके स्रोतों के कुछ चिह्न आजकल सिरमौर राज्य के अन्तर्गत उपलब्ध होते हैं, जो जगाधरी तहसील के ऊपर की शिवालक पहाड़ियों में और उसके पर्याप्त ऊपर तक चले गये हैं। यहाँ एक स्थान 'सरस्वती कुण्ड' नाम से प्रसिद्ध है, इसके समीप एक मन्दिर भी है, जो 'आदि बद्री' नाम से प्रसिद्ध है। यह

---

१. भागवत—[३।२४।९, ३।२१–३३]
२. वायु पुराण—[पूना संस्क० ३८।६–७]
३. भागवत [३।२१।२५]
४. मनुस्मृति [२।१७]
५. The Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India, By नन्दूलाल दे–, Anceint Geograhpy of India By कनिंघम।

वर्तमान मन्दिर लगभग दो सौ वर्ष के अन्दर का ही बना हुआ है। सिर मौर राज्य में प्रविष्ट होने के लिये अन्यतम द्वार—हरिपुर दर्रा है, उस (खोल) से पश्चिम की ओर के दर्रे में यह मन्दिर है। यह दर्रा, मन्दिर के नाम से ही प्रसिद्ध है। वहाँ के और उसके ऊपर के पर्वतों की स्थिति को देखने से यह प्रतीत होता है, कि चिर अतीत काल में सरस्वती का स्रोत अवश्य ही कहीं ऊपर के पर्वतीय प्रदेश के बहकर इधर की ओर आता होगा। नहीं कहा जा सकता कि कालचक्र ने इसमें कितने अज्ञेय परिवर्तन ला दिये हैं। अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के उल्लेखों से यह और भी स्पष्ट हो जाता है। श्रीमद्-भागवत[1] के अनुसार यह ज्ञात होता है कि सरस्वती के आस पास ही 'बिन्दुसर' था। रामायण[2] के उल्लेखानुसार महादेव जी ने 'बिन्दुसर' की ओर गंगाजी को छोड़ दिया। तदनन्तर सात नदियाँ वहाँ से निकलीं। तीन पूर्व की ओर, तीन पश्चिम की ओर, तथा सातवीं भागीरथी गंगा, भगीरथ के रथ के पीछे चल पड़ी।

यहाँ गंगाजी के वहाव की दिशा का निर्देश नहीं किया है। पूर्व और पश्चिम की ओर बहने का यदि यही अर्थ समझा जाय कि वह पूर्व और पश्चिम के समुद्र में जाकर गिरती हैं तो गंगा का वर्तमानरूप, गंगा को भी पूर्व की ओर बहने वाली नदी प्रकट करता है। रामायण में पूर्व की ओर बहने वाली नदियों के साथ गंगा को जोड़ देने से चार नदियाँ पूर्व की ओर बहने वाली हो जाती हैं, जो बिन्दुसर से निकलती हैं। उनके नाम हैं—ह्लादिनी, पावनी, नलिनी, और गंगा। पश्चिम की ओर बहनेवाली नदियों के नाम हैं—सुचक्षु, सीता, सिन्धु,। इनमें से हम गंगा और सिन्धु को आज भी इन्हीं नामों से पहचानते हैं।

महाभारत[3] में भी बिन्दुसर से निकलने वाली सात नदियों का उल्लेख है, लेकिन पूर्व या पश्चिम की ओर उनके बहने का उल्लेख नहीं है। पांच नदियों के नाम दोनों ग्रन्थों में समान हैं, शेष दो नदियों के नाम भिन्न हैं। रामायण में पूर्व की ओर बहनेवाली नदियों में एक नाम 'ह्लादिनी' और पश्चिम की ओर बहनेवाली का नाम 'सुचक्षु' है।

---

१. श्रीमद्भाग० [३।२१।३३]

२. "विससर्ज ततो गंगां हरो बिन्दुसरः प्रति। तस्यां विसृज्यमानायां सप्तस्रोतांसि जज्ञिरे॥
ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथैव च। तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः॥
सुचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी। तिस्रश्चैता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु दिशं शुभाः॥
सप्तमी चान्वगात्तासां भगीरथरथं तदा।" [रामा० बालकां० ४३।११-१४]

३. महाभा० सभापर्व [३।११], भीष्म पर्व [६।४३-४५, ४८-४९] पद्मपुराण, आ० खं० ३।५९-६६।

'अस्त्युत्तरेण कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति। हिरण्यशृंगः सुमहान् दिव्यो मणिमयो गिरिः॥
तस्य पार्श्वे महद्दिव्यं शुभ्रं काञ्चनवालुकम्। रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः॥
दृष्ट्वा भागीरथीं गंगामुवास बहुलाः समाः। ब्रह्मलोकादपक्रान्ता सप्तधा प्रतिपद्यते॥
वस्वौकसारा नलिनी पावनी च सरस्वती। जम्बूनदी च सीता च गंगा सिन्धुश्च सप्तमी॥

महाभारत में इन दो नामों के स्थान पर 'जम्बू' और सरस्वती नाम का उल्लेख है। रामायण के निर्देशानुसार यदि ठीक है तो आज भी इन नदियों में से चार को उन्हीं नामों से पहिचान सकते हैं। इनमें सरस्वती नदी (रामायण की सुचक्षु) पश्चिम के समुद्र में और जम्बूनदी (यमुना, रामायण की ह्लादिनी) पूर्व के समुद्र में मिलने वाली नदी है[1]। इससे यह स्पष्ट होता है कि सिन्धु और सरस्वती पश्चिम समुद्र में और गंगा-यमुना पूर्व ससुद्र में मिलने वाली नदियाँ हैं। शेष तीन नदियों में से एक 'सीता' नदी पश्चिम समुद्र में तथा 'पावनी' और 'नलिनी' पूर्व समुद्र में मिलती हैं। आजकल ये किन नामों से पुकारी जाती हैं यह पता नहीं, तथापि एक समन्वयात्मक कल्पना की जा सकती है कि जिन उपर्युक्त चार नदियों को आज भी पहिचाना जाता है, उनके उद्‌गम स्थानों पर यदि दृष्टिपात किया जाय, तो उनके आस पास से ही निकलनेवाली बड़ी बड़ी तीन और नदियों का स्पष्ट आभास हो जाता है। उनमें से एक नदी पश्चिम समुद्र में गिरती है, और दो पूर्व समुद्र में। पश्चिम समुद्र में गिरने वाली नदी का नाम आजकल 'सतलुज' है, जिसका प्राचीन नाम 'शुतुद्री' या 'शतद्रु' है। यदि रामायण के वर्णनानुसार पश्चिम की ओर बहने वाली 'सीता' नदी 'शुतुद्रु' ही हो, तो पश्चिम समुद्र में जाने वाली उन तीनों नदियों का पता लग जाता है, जो बिन्दुसर से निकलतीं हैं। पूर्व समुद्र में जाने-वाली शेष दो नदियों के वर्तमान नाम 'ब्रह्मपुत्रा' और 'सरयू' है। इनका उद्‌गम स्थान भी हिमालय में उसी प्रदेश के आसपास है, जहाँ उपर्युक्त पांच नदियों का। रामायण और महाभारत में वर्णित शेष दो नामों के साथ यदि हम आजकल के इन नामों का सामंजस्य बैठाना चाहें तो 'पावनी' सरयू का 'नलिनी' ब्रह्मपुत्रा का नाम कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि सुदीर्घतर प्राचीन समय में हिमालय के प्रदेश में 'बिन्दुसरस् नामकी एक विशाल झील थी, जिससे सात नदियों का उद्‌गम था। आज वह झील देखने में नहीं आती, लेकिन नदियाँ उसी तरह बह रही हैं। नदियों के प्रवाह पर ध्यान देने से यह ज्ञात हो जाता है कि उन नदियों में से भी एक नदी काल के गाल में विलीन हो चुकी है। यह बहुत संभव है कि जिन भौगोलिक परिस्थितियों अथवा परिवर्तनों ने सरस्वती नदी को लुप्त कर दिया, उन्होंने ही 'बिन्दुसर' को भी संकुचित कर दिया हो। संकुचित करना इसलिये लिखा है कि आज भी हिमालय के उस प्रदेश के पूर्वी भाग में 'मानसरोवर' तथा 'राक्षसताल, नाम की झील विद्यमान हैं। यह बहुत ही आश्चर्य और ध्यान देने की

---

१. ह्लादिनी पुण्यतीर्था च राजर्षेस्तत्र वै सरित्। विश्वामित्रेण तपसा निर्मिता सर्वपावनी॥
[म० भार० व० प० ८७।९]
सरस्वती महापुण्या ह्लादिनी तीर्थमालिनी। समुद्रगा महावेगा यमुना तत्र पाण्डव॥
[म० भा० व० प० ८८।३]

बात है कि 'बिन्दुसर' के सर्वाधिक पश्चिमी भाग में ही 'सरस्वती' का उद्गम स्थान था और आज सर्वाधिक पूर्वी भाग में 'मानसरोवर' झील है, जहाँ से पूर्व की ओर ब्रह्मपुत्रा नदी का उद्गम स्थान है। इससे प्रतीत होता है कि वर्तमान मानसरोवर झील से पश्चिम की ओर बहुत दूर तक का सब प्रदेश किसी भारी भौगोलिक परिवर्तन के कारण उथल पुथल हो गया, जिसका परिणाम उन प्रदेशों की वर्तमान स्थिति है। जिसमें न सरस्वती रही और न उतना विशाल बिन्दुसरोवर। उपर्युक्त विचारधारा से इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि हिमालय का वह विशेष प्रदेश जहाँ उत्तर भारत की इन सात नदियों का उद्गम स्थान है, 'बिन्दुसर' माना जाना चाहिये। चाहे वहाँ कभी लहरें लेती हुई विशाल झील रही हो, अथवा आज भी अन्तर्निहित अनन्त जलराशिका भण्डार हो। आज की स्थिति को देखते हुए, स्थूल रूप से 'कैलास मानस खण्ड' को 'बिन्दुसर' का प्रदेश कहा जा सकता है।

विद्वान् इतिहासकार ने अपने सांख्यदर्शन के इतिहास में बिन्दुसर के सम्बन्ध में मतान्तर का भी उल्लेख किया है। १ श्रीयुत नन्दूलाल दे महोदय ने अपने भारतीय भौगोलिक कोष में 'बिन्दुसर' के दो स्थानों का निर्देश किया है—

(१) गंगोत्री से दो मील दक्षिण, रुद्रहिमालय पर एक पवित्र सरोवर है। कहा जाता है कि जहाँ स्वर्ग से गंगा को नीचे लाने के लिये भगीरथ ने तप किया था।

(२) गुजरात प्रान्त में अहमदाबाद के उत्तर पश्चिम की ओर 'सित्पुर' नामक स्थान है, यही कर्दम ऋषि का आश्रम और कपिल का उत्पत्तिस्थान था।

उपर्युक्त द्वितीय अंक से निर्दिष्ट कथन तो रामायण तथा महाभारत के विरुद्ध है। गुजरात के 'सित्पुर' को सप्तनदियों का उद्गम स्थान तो किसी भी स्थिति में कोई नहीं मान सकता। श्रीमद्भागवत के अनुसार 'बिन्दुसर' का स्थान ब्रह्मावर्त के आसपास ही कहीं होना चाहिये। श्री दे महोदय ने किस आधार पर 'सित्पुर' को कर्दम ऋषि का आश्रम मान लिया, पता नहीं। उसी तरह पं० विन्ध्येश्वरीतप्रसाद द्विवेदी किरणावली की भूमिका[1] में लिखते हैं कि 'गंगासागर संगम के समीप बिन्दुसरोवर पर देवहूति से कर्दम का पुत्र (कपिल) उत्पन्न हुआ।'

किन्तु इनका कथन भी रामायण, महाभारत के विरुद्ध होने से ठीक नहीं है।

अतः हिमालय के प्रदेश में बिन्दुसरोवर को स्वीकार कर उसमें सप्त नदियों का उद्गम सांख्य दर्शन के इतिहास में बताया गया है, जो उचित प्रतीत होता है। उक्त निश्चय के आधार पर ही सांख्यदर्शन के विद्वान् इतिहासकार ने कपिल के उत्पत्तिस्थान का भी

---

१. गंगासागर-संगमान्तिके बिन्दुसरोवरे कर्दमस्य महर्षेः पुत्रो देवहूत्यां जातः।
—[चौ० सं० सी० से प्रकाशित, पृ० २९]

निर्णय कर जो लिखा है, वही उचित प्रतीत होने से उसे हम दे रहे हैं। सांख्यदर्शन के इतिहासकार लिखते हैं कि "आम्बाला मण्डल के उत्तर–पूर्व सिरमौर (नाहन) राज्य के अन्तर्गत सरस्वती नदी के चिह्नों का पता लगता है। शिवालक पहाड़ के 'आदिबद्री' नामक दर्रे से होकर सरस्वती बाहर की ओर समतल प्रदेश में आती थी। पांच छः मील और ऊपर से इसकी एक शाखा हरिपुर दर्रे से होकर वाहर आती, और कुछ अन्तर पर मुख्य धारा में मिल जाती थी। शिवालक के इस प्रदेश से लगभग तीस मील उत्तर-पूर्व की ओर नाहन राज्य में 'रेणुका' नामकी एक छोटी सी झील है। इसकी लंबाई मील, सवामील, तथा चौड़ाई अधिक से अधिक दो सौ गज के लगभग है। इसकी स्थिति से मालूम होता है, कि चिरकाल पूर्व में यहाँ कभी किसी बड़ी नदी का स्रोत रहा होगा। इस स्थान से पाँच छः मील उत्तर पूर्व की ओर एक ऊँचा पहाड़ है, जिसके ऊपर दो छोटे २ शिखर हैं। इनमें से पूर्व के शिखर का नाम आज भी 'कपिल का टिब्बा' है और पश्चिम का शिखर 'जमदग्नि' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान का प्राचीन इतिहास जमदग्नि, रेणुका और परशुराम के इतिहास से सम्बद्ध है तथा उससे भी प्राचीन इतिहास कपिल के इतिहास से। 'बिन्दुसर' से सरस्वती के उद्गम की जिस स्थानपर संभावना की जा सकती है, वह स्थान इस प्रदेशसे पूर्व उत्तर की ओर लगभग सत्तर-अस्सी मीलपर होगा। मालूम होता है कि उद्गम स्थान से प्रवाहित होकर सरस्वती नदी इसी पर्वत शिखर के आस-पास से होती हुई शिवालन की ओर जाती थी। कपिल के नाम से आज भी प्रसिद्ध यह पर्वत शिखर का प्रदेश ही कपिल का उत्पत्तिस्थान था और यहीं पर कर्दम ऋषि का आश्रम रहा होगा। इस प्रदेश के पर्वत-शिखरों की स्थिति का सावधानी से पर्यवेक्षण करने पर बहुत स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि उस प्राचीन काल में सरस्वती नदी का स्रोत कहाँ कहाँ होकर बहता रहा होगा। इतिहासकार विद्वत्प्रवर श्रद्धेय उदयवीर शास्त्रीजी ने इन प्रदेशों में स्वयं घूमकर पर्यवेक्षण किया है।

भागवत के अनुसार ब्रह्मावर्त देश का राजा स्वायंभुव मनु, अपनी कन्या (देवहूति) का विवाह करने के लिये कर्दम ऋषि के आश्रम में आया था। उक्त स्थान, ब्रह्मावर्त में अथवा उसके समीप ही कहा जा सकता है। समीप इसलिये कहा है कि अभीतक ब्रह्मावर्त की निश्चित सीमाओं का ज्ञान हम विस्मृत कर चुके हैं। फिर भी इतना अनुमान किये जाने में कोई बाधा नहीं है कि ब्रह्मावर्त के समीप ही कर्दम ऋषि का आश्रम और कपिल का उत्पत्तिस्थान होना चाहिये। इसलिये सिरमौर राज्य की रेणुका झील से ऊपर की ओर आस-पास ही कहीं उक्त स्थान का निश्चय किया जा सकता है।

सरस्वती के स्रोत के विषय में भी विद्वानों का विभिन्न मत पाया जा रहा है। सरस्वती और दृषद्वती नदियों के विवेचन करने पर ही ब्रह्मावर्त की सीमाओं का

निर्धारण हो सकेगा। श्री नन्दू लाल दे ने 'प्राचीन भारत का भौगोलिक कोष'[१] नाम के ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में तीन मतों का उल्लेख किया है। जो इस प्रकार हैं :—

(१) सरस्वती नदी सिरमौर के पहाड़ों से निकलती और आदिबद्री के पास समतल भूमि पर प्रवेश करती है। यह नदी 'छालौर' गांव के पास कुछ दूर तक रेत में अदृश्य हो गई है और भवानीपुर के पास पुनः दिखाई देती है। इसी तरह 'बालचप्पर' के पास फिर अदृश्य होकर 'बरखेड़ा' में पुनः दीखने लगती है, और 'पेहोवा' के समीप 'उरनई' में मारकण्डा नदी के साथ मिल जाती है। आगें भी इसका नाम सरस्वती रहता है और यह घग्घर के साथ मिल जाती है।

(२) गुजरात में सोमनाथ के पास एक नदी।

(३) ऐरैकोसिया (रौलिन्सन)।

इन तीनों में से दूसरे और तीसरे मतों के सामंजस्य के लिये कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध हो रहा है। महाभारत[२] में प्रभासतीर्थ की स्थिति सरस्वती के तट पर बताई गई है, जहाँ सरस्वती पश्चिम समुद्र में मिलती थी। प्रतीत होता है कि इसी आधार पर दे महोदय ने ऊपर संख्या दो में सोमनाथ के पास सरस्वती का होना बताया हो, परन्तु यह सरस्वती वही हो सकती है, जिसका संख्या एक में वर्णन किया गया है। वह उसके उद्गम की ओर का वर्णन है, और यह समुद्र में गिरने के समीप का। यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान प्रभास अथवा सोमनाथ के समीप ही सरस्वती समुद्र में गिरती थी। अधिक संभावना यही है कि राजपूताने की मरुभूमि जिस समय समुद्र सलिल से आच्छादित थी, उसी समय सरस्वती की धारा पृथ्वी पर प्रवाहित होती थी। उस समय का सरस्वती और समुद्र के संगम का स्थान तत्कालीन आर्यों के लिये अवश्य आकर्षक रहा होगा। सरस्वती और समुद्र के विनाश-कारी परिवर्तन के अनन्तर पूर्वकाल की स्मृति के आधार पर किसी समय वर्तमान प्रभास अथवा सोमनाथ (सोमतीर्थ) की कल्पना कर ली गई होगी, जिसके आधार पर महाभारत का वर्तमान वर्णन लिखा गया। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि दे महोदय ने संख्या एक और दो में सरस्वती नाम की जिन दो नदियों का उल्लेख किया है, वस्तुतः वह एक ही सरस्वती नदी है, जिसका एक वर्णन उद्गम के साथ का और दूसरा समुद्र संगम के साथ का है।

---

१. The Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India, by Nandoo Lal Dey.

२. महाभारत, वनपर्व ८०।६०–६३, शल्यपर्व ३६।३३–३४।

महाभारत[1] के वर्णनों से इस बात का भी निश्चय होता है कि सरस्वती नदी सीधी समुद्र में जाकर मिलती थी। इस बात के स्वीकार किये जाने में कोई प्रमाण नहीं है कि वर्तमान सोमनाथ के समीप सरस्वती नदी समुद्र में गिरती हो। जब सरस्वती की जलधारा निरन्तर प्रवाहित हो रही थी; उस समय वर्तमान राजपूताने का अत्यधिक भाग समुद्र सलिल से आच्छादित[2] था।

ऐसी स्थिति में वर्तमान राजपूताने के उत्तर पश्चिमी भाग के समुद्रतट में ही कहीं सरस्वती नदी आकर मिलती होगी। महाभारत के वर्णनों से यह भी स्पष्ट होता है कि युद्धकाल से बहुत पूर्व ही सरस्वती नदी गुप्त हो चुकी थी[3]। महाभारतकाल में भी गुप्त हुई सरस्वती के चिह्न आज की तरह यत्र तत्र उपलब्ध होते थे। परन्तु एक ऐसे स्थान का भी महाभारत में उल्लेख है, जिसके आगे आजतक भी सरस्वती के कोई चिह्न उपलब्ध नहीं हो सके। इस स्थान का नाम 'विनशन' लिखा है। संभवतः यह वही स्थान है, जहाँ सरस्वती नदी समुद्र में मिलती थी। यह समुद्र पश्चिम समुद्र कहलाता था, जो नाम आजकल अरब समुद्र को दिया जाता है। 'विनशन' नामक स्थान उसके आस-पास ही रहा होगा, जहाँ बीकानेर और बहावलपुर राज्य पंजाब से मिलते हैं।

सरस्वती के विनाश का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में भी उपलब्ध होता है। वहाँ के वर्णन से निम्नलिखित इतिहास स्पष्ट होता है—सरस्वती प्रदेश में 'विदेह माथव' नामक राजा, अतिप्राचीनकाल में राज्य करता था। गोतम राहूगण उसका पुरोहित

---

१. 'ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे।'—[महा० भा० व० प० ८०।६१]
'समुद्रं पश्चिमं गत्वा सरस्वत्यब्धिसंगमम्।
आराधयतु देवेशं ततः कान्तिमवाप्स्यसि॥' [महाभा० शल्यप० ३६।३३]

२. अन्य भौगोलिक आधारों के अतिरिक्त इसमें पुष्ट प्रमाण यह भी है कि राजपूताने के इस विशाल भाग में अनेक झीलें ऐसी पाई जाती हैं, जिनका जल समुद्र के समान सर्वथा खारा है और इनसे लाखों मन नमक प्रतिवर्ष तैयार किया जाता है। इनमें सबसे बड़ी झील साँभर है, जिसकी अधिक लम्बाई २० मील और चौड़ाई दो से सात मील तक हो जाती है। पूरी भर जाने पर इसका क्षेत्रफल ९० वर्ग मील के लगभग रहता है। केवल इसी झील में से ३५ लाख मन से भी अधिक नमक प्रतिवर्ष तैयार किया जाता है। यह झील जोधपुर और जयपुर राज्यों की सीमा पर है। इसके अतिरिक्त जोधपुर राज्य के डीडवाना, पचमद्रा आदि स्थानों में, बीकानेर राज्य के छापर तथा लूणकरन सर में और जेसलमेर राज्य के काणोद आदि स्थानों में भी अनेक छोटी-छोटी झीलें हैं, जिनमें सर्वथा समुद्री जल है। इससे प्रतीत होता है कि कभी अत्यन्त प्राचीन काल में यह प्रदेश समुद्री जल से ढका था। किसी आकस्मिक उग्र भौगोलिक परिवर्तन से समुद्र उथलकर पीछे हट गया और ये उसके चिह्न शेष रह गये।

३. महाभा० शल्य प० ३८।२, भीष्म प० ६।५१।

था। किसी आग्नेय उपद्रव के कारण उसका प्रदेश और राज्य नष्ट हो गया।[१] राजा किसी तरह सपरिजन बचकर अपने पुरोहित के साथ पूर्व की ओर चल दिया। उसे कोई प्रदेश बहुत दूरतक अपना राज्य पुनः स्थापित करने के लिये रिक्त न मिला, यहाँ तक कि वह पूर्व की ओर चलता चलता सदानीरा नदी के तट पर जा पहुँचा। उसे मालूम हुआ कि सदानीरा से पूर्व की ओर अभीतक कोई आबादी नहीं है और इस नदी को आजतक किसी ने पार नहीं किया है। उसने अपने पुरोहित से पूछा कि मुझे अब कहाँ निवास करना चाहिये? पुरोहित ने उत्तर दिया कि सदानीरा के पूर्व की ओर का प्रदेश बहुत पहिले निवास के योग्य नहीं था, वहाँ बहुत दल-दल थी, परन्तु अब ऐसा नहीं है। यह प्रदेश निवास के योग्य हो चुका है। यह सुनकर राजा विदेघ माथव, सदानीरा नदी को पारकर पूर्व की ओर के प्रदेश में चला गया, और उसको अपना आवास बनाया। तभी से उस प्रदेश का नाम 'विदेघ' हुआ, जो कालान्तर में उच्चारण विपर्यय से 'विदेह' कहा जाने लगा। उसने सदानीरा नदी को कोसल और विदेह प्रदेशों को विभाजित करने वाली सीमा बताया[२] है। कुछ लोग सदानीरा और करतोया दोनों को एक ही समझते हैं, किन्तु ऐसा समझना भूल होगी, क्योंकि महाभारत[३] के उल्लेखानुसार यह स्पष्ट है कि करतोया नदी सदानीरा नहीं हो सकती, क्योंकि कुरुदेश से मगध तक जाने में करतोया बीच में आही नहीं सकती, सदानीरा आ जाती है, कोसल और विदेह देशों की सीमा होने की संभावना इसी में हो सकती है। इस वर्णन से यह परिणाम निकलता है कि जब 'विदेघ माथव' सरस्वती के समीप प्रदेश में राज्य करता था, उस समय कोई ऐसे तीव्र भौगोलिक परिवर्तन हुए जिनसे सरस्वती के स्रोत रुद्ध हो गये।

[१] रॉलिन्सन के मतानुसार सरस्वती 'ऐरेकोसिया' (Arachosia) का नाम है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में वर्तमान अफगानिस्तान के दक्षिण पश्चिमी भाग का यह नाम था। सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस से अन्य प्रदेशों के साथ-साथ इस प्रदेश को भी चन्द्रगुप्त ने छीन कर अपने राज्य में मिला लिया था।[४] इस प्रदेश में बहने वाली किसी नदी के नाम पर ही प्रदेश का यह नाम रहा होगा। आजकल इस प्रदेश में बहने वाली नदी का नाम 'हैलमन्द' है, जो हिन्दुकुश पर्वत के भाग 'कोह ए बाबा' से निकल कर अफगानिस्तान के मध्यभाग में बहती हुई एक झील में आकर गिर जाती है।

---

१. पद्मपुराण—[सृष्टिखण्ड १८।१५९-२००] में भी सरस्वती प्रदेश की इस घटना का उल्लेख आलंकारिक रीति से किया गया है।

२. शतपथ ब्राह्मण—[१।४।१।१४]

३. महाभा० [२-२०-२७]

४. 'हिस्टारिकल ऐटलैस् आफ इण्डिया' जापेन.एस्० जे० रचित लांगमैन्ज् ग्रीन एण्ड को द्वारा सन् १९१५ में प्रकाशित, पृ० ६, चित्र नं० ३ और ५।

आधुनिक 'हैल्मन्द' नाम के साथ 'सरस्वती' नाम की पर्याप्त समानता है। पारसीक भाषा में 'स' की जगह 'ह' और 'र' की जगह 'ल' का प्रायः प्रयोग होता है। फारसी का 'मन्द' प्रत्यय संस्कृत के 'मतुप्' प्रत्यय के समानार्थक है। इस प्रकार 'सरस्वती' और 'हैलमन्द' नाम का सादृश्य सर्वथा स्पष्ट है। संभव है कि इसी आधार पर रालिन्सन (Raulinson) महोदय ने ऐरेकोसिया नदी को ही सरस्वती समझा हो तथा उस प्राचीन समय में वह प्रदेश भी भारत का ही अंग था।

तथापि उक्त मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता, । क्योंकि भारतीय साहित्य में सरस्वती का जो वर्णन उपलब्ध है, उससे उक्त मत की संगति नहीं हो पारही है। जिन अन्य नदियों, देशों, राजाओं, ऋषिमुनियों अनेक तीर्थों का सम्बन्ध प्राचीन भारतीय वाङ्मय में बताया गया है, वह सब ऐरोकोसिया के 'हैल्मन्द' से संभव नहीं। भारतीय प्राचीन साहित्य के आधार पर सरस्वती नदी के नष्ट होने का उल्लेख है, किन्तु 'हैल्मन्द' आज भी उसी तरह प्रवाहित हो रही है। भारतीय प्राचीन साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि 'सरस्वती' नदी बिन्दुसर अथवा ब्रह्मसर नामक झील से निकलकर समुद्र में गिरती थी। किन्तु 'हैल्मन्द' पर्वत से निकल कर एक झील में जाकर मिलती है। अतः 'हैल्मन्द' को सरस्वती नदी मान लेना युक्तिसंगत नहीं है। नाम साम्य के आधार पर दोनों को एक समझना उचित नहीं है। अभी कुछ समय पूर्व इङ्गलैण्ड के बादशाह अष्टम एडवर्ड ने, किसी कारण से राजसिंहासन का परित्याग कर दिया था और वे 'ड्यूक ऑफ विण्डसर' कहे जाने लगे। इङ्गलैण्ड में एक स्थान का नाम 'विण्डसर'[1] है। यह नाम 'बिन्दुसर' से अत्यधिक मिलता जुलता सा है। तथापि इन दोनों को एक नहीं कहा जा सकता। आस्ट्रेलिया के 'न्यू साउथ वेल्स' प्रदेश में तथा अमेरिका में भी 'विण्डसर' नाम के स्थान हैं। इङ्गलैण्ड से जाकर वहाँ बसे हुए व्यक्तियों ने अपने प्राचीन प्रदेश की स्मृति में रख लिये हैं। ऐसे ही और भी अनेक नाम हैं। उसी तरह यह भी संभव हो सकता है कि कभी अत्यन्त प्राचीन काल में सरस्वती प्रदेश के आर्य लोग, अफगानिस्तान के उन प्रदेशों में जाकर कार्यवश बस गये हों और उन्होंने ही वहाँ की उस नदी का नाम, अपने प्रदेश की नदी के नाम पर रख दिया हो, जिसका कालान्तर में भाषा और उच्चारण के प्रभावों से यह रूपान्तर हो गया हो।

मिस्टर ए० ए० मेकडानल ने भी अपने 'वैदिक मिथॉलॉज़ी (Vedic Mythology)' में जो कहा है[2]—'अवेस्ता में वर्णित अफ़गानिस्तान की हरकैती (Haraqaiti) नदी, भारतीय साहित्य में वर्णित 'सरस्वती' है'—वह भी सर्वथा उसी प्रकार असंगत है।

---

१. इङ्गलैण्ड के अन्तर्गत बर्कशायर (Berkshire) नामक प्रदेश में विण्डसर (Windsor) नाम का स्थान है।

२. Vedic Mythology, 1897 A. D. संस्करण पृ० ८७।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरस्वती नदी हिमालय के 'बिन्दुसर' अथवा 'ब्रह्मसर'[1] नामक स्थान से निकलकर ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र आदि देशों को सींचती हुई उस समुद्र में गिरजाती थी, जो कभी राजपूताना प्रदेश की भूमि पर लहराती थी, इसी का नाम सरस्वती नदी था।

सरस्वती नदी के समान दृषद्वती नदी के संवन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य देखने में नहीं आ रहा है। आज जितनी नदियाँ उपलब्ध हो रही हैं उनमें से किसी का भी नाम 'दृषद्वती' नहीं कहा जाता, अतः या तो उसे नष्ट हुई कहा जाय या आज किसी अन्य नाम से उसके प्रसिद्ध हो जाने से पुराना नाम लोगों को विस्मृत हो गया हो। श्रीनन्दूलाल दे[2] महोदय 'घग्गर' को ही 'दृषद्वती' कहते हैं। ऐल्फिन्स्टन और टॉड के उल्लेखों के अनुसार उनका कहना है कि दृषद्वती नदी शिमले की पहाड़ियों में से निकल कर अम्वाला और सरहिन्द होती हुई राजपूताने की मरुभूमि में अन्तर्हित हो जाती है। किन्तु जिन-जिन उल्लेखों के अनुसार श्री दे महोदय ने वर्णन किया है पहिले तो वही संगत प्रतीत नहीं हो रहे हैं, क्योंकि 'घग्गर' नदी तो सरहिन्द से लगभग पैंतीस मील दूर पूरब की ओर बहती है, सरहिन्द के पास नहीं। वर्तमान अम्बाला छावनी से भी लगभग दो तीन मील पूरब है। महाभारत[3] में किये हुए वर्णन के अनुसार दृषद्वती नदी, सरस्वती से दक्षिण-पूर्व की ओर होनी चाहिये। वहाँ सरस्वती से दक्षिण और दृषद्वती से उत्तर की ओर कुरुक्षेत्र में निवास करना अच्छा बताया गया है। यह तभी संभव हो सकता है, जव सरस्वती से दक्षिण-पूर्व की ओर दृषद्वती की स्थिति मानी जाय। वर्तमान घग्गर नदी की स्थिति उक्त सरस्वती से पश्चिम की ओर है। ऐसी स्थिति में घग्गर को दृषद्वती कैसे माना जा सकता है? मेकडानल और कीथ के द्वारा संगृहीत 'वैदिक इण्डेक्स' में बताया है कि दृषद्वती नदी कुछ दूर तक सरस्वती के बराबर-बराबर बहकर उसमें मिल जाती थी। ऋग्वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, और श्रौतसूतों में भी इसका उल्लेख[4] है। मनुस्मृति[5] में बताया है कि ये दो नदियाँ मध्यदेश की पश्चिमी सीमा को वनाती हैं।

उपर्युक्त वैदिक इण्डेक्स के वर्णन से भी यह स्पष्ट नहीं होता कि सरस्वती के किस किनारे की ओर अथवा किस दिशा में दृषद्वती बहती थी। न वहां पर इस नाम से किसी

---

१. पद्मपुराण के अनुसार विष्णुसर।
२. नन्दूलाल दे कृत ['भौगोलिक कोष'—इङ्गलिश]
३. दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥
[म० भार० व० पर्व० ८३।४, २०४]
४. ऋग्वेद [३।२३।४], पञ्चविंशब्राह्मण [२५।१०।१३], ताण्ड्य महाब्राह्मण[२५।१०।१६], लाट्या० श्रौ० सू० [१०।१९।४], कात्या० श्रौ० सू० [२४।६।६-३६]
५. मनुस्मृति [२।१७]

वर्तमान नदी की पहिचान बताई गई है। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त की सीमा बताई गई है, मध्यदेश की नहीं। मध्यदेश की सीमा मनुस्मृति के २।२१ श्लोक में है वहाँ मध्यदेश की पश्चिमी सीमा विनशन को बताया है। प्राचीन साहित्य के आधार पर निश्चय होता है कि 'विनशन' उस स्थान का नाम था, जहाँ सरस्वती नदी समुद्र में गिरती थी। विनशन का दूसरा नाम अदर्श या अदर्शन भी उपलब्ध[1] होता है। इस प्रकार उत्तर-दक्षिण खड़ी एक ऐसी रेखा, जो विनशन पर से आती हो, मध्यदेश की पश्चिमी सीमा कही जा सकती है।

महाभारत[2] वनपर्व में दिये गये श्लोकों के अनुसार सरस्वती से पूर्व-दक्षिण की ओर दृषद्वती होनी चाहिये। इस विचार की पुष्टि ब्राह्मणग्रन्थ और श्रौतसूत्रों के वर्णन से भी होती है। वहाँ प्रसंग यह है कि विनशन में दीक्षित होकर, सरस्वती के दक्षिण तट से ऊपर की ओर चलता हुआ सरस्वती और दृषद्वती के संगम[3] तक आवे। संगम से सरस्वती को पार करके दृषद्वती के दक्षिणतट पर पहुँचे। संगम से नदी पार करने के दोषों से बचने के लिये वहाँ अपोनप्त्रिय (अपोनपात् देवता के उद्देश्य से) चरु देवे।[4] इस प्रसंग से प्रतीत होता है कि उक्त सरस्वती नदी के पूर्व-दक्षिण की ओर ही दृषद्वती होनी चाहिये, क्योंकि यदि सरस्वती के पश्चिम की ओर ही दृषद्वती हो तो दृषद्वती के दक्षिणतट पर जाने के लिये सरस्वती को पार करना आवश्यक न होगा और चरु का विधान करना निरर्थक होगा। उपर्युक्त विवेचन से भी स्पष्ट है कि घग्गर नदी को दृषद्वती नहीं कहा जा सकता, क्योंकिं घग्गर, सरस्वती से पश्चिम की ओर बहती है। अब यह भी विचार लिया जाय कि वर्तमान नदियों में से कौन सी वह नदी है जिसे पूर्वकाल में 'दृषद्वती' नाम से लोग पहचानते थे अथवा सरस्वती की तरह वह भी नष्ट हो गई है।

भारतीय परंपरा के अनुसार प्राचीन विद्वानों के मुख से यही सुनने में आ रहा है कि 'दृषद्वती' यह नाम गंगा नदी का है। इससे यह कल्पना कर सकते हैं कि एक ही नदी के अनेक नाम रहे होंगे, उनमें से एक नाम (गंगा) अत्यधिक प्रसिद्ध हो गया और दूसरा नाम व्यवहार में किसी कारणवश उतना प्रचलित नहीं रह पाया, परिणामस्वरूप धीरे-धीरे लोग उस नाम को भूल गये। जैसे वर्तमान 'व्यास' नदी के ऋग्वेद में आर्जिकीया और 'विपाट्' दो नाम उपलब्ध होते हैं। किन्तु आर्जिकीया नाम को लोग आज बिलकुल भूल गये हैं। और 'विपाट' का अपभ्रंशरूप 'व्यास' आज सभी के जिह्वाग्र पर है।

---

१. महाभाष्य—[२।४।१०], [६।३।१०९]
२. महाभारत—[८२।४, २०४]
३. दोनों नदियों के संगम का उल्लेख—लाट्या० श्रौ० सू० [१०।१९।४]
४. ताण्ड्य महा ब्रा० [२५।१०।१२-२३], कात्या० श्रौ० [२४।६।६]

सुदीर्घतर प्राचीन काल में जब यह 'दृषद्वती' नाम प्रचलित था उस समय गंगाजी का स्रोत आज की तरह न था, उस समय अवश्य ही यमुना के आगे यह (गंगा) पश्चिम की ओर बहती हुई सरस्वती की सहायक नदी रही होगी। महाभारत[1] के उल्लेख से भी यह प्रमाणित हो रहा है कि गंगाजी का ही दूसरा नाम 'दृषद्वती' था। महाभारत का युद्ध समाप्त होने पर जब युधिष्ठिर ने देखा कि इष्ट मित्र, आप्त-बन्धु बान्धव सभी समाप्त हो चुके तब उसके हृदय में बड़ा विषाद हुआ और राज्यपालन की जगह संन्यास लेने को उद्यत हुआ किन्तु अपने सहोदर भाइयों एवं श्रीकृष्ण के द्वारा समझाने बुझाने पर वह राज्यपालन के लिये तैयार हुआ और हस्तिनापुर गया। तब प्रजाजनों की अभिलाषा के अनुसार युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हुआ। तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा युधिष्ठर! अब तुम पर राज्यसंचालन का बड़ा भारी उत्तरदायित्व आ पहुँचा है, उसे समुचित रूप से निभा सको, एतदर्थ शरशय्याशायी अमितप्रतिभासम्पन्न राजनीतिनिपुण अपने पितामह के पास चलकर उनसे राजनीति की शिक्षा तुम्हें प्राप्त कर लेनी चाहिये। इस प्रकार श्रीकृष्ण की मंत्रणा से प्रेरित होकर अपने सहोदर भाइयों तथा भगवान् श्रीकृष्ण के साथ राजनीति का उपदेश लेने के लिये कुरुक्षेत्र जा पहुँचे। वहाँ पितामह भीष्म से उपदेश प्राप्त कर हस्तिनापुर जब वापस आये तब पहिले सभी लोगों ने दृषद्वती में स्नान, संध्यावन्दन किया, तदनन्तर राज्य में प्रवेश करने का उल्लेख किया गया है।[2] इससे स्पष्ट हो रहा है कि दृषद्वती नदी हस्तिनापुर के आस-पास ही कहीं होनी चाहिये। मेरठ जिले के अन्तर्गत मवाना तहसील में हस्तिनापुर नामक स्थान को ही, कौरवों की तत्कालीन राजधानी मानने पर यह निश्चय होता है कि गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती था, क्योंकि उक्त हस्तिनापुर इसी नदी के दक्षिणतट पर बसा है।

महाभारतकाल में वर्तमान कुरुक्षेत्र उपनगर (कस्बा) और उसके आस-पास का प्रदेश ही प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र न था, बल्कि वह पर्याप्त विस्तृत प्रान्त था। इसकी सीमायें पश्चिम में सतलुज, पूर्व में गंगा तक फ़ैली हुई थीं। महाभारत का युद्ध किस भूमिपर और कितनी भूमिपर हुआ था यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, तथापि युधिष्ठिर आदि का प्रतिदिन प्रातः काल भीष्म के पास उपदेश प्राप्त करने के लिए

---

१. महाभा० शान्ति व०, अ० १-५८।

२. 'श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रवक्ष्यामि पितामह।
उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम्॥
ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः॥
दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः कृतोदकार्थाः कृतजप्यमंगलाः।
उपास्य सन्ध्यां विधिवत्परन्तपास्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम्॥

[महा० भा० शां० प० ५७।२८-३०]

जाना और सायंकाल हस्तिनापुर वापस आ जाना, इस तथ्य को प्रकट करता है कि शरविद्ध होने पर भीष्म को हस्तिनापुर समीप ही कहीं अथवा अधिक से अधिक बीस पच्चीस मील के अन्तर पर गंगा तट के आस-पास ही रखा गया था। यद्यपि यह स्थान भी कुरुक्षेत्र प्रान्त के अन्तर्गत ही था। वर्तमान कुरुक्षेत्र उपनगर और हस्तिनापुर का अन्तर लगभग एक सौ मील है। तथा निश्चित रथ मार्गों से आने जाने पर और भी अधिक अन्तर पड़ेगा। इतनी दूरी घोड़ों के रथों की सवारी पर प्रतिदिन आने जाने के लिये अधिक प्रतीत होती है।

भीष्म का निधन हो जाने पर उनके निवास के समीप ही चिता बनाये जाने का उल्लेख महाभारत[1] में उपलब्ध होता है। वहीं पर भीष्म का दाहसंस्कार किया गया था। दाह के अनन्तर गंगा में स्नानादि करने का उल्लेख किया गया[2] है। अतः कहा जा सकता है कि जहाँ भीष्म शरशय्या पर लेटे थे वह स्थान अवश्य ही गंगा के अति समीप होगा महाभारत[3] में कौशिकी नदी और दृषद्वती के संगम का उल्लेख है। आधुनिक इतिहासज्ञ बिहार प्रान्त की वर्तमान कुशी या कोसी नदी को ही 'कौशिकी' नाम से जानते हैं। यदि यह ठीक हो तो दृषद्वती के साथ इसके संगम का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती था, क्योंकि भागलपुर से कुछ आगे गंगा में ही आ कर कौशिकी नदी मिलती है। ताण्डय महाब्राह्मण[4] एवं कात्यायन श्रौतसूत्र[5] तथा लाट्यायन श्रौतसूत्र[6] में सारस्वत और दार्षद्वत नाम के दो सत्रों का उल्लेख किया गया है, जिसमें बताया गया है कि सत्र करने वाला व्यक्ति विनशन, जहाँ सरस्वती नदी समुद्र में गिरती थी—में दीक्षा लेकर सरस्वती के दक्षिण तट से उसके उद्गम की ओर चले। सरस्वती-दृषद्वती का संगम आने पर, संगम से ऊपर की ओर सरस्वती को पार करके दृषद्वती के दक्षिण तट पर पहुँचे। पार करने के पूर्व ही संतरण के दोषों से मुक्त होने के लिये अपोनप्त्रिय (अपोनपात् देवता के उद्देश्य से) चरु देवे, और पार होकर वहीं से अष्टाकपाल पुरोडाश के द्वारा आग्नेय इष्टि का आरंभ करे। पुनः दृषद्वती के दक्षिण तट से उद्गम की ओर चलता हुआ उसके उद्गम स्थान पर पहुँचे, वहाँ से नदी को पार किये बिना ही यमुना के उद्गम 'त्रिप्लक्ष-अवहरण' नामक स्थान पर पहुँचे, वहाँ 'अवभृथ' इष्टि का अनुष्ठान करे। वहाँ से सरस्वती के उद्गम स्थान 'प्लक्षप्रास्रवण' में जाकर अष्टाकपाल।

---

१. महाभा० [अनु० प० २७४।९–१७]
२. महाभा० [अनु० प० २७४।९–१७]
३. कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत।
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

म० भा० व० प० [८४।९५–९६]

४. तां० म० ब्रा० [२५।१०।१२–२३]
५. का० श्रौ० सू० [२४।६।१०–३६]
६. ला० श्रौ० सू० [१०।१९।४]

पुरोडाश से आग्नेय इष्टि करे। वहाँ से सरस्वती के दक्षिण तट पर, धारा के साथ साथ नीचे की ओर दृषद्वती के संगम पर पहुँच कर सत्र को पूर्ण करे। इस उल्लेख से यह अच्छी तरह समझ में आ सकता है कि सरस्वती–दृषद्वती के संगम से ऊपर सरस्वती के दक्षिण तट से बाएँ तट की ओर पार होकर दृषद्वती के दक्षिण तट पर पहुँचना यह सिद्ध करता है कि सरस्वती से पूर्व-दक्षिण की ओर ही दृषद्वती थी। अतः घग्गर को दृषद्वती बताना कैसे संगत हो सकता है?

इसके अतिरिक्त आगे दृषद्वती के दक्षिण तट से ऊपर की ओर जाते हुए उद्‌गम स्थान पर पहुँच कर वहाँ से नदी को बिना पार किये ही यमुना के उद्‌गम स्थान पर पहुँचना यह सिद्ध करता है कि इन ग्रन्थकारों को प्राचीन परंपरा के आधार पर यह निश्चय था कि दृषद्वती के उद्‌गम से पश्चिम की ओर यमुना का उद्‌गम स्थान है। ऐसी स्थिति में यमुना से पूर्व ओर की दृषद्वती नदी गंगा ही संभव हो सकती है। अतः गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती था। स्कन्द पुराण[1] में भी सरस्वती और गंगा के संगम का उल्लेख उपलब्ध होता है। पुराण के आधार पर ही इनके संगम स्थान का भी अनुमान किया जा सकता है। वह स्थान अम्बाला मण्डल के अन्तर्गत कैथल मण्डी के समीप 'पूडरी' नामक बस्ती के आस-पास ही कहीं होना चाहिये।

उक्त नदियों के स्रोतों का प्रकार ज्ञात कर लेने पर 'ब्रह्मावर्त' की सीमाओं का ठीक-ठीक ज्ञान अब हो सकता है। मनुस्मृति[2] के अनुसार सरस्वती और दृषद्वती नदी के बीच का प्रदेश, ब्रह्मावर्त, तथा उसके अनन्तर अर्थात् नीचे की ओर का प्रदेश 'ब्रह्मर्षि देश' था।

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन-ये चार प्रान्त ब्रह्मर्षि देश में थे। वर्तमान भौगोलिक विभागों के अनुसार नाहनराज्य का अधिक भाग देहरादून का जिला, टिहरी राज्य, सहारनपुर जिले का तथा अम्बाला जिले की जगाधारी तहसील का ऊपरी भाग 'ब्रह्मावर्त' देश में आता है। इसके नीचे 'ब्रह्मर्षि देश' के कुरुक्षेत्र प्रान्त में अम्बाला जिले का अधिक भाग, करनाल, रोहतक, देहली, गुडगाँव जिलों का उत्तरी भाग, मेरठ, मुजफ्फरनगर और सहारनपुर जिले का दक्षिणी भाग तथा पटियाला, नाभा, झींद राज्यों का पर्याप्त भाग जाता है।

कुरुक्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम में मत्स्य प्रान्त था, जिसमें वर्तमान राजपूताने का उत्तर पश्चिमी भाग, तथा जयपुर, गवालियर राज्यों का और फिरोजपुर जिले का अधिक

---

१. स्कन्द पुराण, प्रभास खण्ड [३५।४७]

२. सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥'
'कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥'—मनु [२।१७, १९]

४ सां० भू०

भाग आ जाता है। ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र तथा शूरसेन से पूर्व की ओर पंचाल प्रान्त था। जिसके उत्तर पंचाल और दक्षिण पंचाल-दो भाग थे, जिनमें कुमायूँ डिवीजन का कुछ दक्षिणी भाग रुहेलखण्ड के समस्त जिले और रुहेलखण्ड से पूर्व तथा दक्षिण की ओर का कुछ भाग समाविष्ट था। उपर्युक्त भौगोलिक वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मिस्टर कनिंघम ने अपने Ancient Geography of India-P. 338 पर महाभारत[1] के एक श्लोक का उद्धरण देते हुए जो कहा है कि 'कुरुक्षेत्र' के अन्तर्गत 'ब्रह्मावर्त था, वह ठीक नहीं है। कुरुक्षेत्र, ब्रह्मर्षि देश के अन्तर्गत एक प्रान्त था और ब्रह्मावर्त उससे सर्वथा पृथक् एक प्रदेश का नाम था। टी. आर. व्यासाचार्य कृष्णाचार्य ने महाभारत की विशेष शब्द सूची में 'कुरुक्षेत्र' शब्द पर लिखा है कि 'स्वायंभुव मनु के समय इस (कुरुक्षेत्र) का ही नाम 'ब्रह्मावर्त' था, किन्तु मनु के साथ इस कथन का विरोध होने से उसे ठीक नहीं कहा जा सकता।

ऊपरि निर्दिष्ट विचारों से प्रत्येक की सीमाओं का ठीक निर्धारण हो जाने से अब यह अच्छी तरह कहा जा सकता है कि महामुनि कपिल का जन्मस्थान वर्तमान सिरमौर राज्य के अन्तर्गत 'रेणुका' नामक झील के ऊपर की ओर आस-पास ही था। यहीं पर कर्दम ऋषि का आश्रम, जो सरस्वती नदी के दक्षिण तट पर तथा ब्रह्मावर्त की पश्चिमी सीमा में स्थित था। अतः ब्रह्मावर्त में निवास करने वाले सम्राट् मनु का अपनी कन्या देवहूति को लेकर वहाँ आना और अपनी कन्या के विवाहार्थ कर्दम से प्रार्थना करना सुसंगत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि महामुनि कपिल का काल वही है जिस समय सरस्वती नदी अपनी अविरल जलधारा से प्रवाहित हो रही थी। भारत की सुप्रतिष्ठित परंपरा के अनुसार दृढ़तापूर्वक यह विश्वास किया जाता है कि ऋषि, महर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, मुनि, तपस्वी, योगियों का जीवन काल, उनके संयमित जीवन तथा परिपूत सदाचार एवं तपोबल, आत्मबल के कारण सहस्रों वर्षों तक हुआ करता है। अतः आधुनिक पाश्चात्य प्रणाली का अवलंबन कर अपनी बलहीन बुद्धि से उनके काल की कपोल कल्पना करते बैठना समय का अपव्यय ही करना है। इस रहस्य को जानकर मि० मेकडानल ने भी कहा कि ऋषियों के काल का निर्धारण करना आकाशपुष्प के तोड़ने के बराबर है।

---

१. 'तदरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च।
एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं पितामहस्योत्तरवेदिरुच्यते॥'

—म० भार० व० प० [८१।२०७]

उक्त श्लोक के द्वारा वर्णित सीमा कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत 'समन्तपञ्चक' नामक तीर्थ की है। जिसको पितामह की उत्तरवेदि कहा गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पितामह ब्रह्मदेव की पूर्ववेदि ब्रह्मावर्त है।

आसुरि

महर्षि कपिल के प्रथम शिष्य आसुरि हैं। जिनका उल्लेख पंचशिखाचार्य ने अपने सूत्र में किया है। उनकी ऐतिहासिकता में भी आधुनिक कतिपय विद्वानों का विरोध है। मिस्टर गार्बे का कहना है[1] कि यदि आसुरि ऐतिहासिक व्यक्ति हो तो निश्चित रूप से कहना होगा कि शतपथ ब्राह्मण में बताये गये आसुरि से वह भिन्न है। किन्तु महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज आसुरि को ऐतिहासिक ही मानते हैं।[2] कपिल ने आसुरि को किस प्रकार ज्ञान दिया यह[3] जयमंगला और माठरवृत्ति में बताया गया है। आसुरि को पंचशिखाचार्य का गुरु महाभारतकार[4] ने बताया है।

हरिभद्रसूरिरचित षड्दर्शन समुच्चय की टीका में मणिभद्र सूरि द्वारा इसका एक उदाहरण दिया उपलब्ध होता है[5]। सांख्यकारिका की अत्यन्त प्राचीन व्याख्या माठरवृत्ति में तथा अन्यत्र भी आसुरि को एक गृहस्थ ब्राह्मण बताया है, और उसे आसुरि गोत्र का बताया है। वह अपने आसुरि गोत्र नाम से ही प्रसिद्ध हुआ। महाभारतकार ने शान्तिपर्व[6] में कपिल और आसुरि के संवाद का उल्लेख किया है। शतपथ ब्राह्मण में बारह स्थलों पर आसुरि का उल्लेख किया गया है। नौ स्थलों पर तो तत्तद्विषयक आसुरि के विचारों का उल्लेख है और तीन स्थलों पर उसकी वंशावलि का निरूपण है। शतपथ में इसके विचारों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यह यज्ञानुष्ठानादि का महान् ज्ञाता था। कतिपय पाश्चात्य[7] एवं तदनुकरणतत्पर भारतीय विद्वानों का कथन है कि सांख्याचार्य आसुरि और शतपथ का आसुरि दोनों भिन्न हैं, एक नहीं। किन्तु इन विद्वानों ने दोनों के भिन्न होने में कोई युक्ति या प्रमाण उपस्थित नहीं किया है। परन्तु श्रद्धेय पं० प्रवर उदयवीर शास्त्री का कहना है कि महाभारत शां० प० २२०।१० के अनुसार पंचशिखाचार्य दीर्घायु व्यक्ति थे, अतः शतपथ का आसुरि और सांख्याचार्य आसुरि एक ही है, भिन्न नहीं। माठरवृत्ति के सन्दर्भ से भी दोनों की एकता स्पष्ट होती है।

पञ्चशिख

महाभारत के शान्तिपर्व में किये हुए उल्लेख से ज्ञात हो रहा है कि पंचशिखाचार्य

---

१. Keith : Sāṁkhya System PP. 47-48; Garbe : Sāṁkhya and Yoga PP. 2-3.

२. जयमंगलाभूमिका—पृ० ३   ३. जयमंगला—पृ० ६८

४. महाभा० शां० प० २१८, ६-१०
तत्र पञ्चशिखो नाम कापिलेयो महामुनिः। आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम् ॥

५. 'तथाचासुरिः—'विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥'

६. [महाभा० शां० प०, अ० ३२६-३२८]

७. Dr. Richard garle, Sāṁkhya and Yoga, PP. 2. 3.

आसुरि के प्रधान शिष्यों में से था,[1] उसकी माता[2] कपिला नाम की थी। योगसूत्र के भाष्य, सांख्यसूत्र तथा उसके भाष्य, भामती, सांख्यकारिका के गौडपादभाष्य माठरवृत्ति, सांख्यतत्त्वकौमुदी की बालरामोदासीन की टिप्पणी आदि में आसुरि के शिष्य पञ्चशिखाचार्य के कतिपय वाक्य उपलब्ध होते हैं।[3]

पंचशिखाचार्य पराशर[4] गोत्र के थे। इनके सम्बन्ध में कोई इतिवृत्त उपलब्ध नहीं है। टिप्पणी में दिये गये उदाहरणों में से एक उदाहरण को छोड़कर शेष सभी उदाहरण गद्यमय ही हैं, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उनका कोई सूत्रात्मक ग्रन्थ अवश्य रहा होगा। मिस्टर गार्बे महोदय इनका समय ईसा के प्रारम्भ में ही मानते है।[5] सर राधा कृष्णन् ने योगभाष्यकार व्यास का समय ईसा की चतुर्थ

---

१. महाभा० शां० प० २२५।२४ २. महाभा० शां० प० २२०।१५-१६

३. योगसूत्र के भाष्य में:—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' [१. ४], 'आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।' [१. २५], 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्सम्प्रति जानीते' [१. ३६] 'व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः स सर्वोऽप्रतिबुद्धः।' [२. ५], बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन।' [२. ६], 'स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्, कस्मात्, कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति।' [२. १३], रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते।' [३. १३], 'तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं भवति।' [३. ४१]।

इन उपर्युक्त उद्धरणों में भाष्यकार ने कहीं पर भी पंचशिख के नाम का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु वाचस्पतिमिश्र ने लिखा है कि पंचशिख के वाक्य हैं।

सांख्यसूत्रों में—'आधेयशक्तियोगः पञ्चशिखः' [५. ३२], 'अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः' [६. ६८]।

सांख्यसूत्रभाष्य में—'सत्त्वं नाम प्रसादलाघवानभिष्वङ्ग प्रीति-तितिक्षा-सन्तोषादिरूपानन्तभेदं समासतः सुखात्मकम्, एवं रजोऽपि शोकादिनानाभेदं समासतो दुःखात्मकम्, एवं तमोऽपि निद्रादिनानाभेदं समासतो मोहात्मकम्' [विज्ञा० भाष्य १. १२७]'

भामती में—'तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः' [ब्र० सू० २. २. १०]

गौडपादभाष्य (कारि० १) और माठरवृत्ति (कारि० २२) में—'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः। जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥' 'यह श्लोक—"तथा चोक्तं पंचशिखेन प्रमाणवाक्यम्' इस प्रकार उल्लेख करते हुए तत्त्वयाथार्थ्यदीपन में और हरिभद्रसूरि ने शास्त्रवार्तासमुच्चय में उद्धृत किया है" ऐसा माठरवृत्ति की भूमिका में कहा गया है। तत्त्वयाथार्थ्यदीपन के रचयिता भावागणेश १७ शताब्दी ईसवीय हैं, जो विज्ञानभिक्षु के शिष्य हैं।

सांख्यतत्त्वकौमुदी की टिप्पणी में श्री बालरामोदासीन—'उभयथाप्यस्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते।'—पृ० १५१

४. महाभा० शां० प० ३२०, २१। ५. Sāṅkhya and Yoga, P. 3

शताब्दी माना है[१]। चतुर्थ शताब्दी में पंचशिखाचार्य के ग्रन्थ की अत्यन्त प्रसिद्धि तथा सर्वत्र खूब प्रचार रहा होगा, अतएव व्यास ने अपने भाष्य में उनके उद्धरणों के साथ उनका नाम नहीं दिया होगा यह कल्पना की जा सकती है। पञ्चशिख के ग्रन्थ से श्रीवाचस्पति मिश्र भी अच्छी तरह परिचित थे, अन्यथा पञ्चशिख के उद्धरणों के साथ-साथ पञ्चशिख का नाम बार-बार क्यों देते। अतः उनके ग्रन्थ से वाचस्पति के परिचित होने का अनुमान अनायास ही हो जाता है। विज्ञानभिक्षु ने पंचशिख को तत्त्वसमास के व्याख्याकार के रूप में बताया है। भावागणेश ने भी अपने तत्त्वयाथार्थ्यदीपन में उन्हें व्याख्याकार ही बताया है[२]। बहुत संभव है कि वाचस्पति मिश्र के दृष्टिपथ में यह पंचशिख विरचित तत्त्वसमासव्याख्या ही आई हो। इसी पञ्चशिखाचार्य को ऐतिहासिक विद्वान्[३] षष्टितन्त्र का रचयिता कहते हैं, किन्तु भारतीय विद्वानों को यह मान्य नहीं है। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पति मिश्र[४] तो षष्टितन्त्र का विषय योगशास्त्र कहते हैं और उसके रचयिता वार्षगण्य को मानते हैं। इसपर म० म० डॉ० श्री गोपीनाथ कविराज का कहना[५] है कि वाचस्पति ने षष्टितन्त्र ग्रन्थ को देखा ही नहीं है। किन्तु साहित्याचार्य, एम० ए० रामावतार शर्मा[६] पंचशिख को आसुरि का शिष्य बतातेहैं और उसी को षष्टितन्त्र का रचयिता कहते हैं। यद्यपि आज हमलोगों को वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है तथापि वाचस्पति के दृष्टिपथ में वह अवश्य आया था, यह तत्त्वकौमुदी से अवगत होता है। 'मिस्टर कीथ[७] का कहना है कि महाभारत में उल्लिखित पञ्चशिख से यह पञ्चशिख भिन्न है, उसी तरह बौद्धों के ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले गन्धर्व पञ्चशिख से भी यह सांख्याचार्य पञ्चशिख भिन्न है। किन्तु महाभारत के शांन्ति पर्व के २२०–२२२ एवं ३२४ में पञ्चशिख और जनक का संवाद दिया गया है, उसमें सांख्यसिद्धान्तों को देखने से यह निश्चय होता है कि सांख्याचार्य पञ्चशिख और महाभारत का पंचशिख एक ही व्यक्ति है। अतः मि० कीथ का कथन उचित नहीं है।

विन्ध्यवास

कितने ही विद्वानों ने विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण को एक बताया है, किन्तु वह

---

१. Indian Philosophy, II. 342

२. समाससूत्राण्यालम्ब्य व्याख्यां पञ्चशिखस्य च।' त० या० दी०–माठरवृत्ति भूमिका, पृ० २

३. Sāṁkhya System, P. 48

४. तत्त्ववैशारदी, [यो० सू० ४, १३], भामती, [ब्र० सू० २।१।३]

५. Jayamaṅgalā, [int, PP, 4–7]

६. 'आसुरेश्च शिष्यः पंचशिखः, स एव षष्टितन्त्रप्रणेता, तत्रापि रूपकमोऽयं निबन्धो वाचस्पतिना तु दृष्ट इति कौमुदीतोऽवगम्यते।' [टिप्पण्याम् पृ० २२६]

७. Sāṁkhya System, P. 48, 51

उचित प्रतीत नहीं हो रहा है ऐसा म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज कहते हैं[१]। भोज के राजमार्तण्ड में विन्ध्यवास का एक[२] वाक्य दृष्टिगोचर होता है। मनुस्मृति के व्याख्याकार मेधातिथि ने भी विन्ध्यवास के मत का उल्लेख[३] किया है। किन्तु प्रतीत होता है कि विन्ध्यवास के मत को श्लोकवार्तिक से उपलब्ध[४] कर अपनी व्याख्या में उसने उस मत का उल्लेख किया है। षड्दर्शनसमुच्चय[५] में भी विन्ध्यवास का वाक्य उपलब्ध होता है।

बङ्गदेश के राजा बल्लालसेन विरचित अद्भुतसागर में उद्धृत ग्रन्थसूची से अवगत होता है कि ई. स. बारहवीं शताब्दी में विन्ध्यवास का ग्रन्थ भी उपलब्ध था, जिससे सिद्ध होता है कि विन्ध्यवास नाम से प्रसिद्ध कोई सांख्याचार्य था[६]। श्रीतनुसुखराम शर्मा माठरवृत्ति की भूमिका में त्रिकाण्डशेष, हैमकोष, संयमिनाममाला आदि कोषों के वाक्यों को उद्धृत कर विन्ध्यवास और व्याडि को एक ही बताते[७] हैं। श्री शर्माजी के मत में विन्ध्यवास का ही दूसरा नाम व्याडि है, जो ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी में हुआ था। श्री बेलवलकर महोदय[८] का कहना है 'चीन के इतिहास के आधार पर प्रतीत होता है कि विन्ध्यवास ने 'हिरण्यसप्तति' नाम के किसी सांख्य ग्रन्थ की रचना की थी।' डॉ० बेलवलकर महोदय हिरण्यसप्तति को सांख्यकारिका की टीका मानते हैं। महामहोपाध्याय डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज[९] कहते हैं 'अनुयोग द्वार सूत्र' नामक जैनग्रन्थ में दी हुई ब्राह्मणग्रन्थों की सूची में पठित 'कनगसत्तरि' (कनकसप्तति) यह नाम सुवर्णसप्तति या हिरण्यसप्तति का समानार्थक होने से वह सांख्यकारिका का ही नाम है ऐसा चीनी लोगों में प्रसिद्ध है। किन्तु यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि अनुयोगद्वारसूत्र 'कनकसत्तरि' नाम के साथ 'माढरम्' शब्द भी उपलब्ध

---

१. Jayamangala, [int, PP. 6–7]

२. "अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम्—'सत्त्वतप्यमेव— 'पुरुषतप्यत्वम्'—"
[यो० सू० ४।२२]

३. "सांख्या हि केचिदन्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवास प्रभृतयः—" [१।५५]

४. "अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना"—[पृ० ७०४]

५. पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्। मनः करोति सान्निध्यादुपाधेः स्फटिको यथा॥
[षड्० स० पृ० ३६]

६. Kane:—[History of Dharma Sāstra, PP. 341–793]

७. "स च भगवतो वर्षस्य शिष्यो नन्दसमकालीनः—[कथासरित् सागर १. २.], पाणिनिसूत्राणां संग्रहाख्यटीकायाः कस्यचित्कोशस्य कर्ता, दाक्षायणेः पतञ्जलेरपि पुरोगामी सांख्ययोगाचार्यश्च" मा० वृ० भू० [पृ० ३]

८. Belvalkar, [Bhandarkar Comm. Volume, 1 75 तथा 177]

९. "जैनानामनुयोगद्वारसूत्राख्ये ग्रन्थे उपलभ्यमानायां ब्राह्मणग्रन्थसूच्यां पठिता—'कनगसत्तरि' (कनकसप्ततिः) सुवर्णसप्ततेर्हिरण्यसप्ततेर्वा समानार्था, सांख्यकारिकाया इव चीनदेशेषु प्रसिद्धं नाम"—Jayamangala, int, P. 7. and 12 n.

होता है। यदि 'माढरम्' यह 'माठरम्' का ही नाम हो तो अनुयोगद्वार सूत्र की रचना ईसा प्रथमशताब्दी में होना संभव नहीं हो सकता। यह किसी जर्मनविद्वान्[1] ने म० म० कविराजजी को पत्र भेजकर बताया था। माठरवृत्ति में हस्तामलकस्तोत्र का एक वाक्य[2] प्राप्त होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि वह स्तोत्र भगवत्पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य के समकालिक[3] है। अतः कनगसत्तरि का अवलंबन कर ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास के समय का निर्धारण करना प्रामाणिक न हो सकेगा। दूसरी बात यह है कि व्याडि नाम के विन्ध्यवास को यदि हिरण्यसप्तति का रचयिता मानें तो सांख्यकारिका से हिरण्यसप्तति के तथा विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण के भिन्न होने में सन्देह ही नहीं रह जाता अन्यथा ईश्वरकृष्ण को ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दी में मानना होगा। मिस्टर कीथ[4] महोदय कहते हैं—विन्ध्यवासनाम के अनेक व्यक्ति हो गये हैं अतः उसका कालनिर्धारण नहीं किया जा सकता। विद्वान् इतिहासकार पं०-प्रवर श्रीउदयवीरशास्त्रीजी ने सिद्ध किया है कि सांख्य के अनेक संप्रदायों में से किसी एक संप्रदाय के प्रवर्तक वार्षगण्याचार्य थे, उसी संप्रदाय के अनुयायी यह विन्ध्यवास थे क्योंकि विन्ध्यवास अपने गुरु वार्षगण्य के सांप्रदायिक शिष्य थे और ईश्वरकृष्ण सांख्य की मुख्य धारा के अनुयायी थे। वार्षगण्य के अनेक मतों के साथ ईश्वरकृष्ण का विरोध है। डा० वेलवलकर के कथनानुसार विन्ध्यवास, बुद्धसमकालिक होने से उसका काल ईसवी तृतीय शताब्दी के पूर्वार्ध (२५० A. D.) के समीप स्वीकार किया जा सकता है। श्री विनयतोष भट्टाचार्य विन्ध्यवास को ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा प्राचीन मान[5] रहे हैं लेकिन वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। ईश्वरकृष्ण ने विन्ध्यवास के मतों का खण्डन इसलिये नहीं किया कि सांख्यकारिका की ७२ वीं कारिका में परवादों का उल्लेख न करने की घोषणा की है। ईश्वरकृष्ण ने समस्त वादविवादों से दूर रह कर केवल सांख्यीय विषय प्रतिपादन करना ही अपना ध्येय रखा है। अतः विन्ध्यवास का काल (२५० A. D.) ही श्री श्रीशास्त्रीजी ने निश्चित किया है। विन्ध्यवास तो ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा अर्वाचीन ही है, प्राचीन नहीं।

वार्षगण्य

वार्षगण्य का परिचय प्राप्त करने में भी बड़ी कठिनाई हो रही है। व्यासभाष्य[6]

---

१. F. O. Schroeder जर्मनविद्वान् ने Kiel नगर से 1st March 1927.

२. "यथा दर्पणाभाव आभासहानौ"—[माठ० वृ० २९ कारि०]

३. ई० स० ७८०-८१२—(माठ० वृ० मू० ५,)

४. Sāṁkhya System, 79, in; also Karmamimāṁsā, P. 59

५. जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री, भाग ६ पृ० ३६—B. Bhattacharya.

६. "मूर्तिव्यवधिजातिभेदाऽभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः।"—[यो० सू० ३।५३]
"गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्॥"—[यो० सू० ४।१३]

में वार्षगण्य के नामपर दो वाक्य उपलब्ध होते हैं। इनमें दूसरे वाक्य को षष्टितन्त्र से लिया गया है, ऐसा श्री वाचस्पतिमिश्र का कहना है। श्री बालराम उदासीन कहते हैं कि यह वाक्य वार्षगण्याचार्य प्रणीत षष्टिपदार्थप्रतिपादक सांख्यशास्त्र का है। श्रीवाचस्पतिमिश्र ने इस श्लोक को प्रतीकपूर्वक[१] उद्धृत किया है। तत्त्वकौमुदी में भी वार्षगण्य[२] के नाम से श्रीवाचस्पतिमिश्र ने एक वाक्य दिया है। मिस्टर कीथ[३] ने भी अपने सांख्य सिस्टम में कहा है कि माठरवृत्ति तथा गौडपादभाष्य में षष्टितन्त्र से वार्षगण्य का एक वचन उद्धृत किया गया है। उपर्युक्त सन्दर्भों के देखने से भ्रम होता कि षष्टितंत्र का रचयिता वार्षगण्य होगा। चीनी ऐतिहासिक विद्वान् पंचशिखाचार्य को षष्टितंत्र का प्रणेता बताते हैं। परन्तु वार्षगण्य को षष्टितंत्र का रचयिता स्वीकार करने में कतिपय विद्वानों का संकोच भी दृष्टिगोचर हो रहा है[४]। सांख्यदर्शन के इतिहासकार ने तो षष्टितंत्र के रचयिता परमर्षि कपिल को ही अनेक प्रमाणों तथा तर्कों से सिद्ध किया है। वार्षगण्य तो प्रस्तुत आचार्य का गोत्रनाम प्रतीत हो रहा है। वृषगण अथवा वार्षगण से वार्षगण्य पद सिद्ध किया जा सकता है। श्री नाथूराम प्रेमीजी ने अपने इतिहास[५] में कहा है कि 'पाणिनि में वार्षगण्य पद की सिद्धि नहीं है, किन्तु पूज्यपाद देवनन्दी के ग्रन्थ में है। किन्तु श्रीप्रेमीजी के उक्त कथन की निःसारता पाणिनीय व्याकरण के देखने पर स्पष्ट हो जाती है। पाणिनीय व्याकरण के गर्गादि (४।१।१०५) गण में वृषगण पद का पाठ है, उससे वार्षगण्य पद की सिद्धि हो जाती है। अतः वार्षगण्य का काल पाणिनि से पूर्व ही प्रतीत हो रहा है। पाणिनि का कालनिर्णय व्याकरण शास्त्र के इतिहासकार पं० प्रवर श्री युधिष्ठिर मीमांसकजी ने ईसा से छः-सात सौ वर्षों से भी अनेक शतक पूर्व सप्रमाण सिद्ध किया है। वार्षगण्यगोत्र के अनेक व्यक्ति हुए हैं, उनमें से प्रस्तुत सांख्याचार्य वार्षगण्य कौन से हैं इसका निर्णय करना कठिन है। पतञ्जलिरचित-निदानसूत्र[६] में वार्षगण्य के अनेक मतों का उल्लेख किया गया है, किन्तु इनका सांख्य के सिद्धान्तों से कोई संबंध नहीं है। लाट्यायन श्रौतसूत्र[७] में जो वार्षगण्य के मत का उल्लेख है, उसका भी सांख्य से कोई संबंध नहीं है। ये दोनों सामवेदीयसूत्र हैं। आर्षानुक्रमणी में ऋग्वेद की तीन ऋचाओं का ऋषि 'वृषगणो वासिष्ठः' लिखा है।

---

१. "अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयिता आह स्म भगवान् वार्षगण्यः"—[ब्र० सू० २।१।३]
२. "पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह स्म भगवान् वार्षगण्यः"—[का० ४७]
३. "पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते"—[का० १७,] Sāṁhya System. 73.3 n]
४. Jayamaṅgalā, int., P: P. 4-6: Hiriyanna, Ṣaṣtitantra and Vārṣaganya, Journal of Oriental Research, Madras, April-June. 1929, PP. 107–112.
५. 'जैन साहित्य और इतिहास। पृ० ११२।
६. निदानसूत्र—श्री कैलाशनाथ भटनागर द्वारा संपादित।
७. ला० श्रौ० सू०—[१०।१।१०]

सांख्यकारिका की अतिप्राचीनव्याख्या युक्तिदीपिका में वृषगण के नाम से उद्धृत एक संदर्भ भी उपलब्ध होता है। सांख्य में वार्षगण्य की एक अपनी विशेष विचारधारा थी, जो योग से विशेष संबंधित थी। वृषगण या वार्षगण्य के अनुयायी वार्षगणाः कहे जाते थे। युक्तिदीपिका में तीनों नामों से कतिपय उद्धरण प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्यान्य[1] ग्रन्थों में भी वार्षगण्य के नाम से कुछ उल्लेख उपलब्ध होते हैं। रुद्रिलविन्ध्यवास इसी का अनुयायी था, इसलिये वार्षगण्य के अनेक मतों के साथ विन्ध्यवास से मत बहुत मिलते जुलते हैं। वार्षगण्य का मत है कि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष निरपेक्ष होती है, किन्तु पंचशिख का मत है कि पुरुष से अधिष्ठित होकर ही प्रधान की प्रवृत्ति होती है। इसी मत की सांख्यषडध्यायी (षष्टितंत्र) में स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थिति में वार्षगण्य को सांख्यषडध्यायी या षष्टितंत्र का रचयिता मानना कैसे उचित कहा जा सकता है। सांख्यदर्शन के विद्वान् इतिहासकार का मत हैं कि वार्षगण्य का समय बुद्ध से पूर्व स्वीकार कर लेने में कोई बाधा नहीं है।

जैगीषव्य

मिस्टर कीथ[2] कूर्मपुराण के वर्णन के अनुसार जैगीषव्य को पंचशिख का सतीर्थ्य कहते हैं। योगशास्त्र में इस जैगीषव्य का उपन्यास प्रमाण के रूप में उपलब्ध होता है[3]। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में जैगीषव्य को परमर्षि लिखा है। न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका[4] में वाचस्पति ने भी जैगीषव्य को योगशास्त्र का कर्ता कहा है। व्यासभाष्य (३।१८) में आवट्य और जैगीषव्य का संवाद दिया है। बुद्धचरित[5] में अराड कलाम ने जनक, जैगीषव्य, पराशर की मुक्ति होना बताया है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त जैगीषव्य के संबंध में कुछ भी उपलब्ध नहीं हो रहा है। हरिवंश, महाभारतादि ग्रंथों में उपलब्ध हुए वाक्यों से योगशास्त्र का प्रणेता वार्षगण्य है, जिसका होना ईसा प्रथम शताब्दी में माना जा सकता है, ऐसा मिस्टर गार्बे[6] कहते हैं। जैगीषव्य ने असित देवल

---

१. मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः [यो० सू० व्या० भा० ३।५३]
अत एव 'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः—[सां० त० कौ० आर्या ४७]
अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान् वार्षगण्यः—
गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥ [भामती २।१।३]
'संबंधादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्'—[न्या० वा० १।१।५]
२. Keith: Sāṁkhya System, 51
३. 'चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति "जैगीषव्यः" [व्या० भा० यो० सू० २।५५]
४. "धारणाशास्त्रं "जैगीषव्यादिप्रोक्तम्"—[न्या० सू० ३।२।४२]
५. बुद्धचरित—[१२।६७] Jayamaṅgalā. int, P. 2 foot note.
६. Sāṁkhya and Yoga, 418

को अपनी सिद्धि का चमत्कार भी दिखाया था और महादेवरुद्र तथा उमा को भी झुकाया था[१]। मि० कीथ[२] का मत है कि देवल, जैगीषव्य और पंचशिख तीनों समकालिक होने चाहिये।

वोढु

वोढु आचार्य भी नाम से ही परिचित हैं, उनके संबंध में भी किसी प्रकार की कोई जानकारी, या उनका ग्रन्थ, अथवा उनके नाम पर कोई उद्धरण आदि कुछ भी उपलब्ध नहीं है। ऋषितर्पण में पठित सांख्याचार्यों के बीच आसुरि के अनन्तर और पंचशिख के पूर्व वोढु का नाम आता है। मिस्टर वेबर का मत है कि ब्राह्मणों के द्वारा सुसंस्कृत कर दिया गया बुद्ध का ही नामान्तर है। मिस्टर कीथ[३] ने किसी एक अथर्व परिशिष्ट में वोढु का नाम आसुरि से भी पूर्व पाया है, ऐसा सांख्य सिस्टम के देखने से ज्ञात होता है। वोढु, सनक, सनन्दन, सनातन, सहदेव, प्लुति, पुलह, भृगु, अंगिरस्, मरीचि, ऋतु, दक्ष, अत्रि ये सब आचार्य अतिप्राचीन काल के प्रतीत होते हैं, इनकी कोई रचना आज उपलब्ध नहीं है। केवल सनन्द अथवा सनन्दन के नाम पर एक श्लोक मनुस्मृति की कुल्लूक भट्टी व्याख्या (१।५६) में उपलब्ध होता है। सांख्य षडध्यायी में भी कपिल ने इसके एक मत का उल्लेख (६।६९) किया है। 'सांख्य के तीन प्राचीन ग्रन्थ' पुस्तक के रचयिता श्री० पं० राजाराम शास्त्री ने किसी ब्राह्मण के घर 'तत्त्वसमास सूत्रोंपर सनन्दनाचार्य की व्याख्या देखी थी। यह सब सांख्यदर्शन के इतिहास से अवगत हो रहा है।

देवल

महाभारत[४] में असितदेवल का नारद के साथ संवाद उपलब्ध है, जिसमें आठ भूत (भाव, अभाव, काल, पृथिवी, जल, वायु, आकाश, तेज), भाव से प्रेरित हुए काल, को समस्त भूत और पृथिवी आदि पंच महाभूतों का स्रष्टा बताया गया है। इन्द्रियों की स्वयं ज्ञातृता का निषेध किया है, किन्तु क्षेत्रज्ञ के ज्ञान की जनकता बताई है। इन्द्रियों से परे चित्त है, उससे परे मन है उससे परे बुद्धि है, और उससे परे क्षेत्रज्ञ है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, चित्त, मन, बुद्धि-ये आठ ज्ञानेन्द्रिय बताये गये हैं। पुण्य और पाप के क्षयार्थ सांख्य का ज्ञान है। उनके क्षीण होनेपर ब्रह्म भाव को प्राप्त होना बताया गया है[५]। उक्त संवाद को देखने से कापिल सांख्य की सेश्वरता स्पष्ट

---

१. Garbe : Sāṁkhya and Yoga, P. 6
२. महाभा० शां० प० २६६
३. Sāṁkhya System, P. 51
४. महा० भा० शां० प० २७४
५. "पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते।
तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम् ॥"—[म० भा० शां० अ० २७४।३९]

हो जाती है। याज्ञवल्क्य स्मृति की अपरार्क टीका में सांख्यप्रतिपादनपरक जो वाक्य देवल के नाम पर उपलब्ध हो रहे हैं, वे तत्त्वसमास के सूत्रों से बहुत मिलते-जुलते हैं। महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे[1] ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में बृहस्पति, कात्यायन नामक दो स्मृतिकारों के समकालीन देवल को बताया है। डॉ० काणे ने कात्यायन का समय ईसा की चौथी-छठी शताब्दी के मध्य में अर्थात् विक्रम की तीसरी शती के लगभग निश्चित किया है[2]। किन्तु सांख्यशास्त्र के इतिहासकार श्री उदयवीर शास्त्री ने लिखा है कि महाभारत में देवल का अनेक बार उल्लेख हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों के मत से महाभारत का दृश्यमान कलेवर ईशा पूर्व द्वितीय शताब्दी में पूर्ण हो चुका था, अतः ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के पूर्व ही देवल का होना माना जा सकता है[3]। मिस्टर विण्टरनित्स ने कहा है कि महाभारत का जो आधुनिक विस्तर है, वह ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ था[4]। ईश्वरकृष्ण से देवल का अतिप्राचीन होना सम्भव नहीं है। माठर वृत्ति के–"कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानम्। ततः पंचशिखेन, तस्मात् भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीनागतम्"–'प्रभृति' शब्द से कुछ लोगों को भ्रम हो गया और कह दिया कि देवल अत्यन्त प्राचीन है। माठराचार्य प्रतिपादित गुरु-परंपरा, अन्य टीकाकारों द्वारा प्रतिपादित गुरु-परंपरा से अत्यन्त भिन्न है। अतः माठराचार्य का तात्पर्य देवल को ईश्वरकृष्ण से पूर्ववर्ती बताने में ही है, अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करने में नहीं। पाश्चात्य विद्वानों का भाषा के आधार पर साहित्य का क्रमिक कालनिर्णय करना सर्वथा असंगत है। भिन्नविषय के अनुसार भाषा की भिन्नता प्रत्येक काल में संभव हो सकती है। सविस्तर जानकारी के लिये 'सांख्यदर्शन का इतिहास' तथा पं० भगवद्दत्तकृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' नाम के ग्रन्थों को देखें।

सनकादि आचार्य

गौडपादाचार्य ने प्रथम कारिका के भाष्य में ब्रह्मा के कपिलादि सात पुत्रों को नाम ग्रहण पूर्वक निर्दिष्ट किया है[5]। यह नाम निर्देशक वाक्य किसी स्मृति से ही लिया होगा। महाभारत में भी सात ब्रह्मपुत्रों का निर्देश किया गया है। वहाँ का पाठ कुछ भिन्न है[6]। इन आचार्यों में से सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल, और सन, सनत्, सुजात,

---

१. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, पृ० १२१ २. हि० ऑ० धर्म०, पृ० २२५

३. Proceedings of 5th Oriental Conference, Labore, P.865

४. History of Indian Literatue, PP. 465–475

५. "सनकश्च सनन्द [न] श्च तृतीयश्च सनातनः। आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पंचशिखस्तथा॥ इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः।"

६. सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः। सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः॥ सप्तैते मानसाः प्रोक्ताः ऋषयो ब्रह्मणः सुताः। स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममाश्रिताः॥ एते योगविदो मुख्याः सांख्यज्ञानविशारदाः। आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः॥ [म० भार० शां० प० अ० ३४०, ६७–६९]

सनत्कुमारों का कोई किसी प्रकार का वृत्त कहीं उपलब्ध नहीं है। हाँ, सांख्यसूत्रकार ने सनन्दनाचार्य के नाम का उल्लेख किया है[1], इसके अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है। निर्णयसिन्धु और त्रिस्थलीसेतु के उल्लेख से पता चलता है कि सनत्कुमार किसी स्मृति के रचयिता हैं[2]। उसी प्रकार भृगु, शुक्र, काश्यप, गर्ग, गौतम, नारद आर्ष्टिषेण, अगस्त्य, पुलस्त्य, हारीत आदि आचार्य भी स्मृतिकार हैं। 'पराशर गीत[3]' नाम से प्रसिद्ध जो पराशर-जनकसंवाद महाभारत में उपलब्ध होता है, उसका तात्पर्य केवल वर्णाश्रम धर्म के प्रतिपादन में है। उसमें सांख्य का स्पर्श भी नहीं है। यह भी संभव है कि पंचशिख के समानगोत्री होने से पराशर को भी सांख्याचार्य कह दिया हो[4]। उलूक शब्द कौशिक का पर्याय है। चीन भाषा में अनूदित सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण को कौशिक गोत्र का बताया गया है[5]। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक नामक जैन ग्रन्थ में आठवें अध्याय के आरम्भ में ही पृ० ४७४ पर चार[6] श्रेणियों में विभक्त तीन सौ तिरसठ वादों का उल्लेख किया है। चार श्रेणियों में से अक्रियावाद की श्रेणी में उलूक और कपिल का पृथक् निर्देश किया है। माठरवृत्ति में उलूक का सांख्याचार्य के रूप में निर्देश किया है। महाभारत के उद्योग पर्व (१८६।२६) में उलूक के आश्रम में अम्बा के जाने का उल्लेख है।

सांख्याचार्य याज्ञवल्क्य

महाभारत के शांतिपर्व[7] के कतिपय अध्यायों में दैवरातिजनक और याज्ञवल्क्य के संवाद का वर्णन है। दैवरातिजनक ने कुछ प्रश्न पूछे हैं तब याज्ञवल्क्य ने उसे तत्त्वोपदेश किया है।

रामायण के अनुसार विदेहों के राजवंश में 'निमि' नाम का राजा सर्व प्रथम हुआ। उसकी सातवीं पीढ़ी में देवरात नाम का राजा हुआ। उसी का पुत्र दैवराति जनक था। इसका सस्कारिक नाम रामायण में बृहद्रथ बताया है। जिसे त्रेतायुग के मध्य काल से कुछ पूर्व कह सकते हैं। यह संवाद भीष्मपितामह ने महाराज युधिष्ठिर को सुनाया था। इस संवाद को भीष्म ने[8] पुराना इतिहास कहकर उल्लेख

१. "लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः"—[सां० सू०,६।६९]
२. Dr. Kane; History of Dharmaśāstra, P. 656
३. म० भार० शां० प० अ० २९०–२९८
४. म० भार० शां० प० अ० ३२०, २३
५. जयमंगला, भूमिका, पृ० २
६. क्रियावाद ८४, अक्रियावाद १८०, आज्ञानिक ६७, वैनयिक ३२
७. महाभा० शां० प० अध्या० ३१५–३२३
८. 'यदा स देवकीसूतः सङ्क्षिप्तमनुपश्यति'—महाभा० शां० प० ३२३।५५

किया है। याज्ञवल्क्य ने जिन तत्त्वों का उपदेश किया है वे सांख्य से संबंधित हैं। इनका आधार तत्त्वसमास और सांख्यषडध्यायी है। इस संवाद में चौबीस जडतत्त्व, पचीसवें चेतन पुरुष के अतिरिक्त छब्बीसवें पुरुष का भी उल्लेख है, जिसे ईश्वर कहते हैं। उसका अनुभव पच्चीसवें पुरुष को तभी हो पाता है जब वह स्वयं कैवल्य स्थिति को प्राप्त होता है[1]। मूलतत्त्व एक, दो या तीन हैं? इस प्रश्न का समाधान याज्ञवल्क्य ने कर दिया है—एक ईश्वर, दूसरा पुरुष, और तीसरी प्रकृति—ये तीन मूलतत्त्व हैं। इसी प्रकरण में प्रसंगवश कतिपय प्राचीन अन्य सांख्याचार्यों के नाम भी बताये गये हैं। यह याज्ञवल्क्य वही है जो शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है। याज्ञवल्क्य विश्वब्रह्माण्ड को अन्तर्यामी परमात्मा से पृथक् मानता है। इस विश्व को अन्तर्यामी के शरीररूप में वह बताता है। विश्व को शास्य और ईश्वर को शासक वह कहता है। सूर्य, चन्द्र, असंख्य तारागण, पृथिव्यादि समस्त लोक अतीत, अनागत सब कुछ अनन्त आकाश में व्याप्त है। आकाशसहित ये सब उस अन्तर्यामी परमात्मा में ही आधारित हैं। उसी के प्रशासन से इनकी गति और स्थिति नियंत्रित है। इस प्रकार प्राकृत जगत् और ईश्वर की सर्वथा पृथक् सत्ता है। यह पुरुष जीव इस संसार में आता जाता है और कर्मफलों को भोगता है। प्राचीन सांख्यदर्शन के ये ही विचार हैं जो सांख्यषडध्यायी में भरे पड़े हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में जो जनक वैदेह है वह विदेह (मिथिला) देशों का राजा है और वही दैवराति जनक है, जिससे याज्ञवल्क्य का संबन्ध है।

सांख्यकारिकाकार श्रीमदीश्वरकृष्ण

ईश्वरकृष्ण के संबन्ध में अनेक विद्वानों के अनेक विचार हैं। माठरवृत्ति में तो माठराचार्य ने 'भगवान्' 'भगवतोक्तम्' आदि बड़े ही बहुमान के साथ उसका उल्लेख किया है। आधुनिक विद्वानों ने भी इसके संबंध में बहुत कुछ विवेचन किया है। जापान के प्रसिद्ध विद्वान् मि० तकाकुसु ने ईश्वरकृष्ण का समय ४५० ईसवी माना है[2]। तकाकुसु ने लिखा है कि ई० स० ५४६ और ५६९ के बीच अनेक आर्यग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने वाले परमार्थ नामके किसी विद्वान् ने बौद्धदार्शनिक वसुबन्धु का जीवनचरित्र लिखा था, जिसमें उसने लिखा है कि वसुबन्धु की मृत्यु ८० वर्ष की आयु में हुई थी। तब तक परमार्थ भारत से चीन के लिये रवाना नहीं हुआ था। अतः वसुबन्धु का समय ई० सन् ४२० से ४५० के मध्य में होना चाहिये। परमार्थ ने यह भी लिखा है कि वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को विन्ध्यवासनाम के किसी सांख्यदार्शनिक ने शास्त्रार्थ में हरा दिया था। वसुबन्धु अपने गुरु की पराजय का जब

---

१. 'तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति'—महा० भा० शां० प० ३२३।५५
२. J. R. A. S., 1905; P. 33 FF.

तक प्रतीकार भी नहीं कर पाया तबतक विन्ध्यवास का देहावसान हो गया। इससे यह तो स्पष्ट हो ही गया कि विन्ध्यवास, वसुबन्धु के गुरु कोटिका और तत्समकालिक था। यह भी कहा जाता है कि विन्ध्यवास, गुप्तवंश के राजा बालादित्य का समकालिक था और वृषगण या वार्षगण्य का शिष्य था। उसने 'हिरण्यसप्तति' नामक सांख्यग्रन्थ की रचना की थी। किन्तु चीनी भाषा में अनूदित सांख्यसप्तति की व्याख्या में उपान्त्यकारिका के शिष्यपरंपरयागतम्' पदों का विवरण इस प्रकार किया है कि 'सांख्यसप्तति' का रचयिता ईश्वरकृष्ण है, जो 'पो-पो-ली' (Po-Po-Li) का शिष्य था। यदि 'हिरण्यसप्तति' का नामान्तर सांख्यसप्तति कहें तो उपर्युक्त चीनी शब्द 'पो-पो-ली' यथाकथंचित् वर्ष पद को प्रकट कर सकता है। तकाकुसु ने बुलेटिन १९१४, पृ० ३० में बड़ी खींचतान करते हुए 'पो-पो-ली' से पो-सो-ली उससे 'पो-ली-सो' उससे 'व-ली-सो' उससे 'वर्ष' शब्द बनाया है। डॉ० तकाकुसु ने ये सब परिवर्तन लेखकप्रमाद के कारण ही बतलाये हैं। ऐसी परिस्थिति में विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण' को एक व्यक्ति माना जा सकता है। इस प्रकार डॉ० तकाकुसु ने ईश्वरकृष्ण का समय ४५० A. D. निश्चित किया है। किन्तु उसपर डॉ० श्रीपाद कृष्ण बेलवलकर का कथन है कि ईश्वरकृष्ण के काल का निर्धारण वसुबन्धु तथा उसके प्रतिद्वन्द्वी विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण की एकतापर निर्भर करता है। किन्तु विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण की अभिन्नता प्रतीत नहीं हो पा रही है, क्योंकि माठरवृत्ति से प्रतीत होता है कि ईश्वरकृष्ण के गुरु पो पो ली का मूल संस्कृत नाम देवल है, वृष या वृषगण नहीं। अतः ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवास को एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता। सांख्यदर्शन के इतिहासकार पं० प्रवर उदयवीर शास्त्री जी ने डॉ० बेलवलकर के विचार का समर्थन करते हुए एक अधिक युक्ति प्रदर्शित की है कि अन्यान्य दार्शनिक ग्रन्थों में विन्ध्यवास के नाम पर अनेक मत पाये जाते हैं, उनमें से कोई एक भी मत ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति में प्राप्त नहीं हो रहा है। इतना ही नहीं विन्ध्यवास के मतों से ईश्वर-कृष्ण के मत सर्वथा भिन्न पाये जाते हैं। अतः विन्ध्यवास और ईश्वरकृष्ण को एक कहना कभी उचित न होगा। ईश्वरकृष्ण के गुरु देवल और विन्ध्यवास के गुरु वर्ष अथवा वार्षगण्य को जो माना गया है वह ठीक नहीं है। यहाँ गुरु शब्द से केवल उपाध्याय या अध्यापक समझ लेना उचित न होगा। ईश्वरकृष्ण की अपेक्षा देवल पर्याप्त प्राचीन आचार्य हैं। अतः चीनी शब्द 'पो० पो० ली०' का मूल संस्कृत रूप 'देवल' नहीं कहा जा सकता डॉ० तकाकुसु के द्वारा बताया गया 'वर्ष या वार्षगण्य' अर्थ तो बिलकुल ही उपहासास्पद है। उन्होंने चीनी पद से 'वर्ष' पद की कल्पना तो केवल लेखक प्रमाद के आधार पर की है। सम्प्रदायप्रवर्तक को भी गुरु कहा जाता है। जैसे—संन्यासीगण भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य को, सिक्ख लोग श्रीनानक को, आर्य-समाजी लोग स्वामी दयानन्द को अपना गुरु कहते हैं। इस आधार पर चीनी शब्द 'पो०

पो० ली' का मूल संस्कृतरूप 'कपिल' है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी चीनी शब्द 'पो० पो० लीं' के बहुत समीप 'कपिल' शब्द ही प्रतीत होता है, देवल या वर्ष नहीं। अन्तिम चार कारिकाओं द्वारा भी यही अर्थ ईश्वरकृष्ण के द्वारा स्पष्ट किया गया ईश्वरकृष्ण के इसी अभिप्राय को माठर ने भी अपनी व्याख्या में बताया है। माठर ने शास्त्रप्रवर्तक कपिल का सर्वप्रथम निर्देश किया है। सांख्यकारिका के चीनी अनुवाद में 'पो० पी० ली' शब्द से इसी कपिल का निर्देश किया गया है। क्योंकि माठरवृत्ति का ही चीनी भाषा में अनुवाद किया गया था।

डॉ० तकाकुसु और उनसे प्रभावित हुए लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपने गीतारहस्य में 'विश्व की रचना और संहार' प्रकरण की टिप्पणी में ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी एक ही व्यक्ति के नाम हैं' लिखा है, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि दोनों के मतों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर हो रहा है विन्ध्यवास तो सांख्य के अन्तर्गत वार्षगण्य के अवान्तर सम्प्रदाय का ही एक अनुयायी था, और ईश्वरकृष्ण सांख्य के मुख्य (कपिल) सम्प्रदाय का अनुयायी था। मुख्य (कपिल) संप्रदाय में तेरह[1] करण (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, ३ अन्तःकरण—बुद्धि, अहंकार, मन) बताये गये हैं। किन्तु वार्षगण्य ने तीन अन्तःकरणों के बजाय एक ही 'बुद्धि' अन्तःकरण को स्वीकार कर ग्यारह[2] करण माने हैं। उसीका अनुसरण कर विन्ध्यवासी ने भी ग्यारह[3] करण ही स्वीकार किये हैं। युक्तिदीपिकाकार ने सांख्यसप्तति की पंचम कारिका की अवतरणिका में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का निर्देश करते हुए उसके संबंध में विभिन्न आचार्यों के अपने-अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। वार्षगण्य और वृषगण के अनुयायी वार्षगण लोगों ने 'श्रोत्रादिवृत्तिः' यह प्रत्यक्ष का लक्षण किया। उसी का उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (१।१।४) में खण्डन किया, उसपर व्याख्या करते हुए वाचस्पति के लेख से प्रतीत होता है कि वे उक्त प्रत्यक्षलक्षण को वार्षगण्य का ही समझते हैं। इस प्रत्यक्षलक्षण का उल्लेखपूर्वक खण्डन तत्त्वोपप्लव,[4] न्यायमंजरी,[5] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,[6] प्रमेयकमलमार्तण्ड,[7] स्याद्वादरत्नाकर,[8] प्रमाणमीमांसा[9] में तत्तद्ग्रन्थकारों ने किया है। अभयदेवसूरि[10] ने उसी प्रत्यक्षलक्षण को विन्ध्यवासी का बताया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने गुरु वार्षगण्य के प्रत्यक्षलक्षण को ही विन्ध्यवास ने स्वीकार कर लिया है और ईश्वरकृष्ण का प्रत्यक्षलक्षण उससे भिन्न है। उसी प्रकार वार्षगण्य के अनुमान लक्षण का खण्डन उद्योतकर ने अपने न्यायवार्तिक में किया है। उसीसे मिलते-जुलते विन्ध्यवासी के

---

१. सांख्यसप्तति—कारि० ३२, सां० सू० २।३८
२. 'करणं'''एकादशविधमिति वार्षगणाः'—यु० दी० पृ० १३२
३. 'करणमपि'''एकादशकमिति विन्ध्यवासी' यु० दी० पृ० १०८
४. पृ० ८२। ५. पृ० १००। ६. पृ० १२७। ७. पृ० ६। ८. पृ० ३४३। ९. पृ० १०३९।
१०. जैनग्रंथ 'सन्मतितर्क' के व्याख्याकार—पृ० ५३३।

अनुमान लक्षण को शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह की व्याख्या पञ्जिका[1] में बताया गया है। उसी तरह श्लोकवार्तिकार[2] ने भी बताया है। शब्दपरिवर्तन रहने पर भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि विन्ध्यवासी ने अपने गुरु वार्षगण्य की परंपरा का पूर्णरूप से समर्थन किया है। किन्तु ईश्वरकृष्ण[3] का अनुमान लक्षण उनसे सर्वथा भिन्न है। उसी तरह विन्ध्यवासी[4] ने आतिवाहिक शरीर को नहीं माना है। किन्तु ईश्वरकृष्ण ने सूक्ष्म शरीर (आतिवाहिक) को स्वीकार किया[5] है। दोनों के विभिन्न सिद्धान्तों को देखते हुए ईश्वरकृष्ण और विन्ध्यवासी को एक ही कैसे समझा जा सकता है। दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं। इस विचारविमर्श को दृष्टि में रखते हुए अब निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि ईश्वरकृष्ण का काल ई० प्रथमशतक के बहुत पूर्व सिद्ध होता है क्योंकि अनुमानतः ईसवी प्रथम शतक के अनुयोगद्वारसूत्रनामक[6] जैन ग्रन्थ में 'कनगसत्तरी' नाम का उल्लेख उपलब्ध है। यह नाम ईश्वरकृष्ण की सांख्यसप्तति अथवा सांख्यकारिका का ही है ऐसा सांख्यदर्शन के इतिहासकार विश्वसनीय विद्वान् पं० प्र० उदयवीर शास्त्री एवं म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज जी ने कहा है।

सांख्य के प्रवर्तक कपिल का ग्रन्थ

सांख्य के प्रवर्तक, देवहूति-कर्दम प्रजापति के पुत्र महामुनि कपिल के निर्मित ग्रन्थ के सम्बन्ध में भी विद्वानों का एक मत नहीं है।

आज उपलब्ध होनेवाले सांख्यग्रन्थों में से अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण विरचित 'सांख्यकारिका' को ही कतिपय भारतीय तथा पाश्चात्य[7] विद्वान् मानते हैं।

वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यों ने आसुरि के प्रधान शिष्य पंचशिख के द्वारा विरचित ग्रन्थ को ही—जिसमें पातञ्जल योगदर्शन के व्यासभाष्य तथा सांख्ययोग से संबंधित ग्रन्थों के कतिपय वाक्य उपलब्ध होते हैं—सबसे प्राचीन स्वीकार किया है। वाचस्पति के कथन को दृष्टि में रखकर विचार किया जाय तो कहना होगा कि वे उद्धृत वाक्य, सांख्यकारिका से भी बहुत प्राचीन हैं। सांख्य के प्राचीन ग्रन्थ 'तत्त्व-समाससूत्र', 'पञ्चशिखसूत्र', 'सांख्यकारिका' ये तीन माने जाते हैं। आधुनिक कतिपय

१. गायकवाड़ ओरि० सं० सी०—बड़ौदा, पृ० ४२३।
२. श्लोकवार्तिक औत्पत्तिकसूत्र अनुमान परि० श्लोक १४३।
३. सांख्यकारिका ५
४. श्लोकवार्तिक—अन्तराभवदेहस्तु नेष्यते विन्ध्यवासिना।
युक्तिदीपिका—पृ० १४४ विन्ध्यवासिनस्तु······नास्ति सूक्ष्मशरीरम्।
५. सांख्यकारिका—३९-४०
६. दी हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—ए० बी० कीथ, पृ० ४४८

विद्वानों का कहना है कि कपिल सांख्य प्रवर्तक तो माना जा सकता है किन्तु उसका ग्रन्थ कोई नहीं है। कतिपय विद्वान्[1] 'तत्त्वसमास' को कपिल का ग्रन्थ कहते हैं। कुछ विद्वान् 'सांख्यषडध्यायी अथवा सांख्यप्रवचन सूत्र' को प्राचीन ग्रन्थ कहते हैं किन्तु उसे अज्ञातकर्तृक कहते हैं। पाश्चात्य तथा कतिपय आधुनिक भारतीय विद्वान् उक्त ग्रन्थ को सायण के समय से पीछे का कहते हैं। जो भी हो परंपरया तो यही सुनने में आता रहा है कि ये सांख्यप्रवचनसूत्र कपिल के हैं। सांख्यसूत्रों की रचना को सायण के पश्चात् अर्थात् चौदहवें शतक के अनन्तर मानने वाले विद्वानों का कहना है कि—उक्त ग्रन्थ में अनेक सूत्र तो कारिकारूप हैं। सूत्रों का पद्यात्मक होना कैसे संभव है? अतः यह कल्पना की जाती है कि किसी अज्ञात व्यक्ति ने सांख्य-कारिका के आधार पर ही सायण के समय के पश्चात् सूत्ररूप में उक्तग्रन्थ को बना दिया है। इसके अतिरिक्त भगवत्पूज्यपाद शंकराचार्य, वाचस्पति मिश्र, सायणाचार्य आदि सम्मान्य दार्शनिक आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी सूत्रों का उद्धरण नहीं दिया, बल्कि कारिकाओं को ही उद्धृत किया है। तीसरी बात यह है कि सांख्य-प्रवचन सूत्रों में न्याय-वैशेषिक आदि का नाम तथा जैन और बौद्ध मतों एवं उनके पारिभाषिक शब्दों के उल्लेख और खण्डन पाये जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में आदि विद्वान् महामुनि कपिल की कृति इस ग्रन्थ को कैसे कहा जाय?

उपर्युक्त तीनों आधार विचार करने पर निराधार हो जाते हैं, और स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य प्रवचनसूत्रों का निर्माता कपिल के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। सांख्यप्रवचनसूत्रों के कपिलकृत होने में प्रथम तो भारतीयपरंपरा को ही प्रमाण मानना होगा, जिसकी पुष्टि रामायण, महाभारत, भागवत के प्रसंगों से हो रही है। उसीतरह जैन एवं बौद्ध विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में सूत्रों को कपिल की रचना ही माना है। सिद्धसेन दिवाकर[2] (ई० स० ४५०) अपने 'सन्मतितर्क' ग्रन्थ में लिखते हैं कि कपिल रचित दर्शन का विषय द्रव्यास्तिकनय कहना चाहिये। व्याख्याकार अभय देवसूरि ने 'जं काविलं दरिसणं' की व्याख्या 'यत् कापिलं दर्शनं सांख्यमतम्' की है। इससे स्पष्ट है कि सांख्य नाम से प्रसिद्ध दर्शन कपिल प्रणीत ही है, दूसरी बात यह है कि महावीर स्वामी को कुछ ग्रन्थों का विशेषज्ञ होना बताया गया है। ग्रन्थकार ने इस प्रसंग में एक वाक्य[3] 'सट्ठितन्तविसारए'—(षष्टितन्त्रविशारदः) विशेषण के रूप में लिखा है, उसकी व्याख्या यशोविजय ने की है 'षष्टितन्त्रं कापिल-शास्त्रम्, तत्र विशारदः पण्डितः'। इससे स्पष्ट है कि कपिलनिर्मित शास्त्र का नाम

---

१. माठरवृत्तिभूमिका—पृ० २

२. 'जं काविलं दरिसणं एमम् दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।'—[काण्ड ३, गाथा ४८]
   ('यत् कापिलं दर्शनमेतत् द्रव्यास्तिकनयस्य वक्तव्यम्।')

३. कल्पसूत्र, प्र० प्रकरण

षष्टितंत्र है, और महावीर स्वामी के समय उसका अध्ययनाध्यापन भी तीव्रगति से हो रहा था। उसी प्रकार अनुयोगद्वारसूत्र में ग्रंथों की सूची बताते समय 'काविलं सट्ठियन्तम्' का उल्लेख उपलब्ध होता है। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थों की सूची में षष्ठितंत्र ग्रन्थ का ही उल्लेख है जो कपिल के द्वारा रचा गया है। अप्पयदीक्षित ने 'शिवार्कमणि'[1] व्याख्या में कपिल सूत्रों के दो[2] सूत्रों को उद्धृत किया है। पांचरात्र संप्रदाय की 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' के बारहवें अध्याय में बताया है कि भगवान् विष्णु का संकल्प ही सांख्यरूप में परिणत हुआ, जिसे विष्णु के अवतार महर्षि कपिल ने सर्वप्रथम प्रकाशित किया। इस कापिल सांख्य में साठ पदार्थों का विवेचन होने से उसे षष्टितंत्र नाम से कहा जाने लगा। उसके—प्राकृतमण्डल और वैकृतमण्डल दो भाग किये गये हैं। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भास्कर[3] ने षष्ठितन्त्र को महर्षि कपिल की रचना बताया है। भगवत्पूज्यपाद आदि शंकराचार्य[4] और श्रीवाचस्पति मिश्र ने श्री कपिल को ही षष्टितंत्र का रचयिता बताया है। ईश्वरकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मेरी विरचित सांख्यकारिका (सांख्यसप्तति) षष्टितन्त्र के सिद्धान्त भाग का संक्षेप मात्र है। सांख्याचार्यों की परंपरा का उल्लेख कर यह बता दिया कि षष्टितंत्र उसके पास तक पहुँच चुका था। इससे सिद्ध होता है कि षष्टितंत्र कपिल की ही रचना है, पंचशिख या वार्षगण्य की नहीं। उस षष्टितन्त्र का स्वरूप बहत्तरवीं[5] कारिका से स्पष्ट हो जाता है। ईश्वरकृष्ण ने जिस ग्रंथ का संक्षेप किया वह वर्तमान सांख्यषडध्यायी ही है, उसीका प्राचीन नाम षष्टितंत्र है। षडध्यायी के प्रथम, द्वितीय सूत्र के अर्थ को ईश्वरकृष्ण ने प्रथम कारिका के द्वारा, तथा तृतीय से पांच तक के सूत्रार्थ को द्वितीय कारिका के द्वारा, इसी प्रकार सम्पूर्ण षडध्यायी के विषय को कारिकाओं में संगृहीत किया है।[6]।

सांख्यकारिका की अन्तिम कारिकाओं के संबंध में विद्वानों के कुछ विभिन्न मत हैं। श्री० वि० वि० सोवनी[7] का मत है कि "बहत्तरवीं कारिका के आधार पर जो

---

१. ब्रह्मसूत्र के श्रीकण्ठभाष्य की व्याख्या में २।२।८ सूत्र पर

२. कापि० सां० सू० १।१९, १।७

३. [ब्र० सू० २।१।१ पर भास्करभाष्य]—'यदि ब्रह्मैवोपादानकारणञ्च, ततः कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितंत्राख्यस्मृतेरनवकाशो निर्विषयत्वम् ।'

४. [ब्र० सू० २।१।१ शां० भा०]—'स्मृतिश्च तंत्राख्या परमर्षिप्रणीता' इसकी व्याख्या में वाचस्पतिमिश्र लिखते हैं—'तन्त्र्यते व्युत्पाद्यते मोक्षशास्त्रमनेन इति तन्त्रं तदेवाख्या यस्याः सा स्मृतिः तन्त्राख्या परमर्षिणा कपिलेनादिविदुषा प्रणीता ।'—[भामती]

५. 'सप्तत्यां किल येऽर्थाः······विवर्जिताश्चापि ॥'—[सां० का० ७२]

६. सविस्तर जानकारी प्राप्त करने की इच्छा हो तो सां० द० इ० द्रष्टव्य है।

७. 'A Critical Study of the Sāmkhya System'—V. V. Sovani. M. A.

यह बताया जा रहा है कि सप्तति के प्रतिपाद्यविषय का आधार षष्ठितन्त्र है और उसके आख्यायिका तथा परवादों को छोड़ दिया है किन्तु बहुत संभव है कि यह कारिका बाद में प्रक्षिप्त कर दी गई हो, क्योंकि 'सप्तति' उनहत्तरवीं कारिका तक समाप्त हो जाती है जहाँ कि गौड़पादभाष्य समाप्त होता है।" सर्वप्रथम मि० विल्सन[1] ने यह कहा था कि "गौडपादभाष्य में अन्तिम तीन कारिकाएँ लुप्त हैं। सांख्यकारिका में केवल उनहत्तर आर्याएँ हैं और एक आर्या लुप्त हो चुकी है। लोकमान्य तिलक ने इकसठवीं कारिका के गौडपादभाष्य से लुप्त आर्या को ढूंढ निकाला। किन्तु श्री सोवनी का कहना है कि सांख्यकारिकाओं की सप्तति संख्या लोकमान्य की निर्दिष्ट कारिका से भी पूर्ण नहीं हो सकेगी क्योंकि सांख्यकारिका का प्रतिपाद्य विषय ६८ वीं कारिका में ही समाप्त हो जाता है। अतः उनहत्तर और सत्तरवीं कारिका को भी ग्रंथ की प्रामाणिकता का निर्देश करने के कारण तदंग मान लिया जाय जिससे ग्रंथ की सप्तति संख्यापूर्ण होने में कोई बाधा न होगी। और बहत्तरवीं कारिका तो प्रक्षिप्त ही है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'सप्तति में वर्णित सांख्य सिद्धान्त षष्टितंत्र से लिये गये हैं' यह ज्ञान तो इसी बहत्तरवीं कारिका से ही हो पाता है, जिसे ये प्रक्षिप्त कह रहे हैं। अतः उसे प्रक्षिप्त कैसे कहा जाय? गौड़पादभाष्य के आधार पर लोकमान्य तिलक ने ६१ वीं कारिका[2] जो खोज निकाली, वह इस प्रकार है :—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परं स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥ ६१ ॥

लोकमान्य का कथन है कि उक्त कारिका में ईश्वरवाद के खण्डन को देखकर किसी ईश्वरवादी ने उक्त कारिका को निकाल दिया। लोकमान्य कारिकाग्रंथ की समाप्ति उनहत्तर कलीकाओं में और शेष तीन कारिकाओं को ग्रन्थ के उपसंहार रूप में मानते[2] हैं। किन्तु वस्तुतः स्थिति ऐसी नहीं है। ग्रन्थ का विषय अड़सठ आर्याओं में ही समाप्त हो जाता है और शेष चार उपसंहारात्मक हैं। यद्यपि उनहत्तरवीं कारिका में साख्यसिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया है तथापि उस कारिका के द्वारा ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इसलिये उसे ग्रन्थ का अंगभूत ही समझना चाहिए। सत्तरवीं कारिका के द्वारा सांख्य के प्राचीन आचार्यों की परम्परा प्रदर्शित की जा रही है। इकहत्तरवीं कारिका के द्वारा शिष्यपरंपरा का निर्देष करते हुए ईश्वरकृष्ण तक सांख्यशास्त्र की प्राप्ति अर्थात् ईश्वरकृष्ण का सांख्यज्ञान सम्प्रदायशुद्ध है, इस बात को बताया गया है। बहत्तरवीं कारिका यह बता रही है कि ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिकाग्रंथ कपोलकल्पित न होकर महर्षि

---

१. गीतारहस्य, प्रथम हिन्दी संस्करण, सन् १९१६, पृ० १९२
२. गीतारहस्य—पृ० १९२, १९३ की टिप्पणी।

कपिल विरचित षष्टितन्त्र (षडध्यायी) ग्रन्थ के आधार पर है अतः उसे प्रामाणिक समझना चाहिये। अतः चारों कारिकाएँ सांख्यसप्तति (सांख्यकारिका) ग्रंथ की अंगभूत हैं, उनमें से किसी एक को भी ग्रन्थ से अलग कर दिया जाय तो ग्रन्थ की स्वारसिकता ही नष्ट हो जायगी, इसलिए उनहत्तर से बहत्तर तक किसी भी कारिका को प्रक्षिप्त बताना साहसमात्र है। श्री अय्यास्वामी का कहना है कि 'सांख्यसप्तति' में तिरसठवीं और बहत्तरवीं कारिका को स्वीकार न किया जाय तो ठीक सत्तर ही रह जाती हैं, जो 'सप्तति' नाम की पोषक सिद्ध हो पाती हैं। इनके अनुसार तिरसठवीं कारिका के न रहने पर शेष सड़सठ ही रह जाती हैं, जिनमें सांख्यसिद्धान्त बताये गये हैं और उनहत्तर से इकहत्तर तक उपसंहार की कारिकाओं को जोड़ देने पर सत्तर कारिकाएँ पूर्ण होती हैं। 'सप्तति' शब्द से उपर्युक्त कितने ही विद्वानों को व्यामोह हो गया है, अतः अय्यास्वामी, तुनसुखरामजी, लोकमान्य तिलक, श्रीसोवनी, डॉ० विल्सन आदि विद्वानों ने अपने-अपने विभिन्न तर्क उपस्थित किये। किन्तु वास्तविकता यह है कि यहाँ पर 'सप्तति' पद का प्रयोग प्रायः सत्तर संख्या को लेकर ही किया गया है। अतएव जयमंगलाकार एवं युक्तिदीपिकाकार आदि व्याख्याकारों ने सप्तति नाम सम्पूर्ण ग्रन्थ का ही समझा है। संस्कृत साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जहाँ पर प्रायः संख्या के आधार पर ही ऐसे प्रयोग किये गये हैं। अभिनवगुप्ताचार्य के 'परमार्थसार' में १०५ आर्या हैं किन्तु ग्रन्थकार ने स्वयं अन्तिम 'आर्या में आर्याशतकम्' कहकर उसका उल्लेख किया है।

क्षेमेन्द्र के 'पुरुषार्थशतक' में १०५ श्लोक हैं, लेकिन ग्रंथ का नाम 'शतक' ही है। गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' के कुल श्लोक ७५६ हैं, किन्तु ग्रन्थ का नाम आर्यासप्तशती ही है। हाल (श्री सातवाहन) की 'गाथासप्तशती' के कुल श्लोक ७०३ हैं, फिर भी ग्रन्थ का नाम सप्तशती ही है। साम्बकवि की 'साम्बपञ्चाशिका' काव्य के ५३ श्लोक हैं, किन्तु संपूर्ण काव्य का नाम 'पंचाशिका' ही है। राजा रघुराज सिंह कृत 'जगदीशशतक' काव्य में ११० पद्य हैं, लेकिन काव्य का नाम शतक ही है। नीलकण्ठ दीक्षित के 'समारञ्जनशतक' में १०५ श्लोक हैं, किन्तु पूरे काव्य का नाम 'शतक' ही है। उत्प्रेक्षा वल्लभ कवि के 'सुन्दरीशतक' में १११ श्लोक हैं किन्तु पूरे काव्य का नाम शतक ही है। धनदकवि ने (१५ श०) तीन शतक लिखे हैं, उनमें से श्रृंगार शतक में १०३ श्लोक हैं, नीतिशतक में १०३ श्लोक हैं और वैराग्यशतक में १०८ श्लोक हैं, फिर भी प्रत्येक काव्य 'शतक' के नाम से ही कहा जाता है। भर्तृहरि के वैराग्य शतक में १०८ श्लोक हैं, श्रृंगार शतक में १०२ श्लोक हैं और नीतिशतक में १०९ श्लोक हैं लेकिन प्रत्येक काव्य को 'शतक' ही कहा जाता है। उसी तरह प्रस्तुत सांख्यकारिका ग्रन्थ को 'सप्तति' जो कहा गया है, उसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं है।

प्रस्तुत 'सांख्यसप्तति' पर अनेक विद्वानों ने व्याख्याएं लिखी हैं। माठराचार्य ने 'माठर' वृत्ति, गौडपादाचार्य ने 'गौडपादभाष्य', जयमंगलाकार ने 'जयमंगला', श्रीवाचस्पतिमिश्र ने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी', नारायणतीर्थ ने 'चन्द्रिका', मुडुम्बनरसिंह स्वामी ने सांख्यतरुवसन्त', हरिहरानन्द आरण्यक ने 'सरलसांख्ययोग।' ये व्याख्याएं अभी तक उपलब्ध हुई हैं इनके अतिरिक्त अन्य व्याख्याएँ भी होंगी, जो प्रकाशित न होने से उपलब्ध नहीं हैं।

श्री वाचस्पति मिश्र

प्रस्तुत 'तत्त्वकौमुदी' नामक व्याख्या के रचयिता सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्री वाचस्पति मिश्र हैं। उन्होंने अपने व्याख्याग्रन्थ में उपसंहार करते समय व्याख्या तथा अपने नाम का निर्देश कर दिया है।[1] श्री वाचस्पतिमिश्र का समय तो निश्चित ही है। उन्होंने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका की समाप्ति पर गौतम के मूल न्यायसूत्रों का संपादन किया है उनका 'न्यायसूचीनिबन्ध' के नाम से उल्लेख किया है। वहीं उपसंहार में ग्रन्थसमाप्ति के संवत्सर का निर्देश[2] किया है। अर्थात् विक्रमसंवत् ८९८ में मिश्रजी ने इस ग्रंथ को समाप्त किया। सांख्यतत्त्वकौमुदी के कतिपय उल्लेखों से ज्ञात होता है कि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका की रचना, तत्त्वकौमुदी की रचना से पूर्व हो चुकी थी। अतः आदरणीय विद्वान् श्री उदयवीर शास्त्री जी का कहना है कि तात्पर्यटीका तथा न्यायसूचिनिबन्ध की समाप्ति के संवत्सर में दो वर्ष और जोड़कर सांख्यतत्त्वकौमुदी की रचना का संवत्सर ९०० विक्रमी मान लिया है, जो ख्रीस्टं ८४३ में आता है।

श्री वाचस्पति मिश्र के द्वारा निर्दिष्ट संवत्सर को विक्रम-सवत्सर माना जाय अथवा शकसंवत्सर कहा जाय, इसमें विद्वानों का एक मत नहीं है।

महामहोपाध्याय डॉ. गंगानाथ झा ने स्वसम्पादित तत्त्वकौमुदी की भूमिका में वाचस्पति का समय ८९८ विक्रमी संवत् ही स्वीकार किया है। श्री झा महोदय ने यह भी लिखा हैं कि मिथिला प्रदेश में स्थित सिमरौनगढ़ी के शिलालेख[3] से यह प्रतीत होता है कि शकसंवत् १०१९ अर्थात् ११५४ विक्रमी संवत् और १०९७ ईसवी सन् में 'नान्यदेव' नाम के राजा ने इस वास्तु का निर्माण कराया। ईसा की ग्यारहवीं सदी के अन्तिम भाग में नान्यदेव राजा हुआ। श्री झा महोदय के अभि-

---

१. 'मनांसि कुमुदानीव बोधयन्ती सतां मुदा। श्रीवाचस्पतिमिश्राणां कृतिस्तात् तत्त्वकौमुदी॥'
२. 'न्यायसूची निबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे। श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सर॥'
३. 'नन्देन्दुबिन्दुविधुसम्मितशाकवर्षे, तच्छ्रावणे सितदले मुनिसिद्धतिथ्याम्।
स्वातीशनैश्चरदिने करिवैरिलग्ने, श्रीनान्यदेवनृपतिर्विदधीतवास्तुम्॥'
[सिरमौनगढ़ी का शिलालेख

प्रायानुसार इससे कुछ सदी पूर्व मिथिला प्रदेश पर नैपाल के राजाओं का आधिपत्य था। नैपाल पर्वतीय प्रदेश होने के कारण वहाँ के राजा शिविकाओं में,—जिसे आज की भाषा में 'डांडी' कहते हैं—पुरुषों के कन्धे पर ही चलते थे, इसलिये उनको नरवाहन कहा जाता था। ऐसे ही श्री वाचस्पति की भामती व्याख्या के उपसंहार-गत[1] श्लोकों से भी ज्ञात होता है कि उस समय मिथिला पर किसी अद्भुत प्रतापशाली नैपाल के किरात राजाओं का आधिपत्य था। किन्तु श्रद्धेय विद्वान् पं० प्रवर उदयवीर शास्त्री का कहना है कि इतिहास तथा ताम्रपत्रों के उल्लेख से स्पष्ट है कि ईस्वी नवमशतक के प्रारम्भ से ही मिथिला पर नैपाल नरेशों का आधिपत्य नहीं था। प्रत्युत मिथिला पर पालवंश के राजाओं का आधिपत्य था। ई० सन् ८१० से ८४९ तक पालवंश के पराक्रमी राजा देवपाल[2] का प्रभुत्व मिथिला पर रहा होगा। उसी का उल्लेख श्री वाचस्पति नें भामती में किया है। वाचस्पति के पद्य में 'नृग' शब्द नरवाहनता का सूचक न होकर इतिहास प्रसिद्ध 'नृग' नाम के राजा की समानता का द्योतक है। इस विचार का समर्थन भामती की व्याख्या कल्पतरु[3] से भी होता है। ताम्रपत्रों में अन्यत्र भी 'नृग' नाम का उल्लेख[4] उपलब्ध होता है। पूर्ववर्ती प्रथितकीर्ति राजाओं से वर्तमान राजाओं की तुलना प्रदर्शित करने की प्रथा उस समय थी। वाचस्पति के द्वारा प्रयुक्त 'वत्सर' पद से विक्रम-संवत् मानने पर ही ८४१ ई० के समीप उसका समय आता है जो मिथिला पर राजा देवपाल के आधिपत्य का समय है।

'वत्सर' पद से विक्रम-संवत् न मानकर शक-संवत् मानने का आग्रह रखने वाले श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री, श्री विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी आदि हैं। भट्टाचार्य जी का कहना है कि भामती में श्री शंकराचार्य के प्रतिद्वन्द्वी भास्कर का खण्डन वाचस्पति ने किया है। श्री शंकराचार्य का समय प्रायः ८०० ई० माना जाता है अतः वाचस्पति का समय एक हजार ई० सन् माना जा सकता है। उसी प्रकार तात्पर्यटीका में अपोह का अर्थ निरूपण करते

१. 'नृपान्तराणां मनसाप्यगम्यां भ्रूक्षेपमात्रेण चकार कीर्तिम्।
कार्तस्वरासारसुपूरितार्थसार्थः स्वयं शास्त्रविचक्षणश्च ॥'
'नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तुं न च पारयन्ति।
तस्मिन् महीपे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मया निबन्धः ॥'

२. हिस्ट्री ऑफ बंगाल, वाल्यूम १,—[श्री० मजूमदार]

३. 'ययातिवः सार्वो यस्य प्रकृतत्वेन वर्तते स नृगस्तथेत्यपरः। नृग इति राज आख्या।'
[निर्ण० सा० मुं० सं०, पृ० १०२१]

४. 'भूमिप्रदानान्न परं प्रदानं दानाद् विशिष्टं परिपालनं च।
सर्वेऽतिसृष्टां परिपाल्य भूमिं नृपा नृगाद्यास्त्रिदिवं प्रपन्नाः ॥'—[Khoh (खोह) कॉपरप्लेट, महाराज संक्षोभ, (२०९ गुप्त संवत्, ५२८ ई० स०) फ्लीट गुप्त इन्स्क्रिप्शन्ज्, पृ० ५१५]

हुए वाचस्पति ने लिखा है—'यथाह—भदन्त धर्मोत्तरः' इस प्रकार सम्मानसूचक 'भदन्त' शब्द का प्रयोग करने से ज्ञात होता है कि धर्मोत्तर, श्री वाचस्पति से लगभग एक शतक तो प्राचीन होंगे। धर्मोत्तर, राजा वनपाल (ई० नवमशतक का मध्य) का समकालिक था। राजतरंगिणी[1] में धर्मोत्तर को जयापीड (८०० ई० सन्) का समकालिक बताया है। तात्पर्य यह है कि धर्मोत्तर को नवम शताब्दी के पूर्वार्ध में रखा जा सकता है। अतः वाचस्पति को दशम शताब्दी से पूर्व नहीं रखा जा सकता। किन्तु सांख्यदर्शन के प्रामाणिक विद्वान् इतिहासकार का कहना है कि श्री भट्टाचार्य के लेख से ही स्पष्ट है कि श्री शंकराचार्य का समय अभी तक ठीक निश्चित नहीं है जिसके आधार पर अन्य आचार्यों का समय निश्चित किया जा सके। भामती में भास्कर का खण्डन करने से उनके समय पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भास्कर का समय भी निश्चित नहीं है। अतः अनिश्चित मूलाधार के बल पर श्री वाचस्पति का काल निर्णय कैसे किया जा सकता है। वाचस्पति के द्वारा किया हुआ 'भदन्त' शब्द का प्रयोग दोनों में एक शताब्दी का पौर्वापर्य सिद्ध नहीं कर सकता। श्री वाचस्पति कोई धर्मोत्तर के अनुयायी नहीं है, प्रत्युत प्रतिद्वन्द्वी हैं। अतः 'भदन्त' शब्द का प्रयोग सम्मान सूचक न होकर चिढ़ाने के लिये होना ही युक्तियुक्त प्रतीत हो रहा है। विरोधी के लिए इस प्रकार के प्रयोग समकाल में ही अधिक संभव हो सकते हैं। एवं च 'भदन्त' शब्द का प्रयोग उसकी प्राचीनता को नहीं प्रत्युत समकालिकता को ही प्रकट करता है। यदि धर्मोत्तर का समय श्री भट्टाचार्यजी ई० आठ सौ मानते हैं तो वाचस्पति के ८४१ ई० (वि० सं० ८९८) होने में कोई अनौचित्य नहीं है। 'वत्सर' पद के विक्रमाब्द अर्थ का समर्थन अनेक विद्वानों ने किया है, जिनमें डॉ० कीथ,[2] अध्यापक जे० एच० वुड्स,[3] डॉ० गंगानाथ झा[4] आदि विद्वान् उल्लेखनीय हैं। अतः श्री वाचस्पति मिश्र के द्वारा प्रयुक्त 'वत्सर' पद से विक्रम वत्सर ही समझना उचित है, शक वत्सर नहीं।

'सांख्य' शब्द की निष्पत्ति

'सांख्य' शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक 'चक्षिङ् ख्याञ्' (ख्याञ्) धातु से 'अण्' प्रत्यय लगाकर बना है। 'सांख्य' का अर्थ होगा 'सम्यक् ख्यानम्' अर्थात् सम्यक् विचार। इसी को प्रकृति-पुरुष विवेक, विवेक ख्याति, विवेक बुद्धि, सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति' भी कहते हैं। इसलिये कोषकारों ने 'पण्डित' शब्द का पर्याय 'संख्यावान्'

---

१. ४।४९८
२. Indian Logic and Atomism, [P. 29–30 तथा हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४७४, ४७७, ४८३, ४९०]
३. योगदर्शनव्यासभाष्य के [अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका, पृ० २१–२३]
४. गौतमन्यायसूत्र, [ओरियण्टल सीरीज पूना, नं० ५९]

दिया है[1]। इस प्रकार की विवेक बुद्धि सांख्यशास्त्र प्रतिपादित तत्त्वों के ज्ञान से होती है। कुछ विद्वानों का कथन है कि 'सांख्य' का सम्बन्ध 'संख्या' से है और इस दर्शन का नाम सांख्य इसलिये पड़ा कि इसमें तत्त्वों की संख्या[2] निश्चित की गई है। श्रीमद्भागवत[3] में इसी को 'तत्त्वसंख्यान' (तत्त्वगणन) कहा गया है। व्याख्याकार श्रीधरस्वामी सांख्य को 'तत्त्वगणक' कहते है। उपर्युक्त सम्यक् ज्ञान अर्थ में सांख्य शब्द का प्रयोग श्रीमद्भगवद्गीता[4] में हुआ है। यह 'सांख्य' शब्द योगरूढ़ है, इसका प्रवृत्तिनिमित्त सांख्यशास्त्र ही है।

सांख्यदर्शन की विशेषता

अन्यान्य दर्शनों की अपेक्षा सांख्यदर्शन की विशेषता यही है कि अन्यान्य दर्शनों में से किसी ने मुक्ति के प्रति ब्रह्मज्ञान को, तो किसी ने भक्ति को, तो किसी ने योग आदि भिन्न-भिन्न साधनों को बताया है, किन्तु सांख्य ने एकमात्र तत्त्वज्ञान को ही मोक्ष का प्रयोजक (कारण) बताया है। वह मोक्ष अर्थात् निःश्रेयस, दुःखत्रयात्यन्ताभावस्वरूप है और वह दुःखत्रयात्यन्ताभाव, दुःखत्रयनिवृत्तिस्वरूप है। उस दुःखत्रयनिवृति को ही परम पुरुषार्थ कहते हैं। उस परम पुरुषार्थ के प्रति उक्त तत्त्वज्ञान, सत्त्वपुरुषान्यता का ज्ञान कराते हुए प्रयोजक (कारण) होता हैं। अर्थात् तत्त्वज्ञान और मुक्ति के मध्य में सत्त्व-पुरुषाऽन्यताज्ञान व्यापार[5] स्वरूप है। एवं च सांख्यशास्त्र पंचविंशति (२५) पदार्थों के यथार्थ स्वरूप (तत्त्व) का प्रतिपादक (निरूपक) है।

सांख्य-योगदर्शनों की परस्पर एकता तथा भिन्नता

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब योगशास्त्र षड्विंशति[6] (२६) पदार्थ तत्त्व का निरूपण कर ही रहा है, तब यह सांख्यशास्त्र भी उसी के अन्तर्गत आ जायगा। अतः पृथक् से पुनः सांख्यशास्त्र की इस विवेचना को व्यर्थ क्यों न कहा जाय?

---

१. 'संख्यावान् पण्डितः कविः'—[अमरकोष]

२. 'संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते। तत्त्वानि च चतुर्विंशति तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः॥'
[महाभा० शां० प० २९४।४१।४२।५६]

३. 'कपिलस्तत्त्वसंख्याता भगवानात्ममायया।'—[श्रीमद्भाग० ३।२५।१]

४. 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु'।

५. 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः'—यह व्यापार का लक्षण है, तदनुसार प्रकृत में तत्त्वज्ञानजन्यत्वे सति तत्त्वज्ञानजन्य परमपुरुषार्थरूपमुक्तिकाजनक होने से सत्त्व-पुरुषाऽन्यताज्ञान को व्यापार बताया गया है।

६. वस्तुतः पुरुषविशेष पुरुषतत्त्व का ही एक भेद है जिसे योगशास्त्र में ईश्वर कहते हैं। अतः उसे पृथक् तत्त्व मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रश्न का समाधान यह होगा—दोनों शास्त्रों का विषय समान रहने पर भी शास्त्रों ने उसके साधन भिन्न-भिन्न बताये हैं। विषय की तरह उसका साधन भी एक नहीं बताया है। योगशास्त्र ने योगजधर्म को मुक्ति का प्रयोजक माना है। किन्तु सांख्यशास्त्र ने तत्त्वज्ञान को ही मुक्ति का प्रयोजक कहा है। यौगिक उपायों की तरह सांख्यीय तत्त्वज्ञान उतना गूढ़ न होने से मुमुक्षुओं के लिये वह अत्यन्त उपकारक है, अतः उसकी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है, इसलिये उसे व्यर्थ कैसे कहा जा सकता है। तथा अन्य किसी दर्शन में इस सांख्यदर्शन का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि अन्यान्य दर्शनों की तरह सांख्य-योग का भी अपना सत्कार्यवाद का एक स्वतन्त्र सिद्धान्त है। सांख्यदर्शन सैद्धान्तिक शास्त्र है तो योगदर्शन प्रायोगिक शास्त्र है। साधनों की भिन्नता की दृष्टि से दोनों को भिन्न-भिन्न दर्शन कहा जाता है और विषय की एकता की दृष्टि से दोनों को एक ही समझा जाता है। इसी अभिप्राय से श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—'सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'

न्यायवैशेषिक दर्शनों से सांख्यदर्शन की गतार्थता की शंका

पुनः एक जिज्ञासा होती है—न्याय-वैशिषिक ये दोनों दर्शन पदार्थविज्ञानशास्त्र कहलाते हैं। दोनों दर्शन समस्त-पदार्थों का अच्छी तरह से तत्त्व विवेचन करते हैं, और ईश्वर को मानने वाले ऋषियों के द्वारा उन दोनों दर्शनों का निर्माण किया गया है, अतः मुमुक्षु लोग उन्हीं दो दर्शनों की जिज्ञासा क्यों न करें, सांख्यदर्शन की जिज्ञासा क्यों की जाय? उक्त दो दर्शनों से ही प्रकृत सांख्यदर्शन की गतार्थता हो सकती है।

उपस्थित शंका का समाधान

उपर्युक्त जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार किया जाता है। न्याय-वैशेषिकों ने आत्मा को विभु और अनन्त अर्थात् आत्मा इतने ही हैं इस प्रकार उनकी गणना नहीं की जा सकती कहा है। उसी प्रकार आत्मा को नित्य अर्थात् किसी भी काल में उसका बाध नहीं होता। तथा प्रत्येक शरीर में वह पृथक् पृथक् माना है। इतना तो सांख्यदर्शनकार भी स्वीकार करते हैं। इसके आगे न्याय—वैशिषिकों ने आत्मा में संख्या, परममहत्त्वपरिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म, भावनाख्यसंस्कार—जिससे अनुभव की हुई वस्तु का कालान्तर में स्मरण हो पाता है—इन चौदह गुणों की स्थिति भी आत्मा में मानी है और उसे जड़ कहा है। किन्तु सांख्यदर्शनकार आत्मा को निर्गुण और चेतन मानते हैं। तात्पर्य यह है कि न्याय-वैशेषिकों ने आत्मा को सगुण, तथा जड़ बताया है। अतः न्याय-वैशेषिकों का परमात्मतत्त्व में शीघ्र प्रवेश नहीं हो पाता। शरीर-इन्द्रिय आदि से उसको अतिरिक्त तथा सगुण सिद्ध करना तो व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं।

क्योंकि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता[1] तो कर्तृत्वावच्छिन्नात्मवादी जैसे नैयायिक को 'अकृत्स्न-वित्' कहती है। अतः नैयायिकोक्त सिद्धान्तों को लौकिक कहा जाता है। किन्तु सांख्य दर्शन ऐसी बातें नहीं करता, वह तो आत्मा को अकर्ता कहता है। सांख्य को भगवती श्रुति के द्वारा कृत्स्नवित् कहा जाता[2] है। केवल श्रुति ने ही नहीं, स्मृति[3] ने भी सांख्य के सिद्धान्तों को पारमार्थिक कहा है।

नैयायिक-वैशेषिकों ने लिंगशरीर को नहीं माना है। उनका कहना है कि लिंगशरीर का काम 'मन' से ही सम्पन्न हो जाता है। उनके मत से जीवित अवस्था में लिंगशरीर की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। शारीरिक समस्त कार्य, स्थूल शरीर से ही सम्पन्न हो जाते हैं। किन्तु मृत्यु होने के पश्चात् जब एक शरीर का त्याग कर स्वर्गीय, नारकीय या किसी विप्रकृष्ट देशीय शरीर में 'मन' को जाना पड़ता है तब एक सूक्ष्म शरीर की कल्पना वे कर लेते हैं। शरीर में प्रविष्ट हुआ मन सृष्टि के आरंभ से लेकर महाप्रलय तक कार्य करता रहता है, शरीर में प्रविष्ट हुए बिना वह कोई कार्य नहीं कर सकता। अतः मृत्यु के पश्चात् मन के गमनागमन के लिये सूक्ष्म शरीर की कल्पना करना उन्हें आवश्यक हो जाता हैं, किन्तु यह कल्पना प्रशस्तपाद ने ही की है। सूत्रकार ने तो केवल मंन की गति ही बताई है। इस सूक्ष्म शरीर को ही प्रशस्तपाद ने 'अतिवाहित' नाम दिया है। नैयायिकों का कहना है कि मृत्यु के पश्चात् अदृष्ट के बल से मन में क्रिया और अतिवाहित शरीर की उत्पत्ति हुआ करती है। जीवित अवस्था की आत्मा में किसी प्रकार की इच्छा, राग-द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं, उनसे प्रयत्न होता है, उसके पश्चात् आत्मा और मन का संयोग, उसके अनन्तर मन का इन्द्रियों के साथ संबन्ध, उसके पश्चात् इन्द्रियों का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर उस अर्थ (वस्तु) का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष की इस क्रमिक प्रक्रिया में मन का सम्बन्ध यदि स्वीकार न किया जाय तो आत्मा के विभु (व्यापक) होने से सदैव समस्त इन्द्रियों से सम्बन्ध रहने के कारण सभी इन्द्रियों के द्वारा एक साथ (युगपत्) ही दर्शन स्पर्शनास्वादनादि कार्य होने लगेंगे, जो अनुभव के विरुद्ध हैं, इसलिये नैयायिकों को मनः सम्बन्ध की कल्पना करनी आवश्यक हुई[4]। महाप्रलयपर्यन्त आत्मसहचारी केवल 'मन' ही रहता है। मन के अतिरिक्त अन्य सभी इन्द्रियों का शरीर के साथ नाश हो जाता है। अन्य

---

१. 'प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु। तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥'

२. 'तीर्णो हि तदा भवति हृदयस्य शोकान् कामादिकं मन एव मन्यमानः लोकावनुचरति, ध्यायतीव लेलायतीव स यदत्र किञ्चित्पश्यत्यन्वागतस्तेन भवति।' इति श्रुतिः।

३. 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।' निर्गुणमय एवाऽयमात्मा ज्ञानमयोऽमलः। दुःखाऽज्ञानमया धर्माः प्रकृतेस्ते तु नात्मनः ॥'

[स्मृति०]

४. 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'—[गौ० सू०]

इन्द्रियाँ शरीर के साथ ही उत्पन्न होती हैं और शरीर के नाश होने से नष्ट हो जाती हैं, लेकिन मन की स्थिति शरीर के नाश होने पर भी रहती है। महाप्रलय के अनन्तर और पुनः सृष्टि के आरम्भ होने से पूर्व तक वह मन निस्तब्ध सा रहता है। जब सृष्टि के आरम्भ होने का समय होता है तब धर्माधर्मादि अदृष्ट के अनुसार उसमें क्रिया पैदा होती है, और अदृष्ट (धर्माधर्मादि) के बल पर उत्पन्न होनेवाले नवीन शरीर में वह (मन) प्रविष्ट हो जाता है। सृष्टि के आरंभ में भिन्न-भिन्न आत्माओं के अपने-अपने अदृष्टों के अनुसार पृथक्-पृथक् शरीर पैदा होते हैं, और उनके अपने-अपने पृथक्-पृथक् मन भी तत्तत् आत्माओं के शरीरों में प्रविष्ट हो जाते हैं। उसके पश्चात् यथासमय सभी जीवात्माएँ अपने-अपने धर्माधर्म के अनुसार सुख-दुःखों का अनुभव करती रहती हैं।

सांख्यदर्शनकार की प्रत्यक्ष प्रक्रिया, न्याय-वैशेषिकों की प्रक्रिया से नितान्त भिन्न है। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उत्पद्यमान ज्ञान की प्रक्रिया सांख्य दर्शन में इस प्रकार[1] है—सांख्यदर्शनकार ने दो प्रकार के करणों को बताया है। उनमें बुद्धि, अहंकार और मन ये तीन अन्तःकरण हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में ये द्वारि (प्रधान) हैं और पंचज्ञानेन्द्रियाँ द्वार हैं। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणों की सहायता से बुद्धि ही प्रत्यक्ष योग्य सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त करती है। बुद्धि परिणामिनी है। उस बुद्धि के व्यापार को वृत्ति कहते हैं। जड़ बुद्धि में चेतन (पुरुष) का जब प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब बुद्धि जड़ होती हुई भी चेतन सी प्रतीत होने लगती है। वह प्रत्यक्ष योग्य पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिये अहंकार एवं मन को वृत्ति के रूप में अपने साथ लेकर ज्ञान के विषय की ओर प्रस्थान करती है। ज्ञानेन्द्रियाँ इस वृत्ति के द्वार हैं, उनसे होकर इस बुद्धि या बुद्धिवृत्ति का बाहर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धादितन्मात्राओं के साथ अथवा आकाशादि पंचभूतों के साथ सम्बन्ध होता है तब वह बुद्धि या बुद्धिवृत्ति जिस विषय के साथ संबन्ध करती है, उसी के आकार की हो जाती है, और वह आकार पुरुष (चेतन) में आरोपित होता है। उस समय उस विषय का अध्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान आरोपयुक्त पुरुष में प्रकट हो जाता है, यही प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है और इसकी प्रक्रिया को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार सृष्टि के आरंभ में यह प्रकृति प्रत्येक आत्मा के लिये एक-एक लिङ्ग शरीर पैदा करती है और उस लिङ्ग शरीर की गति कहीं भी अवरुद्ध नहीं हो पाती, यहाँ तक की वह पाषाण में भी प्रविष्ट हो सकता है। संसार की कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसमें वह प्रवेश न कर सके। सृष्टि के आरंभ से लेकर महाप्रलय तक वह रहता है। महाप्रलय के पूर्व

---

१. सांख्यकारिका—३५।

उसका नाश नहीं हो पाता। यह लिङ्गशरीर अष्टादश तत्त्वों का समुदाय ही है। जो अष्टादश तत्त्व—महातत्त्व,[१] अहङ्कार,[२] मन,[३] चक्षु,[४] श्रोत्र,[५] घ्राण,[६] रसना,[७] त्वक्,[८] वाक्,[९] हस्त,[१०] पाद,[११] पायु,[१२] उपस्थ,[१३] रूप,[१४] रस,[१५] गन्ध,[१६] स्पर्श,[१७] शब्द,[१८] इन नामों से प्रसिद्ध हैं। अर्थात् तीन अन्तःकरण, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा इन अष्टादश तत्त्वों से लिङ्ग शरीर का निर्माण होना सांख्यदर्शन में बताया गया है। किन्तु वेदान्तियों ने पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चप्राण, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सप्तदश तत्त्वों से ही लिङ्गशरीर की निर्मिति होना स्वीकार[१] किया है।

लिङ्गशरीर पूर्वं पूर्वं स्थूल शरीर का त्याग कर नवीन नवीन शरीर का स्वीकार करता है, क्योंकि लिङ्गशरीर के बिना यह स्थूलशरीर आत्मा का भोगसाधन नहीं हो पाता। अतः अगतिकगति होकर लिंगशरीर की कल्पना तो करनी ही पड़ती है। इसी लिंगशरीर में धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य आदि आठ भावों की स्थिति मानी जाती है, अतः जन्म-मरणरूप संसार को यह लिंगशरीर ही प्राप्त करता रहता है। लिंगशरीर के साथ संबन्ध सुरक्षित रखने वाले आत्मा को इस लिंगशरीर के कारण ही संसार हुआ करता है। वस्तुतः देखा जाय तो धर्माधर्मादि आठों भाव बुद्धि के ही हैं, लिंगशरीर के नहीं, तथापि लिंगशरीर के वे औपचारिक रीति से माने जाते हैं।

महाप्रलय होने पर लिंगशरीर नहीं रहता, किन्तु सृष्टि के आरंभ में जिससे वह उत्पन्न हुआ है, उसी प्रधान (प्रकृति) में लीन हो जाता है। महाप्रलय होने पर भी प्रधान की स्थिति बनी रहती है। प्रधान में लय होने से ही उस शरीर का नाम लिङ्गशरीर[२] पड़ा है, अथवा 'लीनमर्थं मोक्षं गमयति' इस व्युत्पत्ति से भी इसे लिंग यह नाम प्राप्त हुआ हो यह कल्पना भी की जा सकती है। लिंगशरीर के परिमाण का विचार करने पर यह समझ में आता है कि मध्यम अथवा अणु परिमाण ही उसका होना चाहिये, अन्यथा विभुपरिमाण मानने पर उसका (लिंग शरीर का) संसरण[३] अर्थात् स्थूलदेह के साथ योग-वियोग उत्पन्न नहीं हो सकेगा। उसी प्रकार अत्यन्त अणुपरिमाण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि सांख्यदर्शन की दृष्टि में वह (लिंगशरीर) सावयव है। उसकी यह सावयवता सांसिद्धिक है और सावयव होने से वह लयशील है, इस कारण भी उसे 'लिंग' नाम प्राप्त हो सकता है।

सांख्यदर्शन में बताये गये सभी तत्त्व सूक्ष्म हैं, उसके स्थूल तत्त्वों को भी हमारी स्थूल दृष्टि नहीं देख पाती। न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन ने जिन तत्त्वों को

---

१. 'बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया। शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ॥'

२. लियं = लयं गच्छति प्रधाने इति लिङ्गम्। लिङ्गशब्दः पृषोदरादित्वात्साधुः।

३. 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सविज्ञानमनूत्क्रामतीति।' इति श्रुतिः।

नित्य बताया है और जिन्हें उनकी दृष्टि नहीं देख पाई, वे तत्त्व इस सांख्य दर्शन में स्थूल कहे जाते हैं। जैसे—पार्थिव-परमाणु, जलीय परमाणु, तैजस परमाणु, वायवीय परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये नौ नित्य द्रव्य न्याय-वैशेषिक दर्शन में सूक्ष्म, अतीन्द्रिय बताये गये हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शनों का जगत् स्थूल है, व्यावहारिक है किन्तु सांख्यदर्शन का जगत् सूक्ष्म है, बुद्धिगम्य है। समानता दोनों में इतनी ही कह सकते हैं कि जैसे न्यायवैशेशिक का क्षेत्र सत् है वैसे ही सांख्य दर्शन का भी क्षेत्र सत् है, फिर भी दोनों में मौलिक भेद यह है कि एक की सत्ता बाह्य है और दूसरे की सत्ता आन्तरिक है तथापि न्याय-वैशेषिक-सांख्य तीनों दर्शनों के कतिपय सिद्धान्तों में समानता उपलब्ध होती है। ये तीनों दर्शन आत्मा को संख्या में अनन्त और परिमाण में परममहत्परिमाण तथा अकाश या परमेश्वर की तरह व्यापक मानते हैं। आकाश की तरह अनुमान प्रमाण से ही शुद्ध आत्मा का निश्चयात्मक ज्ञान होता है। आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो पाता क्योंकि जो इन्द्रिय से ग्राह्य रहता है, उसी का प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान हो पाता है। आत्मा अपनी व्यापकता के कारण चल फिर नहीं सकता। जो चलना फिरना घूमना दिखलाई देता है वह तो शरीर का है। मृत्यु के समय भी आत्मा शरीर का त्याग नहीं करता। वह सदा सर्वदा एक रस होने से सर्वत्र विद्यमान है। शरीर का त्याग करना या ग्रहण करना तो मन का या लिङ्ग शरीर का कार्य है। स्वर्ग-नरकादि में जाना आना आदि कार्य भी मन या लिङ्ग शरीर का ही हुआ करता है, क्योंकि आत्मा तो व्यापक है। अतः वह स्वर्ग-नरक आदि सभी जगह विद्यमान है ही, उसे कहाँ जाना आना है। फिर भी एक बात ध्यान में रखनी है कि आत्मा सदा सर्वदा सर्वत्र सभी स्थानों में विद्यमान रहने पर भी सर्वत्र के सुखदुःखों का अनुभव सदा सर्वदा उसे नहीं हो पाता, किन्तु जहाँ जहाँ मन या सूक्ष्म शरीर पहुँचता है वहीं पर तत्सम्बद्ध होने से वह सुख-दुःख का अनुभव कर पाता है। मन अथवा सूक्ष्म शरीर का संबंध रहना ही सुख-दुःखानुभव में कारण है। तात्पर्य यह है कि सभी स्थानों में आत्मा ज्ञानवान् नहीं रहता अर्थात् आत्मा का सभी भाग ज्ञानवान् नहीं है, किन्तु उसके जितने अंश (भाग) को मन या सूक्ष्मशरीर व्याप्त करता है, उतने ही अंश (भाग) में ज्ञान रहता है, अर्थात् मन या सूक्ष्म शरीर के द्वारा व्याप्त हुए आत्म भाग को ही ज्ञानवान् समझना चाहिये। मन का परिमाण तो अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु रूप हैं। अतः परमाणु रूप मन के प्रदेश में जितना आत्म-भाग समाया, उतना ही अर्थात् परमाणु परिमाण आत्मभाग ही सुख-दुःख का भोक्ता होता है, और उस प्रदेश के अतिरिक्त अन्य सकल विश्वव्यापी आत्मा सदा मुक्त जड़रूप ही रहता है। मनोदेश से संयुक्त आत्मभाग ही बद्ध, ज्ञानी और सुखदुःख का भोक्ता है। मनःसंयोग रहित आत्मभाग सदा मुक्त एवं जडरूप है। संसारावस्था की तरह मुक्तावस्था में भी जीवात्मा का मनःसंयोग नहीं छूट पाता है। क्योंकि तीनों के मत में मन नित्य एवं परमाणु होने से विभु-आत्मा के बाहर तो जा नहीं सकता;

केवल इतना ही हो पाता है कि अदृष्ट कृत संबंध का अभाव हो जाता है, क्योंकि पूर्व की तरह मन आत्मा के अन्तर्गत रहने पर भी उससे उदासीन रहता है। मुक्तावस्था के पूर्व संसार दशा में मन के संबंध से आत्मा के परमाणु परिमित प्रदेश में ज्ञान का हो पाना ही उसकी चेतनता है।

शरीर में आत्मदेशीय परिवर्तन की धारा उसकी गति के अनुसार अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। जिस आत्मप्रदेश में मैं शरीरी हूँ, सुखी या दुःखी हूँ यह ज्ञान होता है वहीं पर मैं अशरीरी हूँ, सुख-दुःख से रहित हूँ और विभु हूँ यह ज्ञान नहीं हो पाता। यही कहना होगा कि किसी आत्मप्रदेश में अज्ञान और किसी अन्य आत्मप्रदेश में ज्ञान हुआ करता है। आत्मा का कोई प्रदेश बद्ध और कोई प्रदेश मुक्त रहता है। बद्ध या मोक्ष का प्रभाव सम्पूर्ण आत्मा पर नहीं पड़ता, बल्कि मनोदेशावच्छिन्न आत्मभाग में ही सुख-दुःखादि का अनुभव होता है और मनोदेशातिरिक्त आत्मप्रदेश में ज्ञान और सुखदुःखादि की प्रतीति नहीं हुआ करती। मनोदेशानवच्छिन्न आत्मा सर्वदा मुक्त रहती है।

भिन्न-भिन्न शरीरों में रहने वाली आत्माएँ सभी के शरीरों में रहती हैं, वहाँ उन्हें रहने के लिये किसी की उपेक्षा नहीं होती और न किसी में किसी की अपेक्षा कोई विशेषता ही रहती है। यज्ञदत्त आदि किसी व्यक्ति के शरीर में जैसी उसकी अपनी आत्मा रहती है वैसे ही अन्य सभी आत्माएँ भी रहती हैं, किन्तु यज्ञदत्त के मन का सम्बन्ध यज्ञदत्त की आत्मा के साथ ही रहने से उसी की आत्मा में ज्ञान हो पाता है, शेष सब आत्माओं में, जो यज्ञदत्त के शरीर में उसकी आत्मा के समान ही स्थित हैं, उनमें कोई ज्ञान नहीं हो पाता। आकाश की तरह अनन्तसंख्यक सब आत्माएँ जब एकत्र मिल जायँ तब एकीभाव से भी रह सकते हैं, उनमें विभाग करनेवाला कोई ऐसा पदार्थ उपलब्ध नहीं है। इसीलिये आत्मा के विभु रहने पर भी उनमें भेद का स्वीकार किया गया है। क्योंकि यदि आत्मा को भिन्न-भिन्न न मानकर एक ही स्वीकार कर लिया जाय तो एक के सुखी या दुःखी होने पर सभी सुखी या दुःखी कहलायेंगे, उसी प्रकार एक के मुक्त होने पर सभी मुक्त हुआ करेंगे। किन्तु ऐसा न देखा गया है और न सुना ही गया है। इसलिये आत्मा को भिन्न-भिन्न अर्थात् नाना अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये[1]। आत्मा को अनेक (नाना) मानने की अपेक्षा एक ही शरीर में बाल्य, युवा और वृद्धावस्था की तरह आत्मा की भी भिन्न अवस्थाएँ ही क्यों न मानी जायँ? किन्तु यह प्रश्न करना उचित नहीं, क्योंकि शरीर में उक्त अवस्था भेद कालान्तर में हुआ करता है किन्तु आत्मा तो एक ही समय में सुखी-दुःखी होती है, अतः शरीर की अवस्था से उसकी तुलना करना ठीक नहीं है। आत्म-नानात्व का समर्थन तार्किकरक्षा में वरदराज ने भी किया है—

---

१. 'व्यवस्थातो नाना'—[कणभक्षसूत्र]।

कश्चिद्रङ्कः कश्चिदाढ्यः कश्चिदन्यविघ्नः पुनः ।
अनयैवात्मनानात्वं सिद्धयत्यत्र व्यवस्थया ॥

उसी प्रकार आत्मा के परिमाण की चर्चा में उसे विभु सिद्ध किया गया है, उसे विभु न मान कर यदि परमाणुपरिमाण का माना जाय तो चन्दन, कण्टक आदि अनुकूल-प्रतिकूल द्रव्यों के सम्पर्क से शरीर के सम्पूर्ण प्रदेशों में जो सुख-दुःख की प्रतीति होती है, वह नहीं हो सकेगी। अतः उसे विभु मानना आवश्यक है। उस विभुपरिमाण में भी एक जिज्ञासा होती है कि क्या वह शरीरसम है या आकाश की तरह है ? शरीरसम यदि मानते हैं तो शरीर के वृद्धि-ह्रास के साथ ही आत्मा के भी वृद्धि-ह्रास मानने होंगे, तब तो अनित्यत्वापत्ति हो जायगी, अतः उसकी विभुता आकाश की तरह ही माननी चाहिये। विभु होने से ही आकाश की तरह वह नित्य भी है। जिस आत्मा के शरीर द्वारा शुभाशुभ कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, और उन कर्मों से उत्पन्न होने वाला धर्माधर्म रूप अदृष्ट होता है, वह उस आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहता है। उसके फलोन्मुख होने पर उसी आत्मा को उस लोक के मन या लिङ्ग शरीर से स्वर्ग-नरकादि फलों का उपभोग प्राप्त होता है। न्याय वैशेषिक के सिद्धान्त में मन नित्य है, क्योंकि परमाणुरूप सभी द्रव्यों को उन्होंने नित्य माना है, तदतिरिक्त द्रव्य परमाणु रूप न होने से अनित्य हैं। अतः मोक्ष के अनन्तर मन निष्फल ही रहता है। एक मुक्त हो जाने पर भी बद्ध आत्माएँ बहुत सी हैं, लेकिन उनके अपने-अपने नियत पृथक्-पृथक् मन हैं। अतः उनके लिये उस मुक्त के निष्फल मन का कोई उपयोग नहीं होता। यह न्याय वैशेषिकों की दृष्टि है।

सांख्यदर्शनकार की दृष्टि तो इससे बहुत भिन्न है। न्याय-वैशेषिक की तरह सांख्यदर्शनकार ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख, द्वेष तथा धर्माधर्म का आत्मा के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं मानते। सांख्यदर्शनकार के मन में तो आत्मा निर्मल स्फटिक के समान स्वच्छ और निर्गुण है और ज्ञानादिगुण अन्तःकरण (बुद्धि) के धर्म हैं, उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध जो प्रतीयमान होता रहता है, वह वास्तविक नहीं है, बल्कि लाल जवाकुसुमादि पुष्प पर रखे हुए निर्मल श्वेत स्फटिक में जैसी लाली भासित होती है वैसे ही वे ज्ञानादिगुण, आत्मा में भासित होते रहते हैं। उक्त सांख्यसिद्धान्त श्रुति[1] के द्वारा भी पुष्ट हुआ दिखाई देता है। ज्ञानादि गुणों को बुद्धि के धर्म न मानकर यदि उन्हें आत्मा के धर्म मान लें तो जिस आत्मप्रदेश में किसी वस्तु का अनुभव हुआ और उससे उत्पन्न भावनाख्य संस्कार से पुनः उसी वस्तु का जो स्मरण होता है वह आत्मा के प्रदेशान्तर में ही होता है, क्योंकि स्मरण के समय उसका लिङ्गशरीर जहाँ भी रहे, लिङ्गशरीर के प्रदेश में आत्मा ज्ञानवान्

१, 'असङ्गोऽयं पुरुषः', 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' श्रुतिः।

ही रहेगा और तद्रहित प्रदेश में ज्ञानशून्य रहेगा। इस प्रकार दोनों धर्मों को मानना पड़ेगा। किन्तु सांख्य के पक्ष में ज्ञानादिगुणों का अन्तःकरण के साथ ही सम्बन्ध निश्चित होने से और आत्मा निर्गुण रहने से सभी प्रदेशों में वह (आत्मा) एकरूप ही रहती है—आत्मा के दो रूप मानने की आवश्यकता नहीं होती।

यहाँ एक जिज्ञासा उठती है कि श्रुतिप्रतिपादित आत्मा का मनन न्याय-वैशेषिक शास्त्र के द्वारा ही क्यों न किया जाय, उसके लिये सांख्यशास्त्र की क्या आवश्यकता? उक्त जिज्ञासा का समाधान यह है कि भिन्न-भिन्न अधिकारियों के लिए भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं। न्याय-वैशेषिक शास्त्रों की रचना मन्द अधिकारियों को लक्ष्य करके की गई है। सांख्य-योगशास्त्र की रचना मध्यम अधिकारियों को लक्ष्य कर के की गई है, वेदान्तशास्त्र की रचना उत्तम अधिकारियों को लक्ष्य कर के की गई है। "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस शतपथ-ब्राह्मण के द्वारा उपनिषदों से श्रुत आत्मा का मनन और निदिध्यासन करना बताया गया है। 'कल्याणं मे भूयात्' इस इच्छा से सच्छास्त्रों का सुनना ही श्रवण है, श्रुत अर्थ का युक्तियों से विचार करना मनन है और तैलधारा की तरह चित्त को निरवच्छिन्न प्रवाहित करना निदिध्यासन है। कनिष्ठ, मध्यम, उत्तम अधिकारियों के भेद से मनन के अंश में पांच दर्शन आ जाते हैं। उनमें से न्याय-वैशेषिक नें तो यह काम किया कि देह इन्द्रिय आदि अनात्म वस्तुओं में से आत्मबुद्धि को हटाकर उनसे भिन्न नित्य, विभुरूप आत्मा में जिज्ञासुओं की बुद्धि को स्थिर किया, लेकिन सुख, दुःख, इच्छा, बुद्धि, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, कर्तृत्व, भोक्तृत्व नाना धर्मों को साधारण लोग जिस प्रकार जान सकें उसी प्रकार उनके अधिकार के अनुरूप उन धर्मों को भी उस आत्मा में मान लिया। न्याय-वैशेषिक ने यह नहीं बताया कि आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध है और सुखादि धर्मों से पृथक् है। किन्तु सांख्य ने सुखादि धर्मों से रहित, निर्लेप पुरुष बताया है, सांख्य के मत में वह परोक्ष है। त्रिगुणातीत होने से उसके अस्तित्व की सिद्धि में कोई हेतु नहीं दिया जा सकता। अर्थात् अनुमान प्रमाण से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये केवल शब्द या आगम ही प्रमाण हो सकता है। यह आत्मतत्त्व अहेतुमान् अर्थात् इसका कोई कारण नहीं है। यह नित्य सर्वव्यापी, निष्क्रिय और एक है। अनेक व्याख्याकारों ने इस 'ज्ञ' को ही अनेक कह दिया है। ईश्वरकृष्ण ने तो इसी एकत्व को ध्यान में रख कर ही इस 'ज्ञ' का साधर्म्य प्रकृति के साथ बताया है[1]। गौड़पादभाष्य में भी उसे एक बताया गया है। श्वेताश्वर उपनिषद् में 'अजो ह्येकः' स्पष्ट बताया गया है। कारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने जो पुरुष बहुत्व का प्रतिपादन किया है वह 'ज्ञ' संज्ञक पुरुष का नहीं है, अपितु वह प्रतिपादन 'बद्ध पुरुष' के विषय में है। तात्पर्य यह है कि सांख्य के मत में दो ही तो तत्त्व हैं एक जड़ और दूसरा चेतन।

१, 'तथा च पुमान्'—[सां० का० ११]

जड के अन्तर्गत व्यक्त और अव्यक्त आ जाते हैं और चेतन के अन्तर्गत तीन प्रकार के पुरुष। अर्थात् ज्ञ, असंसारी (मुक्त पुरुष = आत्मा), संसारी (बद्ध पुरुष = जीव) आ जाते हैं। सांख्यकारिकाकार ईश्वर कृष्ण ने व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ के विज्ञान से त्रिविध दुःखों की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति बताई है[1]। ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में सभी व्यक्त पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से बताया है[2], उसके लिये विशेष विचार की आवश्यकता नहीं। इन व्यक्त तत्त्वों से अवशिष्ट रहे दो तत्त्व, एक अव्यक्त अर्थात् मूल प्रकृति और दूसरा पुरुष चेतनतत्त्व। ये दोनों तत्त्व परोक्ष हैं। इन परोक्ष (अतीन्द्रिय) तत्त्वों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से बताया गया है। महत् आदि तेईस व्यक्त कार्यों से उनके मूल कारण अव्यक्त (मूल प्रकृति) को अनुमान से सिद्ध कर दिखाया है[3]। यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि 'सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्' इस छठी कारिका में ईश्वर-कृष्ण ने 'अतीन्द्रियाणाम्' यह बहुवचन का प्रयोग क्यों किया? क्योंकि मूलाकृति तो एक ही है। इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि बद्ध पुरुष अर्थात् संसारी (जीवात्मा) के अस्तित्व को भी सिद्ध करना है, जो अनुमान प्रमाण से सिद्ध हो सकता है। अब बिना हेतु के अनुमान हो नहीं सकता, अतः कारिकाकार ने सत्रहवीं[4] कारिका के द्वारा हेतुओं का निरूपण कर दिया, जिनसे परोक्ष बद्धपुरुष (जीवात्मा) के अस्तित्व की सिद्धि हो पाती है। ये बद्धपुरुष अनन्त हैं, अतः 'अतीन्द्रियाणाम्' । बहुवचन उपपन्न हो जाता है, क्योंकि इस बहुवचन से अव्यक्त प्रकृति और बद्ध पुरुषों का ग्रहण किया जाता है।

आज की उपलब्ध सांख्यकारिका में व्यक्त, अव्यक्त के अस्तित्व तथा उनके धर्मों के बारे में तो विचार किया उपलब्ध हो रहा है, किन्तु अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार 'ज्ञ' का विचार तो कहीं उपलब्ध नहीं हो रहा है। बिना उसके 'ज्ञ' का विज्ञान व्यक्त, अव्यक्त के समान कैसे हो सकेगा? अतः यह मानना होगा कि अव्यक्त की सिद्धि करने के पश्चात् ज्ञ पुरुष की सिद्धि के लिये भी कोई कारिका ईश्वरकृष्ण ने अवश्य ही लिखी होगी। वहीं पर बद्धपुरुष की भी चर्चा रही होगी, जिसकी सिद्धि के लिये उसने सतरहवीं कारिका लिखी। आगे चलकर अठारहवीं[5] कारिका में उसकी अनेकता बताई। बद्ध पुरुषों के जन्म, मृत्यु, इन्द्रियों के विभिन्न नियमित रूप, उनकी अलग अलग प्रवृत्ति, तथा तीनों गुणों के वैषम्य को देखने से बद्ध पुरुष का बहुत्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि निर्लिप्त ज्ञ पुरुष का कभी जन्म या मृत्यु नहीं

१. व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्—[सां० का० २]
२. सामान्यतस्तु दृष्टात्०—[सां० का० ६]
३. सां० का० ८, १४, १५, १६
४. संघातपरार्थत्वात्—[सां० का० १७]
५. जन्ममरणकरणानाम्—[सां० का० १८]

होती, न कभी वह अन्धा, बहिरा, लंगड़ा, लूला ही होता है, न कभी वह किसी कार्य के करने के लिये प्रवृत्त होता है उसी तरह वह त्रिगुणातीत होने से उसे न सात्त्विक, राजस, या तामस ही कह सकते हैं। अतः अठाहरवीं कारिका के द्वारा जो बातें कही गई हैं वे सब बद्ध पुरुष के लिये ही कही गई हैं, ज्ञ पुरुष के लिये नहीं।

सांख्यदर्शन के सिद्धान्त

प्राणिमात्र की प्रवृत्ति का लक्ष्य एकमात्र सुख की प्राप्ति और दुःख का परिहार ही तो है। उनमें भी जो विचारशील हैं वे तो सांसारिक वैषयिक सुख को भी दुःख मिश्रित होने से हेय कोटि में ही समझते हैं। दुःख की साधारण पहिचान जनसाधारण को रहने पर भी उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान स्थूलदर्शी सर्वसाधारण जनता को नहीं हो पाता। महाकवि कालिदास की उक्ति[1] के अनुसार अनपेक्षित वस्तु के वास्तविक स्वरूप को बिना जाने उसका प्रतीकार करना संभव नहीं। अतः श्रीईश्वरकृष्ण ने दुःख का आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक रूप से वर्गीकरण किया। पहिला-अध्यात्मिक दुःख वह है, जो वात, पित्त, कफ इन तीन धातुओं की विषमता के कारण, उसी तरह काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर के कारण होता है। दूसरा—आधिभौतिक दुःख वह है, जो मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्पादि प्राणियों के कारण होता है। तीसरा आधिदैविक दुःख वह है, जो यक्ष, राक्षस, ग्रहों के कारण होता है। इन तीनों प्रकार के दुःखों को सदैव और अवश्य ही रोकने के लिए सांख्यशास्त्रीय तत्त्वों का ज्ञान ही प्राप्त करना चाहिये। उसके सिवाय अन्य कोई ऐसा उपाय नहीं, जो सदा के लिये और अवश्य ही दुखों को रोक सके।

तथापि स्थूलदर्शी लोगों के मन में यह जिज्ञासा जागती है कि किसी प्रकार के दुःख को रोकने और दूर करने के अनेक लौकिक-व्यावहारिक सरल उपाय जब हैं तब उपस्थित को त्यागकर अनुपस्थित की कल्पना करते बैठना बुद्धिमानी नहीं होगी। वातपित्तकफ की विषमता से होने वाले ज्वर अतिसार आदि रोगों को वैद्य, डाक्टर, हकीमों की औषधियों से भी दूर किया जा सकता है और काम, क्रोध, लोभ आदि मनोविकारों से होने वाले दुःखों को अभिलषित की प्राप्ति एवं अनभिलषित के परिहार से दूर किया जा सकता है। उसी प्रकार आधिभौतिक दुःखों का निवारण राजनीतिशास्त्र के सम्यक् परिशीलन से किया जा सकता है, तथा ग्रह आदि से होने वाले आधिदैविक दुःखों का निवारण मणि, मंत्र, जड़ी-बूटियों के प्रभाव से हो ही जाता है, इस प्रकार लौकिक उपायों के रहते सांख्य-शास्त्रीय तत्त्वज्ञान की प्राप्ति जैसे अलौकिक कष्ट साध्य उपाय को क्यों अपनाया जाय ?

स्थूलदर्शी लोगों की यह जिज्ञासा आपाततः उचित प्रतीत होती है, किन्तु साथ ही

---

१. 'विकारं खलु परमार्थतोऽज्ञात्वाऽनारंभः प्रतीकारस्य।'—[शाकुं० ना० अं० ३]

साथ यह भी सोचना चाहिये कि क्या ये लौकिक उपाय तथाकथित दुःखों को सदा सर्वदा के लिये तथा निश्चित रूप से दूर करने या रोकने में समर्थ हो सकते हैं? किन्तु आज तक किसी को ऐसा अनुभव न होने से यह कोई नहीं कह सकता कि तथाकथित लौकिक उपायों से सदा के लिये और अवश्य ही दुःखों की रोकथाम हो जाती है। कदाचित् किसी रोग के दूर हो जाने पर भी कालान्तर में पुनः उसके उद्भव न होने का विश्वास कोई नहीं दे पाता। सदा सर्वदा के लिये दुःखों को दूर करने का वह अमोघ उपाय नहीं है, इसीलिये इस अलौकिक उपाय (सांख्य-शास्त्रीयतत्त्व-जिज्ञासा) का उपन्यास किया गया है, जिससे सदा के लिये दुःखों से अवश्य ही छुटकारा प्राप्त हो सके। इस प्रकार सांख्यशास्त्र की सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। उसे निरर्थक समझना एक बड़ी भूल होगी।

इस पर कोई कर्मठ वेदपाठी यह कहेगा कि लौकिक प्रत्यक्ष उपायों से सदा के लिये और अवश्यंभावी दुःखनिवृत्ति भले ही न हो पाये तथापि वैदिक कर्मानुष्ठान आदि उपायों से दुःख के लवलेश से भी रहित ऐसे स्वर्ग (आत्यन्तिक सुख) की प्राप्ति हो जायगी तब कष्टसाध्य उस सांख्यतत्त्व के जानने की इच्छा क्यों की जाय?

किन्तु कर्मठ वैदिकों की यह आशंका कोई असमाधेय नहीं है। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इस नियम के अनुसार वैदिक कर्मानुष्ठान आदि उपायों से भी सदा के लिये और अवश्य ही दुःखों की निवृत्ति होती नहीं दीखती। अतः ये वैदिक उपाय भी उन लौकिक दृष्ट (प्रत्यक्ष) उपायों के ही समान हैं, क्योंकि वैदिक कर्मों में भी पशुहिंसा आदि अपवित्रता, क्षयशीलता, ज्योतिष्टोम से स्वर्ग और वाजपेय से स्वाराज्य फल मिलता है तब 'परसम्पदुत्कर्षोहिं हीनसंपदं दुःखाकरोति' इस रीति से सातिशयता आदि दोषों के भरे रहने से वे नित्य सुख की प्राप्ति तथा सदा के लिये दुःखनिवृत्ति कराने में समर्थ नहीं हैं। भाष्यकार व्यास ने भी इसी आशय का समर्थन "सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः—[यो० सू० २।१३] सूत्र के भाष्य में पंचशिखाचार्य के वचन[1] का उद्धरण देते हुए किया है। एवं च वैदिक कर्मानुष्ठानादि उपायों से होनेवाला स्वर्गादि सुख भी दुःखमिश्रित ही रहा। इसलिये सदा सर्वदा के लिये और अवश्य ही दुःखों को दूर करने का यदि कोई उपाय है तो सांख्यतत्त्व का विशुद्ध और निरतिशयफलदायक ज्ञान प्राप्त करना ही एक मात्र उपाय है। अन्य कोई नहीं।

इतना ज्ञात होने पर जिज्ञासा जाग सकती है कि सांख्य के कौन-से वे तत्त्व हैं, जिनका ज्ञान होने से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है? शास्त्रकार उत्तर देते हैं कि व्यक्ततत्त्व, अव्यक्ततत्त्व और ज्ञतत्त्व के ज्ञान प्राप्त करने से निःश्रेयसः की प्राप्ति होती हैं। संक्षेप में सांख्यशास्त्र के तत्त्वों का चार प्रकार से वर्गीकरण किया गया है—मूल-

---

१. 'स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः'—[पंचशिखाचार्य]

प्रकृति, प्रकृतिविकृति, विकृति और प्रकृतिविकृतिरहित। उनमें परिणामशून्य अर्थात् जो स्वयं किसी का परिणाम नहीं है ऐसी प्रकृति, जिसे प्रधान के नाम से भी कहा जाता है, वह सम्पूर्ण सृष्टि का मूल है। महतत्त्वादि विकार (कार्य) उसी से पैदा हुए हैं। महत्तत्त्व (महान्-महत्) का दूसरा नाम बुद्धि है। वह महत्तत्त्व या बुद्धि, मूलप्रकृति का विकार है और अहंकार की प्रकृति है, अर्थात् वह महत्तत्त्व स्वयं तो मूलप्रकृति से पैदा होता है, इसलिये विकृति और अहंकार को वह स्वयं पैदा करता है अतः प्रकृति भी कहलाता है। उसी तरह अहंकार स्वयं महत्तत्त्व से पैदा होने के कारण विकृति और पञ्चतन्मात्राओं तथा इन्द्रियों को पैदा करने के कारण प्रकृति कहलाता है। पंचतन्मात्राएँ अहंकार से तैदा होने के कारण अहंकार की विकृति हैं और स्वयं पंचमहाभूतों को पैदा करती हैं इसलिये उनकी (पंचमहाभूतों की) वे (पंचतन्मात्राएँ) प्रकृति कहलाती हैं। पंचमहाभूत और एकादश इन्द्रियों से कोई पैदा नहीं होता इसलिये उक्त दोनों की कोई विकृति न होकर वे दोनों स्वयं विकृति ही हैं।

चेतन (पुरुष) न किसी से पैदा होता है और न किसी को पैदा करता है इसलिये वह (पुरुष) प्रकृति-विकृतिरूप धर्म से शून्य है अर्थात् वह न किसी की प्रकृति (कारण) है और न किसी की विकृति (कार्य) है।

इस रीति से उक्त पच्चीस तत्त्व ही सांख्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय हैं। उक्त पच्चीस तत्त्वों में से मूलप्रकृति को अव्यक्त कहते हैं, ज्ञ अथवा चेतन को पुरुष कहते हैं और इन दोनों से जो अवशिष्ट रहे वे सब व्यक्त हैं। ये पच्चीस तत्त्व ही प्रमेय कहलाते हैं। इन प्रमेयों का ज्ञान प्रस्तुत शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों से होता है। इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्यान्य दार्शनिकों के सम्मत उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव, ऐतिह्य आदि प्रमाणों का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया

बुद्धितत्त्व में सकल पदार्थों के ग्रहण करने की शक्ति रहने पर भी तमोगुण से प्रतिबद्ध होने के कारण वह स्वयं स्वतन्त्ररूप से विषय (पदार्थ) के समीप नहीं पहुँच पाता, किन्तु जब इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) द्वारा तम को हटा दिया जाता है तब इन्द्रिय के माध्यम से विषय के समीप पहुँचकर उसी के (विषय के) आकार में परिणत हो जाता है। इस प्रकार से बुत्तितत्त्व का जो विषयाकार परिणाम होता है, उसीको अध्यवसाय, वृत्ति, ज्ञान या प्रमाण भी कहते हैं।

इस वृत्तिनामक ज्ञान का जो फल है उसे प्रमा कहते हैं, जिसका अनुभव चेतन ही करता है, क्योंकि अचेतन बुद्धि का अध्यवसाय भी अचेतन ही है और 'अहं सुखी'—मैं सुखी हूँ—इस अनुभव का संबंध भी चेतन से रहता है। अतः यह कल्पना की जाती है कि विषय के आकार को प्राप्त हुई (विषयाकार से आकारित हुई अर्थात् विषयाकार

से परिणत हुई) बुद्धि अपने को, अपने में प्रतिबिम्बित हुए चेतन के लिये समर्पित करती है, उसी से प्रमारूप फल पैदा होता है। पुरुष तो वास्तव में. अपरिणामी असंग, अकर्ता है। किन्तु वह (पुरुष) परिणामी चित्त में प्रतिबिम्बित होकर कर्तृत्व और भोक्तृत्व को प्राप्त करता है। इसी अभिप्राय को भोजराज ने अपने राजमार्तण्ड में भी कहा है[1]।

प्रत्यक्ष का कार्य अनुमान है, किन्तु एकमात्र प्रत्यक्षप्रमाण को ही माननेवाले चार्वाक उसकी उपेक्षा करते हैं। अपने स्वयं से भिन्न अन्य लोगों के अज्ञान, सन्देह आदि मनोविकारों का प्रत्यक्ष कैसे कर सकेंगे ? इस प्रश्न का उत्तर वे नहीं दे पाते। दूसरों के मनोविकारों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त न कर उनके साथ यदि व्यवहार किया जाय तो पागलपन ही कहा जायेगा। अतः दूसरों के मनोविकारों को जानने के लिये अनुमानप्रमाण के सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है। जब कभी अन्य लोगों के भाषणादि से उनके अभिप्राय आदि का ज्ञान होता है, तो वह अनुमान से ही होता है। अतः ज्ञान (प्रमा) का साधन होने से अनुमान को भी प्रमाण मानना होगा। केवल प्रत्यक्षप्रमाण से ही काम नहीं चलेगा। उस अनुमानप्रमाण का फल अर्थात् पक्ष पर साध्य की स्थिति का जो ज्ञान है, वह पक्ष पर रहने वाले और साध्य से व्याप्य कहे जाने वाले हेतु के द्वारा होता है। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ पर धूम (हेतु) से पर्वत (पक्ष) पर वह्नि (साध्य) की स्थिति का ज्ञान होता है। 'जहाँ जहाँ धूम वहाँ वहाँ वह्नि' इस व्याप्ति (नियम) के द्वारा धूम में वह्नि की व्याप्यता का ज्ञान हो पाता है। इसी प्रकार का धूम पर्वत (पक्ष) पर है, इस प्रकार जब निश्चय होता है, तब पर्वत (पक्ष) पर वह्नि (साध्य) की सत्ता का ज्ञान हो पाता है। इसीको अनुमिति ज्ञान अर्थात् अनुमानप्रमाण का फल कहते हैं। उस अनुमान के तीन प्रकार हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। इस संबन्ध में वात्स्यायन भाष्य[2] देखने योग्य है। अन्यान्य ग्रन्थों में भी बड़े विस्तार से इस विषय पर लिखा गया है "आप्तोपदेशः शब्दः"—[न्या. सू. १ । १ । ७] सुदृढ़

---

१. 'तच्छुद्धमाद्यं चित्तसत्त्वमेकतः प्रतिसंक्रान्तचिच्छायमन्यतो गृहीतविषयाकारेण चित्तेनो-पढौकितस्वाकारं चित्संक्रान्तिबलाच्चेतनायमानं वास्तवचैतन्याभावेऽपि सुखदुःखभोगमनु भवति।'—[यो० सु० ४।२२]

२. 'पूर्ववदिति यत्र यथापूर्वं. प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनाऽन्यतरस्याऽप्रत्यक्षस्यानुमानं यथा धूमेनाग्निरिति। शेषवत् नाम परिशेषः, सच प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः, यथा 'सदनित्यम्'—[कणा० सू० २।८] इत्येवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्यविशेष-समवायेभ्यो विभक्तस्य शब्दस्य तस्मिन् द्रव्यगुणकर्मसंशये न द्रव्यम्, एकद्रव्यत्वात्, न कर्म, शब्दान्तरहेतुत्वात्, यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः। सामान्यतोदृष्टंनाम यत्राऽ-प्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते यथेच्छादि-भिरात्मा। इच्छादयो गुणाः, गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः, तद्यदेषां स्थानं स आत्मेति।'—[न्या० सू० १।१।५, वात्स्या० भा०]

प्रमाणों के द्वारा जिसने पदार्थ का अवधारण (निश्चयात्मक ज्ञान) किया हो उसे आप्त कहते हैं, और वह जब अपने अनुभव के अनुसार किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करता है, उस समय के उसके कथन को शब्द प्रमाण कहते हैं। जयमंगलाकार ने भी आप्त का लक्षण इसी प्रकार बताया है :—

स्वकर्मण्यभियुक्तो यो रागद्वेषविवर्जितः।
निर्वैरः पूजितः सद्भिराप्तो ज्ञेयः स तादृशः॥

उपमानादि अन्य प्रमाणों का उक्त तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है, इसे पञ्चम कारिका की तत्त्वकौमुदी में श्रीमद्वाचस्पति मिश्र ने खूब ऊहापोह के साथ बताया है। प्रधान, पुरुष, महत्तत्त्वादि अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रतीति अनुमान और शब्दप्रमाण से होती है। प्रधान, पुरुष आदि पदार्थों की प्रत्यक्ष उपलब्धि यदि नहीं होती है तो उनका अस्तित्व स्वीकार करने की ही क्या आवश्यकता? यह सोचना ठीक न होगा, क्योंकि पदार्थों के रहने पर भी उनकी प्रत्यक्षोपलब्धि न हो पाने में अनेक कारण हैं। अपने देश में स्थित व्यक्ति अतिदूरवर्ती हिमालय, मानसरोवर, कैलाश आदि प्रदेशों को नहीं देख पाता, अतः उनके रहते हुए भी उनके न देख पाने में कारण अतिदूरवर्तित्व को ही कहना होगा। उसी तरह अपनी आँख की पुतली को या काजल को व्यक्ति स्वयं नहीं देख पाता, क्योंकि पुतली या काजल अति समीप हैं, अतः उनके न देख पाने में कारण अतिसमीपवर्तित्व को ही कहना होगा। बहिरे को संगीत या किसी शब्द का, अंधे को किसी रूप का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता, उसके न हो सकने में इन्द्रियवैकल्य को ही कारण मानना होगा। चित्त के अस्वस्थ या अन्यत्र आसक्त रहने पर समीप रखी हुई वस्तु की भी उपलब्धि नहीं हो पाती, अतः उसमें मन की अस्वस्थता को ही कारण कहना होगा। सूक्ष्म परमाणु का प्रत्यक्ष योगियों से भिन्न साधारण लोगों को नहीं हो पाता, उसमें परमाणु की सूक्ष्मता को ही कारण कहना होगा। परदे या भीत की आड़ में रखी वस्तु के न दिखाई पड़ने में हेतु व्यवधान को ही कहना होगा। दिन में तारा (नक्षत्र) मण्डल नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि वे सब सूर्य की प्रभा से अभिभूत रहते हैं। अतः उनके न दीखने में उनका अभिभव होना ही कारण है। जल में गिरे जलकण, चावल या मूंग में गिरे चावल या मूंग के कण दृष्टिगोचर नहीं हो पाते, क्योंकि वे कण अपने सजातीय राशि में मिल गये हैं, अतः उनके न दिख पड़ने में कारण उनका सजातीय सम्मिश्रण ही कहना होगा। उसी प्रकार प्रधान, पुरुष आदि की भी प्रत्यक्ष उपलब्धि इसलिये नहीं होती कि वे अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अतः वे अपनी अतिसूक्ष्मता के कारण नहीं दीखते, इसलिये वे हैं ही नहीं यह समझना उचित नहीं होगा। उनके न दीखने पर भी उनकी सत्ता का अनुमान उनके महत्तत्त्वादि कार्य से हो पाता है, क्योंकि कार्य यदि है तो उनका कारण अवश्य ही होगा, बिना कारण के कार्य कभी नहीं हो सकता यह नियम है।

सांख्यदर्शन का कार्यकारणवाद

'सतः सज्जायते' सत् से सत् की उत्पत्ति (आविर्भाव) होती है यह सांख्य का सिद्धान्त है। 'असतः सज्जायते' असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, यह बौद्धों का सिद्धान्त है। 'एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सत्' यह समस्त कार्य एक सत् वस्तु का विवर्त है; वास्तविक नहीं, यह वेदान्तियों का सिद्धान्त है। 'सतोऽसज्जायते' सत् से असत् की उत्पत्ति होती, है, यह नैयायिक और वैशेषिकों का सिद्धान्त है।

बौद्धों के सिद्धान्त का उपपादन

"अभावाद् भवोत्पत्तिर्नाऽनुपमृद्य प्रादुर्भावात्"—[न्या० सू० ४।१।१४] बौद्ध लोग असत् को ही कार्यमात्र का कारण मानते हैं, क्योंकि बीज से जो अंकुरोत्पत्ति होती है वह बीज के फूटने पर ही (नष्ट होने पर ही) होती है। उसी प्रकार दूध के नष्ट होने पर ही दधि होता है, यह देखकर बौद्धों ने यह—'असतः सज्यायते' का सिद्धान्त बना लिया।

बौद्धसिद्धान्त का खण्डन

अंकुरोपत्ति में बीजनाश (बीज का नष्ट होना) को कारण नहीं कहा जा सकता। किन्तु बीजावयवों के सन्निवेश परिणाम को अंकुरोत्पत्ति में कारण मानना चाहिये। अर्थात् बीज के अयवव जिस प्रकार बीज में संन्निविष्ट थे, उसी प्रकार से वे अंकुर में सन्निविष्ट नहीं हैं, बल्कि प्रकारान्तर से सन्निविष्ट होते हैं। तात्पर्य यह है कि बीज में स्थित रहने वाले अवयव ही प्रकारान्तर की प्राप्त होकर अंकुर कहलाते हैं, इस प्रक्रिया से यह नहीं समझना होगा कि बीज का नाश होने पर अंकुर की उत्पत्ति होती है, इस रहस्य को न्यायसूत्रकार ने एक ही सूत्र के द्वारा कह दिया—"न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः"—[न्या० सू० ४।१।१७]। नाशरूप अभाव से भाव की उत्पत्ति मान लेने पर महान् अनर्थ की सम्भावना को भगवान् शंकराचार्य ने "नाऽसतोऽदृष्टत्वात्" [ब० सू० २।२।२६] सूत्र के भाष्य[1] में अच्छी तरह व्यक्त किया है।

वेदान्तियों के विवर्त्तवाद का खण्डन

'समस्त कार्य वास्तविक न होकर सत् वस्तु (ब्रह्म) का ही विवर्त है'—वेदान्तियों का यह कथन भी उचित नहीं है। वेदान्ती अपने विवर्तवाद का उपपादन इस प्रकार करते हैं—शुक्ति में जो रजत का ज्ञान होता है वह मिथ्या है, क्योंकि शुक्ति का यथार्थ

---

१. 'यद्यभावाद्भाव उत्पद्येत अभावत्वाविशेषात्कारणत्वाभ्युपगमोऽनर्थकः स्यात्। न हि बीजादीनामुपमृदितानां योऽभावस्तस्याभावस्य शशविषाणादीनांच निःस्वभावत्वाविशेषादभावत्वे कश्चिद् विशेषोऽस्ति, येन बीजादेवाङ्कुरो जायेत, क्षीरादेव दधि, इत्येवंजातीयकः कारणविशेषाभ्युपगमोऽर्थवान् स्यात्। निर्विशेषस्यत्वभावस्य कारणत्वाभ्युपगमे शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन् न चैवं दृश्यते।'—[ब्र० सू० २।२।२६ का शांकर भाष्य]

ज्ञान होने पर पूर्व हुए रजतज्ञान का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही केवल एकमात्र सत् वस्तु है, उस पर आरोप किया जाने वाला संपूर्ण यह जड़ जगत् मिथ्या है, यह वेदान्तियों का सिद्धान्त है। लेकिन शुक्ति में रजत का जैसे प्रत्यक्ष से बाध हो जाता है, वैसे जगत् का नहीं। शुक्ति में रजतज्ञान होने पर भी बाद में होने वाले उसके बाधक शुक्तिज्ञान की तरह ब्रह्म में आरोपित जगत् के ज्ञान का बाध करने वाला कोई बाधक ज्ञान नहीं होता, इसलिये जगत् प्रपञ्च का बाध होना संभव नहीं, अतः जड़ जगत्प्रपंच को मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह भी है कि शुक्ति और रजत में शुक्लता चाकचक्य का सादृश्य है। उस सादृश्य के कारण शुक्ति में रजत का भ्रम होता है और उस भ्रम से शुक्ति पर रजत का आरोप किया जाता है। किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो जगत् और ब्रह्म में परस्पर अत्यन्त विलक्षणता है, एक जड़ है तो दूसरा चेतन है। अतः दोनों में कुछ भी साधर्म्य नहीं है। एक दूसरे पर जो आरोप किया जाता है, वह तो थोड़े बहुत साधर्म्य से ही किया जाता है, ऐसी परिस्थिति में जड़ जगत् का चेतन ब्रह्म में आरोप कैसे हो सकता है? इसलिए वेदान्तियों का विवर्तवाद उचित प्रतीत नहीं होता।

नैयायिकों के असत्कार्यवाद का खण्डन

नैयायिक अपने असत्कार्यवाद के सिद्धान्त का उपपादन इस प्रकार करते हैं। नैयायिक कहते हैं कि कार्यकारणभाव के विषय में हमारा सिद्धान्त है—'सतः असज्जायते' सत् से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् कारण के व्यापार से पूर्व कार्य असत् हैं। जैसे—सद्रूप मृत्तिका से असत् (उसमें न रहने वाला) घट उत्पन्न होता है। किन्तु सोचना यह है कि जो स्वयं असत् हो; उसे सत् बनाने की किसमें शक्ति है? अर्थात् किसी में नहीं। अन्यथा इस वैज्ञानिक युग में खरगोश या आदमी में भी सींग पैदा कर दिये गये होते। इस पर यदि कहें कि मृत्तिका की पिण्डदशा में 'असत् घटः' यह व्यवहार और घट की दशा में 'सत् घटः' यह व्यवहार होता है। इस व्यवहार के अनुरोध से घट का ही कभी सत्त्व असत्त्व धर्म हुआ करता है। किन्तु यह कथन ठीक प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि यह तो सर्वसम्मत है कि धर्म, धर्मी से स्थित रहता है। तुम्हारे मत में तो उत्पत्ति के पूर्व घट था ही नहीं, उत्पत्ति के पूर्व उस धर्मी का अभाव ही था। तब असत् (अविद्यमान) धर्मी में धर्म का सत्त्व कैसे हो सकेगा? अर्थात् जब आश्रयरूप धर्मी ही नहीं तो धर्म किस आधार पर रहेगा। अतः नैयायिक को भी कारणावस्था में घट की सत्ता अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिये। ऊपर जो कहा गया था कि 'असत् घटः' इस व्यवहार के अनुरोध से उत्पत्ति के पूर्व 'धर्मी घट' में असत्त्व धर्म रहता है। उस पर सांख्यवादी पूछ सकता है कि तुम्हारे (नैयायिक के) मत में 'उत्पत्तेः प्राक् असत् घटः'—उत्पत्ति से पूर्व असत् (अविद्यमान) घट है, यह

व्यवहार उपपन्न कैसे हो सकेगा ? अर्थात् उत्पत्ति से पहिले घट असत् है यह तुम कह भी नहीं सकते, क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व धर्मी (घट) का अभाव रहने से (धर्मी के न होने से) उसके साथ असत्त्वरूप धर्म का सम्बन्ध ही कैसे हो पायगा ? 'नीलं कमलम्' का अर्थ 'नीलगुणरूप धर्म का आश्रय कमल है' किया जाता है, उसी तरह 'असत् घटः' का भी अर्थ—असत्त्वधर्म का आश्रय घट है—करना होगा, किन्तु वैसा अर्थ संगत नहीं हो पा रहा है, क्योंकि असत् घट के साथ असत्त्व धर्म का सम्बन्ध नहीं है, जब धर्मी ही नहीं है तब धर्म किससे सम्बन्ध करेगा। इसलिये कारणव्यापार के पूर्व भी कार्य को सत् ही मानना चाहिये।

जब कार्य अपने कारण में सूक्ष्मरूप से विद्यमान है ही तब कारण को व्यापार करने की क्या आवश्यकता ? यह जिज्ञासा मन में जाग उठती है, उसका समाधान सांख्यवादी यह करते हैं—जो कार्य सूक्ष्मरूप से अवस्थित है और व्यवहार करने में असमर्थ है, उस कार्य को स्थूलरूप देकर व्यवहार के योग्य बना दिया जाता है। अर्थात् कारण अपने व्यापार के द्वारा सत् कार्य की ही अभिव्यक्ति किया करते हैं। तिलों को, वादामों को तथा अन्य तैलपदार्थों को रगड़ने पर उनमें स्थित तैल की ही अभिव्यक्ति हुआ करती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कार्य सत् है, असत् नहीं।

उपादान कारणों के साथ कार्य का संबन्ध रहने से यह ज्ञात होता है कि कार्य सत् है। मृत्तिका घट की उपादान कारण (उत्पादक) होने से घट की उत्पत्ति के पूर्व घट से सम्बद्ध है। यदि घट को सत् (विद्यमान) न मानें तो उसके साथ मृत्तिका का संबन्ध हो नहीं सकता और मृत्तिका से सम्बन्धित न होकर घट पैदा ही नहीं हो सकता। अपने उपादान कारण से सम्बद्ध हुए बिना ही यदि कार्य की उत्पत्ति मानी जाय तो मृत्तिका से पट भी पैदा हो सकेगा। उसी प्रकार कारण के साथ असम्बद्ध रहना अर्थात् असम्बद्धत्वरूप धर्म सभी कार्यों में स्वीकार कर लेने पर जिस किसी भी वस्तु से जिस किसी भी कार्य की उत्पत्ति होने लगेगी अर्थात् सभी से सभी कुछ होने लगेगा। किन्तु ऐसा होता देखा नहीं गया है। बल्कि जो कारण जिस कार्य में शक्त (समर्थ) होता है, वह उसी कार्य को पैदा करता है। तेल पैदा करने में समर्थ तिलों से तेल ही पैदा किया जाता है। तिलों से घट, पटादि पैदा नहीं किये जाते। उसी प्रकार तन्तुओं की शक्ति संभाव्य पटकार्य के पैदा करने की ही है। यह शक्ति संभाव्य कार्य से ही सम्बद्ध रहती है। जैसे संभाव्य घटकार्य को पैदा करने में ही उसकी कारणस्वरूप मृत्तिका समर्थ (शक्त) है। यदि उत्पत्ति से पूर्व घट की सत्ता न होती तो मृत्तिका को घटोत्पादन में समर्थ कौन कहता ? कार्य के सत् होने में अन्य युक्तियाँ भी हैं। सर्वत्र कार्य अपने कारण से अभिन्न दिखाई देता है अर्थात् कार्य अपने कारण के रूप में ही होता है। जैसे—घट

मृत्तिकास्वरूप ही है, उससे भिन्न नहीं है। यदि घट को मृत्तिका से भिन्न कहें तो उसे मृत्तिका की विशेष अवस्था के रूप में कोई नहीं समझ पायगा। उसी तरह मृत्तिका और घट के अभेद का साधक उनका उपादानोपादेयभाव भी होता है। भेद उन्हीं दो पदार्थों में हुआ करता है जिनका उपादानोपादेयभाव न हो। ऐसे दो भिन्न पदार्थों का ही संयोग या अप्राप्ति हुआ करती है। जैसे—घट और पट का संयोग तथा हिमाचल और विन्ध्याचल की अप्राप्ति। मृत्तिका और घट का न संयोग हो सकता है, न अप्राप्ति ही, क्योंकि वे दोनों (मृत्तिका और घट) एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। एक तर्क और भी है—जितने परिमाण का मृत्पिण्ड हो, उससे उतने ही परिमाण का घट पैदा होता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि घट, अपनी कारणभूत मृत्तिका से भिन्न नहीं है। कदाचित् इस पर यह कह सकते हैं—क्रियाभेद, निरोधभेद, बुद्धिभेद, व्यपदेशभेद, अर्थक्रियाव्यवस्थाभेद के कारण घट को मृत्तिका से भिन्न कहा जा सकता है। उनमें प्रथम भेद उत्पत्तिरूप क्रिया से ही देखिये—घटः उत्पद्यते = घट उत्पन्न होता है, यही लोग बोला करते हैं। मृत्तिका पैदा होती है, ऐसा कोई नहीं कहता। उसी प्रकार प्रध्वंसात्मक निरोध भी दोनों का भिन्न ही है। घट का प्रध्वंस होने पर मृत्तिका का प्रध्वंस हुआ यह कोई नहीं कहता। उसी तरह यह पट, यह मृत्तिका इस प्रकार बुद्धिभेद भी प्रत्यक्ष है। उसी प्रकार व्यपदेश (व्यवहार) भेद, जैसे—मृदि घटः = मृत्तिका में घट ऐसा आधाराधेयभाव का भिन्न व्यवहार होता है। उसी प्रकार अर्थक्रिया और व्यवस्था का भेद भी देखा जाता है, जैसे—घट से जल लाया जाता है, मृत्तिका से नहीं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कारणों (हेतुओं) के द्वारा कार्य को कारणात्मक (कारणस्वरूप) अर्थात् कार्य-कारण का अभेद नहीं कहा जा सकता।

किन्तु सांख्यवादी इसका समाधान यह देते हैं :—उपर्युक्त हेतुओं से कार्य-कारण का वास्तविक भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि एक ही वस्तु के तत्तद्विशेष-रूपों के होनेवाले आविर्भाव-तिरोभावों के कारण उनके भेदों का विरोध परिहार किया जा सकता है। जैसे कछुए के हाथ-पैर उसके शरीर से बाहर निकल पाते हैं और पुनः उसके शरीर में ही छिप जाते हैं। लेकिन इतने मात्र से कोई यह नहीं कहता कि कछुए के अंगों की उत्पत्ति हुई या विनाश हुआ। उसी तरह मृत्तिका या सुवर्ण से घट, मुकुटादि पैदा होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि मृत्तिका और सुवर्ण में घट, मुकुटादि विद्यमान हैं, उन्हीं का उनसे आविर्भाव, तिरोभाव होता रहता है, उन्हीं आविर्भाव-तिरोभावों को जनसाधारण लोग उत्पत्ति, विनाश शब्द से कहा करते हैं। यह क्रियाभेद और निरोधभेद की व्यवस्था हो गई। उसी प्रकार बुद्धिभेद की भी व्यवस्था की जा सकती है। जबतक मृत्तिका, घट के रूप में प्राप्त नहीं हुई तबतक उस मृत्तिका में सबको मृत्तिका बुद्धि ही रहती है, अर्थात् उस अवस्था में सभी लोग उसे मृत्तिका ही कहते हैं और वही मृत्तिका जब घट का रूप प्राप्त कर लेती

है तब उसमें सबको घट बुद्धि हो जाती है, अर्थात् उसे लोग घट कहने लगते हैं। इस रीति से यह बुद्धिभेद की व्यवस्था सम्पन्न हुई। अब 'मृत्तिकायां घटः'=मृत्तिका में घट, इस आधाराधेयभाव सम्बन्ध के कारण जो भेदज्ञान होता है, उसकी उपपत्ति भी—'अरण्ये तिलकाः—वन में तिलकवृक्ष की तरह हो सकती है। क्योंकि तिलक-संज्ञक वृक्षों का समूह ही तो वन (अरण्य का अभेद रहने पर भी लक्षणया वहाँ आधाराधेयभाव की कल्पना की जाती है। उसी प्रकार अर्थक्रिया की व्यवस्था के भेद से प्रतीयमान विरोध का भी परिहार किया जा सकता है। एक ही वस्तु की विभिन्नप्रयोजन साधकता समस्तव्यस्त रूप से देखी जाती है। घटरूप से समस्त हुए मृत्परमाणु जल के आहरण में समर्थ रहते हैं, और वे ही जब व्यस्त (पृथक्-पृथक्) हो जाते हैं तब जल के आहरण में समर्थ नहीं रहते। इसी को श्री वाचस्पति मिश्र ने विष्टि (भृत्य) का उदाहरण देकर समझाया है। पृथक्-पृथक् हुए भृत्य मार्ग-प्रदर्शनरूप अर्थकिया को कर पाते हैं, पालकी को वहन करने की अर्थक्रिया को नहीं कर पाते, लेकिन वे ही भृत्य जब अपना समूह बना लेते हैं तब वे पालकी को वहन करने की अर्थक्रिया को भी कर लेते हैं। इस रीति से अर्थक्रियाव्यवस्थाभेद की भी उपपत्ति हो जाने से कार्य-कारण का भेद सिद्ध नहीं हो पाता। अर्थात् कार्य-कारण का अभेद ही स्वीकार करना चाहिये।

इस पर असत्कार्यवादी नैयायिक यदि सत्कार्यवादी सांख्याचार्य से कहता है कि अगर 'कारणव्यापार के पूर्व भी उसमें विद्यमान (सत्) कार्य को वह (कारण) अपने व्यापार के द्वारा प्रकट करता है' अर्थात् कारण में सूक्ष्मरूप से विद्यमान कार्य का ही आविर्भाव होता है, नवीन कुछ नहीं। तो हम (नैयायिक) आपसे पूछते हैं कि क्या यह आविर्भाव, कारणव्यापार के पूर्व है या नहीं? यदि है, ऐसा कहते हैं, तो कारण व्यापार से पुनः क्या किया जाता है? क्योंकि आविर्भाव तो पूर्व से ही है। तब कारण का व्यापार करना व्यर्थ ही है। अब दूसरा पक्ष लें, अर्थात् कारण के पूर्व आविर्भाव नहीं है, कहें तो 'असत् की उत्पत्ति होती है' इस हमारे सिद्धान्त को आपने मान लिया, यही कहना होगा। यदि आविर्भाव का ही अन्य आविर्भाव होता है, यह कल्पना करें तो अनवस्था होने लगेगी। ऐसी परिस्थिति में आपका (संख्याचार्यों का) सत्कार्यवाद कैसे सिद्ध हो सकता है? अभिप्राय यह है कि नैयायिकों ने सांख्य के सत्कार्यवाद पर—कारणव्यापार की व्यर्थता, स्वसिद्धान्त भङ्ग और अनवस्था—तीन दोष दिये।

तब सत्कार्यवादी सांख्याचार्य, समाधान इस प्रकार करते हैं—परदोषोद्घाटन में ही चतुर नैयायिक अपने दोषों को नहीं देख पाते कैसा आश्चर्य है। अरे! जो अनुपपत्ति[1] आपने हमारे सत्कार्यवाद पर दी है, वही (अनुपपत्ति) आपके असत्कार्य

१. अथ इयम् असतः कार्यस्य उत्पत्तिः कारणात् पूर्वमस्ति न वा? अस्ति चेत् किं कारणेन। नास्ति चेत् तस्या अपि उत्पत्त्यन्तरं कल्पनीयमित्यनवस्था।

वाद (उत्पत्तिवाद) पर भी है, जिसका परिहार आप भी नहीं कर सकते अतः उभय-पक्ष में दोष के तुल्य रहने पर एक पक्ष पर ही दोष का आक्रोश करते रहना नितान्त अनुचित है, ऐसा भट्टपाद[1] कहते हैं। उस पर नैयायिक यदि कहे कि घट की उत्पत्ति तो घटस्वरूप ही है, घट के अतिरिक्त नहीं। तब 'घटः उत्पद्यते'=घट उत्पन्न होता है—का अर्थ 'उत्पत्ति उत्पन्न होती है' होगा, और 'घटो विनश्यति'=घट नष्ट होता है—का अर्थ 'उत्पत्ति नष्ट होती है—समझना होगा। इस प्रकार एक से एक अधिक असम्बद्ध अर्थ समझने पड़ेंगे। इसलिये विद्यमान (सत्) घट की ही अभिव्यक्ति के लिये मृत्तिकादि कारण की अपेक्षा की जाती है, यही कहना उचित है यह हम सांख्यवादियों का कहना है।

गुणों का स्वरूप और उनका कार्य

प्रधान, प्रकृति, अव्यक्त ये सब पर्याय शब्द हैं। यह 'प्रधान' किसी अन्य से पैदा न होने के कारण 'अहेतुमत्' कहलाता है। वह नित्य, क्रियाशून्य, एक, त्रिगुणात्मक, सभी परिणामसमुदाय को व्याप्त किये रहता है। सत्त्व, रजस्, तमस् नामके वे तीन गुण हैं। सत्त्वगुण सुखस्वरूप, प्रकाशक, और लघु होता है। रजोगुण दुःखस्वरूप, प्रवर्तक और चल होता है। तमोगुण विषादस्वरूप, आवरक और गुरु होता है। इन गुणों के चार व्यापार होते हैं—१. एक दूसरे का परस्पर अभिभव करते हैं, २. एक दूसरे को परस्पर आश्रय लेते हैं, ३. एक दूसरे को परस्पर पैदा करते हैं, ४. एक दूसरे को परस्पर अपना जोड़ीदार बना लेते हैं। इस प्रकार इन चार व्यापारों को करते हुए संसार का कार्य चलाते रहते हैं। कभी सत्त्वगुण रजस्तम का अभिनव कर देता है, कभी रजोगुण, सत्त्वतमोगुण का अभिभव कर देता है, कभी तमोगुण-सत्त्व-रजोगुण का अभिभव कर देता है। उक्त तीनों गुणों में स्वतन्त्ररूप से परिणमनशक्ति नहीं होती, अर्थात् प्रत्येक गुण परिणत होने में स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु कोई भी एक गुण अपने अन्य दो गुणों के आश्रय से ही परिणत होता है, और कहीं पर भी कोई अकेला एक गुण उपलब्ध नहीं होता, बल्कि सभी तीनों सम्मिलितरूप में ही उपलब्ध होते हैं। ये तीनों गुण परस्पर विरुद्ध स्वभाव के होते हुए भी अपना कार्य करने में उसी तरह समर्थ हैं जैसे आग, बत्ती, तेल प्रकाशनकार्य के करने में समर्थ रहते हैं। गुणों का कार्य तो पौरुषेय भोगापवर्ग सम्पादन ही है।

यहाँ एक शंका की जा सकती है कि उक्त तीनों गुणों के प्रातिस्विक (अपने-अपने व्यक्तिगत) स्वभाव सुख, दुःख, विषाद आदि क्यों माने जाँय ? उन्हें जाति, काल, अवस्था आदि के कारण सुख-दुःखादि के हेतु क्यों न कहा जाय ? क्योंकि सभी पदार्थ (वस्तुएं, सुख-दुःख-मोहात्मक होने से तीन प्रकार के हुआ करते हैं।

१. तस्माद् यत्रोभयोर्दोषः परिहारोऽपि वा समः।
नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥ [श्लो० वा० २५२]

भामतीकार ने भी इसका समर्थन किया है। वे कहते हैं[1]—'यदि बाह्य पदार्थों का स्वभाव (स्वरूप) ही सुख-दुःखादि हों तो हेमन्त में भी चन्दन को सुखदायक होना चाहिये था, क्योंकि जो चन्दन है वह कभी अचन्दन नहीं हो सकता। उसी तरह ग्रीष्म में कुङ्कुमलेप सुखकारक होना चाहिये था, क्योंकि जो कुङ्कुम है वह कभी अकुङ्कुम नहीं हो सकता। उसी प्रकार कण्टक (काँटे) क्रमेलक (ऊँट) की तरह मानवादि प्राणियों को भी सुखदायक होने चाहिये थे। पदार्थ का स्वरूप सभी के लिये एक-सा रहता है, अतः यह तो कह नहीं सकते कि वे (काँटे) किसी के लिए काँटे हैं और किसी के लिये नहीं हैं। इसलिए चन्दन, कुङ्कुम, काँटे आदि सभी पदार्थों का स्वभाव सुख-दुःखादि न होकर जाति, काल, अवस्थादि के कारण वे पदार्थ सुख-दुःखादिप्रद हुआ करते हैं।' इसका समाधान **सांख्यवादी** यह देते हैं—सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं, सुख-दुःख-मोह उनका स्वभाव (स्वरूप, धर्म) है, तथापि उनका वह स्वरूप अचानक प्रकट नहीं हुआ करता, जो सबको समानरूप से अनुभव में आ जाय। वह तो किसी निमित्त को पाकर ही प्रकट होता है। सुखस्वरूप के प्रकट होने में धर्म की अपेक्षा रखने वाला सुखात्मक सत्त्व ही निमित्त है। दुःखस्वरूप के प्रकट होने में अधर्म की अपेक्षा रखने—वाला दुःखात्मक रजोगुण ही निमित्त है। मोह-स्वरूप के प्रकट होने में अधर्म की अपेक्षा रखनेवाला मोहात्मक तमोगुण ही निमित्त है। श्रीवाचस्पति मिश्र ने तत्त्वकौमुदी[2] में उदाहरण के द्वारा उपर्युक्त अभिप्राय को अच्छी तरह स्पष्ट किया है।

जिस प्रकार यच्च यावत् व्यक्त पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं, उसी प्रकार उन समस्त व्यक्त पदार्थों की कारणभूत प्रकृति भी—जिसे अव्यक्त कहते हैं—त्रिगुणात्मिका है। गुणों की साम्यावस्था ही उसका स्वरूप है, और गुणों की विषमावस्था में सृष्टि (सर्ग) होती है। अर्थात् गुणों की साम्यावस्था रहने पर प्रलय और विषमावस्था रहने पर सर्ग हुआ करता है। गुणों का परिणमन (परिणाम) उनकी साम्यावस्था में भी होता रहता है, क्योंकि परिणत होते रहना (परिणाम) तो गुणों का स्वभाव है। विशेष इतना ही है कि साम्यावस्था में सदृश परिणाम अर्थात् सत्त्व का सत्त्वरूप में, रजस् का रजोरूप में और तमस् का तमोरूप में होता रहता है, वह सदृशपरिणाम तब तक चलता रहता है, जबतक पुरुष का सान्निध्य प्राप्त न हो, और पुरुष का सान्निध्य होने पर तो गुणों में वैषम्य हो जाता है। गुणों के एक (समान) रूप रहने पर भी उक्त वैषम्य के कारण नाना रूप का यह जगत् उत्पन्न होता है। जैसे जल का अपना एक ही रूप है लेकिन नरियल, तालीफल, तिन्दुक, आमलक आदि निमित्त के संसर्ग से भिन्न-भिन्न रस वाले अनेक रूप हो जाते हैं।

यह विकार (कार्य) स्वरूप समस्त जगत् पुरुष के भोगापवर्ग के लिये ही है।

---

१. ब्र० सू० भाष्य की भामती—[२।२।१]

२. 'एकैव स्त्री रूपयौवनकुलसंपन्ना''''''सर्वे भावा व्याख्याताः ॥ [कारि० १३]

पुरुष-विचार

अब पुरुष के सम्बन्ध में विचार करें। संसार में जो वस्तुएं अनेक विशेषताओं से युक्त होती हैं, वे विशेषताएँ किसी दूसरे की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये होती हैं, अतः वे वस्तुएं भी दूसरे के लिये ही समझी जाती हैं, जैसे—शय्या, आसन आदि। क्योंकि शय्या आदि स्वयं अपने लिये नहीं हुआ करतीं। उसी प्रकार प्रधान, महत् आदि पदार्थों की (वस्तुएं) भी पदार्थ समझना चाहिये। यदि इन त्रिगुणात्मक पदार्थों को किसी अन्य त्रिगुणात्मक पदार्थ के लिये समझा जाय तो अनवस्था होने लगेगी। इसलिये त्रिगुणात्मक पदार्थ से भिन्न किसी अत्रिगुणात्मक पदार्थ के लिये ही उन त्रिगुणात्मक वस्तुओं को समझना चाहिये। वह अत्रिगुणात्मक पदार्थ अन्य कोई न होकर 'पुरुष' ही है। जैसे—सुख-दुःख-मोहस्वरूप रथ, यन्त्र आदि जितने हैं, वे सब किसी न किसी अन्य से अधिष्ठित ही देखे जाते हैं। अतः सुखादिस्वरूप बुद्धि आदि तत्त्व भी अत्रिगुणात्मक किसी अधिष्ठाता से अधिष्ठित होने चाहिये। सुख, दुःख और मोह तो भोग्य हुआ करते हैं। किसी भोक्ता के बिना भोग्य की सार्थकता नहीं बन पाती। स्वयं ही भोग्य बने और स्वयं ही भोक्ता बने यह हो नहीं सकता। अतः अत्रिगुणात्मक भोक्ता पुरुष अवश्य स्वीकार करना होगा। पुरुष के अस्तित्व में एक युक्ति और भी है—दुःखमय—प्रशमनरूप कैवल्य (मोक्ष) के निमित्त शास्त्रों की प्रवृत्ति से भी पुरुष का अस्तित्व समझ में आता है। स्वभाव (स्वरूप) विरोध कारण सुख-दुःख-मोहात्मक बुद्धयादिकों के कैवल्यसम्पादनार्थ शास्त्रों की प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती। इस पुरुष का अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है।

पुरुष की अनेकता—प्रत्येक शरीर में एक-एक पुरुष होने के कारण पुरुष अनेक हैं, यह सांख्य का सिद्धान्त है। उसी को सांख्यकारिकाकार ने इस प्रकार बताया है[1]—संसार में प्रतिदिन देखते हैं कि एक पैदा होता है, दूसरा मरता है, कोई अन्धा है, तो कोई बहरा है; एक चक्षुष्मान् है, दूसरा श्रोत्रवान् है, यह सब तभी संभव हो सकता है जब प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न पुरुष हों। यदि सभी शरीरों में एक ही पुरुष होता तो एक के जीने या मरने पर सभी को जीना या मरना चाहिये था। एक के बहरे या काने होने पर सभी को बहरा, काना होना चाहिये था, लेकिन ऐसा देखने में आता नहीं। अतः वेदान्तियों को कड़वी घूंट लेकर पुरुषबहुत्ववाद को स्वीकार कर ही लेना चाहिये।

इस पर वेदान्ती कह सकता है कि जैसे आकाश एक रहता हुआ भी घट, मठ आदि भिन्न-भिन्न उपाधियों के कारण वह (आकाश) अनेक-सा लगता है, वैसे ही पुरुष एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न देह के कारण यह अनेक सा ज्ञात होता है। और उपाधियों के भेद से ही जन्म-मरणादि की व्यवस्था भी बन जायगी। अतः पुरुष को एक मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

१. सां० कारि० १८

उस पर सांख्यवादी यह समाधान देता है—देह को आप उपाधि बता रहे हैं, अवयवों को क्यों नही बताते ? क्या देह के उपाधि होने में और अवयवों के उपाधि न होने में कोई प्रमाण है ? न कोई प्रमाण है और न कोई युक्ति ही है। ऐसी स्थिति में हस्तादि अवयवों के उपचय (वृद्धि) एवं अपचय (विनाश) होने पर भी जन्म, मरण की व्यवस्था आपके कथनानुसार करनी पड़ेगी। लेकिन ऐसा देखा नहीं जाता। अतः प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् ही पुरुष समझने चाहिये।

सब शरीरों में यदि एक ही पुरुष माना जाय तो, एक शरीर के हिलने-डुलने पर सभी शरीरों को एकसाथ हिलना-डुलना चाहिये, लेकिन ऐसा होता देखा नहीं है। इसलिये, एक पुरुष न मानकर अनेक पुरुष मानना ही उचित होगा। भिन्न विभिन्न गुणों से युक्त प्राणि पैदा हुए देखे जाते हैं। कुछ देवता हैं, तो कुछ असुर हैं, कुछ मानव हैं। देवता सत्त्वबहुल होते हैं, असुर तमोबहुल होते हैं, मनुष्य रजोबहुल होते हैं। यह जो विलक्षणता देखने में आ रही है, वह एक आत्मा (पुरुष) मानने पर उपपन्न नहीं हो सकतीं। पुरुष को एक मानने पर संपूर्ण जगत् एक ही प्रकार का होने लगेगा।

प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् रहनेवाला पुरुष अपनी अत्रिगुणात्मकता के कारण समस्त त्रिगुणात्मक जगत् का साक्षी (द्रष्टा) कहा जाता है। उसी प्रकार सुख-दुःख-मोहात्मक गुणत्रय से रहित होने के कारण उसे केवल कहते हैं, अकर्ता, और मध्यस्थ भी कहते हैं। वह पुरुष तो उदासीन है। वास्तव में गुण ही कर्ता, धर्ता होते हैं। तथापि वह उदासीन पुरुष ही कर्ता-सा भासित होता है।

उदासीन पुरुष कर्ता न होने पर भी कर्त्ता की तरह भ्रम से भासित होता है। भ्रम होने का कारण चेतन के साथ प्रधान का संयोग है। चेतन से संयुक्त हुआ प्रधान चेतन की तरह चेष्टा करने लगता है। अचेतन की वह चेष्टा भ्रमवश चेतन की ही समझी जाती है।

चेतन का प्रधान के साथ संयोग क्यों होता है ? इस प्रश्न का समाधान यह है—पंगु और अंधे के समान भोग्यरूप प्रधान, भोक्ता पुरुष की अपेक्षा रखता है। 'पुरुष और प्रकृति के द्वारा परस्पर अपेक्षा रखना' ही संयोग है, उसके होने में एक कारण है भोग। जब प्रधान के सान्निध्य से उसके त्रिविध दुःखों को पुरुष (चेतन) अपने में मानने लगता है, तब वह कैवल्य की इच्छा करता है। कैवल्य जो है वह प्रकृति-पुरुष का विवेक ही है। वह विवेक प्रकृति के विना संभव नहीं। अतः पुरुष के कैवल्य को बताने के लिये भी प्रधान का पुरुष के साथ संयोग होता है, अर्थात् पुरुष का कैवल्य भी उन दोनों के संयोग का दूसरा कारण है। वहाँ पंगु के समान निष्क्रिय पुरुष है, और अन्धे के समान अचेतन प्रधान है।

यह प्रकृति (प्रधान) नटी की तरह अपने को प्रकाशित कर कृतकार्य होती हुई अपने व्यापार से निवृत्त हो जाती है। और पुरुष, कैवल्य को पा लेता है। पर-

पुरुष के द्वारा देखी गई कुलीन परवधू पुनः जैसे परपुरुष के दृष्टिगोचर अपने को नहीं होने देती, वैसे ही विवेक के द्वारा देखी गई प्रकृति भी पुनः पुरुष के संसर्ग को प्राप्त नहीं होती। तात्पर्य यह है—असंग, अकर्ता पुरुष में बन्ध, मोक्ष का जो व्यवहार किया जाता है, वह प्रकृति के बन्ध, मोक्ष का ही भ्रमवश उसमें किया जाता है। किन्तु सांख्यशस्त्रीय तत्त्वों के अभ्यास से पुरुष को बन्ध-मोक्ष, की भ्रान्ति नहीं हो पाती।

सांख्यदर्शन का सदसत्ख्यातिवाद।

बाह्य जगत् का अनुभव बुद्धिवृत्ति के द्वारा प्राप्त होता है यह सांख्य का सिद्धान्त है, लेकिन विज्ञानवादी बौद्धों के सिद्धान्त से यह सर्वथा भिन्न है। विज्ञानवादी को तो बाह्यार्थ की सत्ता ही स्वीकार नहीं है, किन्तु सांख्यवादी को बाह्यार्थ की सत्ता भी ज्ञान के समान ही स्वीकार है। सांख्य सिद्धान्त में वही ज्ञान सत्य है; जिसमें बुद्धयारूढ पदार्थ का रूप और बाह्य जगत् में विद्यमान पदार्थ का रूप दोनों एक आकार के हो जाते हैं। भ्रम के संबन्ध में सांख्यवादी का अपना एक विलक्षण दृष्टिकोण है। सांख्यवादी का कहना है कि नैयायिक, वेदान्ती, एवं माध्यमिक आदि दार्शनिकों का ख्यातिवाद त्रुटित होने से उपादेय कोटि में नहीं हो पाता[1]। सांख्य का कहना है कि शुक्ति को देखकर जब रजत प्रतीत होता है अर्थात् 'इदं रजतम्' यह रजत है—तब उस ज्ञान में 'इदम्' अंश का ज्ञान तो सत् है और 'रजत' अंश का ज्ञान असत् रहता है। 'इदम्' अंश का ज्ञान सत् (विद्यमान) इसलिये है कि उस (इदम्) ज्ञान का आश्रय देखने वाले चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है, और 'रजत' ज्ञान का आश्रय, देखने वाले के चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, इसलिये वह असत् (अविद्यमान) है और उसके असत् होने में दूसरा कारण यह भी है कि 'नेदं रजतम्' यह रजत नहीं है इस उत्तरकालीन बाधक ज्ञान से उस 'शुक्तौ इदं रजतम्' का बाध हो जाता है, इसलिए भी 'इदं रजतम्' यह ज्ञान 'असत्' है। तात्पर्य यह है कि सांख्य सिद्धान्त में 'भ्रमज्ञान' सत्–असत् उभयविध पदार्थों पर अवलम्बित रहता है। इस प्रकार सदसत्ख्यातिवाद का निरूपण सांख्यसूत्र के वृत्तिकार अनुरुद्ध ने किया है[2]।

उसी बात को विज्ञानभिक्षु प्रकारान्तर से बताते हैं। उनका कहना है कि सभी पदार्थ नित्य है, अतः उनका स्वरूप से तो बाध हो नहीं सकता, लेकिन चैतन्य में जब उनका आरोप किया जाता है तब संसर्गतः बाध होता है[3]। जैसे लौहित्य बिम्बरूप से सत् और स्फटिकगत प्रतिबिम्बरूप से असत् है। अथवा सराफा बाजार में दूकान

---

१. नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात्', 'नानिर्वचनीयस्य—तदभावात्,' 'न सतो बाधदर्शनात्', 'नासतः ख्यानं नृश्रृङ्गवत्'।—[सां० दर्श० सू० अ० १।५२–५५]

२. सां० सू० अनि० ५।५६

३. 'स्वरूपेणाऽबाधः सर्ववस्तूनां नित्यत्वात्। संसर्गतस्तु बाधः सर्ववस्तूनां चैतन्येऽस्ति।' [विज्ञा० भि० ५।५६]

पर रखा रजत सद्रूप से विद्यमान है, किन्तु शुक्ति में आरोपित रजत असत् है। उसी तरह यह जगत्, स्वरूप से सत् है, किन्तु चैतन्य में अध्यस्त होने पर असत् है। सांख्यों का यही सदसत् ख्यातिवाद है।

सांख्यीय तत्त्व विचार

दुःखयोगात्मकबन्धनाश के लिये पुरुषबुद्धिसंयोगनाश की अपेक्षा होती है, पुरुषबुद्धि—संयोगनाश के लिये बुद्धि—पुरुष के अविवेकनाश की अपेक्षा होती है, बुद्धि—पुरुष के अविवेकनाश के लिये—बुद्धि पुरुष के विवेक ज्ञान की अपेक्षा होती है। बुद्धि पुरुष के विवेकज्ञान को ही सत्त्व-पुरुषाऽन्यताज्ञान भी कहते हैं। सत्त्वपुरुषाऽन्यताज्ञान के लिये शास्त्रप्रतिपाद्य तत्त्वज्ञान की अपेक्षा होती है, क्योंकि ज्ञान के प्रति विषय कारण होते हैं। वे विषय (तत्त्व) कौन कौन से और कितने हैं? यह जिज्ञासा जागती हैं, उसे शान्त करने के लिए तत्त्वों का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

सांख्यदर्शन में कुल पच्चीस पदार्थ बताये गये हैं। वे पच्चीस पदार्थ (तत्त्व) ये हैं—'चेतन[1], प्रकृति[2], महत्तत्त्व[3], अहंकार[4], मन[5], श्रोत्र[6], त्वक्[7], चक्षु[8], रसना[9]; घ्राण[10] वाक्[11]; पाणि[12], पाद[13], पायु[14], उपस्थ[15], शब्द[16], स्पर्श[17], रूप[18], रस[19]; गन्ध[20], पृथ्वी[21], जल[22], तेज[23], वायु[24], आकाश[25], । ये सब, द्रव्यशब्द से कहे जाते हैं।

इन्हीं पदार्थों में वैशेषिकों के—'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव'—सात पदार्थों का अन्तर्भाव हो जाता है। वैशेषिक सम्मत जो कतिपय—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, आत्मा और मन—पदार्थ हैं, वे ठीक उसी प्रकार सांख्य में भी हैं। 'काल' का 'क्षणरूप' उपाधि में अन्तर्भाव होता है। 'दिशा' का प्रदेश में अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये 'काल' और 'दिक्' कोई पृथक् तत्त्व नहीं है। शब्द, स्पर्श, रूप-रस, गन्ध नाम के जो 'गुण' हैं, वे तो सांख्य के तन्मात्रात्मक सूक्ष्म द्रव्य ही हैं। पृथिव्यादि पंचभूत जो हैं, वे सांख्य की 'स्थूलतन्मात्रा अर्थात् पञ्चमहाभूत' हैं, जो सूक्ष्मतन्मात्रा के कार्य कहलाते हैं। संख्या तो द्रव्यवृत्ति होने से अपने अधिकरण के अन्तर्गत ही है। 'परिमाण' 'अणु' और 'महत्' के भेद से दो प्रकार का है, उसी से ह्रस्व और दीर्घ का काम हो जाता है। 'अणु' का अर्थ है सूक्ष्मपरिमाण, वह सूक्ष्मतत्त्वों में और तिरोभूत पदार्थों में रहता है। अत वह तत्तत् अधिकरणों के अन्तर्गत हो जाता है। उसी तरह 'महत्परिमाण' पञ्चभूतों में स्थित रहने से उन्हीं में अन्तर्भूत है। महत्परिमाण की स्थिति पांचों भूतों में रहने से उन्हीं में अन्तर्भूत है 'इदमस्मात् पृथक्' इस प्रतीति का विषय जो 'पृथक्त्व' है, उसका निर्वाह तो 'इदमेतद् भिन्नम्' प्रतीति से ही हो जाता है। अतः 'पृथक्त्व' का 'भेद' में अन्तर्भाव हो जाता है। 'भेद' का अर्थ है 'अन्योऽन्याभाव', वह अधिकरणस्वरूप होने से, 'पृथक्त्व' को तत्त्वान्तर के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

'संयोग'—यह एक सम्बन्ध है, चौबीस तत्त्वों पर रहने वाला धर्म है, अत तत्तत् अधिकरण के अन्तर्भूत है।

'विभाग'—यह संयोगाऽभावरूप है, अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। संयोगाभावः अधिकरणात्मक होने से वह भी चतुर्विंशति तत्त्वों के अन्तर्गत ही है।

परत्वाऽपरत्व—यह श्रेष्ठत्व—कनिष्ठत्वरूप है या अधिकत्व—न्यूनत्वरूप है। वे भी अपने अपने अधिकरण के अन्तर्गत ही हैं।

गुरुत्व—पृथ्वी, जल के अन्तर्भूत है।

द्रवत्व—पृथ्वी, जल, तेज़ के अन्तर्भूत है।

स्नेह—जल के अन्तर्भूत है।

बुद्धि—किसी के अन्तर्गत नहीं है अपितु पृथक् तत्त्व है।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार—ये सब बुद्धिधर्म हैं, अतः बुद्धि के अन्तर्गत हैं। कार्य-कारण का तादात्म्य रहने से सभी का अपने अपने कारण में अन्तर्भाव रहता है।

कर्म—प्रादुर्भूत या तिरोभूत अनेक प्रकार के होते हैं, जो अपने-अपने चतुर्विंशति-तत्त्वात्मक अधिकरणों के अन्तर्गत हैं।

सामान्य—यह व्यावर्तक धर्म है। जैसे पृथ्वीत्व, मनस्त्व आदि। वह भी कार्यात्मक होने से अपने अधिकरण के अन्तर्गत ही है।

विशेष—सांख्य ने इसे स्वीकार ही नहीं किया, क्योंकि चेतनों से प्रकृत्यादि अपने अपने धर्म (सूक्ष्मता) के द्वारा ही व्यावृत्त रहते हैं अतः उनकी व्यावृत्ति के लिये 'विशेष' तत्त्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समवाय—सांख्य ने इसे भी स्वीकार नहीं किया। क्योंकि संयोग और तादात्म्य से ही निर्वाह हो जाता है। जैसे—कार्यकारणभाव को प्राप्त न होने वाले पदार्थों का 'संयोग' और कार्य-कारणभाव को प्राप्त होने वाले पदार्थों का **'तादात्म्य'** रहता है।

अभाव—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योऽन्याभाव, अत्यन्ताभाव के भेद से चार प्रकार का रहने पर भी सांख्य ने ध्वंस और प्रागभाव को नहीं माना है, और अत्यन्ताभाव एवं अन्योऽन्याभाव को मानने पर भी वे दोनों अपने अधिकरण के ही अन्तर्भूत होने से अपने अधिकरणस्वरूप ही होते हैं। अतः उसे तत्त्वान्तर नहीं माना जाता।

चेतन—जीव और ईश्वर के भेद से दो प्रकार का है। उनमें 'जीव' पुरुष है, जो निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव का है, उसमें यद्यपि धर्मों का भास होता भी है तथापि वे सब प्रकृतिधर्माऽभावरूप ही हैं, इसलिये वे अधिकरण रूप ही हैं, अर्थात् चेतनात्मक हैं। 'परमेश्वर' साकार, सर्ववित्, नित्यज्ञान, ऐश्वर्यशाली है। ये पच्चीस पदार्थ सांख्य के व्यावहारिक हैं।

सांख्यवादियों द्वारा स्फोट निराकरण

वैयाकरणों का कहना है कि अर्थबोधन के लिये जब हम शब्द का उच्चारण करते हैं, तब उस शब्द के अवयव रूप में अनेक वर्ण होते हैं। उन वर्णों का उच्चारण एक साथ तो हो नहीं पाता, किन्तु क्रमशः होता है। एक शब्द बोलने के लिये जब हम उसके अवयव (घटक) रूप वर्णों का क्रम से अर्थात् एक वर्ण के पश्चात् दूसरे वर्ण का उच्चारण करते हैं तब प्रथम वर्ण नष्ट हो चुका होता है। वर्णों का एक साथ (युगपत्) उच्चारण हुए बिना उनका समूह होना असंभव है, और जब तक वर्णों का समूह नहीं बनेगा तब तक शब्द नहीं हो पायगा, और जब शब्द नहीं हो पायगा तब अर्थ प्रतीति किससे होगी? प्रत्येक वर्ण से भी अर्थ प्रतीति हो नहीं सकती? यह एक जटिल समस्या है। उसके समाधानार्थ वैयाकरणों ने निरवयव, एक पदरूप स्फोट (शब्द) की कल्पना की है। शब्द के अवयवभूत वर्ण उसी स्फोट शब्द को अभिव्यक्त करते हैं, और उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। उसे स्फोट इसलिये कहते हैं कि उससे अर्थ स्फुट (प्रकट) हो पाता है। वैयाकरणों ने स्फोट के आठ प्रकार बताये हैं—१ वर्णस्फोट, २ पदस्फोट, ३ वाक्यस्फोट, ४ अखण्डपदस्फोट, ५ अखण्डवाक्यस्फोट, ६ वर्णजातिस्फोट, ७ पदजातिस्फोट, और वाक्यजातिस्फोट। इनमें वाक्यस्फोट को ही वैयाकरणों ने वास्तविक कहा है, तदितरों को अवास्तविक[1]। इनमें वर्णस्फोट से लेकर अखण्ड वाक्यस्फोट तक पांच व्यक्तिस्फोट है, अवशिष्ट तीन जातिस्फोट हैं।

किन्तु सांख्यवादी शब्द को स्फोटरूप नहीं मानता। वह कहता है कि 'घट' या 'पट आदि किसी शब्द के उच्चारण करने पर जैसे 'घट' में घंकार, अकार, टकार, अकार की ही प्रतीति होती है। अखण्डपदात्मक शब्द का तो किसी को भी अनुभव नहीं होता। अतः जो बात अनुभव में आती है उसे ही स्वीकार करना उचित है। अनुभव में न आने वाले प्रमाणरहित स्फोटरूप शब्द की कल्पना करना उचित नहीं। क्योंकि उच्चारण किये जाने वाले वर्णों से यदि अखण्ड स्फोट की अभिव्यक्ति हो सकती है तो उनसे ही अर्थ की अभिव्यक्ति क्यों नहीं हो सकेगी? दूसरी बात यह भी है कि यदि वर्णों में अर्थबोधन की शक्ति नहीं है तो स्फोट को अभिव्यक्त करने की शक्ति कैसे हो सकती है? यदि उनमें स्फोट के अभिव्यञ्जन की शक्ति मानते हैं, तो यह शक्ति साक्षात् अर्थ को ही अभिव्यक्त क्यों न करे। अतः वैयाकरणों की स्फोट-कल्पना निरर्थक ही है।

सांख्यवादियों का 'प्रमाण' के सम्बन्ध में दृष्टिकोण

नैयायिकों ने प्रत्यक्षप्रमा, अनुमितिप्रमा, शाब्दी प्रमा का क्रमशः इन्द्रिय, लिङ्ग-ज्ञान, और पदज्ञान को कारण माना है, किन्तु—सांख्यवादियों ने इन्द्रिय, लिङ्गज्ञान, तथा पदज्ञानजन्यबुद्धिवृत्ति को क्रमशः कारण माना है अर्थात् इन्द्रिय, लिङ्गज्ञान, तथा

---

१. वैयाकरणभूषणसार।

पक्षज्ञान में परंपरया (बुद्धिवृत्ति के द्वारा) प्रमाकरणता स्वीकृत की गई है। साक्षात् नहीं। इन वृत्तिरूप प्रमाणों से जो पुरुष को ज्ञान होता है, उसे फलरूप प्रमाज्ञान अर्थात् पौरुषेयबोध कहते हैं। सांख्य-योगवादी की ज्ञानप्रक्रिया में पाँच पदार्थ माने जाते हैं; १ प्रमाण, २ प्रमाप्रमाण, ३ प्रमा, ४ प्रमाता, ५ साक्षी। बुद्धिवृत्तिरूपप्रमा का करण होने से इन्द्रियाँ प्रमाण कहलाती हैं। पौरुषेय बोधरूपप्रमा का कारण होने से 'अयं घटः' यह बुद्धिवृत्ति प्रमा-प्रमाण कही जाती है। पौरुषेय बोध; प्रमा कहा जाता है, क्योंकि वह फलस्वरूप होने से किसी का कारण नहीं है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ चेतन, प्रमा का आश्रय होने से प्रमाता कहलाता है। बुद्धिवृत्ति से उपहित बिम्ब चेतन कहा जाता है।

नैयायिक जिसे (पर्वतो वह्निमान् को) व्यवसायात्मक अनुमिति प्रमा कहते हैं, उसीको सांख्यवादी बुद्धिवृत्त्यात्मक अनुमानप्रमाण करते हैं और नैयायिक जिसे (अहं वह्निम् अनुमिनोमि को) अनुव्यवसायज्ञान कहते हैं, उसी को सांख्यवादी पौरुषेयबोधरूप अनुमिति प्रमा कहते हैं।

उसी प्रकार नैयायिक जिसे व्यवसायरूप शाब्दी प्रमा कहते हैं उसी को सांख्यवादी शब्द-प्रमाण कहते हैं और जिसे शाब्दीप्रमा को विषय करने वाला अनुव्यवसाय कहते है, उसे सांख्यवादी पौरुषेयबोधरूप शाब्दी प्रमा कहते हैं।

सांख्यवादी के मत में अभाव का स्वरूप

वैशेषिक लोग द्रव्यादि छह पदार्थों से पृथक् अभाव को सप्तम पदार्थ के रूप में मानते हैं। उनका कहना है कि 'भूतले घटो नास्ति'—भूतल पर घट नहीं है, यह कहने पर भूतल और घटाभाव में आधाराधेयभाव की प्रतीति होती है। यदि भूतलरूप अधिकरण से घटाभाव को पृथक् पदार्थ न कहा जाय तो आधाराऽऽधेय भाव की प्रतीति नहीं हो सकेगी, किन्तु होती तो है। इसलिए भूतलरूप अधिकरण से पृथक् घटाभाव अर्थात् अभाव पदार्थ को मान लेना चाहिये।

किन्तु सांख्यवादी कहता है कि अभाव तो अधिकरण-स्वरूप ही है। वह अधिकरण से पृथक् पदार्थ नहीं है। भूतल, परिणामी पदार्थ है। यह किसी समय (घट काल में) घटरूप से परिणत होता है और किसी समय (घटाभाव काल में) स्वरूप से परिणत होता है। घटकाल में घटरूप से भासमान जो भूतल, वही घटाभावकाल में भूतलरूप से भासता है। इसलिये भूतल से अतिरिक्त घटाभाव नहीं है। उसी प्रकार अन्य जितने भी अभाव हैं, वे सब अपने अपने अधिकरणस्वरूप ही हैं। अधिकरण से भिन्न होकर जो अभाव का भास होता है, वह अभेद में भेद का आरोप करने से होता है।

विजयादशमी
वि० सं० २०२८

—गजाननशास्त्री मुसलगांवकर

शास्त्ररहस्यवेत्ता पूज्यपाद आचार्यचरणों के शुभाशीर्वाद

(१)

परमहंसपरिव्राजकाचार्यः श्रीशंकरावतारः अनन्तश्रीविभूषितः स्वामी करपात्री महाराजः

पूर्वोत्तरमीमांसादिविविधशास्त्रनिष्णात काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के मीमांसा-शास्त्राध्यापक पण्डितप्रवर डॉ० श्रीगजाननशास्त्री मुसलगाँवकर द्वारा विरचित सांख्यतत्त्वकौमुदी की 'तत्त्वप्रकाशिका' हिन्दी टीका एक महत्त्वपूर्ण टीका है। इसमें सांख्यसम्बन्धी विषयों पर बहुत सुन्दर सरल तथा रोचक ढंग से प्रकाश डाला गया है। इनकी निर्मित 'वेदान्तपरिभाषा' की 'प्रकाश' हिन्दी टीका की भी 'स्थालीपुलाकन्याय' से मैंने देखा है। इनके सभी ग्रन्थ प्रौढ़पाण्डित्यपूर्ण होने के साथ-साथ सरल एवं सुबोध भी हैं। प्रस्तुत संस्करण शास्त्रीय तत्त्वजिज्ञासुओं के लिए परम उपादेय एवं संग्राह्य है।

—करपात्रस्वामी

(२)

अनन्तश्रीविभूषित-जगद्गुरुशङ्कराचार्य-काशीस्थ-ऊर्ध्वाम्नायसुमेरुपीठाधीश्वरः

स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दसरस्वती महाराजः

उपज्ञतां दर्शनराजवीथिषु श्रिता प्रपञ्चे प्रथितां चमत्कृता ।
युक्तिस्मृतिश्रौतसुराज्यमण्डिता सा सांख्यदृष्टिः कपिलप्रकाशिता ॥ १ ॥

आचार्यवर्य्या बहुधा विभक्तिभिर्बभाषिरेऽनश्वरशान्तिसन्तताम् ।
तामीश्वरः स्वल्पगभीरभूषितैः प्रासीसरत्पद्यकदम्बगुम्फनैः ॥ २ ॥

तामाटिटीके विदुषां युगन्धरो वाचस्पतिर्भूषितभारतावनिः ।
एकैव या संक्षमते विमर्दितुं प्रत्यर्थि-सार्थान् किल तत्त्वकौमुदी ॥ ३ ॥

मखेषु हिंसामनलोज्ज्वलां विना शक्ता स्वतन्त्रा प्रकृतिर्महेश्वरम् ।
सत्कार्यवादं निजरूपसंस्थितिं मुक्तिं प्रपञ्चाश्रितमूचिवान् कविः ॥ ४ ॥
श्रीमान्गजाननकविः प्रतिभाप्रभातो वाग्भिर्विभूष्य पदवीं परिनिष्ठितार्थम् ।
नीताभिरुच्छ्रिततमाभिरनुत्तमाभिर्व्याचष्ट राष्ट्रगुरुगौरवगर्विताभिः ॥ ५ ॥
अस्मै मनीषिमहते सरलैः प्रशस्तैस्तर्कान्वितैर्मधुरबन्धसुगन्धमुग्धैः ।
भाषापदैः सफलतामिव वार्षुकाग्र्यैः श्वःश्रेयस-व्रततिमाकलये भवान्याः ॥ ६ ॥
ग्रन्थोमहत्तु मुदितां जनयन् समृद्धां जागर्तिमावहतु कामपि रोचमानाम् ।
स्वस्थां स्थितिं भजतु लोकवरिष्ठपृष्ठे विश्वेश्वरो वरदहस्तममुत्र दध्यात् ॥ ७ ॥

—स्वामी महेश्वरानन्दसरस्वती

(३)

अनन्तश्रीविभूषितदण्डिस्वामी श्रीस्वरूपानन्दसरस्वती महाराजः

(आध्यात्मिक उत्थान मण्डल, भोपाल, म० प्र०)

डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगांवकर के द्वारा निर्मित सांख्यतत्त्वकौमुदी पर 'तत्त्वप्रकाशिका' नाम्नी हिन्दी व्याख्या का अवलोकन करने पर प्रसन्नता हुई। पण्डित जी ने इसमें पर्याप्त परिश्रम करके इसे जिज्ञासुजनों के लिये बोधगम्य बना दिया है। बीच-बीच में टिप्पणी का संनिवेश लेखक की अनेकों शास्त्रों में व्युत्पत्ति को सूचित करता है। सुपरिष्कृत राष्ट्रभाषा हिन्दी में सांख्यदर्शन के प्रमेयों का विशद निरूपण अन्य टीकाकारों के लिये निदर्शन बन गया है। टीका व्युत्पित्सु और व्युत्पन्न दोनों के ही लिये लाभदायक सिद्ध होगी। हम शास्त्रीजी के इस प्रयास की सराहना करते हुये उनकी इस व्याख्या के प्रचार-प्रसार के लिये अपनी शुभकामना व्यक्त करते हैं।

—स्वरूपानन्द सरस्वती

श्रीगुरुचरणानामाशीर्वचांसि

(१)

पद्मभूषण-महामहिमोपाध्याय
पण्डितराज-श्रीराजेश्वरशास्त्रिचरणाः

'साख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी' इति कौटिलियार्थशास्त्रस्थसांख्यपदस्य षष्टितन्त्रपरतया जयमङ्गलायां व्याख्यानदर्शनात् न्यायभाष्यकर्तृवात्स्यायनापरपर्याय-कौटिल्यात् प्राक् षष्टितन्त्रापरसांख्यशास्त्रस्यैव आन्वीक्षिकीस्थाने व्यवहारः आसीत् । परंतु नीतिसारटीकायामुपाध्यायनिरपेक्षायां सांख्ययोगपदयोः न्यायवैशेषिके इतिविवरणदर्शनात् "आन्वीक्षिकी-दण्डनीतिस्तर्कविद्याऽर्थशास्त्रयोः" इत्यमरकोष-दर्शनाच्च सांख्यशास्त्रस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं न्यायवैशेषिकाभ्यां गृहीतमुत्तरकाले इति स्पष्टं प्रतीयते । अतएव 'सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य' इति सांख्यकारिकादर्शनात् न्यायवैशेषिकानुसारिणी पद्धतिः सांख्यशास्त्रव्याख्या अत्यन्त-मपेक्षणीयतां गतेति "सर्वं चैतदस्माभिर्न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति नेहोक्तं विस्तरभयात्" इति दर्शनाच्चायमर्थः दृढतया सिद्ध्यति । आधुनिकसमये षड्दर्शनपारदृश्वभिः नारायणतीर्थैश्चन्द्रिकाटीकाप्रणयनेन ,पूरिता सा आकांक्षा । तथापि नव्यन्यायशैल्या संपूर्णतत्त्वकौमुदीव्याख्यानं बहोः कालादत्यन्तमपेक्षितमासीत्, यस्य पूर्तिः वंशीधरीटीकाप्रकाशनेन तत्र नव्यन्यायरीत्यनुसारिटिप्पणीनिर्माणेन च कृतां दिवङ्गतैरस्मत्सुहृद्भिः केलकरोपाह्वसीतारामशास्त्रिमहोदयैः । तथापि लोके तस्य प्रचारः स्वल्प एवासीत् । साम्प्रतम् अस्मदन्तेवासिना आयुष्मता मुसलगाँवकरोपह्व-डॉ० गजाननशास्त्रिणा हिन्दीभाषायां 'तत्त्वप्रकाशिका'ख्यं सुविस्तृतं व्याख्यानं विधाय तत्रचान्यासां टीकानामप्युपसंहारेण वंशीधरीटीकाऽर्थोऽपि सुबोधया हिन्दीव्याख्यया सह जिज्ञासूनां कृते उपन्यस्तः । मया तु सांख्यतत्त्वकौमुदीम्पिपठिषोः अस्मद्द्वितीय-पुत्रस्य श्रीविश्वेश्वरशर्मणः पठनाय दत्तोऽयं ग्रन्थः प्रत्यहं पाठ्यते च । प्रथमकारिका-पर्यन्तम्पाठः संवृत्तः । अनेन मम महत्सौकर्यं संजातम् । आशास्यते मत्सदृशानाम् अन्येषामपि सौकर्यं विधास्यति । अतः अभिनन्दनार्होऽयं यत्न आयुष्मतो मुसल-गाँवकरशास्त्रिमहोदयस्य यशस्करो भवत्विति भगवन्तम्प्रार्थये ॥ इति निवेदयति विदुषां विधेयः—

—श्रीराजेश्वरशास्त्री द्राविडः

(२)

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः श्रीहरिरामशुक्लः

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य सांख्ययोगविभागाध्यक्षः

वाराणसीस्थे हिन्दुविश्वविद्यालयीयसंस्कृतमहाविद्यालये पूर्वमीमांसाध्यापनं कुर्वाणेन आयुष्मता डॉ० श्रीगजाननशास्त्रिमुसलगांवकरमहोदयेन विरचितसांख्यतत्त्वकौमुद्या हिन्दीभाषामयीव्याख्या मया तेषु तेषु स्थानेषु अवलोकिता। विषयप्रतिपादनशैली तथा च दृष्टा यथा सामान्यानामपि सांख्यशास्त्रीये विषये प्रवेशोऽक्लेशेनैव भवितुमर्हति। अतोऽयं ग्रन्थोवर्तमाने समये जिज्ञासूनामतीवोपकारको वर्तते।

—हरिरामशुक्लः

(३)

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः श्रीपट्टाभिरामशास्त्री

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य साहित्यविभागाध्यक्षः

मीमांसाचार्येण पण्डितवरेण डॉ० श्रीगजाननशास्त्रिमुसलगांवकरमहाभागेन साङ्ख्यकारिकायास्तत्त्वकौमुद्याश्च 'तत्त्वप्रकाशिका' नाम्नी हिन्दीटीका विरचिता। कार्यमिदं स्थाने समारब्धं पण्डितवरेण। अस्य ग्रन्थस्य हिन्दीभाषया एतादृशं विवरणं केनापि न कृतम्। दर्शनेषु साङ्ख्यस्य सुमहत्स्थानम्। तस्य ज्ञानेन विना दार्शनिकं ज्ञानमपूर्णमेव पण्डितैर्मन्यते। तदनया टीकया राष्ट्रभाषामय्या साधारणैरपि दार्शनिकज्ञानसम्पिपादयिषुभिस्समीचीनं ज्ञानमवाप्तुं शक्यते। साङ्ख्यशास्त्रीयं तत्त्वं यथावदत्र टीकायां विवृतं श्रीगजाननशास्त्रिणेति प्रसीदति मे मनः। टीकेयमसाधारणं रूपमाबिभर्ति। टीकाध्ययनेन टीकाकारस्य पाण्डित्यं परिश्रमश्च स्पष्टमवगम्यते। एतादृशानि कार्याणि बहूनि कुर्वन्नयं पण्डितवरः पण्डितसमाजे महतीं प्रतिष्ठां लभतामिति भगवन्तमुमारमणमभ्यर्थये।

—पट्टाभिरामशास्त्री

(४)

शास्त्ररत्नाकरः श्रीसुब्रह्मण्यशास्त्री

मद्रासविश्वविद्यालयस्य भूतपूर्वप्राध्यापकः

डॉ० श्रीगजाननशास्त्रिमुसलगांवकरमहोदयैः रचिता सांख्यतत्त्वकौमुदीव्याख्या तत्त्वप्रकाशिकानाम्नी मयाऽवलोकिता। इयं सांख्यशास्त्रतत्त्वमधिजिगमिषूणां महते उपकाराय भवेदिति सुदृढं विश्वसिमि। सरलया शैल्या मूलार्थं सम्यक् परिशील्य पूर्वपक्षसमाधाने विशदीकृत्य सांख्यतत्त्वं विशदयन्ती इयं तत्त्वप्रकाशिका छात्राणां तत्त्वजिज्ञासूनां च परीक्षाप्रदाने ज्ञानाभिवर्धने च साहाय्यमाचरन्ती विजयतादित्याशासे—

—सुब्रह्मण्यशास्त्री

श्रीमदीश्वरकृष्णविरचिता

सांख्यकारिका

दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा 'तदपघातके' हेतौ।
दृष्टे 'साऽपार्था' 'चेन्नै'कान्ताऽत्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः 'प्रकृतिविकृतयः' सप्त।
षोडशकस्तु 'विकारो' न 'प्रकृतिर्न' 'विकृतिः' पुरुषः ॥ ३ ॥

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

प्रतिविषयाध्यवसायो 'दृष्टं' त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ ५ ॥

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चाऽसिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥ ६ ॥

अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात् 'कार्यतस्तदुपलब्धेः'।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपञ्च ॥ ८ ॥

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

'त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः' प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥

'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

अविवेक्यादेः सिद्धिः त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याऽव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥ १५ ॥

कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

जनन-मरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ २२ ॥

अध्यवसायो बुधिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः-श्रोत्र-घ्राण-रसनत्वगाख्यानि ।
वाक्-पाणि-पाद-पायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यञ्च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यञ्च ॥ ३२ ॥

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
सांप्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।
वाग् भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥ ३४ ॥

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया ।
तद्वद् विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चाऽपवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८ ॥

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ ५० ॥

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः ॥ ५२ ॥

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्त्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

नानाविधैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकञ्चरति ॥ ६० ॥

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥ ६५ ॥

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

शिष्यपरंपरयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग् विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥

इति श्रीमदीश्वरकृष्णविरचिता सांख्यकारिका समाप्ता ।

भूमिका : विषय-सूची

विषयानुक्रमणिका

(सांख्यतत्त्वकौमुदी)

विषय पृष्ठ

कारिका १०

कारिका ११

॥ श्रीः ॥

सांख्यतत्त्वकौमुदी

'तत्त्वप्रकाशिका' हिन्दीव्याख्योपेता

मंगलाचरण की अवतरणिका

श्रीमान् ईश्वरकृष्ण-विरचित-सांख्यकारिका की व्याख्या करने की इच्छा से विद्वदग्रेसर श्रीवाचस्पति मिश्र [1]श्रुतिस्मृति-प्रसिद्ध-सांख्य सिद्धान्त को सूचित करते हुए प्रारिप्सित प्रकृतग्रन्थ की निर्विघ्नतया[2] समाप्ति के उद्देश्य से श्रुतिप्रोक्त मंगलाचरण कर रहे हैं।

---

१. "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥" (श्वे. उ. अ. ४।मं.५)
"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।" (गी. १३।१९)

श्वेताश्वतरोपनिषद्' को सांख्योपनिषद् कहते हैं। सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों के बीज इसी उपनिषद् में निहित हैं। सांख्य का सिद्धान्त है कि त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जगत् की उपादान कारण है। उसकी प्रवृत्ति में भोग-अपवर्गरूप पुरुषार्थ ही कारण है। वास्तव में 'पुरुष' उदासीन है यथापि प्रकृति के कर्तृत्वभोक्तृत्व आदि धर्म उसपर आरोपित होने से उन्हें वह अपना ही मानकर स्वयं को बद्ध समझता है। किन्तु भोगसमाप्ति हो चुकने पर एवं शास्त्राभ्यास से उत्पन्न विवेकख्याति (तत्त्वज्ञान) के द्वारा उसे अपनी 'असंगता' का अनुभव होने लगता है और अपने को 'कैवली' समझने लगता है।

२. "प्रारिप्सितप्रकरणपरिसमाप्तिप्रत्यर्थिप्रत्यूहविध्वंसनाय ग्रंथारंभे मङ्गलमनुतिष्ठन्ति शिष्टाः" इत्यास्तिकसम्प्रदायः–इति सारबोधिनीकाराः। वंशीधरमिश्रास्तु–'मंगलस्य निष्प्रत्यूह-समाप्तिसाधनत्वे प्रमाणं तु अविगीतशिष्टाचारानुमितश्रुतिरेवे'ति।

अस्मिन् प्रसंगे विद्वत्तोषिणीकारा एवं कथयन्ति—

"शिष्टाचारानुमितश्रुतिबोधितकर्तव्यताकं मङ्गलम्" इत्येवंविधा ये तत्र तत्राधुनिकानां लेखा उपलभ्यन्ते ते अविचारप्रभवाः इति।"

अयं भावः–यथा असति विरोधे स्मृत्या तन्मूलभूता श्रुतिरनुमीयते नैवं शिष्टाचारेण साक्षाद् सा अनुमीयते किन्तर्हि शिष्टाचारेण स्मृतिस्तया च श्रुतिरिति, तथा चाहुः कुमारिलभट्टाः—"आचारात्तु स्मृतिं ज्ञात्वा श्रुतिर्विज्ञायते ततः" इति (तं० वा० अ० १। पा० ३)।

अस्मिन् प्रसंगे किरणावलीकाराः—मंगलं नमस्कारः, स च स्वा(मंगला)नुकूलप्रयत्न-वद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसंबंधेन आत्मनि वर्तते, एवं चरमवर्णतिरोभावात्मिका च समाप्तिः, तत्र चरम-वर्णतिरोभावो नाम चरमवर्णस्य तिरोभावावस्था, तदाश्रयश्चरमवर्णः, तथा च-समाप्तिरपि स्वा (तिरो-भावा)श्रयचरमवर्णानुकूलप्रयत्नवद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन आत्मनि वर्तते, तथा च–"स्वाश्रय-चरमवर्णानुकूलप्रयत्नवद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन आत्मनिष्ठां चरमवर्णतिरोभावात्मकसमाप्ति

श्रुतिप्रोक्त मंगलाचरण करने का स्वारस्य यह है—कि 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्र. सू. १-१-५) के द्वारा प्रतिपादित 'अशब्दत्व' हेतु[1] का खण्डन तथा प्रधान (प्रकृति) के वैदिकत्व का मण्डन करना व्याख्याकार को अभीष्ट है। अपनी व्याख्या के आरंभ में लिखितरूप से मंगलाचरण[2] करने का उद्देश्य यह भी है कि आगे शिष्यगण भी इसी प्रकार अनुकरण करें, तथा वक्ता और श्रोता दोनों का कल्याण भी [3]आनुषङ्गिक फल के रूप में हो सके।

मङ्गलाचरणम्।

(१) प्रकृति-पुरुषनमस्कारात्मकं मङ्गलम्।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते
जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्॥ १॥

अन्वयः— एकां, लोहितशुक्लकृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानाम्, अजां, नमामः, ये अजाः, जुषमाणां ताम्, भजन्ते, भुक्तभोगां (च) एनां, जहति, तान् नुमः।

प्रति स्वानुकूलप्रयत्नवद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन आत्मनिष्ठं नमस्कारात्मकं मंगलं कारणमिति कार्यकारणभावः। एवं सांख्यमते विघ्नः अधर्मः बुद्धिधर्मः, सांख्यमते ध्वंसात्मकपदार्थाऽनंगीकारात् विघ्नध्वंसो नाम अधर्मतिरोभावः—स च अधर्मस्य तिरोभावावस्थैवेति। विघ्नतिरोभावोऽपि स्वा-(तिरोभावावस्था) श्रया(विघ्ना)धिकरण(बुद्धि)प्रतिबिम्बितत्त्वसंबंधेन आत्मनि वर्तते, तथा च—"स्वाश्रयाधिकरणप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेनात्मनिष्ठविघ्नध्वंसं प्रति स्वानुकूलप्रयत्नवद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसंबंधेन आत्मनिष्ठं नमस्कारात्मकं मंगलं कारणमिति कार्यकारणभावोऽनुसन्धेयः। एवं स्वाश्रयचरमवर्णानुकूलप्रयत्नवद्बुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसंबंधेन आत्मनिष्ठसमाप्तिं प्रति स्वाश्रयविघ्नाधिकरणबुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन विघ्नतिरोभावः कारणम्" इति कार्यकारणभावः।

१. छान्दोग्ये 'सदेव सोम्य०' इत्यारभ्य 'तदैक्षत' इत्युक्तम्। अत्र सत्संज्ञकं यज्जगदुपादानं प्रोक्तं तत् 'प्रधानं' 'ब्रह्म' वेति सन्देहे सिद्धान्तितं ब्रह्मसूत्रे—न इति। सांख्यैः कल्पितं प्रधानं, वेदान्ते जगदुपादानत्वेन न संभवितुमर्हति, यतः सांख्यैः कल्पितं प्रधानम्—'अशब्दम्' अस्ति। अर्थात् सांख्यकल्पितस्य प्रधानाख्यस्य तत्त्वस्याभ्युपगमे शब्दप्रमाणं नास्ति। अतः अशब्दत्वात् 'प्रधानं' खलु जगदुपादानं नैव भवितुमर्हति।

२. 'समाप्तिप्रतिबन्धकपापविशेषध्वंसकारणत्वं मङ्गलत्वम्' इति छात्रबोधिनीकारः।

मंगलं त्रिविधम्—आशीर्वादः, नमस्कारः, वस्तुनिर्देशश्च 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि'त्युक्तेः। इष्टानां शिष्यादीनां शुभाशंसनम् आशीः। परस्मिन् यदुत्कृष्टताज्ञानं तदपेक्षया यत् स्वस्मिन् अपकर्षज्ञानम् 'अहमस्य सेवकः' इति बोधः तादृशबोधानुकूलो यः करपुटादिसंयोगविशेषः स एव नमस्कारः।

३. अन्यार्थं प्रति प्रवृत्तस्य नान्तरीयकफलजनकत्वम् अनुषङ्गत्वम्।

४. (क) सांख्यशास्त्र की मूलभूत श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति में कुछ व्यत्यास (परिवर्तन) कर व्याख्याकार ने उसे मंगलाचरण में रखा है। वह व्यत्यास इस प्रकार है :—

मंत्र के द्वितीय पाद के अन्त में 'सरूपाः' के स्थान पर 'नमामः'। 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते' इस तृतीय पाद के स्थान में 'अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते'। 'जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इस चतुर्थ पाद के स्थान में 'जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्' यह व्यत्यास किया गया है।

शंका—मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (पा० शि० ५२)

भावार्थः—एकाम् = जिसकी सजातीय दूसरी कोई नहीं अर्थात् अकेली, लोहितशुक्लकृष्णाम् = रजःसत्त्वतमोगुणात्मिका, बह्वीः = सुखदुःखमोहरूप से नाना प्रकार की, प्रजाः = व्यक्तरूप से प्रकट होनेवाले महदादि विकारों को, सृजमानाम् = उत्पन्न करने वाली—अर्थात् महत्तत्त्व आदि नानाविध विकारों के आकार में परिणत होनेवाली अजाम् = मूलप्रकृति को, नमामः = हम प्रणाम करते हैं।

[इस प्रकार प्रकृति को प्रणाम करके—अब पुरुषों को प्रणाम करते हैं :—]

ये = जो अर्थात् अहं (मैं) शब्द से व्यवहृत होनेवाले, अजाः = अनादि पुरुष, जुपमाणाम् = शब्दादिविषयों के उपभोगों को देकर सेवा करनेवाली, ताम् = उस प्रकृति को, भजन्ते = सेवा करते हैं अर्थात् प्रकृति से अपने को पृथक् न समझने के कारण प्रकृति के सुखित्व दुःखित्वादि धर्मों को अपने ही समझ बैठते हैं और स्वयं के सुखी दुःखी होने का जिन्हें अभिनिवेश हो जाता है, (उन बद्ध [संसारी] पुरुषों को हम प्रणाम करते हैं)।

[इस प्रकार बद्ध पुरुषों को प्रणाम करके अब विवेकी पुरुषों को प्रणाम करते हैं]।

ये च अजाः = और जो विवेकी पुरुष, भुक्तभोगाम् = अपने भोगापवर्ग प्रदान रूप कार्य का सम्पादन कर चुकने के कारण जिसका अधिकार समाप्त हो गया है, एनाम् = इस प्रकृति को, जहति = अनात्म वस्तु समझकर त्याग देते हैं, तान् = उन विवेकी पुरुषों को भी, (हम) नुमः = स्तुति करते हैं।

अभिप्राय यह है—भोग तो सिद्ध है ही। अवशिष्ट रहा अपवर्ग, उसके योग्य रहने के कारण ये बद्ध पुरुष भी मुक्त पुरुषों के समान ही प्रणाम करने के योग्य हैं। अत एव दोनों प्रकार के पुरुषों को प्रणाम किया गया है।

कौमुदीकार ने अपने परिवर्तित मंगलाचरण में 'सृजन्तीम्' न कहकर 'सृजमानाम्' कहा है। क्योंकि प्रकृति की परिणामशीलता बताना व्याख्याकार को अभीष्ट है। और यह अभीष्टसिद्धि 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' सूत्र के द्वारा 'चानश्' के विहित होने से हुई है।

इस पाणिनिशिक्षा से स्पष्ट है कि इस प्रकार के मिथ्या प्रयोग वाग्वज्र के समान हो जाते हैं और अनर्थ के कारण बनते हैं तब व्याख्याकार ने श्रौत मंत्र में यह व्यत्ययीकरण करने का साहस कैसे किया?

समाधान :—उपरि निर्दिष्ट पाणिनिशिक्षा में 'यजमानम्' पद ग्रहण किया गया है उससे यह निर्णय हो जाता है कि याग अंगभूत मंत्र में ही स्वेच्छा से व्यत्यास करना अनर्थ का कारण होता है, सर्वत्र नहीं।

(ख)—यहाँ अध्यात्म विद्या का प्रसंग होने से 'अजा' पद को यौगिक मानकर प्रकृति परक ही लगाना चाहिये। रूढ़ि मानकर 'छागी' में नहीं। यदि यहाँ रूपक की कल्पना कर ली जाय तो रूढ़ि (समुदाय प्रसिद्धि) के स्वीकार करने पर भी कोई असंगति नहीं हो सकती।'

यहाँ रूपक की कल्पना इस प्रकार की जा सकती है—

किसी चितकबरी या एक ही रंग की अजा (बकरी) को कोई अज (बकरा) भोगता रहता है और दुःखी होता रहता है। इसी तरह कोई बकरा बकरी को भुक्तभोगा समझ कर त्याग देता है, वैसे ही यह त्रिवर्णा प्रकृतिसरूप तथा विरूप अनेक विकारों (कार्यों) को उत्पन्न करती रहती है। अविद्वान् क्षेत्रज्ञपुरुष उसका उपभोग करता रहता है और विद्वान् पुरुष उसका त्याग करता है। (शारीरक-भाष्य अ० १ पा० ४ सू० १०)

लोहितशुक्लकृष्णाम्—लोहिता चासौ शुक्ला चेति लोहितशुक्ला, सा चासौ कृष्णा चेति कर्मधारयः। प्रथम समास में लोहिता शब्द को पुंवद्भाव हुआ है और द्वितीय समास में लोहित-शुक्ला-शब्द को पुंवद्भाव हुआ है। इस कर्मधारय समास के करने से यह तात्पर्य निकलता है कि गुणों की अपेक्षया (प्रकृति) कोई पृथक् तत्त्व नहीं है किन्तु साम्यावस्था को प्राप्त हुए गुणों को ही प्रधान कहते हैं। तथा च सांख्यसूत्रम्—"सत्त्वरजस्तमसां साम्याऽवस्था प्रकृतिः"। अतः प्रकृति का निष्कृष्ट लक्षण यह बनाना होगा—'अकार्यावस्थोपलक्षित-गुणसामान्यत्वम् प्रकृतित्वम्'।

'लोहितं शुक्लं कृष्णं यस्याम्' इस प्रकार बहुव्रीहि समास यहाँ नहीं करना चाहिये। क्योंकि बहुव्रीहि अन्य पदार्थ प्रधान होने से गुणों की अपेक्षया किसी गुणीरूप अर्थान्तर को प्रधान कहने का प्रसंग आवेगा, जो अभीष्ट नहीं है।

शंका—लोहितशुक्लकृष्ण शब्द तो रक्तश्वेतादि गुणवाचक है तब इनसे रजोगुण-सत्त्वगुण-तमोगुण आदि अर्थ कैसे समझे जा सकते हैं ?

समाधान—लोहित रंग जैसे वस्त्र को रंजित कर देता है वैसे ही रजोगुण भी अपने प्रवृत्ति रूप धर्म से मन को रंग देता है। इसलिये लोहित शब्द से यहाँ रजोगुण समझा गया है।

श्वेत जल जैसे मलिनता को दूर कर देता है वैसे ही सत्त्वगुण भी ज्ञान आदि के द्वारा मन को निर्मल कर देता है। इसलिये शुक्ल-शब्द से यहाँ सत्त्वगुण समझा गया है।

नील मेघ जैसे आकाश को आच्छादित कर देते हैं वैसे ही तमोगुण भी ज्ञान को ढँक देता है इसलिये कृष्ण-शब्द से यहाँ तमोगुण समझा गया है। अर्थात् रागात्मक होने से रजस् को लोहित, प्रकाशात्मक होने से सत्त्व को शुक्ल, और आवरणात्मक होने तमस् को कृष्ण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि रञ्जन, प्रकाश, आवरण आदि गुणों के संबन्ध से गौणीलक्षणा के द्वारा लोहित, शुक्लादि शब्द रजःसत्त्वादि के लक्षक हैं। शुद्धा और गौणी भेद से लक्षणावृत्ति के दो प्रकार हैं। सादृश्येतरसंबंध से होनेवाली लक्षणा को शुद्धा और सादृश्य-संबंध से होनेवाली लक्षणा को गौणी कहते हैं।

शंका—'सत्त्वं रजस्तमः' इस क्रम को त्यागकर 'रजस्' सत्त्व, तमस्' इस व्युत्क्रम को क्यों अपनाया गया ?

समाधान—लोहितशब्दवाच्य रजोगुण के प्रवर्तक होने से और सृष्टिक्रियारूपप्रवृत्ति की प्रथमता रहने से रजोगुण का प्रथम निर्देश किया गया है।

सत्त्व के प्रकाशात्मक होने से और स्थितिदशा में कार्यों के प्रकाशमान रहने से उसके पश्चात् सत्त्वगुण का निर्देश किया गया है।

तमोगुण के आवरणात्मक होने से और प्रलयकाल में कार्यों के स्वरूपावृत रहने से उसके पश्चात् तमोगुण का निर्देश किया गया है। इससे प्रकृति में सृष्टि-स्थिति-लय की हेतुता ध्वनित होती है।

बह्वीः—महत्तत्त्व, अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, तन्मात्राएँ, स्थूलभूत, स्थावर, जंगमादि अनेक अवान्तरजाति की।

प्रजाः—प्रकर्षेण प्रकृतिविकृतित्वेन धर्मेण केवलविकृतित्वेन च धर्मेण जायन्ते प्रादुर्भवन्तीति।

शंका—प्रकृति को अनेक कार्यों के विविध आकार से परिणत होनेवाली बताया गया है, जिससे कार्यकारण का तादात्म्य प्रतीत होता है, तब कार्य की उत्पत्ति से सब की मूल कारण जो प्रकृति है उसकी भी उत्पत्ति स्वीकार करनी होगी।

समाधान—मंगलाचरण में प्रकृति के लिये 'अजा' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ है—'न जायते उत्पद्यते इति अजा' जो पैदा नहीं होती।

शंका—जब कि "तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम" (महाभारत-शान्तिपर्व-मोक्षधर्म अ० ३३, श्लो० ३१)। 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले संप्रलीयते' (वि० पु०) 'यतः प्रधान-पुरुषौ' 'प्रधानं पुरुषश्चैव लीयेते परमात्मनि' इत्यादि वचनों से प्रकृति एवं पुरुषों की उत्पत्ति और विनाश बताये गये हैं; तब अजा शब्द के द्वारा बताया हुआ प्रकृति का अनादित्व और उससे अनुमान किया जाने वाला उसका अविनाशित्व; इसी प्रकार आगे चलकर पुनः अजा शब्द से पुरुषों में बताया हुआ अनादित्व एवं अविनाशित्व, कैसे संगत हो सकता है?

समाधान—अजामेकामित्यादि श्वेताश्वतरश्रुतिप्रामाण्य के अनुरोध से उपर्युक्त वचनः 'प्रकृति' का उत्पत्तिपरक नहीं है; किन्तु 'चिति' के सन्निधान से तीनों गुणों में क्षोभ पुरःसर सर्गोन्मुखतारूप गुणवैषम्य दशापत्तिरूप, अभिव्यक्तिपरक है।

इसी प्रकार अव्यक्त (प्रकृति) का पुरुष में लयप्रदिपादक वचन भी, गुण-साम्यदशारूप कार्याऽक्षमतावाली अनभिव्यक्ति-दशा को ही बताता है।

इसी प्रकार 'अजो नित्यः' श्रुतिविरोध के परिहारार्थ पुरुष की उत्पत्ति एवं लय के प्रतिपादक वचनों को उपचार (लक्षणा) से व्यवस्थित कर लेना चाहिये। अर्थात् गुण-वैषम्य की स्थिति में प्रकृति के गुणों के सम्बन्ध से इस उदासीन पुरुष की भी भोक्तृत्वापत्तिरूप औपाधिकी उत्पत्ति समझ लेनी चाहिये। और गुणसाम्यदशा में विकारों से सम्बन्ध न रखनेवाले उस पुरुष का अपने विकाररहितस्वरूप में रहना ही लय समझना चाहिये। विज्ञानभिक्षु—इस प्रकार ग्रन्थसंगति लगाते हैं—"संयोगलक्षणोत्पत्तिः कथ्यते कर्मजानयोः। वियोजयति-अन्योन्यं प्रधानपुरुषावुभौ॥ प्रधानपुंसोरनयोरेष संहार ईरितः।" इन मात्स्य तथा कौर्म वचनों से प्रतीत होता है कि पुरुष और प्रकृति का संयोग ही, उन दोनों की उत्पत्ति तथा उन दोनों का वियोग ही, उनका लय है।

शंका—"मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्" "सत्त्वं रजस्तम इति प्राकृतं तु गुणत्रयम्। एतन्मयी च प्रकृतिर्माया या वैष्णवी मता"॥ इन वचनों से माया और प्रकृति पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं और 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इस श्रुति से माया की अनेकता बताई जा रही है, तब प्रस्तुत मंगलाचरण में 'अजाम्' यह एक वचन कैसे संगत होगा?

समाधान—मंगलाचरण में 'एकाम्' यह विशेषण दिया गया है। अर्थात् इस अजा (प्रकृति) की सजातीय अन्य कोई अजा नहीं है। इस विशेषण के देने से अनवस्था और नैयायिकाभिमत परमाणुवाद का भी निराकरण हो जाता है। 'सजातीयद्वितीयरहितामित्यर्थः' इति विद्वत्तोषिणीकाराः। पुरुष और महत्तत्त्व आदि अन्य द्वितीय तत्त्वों के विद्यमान रहते कैसे समझा जाय कि वह द्वितीयरहित है? इस शंका के निरसनार्थ ही 'सजातीय' विशेषण दिया गया है। केवल 'द्वितीयरहिताम्' नहीं कहा। यहां सजातीय में 'स्व' विशेषण भी लगाना उचित होगा।

शंका—पुरुष और महदादि अन्य तत्त्व भी क्रमशः अविकृतित्वेन रूपेण (किसी की विकृति=कार्य नहीं हैं) तथा त्रिगुणत्वेन रूपेण (महादादि सभी तत्त्व त्रिगुणात्मक हैं) प्रकृति के सजातीय हैं तब 'सजातीयद्वितीयरहिताम्' इस कथन से क्या तात्पर्य है?

समाधान—सजातीय से यहां यह तात्पर्य है कि स्वयं किसी की विकृति न होकर अन्य तत्त्वों का उपादान कारण बना हो अर्थात् जो अन्य तत्त्वों को पैदा करने वाला हो। 'साजात्यं

चात्र विकृतित्वानधिकरणत्वे सति तत्त्वान्तरोपादानरूपत्वमभिमतं, तेन अविकृतित्वेन त्रिगुणत्वेन वा साजात्यमादाय न दोषोऽस्मेद्वः' इति विद्वत्तोषिणीकाराः। यहां तत्त्वान्तर शब्द स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ है। विद्वत्तोषिणीकार का कथन है कि 'अजामेकाम्' इस प्रत्यक्ष श्रुति से प्रकृतिगत एकत्व का ज्ञान हो रहा है और 'मायाभिः' से जो बहुत्व (अनेकत्व) का ज्ञान हो रहा है वह लिङ्ग प्रमाण से हो रहा है, तब श्रुति की अपेक्षया लिङ्ग प्रमाण दुर्बल रहने से बाधित हो जाता है, अतः प्रकृति के अनेकत्व की कल्पना करना उचित नहीं है। किन्तु हमारे गुरुचरण कहते हैं कि 'मायाभिः' इस तृतीयाबहुवचन-श्रुति से बहुत्व की भी प्रतीति हो रही है अतः बहुत्व भी श्रौत है, लैंगिक नहीं। तब एकत्व को श्रौत मानकर और बहुत्व को लैंगिक मानकर एकत्व से बहुत्व का बाध बताना उचित नहीं है। 'मायाभिः' से प्रतीत होनेवाले बहुत्व की उपपत्ति इस प्रकार लगानी चाहिये—प्रकृतिगत अनन्तज्ञान-क्रिया-सर्ग-स्थिति आदि शक्ति की विभिन्नता को लेकर अथवा प्रकृत्यात्मक तीन गुणों के भेद को ध्यान में रख कर ही माया का बहुत्व बताया गया है। तब माया में बहुत्व एवं प्रकृति में एकत्व के प्रतिपादन करने पर भी कोई विरोध न होगा।

गर्भोपनिषद् में "अष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः" वैसे ही भगवद्गीता में "भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" सुना जाता है उसका अभिप्राय यह है—महत्तत्त्व स्वयं विकृति (कार्य) रहने पर भी अहंकारादि तत्त्वों की प्रकृति (कारण) है, अतः इस आंशिक साम्य को लेकर महद्-अहंकार-पञ्चतन्मात्रा के संकलन करने से 'अष्टौ प्रकृतयः' कहा गया है। केवल मूल प्रकृति के अभिप्राय से नहीं। मूल प्रकृति तो एक ही है। अभिप्राय यह है कि गर्भोपनिषद् और भगवद्गीता दोनों में जो 'प्रकृति' पद है वह तत्त्वान्तरोपादानपरक है। तापनीयश्रुति के देखने से भी यही प्रतीत होता है—"माया चाविद्या च स्वयमेव भवति" (ताप० श्रु०) इसमें 'स्वयम्' पद दिया गया है वह वस्तुतः अनेकत्व को न बताकर उसके एकत्व की ओर ही संकेत कर रहा है।

शंका—जिस प्रकृति का कभी प्रत्यक्ष ही नहीं हो पाया, उसके अस्तित्वपर कैसे विश्वास किया जाय और उसे प्रमाण किया जाय?

समाधान—'बह्वीः प्रजाः सृजमानाम्' इस कथन से प्रकृति के अस्तित्व में कार्यलिंगक अनुमान सूचित किया गया है। विद्वत्तोषिणीकार का कहना है कि प्रकृति का अस्तित्व श्रुति के द्वारा सिद्ध रहने पर भी उसी की दृढता के लिये कार्यलिंगक अनुमान सूचित किया गया है।

किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है क्योंकि आगे चलकर 'तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम्' इस कारिका के द्वारा अनुमान सिद्धपदार्थ को ही श्रुति के द्वारा सिद्ध करना बताया है। और 'संघातपरार्थत्वात्त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्' इस अग्रिमकारिका में प्रतिपादित रीति के अनुसार प्रधान की अनुमान से सिद्धि हो जाती है। श्रुति से उसकी सिद्धि नहीं।

प्रधान के अस्तित्व में अनुमान करने का प्रकार—विमताः प्रजाः सुखदुःखमोहात्मकवस्तु-प्रकृतिकाः तत्स्वभावान्वितत्वात्, यो यत्स्वभावान्वितः स तदात्मकवस्तुप्रकृतिकः, यथा मृत्स्वभावान्वितो घटः मृदात्मकवस्तुप्रकृतिक इति सामान्यव्याप्त्या प्रधानसिद्धिः।

शंका—इस एकाकिनी प्रकृति से यह विभिन्न रूप का प्रपञ्च कैसे हुआ? क्योंकि एक रूप के कारण से एक रूप का ही कार्य होना चाहिये, अन्यथा इस कार्यगत विचित्रता को आकस्मिक कहने का प्रसंग प्राप्त होगा अर्थात् स्वभाववाद मानना होगा।

समाधान—उपर्युक्त शंका का निरसन करने के हेतु 'लोहितशुक्लकृष्णाम्' कह कर प्रकृति की त्रिगुणात्मिता को बतला है।

शंका—यह अचेतन प्रकृति क्यों कर इन विकारों के विचित्र आकारों में परिणत होती रहती है ?

समाधान—'पुरुषार्थ एव हेतुः' (सां. का. ३१) कारिका से ज्ञात होता है कि पुरुष का भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ ही इसे विचित्र आकारों में परिणत कराता है। यह पौरुषेयभोगापवर्गरूपपुरुषार्थ संपादन का अपना स्वभाव ही इस प्रकृति का प्रेरक है ॥ १ ॥

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैतेऽकथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ (सुबालोपनिषद्)

इस नियम के अनुसार अब गुरुवन्दन करते हैं—

गुरुवन्दनम्।

कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये।
पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः ॥ २ ॥

अन्वयः—एते (वयम्) महामुनये कपिलाय, तस्य शिष्याय 'आसुरये' च मुनये, पञ्चशिखाय तथा ईश्वरकृष्णाय नमस्यामः।

प्रकृतशास्त्रप्रवर्तक तथा संग्राहक आचार्यों को क्रमशः प्रणाम करते हैं। इस शास्त्र के प्रवर्तक आचार्य भगवान् कपिल हैं और संग्राहक आचार्य आसुरिप्रभृति हैं। 'नमस्यामः' इस उत्तम पुरुष के अनुरोध से 'एते' के साथ 'वयं' का अध्याहार कर लेना चाहिये अर्थात् एते वयं कपिलाय नमस्यामः। यहां 'वयं' न कहकर 'एते' के प्रयोग से अपना अनौद्धत्य सूचित किया है। और बहुवचन से अपना तथा अपने शिष्यों का विनेयत्व सूचित किया है।

'एते' इस कर्तृपद के अनुरोध से "शेषे प्रथमः" इस व्याकरण नियम के अनुसार प्रथम पुरुष का प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि 'वयम्' इस अस्मद्शब्द के प्रयुक्त होने के कारण उससे अन्य (शेष) कोई नहीं है[1]। इसीलिये 'त्वं च देवदत्तश्च पचथः' इत्यादि प्रयोग की साधुता के साधनार्थ प्रवृत्त हुए वार्तिक 'युष्मदस्मदन्येषु प्रथमस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः' का 'नहि शेषश्चान्यश्च शेषग्रहणेन गृह्यते' को हृदय में रखकर ही महाभाष्यकार ने प्रत्याख्यान किया है, "सनात् सनातनतमः कपिलः कपिरव्ययः" (विष्णु), "अयोमुखः शंबरश्च कपिलो वामनस्तथा" (दानवविशेष), "कपिलः कपिशः शंभुः" (महादेव), "शंखपालश्च कपिलो वामनस्तथा" (नागविशेष), 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (मुनिविशेष कपिल) इत्यादि कोश के अनुसार कपिल-शब्द से यहां कोई विष्णु आदि अर्थों को न समझे, इसलिए यहां प्रयुक्त हुए कपिल के लिये विशेषण दिया—'महामुनये'। 'मन्यते = जानाति' इस व्युत्पत्ति से मुनि का अर्थ है ज्ञानवान् और महत्त्व से तात्पर्य है अप्रतिहत-अनौपदेशिकत्व। महत्त्व का अन्वय मुनिपदार्थतावच्छेदक ज्ञान में करना चाहिये। निष्कृष्ट अर्थ यह निकला कि अप्रतिहत-अनौपदेशिकज्ञानशील ऐसे मुनि। अर्थात् प्रकृत शास्त्र-प्रवर्तक कपिल का बोध कराने के हेतु 'महामुनि' विशेषण दिया गया है। इससे यह सूचित होता है कि प्रकृतशास्त्र के प्रवर्तक कपिल स्वयं तपस्वी होने से उनमें विप्रलिप्सा-करणापाटवादि दोष नहीं हैं तथा अप्रहित ज्ञानसंपन्न होने से भ्रम-प्रमाद आदि दोष भी उनमें नहीं हैं। ऐसे व्यक्ति के

---

१. उपयुक्तादन्यो हि शेषत्वेन अभिमन्यते, अत्र च उपयुक्तस्य वयमित्यस्य सत्त्वान्न ततः अन्यत्वम् इति कथमत्र शेषत्वम्।

वाक्यों में किसी प्रकार के दोष की आशंका न होने से प्रामाण्य का यत्किंचित् भी सन्देह नहीं है। अर्थात् कापिल सांख्यशास्त्र सर्वथैव प्रमाण है। किसी को भी उसमें सन्देह नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार सांख्यशास्त्र के आचार्य को प्रथमप्रणाम कर "पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्। प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्।" (भाग. १।३।१०) वचन में बताये हुए द्वितीय सांख्याचार्य को प्रणाम करते हैं 'मुनये' इति। कपिल के आसुरि साक्षात् शिष्य हैं। पंचशिखाचार्य ने कहा है—"आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच"। इस कारण इनमें भी अनतिहतज्ञानवत्त्व है। इन्हें मुनि कहने से इनके वाक्य भी कपिल वाक्यों की तरह प्रमाण हैं, यह सूचित किया गया है। आसुरि का ज्ञान औपदेशिक होने के कारण कपिल के समान यह महामुनि न होकर केवल मुनि ही हैं। इनका ज्ञान औपदेशिक है, यह बात 'तस्य शिष्याय' इस विशेषण से स्पष्ट हो रही है।

इस प्रकार द्वितीय आचार्य को प्रणाम कर अब—"आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम्।' [1]पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः॥ पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः॥" (महा० प० १२। अ० २१८। श्लो० १२) के द्वारा प्रतिपादित तृतीय सांख्याचार्य को प्रणाम करते हैं—'पञ्चशिखाय' इति। यहां भी 'मुनि-शिष्य' दोनों का अनुवर्तन करना चाहिये, अर्थात् आसुरि के शिष्य पञ्चशिखमुनि के लिये प्रणाम। 'आसुरि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— 'अस्यति=क्षिपति पापानि तत्त्वज्ञानेन इति असुरः=कपिलः, तस्य शिष्यः आसुरिः'।

इस प्रकार तृतीय सांख्याचार्य को प्रणाम कर अब प्रकृत सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण को प्रणाम करते हैं 'ईश्वरकृष्णाय' इति। यह ईश्वरकृष्ण, पञ्चशिखाचार्य का साक्षात् शिष्य नहीं है, क्योंकि ग्रन्थ के अन्त में 'शिष्यपरम्परयाऽऽगतम्' ऐसा स्पष्ट कहा गया है।

'कपिलाय' 'आसुरये' 'पञ्चशिखाय' 'ईश्वरकृष्णाय' इन चारों स्थलों में तत्तन्मुनियों को प्रसन्न अथवा अनुकूल करने के लिए–यह अर्थ विवक्षित है। तभी 'क्रियार्थोपपदस्य०' (पा. सू. २।३।१४) से 'कपिलाय' आदि पदों से चतुर्थी हो सकेगी, अन्यथा नहीं क्योंकि 'नमः स्वस्ति०' (पा. सू. २।३।१६) सूत्र की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होगी। सूत्र में अर्थवान् 'नमस्' शब्द का ही ग्रहण किया है। 'नमस्य्' शब्दघटक 'नमस्' अर्थवान् नहीं है। महाभाष्यकार कहते हैं–'अर्थवतो नमःशब्दस्य ग्रहणं, न च नमस्यशब्दे नमःशब्दोऽर्थवान्' इति। इसलिये 'नमस्यति देवान्' प्रयोग को ही महाभाष्य में साधु माना गया है, चतुर्थ्यन्त प्रयोग को नहीं।

---

१. पञ्च स्रोतांसि = विषयकेदारप्रणालिका यस्य तस्मिन् मनसि निष्णातः = ऊहापोहकौशलवान्। पञ्चरात्रो नाम=विष्णुत्वप्रापकः क्रतुः "पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयताऽत्यतिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्यामिति स एतं पञ्चरात्रं पुरुषमेधं क्रतुमपश्यत्" इति शतपथोक्तः, तत्र विशारदः=अनुष्ठिताखिलकर्मा इत्यर्थः। पञ्च=अन्नमयादीन कोशान् मिथः आत्मनश्च विविक्तान् जानातीति पञ्चज्ञः। अतएव पञ्चकृत्–पञ्च=तद्विषयाणि उपासनानि "भृगुर्वै वारुणिः" इत्यस्यामुपनिषदि "स तपस्तप्त्वाऽन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्यादिविहितानि करोतीति पञ्चकृत्। पञ्च="शान्तो दान्तो उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति श्रुताः शान्त्यादयो गुणा यस्मिन् स पञ्चगुणः। पञ्चभ्योऽतिरिच्यमानत्वात् शिखेवेति पञ्चशिखं पुच्छं ब्रह्म तज्ज्ञत्वान्मुनिरपि पञ्चशिख इत्यर्थः—इति नीलकण्ठः।

महामुनिकपिल-प्रोक्त-सांख्यशास्त्र-प्रतिपादित तत्त्वों का ज्ञान, सत्त्व-पुरुषान्यताविवेक-साक्षात्कार को कराता हुआ मोक्ष का साधक होता है, इसलिये मोक्षसाधनीभूत सांख्यशास्त्र-प्रतिपाद्यतत्त्वविषयक (तत्त्वों की) जिज्ञासा को उपस्थित करने के लिये अवतरणिका (भूमिका) दे रहे हैं—

(२) शास्त्रविषयक-जिज्ञासावतरणम् ।

इह खलु प्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् प्रतिपादयिताऽवधेयवचनो भवति प्रेक्षावताम् । अप्रतिपित्सितमर्थं तु प्रतिपादयन् 'नायं लौकिको नापि परीक्षक' प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येत । स चैषां प्रतिपित्सितोऽर्थो, यो ज्ञातः सन् परमपुरुषार्थाय कल्पते, इति प्रारिप्सितशास्त्रविषयज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनहेतुत्वात् तद्विषयजिज्ञासामवतारयति—

(२) शास्त्रविषयक जिज्ञासा की भूमिका

इह खलु० इति । इह=उपदेश के समय, परीक्षकों की सभा में, व्यवहार में अथवा शास्त्र में, खलु=वाक्यालंकारद्योतक अथवा निश्चयार्थक अव्यय है, प्रतिपित्सितम्=प्रतिपत्तुम् इष्टम्-जानने के लिये अभिलषित [इससे प्रतिपाद्य विषय की संदिग्धता और प्रयोजनवत्ता सूचित की गई है, इसीलिये वह जिज्ञासा का विषय बना है । क्योंकि जिज्ञास्य विषय सर्वदा संदिग्धत्व और प्रयोजनवत्त्व का व्याप्य हुआ करता है । यत्र यत्र जिज्ञासाविषयत्वं तत्र तत्र सन्दिग्धत्वं प्रयोजनवत्त्वं च (सप्रयोजनत्वं) अस्त्येव । निर्णीते निष्प्रयोजने च जिज्ञासानुदयात् ।] अर्थम् =वस्तुतत्त्व को, प्रतिपादयन्=बतानेवाला, अर्थात् अपने मन की बात-को श्रोता के मन में उतार देने वाला, प्रतिपादयिता=उपदेष्टा, अवधेयवचनः=श्रद्धेय, [अर्थात् उसके वाक्यों को श्रोताजन, बड़े आदर से श्रवण करते हैं] भवति= होता है; जो मन की बात सुनाता है उसी का उपदेश ग्राह्य होता है । प्रेक्षावताम्= बुद्धिमानों का, [प्रकर्षेण ईक्षा प्रेक्षा=हेयोपादेयविषयिणी बुद्धिः तद्वताम्, अर्थात् हेय (त्याज्य) क्या है, उपादेय (ग्राह्य) क्या है—इस प्रकार विवेक करने में निपुण है बुद्धि जिनकी ऐसे विद्वानों के लिये] अर्थात् विद्वान् लोग जिज्ञासित विषय को बताने वाले के ही वचनों को सुनते हैं ।

इसके विपरीत बताने वाला, विद्वानों की श्रद्धा का पात्र नहीं बन पाता, बल्कि उपेक्षा का पात्र बन जाता है—इसी अभिप्राय को कहते हैं—'अप्रतिपित्सितम्' इति अप्रतिपित्सितम्= सन्देह एवं प्रयोजन से रहित अर्थात् निर्णीत और निष्प्रयोजन होने से जिज्ञासा के अयोग्य अर्थ (बात) को प्रतिपादयन् = बताने वाला तो, प्रेक्षावद्भिः = बुद्धिमान् विद्वान् लोगों के द्वारा उपेक्ष्येत = उपेक्षित होगा अर्थात् उसके वाक्यों पर विद्वान् लोग विश्वास न रखेंगे । विद्वान् लोग उपेक्षा क्यों करेंगे ? यह प्रश्न करने पर उत्तर दे रहे हैं कि 'नायं लौकिको नापि परीक्षक इति' अयम् = यह बोलने वाला, 'न लौकिकः'[१] = लोक व्यवहार से परिचित नहीं है और 'नापि परीक्षकः' = न सत्-असत् का निर्णय ही कर पा रहा है 'इति' = यह समझकर अर्थात्

१. "लोकसाम्यम् अनतीता लौकिकाः, नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः, तद्विपरीताः परीक्षकाः, तर्केण प्रमाणैः अर्थं परीक्षितुमर्हन्ति" इति । शास्त्रीयसंस्कारविधुरो नरो लौकिकः, शास्त्रीयसंस्कारवान्नरः (न्यायभाष्य १।१।२५) परीक्षक इति भावः ।

यह लोगों की बुद्धि में भ्रम पैदा करने वाला है, यह सोचकर 'उन्मत्तवत्' = जैसे पागल के वचनों की उपेक्षा की जाती है वैसे ही अजिज्ञासित अर्थ को बताने वाले के वाक्यों की भी विद्वान् लोग उपेक्षा करते हैं।

शंका—विद्वानों को कौन सा अर्थ प्रतिपिरिसित होता (अभिलषित-जिज्ञासित) होता है? जिसके कहने पर वक्ता के वाक्य विश्वास के योग्य बन पाते हैं?

समा०—'स चैषामिति'। यो ज्ञातः सन् परमपुरुषार्थाय कल्पते स 'च' एषां प्रतिपिपिसितोऽर्थः—इस प्रकार अन्वय लगाना चाहिए। यहाँ 'च' शब्द, निश्चयार्थक है। यः=जो अर्थ ज्ञातः सन्=अवगत करने पर मनन के द्वारा, 'परमपुरुषार्थाय'[1] = दुःख की अत्यन्त (सदा के लिये) निवृत्तिरूप मोक्ष के लिये, 'कल्पते' = समर्थ होता है, 'स च' = वही (अर्थ) 'एषाम्' = विद्वानों का, 'प्रतिपिपिसितोऽर्थः'=जिज्ञासित अर्थ होता है। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु (अर्थ) का ज्ञान, मोक्ष प्राप्ति में साधन (हेतु) हो वही अर्थ (वस्तु) जिज्ञास्य होता है। इति=इसलिये अर्थात् 'प्रारिप्सितशास्त्रविषयज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनहेतुत्वात्'—प्रारिप्सितं = प्रारंभ करने के लिये चाहा हुआ, यत् 'शास्त्रं'=जो सांख्यशास्त्र, तस्य=उसके 'विषयाणां' = प्रतिपाद्य पच्चीस तत्वों के, ज्ञानस्य = ज्ञान का परमः = अत्यन्त श्रेष्ठ जो पुरुषार्थः = पुरुष का लक्ष्य (प्रयोजन) अर्थात् त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिरूप मोक्ष (अपवर्ग), तस्य = उसका, साधनं हेतुभूत (साक्षात् साधन) जो विवेकज्ञान (प्रकृति-पुरुषान्यताज्ञान) तस्य = उसकी, 'हेतुत्वात्' = हेतुता (साधनता) होने से। सबका तात्पर्य यह हुआ कि—मोक्षप्राप्ति में विवेकज्ञान तो साक्षात् साधन है, और विवेकज्ञान होने में साधन, सांख्यशास्त्र प्रतिपादित पञ्चविंशतितत्त्वज्ञान है अर्थात् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञान, "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसेत्। जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः" ॥ (गौडपादाचार्य)। मोक्षप्राप्ति में परंपरया कारण है। इसलिये—'तद्विषयजिज्ञासां' = सांख्यशास्त्रविषयक ज्ञान की इच्छा को 'अवतारयति' = प्रथम कारिका के द्वारा प्रस्तुत करते हैं।[2]

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

अन्वयः—दुःखत्रयाऽऽभिघातात्, तदपघातके हेतौ जिज्ञासा (भवति), दृष्टे, सा अपार्था चेत् न, एकान्तात्यन्ततोऽभावात्।

---

१. "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" (सां० सू० १।१) पुरुषस्य अर्थः = प्रयोजनं पुरुषार्थः इति विग्रहः। 'धर्मार्थकाममोक्षाश्च पुरुषार्था उदाहृताः" (अग्निपुरा०) यत् ज्ञातं सत् स्ववृत्तितया इष्यते स पुरुषार्थः, बलवद्द्वेषाविषयो वा, तत्र सुखं-दुःखाभावश्च पुरुषार्थः इति नैयायिकाः। भक्तिः पुरुषार्थः इति वैष्णवाः। भोगापवर्गौ पुरुषार्थः इति तु सांख्याः।

२. भाष्यकार कहते हैं—आयुर्वेदशास्त्र की तरह यह मोक्षशास्त्र भी चतुर्व्यूह है। जैसे—रोग, आरोग्य, रोगनिदान और भैषज्य—ये चार व्यूह (समूह) आयुर्वेदशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय हैं वैसे ही हेय, हान, हेयहेतु और हानोपाय—ये चार व्यूह (समूह) मोक्षशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय होते हैं। मुमुक्षुओं को इन्हीं की जिज्ञासा रहती है। तीनों प्रकार के दुःख हेय हैं। उनकी अत्यन्त निवृत्ति—हान है, प्रकृति-पुरुष संयोग द्वारा अविवेक—हेयहेतु और विवेकख्याति—हानोपाय इस रीति से यह चतुर्व्यूह शास्त्र कहलाता है।

भावार्थः—दुःखत्रयाऽभिघातात्—दुःखत्रयेण सह = तीनों प्रकार के दुःखों के साथ, अभिघातात्[1] = आत्मा का अनिष्ट (असह्य) संबन्ध होने से, तदपघातके = दुःखत्रयोच्छेदक (त्रिविध दुःखों के अत्यन्त उच्छेदात्मक मोक्ष के उत्पादक) हेतौ=निमित्तकारणभूत विवेक के, जिज्ञासा= जानने की इच्छा, अर्थात मोक्षप्राप्ति में निमित्त क्या है यह जानने की इच्छा (भवति = सभी को रहती है), किन्तु दृष्टे =दुःखोच्छेदक लोकप्रसिद्ध औषधादि सरल उपायों के रहते, सा = अयाससाध्य कठिन विवेक की जिज्ञासा करना, अपार्था = व्यर्थ है, चेत् = ऐसी आशंका हो तो, न = वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'एकान्तात्यन्ततोभावात्' लौकिक उपाय से एकान्तस्य[2] =दुःख-निवृत्ति के अवश्यंभाव का (निश्चय का), तथा अत्यन्तस्य[3] =दुःख की पुनः अनुत्पत्ति का अभा-वात्=असंभव होने, से, दृष्ट उपाय जिज्ञास्य नहीं है बल्कि सांख्यशास्त्रोक्त उपाय ही जिज्ञास्य है।

हेय, हेयसाधन, हान, हानसाधक की दृष्टि से यह शास्त्र चतुर्व्यूह है और यही मुमुक्षुओं का जिज्ञासित है। सभी को प्रतिकूल वेदनीय होने से दुःख ही 'हेय' है, प्रकृति-पुरुष संबन्धी अविवेक ही 'हेयहेतु' है, दुःख की अत्यन्त निवृत्ति 'हान' है यही परमपुरुषार्थ[4] है, और हानहेतु है प्रकृति-पुरुष के विवेक को कराने वाला शास्त्र। इस कारण परमपुरुषार्थ तो स्वयं ही इष्ट (अभिलषित) होने से उसके उपायभूत शास्त्र के संबंध में विद्वानों को इष्टसाधनता का ज्ञान होने से अर्थात् विद्वान् लोग इस शास्त्र को अपने इष्ट का साधन समझते हैं इसलिये उसमें जिज्ञासा होती है इस अभिप्राय से प्रवृत्त हुई कारिका की व्याख्या करने की इच्छा से व्याख्याकार श्री वाचस्पति मिश्र शास्त्रविषय की अजिज्ञास्यता में प्रतिपक्षी के द्वारा संभाव्यमान, प्रयोजकों (कारणों) के खण्डनार्थ उनमें प्रथमत; अनेक प्रकार से विकल्प प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३) शास्त्रविषयकजिज्ञासाया आवश्यकत्वशङ्का।

"दुःख—" इति। एवं हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत, यदि दुःखं नाम जगति न स्यात्, सद्वा न जिहासितम्, जिहासितं वा अशक्यसमुच्छेदम्, (अशक्यसमुच्छेदता च द्वेधा, दुःखस्य नित्यत्वात्, तदुच्छेदोपायापरिज्ञानाद्वा)। शक्यसमुच्छेदत्वेऽपि च शास्त्रविषयस्य ज्ञानस्यानुपायभूतत्वाद्वा, सुकरस्योपायान्तरस्य सद्भावाद्वा॥

---

१. न्यायमते अभिघातो नाम शब्दजनकसंयोगः, सांख्यमते तु अभिघातो नाम बन्धजनकसंयोगः दुःखं बुद्धितत्त्वे वर्तते, आत्मापि प्रतिबिम्बितत्वसंबधेन बुद्धितत्त्वे वर्तते, यत्र आत्मप्रतिबिम्बे दुःखं संक्रामति, तद् दुःखम् आत्मनः प्रतिकूलवेदनीयं भवति। अतः प्रतिकूलवेदनीयत्वापराभिधानः बन्ध-जनकसंयोगः दुःखत्रयेण सह आत्मनः सम्बन्धः, इति किरणावली।

अभितः बुद्धितत्वपुरुषौ हन्ति गच्छति इति अभिघातशब्दव्युत्पत्तिः।

२. दुःखनिवृत्तौ एकान्तत्वम्—उपायानुष्ठानानन्तरं नियमेन भवनशीलत्वम्।

३. अत्यन्तत्वं च—भविष्यद्दुःखासहवर्तित्वम्।

४. भोगापवर्गौ हि पुरुषार्थौ, यत्कृते प्रधानप्रवृत्तिरिति सांख्याः। तत्र भोगस्तावत् जन्यभाव-तया न अन्तम् अतिक्रामति, तेन एष पुरुषार्थोऽपि न अत्यन्तपुरुषार्थः। अन्तम् अतिक्रामतः पुरुषार्थस्यैव अत्यन्तपुरुषार्थत्वात्। अत एव तत्साधनोपदेशपरं शास्त्रमपि नारंभणीयम् मन्दप्रयोज-नत्वापत्तेः। किन्तु दुःखात्यन्तनिवृत्तिसाधनोपदेशायैव। यतो दुःखात्यन्तनिवृत्तिरेव अन्तम् अति-क्रामन्ती पुरुषमात्राभिलाषगोचरतया परमपुरुषार्थं। तथा च प्रकृतशास्त्रार्थो ज्ञातः सन् परमपुरुषार्थ-समर्थो यतः अतो भवति अस्य अर्थस्य प्रतिपित्सितत्वम्—इति सारबोधिनी।

पूर्वोक्त शास्त्रीय जिज्ञासा का समर्थन करने के लिये अनेक विकल्पों को उपस्थित कर उनका निरसन करते हुए कारिका की व्याख्या का आरंभ करते हैं—'एवं हि'·· इत्यादिग्रन्थ से।

शास्त्रविषयक जिज्ञासा की आवश्यकता पर शंका

प्रथम विकल्प, यदि संसार में दुःख नाम की कोई वस्तु ही न हो तो शास्त्रविषय[1] अर्थात् शास्त्र के द्वारा बताये जानेवाले तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा कोई भी नहीं करेगा।

द्वितीय विकल्प—'सद्वा न जिहासितम्' इति। दुःख के विद्यमान रहने पर भी यदि उसे छोड़ना न चाहे तब भी शास्त्रविषय की जिज्ञासा कोई नहीं करेगा।

तृतीय विकल्प—'जिहासितं वा अशक्यसमुच्छेदम्' इति। दुःख के त्यागने की इच्छा रहने पर भी यदि प्रयत्न से भी उस दुःख की निवृत्ति, न होती हो तब भी शास्त्रीय तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा कोई न करेगा। अब दुःखनिवृत्ति के संभव न हो सकने में दो तरह के प्रयोजक हो सकते हैं—एक तो 'दुःखस्य नित्यत्वाद्' इति। सांख्यशास्त्र सत्कार्यवादी[2] होने से उसके मत में दुःखरूप कार्य भी सदैव विद्यमान रहेगा, उसका नाश (निवृत्ति) तो कभी हो ही नहीं सकता अतः किसी प्रकार का भी प्रयत्न दुःख की निवृत्ति कराने में समर्थ नहीं हैं अर्थात् दुःख नित्य है।

आक्षेप—तथापि (दुःख के नित्य रहने पर भी) उसका (दुःख का) प्रयत्न (उपाय) के द्वारा तिरोभाव (प्रकट न होने देना) तो किया जा सकता है। इस आक्षेप से बचने के लिये दूसरा प्रयोजक बताते हैं—'तदुच्छेदोपायाऽपरिज्ञानाद् वा' इति। दुःखनाश (निवृति, उच्छेद) का उपाय ही यदि ज्ञात न हो तब दुःख कैसे दूर किया जा सकता है अर्थात उसका तिरोभाव कैसे कर सकते हैं।

चतुर्थ विकल्प—'शक्यसमुच्छेदत्वेऽपि' इति। हाँ, दुःख की निवृत्ति होना संभव मान लेने पर भी उसके दूर करने का उपाय, यदि सांख्यशास्त्रीय तत्त्वज्ञान न हो तब भी सांख्यशास्त्रीयतत्त्वज्ञान की जिज्ञासा कोई नहीं करेगा।

पञ्चम विकल्प—'सुकरस्य' इति। तत्त्वज्ञान की अपेक्षा कोई अन्य सरल उपाय यदि हो तब तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा करना अनावश्यक है। उस स्थिति में सांख्यशास्त्रीय तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा कोई नहीं करेगा।

(४) त्रयाणां दुःखानां व्युत्पादनम्, तदस्तित्वसाधनं च ॥

तत्र न तावद्दुःखं नास्ति; नाप्यजिहासितमित्युक्तम्—"दुःखत्रयाभिघातात्" इति। दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम्। तत् खलु आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्च। तत्राध्यात्मिकम् द्विविधम्, शारीरं मानसं च। शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्, मानसं कामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याविषादविषयविशेषादर्शननिबन्धनम्। सर्वञ्चैतदान्तरिकोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्। बाह्योपाय-

---

१. शास्त्रविषयः = दुःखत्रयाऽत्यन्तविघटक-सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारात्मक-विवेकज्ञान-जनक-प्रकृतशास्त्रप्रतिपाद्यतत्त्वज्ञानम्। (किरणावली)

२. 'कार्यं सत्' कार्य सदैव विद्यमान—रहता है, ऐसी कोई अवस्था नहीं, जिस समय कार्य न हो। कभी वह प्रकट रूप में तो कभी, अप्रकट रूप में रहता है। यही सांख्य का सत्कार्यवाद है।

साध्यं दुःखं द्वेधा, आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्च। तत्राधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्, आधिदैविकं तु यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेशनिबन्धनम्। तदेतत् प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्। तदनेन दुःखत्रयेणान्तःकरणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलवेदनीयतयाऽभिसम्बन्धोऽभिघात इति। एतावता प्रतिकूलवेदनीयत्वं जिज्ञासाहेतुरुक्तः। यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखम्, तथापि तदभिभवः शक्यः कर्तुमित्युपरिष्टादुपपादयिष्यते। तस्मादुपपन्नम्, "तदपघातके हेतौ" इति तस्य दुःखत्रयस्य अपघातकः तदपघातकः। उपसर्जनस्यापि बुद्ध्या सन्निकृष्टस्य 'तदा' परामर्शः। अपघातकश्च हेतुः शास्त्रप्रतिपाद्यो, नान्य इत्याशयः॥

प्रथम विकल्प का निरसन—'तत्र न तावत्०' इति। 'उक्त पांच विकल्पों में' 'दुःखं नाम जगति न स्यात्' यह प्रथम विकल्प अर्थात् दुःख है ही नहीं कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दुःख तो सर्वानुभवसिद्ध है।

(४) तीन प्रकार के दुःखों का उपपादन और उनके अस्तित्व की सिद्धि।

द्वितीय विकल्प का निरसन—'नाऽप्यजिज्ञासितम्' इति। द्वितीय विकल्प 'सद् वा न जिज्ञासितम्' भी ठीक नहीं, क्योंकि सभी कोई, दुःख को अपने प्रतिकूल ही समझता है। इसलिये तो दुःख से छुटकारा पाने की सभी लोग इच्छा करते हैं। उक्त अभिप्राय को हृदय में रखकर ही कारिका में "दुःखत्रयाभिघातात्" कहा गया है। अर्थात् प्रथमकारिका के 'दुःखत्रयाभिघातात्' अंश से "दुःखमेव नास्ति" और "सत्त्वेऽपि वा न जिज्ञासितम्" इन दो विकल्पों का निराकरण किया गया है। अब 'दुःखत्रय' का विग्रह दिखाते हैं—'दुःखानां त्रयं' = दुःखत्रयम् इति।

शंका—"त्रिविधं दुःखम्" सूत्र से ही दुःख की त्रिविधता का ज्ञान स्पष्टतया होता है। तब विग्रह प्रदर्शन करने की आवश्यकता क्यों हुई ?

समाधान—'दुःखानां त्रयम्' यह उत्तरपद प्रधान तत्पुरुष है। उत्तरपद की प्रधानता के द्वारा दुःखों की विजातीयता और असंख्यता बताई गई है। दूसरा समाधान इस प्रकार भी हो सकता है कि "संख्यापूर्वो द्विगुः" नियम के अनुसार 'त्रिदुःखम्' कोई न कह बैठे, इसलिये यह विग्रह प्रदर्शन करना आवश्यक समझा गया।

अब दुःख की त्रिविधता को बताते हैं—'तत् खलु' इति आध्यात्मिक[1] आधिभौतिक[2] और आधिदैविक[3] तीन प्रकार के दुःख होते हैं। उन तीन दुःखों में आध्यात्मिक दुःख, [4]शारीर—

---

१. आत्मानं = शरीरं मनश्च अधिकृत्य = निमित्तीकृत्य जायमानम्—आध्यात्मिकम्। अध्यात्मादिस्वाट्ठञ्, अनुशतिकादीनां चेत्युभयपदवृद्धिः। ठस्येकः।

२. भूतानि = व्याघ्रसर्पादीनि जातम्—आधिभौतिकम्। अध्यात्मादित्वाट्ठञ्, अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः। ठस्येकः।

३. देवान् = अग्निवाय्वादीन् अधिकृत्य प्रवृत्तम्—आधिदैविकम्। अध्यात्मादित्वाट्ठञ्, उभयपदवृद्धिः ठस्येकः।

४. शरीरे भवम्—शारीरम्, 'तत्र भवः' इति अण्, आदिवृद्धिः।

मानस[१] भेद से दो प्रकार का होता है। शारीर दुःख वह है जो वात-पित्त-कफ के प्रकोप से होने वाले ज्वरादि या शरीर में स्वाभाविक रूप से होने वाले भूख-प्यास आदि। और मानस दुःख वह है जो मन (अन्तःकरण) में काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद तथा विषय विशेष के अदर्शन से होते हैं।

शंका—दुःख, मनोधर्म होने से मन से ही उसकी उत्पत्ति है अतः सभी दुःखों को 'मानस' ही क्यों न कहा जाय ?

समाधान—'यन्मनोमात्रजन्यं'—जो केवल मन से पैदा होता है उसे मानस और 'अन्य-निमित्तसापेक्षं मनोजन्यं'—जो अन्य निमित्त की सहायता लेकर मन से पैदा होता है उसे शारीर कहते हैं। उक्त शारीर तथा मानस दुःखों को 'आध्यात्मिक' कहने का कारण बताते हैं "सर्वं चैतद् आन्तरोपायसाध्यत्वात्०"[२] इति। सभी शारीर-मानस दुःखों को शरीर या अन्तःकरण में प्रभाव दिखाने वाले अन्न-जल, औषधि-आदि उपायों (साधनों) के द्वारा साध्य[३] अर्थात् निवृत्त (हटाया) किया जाता है, इसलिये लक्षणा से दुःख को भी आध्यात्मिक कहा गया है क्योंकि दुःख भी शरीर के भीतर ही होता है। अन्न, शरीर के भीतर प्रवेश पाकर ही बुभुक्षा को मिटाता है, जल शरीर के भीतर प्रवेश पाकर ही पिपासा को दूर करता है, औषधि, शरीर के भीतर प्रवेश पाकर ही ज्वरादि रोगों को नष्ट करती है।

भीतरी (आन्तर) दुःख की तरह बाहरी (बाह्य) दुःख के भी दो प्रकार हैं—'बाह्योपाय-साध्यम्' इति। शरीर के भीतर प्रवेश न करने वाले मणिमन्त्रादि उपायों के द्वारा दूर किये जाने वाले दुःखों को बाह्य दुःख कहते हैं। आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से उसके दो भेद हैं। चोर-राजा आदि मनुष्य, ग्राम्य चतुष्पद गो अश्वादि पशु, पंख वाले गृध्रादि पक्षी, अल्प-चरण या चरणरहित सर्प वृश्चिकादि सरीसृप, प्रायः प्रत्यक्ष चेष्टारहित विषवृक्षादिस्थावर आदि के कारण होने वाले दुःख को आधिभौतिक दुःख कहते हैं। और आधिदैविक दुःख उसे कहते हैं जो देवयोनिविशेष यक्ष, राक्षस तथा विनायकावेश और ग्रहों के आवेश से होता है। शारीर और मानस दुःख को एक मानकर दुःख की त्रिविधता बताई गई है[४]।

---

१. मनसि भवम्—मानसम्, 'तत्र भवः' इति अण्, आदिवृद्धिः।

२. शरीराभ्यन्तरेऽन्तःकरणाऽऽभ्यन्तरे वा भवाः वर्तमाना उपायाः वातपित्तादयोऽभ्यान्तरोपायाः, कामादयोऽभ्यान्तरोपायाः, तत्साध्यत्वाद् = तज्जन्यत्वात् तन्निष्पाद्यत्वादिति यावत् ॥ इति किरणावली।

३. 'असाध्योऽयं रोगः' यहां 'साध्' धातु का 'निवृत्ति' अर्थ होता है अतः 'साध्य' का अर्थ 'निवर्तनीय' किया गया है।

४. वस्तुतस्तु दुःखं द्विविधम्—आन्तरं बाह्यं च। आद्यं द्विविधं शारीरं मानसं च। अन्त्यमपि द्विविधम्, 'आधिभौतिकम्' 'आधिदैविकं च 'इत्येवं चतुर्विधं दुःखम्'। अत एव "बाह्योपायसाध्यं च दुःखं द्वेधा" इति उभयसाधारणधर्मोपपादकाग्रिमतद्ग्रन्थोऽपि सङ्गच्छते। अन्यथा तदुपपादनस्य निष्प्रयोजनत्वापत्तेः।

परमार्थतस्तु दुःखं द्विविधमेव, शारीरं मानसं च। देवसंपादितस्य भूतकृतस्य वा दुःखस्य वस्तुतः मनःशरीरयोरेव जायमानत्वात्, नहि शरीरं मनश्च विहाय तत्कृतेऽन्यत् स्थानमस्ति येन आधिदैविकस्याधिभौतिकस्य पार्थक्येन कल्पनं सार्थकं स्यात्। तस्मात् त्रिधा चतुर्धा वा तत्प्रपञ्चनं केवलं शिष्यधीवैशद्यार्थमेवेति नव्याः (इति छात्रबोधिनी)।

पूर्वोक्त विकल्प के समाधानार्थं 'न तावत् दुःखं नास्ति' कहा था उसी को पुष्ट करने के लिये कहते हैं—"तदेतत्प्रत्यात्मवेदनीयम्" इति। बुद्धि में रहनेवाले रजोगुण के दुःखरूप कार्य का अनुभव सभी को है, अतः उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः "दुःखं नाम जगति नास्ति" कहना, केवल साहस करना है। इस प्रकार प्रथम विकल्प का निराकरण किया गया है। इसलिये मुमुक्षु को सांख्यशास्त्र प्रतिपाद्य तत्त्व की जिज्ञासा अवश्य करनी ही चाहिये।

अब द्वितीय विकल्प "सद् वा न जिहासितम्" का निराकरण करने के लिये कारिका के 'अभिघात' पद की व्याख्या करते हैं "तदनेन दुःखत्रयेण" इति। तदनेन = अभी-अभी बताये गये (अनुपदोक्त) सर्वानुभवसिद्ध अन्तःकरणवर्ती दुःखत्रय के साथ चेतनाशक्ति[1] अर्थात् पुरुष का जो प्रतिकूल (अनभीष्ट, द्वेष्यरूप से) अभिसंबंध = असह्यसंबंध है। उसी को अभिघात कहते हैं। दुःख, चेतन का धर्म नहीं है यह बताने के लिये ही 'अन्तःकरणवर्तिना' विशेषण, दुःख के साथ जोड़ा गया है।

प्रश्न—यदि दुःख, चेतन का धर्म नहीं है, तो चेतन का उसके साथ संबन्ध कैसे?

उत्तर—बुद्धि (अन्तःकरण) में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ने से चेतन में बुद्धिसारूप्य की प्रतीति होती रहती[2] है। तब विवेक न होने के कारण उसका दुःख के साथ संबंध ज्ञात होता है।

इस प्रकार 'दुःखं न जिहासितम्' द्वितीय विकल्प का निराकरण हो जाता है, यह बताने के लिये कहते हैं—"एतावता प्रतिकूल०" इति। दुःख-सम्बन्ध को असहनीय कहने से उसका अभीष्ट न होना ही उसके (दुःख के) त्यागने की इच्छा में कारण है—यह कहा गया है। तात्पर्य यह है कि दुःख-संबन्ध अभीष्ट न होने से वह जिहासित है—यह भाव 'अभिघातात्' में प्रयुक्त हेतुपंचमी से निकल रहा है।

अब तृतीय विकल्प 'जिहासितं वा अशक्यसमुच्छेदम्' का निराकरण करने के लिये दुःख-निवृत्ति का उपपादन करते हैं—'यद्यपि न सन्निरुध्यते०" इति।

शंका—सत्कार्यवादी सांख्य का सिद्धान्त है कि "नासत उत्पादो न वा सतो निरोधः" अतः दुःखत्याग की इच्छा रहने पर भी, दुःख के सत् (अस्तित्व) होने से उसका विनाश होना संभव ही नहीं तब सांख्यशास्त्र विषयक जिज्ञासा कैसे की जा सकेगी?

समाधान—यद्यपि सांख्यसिद्धान्त के अनुसार दुःख, नित्य होने से उसका समूल उच्छेद (अत्यन्त विनाश) नहीं किया जा सकता तथापि अभिभव अर्थात् विनाशसामग्री का सम्पादन करके प्रतिरोध (उसको शान्त करना-प्रकट न होने देना) तो किया ही जा सकता है। तात्पर्य यह है कि विवेकज्ञान से, अनागत दुःख की उत्पत्ति को रोका जा सकता है।

शंका—किस प्रकार रोका जाता है?

---

१. "आत्मा, पुरुषः, दृक्शक्तिः, चेतनः, चेतनाशक्तिः, चितिः" यह सब शब्द समानार्थक हैं।

२. "यद्यपि सांख्यानां दुःखादि सर्वं बुद्धेरेव; न पुरुषस्य आत्मनः। तस्य कूटस्थनित्यत्वेन दुःखादिपरिणामानभ्युपगमात्। तथापि दुःखादिमत्या बुद्धेः सन्निधानात् पुरुषस्यात्मनः तत्र प्रतिबिम्बिततया बुद्धेरेव वा तत्र प्रतिबिम्बिततया दुःखादिच्छायाप्रत्तौ विवेकाग्रहाभावेन सूर्ये बिम्बे जलकम्पादिवत् औपाधिकं पुरुषेऽपि दुःखादि सर्वमस्त्येवेति॥" इति छात्रबोधिनी।

उत्तर—'इत्युपरिष्टान्निवेदयिष्यते' इति, अर्थात् "एवं तत्त्वाभ्यासात्" (का० ६४–६५) कारिकाओं में कहेंगे । सार यह है कि नैयायिकों की तरह सांख्य में भाव कार्य की उत्पत्ति या प्रध्वंस नहीं माना जाता । सांख्य, सत्कार्यवादी होने से, कार्य की उत्पत्ति तथा विनाश तो उसके मत में असंभव ही है । अतः सांख्य के मत में प्रत्येक भावपदार्थ, अपनी उत्पत्ति से पूर्व स्व-कारण में सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है । अनागतावस्था में रहने के कारण ही उसे 'अव्यपदेश्य' कहते हैं ।

और जब कारण के व्यापार से वह स्थूलावस्था में लाया जाता है अर्थात् वर्तमान अवस्था में स्थित कराया जाता है तब उसे 'उदित' कहते हैं और नाशक सामग्री के द्वारा कारण के रूप में उसे समाविष्ट कराकर अतीत अवस्था में पहुँचा दिया जाता है तब उसे 'शान्त' कहते हैं इसी को पतञ्जलि ने योगशास्त्र में 'शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी' (यो. सू. ३।१४) सूत्र से बताया है । सार यह है कि सांख्यशास्त्र में दुःख को सदा के लिये अतीत अवस्था में पहुँचा देना ही 'दुःखोच्छेद' कहलाता है । अत्यन्त नाश में दुःखोच्छेद का तात्पर्य नहीं है ।

पहले जो कहा गया था कि 'प्रतिकूलवेदनीय' (अनभिलषित, द्वेष्य) होने से दुःख की जिहासा (त्यागने की इच्छा) होती है, अतः सांख्यशास्त्र के विषय की जिज्ञासा का होना संभव है, उसी का उपसंहार करते हैं—"तस्मादुपपन्नम्" इति । जब कि दुःख को दबा दिया जा सकता है तब दुःखत्रय के अपघातक हेतु की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) पुरुष को होती है—अर्थात् अभिभावक यह प्रथम कारिका में कहा गया था वह उपपन्न (उचित) है ।

'तदपघातके' इस समस्त-पद के 'तद्' का अर्थ करते हैं—"तस्य दुःखत्रयस्य०" इति ।

शंका—सर्वनामों का स्वभाव है कि वे प्रधान के ही परामर्शक होते हैं अतः 'तद्' शब्द दुःखत्रय को नहीं बता सकता, क्योंकि—'दुःखत्रयाभिघातात्' इस समास में दुःखत्रय का प्रयोग होने से वह गुणीभूत (गौण) हो गया है ।

समाधान—'उपसर्जनस्यापि' इति । समास के अन्तर्गत होने से गुणीभूत (उपसर्जन) हुए दुःखत्रय का सर्वनाम 'तद्' शब्द से परामर्श (उन्नयन, अध्याहार) किया जा सकता है, क्योंकि उसे बुद्धि के द्वारा समाकृष्ट अर्थात् कल्पना के द्वारा ज्ञात (ज्ञानारूढ) कर लिया है ।[1]

शंका—शास्त्रीय-तत्त्वज्ञान, दुःखोच्छेद का उपाय है या नहीं ? यदि यह उपाय न हुआ तो (इस आशंका से) उठाये गये चतुर्थ विकल्प 'शास्त्रविषयज्ञानस्यानुपायत्वाद्वा' का निराकरण करते हैं–"अपघातकश्च०" इति । यहाँ 'च' शब्द का 'अवधारण=निश्चय' अर्थ है, और 'शास्त्रप्रतिपाद्यः' के पश्चात् उसे रखकर 'शास्त्रप्रतिपाद्य एव' समझना चाहिये अर्थात् सांख्यशास्त्र के द्वारा बताया जाने वाला तत्त्वज्ञान ही त्रिविध दुःखों के उच्छेद का उपाय है, इसलिये उसकी जिज्ञासा करना उचित ही है ।

शंका—दुःखत्रय के उच्छेदक जिस किसी भी उपाय (हेतु) की जिज्ञासा की जा सकती है, तब सांख्यशास्त्रीय तत्त्वों की ही जिज्ञासा क्योंकर होगी ? इस आशंका से किये गये पञ्चम-विकल्प 'सुकरस्योपायान्तरस्य सद्भावाद्वा' का निराकरण करने के लिये ऊपर कहे गये प्रकार 'शास्त्रप्रतिपाद्य एव' में 'एव' का व्यवच्छेद्य बताते हैं 'नान्यः' इत्याशयः । सांख्य शास्त्र में कहे गये तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है—जो दुःखोच्छेदन में समर्थ हो ।

---

१. सर्वनामानि न केवलं प्रधानपरामर्शकान्येव, किन्तु बुद्धिस्थपरामर्शकान्यपि ।

अत्र शङ्कते—"दृष्टे साऽपार्था चेत्" इति। अयमर्थः। अस्तु तर्हि दुःखत्रयम्, जिहासितं च तद्भवतु, भवतु च तच्छक्यहानम्, सहतां च शास्त्रगम्य उपायस्तदुच्छेत्तुम्। तथाऽप्यत्र प्रेक्षावतां जिज्ञासा न युक्ता, दृष्टस्यैवोपायस्य तदुच्छेदकस्य सुकरस्य विद्यमानत्वात्, तत्त्वज्ञानस्य तु अनेकजन्माभ्यासपरम्परायाससाध्यतयाऽतिदुष्करत्वात्। तथा च लौकिकानामाभाणकः—

(५) सुकरस्य दृष्टस्योपायस्य सत्त्वे शास्त्रविषयकजिज्ञासाया वैयर्थ्यापत्तिः॥

'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥' इति।

सन्ति चोपायाः शतशः शारीरदुःखप्रतीकारायेषत्करा भिषजां वरैरुपदिष्टाः। मानसस्यापि सन्तापस्य प्रतीकाराय मनोज्ञस्त्रीपानभोजनविलेपनवस्त्रालङ्कारादिविषयसम्प्राप्तिरुपायः सुकरः। एवमाधिभौतिकस्यापि दुःखस्य नीतिशास्त्राभ्यासकुशलतानिरत्ययस्थानाध्यासनादिः प्रतीकारहेतुरीषत्करः। तथाऽऽधिदैविकस्यापि मणिमन्त्रौषधाद्युपयोगः सुकरः प्रतीकारोपाय इति॥

'नान्यः दुःखोच्छेदकः उपायः' दुःखोच्छेदक दूसरा उपाय नहीं है-इस सिद्धान्त को सुदृढ करने के लिये पुनः शंका करते हैं—"दृष्टे साऽपार्था चेत्" इति। शंका का आशय बताते हैं—'अयमर्थः' इति। आध्यात्मिकादि तीनों दुःखों का अस्तित्व भले ही हो, व उनके त्याग करने की इच्छा भी हो, तथा उन दुःखों का उच्छेद करना संभव भी हो, और शास्त्रप्रतिपाद्य उपाय, उनके उच्छेद करने में समर्थ हो, तथापि सांख्यशास्त्र-प्रतिपादित तत्त्वविचार की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) करना उचित न होगा। क्योंकि दुःखोच्छेदन के कितने ही औषधादि सरल उपाय, लोकव्यवहार में प्रसिद्ध हैं।

(५) लौकिक सरल उपायों के रहते शास्त्र-जिज्ञासा के व्यर्थ होने की कल्पना

तब सरल उपायों को छोड़ कठिन उपाय की जिज्ञासा करना कौन चाहेगा। लोक कहावत भी हमारे विचार की पोषक है—[1]'अर्के चेन्मधु०' इति। मधु की खोज में पर्वत की ओर जाने वाले को यदि समीप ही मधु मिल जाय तो पर्वत पर वह क्यों जायगा? इसी प्रकार अभिलषित अर्थ की प्राप्ति यदि सरल उपाय से हो रही हो तो कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा कि उसकी प्राप्ति के लिये कठिन उपाय को अपनाने के प्रयत्न में लगा रहेगा? अर्थात् कोई नहीं।

कौन से वे सरल उपाय हैं जिनसे इस कठिन उपाय की जिज्ञासा न करनी पड़े—इस प्रश्न के उपस्थित होने पर उन सरल उपायों को दिखला रहे हैं—"सन्ति चोपाया" इति। धन्वन्तरि, चरक आदि उत्कृष्टतम वैद्यों ने ज्वर-अतिसार प्रभृति शारीरिक दुःखों को दूर करने के रसायनादि सैकड़ों सरल से सरल उपाय बताये हैं, जिनके सेवन से शारीरिक दुःख दूर हो जाता है, तब उसके लिये शास्त्रजिज्ञासा करना व्यर्थ है।

इस पर यदि आप कहें कि इन उपायों से शारीरिक दुःख का उच्छेद होने पर भी मानसिक दुःख तो कायम रहेगा ही, वह इन उपायों से दूर नहीं किया जा सकता, अतः शास्त्र-जिज्ञासा करना व्यर्थ नहीं है।

१: समीपवचनोऽर्कशब्दः-आनन्दगिरिः। (वे. ३-४-३) 'अक्के' इति पाठान्तरम्।

इस पर कहते हैं—'मानसस्यापि॰' इति। काम-क्रोधादि मानसिक दुःखों को दूर करने के लिये अभिलषित स्त्री की प्राप्ति, आसवपान, सुन्दर भोजन, सुगंधि द्रव्य का विलेपन, महार्घवस्त्र, रत्न-सुवर्ण के अलंकारों की प्राप्ति ही सुन्दर उपाय है। क्योंकि अभिलषित वस्तु के न मिलने पर ही तो मानसिक दुःख होता है। अतः इस मानसिक दुःख को दूर करने के निमित्त भी शास्त्र-जिज्ञासा की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार शारीर-मानसरूप आध्यात्मिक दुःख को दूर करने का सरल उपाय बताया। अब आधिभौतिक दुःख को दूर करने का सरल उपाय बताते हैं—"एवमाधिभौतिकस्य॰" इति। व्याघ्र आदिकों से होने वाले आधिभौतिक दुःखों को दूर करने के सरल उपाय—बृहस्पति-शुक्र-कामन्दक आदि नीतिशास्त्राचार्यों की नीतियों का दृढ अभ्यास रहना, निर्बाध-निरुपद्रव-सुरक्षित स्थान में रहना, मणि-मंत्र-यंत्र आदि को पास रखना आदि कितने ही हैं। इनसे आधिभौतिक दुःख भी दूर किया जा सकता है, अतः उक्त दुःख को दूर करने के निमित्त शास्त्रजिज्ञासा की कोई आवश्यकता नहीं है।

अब आधिदैविक दुःख को दूर करने का सरल उपाय बताते हैं—"तथाऽऽधिदैविकस्यापि॰" इति। मणियों का धारण, मंत्रों का पठन, औषधियों का उपयोग करने से यक्षादिकों से होने वाले आधिदैविक दुःख दूर किये जा सकते हैं। अतः उसके लिये भी शास्त्रजिज्ञासा की कोई आवश्यकता नहीं है।

(६) वैयर्थ्यापत्तिनिराकरणम्—परिगणितोपायेभ्य आत्यन्तिकैकान्तिकदुःखनिवृत्तेरदर्शनम्।

निराकरोति—"न" इति। कुतः ? "एकान्तात्यन्ततोऽभावात्"। "एकान्तो" दुःखनिवृत्तेरवश्यम्भावः, "अत्यन्तो" निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादः, तयोः एकान्तात्यन्तयोरभावः "एकान्तात्यन्ततोऽभावः"। षष्ठीस्थाने सार्वविभक्तिकस्तसिः। एतदुक्तं भवति, यथाविधि रसायनादिकामिनीनीतिशास्त्राभ्यासमन्त्राद्युपाययोगेऽपि तस्य तस्याध्यात्मिकादेर्दुःखस्य निवृत्तेरदर्शनात् अनैकान्तिकत्वम्, निवृत्तस्यापि पुनरुत्पत्तिदर्शनात् अनात्यन्तिकत्वम्, इति सुकरोऽपि ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखनिवृत्तेर्न दृष्ट उपाय इति नाऽपार्था जिज्ञासेत्यर्थः॥

(६) व्यर्थ होने की कल्पना का निराकरण और परिगणित उपायों से दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति का न होना।

लौकिक तथाकथित उपायों से दुःखों की यथाभिलषित निवृत्ति नहीं होती—इस अभिप्राय से कारिका के 'न' अंश की व्याख्या करते हैं—"निराकरोति 'न' इति।" अर्थात् 'दृष्टे साऽपार्था' इस आशंका का 'न' पद से निराकरण करते हैं। अब लौकिक उपायों के निराकरण का कारण पूछ रहे हैं—"कुतः" इति। दुःख की साधारणतया निवृत्ति अपेक्षित नहीं है किन्तु ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक रूप से निवृत्ति होना चाहते हैं क्योंकि वही तो परम-पुरुषार्थ है। वह लौकिक उपायों से कभी भी सुप्राप्य नहीं है—इस अभिप्राय को मन में रखकर कारिका में बताये गये हेतु को दिखाते हैं—"एकान्तात्यन्ततोऽभावात्॰"। 'एकान्त' शब्द की व्याख्या करते हैं "दुःखनिवृतेः अवश्यंभावः"। अर्थात् उपाय करने पर दुःखनिवृत्ति का अवश्य होना। 'अत्यन्त' शब्द की व्याख्या करते हैं—"निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादः।"

अर्थात् भविष्य के दुःख के साथ न रहना। सार यह है कि लौकिक उपाय करने पर अवश्यमेव दुःख की निवृत्ति होगी, नहीं कहा जा सकता, अतः एकान्तता नहीं। इसी तरह लौकिक उपाय से दुःखनिवृत्ति कदाचित् हो भी जाय तो वह दुःखनिवृत्ति, भविष्यद् दुःख की असहवर्ती नहीं, अतः अत्यन्तत्व भी नहीं। इस रीति से दृष्ट उपाय के द्वारा एकान्त तथा अत्यन्त रूप से दुःखोच्छेद न हो सकने के कारण लौकिक उपायों की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिये। विग्रह दिखाया गया है—"तयोः एकान्तात्यन्तयोः अभावः" इति। पञ्चम्यन्तपद के न रहने पर भी 'एकान्तात्यन्त'-'तः' तसिल् प्रत्यय कैसे हुआ? उत्तर दिया कि "षष्ठीस्थाने सार्वविभक्तिकः तसिः।" अर्थात् यहाँ 'तसिल् प्रत्यय नहीं है किन्तु "आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्" (पा. ५-४-४४) से 'तसि' प्रत्यय किया है।

अभी कह आये हैं कि लौकिक उपायों से दुःख की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो पाती, इस पर कैसे विश्वास किया जाय? तब निष्कर्षरूप से बताते हैं—"एतदुक्तं भवति" इति। तत्तद्-शास्त्रोक्त विधि के अनुसार रसायनादि औषधियों के, मनमोहक कामिनियों के उपयोग करने पर भी तथा नीतिशास्त्र के दृढतर अभ्यास के द्वारा सामयिक प्रयोग के करने पर भी आध्यात्मिकादि असाध्य दुःखों (रोगों) की निवृत्ति नहीं हो पाती अतः अनैकान्तिकता है और निवृत्त हुए दुःखों (रोगों) की फिर से उत्पत्ति होती दिखलाई पड़ती है इसलिये अनात्यन्तिकता भी है, क्योंकि जो अत्यन्त-निवृत्त हो जाता है उसकी पुनरुत्पत्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि लौकिक उपायों के सरल रहने पर भी वे ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक रूप से दुःखों को हटाने में असमर्थ है। अतः उसकी उपेक्षा कर सांख्यशास्त्रीय तत्त्वविवेक की ही जिज्ञासा करनी चाहिये। इस प्रथम कारिका के द्वारा प्रथमाध्याय के द्वितीय सूत्र "न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्" (सां. सू. १-२) की व्याख्या की गई।

(७) दुःखापघात-कीर्तनं मङ्गलमेव। — यद्यपि दुःखममङ्गलम्, तथाऽपि तत्परिहारार्थत्वेन तदपघातो मङ्गलमेवेति युक्तं शास्त्रादौ तत्कीर्तनमिति ॥ १ ॥

शंका—सांख्यसूत्रकार के कथन—"मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्च" (सां. सू. ५-१) तथा महाभाष्यकार के—"मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते..." वचन के अनुसार ग्रन्थारंभ में मंगलाचरण करना आवश्यक है किन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने आरंभ में ही अमंगल दुःख शब्द का प्रयोग कर अनुचित आचरण कैसे किया?

(७) दुःखापघात का कथन मंगल रूप ही है।

उत्तरः—"यद्यपीति" यद्यपि दुःखममङ्गलमिति। ग्रन्थकार का उद्देश्य दुःखों के बताने में नहीं है किन्तु उसके अपघातक हेतु के बताने में है, अतः आरंभ में अपघात को बताया गया है। अपघात शब्द सापेक्ष है इसलिये दुःख को बताना भी आवश्यक है इसलिये दुःख-संबन्धाभावरूप फल को देने वाले दुःखत्रयापघात-बोधक शब्द को मंगल[1] सूचक ही समझना चाहिये। अतः आरम्भ में ग्रन्थकार के द्वारा किया गया प्रयोग अनुचित नहीं है ॥ १ ॥

(८) वैदिकस्य दुःखापघातकस्य सुकरस्योपायस्य सत्त्वे शास्त्रविषयजिज्ञासायाः पुनर्वैयर्थ्यापत्तिः। — स्यादेतत्। मा भूद् दृष्ट उपायः, वैदिकस्तु ज्योतिष्टोमादिः संवत्सरपर्यन्तः कर्मकलापस्तापत्रयमेकान्तमत्यन्तञ्चापनेष्यति। श्रुतिश्च, "स्वर्गकामो यजेत" इति। स्वर्गश्च—

---

१. मंगलम्—मम् = अशुभं, गालयति इति। अथवा, मगं = शुभं, लाति = गृह्णाति इति। अथवा, मङ्गति = गच्छति, दुरदृष्टम् अनेन इति।

"यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्॥" इति।

दुःखविरोधी सुखविशेषश्च स्वर्गः। स च स्वशक्त्या समूलघातमपहन्ति दुःखम्। न चैष क्षयी। तथा हि श्रूयते-"अपाम सोमममृता अभूम" इति [अथर्वशिरस ३]। तत्क्षये कुतोऽस्यामृतत्वसम्भवः? तस्माद्वैदिकस्योपायस्य तापत्रयप्रतीकारहेतोर्मुहूर्तयामाहोरात्रमाससंवत्सरनिर्वर्तनीयस्यानेकजन्म-परम्परायाससम्पादनीयात् विवेकज्ञानात् ईषत्करत्वात् पुनरपि व्यर्था जिज्ञासा इत्याशङ्क्याह—

पहले हम बता चुके हैं कि शास्त्र चतुर्व्यूह है। चार व्यूहों में से दो व्यूहों—हेय, हेयहेतु—को बता दिया अब 'दृष्टवदानुश्रविकः' द्वितीय कारिका को उपस्थित करने के लिये मीमांसकों की ओर से शंका की जा रही है। स्यादेतत् इति"। लौकिक दृष्ट उपाय दुःख-निवर्तक नहीं हैं तो न हों, किन्तु ज्योतिष्टोमादि वैदिक कर्मों से आध्यात्मिकादि तीनों दुःखों की एकान्त और अत्यन्त (अवश्य और सदा के लिये) निवृत्ति हो ही जायगी, तब तत्त्वविवेक की जिज्ञासा करना फिर भी व्यर्थ है। क्योंकि अनेक जन्माभ्यास-परंपरासाध्य तत्त्वविवेक की अपेक्षा वैदिक कर्मानुष्ठान (ज्योतिष्टोम[1] आदि) सरल और संवत्सरादि स्वल्पकाल में सम्पन्न किये जा सकते हैं। मूल में 'कर्मकलाप' शब्द के प्रयोग करने का अभिप्राय यह है कि ज्योतिष्टोम और दर्श-पूर्णमास आदि वैदिक कर्मों से मिलने वाला स्वर्ग एक न होकर भिन्न-भिन्न है, अर्थात् छोटे याग से छोटा स्वर्ग और बड़े याग से बड़ा स्वर्ग, तब परोत्कर्ष को देखकर दुःख तो रहेगा ही-यह शंका हो सकती है, उसे हटाने के लिये उपर्युक्त शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् किसी न किसी परिमित समय में संपन्न हो सकने वाले समस्त काम्य कर्मों के अनुष्ठान करने से परोत्कर्ष देखने सुनने का प्रसंग ही न आवेगा, सबसे बढ़कर इसी का उत्कर्ष रहेगा, अर्थात् दुःख की संभावना ही नहीं है। ज्योतिष्टोमादि कर्मकलाप में दुःखनिवर्तकता, 'स्वर्गकामो यजेत' श्रुति द्वारा भी बताई गई है।

(८) दुःखापघातक सरल वैदिक के उपाय रहते शास्त्रविषयक जिज्ञासा की व्यर्थता फिर भी बनी रहती है।

शंका—'स्वर्गकामो यजेत' श्रुति से 'स्वर्ग की कामना रखने वाला पुरुष याग से स्वर्गरूप इष्ट फल को प्राप्त करे' इस अर्थ का ज्ञान हो पाता है। 'याग से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति संपादन करे' अर्थ तो ज्ञात नहीं होता। अतः याग में स्वर्गफल प्राप्त कराने की सामर्थ्य भले ही हो, किन्तु दुःखनिवर्तकता उसमें नहीं है। तब प्रकृत प्रसंग में उपर्युक्त श्रुति को प्रमाणरूप में क्यों दिखाया गया है?

समाधान—'तथाकथित दुःखनिवृत्ति को ही स्वर्ग कहते हैं'—इसी आशय से ग्रन्थकार कह रहे हैं "स्वर्गश्च" इति। 'स्वर्गश्च दुःखविरोधी सुखविशेषः'—यह स्वर्ग की परिभाषा है। इसमें तंत्रवार्तिक का प्रमाण उपस्थित करते हैं—"यन्न दुःखेन संभिन्नम्" इति। वर्तमान या भविष्य में भी जो दुःख से मिश्रित न हो, और संकल्पमात्र से ही प्राप्त होता हो ऐसे सुख को स्वर्ग कहते हैं। इस पर यदि कहें कि कर्मकलाप

१. सोलह ऋत्विजों के द्वारा किया जाने वाला यज्ञ।

में सुखविशेषरूप स्वर्ग दिलाने की क्षमता रहने पर भी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्त कराने की तो क्षमता है ही नहीं। इसके उत्तर में कहा गया है—"दुःखविरोधी सुखविशेषः", अर्थात् यह सुख, साधारण सुख की तरह नहीं किन्तु अंधकार—प्रकाश की तरह दुःख का विरोधी है। इस पर भी यदि यह अनुमान करें—"सुखविशेषरूपः स्वर्गः नागामिदुःखविरोधी, सुखत्वात्, ऐहिकसुखवत्" सुखविशेषरूप स्वर्ग, आगामीदुःख का विरोधी न होने से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप नहीं है। तब उत्तर में कहते हैं—"सच स्वसत्तया" इति। तथाकथित स्वर्ग अपनी पराकाष्ठा की अवस्था के द्वारा दुःख को समूल नष्ट कर देता है। मूल में 'समूलघातम्' इस णमुलन्त प्रयोग को क्रियाविशेषण के रूप में रखा है। उसका अर्थ है—दुरदृष्टरूप अधर्म, जो दुःख में मूल अर्थात् कारण है, उसके सहित दुःख का नाश करता है, जिससे पुनः दुःखोत्पत्ति की शंका ही नहीं रहती। अभिप्राय यह है—वैदिक उपाय से तथाकथित स्वर्ग की प्राप्ति होने पर आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति तो हो ही जाती है, तब बहु आयाससाध्य विवेक ज्ञान का प्रयत्न करना व्यर्थ है।

शंका—"तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" (छां० उ० ८-१-६) श्रुति से अनुगृहीत 'यत् कृतकं तद् अनित्यम्' (इस) सामान्यतोदृष्टानुमान के द्वारा कर्म से मिलने वाला स्वर्ग भी अनित्य होगा, तब विवेक-जिज्ञासा को व्यर्थ कैसे कहा जाय ?

समाधान—"न चैष क्षयी" इति। यह स्वर्ग विनाशी नहीं है। इसमें श्रुति प्रमाण है। "अपाम सोमममृता अभूमाऽगन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य॥" किसी समय देवताओं की सभा में यह विचार चल रहा था कि हम अमर कैसे हुए ? उस पर कहा गया कि हमने सोम का पान किया जिससे अमर हो पाये, स्वर्ग को प्राप्त कर पाये, दिव्यभोगों को भोग पाये; अब शत्रु हमें क्या कर सकेगा, इसी तरह जरा, दिव्य शरीरधारी हम लोगों को कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं। मीमांसकों का अभिप्राय यह है कि "अपाम सोमममृता अभूम०" "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इत्यादि श्रुतियों से विरोध न हो इसलिये स्वर्ग को अनादिप्रवाहरूप अर्थात् नित्य, मानना चाहिये।

शंका—'अपाम सोम०' श्रुति से तो स्वर्गवासियों को अमृत (अमर) बताया गया है, स्वर्ग की अक्षयिता अर्थात् नित्यता तो नहीं बताई गई है, अतः उसकी नित्यता में इस श्रुति को प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—"तत्प्रक्षये कुतो०" इति। याग में किये गये सोमपान से प्राप्त स्वर्ग के क्षीण (अनित्य) होने पर स्वर्गवासी का अमर रहना कैसे संभव हो सकेगा। स्वर्ग को अक्षयी (नित्य) स्वीकार किये बिना स्वर्गीयों का अमर हो पाना संभव ही नहीं। इसलिये स्वर्ग की अक्षयिता तो माननी ही होगी। अतः 'अपाम सोम०' इस श्रुति का विरोध प्राप्त होने के कारण 'तद् यथेह०' इत्यादि श्रुतियों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है अपितु विधेयसंन्यासपुरःसरज्ञानफल की प्रशंसा के लिये निन्दार्थवाद में ही तात्पर्य है।

उपसंहार के द्वारा निष्कर्ष बताते हैं—"तस्माद् वैदिकस्योपायस्य" इति प्रदर्शित कारण के देखते हुए स्पष्टतया ज्ञात हो रहा है कि विवेकज्ञान की अपेक्षा ज्योतिष्टोमादि वैदिक कर्म ही त्रिविध दुःखों के दूर करने के सरल उपाय हैं, क्योंकि वे दो घड़ी, प्रहर, अहोरात्र, महीना, संवत्सर और 'आदि' शब्द से बारह वर्ष तक के काल में संपन्न किये जा सकते हैं। इसलिये अनेक जन्मार्जित श्रवण-मननादि परंपरा के अभ्यास से प्राप्त हो सकनेवाले विवेकज्ञान की अपेक्षया वैदिक कर्मकलाप सरल ज्ञात होते हैं। अतः विवेक ज्ञान के लिए प्रयत्न करना पुनरपि व्यर्थ है इस आशंका को हटाने के लिये द्वितीय कारिका को उपस्थित किया गया है—

दृष्टवदानुश्रविकः, स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

अन्वयः—आनुश्रविकः (अपि) दृष्टवत् (वर्तते), हि सः अविशुद्धिक्षयाऽतिशययुक्तो (वर्तते), (अतः) तद्विपरीतः (उपायः) श्रेयान् (भवति) (यतः सः उपायः) व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञानाद् भवति ।

भावार्थ—वैदिक कर्मकलाप औषधादि दृष्ट उपाय के समान है, क्योंकि वह अविशुद्धि-क्षय-अतिशय आदि दोषों से पूर्ण है, इसलिये उस वैदिक कर्मकलाप से भिन्न विवेकसाक्षात्कार ही दुःखनिवृत्ति के लिये श्रेष्ठ उपाय है, उस विवेक-साक्षात्कार का लाभ, [1]व्यक्त, अव्यक्त[2] और ज्ञ[3] के यथार्थ ज्ञान से हो पाता है ।

"दृष्ट–" इति । गुरुपाठादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः । एतदुक्तं भवति–'श्रूयत एव परं न केनापि क्रियत' इति । तत्र भव आनुश्रविकः, तत्र प्राप्तो ज्ञात इति यावत् । आनुश्रविकोऽपि कर्मकलापो दृष्टेन तुल्यो वर्तते, ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखत्रयप्रतिकारानुपायत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । यद्यपि च "आनुश्राविक" इति समान्याभिधानं, तथापि कर्मकलापाभिप्रायं द्रष्टव्यम्, विवेकज्ञानस्याप्यानुश्रविकत्वात् । तथा च श्रूयते—"आत्मा वाऽरे ज्ञातव्यः प्रकृतितो विवेक्तव्यः" [बृहदारण्यक, २।४।५], "न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते" [छान्दोग्य ८।१५] इति ॥

(१) वैदिकानामप्युपायानां दृष्टोपायैस्सह तुल्यत्वम् ।

व्याख्याकार 'आनुश्रविक' शब्द की व्याख्या करते हैं—"गुरुपाठात्" इति । आनन्तर्य अर्थ के द्योतक 'अनु' उपसर्ग के अवधि की आकांक्षा शांत करने के लिये "गुरुपाठात्" कहा गया है अर्थात् गुरुकर्तृक उच्चारण के अनन्तर । अनु = पश्चात् श्रूयते = सुना जाता है, इसलिये वेद को 'अनुश्रव' कहते हैं । इसी को स्पष्ट करते हैं "एतदुक्तं भवति" ग्रन्थ से । विद्या सम्प्रदाय के प्रवर्तक ब्रह्मादि की परम्परा से जो केवल सुना ही जाता है उसे वेद कहते हैं । एवकार के व्यवच्छेद्य को बताते हैं 'न केनापि क्रियते' इति । रामायण, महाभारत की तरह किसी के द्वारा रचा नहीं जाता ।

(१) वैदिक उपाय भी दृष्टोपाय के तुल्य हैं

वेदों का श्रवण ही होता आया है, इसी कारण उसे श्रुति कहा जाता है । अब 'आनुश्रविक' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हैं जिससे लोगों को विपरीत ज्ञान न हो । 'तत्र'=अनुश्रव में अर्थात् वेद में 'भवः' = प्राप्तः अर्थात् ज्ञातः । यहां 'भवः' का अर्थ उत्पन्न नहीं है । तात्पर्य यह है कि वेद में जो प्राप्त होता है या वेद से जिसका ज्ञान होता है ऐसा कर्मकलाप । यागादि कर्मकलाप वेद से पैदा नहीं होता किन्तु वेद से जाना जाता है ।

---

१. बुद्धि से पृथ्वी तक के स्थूलभूत की सृष्टि को व्यक्त कहते हैं ।
२. मूलप्रकृति को अव्यक्त कहते हैं ।
३. 'ज्ञ' को पुरुष कहते हैं ।

शंका—क्या वेदबोधित यच्च यावत् उपायों को आनुश्रविक शब्द से समझना चाहिये अथवा किन्हीं विशेष उपायों को ?

समाधान—यहां ज्योतिष्टोमादि कर्मकलाप की ही 'आनुश्रविक' शब्द से विवक्षा की गई है, अतः वह ज्योतिष्टोमादि कर्मकलाप भी लौकिक उपाय के ही तुल्य है। उसी तुल्यता को स्पष्ट करते हैं—"ऐकान्तिकात्यन्तिक०" इति। जैसे दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति के साधक औषधादि लौकिक उपाय नहीं हैं, वैसे ही यज्ञादि वैदिक कर्मकलाप भी दुःख की अत्यन्तनिवृत्ति के साधक नहीं हैं। अर्थात् दुःखों का समूल उपरम न कर सकने में दृष्ट-अदृष्ट दोनों उपायों की तुल्यता है। इतनी व्याख्या के द्वारा 'अविशेषश्चोभयोः' (सां. सू. १–६) की भी व्याख्या हो गयी।

शंका—'दृष्टवदानुश्रविकः' के द्वारा वैदिक उपायमात्र को दृष्टोपाय के तुल्य बताया गया है, केवल कर्मकलाप को ही नहीं। और कर्म, उपासना, ज्ञान तीनों ही वैदिक उपाय हैं, तब ज्ञान और उपासना को छोड़कर केवल कर्मकलाप को ही दृष्टोपाय के तुल्य क्यों बताया जा रहा है ?

समाधान—"यद्यपि" इति। यद्यपि 'दृष्टवदानुश्रविकः' कारिका में 'आनुश्रविक' शब्द सामान्यरूप से कहा गया है तथापि उसे कर्मकलापपरक ही समझना होगा, अन्यथा वैदिक उपायों के अन्तर्गत विवेक ज्ञान भी है, तब उसे भी दृष्टोपाय के तुल्य कहना पड़ेगा, किन्तु यह कहना इष्टकारक न होकर अनिष्टकारक ही होगा। विवेकज्ञान के वैदिक होने में श्रुति का प्रमाण दे रहे हैं "तथा च" इति। बृहदारण्यक में—मैत्रेयी के द्वारा 'हम अमर कैसे हों' प्रश्न करने पर योगीश्वर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो-निदिध्यासितव्यः" (बृ. आ. उ. २–४–५) श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्मदर्शन करना चाहिये। इसमें आये हुए 'द्रष्टव्य' पद की सांख्यसिद्धान्त के अनुसार व्याख्या करते हैं—"प्रकृतितो विवेक्तव्यः" इति। अर्थात् 'प्रकृति से आत्मा भिन्न है' यह ज्ञान[1] होना चाहिये। अभिप्राय यह है कि—विवेकज्ञान को भी लौकिक उपाय के ही तुल्य मान लें तो विवेकज्ञान में अमरत्व प्राप्ति की कारणता का प्रतिपादन असंगत हो जायगा। इसलिये सामान्यरूप से प्रयोग करने पर भी आनुश्रविक शब्द को कर्मकलापाभिप्रायक ही समझना चाहिये।

शंका—"न स पुनरावर्तते" (छां. उ. ८।१५) यह श्रुति तो उपासक दशा का निरूपक है, विवेकज्ञान में उसका कोई उपयोग नहीं, तब उसको यहां क्यों बताया है ?

समाधान—कैमुतिकन्याय से बताया गया है। अर्थात् जब कि अविद्यायुक्त ब्रह्मोपासकों की भी पुनरावृत्ति नहीं होती तब जिनकी समस्त अविद्या नष्ट हो चुकी है ऐसे ब्रह्मज्ञानियों की पुनरावृत्ति नहीं होती इस कथन की आवश्यकता ही नहीं।

अस्यां प्रतिज्ञायां हेतुमाह—"स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः" इति।

(१०) दृष्टवैदिकयोरुपाययोः अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तत्वम् तुल्यम्।

"अविशुद्धिः" सोमादियागस्य पशुबीजादिवधसाधनता। यथाऽऽह स्म भगवान् पञ्चशिखाचार्यः—"स्वल्पसङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः" इति। 'स्वल्पसङ्करो' ज्योतिष्टोमादिजन्मनः प्रधानापूर्वस्य स्वल्पेन पशुहिंसादिजन्मनाऽनर्थहेतुनाऽपूर्वेण सङ्करः। 'सपरिहारः', कियताऽपि प्रायश्चित्तेन परिहर्तुं शक्यः। अथ च प्रमादतः प्राय-

१. प्रकृति-अचेतन है और पुरुष (आत्मा) चेतन है, प्रकृति-कर्त्री है और पुरुष-अकर्ता (उदासीन) है, प्रकृति-त्रिगुणात्मिका है और पुरुष निर्गुण है, प्रकृति-अन्ध है और पुरुष साक्षी

श्चित्तमपि नाचरितं, प्रधानकर्मविपाकसमये स पच्यते। तथाऽपि यावद-सावनर्थं सूते तावत् प्रत्यवमर्षेण (सहिष्णुतया) सह वर्तत इति "सप्रत्यवमर्षः"। मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीतस्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपसादितां दुःखवह्निकणिकाम्।

मूलकारिका में "दृष्टवदानुश्रविकः" के द्वारा आनुश्रविक उपाय को दृष्टोपाय के तुल्य बताया गया था, उसी के साधनार्थं कारिका में दिये गये हेतु की व्याख्या करने के लिये प्रथमतः उसे बता रहे हैं—

(१०) दृष्ट और वैदिक दोनों उपायों में अविशुद्धि क्षय और अतिशय की समानता है

"अस्यां प्रतिज्ञायाम्०" इति। क्योंकि वह आनुश्रविक अर्थात् वैदिक उपाय, अविशुद्धि, क्षय, अतिशय से युक्त—पूर्ण है, इसलिये दृष्ट उपाय के समान है। अविशुद्धि का अर्थ कहते हैं—"सोमादियागस्य" इति। जिस प्रकार सोमयाग में हवन से लेकर देवपूजनान्त पुण्यकर्म अनुष्ठित होते हैं उसी प्रकार पशुवध, बीजवध अर्थात् अवहनन के द्वारा उनकी अंकुर जननशक्ति का विनाश आदि पापकर्म भी होते हैं, इस कारण याग में अविशुद्धता प्रत्यक्ष है। याग की अविशुद्धता में पंचशिखाचार्य का प्रमाण उपस्थित करते हैं—"स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः" इति। 'संकर' शब्द की व्याख्या करते हैं—ज्योतिष्टोम से पैदा हुए प्रधानापूर्व[1] अर्थात् धर्म का और पशुहिंसा से पैदा हुए अनिष्टकारक अदृष्ट=अधर्म के साथ रहना ही संकर कहलाता है। संकरशब्द का अर्थ है मिश्रण। याग में पुण्य अधिक और पाप कम, अतः पुण्य की अपेक्षया पाप की न्यूनता होने से, उसे स्वल्प कहा गया है।

'सपरिहारः' शब्द की व्याख्या करते हैं—"कियतापि" इति। स्वल्पप्रायश्चित्त से भी परिहार करने योग्य। यदि प्रायश्चित्त न किया जाय तो दुरदृष्ट से पैदा होनेवाले दुःख को अवश्य ही भोगना पड़ता है। इसे ध्यान में रखकर 'सप्रत्यवमर्ष' शब्द की व्याख्या करते हैं—"अथ" इति। अथ = यदि प्रमाद अर्थात् कर्तव्य को अकर्तव्य या अकर्तव्य को कर्तव्य समझकर प्रायश्चित्त न किया जाय तो ज्योतिष्टोमादि प्रधान कर्म के फलस्वरूप स्वर्ग के उपभोग काल में वह 'संकर' नाम का पाप, फलोन्मुख होता है तब पूर्वाचरित हिंसाजन्य अधर्म, जब तक अनिष्टफल पैदा करता रहेगा, तब तक उस फल को अवश्य सहना होगा अर्थात् संकरजन्य दुःख अवश्य भोक्तव्यरूपेण भोगना

है, प्रकृति-दृश्य है और पुरुष-द्रष्टा है, प्रकृति-भोग्य है और पुरुष भोक्ता है, प्रकृति विषय है और पुरुष-विषयी है।

१. अपूर्व—याग से उत्पन्न होकर स्वर्गफल को दिलाने वाला धर्म (शक्ति) विशेष। इसी धर्म (शक्ति) विशेष को मीमांसक अपूर्व कहते हैं। वेदान्ती, प्रारब्धकर्म कहते हैं। नैयायिक धर्माधर्म कहते हैं। वैशेषिक अदृष्ट कहते हैं। पौराणिक पुण्य-पाप कहते हैं। मीमांसकों की दृष्टि में यह अपूर्व तीन प्रकार का होता है—प्रधानापूर्व, अंगापूर्व, कलिकापूर्व। प्रधानयाग से उत्पन्न होनेवाला प्रधानापूर्व, इसे ही परमापूर्व कहते हैं। अंगों से उत्पन्न होनेवाले अपूर्व को अंगापूर्व कहते हैं। अवान्तरक्रियाओं से उत्पन्न होनेवाले अपूर्व को कलिकापूर्व कहते हैं। वह परमापूर्व को पैदाकर नष्ट हो जाता है। अंगापूर्व के द्वारा परमापूर्व में अतिशय पैदा किया जाता है। अभिप्राय यह है—अंगापूर्व सहित परमापूर्व ही फल देता है।

पड़ेगा[1]। इसी को और स्पष्ट करते हैं—"मृष्यन्ते हि" इति। वैदिक-पौराणिक कथाओं के द्वारा यह प्रसिद्ध ही है कि महान् पुण्य से उपलब्ध हुए स्वर्ग सुखमय अमृत सरोवर के अवगाहन करने में कुशल इन्द्रादिक देवता, पूर्वाचरित यागों में अनुष्ठित हिंसा के अल्प स्वल्प पाप से पैदा हुई दुःखरूप आग की चिनगारी को सहते रहते हैं। अर्थात् वैदिक कर्मकलाप के अनुष्ठान से सुख का अधिक लाभ है, कुछ अल्प स्वल्प दुःख भी उसके साथ मिला जुला रहता है, इसलिये अल्प-दुःख के भय से महान् सुख का त्याग नहीं किया जा सकता। जानवर घूमते हैं—इसलिये बीज बोना बन्द नहीं किया जाता, अथवा याचकों के भय से रसोई चढ़ाना नहीं त्यागा जाता,[2] यह याज्ञिकों का अभिप्राय है।

यागादि वैदिक कर्मलाप को अविशुद्धि आदि दोषों से पूर्ण सुनकर आगबबूला हुए कर्ममीमांसकों की आशंका को उपस्थित कर उसका निराकरण करते हैं—"न च" इति।

न च—"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इति सामान्यशास्त्रं शिशेषशास्त्रेण "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यनेन बाध्यत—इति युक्तम्, विरोधाभावात्। विरोधे हि बलीयसा दुर्बलं बाध्यते। न चेहास्ति कश्चिद्विरोधः, भिन्नविषयत्वात्। तथा हि—"मा हिंस्यात्" इति निषेधेन हिंसाया अनर्थहेतुभावो ज्ञाप्यते, न त्वक्रत्वर्थत्वमपि, "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यनेन वाक्येन च पशुहिंसायाः क्रत्वर्थत्वमुच्यते, नानर्थहेतुत्वाभावः, तथा सति वाक्यभेदप्रसङ्गात्। न चानर्थहेतुत्वक्रतूपकारकत्वयोः कश्चिद्विरोधोऽस्ति। हिंसा हि पुरुषस्य दोषमावक्ष्यति, क्रतोश्चोपकरिष्यतीति।

(११) याज्ञिकहिंसाया अप्यनर्थहेतुत्वसाधनम्।

"मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि" यह वाक्य प्राणिमात्र को उद्देश्य कर कहा होने से, सामान्यशास्त्र है, और "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" यह वाक्य प्राणिविशेष को उद्देश्य कर कहा होने से विशेष शास्त्र है। 'सर्वाभूतानि' में सर्वा' का अर्थ 'सर्वाणि' है। अधिक क्षेत्र में प्रसृत होने वाले अर्थात् बहुव्यापक को 'सामान्य' कहते हैं और अल्प क्षेत्र में प्रसृत होने वाले अर्थात् अल्प व्यापक को 'विशेष' कहते हैं। विशेष शास्त्र के द्वारा सामान्य शास्त्र का बाध होता है अर्थात् विशेष शास्त्र अपने क्षेत्र में सामान्य को आने नहीं देता। अतः यज्ञ में उपर्युक्त सामान्य शास्त्र की पहुँच ही नहीं हो पाती क्योंकि उसे तो उपर्युक्त विशेष शास्त्र ने अपने अधिकार में कर रखा है। इसलिये यज्ञ में अनुष्ठित हिंसा से, पाप पैदा नहीं होता जिससे दुःख का भय हो और वैदिक कर्मकलाप को दृष्टोपाय के तुल्य कहा जा सके।

(११) याज्ञिक हिंसा भी अनर्थ की हेतु है

मीमांसकों का यह अभिप्राय है—"इयं हिंसा, इयमहिंसा" यह हिंसा और यह अहिंसा—यह

१. "अङ्गापूर्वं प्रधानापूर्वे अतिशयमुत्पाद्य विनश्यति" सिद्धान्त है, तथापि प्रकृत में उसका विनाश नहीं माना जाता। पशु-हिंसादि अङ्गों से उत्पन्न हुआ अपूर्व, प्रधान का उपकारक तथा नरक का जनक भी होता है अतः प्रधान कर उपकार मात्र कर के उसका विनाश यदि कहा जाय तो नरक की उपपत्ति नहीं बन सकेगी। इसलिये प्रधान पर उपकार करके भी नरकोत्पादन के लिये प्रधानापूर्व के साथ घुल-मिल कर उसकी स्थिति मानना आवश्यक है अतः प्रायश्चित्त न करने पर हिंसाजन्य दुःख का भोग अवश्य ही करना होगा।

२. "नहि मृगाः सञ्चरन्तीति धान्यानि नोप्यन्ते, नापि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते"

सब वेद से ही ज्ञात हो सकता है। समस्त संसार के कल्याणार्थ प्रवृत्त हुए वेद, हिंसा के लिये कैसे और क्योंकर प्रेरित करेंगे? अतः वेदप्रतिपादित हिंसा भी अहिंसा ही है। क्योंकि यज्ञ में अर्पित की हुई ओषधियाँ ऊँची गति को पाती हैं अतः ओषधियों को यज्ञ के उद्देश्य से विधिपूर्वक काटना उनकी हिंसा नहीं है प्रत्युत उन ओषधियों पर अनुग्रह है। यज्ञ के उद्देश्य से सविधि एक बार काटने पर पुनश्च उसे काटा नहीं जाता, इस प्रकार पुनश्च न काटना उस ओपधि की रक्षा करना ही है[1]।

'द्वेषपूर्वक प्राणिवध एव हिंसा' (मी० सू० १।१।२) यहाँ का भट्टवार्तिक देखने योग्य है। यद्यपि "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" यहाँ आङ् पूर्वक लभ् धातु का अर्थ प्राणवियोगानुकूलव्यापार होने से हिंसा ही कही जायगी, तथापि यह हिंसा "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इससे प्रतीत होने वाले पाप की जनक नहीं है। क्योंकि पदहोम के द्वारा कुण्डहोम का या वृद्धि के द्वारा गुण का जैसे बाध होता है उसी तरह यहाँ भी अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' के द्वारा 'न हिंस्यात्सर्वाभूतानि' का बाध किया गया है, क्योंकि "अपवादो हि उत्सर्गं बाधते" नियम है।

अभिप्राय यह है—"आहवनीये जुहोति" इस कुण्डहोमपरक सामान्य वाक्य का "अश्वस्य पदे जुहोति" इस पद होमपरक विशेष वाक्य से अथवा "आद्गुणः" इस सामान्यशास्त्र का "वृद्धिरेचि" इस विशेषशास्त्र से जैसे बाध होता है उसी प्रकार यहाँ भी। क्योंकि "येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्यापवादः"[2] इस नियम को देखते हुए ज्ञात हो रहा है कि विशेष शास्त्र तो विशेष में शीघ्र प्रवृत्त होता है क्योंकि विशेषों का ग्रहण स्वशब्द से रहता है और सामान्यशास्त्र, सामान्य के सहारे विशेष में प्रवृत्त हो पाता है अतः इसकी प्रवृत्ति मन्द है, इसलिये सामान्यशास्त्र की अपेक्षया विशेष शास्त्र को प्रबल समझा जाता है। भट्टपाद लिखते हैं—

"अवश्यमेव सामान्यं विशेषं प्रति गच्छति।
गतमात्रं च तत्तेन विशेषे स्थाप्यते ध्रुवम् ॥" इति।

इसलिये "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इस विशेष शास्त्र से जितना अधिकृत क्षेत्र है, उसके अतिरिक्त जो क्षेत्र होगा उसमें 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' निषेधशास्त्र का अधिकार रहेगा। अर्थात् यागीय हिंसा को छोड़कर अन्य हिंसा के लिये यह निषेध लागू होगा। अन्यथा 'न हिंस्यात्' इस व्यापक निषेधक की प्रवृत्ति यदि याग में होने लगे तो केवल याग में ही लगने वाले 'अग्नीषोमीयं०' इस अल्पविषयक शास्त्र की चरितार्थता कैसे होगी? अतः वैदिकी हिंसा पापजनक नहीं होती। इसलिये धर्मशास्त्रकारों ने कहा है कि 'तस्माद् यज्ञवधोऽवधः' इति।

मीमांसकों के दिये तर्क पर ग्रन्थकार कहते हैं 'न च युक्तम्' उसमें हेतु देते हैं—"विरोधाभावात्" इति। "सति विरोधे सामान्यशास्त्राद् विशेषशास्त्रं प्रबलम्" न तु विरोधाभावेऽपि। विशेष शास्त्र होने ही से वह सामान्यशास्त्र का बाधक होता है' यह नहीं, किन्तु दोनों में विरोध रहने

---

१. "इयं हिंसा इयमहिंसा" इति वेदादेव ज्ञायते, निखिलस्यापि जगतः कल्याणाय प्रवृत्तो वेदश्च कथं पुरुषं हिंसायां प्रवर्तयेत्? अतो वेदप्रतिपादिता हिंसा अहिंसैव। यतः यज्ञे समर्पिता ओषधिवनस्पत्यादय उच्चां गतिं लभन्ते। सोऽयं तस्य हिंसा न करोति किन्तु यज्ञे विनियोगार्थं विधिना कर्तयन् तदुपरि अनुग्रहं करोति। यज्ञे विधिना सकृत् छिन्नो न भूयश्छेदमर्हतीति, सेयं तस्य रक्षा ॥" इति निरुक्तभाष्ये दुर्गाचार्यः।

२. येनेति कर्तरि तृतीया, द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः। तथाच यत्कर्तृकावश्यप्राप्तौ यस्य विधेरवश्यं प्राप्तौ सत्यां यो विधिरारभ्यते सः=आरभ्यमाणो विधिः तस्य=अवश्यप्राप्तस्य अपवादः=बाधकः इत्यर्थः।

पर वह उसका बाधक बन पाता है। 'नहि प्रबलमित्येतावता दुर्बलं बाध्यते, किन्तु सति विरोधे, नहि सिंहेन मशको बाध्यते' इत्यस्ति। सिंह होने मात्र से वह मशक को मारने लग जाय—यह नहीं किन्तु विरोध रहने पर ही प्रबल के द्वारा दुर्बल मारा जाता है, अन्यथा नहीं। प्रकृत में 'न हिंस्यात्०' इस सामान्य शास्त्र और 'अग्नीषोमीयं०' इस विशेष शास्त्र (दोनों) का विषय भिन्न होने से कोई विरोध ही नहीं है। दोनों की भिन्नविषयता का उपपादन करते हैं—"तथाहि" इति। 'न हिंस्या०' इस निषेध से हिंसा में अनर्थहेतुभाव=बलवदनिष्टसाधनत्व बताया गया है अर्थात् 'हिंसा' महान् अनिष्ट को पैदा करने वाली होती है, इतना ही ज्ञात होता है। हिंसा अक्रत्वर्थ=क्रतु की अनुपकारक है, यह नहीं

शंका—जैसे 'न हिंस्यात्' निषेध से हिंसा में बलवदनिष्टानुबंधित्व बताया गया है वैसे ही 'अग्नीषोमीयं' इस विधि से बलवदनिष्टाननुबन्धित्व बताया गया है अतः विरोध तो है ही।

समाधान—'अग्नीषोमीयम्' इति। 'अग्नीषोमीयं०' इस वाक्य के द्वारा पशुहिंसा को क्रत्वर्थ बताया गया है; अर्थात् क्रतु की उपकारक कहा गया है। वह अनर्थ की हेतु नहीं है—यह नहीं कहा। अभिप्राय यह है—'न हिंस्यात्०' यह निषेध 'हिंसा पुरुषानर्थकरी' का ही बोधन करता हैं, न कि 'हिंसा यागोपकारिणी न' का भी। इसी तरह 'अग्नीषोमीयं पशु०' वाक्य 'हिंसा यागोपकारिणी' का ही बोधन करता है, न कि 'हिंसा न अनर्थकरी' का भी। अतः दोनों का विषय भिन्न होने से आपस में कोई विरोध नहीं।

शंका—'न हिंस्यात्०' के दो अर्थ हैं—(१) 'हिंसा अनर्थहेतुः' (२) 'अक्रत्वर्था च सा', इसी तरह 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' के भी दो अर्थ हैं—(१) 'पश्वालम्भनं क्रत्वर्थम्', (२) 'इदं च आलम्भनं न अनर्थहेतुः'। इसी रीति से 'न हिंस्यात्०' इस सामान्यशास्त्र से बोधित किये गये—अनर्थहेतुत्व और अक्रत्वर्थत्व दो अर्थों का 'अग्नीषोमीयम्०' इस विशेषशास्त्र से बोधित अनर्थाहेतुत्व और क्रत्वर्थत्व दो अर्थों के साथ विरोध तो स्पष्ट है तब विरोधाभाव को कैसे उपपादन किया जा रहा है?

समाधान—"तथासति" इति। एक वाक्य के दो-दो अर्थ स्वीकार करने पर मीमांसकों ने ही 'अन्याय्यश्चानेकार्थः' नियम के अनुसार वाक्यभेद नाम का दोष माना है, अतः दो अर्थों का विधान नहीं किया जा सकता। अन्यथा "संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो हि नेष्यते" इस उक्ति से विरोध होने लगेगा। यथाश्रुत एक अर्थ को स्वीकार करने पर कोई किसी प्रकार से विरोध का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता "न चानर्थेति" अनर्थहेतुत्व और क्रतूपकारकत्व दोनों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि हिंसा, निषेधवाक्य का विषय होने से पुरुष (हिंसक) में दोष पैदा करेगी और अंग विधि का विषय होने से क्रतु[१] पर उपकार भी करेगी।

शंका—"आलभेत" में विधिप्रत्यय के श्रुत होने से हिंसा में इष्टसाधनत्व ज्ञात हो रहा है और 'न हिंस्यात्' निषेध से हिंसा में 'अनिष्टसाधनत्व' भी ज्ञात हो रहा है, इस प्रकार एक ही में दो विरोधी धर्मों का रहना असम्भव है, अतः यागीयहिंसा को अनिष्ट का हेतु मानना उचित नहीं।

समाधान—एक में भी दो विरोधी धर्म रहते दिखाई देते हैं, अतः दो विरोधी धर्मों का रहना असम्भव नहीं। जैसे—मधुविषमिश्रित भोजन में या पराई सुन्दर स्त्री के साथ रमण में इष्टहेतुत्व और अनिष्टहेतुत्व दोनों का समावेश हुआ दिखाई देता है। निष्कर्ष यह निकला कि हिंसा में पुरुषानिष्टजनकत्व और क्रतूपकारकत्व के बोधक परस्पर अविरुद्ध वाक्यों का विषय

१. मूल में 'क्रतोः' कर्मणि षष्ठी है।

भिन्न होने से उनमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार वैदिक कर्मकलाप में हिंसा की अपवित्रता भरी रहने से वे दुःखमिश्रित सुख के ही देने वाले हैं, इसलिये वे लौकिक उपाय के ही तुल्य हैं। इसी प्रकार अन्य धर्मों के होने से भी दोनों की समता को कारिका में बताया है—"क्षयातिशय-युक्तः" इति।

शंका—"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" कोई भी कर्म अपना फल दिये बिना क्षीण नहीं होता, किन्तु "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" यह स्मृति कह रही है कि फल ही क्षीण होता है, तब वैदिक कर्मकलाप को क्षयातिशय पूर्ण क्यों बताया जा रहा है ?

क्षयातिशयौ च फलगतावप्युपाय उपचरितौ। क्षयित्वं च स्वर्गादेः सत्त्वे सति कार्यत्वादनुमितम्। ज्योतिष्टोमादयः स्वर्गमात्रस्य साधनम्, वाजपेयादयस्तु स्वाराज्यस्येत्यतिशययुक्तत्वम्। परसम्पदुत्कर्षो हि हीनसम्पदं पुरुषं दुःखाकरोति ॥

(१२) वैदिकोपायस्य सातिशयत्वप्रदर्शनम्।

समाधान—उपर्युक्त शंका का निरसन करने के लिये ही क्षय और अतिशय की व्याख्या करते हैं—"क्षयातिशयौ च०" इति। यद्यपि क्षय[1] और अतिशय,[2] (याग के फल) स्वर्ग में ही हैं, साधनरूप याग में नहीं, तथापि 'स्वाश्रयजनकत्व' सम्बन्ध से स्वर्गसाधनीभूत याग के क्षयातिशय समझे जाते हैं। अर्थात् स्वर्ग में क्षयातिशय का व्यवहार औपचारिक है, और स्वाश्रयजनकत्व[3] ही उपचार है। जिस प्रकार लौकिक उपाय क्षयातिशय से युक्त सुख के जनक होते हैं, उसी प्रकार वैदिक उपाय भी। इसलिये वैदिक उपाय भी लौकिक उपाय के ही तुल्य है। 'तद्यथेह कर्म०' इत्यादि श्रुति से स्वर्ग का क्षयित्व जैसे सिद्ध है, वैसे ही वह अनुमान से भी सिद्ध है—"क्षयित्वं च०" इति। "स्वर्गादिकं क्षयित्ववद् भावत्वे सति कार्यत्वात् घटादिवत्" इस अनुमान से स्वर्ग के क्षयी होने का ज्ञान होता है। क्योंकि 'यद् यद् भावकार्यं तत्तद् विनाशि, यथा घटः'—यह नियम है। ध्वंस में कार्यत्व रहने पर भी क्षयित्व नहीं है इसलिये मूल में 'सत्त्वे सति' कहा है। इससे स्पष्ट है, कि स्वर्गादि फल के क्षयी रहने से स्वर्गियों को वहाँ से गिरने का दुःख अवश्यमेव है। अतः स्वर्गसुख की नित्यता और दुःखरहितता संभव नहीं है। अब स्वर्ग की सातिशयता को दिखाते हैं—'ज्योतिष्टोमादयः' इति। 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो[4] यजेत' इत्यादि श्रुतियों के देखने से प्रतीत होता है, कि ज्योतिष्टोमादियाग, केवल स्वर्ग के उपाय हैं, और वाजपेयादियाग, स्वर्गाधिपत्य प्राप्ति के उपाय हैं, क्योंकि 'साधनभूयस्त्वे फलभूयस्त्वम्' का नियम है। इससे यागादिकों की अतिशयता स्पष्ट है।

(१२) वैदिक उपाय की सातिशयता का प्रदर्शन

शंका—भले ही यागादि वैदिक कर्मकलाप में सातिशयता रहे किन्तु उनसे दुःखमिश्रित सुख प्राप्त होने की बात तो ज्ञात नहीं होती, तब उन्हें लौकिक उपायों के तुल्य कैसे समझा जाय ?

१. क्षयः विनाशः, तद्युक्तत्वम्-प्रतियोगितासम्बन्धेन विनाशप्रतियोगित्वमिति।
२. अतिशयः 'आधिक्यम्' इत्येव वक्तुं युक्तम्। तारतम्यं, न्यूनाधिक्यम्।
३. स्वौ क्षयातिशयौ तदाश्रयः स्वर्गादिः तज्जनकत्वं यागादेः इत्यर्थः। उपचारः गौणी वृत्तिः।
४. स्वः स्वर्गे राजते इति स्वाराट् तस्य भावः स्वाराज्यम् इन्द्रत्वं तत्कामः।

समाधान—"परसम्पदुत्कर्षो हि०" इति। दूसरों की अधिक सम्पत्तियां न्यून सम्पत्तिवाले पुरुष को पीडा पहुँचाती हैं। अतः अन्यान्य सुखों के साथ कुछ निर्वेद भी सम्मिलित रहता ही है। इसलिये अतिशययुक्तता दुःखकारक होने से वैदिक कर्मों को लौकिक उपायों के तुल्य बताया गया है।

शंका—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गी. ९-२१) वचन के अनुसार 'स्वर्ग' को जब क्षयी बताया गया है तब अमृतत्व की बोधक 'अपाम सोमममृता०' श्रुति का उपपादन कैसे होगा?

(१३) अमृतत्वश्रुतिविरोधपरिहारः-अमृतत्वस्य चिरस्थेम्न उपलक्षकत्वात्।

"अपाम सोमममृता' अभूम" इति चामृतत्वाभिधानम् चिरस्थेमानमुपलक्षयति। यदाहुः-"आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इति (विष्णुपुराणे)॥ अत एव च श्रुतिः—"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः। परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति' इति [महानारायण १०।५]। तथा "कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः। तथा परे ऋषयो ये मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः" इति च॥

(१३) अमृतत्व को चिरस्थायिता का उपलक्षक मानने से अमृतत्व श्रुतिविरोध का परिहार होता है

समाधान—"अपामसोमममृता[१] अभूम" इति। इस श्रुति से बताये गये अमृतत्व का अर्थ चिरकालस्थायित्व है; अर्थात् सुदीर्घकाल तक रहना। अपनी उक्ति में विष्णुपुराण के वाक्य को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं—"आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते" इति। (विष्णु० पु० अंश २। अ० ५। श्लो० ९६) विष्णुपुराण का पूर्ण पद्य इस प्रकार है:—

"आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते। त्रैलोक्यस्थितिकालोऽयमपुनर्मार उच्यते॥"

इसके पूर्व बता चुके हैं, कि 'देवयान मार्ग से जनादिलोक में गये हुए अमृतत्व को पाते हैं'। तब अमृतत्व क्या वस्तु है? इस जिज्ञासा को शांत करने के लिये कहा गया—'आभूतसंप्लवम्' इति। ब्रह्मदेव के एक दिन तक जो स्थान है उसे 'अमृतत्व' कहते हैं, परंतु यह औपचारिक प्रयोग है। उपचार में बीज बताते हैं—'त्रैलोक्येति'। "अपुनर्मारः = पुनर्मृत्युरहितःक्रममुक्तिस्थानत्वात्" (विष्णुचितिव्याख्या में रत्नगर्भभट्ट और आत्मप्रकाश व्याख्या में श्रीधरस्वामी) यह व्याख्याकार कहते हैं। जब ब्रह्मलोकवासियों के लिये भी गौण अमृतत्व बताया है तब स्वर्गवासियों के लिये तो वह है ही। अतः यागादि कर्मकलाप वास्तविक अमृतत्व के प्रापक नहीं हैं—इसी सिद्धान्त को दृढ़ करने के लिये श्रुति का प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं—"अत एव च श्रुतिः—न कर्मणा" इति। प्राचीन महात्माओं ने श्रौत या स्मार्त कर्मकलाप से अमृतत्व को प्राप्त नहीं किया, उसी तरह पुत्रादि प्रजा से भी नहीं, प्राणोपासनादि दैवी या पशुवित्तादि मानुष धन से भी नहीं, किन्तु-उन विवेकी लोगों ने अभिमान त्याग के द्वारा विवेक ज्ञान से

---

१. "अमृताः"-न मृताः = अमृताः, यहां 'नञ्' का अर्थ 'अल्प' है। क्योंकि नञ् के छः अर्थ होते हैं—"सादृश्यं तदभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः"॥ इनके क्रमशः उदाहरण—"अब्राह्मणः, अपापम्, अघटः, पटः, अनुदरा कन्या, अकेशा असुरः" इति।

अमृतत्व को पाया है। यह अमृतत्व, स्वर्ग से भी अधिक उत्कृष्ट और उससे भिन्न ही है। स्वर्ग से भिन्न रहने पर भी ब्रह्मलोक की तरह दूर भी नहीं है, बल्कि समीप है वह बुद्धिरूप गुहा में ब्रह्म रूप से स्थित स्वयं प्रकाशित होता रहता है, तथापि सभी के लिये वह सुलभ नहीं है किन्तु सर्वथा कर्मत्यागी प्रयत्नशील संन्यासी ही उस स्वरूपभूत तत्त्व का आत्मरूप से साक्षात्कार कर पाने हैं। अर्थात् विवेकियों के लिये स्वरूपभूत होने से सन्निहित रहने पर भी अविवेकियों के लिये बहुत दूर है। 'न कर्मणा न प्रजया' श्रुति की समानार्थक अन्य श्रुति को भी दे रहे हैं—"तथा कर्मणा-मृत्युमृषयो०" इति। सुवर्ण पशुप्रभृति मानुष धन की चाह रखने वाले पुत्रपौत्रादि-सपन्न गृहस्थ लोग तथा जो सकाम वानप्रस्थी हैं, वे सब कर्म के द्वारा पुनर्जन्म को ही पाते आये हैं, अमृतत्व को नहीं और इनसे भिन्न जो निष्काम हैं, पुत्र-वित्तादिकों से विरक्त होकर संन्यास-पुरःसर प्रकृति-पुरुष के विवेक करने में प्रयत्नशील ऋषियों ने कर्म से उत्पन्न होने वाले स्वर्ग से भी उत्कृष्ट अमृतत्व को पाया है। इन समस्त प्रामाणिक वचनों के आधार पर—यह कह सकते हैं कि वैदिक कर्मकलापों से उपलब्ध होने वाले सातिशय सुख विशेषरूप स्वर्ग के अतिरिक्त अक्षयी एवं निरतिशय सुख रूप मोक्ष है। उसे पाने का एकमात्र उपाय तत्त्वविवेक ही है, अतः उसे ही जानना चाहिए।

तदेतत् सर्वमभिप्रेत्याह—"तद्विपरीतः श्रेयान्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इति। तस्मात् (आनुश्रविकात् दुःखापघातकोपायात्

(१४) लौकिकवैदिकोपायेभ्यः शास्त्रविषयज्ञानस्य श्रेयस्त्वप्रदर्शनम्।

सोमपानादेरविशुद्धात् अनित्यसातिशयफलात् विपरीतः विशुद्धः हिंसादिसङ्कराभावात्, नित्यनिरतिशयफलः, असकृत् पुनरावृत्तिश्रुतेः। न च कार्यत्वेनानित्यता फलस्य युक्ता, भावरूपस्य कार्यस्य तथाभावात्, दुःखप्रध्वंसतस्य तु कार्यस्यापि तद्वैपरीत्यात्। न च दुःखान्तरोत्पादः, कारणाप्रवृत्तौ कार्यस्यानुत्पादात्, विवेकज्ञानोपजननपर्यन्तत्वाच्च कारणप्रवृत्तेः। एतच्चोपरिष्टादुपपादयिष्यते॥

इसी अभिप्राय से कारिका में कहा गया है—"तद्विपरीतः। श्रेयान्" इति। 'तद्विपरीतः' के 'तद्' का अर्थ करते हैं—तस्माद् = आनुश्रविकाद् दुःखापघातकादुपायात् सोमपानादेः० इति। दुःखों के विनाशक सोमपानादि वैदिक उपाय—जिनमें अविशुद्धि, अनित्यता, अतिशयता, भरी पड़ी है—के विपरीत अर्थात् हिंसादिसंकररहित होने से विशुद्ध और असकृत् अपुनरावृत्ति प्रतिपादक श्रुति के होने से नित्य एवं अतिशय से रहित विवेकज्ञान ही कल्याणकारक उपाय है।

(१४) लौकिक-वैदिक उपायों की अपेक्षया शास्त्रविषयक ज्ञान की श्रेयस्करता।

शंका—'यत्कृतकं तदनित्यम्' नियम के अनुसार स्वर्गादि यागादि के कार्य होने से जैसे अनित्य हैं वैसे ही मोक्ष भी विवेक ज्ञान का कार्य होने से अनित्य है, तब उसे अनित्य फलवाले लौकिक उपायों के विपरीत कैसे बताया ?

समाधान—'यत्कृतकं तदनित्यम्' इस व्याप्ति के नियम को देखकर 'मोक्षफलम् अनित्यं कार्यत्वात् घटवत्' का अनुमान नहीं किया जा सकता। क्योंकि उपर्युक्त व्याप्ति के द्वारा भाव कार्य की ही अनित्यता बताई जाती है घटध्वंस में उपर्युक्त व्याप्ति का व्यभिचार देखा जाता है।

घटध्वंस कृतक रहने पर भी नित्य है, अनित्य नहीं। अतः उस व्याप्ति को 'भावत्वे सति यत्कृतकं तदनित्यम्' इस रूप में समझना चाहिये। भाव यह है कि आत्यन्तिक दुःखोपरमरूप मोक्ष, विवेकज्ञान से साध्य होने के कारण कृतक रहने पर भी भावरूप न होने से उसे अनित्य नहीं समझना चाहिये। अभिप्राय यह है—"मोक्षः अनित्यः कृतकत्वात् स्वर्गादिवत्" इस अनुमान में 'भावत्व' उपाधि[1] है। अतः सोपाधिक होने से हेतु दुष्ट है।

पीछे बताया गया है कि सांख्य के मत में दुःखप्रध्वंस ही मोक्ष है। दुःखप्रध्वंस का अर्थ है दुःख की अतीतावस्था।

शंका—अतीत दुःख भले ही उदित अवस्था में न आवे किन्तु दुःखान्तर की उत्पत्ति को कौन रोक सकता है ?

समाधान—"नच दुःखान्तरोत्पादः" इति।

अन्य दुःख की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि पुरुष और प्रकृति-सम्बन्धी अविवेक ही दुःख का कारण है। जब विवेक के द्वारा उस अविवेक का नाश हो जाता है, तब अविवेकरूप कारण के अनुपस्थित होने से दुःखरूप कार्य की भी उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् कारण के न होने से कार्य भी नहीं हो पाता।

शंका—सांख्य का सिद्धान्त है कि 'भोग और विवेकख्याति की निष्पत्ति तक प्रकृति की प्रवृत्ति रहती है' अतः जैसे भोग-निष्पादन करने पर भी पुनः विवेकख्याति के लिये प्रकृति प्रवृत्त होती रहती है, वैसे ही विवेकख्याति करा देने पर भी पुनः प्रकृति क्यों नहीं प्रवृत्त होती ?

समाधान—"विवेकज्ञानोपजनन" इति।

मूलकारणभूत प्रकृति की प्रवृत्ति का पर्यवसान, विवेकज्ञान को उत्पन्न करे देने में ही माना गया है। अतः उसके पश्चात् पुनः प्रवृत्त नहीं होती, इसे हम "दृष्टा मयेत्युपेक्षक०" (का. ६६) कारिका के व्याख्यान करते समय कहेंगे[2]। अभिप्राय यह है कि पुरुष को विवेक-ज्ञान पैदा कराकर प्रकृति उससे स्वयं निवृत्त हो जाती है।

(२) "तद्विपरीतः श्रेयान्" इत्यस्याक्षरार्थः।

अक्षरार्थस्तु—तस्मात् (आनुश्रविकात् दुःखापघातकात् हेतोः) विपरीतः (सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः साक्षात्कारो) दुःखापघातको हेतुः, अत एव श्रेयान्। आनुश्रविको हि वेदविहितत्वात् मात्रया दुःखापघातकत्वाच्च प्रशस्यः। सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययोऽपि प्रशस्यः। तदनयोः प्रशस्ययोर्मध्ये सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः श्रेयान्।

---

१. 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः' यह उपाधि का लक्षण है। जहां घटपटादि में अनित्यत्व है वहीं भावत्व भी है इसलिये 'भावत्व' साध्य का व्यापक है, और जहां घटध्वंसादि में कृतकत्व है। वहां 'भावत्व' नहीं है इसलिये साधन का वह अव्यापक है। अतः 'भावत्व' उपाधि है।

२. अयमाशयः—पुरुषस्य स्वत एव दुःखं नास्ति, किन्तु अन्तःकरणगतदुःखेनैव अविवेकदशायां पुरुषस्य दुःखाभिमानित्वम्। प्रकृतिपुरुषयोर्विविक्तताज्ञानात्तु दुःखित्वाभिमानिता निवर्तत इति दुःखनिवृत्तिर्विवेकज्ञानफलतयोच्यते। तस्यां विवेकज्ञानावस्थायां बुद्धौ उत्पन्नमपि दुःखं पुरुषो न आत्मीयत्वेन अभिमन्यते इति पुरुषस्य दुःखोत्पादो न स्यादेवेति सारबोधिनीकाराः।

'तद्विपरीतः श्रेयान्०' कारिका के 'तद्विपरीतः' पद का—अभिप्राय वैधर्म्य के द्वारा बताया गया, अब अन्वयमुखेन उसका अक्षरार्थ करते हैं—तस्मात् = उस आनुश्रविक दुःखापघातक हेतु के,

(१५) "तद्विपरीतः श्रेयान्" का अक्षरार्थ

विपरीतः सत्त्व[1] और पुरुष[2] की अन्यता का प्रत्यय = साक्षात्कार अर्थात् 'प्रकृति जड़ और परिणामशीला है, और पुरुष चेतन एवं अपरिणामी, दृशिरूप है' इस प्रकार परस्पर[3] का पृथक् रूप से निश्चयात्मकज्ञान ही दुःखापघातक हेतु है, जो आनुश्रविक दुःखापघातक हेतु के विपरीत है। अतएव = इसीकारण (वह विवेकज्ञान, श्रेयान् = प्रशस्यतर है।

शंका—अतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान्[4] अर्थात् जो अधिक प्रशस्य हो उसे श्रेयान् कहते हैं, अतः ऐसा दूसरा कौन प्रशस्य है। जिसकी अपेक्षया इस विवेकज्ञान को अधिक प्रशस्य कहा गया है?

समाधान—"आनुश्रविको हि" इति। कौमुदी में 'मात्रया' पद दिया गया है, जिसका अर्थ लेशतः अर्थात् किञ्चित् है। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति (विवेकज्ञान) रूप साधन को अधिक प्रशस्य बताने के लिये 'मात्रया' कहा गया है। आनुश्रविक उपाय, वेदविहित होने से किंचिदंशेन उसमें दुःखापघातकता है। इसलिये उसे प्रशस्य कहा गया है। अर्थात् वह अल्पकालावच्छिन्न मानसातिरिक्त दुःखापघातक है। और सत्त्वपुरुषान्यता-प्रत्यय भी वेदविहित है तथ दुःखापघातक है, अतः वह भी प्रशस्य है। किन्तु दोनों में सत्त्व-पुरुषान्यता प्रत्यय (विवेकज्ञान) श्रेयान् अधिक प्रशस्य कहने योग्य है क्योंकि यह वेदविहित भी है तथा सम्पूर्णतया दुःखापघातक है इसलिये यही प्रशस्यतर उपाय है।

कुतः पुनरस्योत्पत्तिरित्यत आह—"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इति।

(६) शास्त्रविषयस्य दुःखापघातकस्य तत्त्वज्ञानस्योत्पत्तिप्रदर्शनम्।

व्यक्तं च अव्यक्तं च ज्ञश्च व्यक्ताव्यक्तज्ञाः, तेषां विज्ञानम् विवेकेन ज्ञानम्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानम्। व्यक्तज्ञानपूर्वकमव्यक्तस्य तत्कारणस्य ज्ञानम्। तयोश्च पारार्थ्येनात्मा परो ज्ञायते, इतिज्ञानक्रमेणाभिधानम्। एतदुक्तं भवति—श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा, शास्त्रयुक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकालादनैरन्तर्यसत्कारसेवितात् भावनामयात् विज्ञानादिति। तथा च वक्ष्यति—

(१६) शास्त्र के प्रतिपाद्य दुःखापघातक तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का प्रदर्शन

प्रश्न—इस प्रकार के तत्त्व साक्षात्कार का कारण क्या है यह प्रश्न "कुतः पुनरस्योत्पत्तिरिति" ग्रन्थ से किया गया है।

उत्तर—अत उक्तं—"व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इति।

---

१. सत्त्व=बुद्धितत्त्व अथवा सत्त्वादिगुणत्रयात्मक प्रकृतितत्त्व।

२. पुरुष=चित्स्वरूप आत्मा।

३. जड-परिणामी प्रकृतितत्त्व से मैं भिन्न हूँ अर्थात् अपरिणामी दृशिरूप हूँ—इस प्रकार के निश्चय को विवेकज्ञान कहते हैं।

४. 'अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः' इस अर्थ में 'प्रशस्य' शब्द से 'ईयसुन्' प्रत्यय और 'प्रशस्य' को 'श्र' आदेश करने पर 'श्रेयस्' शब्द बनता है।

शंका—'ज्ञ' के चेतन होने से उसमें अभ्यर्हितत्व है तथा अल्पाच्तरत्व भी है इसलिये "ज्ञाव्यक्तव्यक्तविज्ञानात्" इस क्रम से कहना चाहिये था[1]। किन्तु ऐसा न कहकर 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञानात्' इस विपरीतक्रम को क्यों अपनाया?

समाधान—"व्यक्तज्ञानपूर्वकम्" इति। मनन में उपयोगी पड़ने वाले अनुष्ठान क्रम की दृष्टि से पूर्व निपातक्रम को नहीं स्वीकार किया गया[2]। व्यक्तं च अव्यक्तं च ज्ञश्च = व्यक्ताव्यक्तज्ञाः। व्यक्त = बुद्धि—अहंकार—पञ्चतन्मात्राएं एकादशेन्द्रियाँ—और पञ्चमहाभूत, तेषां विज्ञानं = उनका विवेक द्वारा ज्ञान। व्यक्तज्ञानपूर्वक = व्यक्तज्ञाननिबन्धन। तत्कारणस्य = व्यक्त के कारण स्वरूप अव्यक्त (प्रधान = प्रकृति) का ज्ञान अनुमान से किया जाता है और तयोः = व्यक्त और अव्यक्त दोनों-पारार्थ्येन = पुरुष के भोग और अपवर्ग में हेतु होने के कारण—से ज्ञः = आत्मा का अनुमान किया जाता है, अर्थात् व्यक्त का ज्ञान हुए बिना अव्यक्त का ज्ञान होना संभव नहीं, और इन दोनों का ज्ञान हुए बिना पुरुष का ज्ञान होना संभव नहीं, अतः अनुष्ठानक्रम की दृष्टि से इस ज्ञानक्रम को अपनाकर 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' कहा गया है[3]।

'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्' के 'विज्ञान' पद से व्यक्त, अव्यक्तादि का स्वरूपज्ञान केवल सुनकर कर लेना अभिप्रेत नहीं, बल्कि निदिध्यासन से निष्पन्न होने वाले स्वसाक्षात्कार को पैदा करानेवाली भावना का ज्ञान, यहां अभिप्रेत है। इसी को स्पष्ट करने के लिये ग्रन्थकार ने कहा है—'एतदुक्तं भवतीति।'

पूर्वोक्त कथन से तात्पर्य यह निकला कि—श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणों से व्यक्त आदि पदार्थों का विवेकपूर्वक श्रवण अर्थात् तत्त्वों की संख्या तथा उनके स्वरूप को अच्छी तरह समझकर—इस प्रकार 'श्रुत्वा' से श्रवण बताया गया अब 'शास्त्रयुक्त्या च व्यवस्थाप्य' से 'मनन' बताते हैं—और प्रकृतसांख्यशास्त्र में प्रतिपादित तत्त्वों के परस्पर वैधर्म्य—साधर्म्य की अलोचना कर उनकी

---

१. द्वन्द्वसमास में 'जो अभ्यर्हित होता है और अल्पाच् होता है उसे सर्वप्रथम रखा जाता है।' यह वैयाकरणों का नियम है।

२. 'समुद्राभ्राद्घः' इत्यादि निर्देशों को देखने से पूर्वनिपात प्रकरण की अनित्यता प्रतीत होती है। अतः उसके नियामक न बन पाने के कारण तात्पर्यविशेष को ध्यान में रखकर यदि अन्यथा प्रयोग भी किया जाय तो वह दोषावह नहीं माना जाता।

३. कार्यरूप स्थूलभूतों से कारणरूप तन्मात्राओं का अनुमान—"स्थूलभूतानि स्वविशेषगुणवत्सूक्ष्मद्रव्योपादानकानि, स्थूलत्वात्, घटादिवत्" इति।

बाह्य तथा आभ्यन्तर इन्द्रियों से और तन्मात्राओं से कारणरूप अहंकार का अनुमान—

"तन्मात्रेन्द्रियाणि अभिमानवद्द्रव्योपादानकानि, अभिमानकार्यद्रव्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा पुरुषः" इति। इन्द्रियों की प्रवृत्तियां अहंकार पूर्वक हुआ करती हैं।

अभिमान, निश्चयपूर्वक होता है। अतः अभिमान से बुद्धि—(महत्तत्त्व) का अनुमान—

"अहङ्कारद्रव्यं निश्चयवृत्तिमद्द्रव्योपादानकम्, निश्चयकार्यद्रव्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा पुरुषादिः।" इति।

बुद्धि (महत्तत्त्व) से प्रकृति का अनुमान—"सुखदुःखमोहधर्मिणी बुद्धिः, सुखदुःखमोहधर्मक-द्रव्यजन्या, कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहात्मकत्वात्" इति।

'व्यक्त' और 'अव्यक्त' दोनों से 'पुरुष' का अनुमान—'विवादास्पदं प्रकृति महदादिकं, स्वेतरस्य भोगापवर्गफलकम्, संहतत्वात्, शय्यासनादिवत्' इति।

असंभावना को हटाते हुए उनके स्वरूप का निश्चय कर लेने के पश्चात् 'दीर्घकालनैरन्तर्य,' आदि के द्वारा निदिध्यासन बताया गया है। 'दीर्घकाल' अर्थात् निर्वेद (खिन्नता) को प्राप्त न होकर मृत्युपर्यन्त, तथा 'नैरन्तर्य'—सुषुप्ति तक न टूटने वाले अर्थात् सतत और 'आदर'—अत्यन्त श्रद्धा के साथ सेवित, या अनुष्ठित = संपादित,—पूर्वक भावनामय अर्थात् चित्त में पुनः पुनः चिन्तन किये जानेवाले विवेकज्ञानरूप विज्ञान से तत्त्वसाक्षात्कार होता है।

दीर्घकाल तक सेवन न करने पर, या दीर्घकाल तक करते रहने पर भी श्रद्धा (विश्वास) के साथ न करने पर, सङ्गदोष से विजातीय प्रत्यय की प्रबलता हो जाने के कारण दृढ न हो पाने वाला अभ्यास, फलप्रद नहीं होता। बल्कि विपरीत भावना के कारण अपने स्वरूप से गिरने का डर रहता है। अतः उपर्युक्त तीन विशेषणों से युक्त[1] ही अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार के भावनामय विज्ञान से तत्त्वसाक्षात्कार अवश्य होता है। इसी आशय को कारिकाकार स्वयं निम्नलिखित कारिका के द्वारा आगे स्पष्ट करेंगे।

"एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्" इति [कारिका, ६४] ॥२॥

(१७) शास्त्रार्थसंक्षेपः- प्रकृति-प्रकृतिविकृति-विकृत्यनुभयरूपक्रमेण।

तदेवं प्रेक्षावदपेक्षितार्थत्वेन शास्त्रारम्भं समाधाय शास्त्रमारभमाणः श्रोतृबुद्धिसमवधानाय तदर्थं संक्षेपतः प्रतिजानीते—

व्या०—जिन 'व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ' तत्त्वों के ज्ञान प्राप्त कर लेने से श्रेयस्कर साक्षात्कार उदित होता है, उन तत्त्वों के अवान्तर विशेष को बताने के लिये तृतीय कारिका को अवतरणिका दी गई है—'तदेवं प्रेक्षावदपेक्षितार्थत्वेन०' इत्यादि।

(१७) संक्षेप से सांख्यशास्त्रीय पदार्थों का निरूपण।

इस प्रकार पूर्वोक्त दो कारिकाओं के द्वारा बुद्धिमानों को अभीप्सित ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःखोच्छेदात्मक मोक्षरूप परमपुरुषार्थ को प्राप्त कराने के हेतु शास्त्रारंभ (अनन्यथासिद्धप्रयोजनवत्त्वात् एतत् शास्त्रम् आरंभणीयम्) करने का निश्चय कर सांख्यशास्त्र का प्रारंभ करते हुए ग्रंथकार, श्रोताओं के मन को एकाग्र करने के लिए, 'तदर्थं' अर्थात् उस सांख्यशास्त्र के विवेकानुयोगि (पुरुष), प्रतियोगि स्वरूप (प्रकृति आदि) पच्चीस तत्त्व (पदार्थ) समुदाय को संक्षेप से बता रहे हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

अन्वय—मूलप्रकृतिः अविकृतिः, महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त, विकारस्तु षोडशकः, पुरुषः न प्रकृतिः न विकृतिः॥

भावार्थ—मूलप्रकृतिः = कारणात्मिका प्रकृति, अविकृतिः = किसी का कार्य नहीं है अर्थात् किसी से पैदा नहीं हुई है। महदाद्याः = महत्तत्त्व-अहंकार-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये पांच

---

१. "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" (योग सू० १।१४)
इसी सूत्र के आशय को श्रीमधुसूदनसरस्वती ने श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय के ३६ वें श्लोक की व्याख्या में सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है।

तन्मात्राएँ, प्रकृतिविकृतयः = किसी का कारण और किसी का कार्य भी रहती है अर्थात् स्वयं किसी से पैदा होती हैं और किसी को पैदा करती भी हैं। षोडशकः = मन-श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना-घ्राण—वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ—गगन-पवन-अनल-सलिल-अवनि—ये सोलह तत्त्व, विकारः तु = केवल (सिर्फ) कार्य ही हैं अर्थात् ये स्वयं तो किसी से पैदा होते हैं, किन्तु इनसे कोई 'तत्व' पैदा नहीं होता। पुरुषः = पुरुष (आत्मा) न प्रकृतिः = किसी का न कारण होता है और न विकृतिः = न किसी का कार्य ही होता है, अर्थात् न स्वयं किसी से पैदा होता है और न किसी को पैदा ही करता है।

"मूल-" इति। संक्षेपतो हि शास्त्रार्थस्य चतस्रो विधाः। कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिदर्थो विकृतिरेव, कश्चित्प्रकृतिविकृतिः, कश्चिदनुभयरूपः।

व्या०—सांख्यशास्त्रीय तीन तत्त्वों के अवान्तरविशेषों को बताते हैं—'संक्षेपतो हि०' इति। इस शास्त्र में प्रतिपादित तत्त्वों के अवान्तर भेद चार प्रकार के हैं, अर्थात् इस शास्त्र के सभी तत्व चार भागों में विभक्त हैं—कोई तत्त्व केवल प्रकृति ही है, कोई तत्त्व केवल विकृति ही, कोई तत्त्व केवल प्रकृति विकृति ही (उभयात्मक) और कोई तत्व अनुभयरूप, अर्थात् न प्रकृति है और न विकृति ही है।

(१८) प्रकृतिकथनम्।

तत्र का प्रकृतिः? इत्युक्तम्-"मूलप्रकृतिरविकृतिः" इति। प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानम्, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, सा अविकृतिः, प्रकृतिरेवेत्यर्थः। कुतः? इत्युक्तम्, "मूलेति" मूलश्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः। विश्वस्य कार्यसंघातस्य सा मूलम्, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति, अनवस्था-प्रसङ्गात्। न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भावः॥

(१८) प्रकृति तत्त्व का प्रतिपादन।

व्या०—उपर्युक्त चार प्रकारों में से प्रकृति तत्त्व किसे कहते हैं? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये कहा गया "मूलप्रकृतिः" इति। यहां 'मूलप्रकृति' पद में, मूलस्य प्रकृतिः = मूल की प्रकृति—ऐसा षष्ठीतत्पुरुष समास कोई न समझ बैठे, इसलिये कौमुदीकार यहां पर कर्मधारय-समास दिखला रहे हैं—'मूलं चासौ०' इति। अर्थात् मूल-स्वरूप प्रकृति। फिर भी संदेह होता है कि किसका मूल? तब उस संदेह का निवारण करने के लिये कहा—"विश्वस्य०" इति। किन्तु किसी का भी कार्य न बननेवाला 'पुरुष' भी विश्व के भीतर तो है ही तब 'प्रकृतितत्त्व' विश्व का मूल होने से उपर्युक्त 'पुरुष' का भी मूल कहलायेगा—इस भ्रम के निवारणार्थ कहा गया है "कार्यसंघातस्य" इति। यह प्रकृति तत्त्व कार्यसंघातात्मक विश्व का मूल अर्थात् उपादानकारण है। अतः पुरुष के विश्वान्तःपाती होने पर भी उसके कार्यरूप न होने के कारण कोई दोष नहीं है।

शंका—'प्रकृति' शब्द का ही अर्थ जब 'कारण' है तब उसी से उसकी जगत्कारणता भी सिद्ध है। ऐसी दशा में पुनः कारणवाचक 'मूल' शब्द जोड़कर—'मूलप्रकृति' कहने की क्या आवश्यकता?

समा०—उपर्युक्त शंका का समाधान कौमुदीकार स्वयं ही "नत्वस्या०"—ग्रन्थ से कर रहे हैं। अस्याः = इस प्रकृति (प्रधान) का मूलान्तर अर्थात् कोई भी अन्य कारण नहीं है—यह बताने के लिये ही 'मूल' शब्द जोड़कर 'मूलप्रकृति' कहा गया है। प्रकृतितत्त्व का भी किसी अन्य को

कारण मानने में 'अनवस्था' दोष अर्थात् प्रकृतितत्त्व का कोई अन्य कारण, फिर उस कारण का भी अन्य कारण, फिर उसका भी एक अन्य कारण फिर उसका भी अन्य कारण इस रीति से कहीं विश्रान्ति ही नहीं होगी। अतः ऐसी जगह व्यवस्था यदि संभव हो, तो 'अनवस्था' दोष को मानलेना अप्रामाणिक समझा गया है, क्योंकि वह मूलक्षयकारिणी[1] होती है। अतः प्रकृतितत्त्व (प्रधान) को ही विश्व का मूल कारण एवं अनादि मान लिया गया है। 'अजामेकाम्०'—श्रुति तथा "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि"—स्मृति दोनों से प्रकृति का अजन्यत्व-अनादित्व सिद्ध होने के कारण प्रकृतितत्त्व में ही कारणपरंपरा की विश्रान्तिरूप व्यवस्था हो जाती है। अतः अनवस्था को स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है।

(१९) प्रकृतिविकृति-कथनम्।

कतमाः पुनः प्रकृतिविकृतयः, कियत्यश्च? इत्यत उक्तम्—"महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त" इति। प्रकृतयश्च विकृतयश्च ता इति "प्रकृतिविकृतयः", सप्त। तथा हि—महत्तत्त्वम् अहङ्कारस्य प्रकृतिः, विकृतिश्च मूलप्रकृतेः। एवमहङ्कारतत्त्वं तन्मात्राणामिन्द्रियाणां च प्रकृतिः, विकृतिश्च महतः। एवं पञ्चतन्मात्राणि तत्त्वानि भूतानामाकाशादीनां प्रकृतयो विकृतयश्चाहङ्कारस्य॥

(१९) प्रकृति-विकृति उभयरूप तत्त्वों का प्रतिपादन

व्या०—सांख्यशास्त्रीय तत्त्वसमुदाय (२४ तत्त्वों) में 'कतमाः पुनः प्रकृतिविकृतयः?' यह धर्मिस्वरूपपरक प्रश्न किया गया है, अर्थात् तत्त्वों के नाम जानने की इच्छा प्रकट की गई है और 'कियत्यश्च' इससे इयत्ता अर्थात् उन तत्त्वों की संख्या पूछ रहे हैं।

उत्तर दिया—"महदाद्याः" अर्थात् महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—यह तत्त्वों के स्वरूप (नाम) का परिचय दिया गया। 'सप्त' से उन तत्त्वों की संख्या (७) बताई गई। ये साततत्त्व प्रकृति भी होते हैं और विकृति भी होते हैं। प्रकृतित्वं नाम 'तत्त्वान्तरोपादनत्वम्'। विकृतित्वं नाम—'तत्त्वान्तरोपादेयत्वम्'। तथाच—प्रकृतिविकृतित्वं नाम—'तत्त्वान्तरोपादनत्वे सति तत्त्वान्तरोपादेयत्वम्' इति। 'प्रकृतिविकृतयः' पद में—षष्ठीतत्पुरुषसमास का भ्रम न हो इसलिये व्याख्याकार स्वयं कर्मधारयसमास कर रहे हैं—'प्रकृतयश्च विकृतयश्च ताः इति प्रकृतिविकृतयः' सप्त। कारिकाकार तथा कौमुदीकार ने 'सप्त' ग्रहण क्यों किया? जबकि प्रकृतित्व-विकृतित्व उभय धर्मवाले महत्तत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादितत्त्व तो सात ही हैं।

उत्तर—सप्तग्रहणं—'प्रकृतिविकृतित्वं महदादिसप्तान्यतमत्वव्याप्यम्' इति व्याप्तिलाभाय, अर्थात् महत्तत्त्वादि सात तत्त्वों में से जो भी तत्त्व हो वह अवश्य ही प्रकृतिविकृतित्व धर्म से पूर्ण होगा। अब प्रकृतिविकृतित्व धर्म का समन्वय कर बताते हैं 'तथाहि'—इति।

महत्तत्त्व, अहंकार का कारण है और स्वयं मूलप्रकृति का कार्य है। इसी प्रकार अहंकारतत्त्व, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पांचतन्मात्राओं तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, और मन—इन ग्यारह इन्द्रियों का कारण है और स्वयं, महत्तत्त्व का कार्य है। इसी प्रकार शब्दस्पर्शादि पंचतन्मात्राएँ आकाश, वायु, तेजस्, जल, पृथ्वी—इन स्थूलभूतों का कारण है और स्वयं अहंकार का कार्य है।

---

१. मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम्। (उदयनाचार्य)

अब मूलक्रम से प्राप्त 'विकार' की जिज्ञासा करते हैं—

अथ का विकृतिरेव, कियती चेत्यत उक्तम्—"षोडशकस्तु विकारः" इति। षोडशसंख्यापरिमितो गणः षोडशकः। 'तु' शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमश्च। पञ्चमहाभूतानि एकादश इन्द्रियाणिचेति षोडशको गणो विकार एव, न प्रकृतिरिति। यद्यपि च पृथिव्यादीनां गोघटवृक्षादयो विकाराः, एवन्तद्विकारभेदानां पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादयः, तथाऽपि गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्। तत्त्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वमिहाभिप्रेतम्, इति न दोषः। सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरत्वम्।

(२०) विकृतिकथनम्।

व्या०—'का' से नाम की जिज्ञासा और 'कियती' से इयत्ता अर्थात् संख्या की जिज्ञासा की गई है। 'षोडशक' का अर्थ किया गया है 'षोडशसंख्यापरिमितो गणः'। कारिका में 'तु' शब्द का अर्थ निर्धारण (निश्चय) है, और उसका अन्वय 'विकार' के साथ किया जाता है अर्थात्—विकारः तु—विकारः एव—विकार ही हैं। इसी को स्पष्ट करते हैं—'पञ्चमहाभूतानि०' इति। पञ्चमहाभूत—पांच स्थूलभूत—और एकादश इन्द्रियों मिलकर षोडशकगण = सोलह तत्त्वों का समुदाय, विकार[२] एव = विकार-कार्य—ही हैं, किसी का कारण नहीं। इन सोलह तत्त्वों से कोई अन्य तत्त्व पैदा नहीं होता।

(२०) केवलविकृतिरूप तत्त्वों का प्रतिपादन।

शंका—जब कि पृथ्वी के गो-घट-वृक्ष आदि, जल के करका आदि, तेज के सुवर्ण, हीरा आदि कितने ही विकार प्रत्यक्ष हैं तब उपर्युक्त सोलहतत्त्वों को ही केवल विकार (कार्य) क्यों कहा गया? इसी आशय को 'यद्यपि च पृथि०' ग्रन्थ से कहा गया है।

समा०—उपर्युक्त शंका के समाधानार्थ "तथापि गवादयो०" ग्रन्थ प्रारम्भ किया गया है।

अभिप्राय यह है—यद्यपि पृथ्वी के विकार गो, घट, वृक्ष आदि अनेक हैं और इनके भी विकार पय, बीज, आदि हैं और उनके भी विकार दधि, अंकुर आदि दिखलाई पड़ते हैं, तथापि गो-वृक्ष बीज आदि विकार विशेष, पृथ्वी आदि विकारों से पृथक् नहीं हैं अर्थात् पृथ्वी आदि तत्त्वों के ही अन्तर्गत ये सब हैं, उनको अपेक्षया ये कोई विजातीय तत्त्व नहीं हैं[३]।

शंका—भले ही पृथिव्यादि की अपेक्षया गो-वृक्षादि तत्त्व अलग न हों, किन्तु गो-वृक्षादि विकारों के कारणभूत (प्रकृति) तत्त्व पृथिवी आदि हैं ही, अतः पृथिवी आदि भूतों की केवल विकार (विकृति = कार्य) ही में गणना न होकर प्रकृति-विकृतिरूप तत्त्वों में गणना करनी चाहिये।

---

१. षोडशकः—'संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु' (पा० सू० ५।१।५८) इति संघार्थे 'कनि' प्रत्यये 'षोडशक' इति रूपं भवति।

२. विकारत्वम् - तत्त्वान्तराजनकत्वे सति जन्यत्वम्। प्रथमविशेषणेन प्रकृतिविकृतितत्त्वनिरासः, द्वितीयेन पुरुषस्य।

३. न पदार्थत्वसाक्षाद्व्याप्य-पुरुषत्वादि-पृथिवीत्वान्त-पञ्चविंशतिधर्मान्यतमभिन्नपदार्थत्वसाक्षाद्व्याप्य-धर्मवत्तत्त्वमिति यावत् इति किरणावली।

समाधान—उपर्युक्त शंका के समाधानार्थ स्वयं कौमुदीकार 'प्रकृति' का लक्षण लिखते हैं—'तत्त्वान्तरोपादानत्वम्' इति। तत्त्वान्तर का अर्थ है—विजातीयतत्त्व।

शंका—"प्रकृष्ट[१]वाचकः 'प्र' श्च 'कृति' श्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता ॥ ५ ॥
गुणे प्रकृष्टसत्त्वे च 'प्र' शब्दो वर्तते श्रुतौ।
मध्यमे रजसि 'कृ' श्च 'तिः' शब्दस्तमसि स्मृतः ॥ ६ ॥
त्रिगुणात्मस्वरूपा या सर्वशक्तिसमन्विता।
प्रधानं सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते ॥ ७ ॥
प्रथमे वर्तते 'प्र' श्च 'कृति' श्च सृष्टिवाचकः।
सृष्टेराद्या च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता" ॥ ८ ॥

(दे० भा० स्कं० ९ अ० १ श्लो० ५-६-७-८)

अभिप्राय यह है—तत्तद् अर्थ विशेषों में तत्तल्लक्षण घटित 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। जैसे—'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' इस सांख्यसूत्र के आधार पर "अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसाम्यं प्रकृतिः" यह लक्षण मूलकारण प्रधान में घटित होता है। 'तत्त्वान्तरोपादानत्वम्'—यह लक्षण महत्तत्त्व आदि में घटित होता है, क्योंकि वह 'अहंकार' आदि का कारण है। 'उपादानत्वम्'—यह लक्षण, घट-कटकादि के कारणभूत मृत्तिका-कनकादि में घटित होता है।

अब यदि सांख्यसूत्र के अनुसार प्रकृति का लक्षण 'साम्यावस्थोपलक्षितगुणत्रयात्मकत्व' यह मान लें तो प्रधान को 'प्रकृति' कह सकने पर भी 'महदादि' को 'प्रकृति' न कह सकेंगे, अतः प्रकृतिलक्षण की महदादि में अव्याप्ति होगी। यदि केवल 'उपादानत्वम्' लक्षण करेंगे तो महदादि को प्रकृति कह सकने पर भी मृत-कनक को भी 'प्रकृति' कहना पड़ेगा तब प्रकृति-लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। अतः प्रधान की तरह महदादि को भी 'प्रकृति' शब्द से कह सकें और मृत-कनकादि को 'प्रकृति' शब्द से न कह पावें, इस रीति से अव्याप्ति-अतिव्याप्तिरूप दोषों के निरसनार्थ 'तत्त्वान्तरोपादानत्व' लक्षण ही 'प्रकृति' का हो सकता है। इस लक्षण के स्वीकार करने पर कहीं भी दोष नहीं है। सूत्रोक्त लक्षण केवल 'प्रधान' में ही घटित हो पाता है, सर्वत्र नहीं। अतः वह सर्वानुगत लक्षण नहीं है। इसलिये प्रकृति का सर्वानुगत लक्षण 'तत्त्वान्तरोपादानत्वम्' ही स्वीकार करना चाहिये। मृत-कनकादि में जो 'मृत्प्रकृतिको घटः' 'कनक-प्रकृतिकं कटकम्' इस प्रकार 'प्रकृति' शब्द का व्यवहार होता है वह भागत्याग लक्षणा से

---

१. प्रकृति का तटस्थलक्षण करते हैं—'प्रकृष्टवाचक' इति। 'प्रा = पूरणे' धातु से पचाद्यच् करने पर 'प्र' शब्द निष्पन्न हुआ। 'कृति' शब्द का व्यापार सामान्य अर्थ होने से, 'सृष्टिव्यापार' अर्थ है। तात्पर्य यह हुआ कि—"प्रा = प्रकृष्टा मुख्या कृतौ = सृष्टौ या सा प्रकृतिः" इति। इस प्रकार व्यधिकरणपद बहुव्रीहि करने से इस अर्थ का लाभ हुआ है। पृषोदरादित्वात् 'प्रा' शब्द को ह्रस्व हुआ। तथा च—"मुख्यत्वेन सृष्टिकर्त्री या सा प्रकृतिः" इत्यर्थः। एवञ्च—'आद्यसृष्टि-कर्तृत्वम्' प्रकृतेर्लक्षणम्।

स्वरूपलक्षण—'गुणे' इति। प्रकृष्टे सत्त्वे गुणे 'प्र' शब्दो वर्तते, व्युत्पत्तिस्तु पूर्ववदेव। मध्यमे रजसि मध्यमः 'कृ' शब्दो वर्तते मध्यमत्वसादृश्यात्। तमसि = तमोगुणे चरमे 'ति' शब्दो वर्तते।

विशिष्टार्थ—'त्रिगुणात्म०' इति।

लक्षणान्तर—'प्रथमे०' इति। (नीलकण्ठः)

उपादनत्वमात्र अर्थ को लेकर मृदादि में लाक्षणिक या एकदेशभूतउपादानत्वरूप साधर्म्य को लेकर गौण है।

शंका—पृथिवी आदि तत्त्वों की अपेक्षया गो-घटादितत्त्वों को पृथक् तत्त्व क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान—'सर्वेषाम्०' ग्रन्थ से समाधान किया गया है। मूल में 'समा' शब्द हेतुदर्शक है। पृथिवी आदि के समान ही घटादिपदार्थों की स्थूलता और इन्द्रियग्राह्यता होती है। इस कारण घटादितत्त्वों को पृथिवी आदि तत्त्वों से अलग नहीं माना जाता। स्थूलत्व एवं इन्द्रियग्राह्यत्व धर्मों की समानता न रहना (असमानता) ही तत्त्वान्तर (तत्त्वों की भिन्नता) में प्रयोजक है। जैसे—गुण और गुणी का तादात्म्य होने से शब्दैकगुणवाला आकाश अत्यन्त सूक्ष्म है, उसकी अपेक्षया शब्द, स्पर्श, दो गुणोंवाला वायु स्थूल है, उसकी अपेक्षया शब्द, स्पर्श, रूप, तीन गुणोंवाला तेज स्थूलतर है, उसकी अपेक्षया शब्द-स्पर्श-रूप-रस चार गुणों वाला जल स्थूलतम है। उसकी अपेक्षया शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पाँचगुणोंवाली पृथ्वी अतिस्थूलतम होती है। ऐसा तारतम्य पृथिवी और गो-घटादि पदार्थों में अनुभूत नहीं होता, अपितु पृथिवी और गो-घटादि पदार्थों में स्थूलता समानरूप से लक्षित होती है अतः पृथिवी तत्त्व से गो-घटादितत्त्व भिन्न नहीं हैं।

इसी प्रकार 'पृथिवी' पञ्चगुणात्मिका होने से उसमें पञ्चेन्द्रियग्राह्यता है, 'जल' चतुर्गुणात्मक होने से उसमें चतुरिन्द्रियग्राह्यता है, 'तेज' त्रिगुणात्मक होने से उसमें इन्द्रियत्रयग्राह्यता है, 'वायु' द्विगुणात्मक होने से—उसमें द्वीन्द्रियग्राह्यता है, 'आकाश' शब्दैकगुणात्मक होने से उसमें एकेन्द्रियग्राह्यता है। 'पृथिवी' और 'गो-घटादि तत्त्वों' की इन्द्रियग्राह्यता में ऐसा तारतम्य न होने से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। इस विवेचन से निष्कर्षरूप में इस प्रकार अनुमान प्रयोग कर सकते हैं—"गो-घटादयः न पृथिव्यादिभ्यः तत्त्वान्तरम्, स्थूलत्वेन्द्रियग्राह्यत्वाभ्यां पृथिव्यादिसमत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्" ॥

(२१) अनुभयरूपकथनम्। अनुभयरूपमाह—"न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इति। एतत् सर्वमुपरिष्टादुपपादयिष्यते ॥ ३ ॥

(२१) अनुभयात्मक तत्त्व का प्रतिपादन।

तत्त्वों के चार प्रकारों में से तीन प्रकार बताने के पश्चात् अब अन्तिम चतुर्थ प्रकार बताते हैं—"अनुभयरूपम्" इति। "अनुभयरूपत्वं च—अजनकत्वे सति अजन्यत्वम्। तत्त्वान्तरानुपादानत्वे सति तत्त्वान्तरानुपादेयत्वम्"—इति यावत्। 'पुरुष तत्त्व' न प्रकृति (कारण) है न विकृति (कार्य) ही, अतः अनुभयरूप है। इस अनुभयरूपतत्त्व को 'पुरुष' इसलिये कहते हैं कि वह 'पुरि शरीरे शेते', वह 'चेतन तत्त्व' है। इस रीति से चारों प्रकार के तत्त्व बता दिये गये। फिर भी कौन 'तत्त्व' किस 'तत्त्व' की प्रकृति और किस तत्त्व की विकृति है ? यह सब आगे 'प्रकृतेर्महान्०' २२ वीं कारिका में उपपादन करेंगे ॥ ३ ॥

अभी तक बताये हुए तत्त्वों की प्रामाणिकता दिखाने के हेतु चतुर्थ कारिका की अवतरणिका—

(२२) प्रमाणसामान्यलक्षणम्। तमिममर्थं प्रामाणिकं कर्तुमभिमताः प्रमाणभेदा लक्षणीयाः। न च सामान्यलक्षणमन्तरेण शक्यते विशेषलक्षणं कर्तुम् इति प्रमाणसामान्यं तावल्लक्षयति—

(२२) प्रमाण सामान्य का लक्षण ।

व्या०—तृतीय कारिका के द्वारा प्रतिपादित पदार्थसमुदाय को प्रमाणों से प्रमाणित करने के लिये सांख्याचार्यों द्वारा स्वीकृत प्रमाणों को (प्रत्यक्ष-अनुमान-आप्त-वचन) तत्तल्लक्षणों[1] के द्वारा बताना उचित है, किन्तु सामान्य लक्षणों को विना बताये विशेष लक्षणों को बताना उचित नहीं।[2] अतः प्रमाणों का सामान्य लक्षण बताना चाहिये—इसी आशय को 'न च सामान्यलक्षण०' ग्रन्थ से बताया गया है।

सामान्य लक्षण के द्वारा प्रमाणों को कारिका के द्वारा बताते हैं—

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

अन्वय—दृष्टम्, अनुमानम्, आप्तवचनं च त्रिविधं प्रमाणं इष्टम्, (अत्रैव) सर्वप्रमाण-सिद्धत्वात्, हि प्रमाणात् प्रमेयसिद्धिः (भवति)।

भावार्थ—दृष्टम्=प्रत्यक्ष, अनुमानम्=व्याप्यव्यापकभाव, पक्षधर्मताज्ञानजन्यज्ञानरूप परामर्श, आप्तवचनम्=वाक्यजन्यवाक्यार्थज्ञान—ये तीन प्रकार के प्रमाण इष्टम्=सांख्याचार्यों को अभिमत हैं। इनसे न्यून या अधिक नहीं, क्योंकि सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्=सभी न्यूनाधिक प्रमाणों का इन्हीं तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव होता है[3]। प्रमेयनिरूपण से पूर्व प्रमाणनिरूपण इसलिये किया जाता है कि प्रमेय अर्थात् पंचविंशति (२५) पदार्थसमूह की सिद्धि प्रमाण के अधीन है॥

(२३) प्रमाणपदस्य निर्वचनम् ।

"प्रमाणमिष्टम्" इति। अत्र—च 'प्रमाणम्' इति समाख्या लक्ष्यपदम्। तन्निर्वचनं च लक्षणम्। प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वमवगम्यते। तच्चासन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। बोधश्च पौरुषेयः फलम् प्रमा, तत्साधनम् प्रमाणमिति। एतेन संशय-विपर्ययस्मृतिसाधनेष्वप्रमाणेष्वप्रसङ्गः॥

(२३) प्रमाण शब्द का निर्वचन।

इस चतुर्थ कारिका में 'प्रमाणम्' यह समाख्या अर्थात् यौगिक शब्द[4] लक्ष्यपद=लक्ष्य-बोधक है।

शंका—'लक्ष्य' शब्द 'लक्षण' शब्द की अपेक्षा रखता है, अतः 'लक्षण' शब्द का प्रयोग किये विना 'लक्ष्य' शब्द का प्रयोग कैसे किया?

---

१. 'प्रत्यक्षम्—इतरभिन्नम्, प्रतिविषयाध्यवसायत्वात्।' 'अनुमानम्—इतरभिन्नम्, व्याप्य-व्यापकभाव-पक्षधर्मताज्ञानपूर्वकत्वात्।'
'आप्तवचनम्—इतरभिन्नम्, वाक्यजनितवाक्यार्थज्ञानत्वात्'।

२. "सामान्यलक्षणं त्यक्त्वा विशेषस्यैव लक्षणम्।
न शक्यं केवलं वक्तुमितोऽप्यस्य न वाच्यता॥" (श्लो. वा. शब्दपरि. श्लो० २)

३. मनु ने भी तीन ही प्रमाणों को स्वीकार किया है।
"प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥" (मनु० १२।१०५)

४. समाख्या यौगिकः शब्दः—यह मीमांसकों का संकेत है। सम्=समीचीना—अवयवार्थ-

समा०—'प्रमाण' शब्द यौगिक है, इसलिए उसके अवयवार्थ को लेकर 'लक्षण' पद भी उसी को माना गया है। इसी आशय को "तन्निर्वचनं च" ग्रन्थ से कह रहे हैं। तस्य अर्थात् 'प्रमाण' पद का जो निर्वचन = निरुक्ति = अवयवार्थ है वही प्रमाण है। तात्पर्य यह है—'प्रमाण' शब्द में अवयवभूत प्रकृति और प्रत्ययार्थ ही लक्षण हैं। निर्वचन का प्रकार बताते हैं—'प्रमीयतेऽनेन' इति। 'विषयः प्रमीयते अनेन प्रमाणेन' इस निर्वचन से प्रमा के प्रति अर्थात् यथार्थज्ञान के प्रति करण—असाधारण कारण—का होना ज्ञात होता है। 'प्र' पूर्वक 'मा' धातु का अर्थ 'प्रमा' है और ल्युट्प्रत्यय का अर्थ 'करण' है अतः प्रमाण का अर्थ होता है 'प्रमाकरण'। तथा च—यहां पर 'प्रमाण' शब्द लक्ष्य और लक्षण दोनों का बोधक है। यहां 'प्रमाण' शब्द सकृत् उच्चरित रहने पर भी 'प्रमाणं प्रमाणम्' इस प्रकार द्विरावृत्ति कर "प्रमाणं = प्रमाकरणं प्रमायाः साधनं जनकं यत्, तत् प्रमाणं—प्रमाणपदप्रतिपाद्यम्"—यह अर्थ कर लेना चाहिये। जिससे एक ही प्रमाण पद लक्ष्य-लक्षणोभयपरक हो सकेगा।

अब प्रमाणलक्षणघटक 'प्रमा' का लक्षण कहते हैं 'तच्च असन्दिग्धेति।' "संशय-विपर्यय-विकल्प-स्मृतिरूप-चित्तवृत्तिभिन्ना, या चित्तवृत्तिः सा प्रमा" इति सारबोधिनी। इस प्रकार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य चित्तवृत्तिरूप अमुख्य-बौद्ध-प्रमा को बताकर चित्तवृत्ति की फलरूप-मुख्य पौरुषेय प्रमा को बताने के लिये कहते हैं—'बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमेति।' चित्तवृत्ति का फलस्वरूप जो 'पुरुषवर्ती बोध' उसे मुख्य 'प्रमा' कहते हैं। "द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा" (सां. सू. १।८७) सूत्र में दो प्रकार की प्रमा बताई है। अतः 'बुद्धिवृत्ति' और 'पौरुषेय बोध' दोनों 'प्रमा' शब्द से कहे जाते हैं[1]। इस प्रकार 'प्रमा' को बताकर प्रमाण को बताते हैं—'तत्साधनं प्रमाणमिति'। उस चित्तवृत्ति का जो साधन = पदार्थ के साथ सम्बद्ध चक्षुरादि, उसी प्रकार उस पौरुषेय बोध का जो साधन = चित्तवृत्ति—ये दोनों 'प्रमाण' कहे जाते हैं। अब 'असन्दिग्धाविपरीताऽनधिगतविषया चित्तवृत्तिः प्रमा"—इस चित्तवृत्तिरूप प्रमालक्षणघटक विशेषणों का पदकृत्य बताते हैं—"एतेन०" इति। 'असन्दिग्ध'—आदि तीन विशेषणों से संशय-विपर्यय-स्मृतिरूप-चित्तवृत्तियों का निरास किया गया है। अतः संशयसाधन, विपर्ययसाधन, स्मृतिसाधन में प्रमाणलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। 'असंदिग्ध' पद के देने से 'संशयसाधन' में अतिव्याप्ति नहीं होती। 'अविपरीत' पद के देने से विपरीतसाधन में अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। 'अनधिगत' पद के देने से स्मृतिसाधन में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती।

संख्याविप्रतिपत्तिं निराकरोति—"त्रिविधम्" इति। तिस्रो विधा यस्य प्रमाणसामान्यस्य तत् त्रिविधम्, न न्यूनम्, नाप्यधिकमित्यर्थः। विशेषलक्षणानन्तरञ्चैतदुपपादयिष्यामः।

(२४) प्रमाणसंख्या।

वती आख्या समाख्या—इसीको यौगिक कहते हैं। मीमांसा भाष्यकार शबरस्वामी ने "श्रुतिलिङ्ग-वाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्" (जै. सू. ३।३।१४) सूत्र पर व्याख्या करते हुए "श्रुतिद्वितीया क्षमता च लिङ्गं वाक्यं पदान्येव च संहतानि। सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा, स्थानं क्रमो योगबलं समाख्या॥" इस प्रकार समाख्या शब्द का यौगिक परक व्यवहार किया है।

१. चित्तवृत्तेः फलं यः पौरुषेयः = पुरुषवर्ती बोधः अर्थात् बुद्धिधर्मोऽपि बोधः स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्व-सम्बन्धेन पुरुषे उपचर्यमाणः—सा मुख्या प्रमा। एतादृशबोधस्य प्रमात्वे चित्तवृत्तिः प्रमाणम्। (किरणावली)

प्रमाणों की निश्चित संख्या बताने के लिये कारिका के अंशभूत 'त्रिविधम्' को देकर उसकी व्याख्या भी करते हैं—संख्याविप्रतिपत्तिं निराकरोति' अर्थात्

(२४) प्रमाणों की संख्या ।

'कियत् संख्याकं प्रमाणम्' ? कितने प्रमाण हैं ? इस संशय (वितर्क = संदेह) को दूर करते हैं—"त्रिविधम्" इति । उसकी व्याख्या की जा रही है—तिस्रो विधाः-प्रकाराः-अस्य प्रमाणसामान्यस्य तत् त्रिविधम् । न न्यूनम् = कम नहीं, अर्थात् चार्वाक की तरह केवल 'एक प्रत्यक्ष प्रमाण' या वैशेषिक की तरह केवल दो 'प्रत्यक्ष और अनुमान' ही प्रमाण नहीं । नाऽप्यधिकम् इत्यर्थः = और न अधिक ही अर्थात् नैयायिकों की तरह 'प्रत्यक्ष' 'अनुमान' 'उपमान'-'शब्द'—चार प्रमाण, या वेदान्ती तथा भाट्ट मीमांसक[1] की तरह पूर्वोक्त चार और 'अर्थापत्ति', 'अनुपलब्धि' मिलकर छह प्रमाण या पौराणिकों की तरह पूर्वोक्त छह और 'संभव' तथा 'ऐतिह्य' मिलकर आठ प्रमाण या आलंकारिकों की तरह पूर्वोक्त आठ और 'चेष्टा' मिलाकर नौ प्रमाण भी नहीं । कौमुदीकार कहते हैं—'प्रत्यक्ष' 'अनुमान' और 'आप्तवचन'—तीनों प्रमाण के विशेष लक्षण बताने के बाद 'एतत्' = प्रमाणों की न्यूनाधिक संख्या का निरसन हम पंचम कारिका की व्याख्या करते समय करेंगे ।

कतमाः पुनस्तास्तिस्रो विधा ? इत्यत आह-"दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च" इति । एतच्च लौकिकप्रमाणाभिप्रायम् , लोकव्युत्पादनार्थत्वाच्छास्त्रस्य, तस्यैवात्राधिकारात् । आर्षं तु विज्ञानं योगिनामूर्ध्वस्रोतसां न लोकव्युत्पादनायालमिति सदपि नाभिहितम् , अनधिकारात् ॥

(२५) प्रमाणत्रय-परिगणनम् ।

व्याख्या—कौमुदीकार ने 'त्रिविधम्' की व्याख्या करते हुए कहा था 'तिस्रो विधाः' । अतः जिज्ञासा होती है—वे तीन विधाएं (प्रकार) कौनसी ? तब उत्तर दिया—'दृष्ट', 'अनुमान' और 'आप्तवचन' अर्थात् 'प्रत्यक्ष'—'अनुमान' और 'शब्द'—ये ही प्रमाणों के तीन प्रकार हैं ।

(२५) तीन प्रमाणों का परिगणन ।

शंका—ऋषियों को त्रिकाल विषयक विद्या-तप-समाधि से होनेवाला प्रातिभप्रमाण ज्ञान होता है अतः वह भी चौथा अलौकिक प्रमाण हो सकता है, तब 'तीन ही प्रमाण'—यह निर्धारण कैसे उपपन्न होगा ?

समाधान—"एतच्च०" ग्रन्थ से समाधान करते हुए उपर्युक्त शंका का निरसन किया गया है । प्रमाणों की त्रिविधता का निर्धारण लौकिक प्रमाणों की दृष्टि से है । योगियों की दृष्टि से नहीं । क्योंकि उनका वह अलौकिक ज्ञान है । और इस सांख्यशास्त्र का प्रयोजन तो साधारण लोगों को बोध कराना है । अतः पूर्व प्रतिपादित उन्हीं तीन लौकिक प्रमाणों का इस सांख्यशास्त्र में निरूपण करना उचित है । साधारण लोगों का इन्हीं तीन प्रमाणों में अधिकार होता है ।

प्रश्न—आर्षविज्ञान के अधिकारी कौन लोग हैं ?

---

१. अर्थापत्त्या सह पञ्चैव प्रमाणानि-इति प्राभाकरमीमांसकाः ।

'चार्वाकास्तावदेकं द्वितयमपि पुनर्बौद्धवैशेषिकौ द्वौ
भासर्वज्ञश्च सांख्यस्त्रितयमुदयनाद्याश्चतुष्कं वदन्ति ।
प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकमपि च वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञाः
षट्कं पौराणिकास्त्वष्टकमभिदधिरे सम्भवैतिह्ययोगात् ॥ (तन्त्रसिद्धान्तरत्नावलि)

उत्तर—आर्षविज्ञान के अधिकारी ऊर्ध्वस्रोतस् योगी लोग होते हैं। ऊर्ध्वस्रोतस्[1] उनको कहते हैं, जिनकी चित्तवृत्ति का प्रवाह विषयों से बहिर्भूत परतत्त्व की ओर बहता रहता है। यह आर्षविज्ञान, साधारण जनों को नहीं हो पाता। इसलिये अलौकिक आर्षविज्ञान के होते हुए भी, लोक में अनुपयोगी होने से उसे नहीं बताया गया। वस्तुतः यह आर्षविज्ञान अर्थात् ऋतंभराप्रज्ञा जिसे योगज प्रत्यक्ष कहते हैं, प्रत्यक्ष के ही अन्तर्गत हो जाता है। इसलिये पृथक् नहीं कहा गया।

(२६) प्रमाणसंख्याऽऽधिक्यशङ्का, तत्परिहारश्च।

स्यादेतत्—मा भून्न्यूनम्, अधिकं तु कस्मान्न भवति? सङ्गिरन्ते हि प्रतिवादिन उपमानादीन्यपि प्रमाणानि, इत्यत आह—"सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्" इति। एष्वेव दृष्टानुमानाप्तवचनेषु सर्वेषां प्रमाणानां सिद्धत्वात्, अन्तर्भावादित्यर्थः। एतच्चोपपादयिष्यत इत्युक्तम्॥

(२६) प्रमाणों की संख्या में आधिक्य की शंका और उसका परिहार।

प्रश्न—आर्षविज्ञान के अलौकिक होने से उसका लोकोपयोग न होने के कारण उसे भले ही न बताया जाय किन्तु लोकोपयोगी उपमानादि प्रमाणों को तो बताना आवश्यक है, उनके न बताने से ग्रन्थ की न्यूनता (कमी) ही कही जायगी—इस आशंका को "स्यादेतत्०" ग्रन्थ से स्पष्ट किया है। सांख्यशास्त्रकार ने—तीन प्रमाण माने हैं—उनसे कम एक या दो प्रमाणों से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती थी। अतः न्यून प्रमाण नहीं स्वीकार किये गये तो न सही, किन्तु अन्य प्रतिवादी = अन्य शास्त्रकार गोतमादिकों ने चार-पाँच-छह-आठ-नौ तक की अधिक संख्याओं में प्रमाणों को अपने-अपने अभीष्ट सिद्ध्यर्थ स्वीकार किया है। उसी तरह सांख्यशास्त्रकार को भी स्वीकार करना चाहिये था।

उत्तर—"सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्" से प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं। स्वीकृत तीन प्रमाणों ('दृष्ट', 'अनुमान', 'आप्तवचन') में ही अन्य प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है[2]। अन्तर्भाव की प्रक्रिया को विशेष लक्षण कहने के पश्चात् कहेंगे यह पहले बता चुके हैं।

(२७) प्रमेयवर्णनात् प्रागेव प्रमाणनिर्वचनस्यावश्यकत्वम्।

अथ प्रमेयव्युत्पादनाय प्रवृत्तं शास्त्रं कस्मात् प्रमाणं सामान्यतो विशेषतश्च लक्षयति ? इत्यत आह—"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" इति। सिद्धिः प्रतीतिः॥

(२७) प्रमेय निरूपण के पूर्व ही प्रमाण निरूपण की आवश्यकता।

शंका—'पद', 'वाक्य', 'प्रमाण',-'प्रमेय' संज्ञक[3] विद्याप्रस्थानों में (शास्त्रों में) सांख्य-योग, वेदान्त—ये तीन प्रस्थान, प्रमेय-प्रतिपादक हैं। अतः प्रकृत प्रसंग में प्रमेय निरूपण करना ही उपयुक्त है, तब उसे न कर व्यर्थ ही प्रमाण निरूपण क्यों किया जा रहा है? इस प्रकार आशंका और उसका परिहार "अथ प्रमेय०" ग्रन्थ से कर रहे हैं। 'प्रमेय' का ज्ञान प्राप्त करना 'प्रमाण' के अधीन है[4]। अतः यह शास्त्र, प्रधानतया 'प्रमेय' का प्रतिपादक होने पर भी तदुपयोगी

---

१. ऊर्ध्वं = स्थूलेभ्यो विषयेभ्यो बहिः, परे तत्त्वे = अतीन्द्रिये अर्थे स्रोतः = वृत्तिप्रवाहो (ज्ञानं) येषां ते।

२. "तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः" (सां० सू० १।८८) तत्सिद्धौ = तस्य त्रिविधप्रमाणस्य सर्वार्थसाधकत्वसिद्धौ सर्वसिद्धेः = सर्वेषां प्रतिवादिभिरभ्युपगतानामुपमानादीनामपि तेष्वन्तर्भावसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः—अधिकप्रमाणसिद्धिर्न भवति—इति सारबो.।

३. पदविद्या = व्याकरण, वाक्यविद्या = मीमांसा, प्रमाणविद्या = न्यायशास्त्र, प्रमेयविद्या = सांख्य-योग वेदान्त।   ४. मानाधीना मेयसिद्धिः।

होने के कारण प्रसंगतः प्रमाण का प्रतिपादन भी कर रहा है। "प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" यहां "सिद्धि" का अर्थ, 'प्रतीति' है। अर्थात् जानने योग्य पंचविंशति (२५) तत्त्वों (प्रमेयों) की प्रतीति = प्रमात्मक (यथार्थ) ज्ञान का होना प्रमाणों के ही अधीन हैं। इसलिये प्रमाण निरूपण करना आवश्यक है।

(२८) कारिकापाठ-क्रमपरिवर्तनहेतुः।

सेयमार्याऽर्थक्रमानुरोधेन पाठक्रममनादृत्यैव व्याख्याता ॥ ४ ॥

(२८) कारिका के पाठ क्रम में परिवर्तन करने का कारण।

व्या०—शंका—"दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्, त्रिविधं प्रमाणम् इष्टम् प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।" इसकी व्याख्या करते समय 'पाठक्रम' को त्याग कर 'विपरीत क्रम' से व्याख्या क्यों की गई ?

समा०—"सेयमार्या०" ग्रन्थ से समाधान करते हैं। 'आर्या' छन्द में रची गई इस चतुर्थकारिका की व्याख्या 'अर्थक्रम' के अनुरोध से की गई है। 'पाठक्रम' के अनुरोध से नहीं। क्योंकि पाठक्रम की अपेक्षया 'अर्थक्रम' को प्रबल माना गया है। प्रयोजन के अनुसार जो क्रम होता है उसे 'अर्थक्रम' कहते हैं। वाक्य में पदों के परस्पर अन्वित होने में आकांक्षा, योग्यता आदि ही हेतु हैं। अनन्तरश्रवणमात्र कारण नहीं। जैसे—"अग्निहोत्रं जुहोति", "यवागूं पचति"—ये भिन्न भिन्न दो वाक्य हैं। एक में हवन करना और दूसरे में यवागूपाक (लपसी) बनाना बताया गया है। इन दोनों वाक्यों के 'पौर्वापर्य' (पाठक्रम) को देखने से स्पष्टरूप से प्रतीत होता है कि 'अग्निहोत्र हवन' के पश्चात् 'यवागूपाक' करना चाहिये। किन्तु 'यवागूपाक' करने का प्रयोजन (उद्देश्य) तो 'अग्निहोत्रहवन' करना है। अग्निहोत्रहवन को यदि 'यवागूपाक' से पूर्व ही करें तो 'यवागूपाक' करने का कोई प्रयोजन (मतलब) ही नहीं रहेगा। वह पाक व्यर्थ हो जायगा। अतः अर्थ (प्रयोजन) क्रम की ओर दृष्टि रखकर 'पक्त्वैव होतव्यम्' अर्थात् 'यवागूपाक' कर चुकने पर ही 'हवन' करना चाहिये यह निर्णय किया गया है। 'पाठक्रम' को स्वीकार नहीं किया गया। यह निर्णय पूर्वमीमांसा में "अर्थाच्च" (जै. सू. ५।१।२) सूत्र के द्वारा किया गया है। इसी प्रकार प्रकृत में भी 'दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च' इस प्रथम वाक्य को त्याग कर 'त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्' इस उत्तर वाक्य की ही व्याख्या, 'अर्थक्रमा'नुरोध से की गई है। क्योंकि 'प्रमाणसामान्य' का ज्ञान हुए बिना 'प्रमाणविशेष" का ज्ञान होना कठिन है। अतः प्रकृत में 'अर्थक्रम' का ही स्वीकार किया गया है, 'पाठक्रम' का नहीं ॥ ४ ॥

(२९) प्रमाणानां विशेषलक्षणम्।

सम्प्रति प्रमाणविशेषलक्षणावसरे प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणेषु ज्येष्ठत्वात् तदधीनत्वाच्चानुमानादीनाम्, सर्ववादिनामविप्रतिपत्तेश्च, तदेव तावल्लक्षयति—

(२९) प्रमाणों के विशेष लक्षण।

पाँचवीं कारिका की अवतरणिका दे रहे हैं 'सम्प्रति०' इति। चतुर्थ कारिका की व्याख्या करने के पश्चात् अब 'प्रत्यक्ष' 'अनुमान'—'आप्तवचन'रूप प्रमाण-विशेषों के लक्षणों को बताते समय 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को ही प्रथमतः बता रहे हैं, क्योंकि समस्त प्रमाणों में वह ज्येष्ठ तथा सबका 'उपजीव्य' है। 'अनुमानादि' प्रमाण उस 'प्रत्यक्ष' प्रमाण की ही अपेक्षा रखते हैं। 'अनुमान-भूयोदर्शनमूलक' है और 'आप्तवचन',—व्यवहारदर्शनाधीनशक्तिग्रहसापेक्ष

होता है। मूल में 'अनुमानादीनां' यह बहुवचनप्रयोग अन्यान्य शास्त्रकारों के अभिमत 'उपमान' आदि प्रमाणों को दृष्टि में रखकर किया है। प्रथमतः 'प्रत्यक्ष' निरूपण करने में दूसरा हेतु बताते हैं—'सर्ववादिनामविप्रतिपत्तेश्च' इति। अर्थात् 'प्रत्यक्ष' प्रमाण के स्वीकार करने में प्राकृत चार्वाकादिकों का भी विरोध नहीं है उन्हें भी वह सम्मत है। अतः उसी को अब बता रहे हैं—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्, आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु॥ ५॥

अन्व०—प्रतिविषयाध्यवसायः दृष्टम्, (यत्) लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम् अनुमानम्,—तत् त्रिविधम् आख्यातम्, आप्तश्रुतिः आप्तवचनन्तु॥

भावार्थ—'प्रतिविषयाध्यवसायः'—इन्द्रियों के सम्बन्ध से होने वाला ज्ञान, 'दृष्टम्'—चित्त-वृत्तिरूप प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है। 'लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्' = व्याप्य-व्यापकभाव-पक्षधर्मताज्ञान-पूर्वक होने वाला ज्ञान, 'अनुमानम्' = अनुमानप्रमाण का लक्षण है, वह 'अनुमान', 'त्रिविधम्' = तीन प्रकार का है = 'पूर्ववत्', 'शेषवत्', और 'सामान्यतोदृष्ट' 'आख्यातम्' = सांख्यशास्त्र में कहा गया है। 'आप्तश्रुतिः' = वाक्यजनित वाक्यार्थज्ञान, 'आप्तवचनम्' = शब्द प्रमाण का लक्षण है।

"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" इति। अत्र "दृष्टम्" इति लक्ष्यनिर्देशः, परिशिष्टं तु लक्षणम्। समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः॥

व्या०—इस पंचम-कारिका में 'दृष्टम्' इस प्रत्यक्षवाचक पदप्रयोग के द्वारा 'प्रत्यक्ष' रूप लक्ष्य का निर्देश किया है। परिशिष्ट-अर्थात् अवशिष्ट अंश 'प्रतिविषयाध्यवसायः' के द्वारा लक्षण का निर्देश किया है। 'प्रतिविषयाध्यवसायः' लक्षण है और 'प्रत्यक्ष' (दृष्ट), उसका लक्ष्य है। लक्षण बनाने का प्रयोजन (उद्देश्य) बताते हैं—'समानासमान०' इति। 'लक्ष्य को उसके समान जातीय और असमान जातीय दोनों प्रकार के पदार्थों से पृथक् कर सुव्यवस्थित कर देना' ही लक्षण बनाने का प्रयोजन (उद्देश्य) होता है। यह कहने से लक्षण का लक्षण—'समानाऽसमानजातीयव्यवच्छेदकत्वम्' भी सूचित होता है। जैसे—'गन्धवत्त्व' यह, पृथिवी का लक्षण है। यह लक्षण, 'पृथिवी' को 'द्रव्यत्वेन' उसके सजातीय 'जलादि'कों से और 'गुणत्वेन' उसके (पृथिवी के) 'विजातीय रूप-रसादिकों' से अलग करता है। अर्थात् 'पृथिवी' में इतरभेद की अनुमिति कराता है—तथाहि:—'पृथिवी, स्वेतरजलादिरूपरसादिभिन्ना, गन्धवत्त्वात्' इति। प्रकृत में 'प्रत्यक्ष' के समान जातीय प्रमाणान्तर—'अनुमान' आदिक हैं और असमान-जातीय—'प्रमेयसमुदाय' है—इन दोनों से भिन्नतया 'प्रत्यक्ष' को दिखलाना, यही प्रत्यक्ष लक्षण का प्रयोजन है।

(३०) प्रत्यक्ष-लक्षणावयवार्थः।

अवयवार्थस्तु-विसिन्वन्ति विषयिणमनुबध्नन्ति, स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्। "विषयाः", पृथिव्यादयः सुखादयश्च। अस्मदादीनाम् अविषयाः तन्मात्रलक्षणाः योगिनामूर्ध्वस्रोतसां च विषयाः। विषयं विषयं प्रति वर्तते इति प्रतिविषयम् = इन्द्रियम्। वृत्तिश्च सन्निकर्षः। अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थः। तस्मिन् अध्यवसायः, तदाश्रित

इत्यर्थः । अध्यवसायश्च बुद्धिव्यापारो ज्ञानम् । उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्याम्, बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते । इदं तावत् प्रमाणम्, अनेन यश्चेत-नाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः ॥

व्याख्या—प्रत्येक पद के अर्थ को अवयवार्थ कहते हैं । यहां वाक्य के अवयव पद ही हैं ।

(३०) प्रत्यक्षलक्षणघटक शब्दों के अर्थ ।

'विषय' पद का निर्वचन करते हैं—विसिन्वन्ति = विषयिणम् अनुवध्नन्ति । अनुवध्नन्ति का फलितार्थ लिखते हैं – 'स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत्' । 'षिञ्' बन्धने धातु से 'विसिन्वन्ति' रूप निष्पन्न किया गया है । विषयी अर्थात् 'चित्तवृत्तिरूपज्ञान'[1] को अपने आकार से निरूपण के योग्य बना देते हैं । निष्कर्ष यह है कि घटादि विषय, इन्द्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा 'चित्तरूप विषयी' को अपने आकार से रंजित करते हैं अर्थात् 'चित्तरूपविषयी' में 'विषय' अपने आकार को समर्पित करते हैं अर्थात् 'चित्त का विषयाकार' हो जाना ही—'विषयों' के द्वारा 'विषयी' को अपने रूप से निरूपणीय करना है । अब विषयशब्द से बोध्य अर्थ को कहते हैं—'पृथिव्यादय०' इति । पृथिवी आदि स्थूल अवस्था वाले बाह्य विषय होते हैं और सुखदुःख आदि आन्तर विषय होते हैं । अब सूक्ष्म विषयों को कहते हैं—'अस्मदादीनाम्'इति । हम जैसे अदिव्य चक्षुओं के विषय (अनुभव में) न हो सकने वाले 'शब्द', 'स्पर्श', 'रूप', 'रस' 'गन्ध'—'तन्मात्राएँ' अर्थात् सूक्ष्म भूतरूप पदार्थ भी ऊर्ध्वस्रोतस् योगियों के विषय[2] हुआ करते हैं—अर्थात् योगी लोग अपने अलौकिक प्रत्यक्ष से उन सूक्ष्म वस्तुओं को जान लेते हैं, अतः उन्हें भी 'विषय' कहते हैं । तात्पर्य यह है कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों 'विषय' शब्द से कहे जाते हैं । 'विषय' पदार्थ को बताने के पश्चात् 'प्रतिविषय' पदार्थ को कहते हैं—"विषयं विषयं प्रति०" इति । विषयं विषयं प्रति वर्तते इति "प्रतिविषयम्" = इन्द्रिय, यह 'अव्ययीभाव' समास है । इन्द्रियों का स्वस्थानत्यागपूर्वक विषयदेश के प्रति गमनरूप वर्तन, विषयों के प्रति नहीं है । अन्यथा अन्ध होने का प्रसङ्ग आवेगा । इन्द्रियों का विषय के प्रति वर्तन, 'सम्बन्धविशेष' रूप है । यह 'सम्बन्धविशेष' उच्छिन्नमूल न होकर अच्छिन्नमूल है । इसी आशय को कौमुदीकार ने कहा "वृत्तिश्च सन्निकर्षः" इति । इस प्रकार अवयवार्थ बताने से 'प्रतिविषयम्' इतने समुदाय का निर्गलित अर्थ हुआ "अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थः" । घटादिविषयरूप अर्थ के साथ सम्बद्ध चक्षुरादि इन्द्रिय । "तस्मिन् अध्यवसायः=तदाश्रित इत्यर्थः" इति । यहां 'तद्' शब्द से प्रतिविषय = इन्द्रिय का ग्रहण है । और समासान्तर्गत लुप्त सप्तमी का अर्थ है-आश्रय । तब 'तस्मिन्' इस सप्तम्यन्त पद का निर्गलित अर्थ यह हुआ 'तदाश्रित' । सबका मतलब हुआ—विषयसन्निकृष्ट इन्द्रियाधीन=इन्द्रियनिष्ठ । अब 'अध्यवसाय' शब्द का अर्थ कहते हैं-'ज्ञानम्', वह बुद्धि का व्यापार है

---

१. विषयः विषयितासंबन्धेन अस्ति अस्येति विषयि = ज्ञानम्, चित्तवृत्तिरूपं ज्ञानम् इति यावत् ।

२. सूक्ष्मभूतात्मक (अतीन्द्रिय) पदार्थ भी योगियों को ज्ञात हो जाते हैं—इस विषय में प्रमाण—"परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः" (यो. सू. १।४०) एभिरुपायैश्चित्तस्य स्थैर्यं भावयतो योगिनः सूक्ष्मविषयभावनाद्वारेण परमाण्वन्तो वशीकारोऽप्रतिघातरूपो जायते, क्वचित् परमाणुपर्यन्ते सूक्ष्मे विषये अस्य मनो न प्रतिहन्यते । एवमाकाशादिपरममहत्त्वपर्यन्तं भावयतः क्वचित् चेतसः प्रतिघातः न उत्पद्यते, सर्वत्र स्वातन्त्र्यं भवतीत्यर्थः । (भो. वृ.)

अर्थात् बुद्धि का धर्म है–बुद्धिवृत्ति है। अभिप्राय यह है कि 'ज्ञान' बुद्धि का ही धर्म है। इन्द्रियों का नहीं। अब स्फुटतया ध्यान में आने के लिये 'अध्यवसाय' शब्दवाच्य बुद्धिव्यापाररूप ज्ञान का लक्षण कहते हैं—'उपात्तविषयाणाम्' इति । 'उपात्तः' = जिन्होंने प्रतिबिम्बरूप में विषय प्राप्त किया है उन इन्द्रियों के 'वृत्तौ सत्यां' = विषयाकार होनेपर (चित्तवृत्ति के विषयाकार होने में चक्षुरादि इन्द्रियां कारण होती है) बुद्धि के तमोरूप आवरण को दबाकर प्रकट होनेवाले उसके सत्त्वात्मकप्रकाशबाहुल्यरूप धर्मविशेष को ही 'अध्यवसाय'—वृत्ति या ज्ञान—कहते हैं। क्योंकि बुद्धि के सत्त्वसमुद्रेक में 'तम' प्रतिवन्धक होता है।

अभिप्राय यह है—जैसे सरोवर (तालाव) का जल प्रवाहशील रहने पर भी, उसके निकलने के मार्ग में यदि कोई प्रतिबन्धक उपस्थित रहे तो वह खेत तक नहीं पहुँच पाता, न तदाकार ही हो पाता है, किन्तु प्रतिवन्धक के हटते ही रास्ता पाकर बाहर निकल पड़ता है, और नहर आदि के मार्ग से खेत तक पहुँच कर क्यारियों में प्रविष्ट होकर उनके चतुष्कोणादि आकारों जैसा परिणत हो जाता है, वैसे ही बुद्धिसत्त्व, समस्त विषयों के प्रकाशन करने में स्वाभाविकरूप से समर्थ रहने पर भी प्रतिवन्धक 'तम' के होने से वह अपना कार्य नहीं कर पाता, किन्तु जब चक्षु आदि इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा प्रतिबन्धकरूप 'तम' का निरास हो जाता है तब घटादि विषयतक पहुँचने में स्वयं असमर्थ रहने पर भी इन्द्रियात्मक नालिकाओं के रास्ते घटादि विषयों तक पहुँचकर तत्तद् विषयों के आकार में परिणत हो जाता है। बुद्धिसत्त्व के इस विषयाकार परिणाम को ही 'अध्यवसाय', 'वृत्ति', 'ज्ञान', 'प्रमाण' शब्दों से कहा जाता है। 'सत्त्वोद्रेक', ही 'वृत्ति' पदार्थ है। 'सत्त्वोद्रेक' के होने में 'तमोभिभव' (अज्ञान का नाश) कारण है, और 'तमोभिभव' में 'इन्द्रियसन्निकर्ष', 'व्याप्तिज्ञाना'दिक निमित्त हैं। इस विवेचन से प्रमाण का सामान्यलक्षण तथा तत्तद्विशेष लक्षण इस प्रकार निष्पन्न होते हैं—'तमोऽभिभवकालीनसत्त्वसमुद्रेकत्वम्'—इति 'प्रमाणवृत्तेः' सामान्यलक्षणम्। 'तमोगुण' के अभिभव के समय 'सत्त्वगुण' का उभार होना ही—'प्रमाणवृत्ति' का सामान्यलक्षण है। इन्द्रियसन्निकर्षद्वारक-तमोऽभिभवकालीन-सत्त्वसमुद्रेकत्वम्'–प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणम्, चक्षुरादि इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा तमोगुण के अभिभव के समकाल में होने वाले सत्त्वगुण के समुद्रेक के कारण बुद्धि का जो विषयाकार परिणाम, उसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं, जैसे—"घटोऽयम्" इत्यादि । 'व्याप्तिज्ञान–पक्षधर्मताज्ञानजन्य-तमोऽभिभवकालीन—सत्त्वसमुद्रेकत्वम्'—अनुमान-प्रमाणस्य लक्षणम्। अर्थात् पक्ष पर ज्ञायमान गृहीत व्याप्तिक हेतु के द्वारा साध्य का सामान्य रूप से जो निश्चय उसे अनुमान कहते हैं, जैसे—"वह्निमान्—धूमात्" इत्यादि। 'वाक्यजन्य तमोऽभिभवकालीनसत्त्वसमुद्रेकत्वम्'—आगमप्रमाणस्य लक्षणम् । यथार्थज्ञानवान् आप्त पुरुष के द्वारा दृष्ट, श्रुत अथवा अनुमित अर्थों का यथार्थ बोध कराने के लिये प्रयुक्त किये गये शब्द से श्रोता की जो तदर्थाकार वृत्ति—उसे 'आगम प्रमाण'–कहते हैं, जैसे—"स्वर्गकामो यजेत" । इसी आशय को ध्यान में रखकर कौमुदीकार कहते हैं—"इदं तावत् प्रमाणम्" इति 'तावत्' का प्रयोग वाक्यालंकार के लिये किया गया है। 'इदम्' = विषय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष से होने वाले तमोऽभिभवकालीन बुद्धिगत सत्त्वात्मक प्रकाश बहुलज्ञान (सत्त्वाधिक्य के कारण बुद्धि का विषयाकार हो जाना) "प्रमाणम्" = प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है।

शंका—'अन्तःकरण चित्त' (बुद्धि) तो निरवयव है, अतः उसे भी पुरुष की तरह अपरिणामी होना चाहिये, तब उसका विषयाकार में परिणत होना कैसे संभव है?

समाधान—परिणत न होने में 'निरवयव' होना प्रयोजक (कारण) नहीं है। अन्यथा प्रधान (प्रकृति) का 'परिणामित्व' (परिणत होना) अनुपपन्न होगा, क्योंकि वह (प्रधान) भी 'निरवयव' है। अतः परिणत न होने में प्रयोजक 'चेतनत्व' है, निरवयवत्व' नहीं। पुरुष 'चेतन' होने से 'परिणामी' नहीं हैं। किन्तु 'अन्तःकरण चित्त' (बुद्धि), चेतन न होने से उसकी विषयाकार परिणामिता अर्थात् विषयाकार में परिणत होना ठीक ही है। अतः 'चित्तम् अपरिणामि, निरवयवत्वात् आत्मवत्'—यह अनुमान प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहां चेतनत्व उपाधि से हेतु 'सोपाधिक' हो गया है। अतः 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेतु के होने से वह 'असद्‌हेतु' हो गया है। असद्‌हेतु से साध्य निश्चय नहीं हुआ करता।

वास्तव में सांख्यसिद्धान्तानुसार "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्।" (सां० का० १०) प्रधान को छोड़कर बुद्ध्यादि समस्त जडतत्त्व सावयव और मध्यम परिणाम से युक्त हैं। अतः उनका विषयाकार में परिणाम होना उपपन्न है। अतः किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है।

अब प्रमाण की फलस्वरूप 'प्रमा' को "अनेन०" ग्रंथ से बता रहे हैं। चेतनशक्ति = चेतन पुरुष पर इस सत्वसमुद्रेकात्मकबुद्धिवृत्तिरूप प्रत्यक्षप्रमाण से होने वाला जो अनुग्रह अर्थात् 'बुद्धि' में प्रतिबिंबित = प्रतिफलित हुए 'चेतन' के लिये बुद्धिवृत्ति के द्वारा गृहीत विषयाकारों का अर्पण कर देना ही, प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है[1]। इसी को 'बोध' = पौरुषेय बोध, "प्रमा" = 'प्रत्यक्ष प्रमा' आदि कहते हैं। इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त कराये गये विषयों को अपने स्वामी आत्मा के लिये अर्पण कर देना[2] ही अन्तःकरण का स्वभाव है।

बुद्धितत्त्वं हि प्राकृतत्वादचेतनम्, इति तदीयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनो, घटादिवत्। एवं बुद्धितत्त्वस्य सुखादयोऽपि परिणाम-भेदा अचेतनाः। पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गी चेतनः। सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रति-बिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति-चेतनोऽनुगृह्यते। चितिच्छायापत्त्याऽचेतनाऽपि बुद्धिस्तदध्यवसायोऽप्यचेतनश्चेतनवद्भवतीति। तथा च वक्ष्यति—

(३१) ज्ञानानामचेतनत्वम्।

"तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥" इति

[कारिका २०]

---

१. विषयसन्निकृष्टेन्द्रियेण जायमानः 'अयं घटः' इति प्रकाशात्मकचित्तवृत्तिरूपो बोधः—प्रत्यक्षं प्रमाणम् तदनु जायमानो 'घटमहं जानामि' इति पौरुषेयो बोधः प्रमा इति भावः।

"अनुमानप्रमाणात्मकचित्तवृत्त्या जायमानः 'वह्निमहमनुमिनोमि' इति पौरुषेयो बोधः फलम् अनुमा।"

"शब्दप्रमाणात्मकचित्तवृत्त्या जायमानः 'शब्दयामि' इति पौरुषेयो बोधः शाब्दबोधः फलं प्रमा।" (किरणावली)

२. "गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति।
अन्तःकरणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः॥" (वि० पु० १।१४।३५)

कौमुदीकार ने 'चेतनाशक्तेरनुग्रहः' कहा है, अतः 'अनुग्रह' पदार्थ को स्पष्ट करने के लिये बुद्धिधर्मों की 'जडता' = अचेतनता को बताते हैं—'बुद्धितत्त्वम्०' इति। बुद्धितत्त्व प्राकृत है अर्थात् जडप्रकृति का कार्य है। इसलिये वह 'अचेतन' है। इस कारण उसका धर्म जो 'अध्यवसाय'= 'इदमेव' यह वृत्तिविशेष भी अचेतन है। अभिप्राय यह है—प्रकृति के अचेतन होने से उसकी विकारस्वरूप बुद्धि भी अचेतन और उसके अचेतन होने से उसका वृत्ति विशेषरूप अध्यवसाय भी अचेतन है। इसी को समझने के लिये हम इस प्रकार अनुमान प्रयोग कर सकते हैं "सर्वं साक्षात् परम्पराविकारजातम् अचेतनम्, अचेतनोपादानकत्वात्" इति उसी में बाह्य पदार्थ का दृष्टान्त देते हैं—"घटादिवत्" इति। जैसे अचेतन मिट्टी से निर्मित घटादि पदार्थ अचेतन होते हैं।

(३१) बुद्धितत्त्व तथा उसके धर्मों की जडता।

"एवम्" = घटादि पदार्थ के समान ही बुद्धितत्त्व के धर्म (परिणामविशेष) जो सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म आदि ये सभी अचेतन (जड) हैं[1]। चित्संबंध के बिना सुखादि जड पदार्थ प्रकाशित नहीं हो पाते। चेतनतत्त्व को बताते हैं—"पुरुषस्तु०" इति। यहाँ 'तु' शब्द बुद्धितत्त्व की अपेक्षा पुरुष की विलक्षणता को सूचित कर रहा है। [2]पुरुष—चेतन है और बुद्धितत्त्व-अचेतन, यही पुरुष की बुद्धि तत्त्व से विलक्षणता है।

शंका—'चेतनोऽहं जानामि,' 'सुखी' इति। इस व्यवहार के बल पर कह सकते हैं कि—जहाँ चैतन्य है वहीं ज्ञान-सुख आदि की अनुभूति होती है अर्थात् चैतन्यसामानाधिकरण्येन ज्ञान-सुख आदि का अनुभव होता है, अतः पुरुष के ज्ञानी एवं सुखी होने की उपपत्ति संगत होती है। अर्थात् पुरुष ही ज्ञान-सुखादिमान् है, बुद्धि नहीं। तब ज्ञान-सुखादिकों को बुद्धि के परिणाम विशेष क्यों कहा जाता है?

समाधान—"पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गी[3] चेतनः" इति। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृ. उ. ४.३-१५) श्रुति के अनुसार पुरुष को ज्ञान-सुख आदि का आधार नहीं माना जा सकता[4]। इस कथन से शास्त्रान्तरों में प्रतिपादित ज्ञान-सुखादि की आत्मधर्मता का खण्डन हो जाता है। तथापि पुनः यह प्रश्न बना ही रहता कि "चेतनोऽहं जानामि, सुखी" यह प्रतीति कैसे होती है? किसी एक के ज्ञान-सुखादि धर्मों से कोई दूसरा व्यक्ति ज्ञान-सुखादि धर्मवान् नहीं कहलावेगा। इस प्रश्न को "सोऽयं०" ग्रन्थ से हल कर रहे हैं। उक्त ग्रन्थ में कहे गये "ज्ञानसुखादिना" का अन्वय "ज्ञानसुखादिमानिव" के साथ करना चाहिये। 'तत्प्रतिबिम्बितः' = बुद्धिप्रतिबिम्बितः (बुद्धितत्त्वे प्रतिफलितः) अर्थात् बुद्धिगत (चित्तगत) ज्ञान-सुखादि धर्मों की

---

१. "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः" (वै० सू० २।१।२४) घटपटादि कार्य के जो रूपादि विशेष गुण हैं वे उस घट के कारणीभूत कपालतन्तु आदि के रूपादि विशेष गुणों के अनुरूप ही होते हैं।

२. पुरि = शरीरे शेते इति पुरुषः = आत्मा।

३. असङ्गः = निर्लेपः। निर्लिप्तत्वं नाम—अनुयोगितासंबंधेन विजातीयसंयोगवत्त्वं लिप्तत्वम्, तदभाववत्त्वं निर्लिप्तत्वम्। वैजात्यं चात्र-'अम्भसा लिप्तम्, भस्मना लिप्तम्, तैलेन लिप्तं शरीरम्' इत्याद्यनुगतप्रतीतिसिद्धेनोदकत्वव्याप्यजातिविशेषरूपं बोध्यम्। (सारबोधिनी)

४. "निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमलः।
दुःखाज्ञानमया धर्मा प्रकृतेस्ते तु नात्मनः॥"

पुरुष में प्रतीति होती है। अन्यगत धर्मों की अन्यत्र प्रतीति होने में निमित्त बताते हैं 'तच्छा-यापत्त्या०' इति। अर्थात् बुद्धितत्त्वतादात्म्यापत्त्या। बुद्धि के साथ तादात्म्य के होने में कारण यह है कि चैतन्य और चित्त (बुद्धि) के भेद का ज्ञान न (अग्रह) होना। इसी को 'अस्मिता' (अविवेक) कहते हैं[१]। वही बुद्धि के साथ तादात्म्यापत्ति में प्रयोजक है 'तत्प्रतिबिम्बित' इति। इन्द्रियों का विषयों (पदार्थों) के साथ सम्बन्ध होने पर उनका इन्द्रियो में प्रतिबिम्ब पड़ता है। विषय के प्रतिबिम्बसहित इन्द्रियाँ बुद्धि में उपस्थित होती हैं। इस प्रकार इन्द्रिय और बुद्धि का सम्बन्ध होनेपर 'तम' का अभिभव हो जाता है और सत्त्व का उद्रेक होता है, तब "अमुकोऽयम्" यह अमुक है, इस प्रकार बुद्धि का अध्यवसाय (वृत्ति) होता है। बुद्धि के इस अध्यवसाय से, बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने के कारण बुद्धिस्वरूपतापन्न हुए (बुद्धि जैसे लगने वाले) चेतन में भी अध्यवसाय की प्रतीति होती है अर्थात् चेतन ही अध्यवसाय कर रहा है, यह प्रतीत होने लगता है। सरोवर के तरङ्गों से उसमें प्रतिबिम्बित हुआ सूर्य ही तरंगित होता सा लगता है। इसी आशय को व्यक्त करने के लिये "ज्ञानसुखादिमान् इव" यहां 'इव' का प्रयोग किया गया है।

शंका—बुद्धि के साथ तादात्म्य होने से पुरुष में भले ही ज्ञानसुखादिमत्त्व की प्रतीति हो किन्तु जड (अचेतन) बुद्धितत्त्व और उसके धर्मरूप अध्यवसाय को चेतनत्वेन क्योंकर प्रतीति होती है?

समाधान—"चितिच्छायापत्त्या च" इति। केवल ज्ञानसुखाद्यननुषङ्गी (ज्ञान-सुखादिकों से असम्बन्धित) 'पुरुष' ही बुद्धिस्वरूपतापन्न होने से बुद्धि के धर्मों से सम्बन्धित होने के कारण ज्ञानसुखादिमान् सा प्रतीत नहीं होता, बल्कि अचेतन (जड) बुद्धि भी चेतन पुरुष से अभिन्न प्रतीत होने के कारण पुरुषधर्म (चैतन्य के सम्बन्ध से) चेतनावती (चेतन सी) प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है—बुद्धि और पुरुष के असंसर्गाग्रह (विवेकाग्रह) से पुरुषगत चैतन्य की प्रतीति बुद्धि में, और बुद्धिगत ज्ञान सुखादि की प्रतीति पुरुष में होती रहती है। वस्तुतः न चैतन्य बुद्धि का धर्म है और न ही ज्ञानसुखादि पुरुष के धर्म हैं। उक्त अभिप्राय को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये 'तस्मात् तत्संयोगात्' (बीसवीं) कारिका को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं "तथा च वक्ष्यति" इति। चैतन्य और कर्तृत्व के अधिकरण भिन्न-भिन्न हैं। महदादिक अचेतन होते हुए भी पुरुष के सन्निधान से चेतन की तरह प्रतीत होते हैं। इसी तरह गुणों में ही कर्तृत्व के रहने पर भी पुरुष अकर्ता और उदासीन होता हुआ भी कर्ता की तरह प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि प्रमारूप फल बुद्धि में ही पैदा होता है, पुरुष में नहीं। क्योंकि वह असंग है इसलिये प्रमा वह आधार नहीं बन सकता। चिति और चित्त का अभेदग्रह होने से 'पौरुषेय बोध' यह लाक्षणिक प्रयोग किया जाता है।

---

१. "दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता" (यो० सू० २।६)
"बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेन" इति।
पुरुषस्य आकारः = स्वरूपं—सदाविशुद्धिः शीलम्=औदासीन्यं, विद्या = चैतन्यम्, पुरुषः सदा शुद्धः उदासीन चैतन्यरूपश्च, बुद्धिः अविशुद्धा, अनुदासीना, जडा च इति सत्यपि बुद्धिपुरुषयो-र्विभागे मोहेन = अस्मिताख्याऽविवेकेन विभक्तमपश्यन् तत्रात्मबुद्धिं करोतीति पञ्चशिखाचार्यग्रन्थः। यथाच दर्पणमुखयोरसंसर्गाग्रहात् दर्पणनिष्ठमालिन्यस्य यथा मुखे भ्रमस्तथा बुद्धिपुरुषयोरसंसर्गा-ग्रहात् बुद्धिनिष्ठज्ञानपरिणामित्वस्यापि पुरुषे भ्रम इति सारबोधिनी।

(३२) प्रत्यक्षलक्षणान्तर्गतानां शब्दानां व्यावृत्तिः ।

अत्राध्यवसायग्रहणेन संशयं व्यवच्छिनत्ति, संशयस्यानवस्थितग्रहणत्वेनाऽनिश्चितरूपत्वात् । निश्चयोऽध्यवसायइति चानर्थान्तरम् । विषयग्रहणेन चाऽसद्विषयं विपर्ययमपाकरोति । प्रतिग्रहणेन चेन्द्रियार्थसन्निकर्षसूचनादनुमानस्मृत्यादयश्च पराकृता भवन्ति ॥

(३२) प्रत्यक्षलक्षण के पदों का पदकृत्य ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष का लक्षण बताकर उसे लक्ष्य में घटित करने के निमित्त लक्षणगत पदों का प्रयोजन बताते हैं 'अत्राध्यवसाय०' इति । 'प्रतिविषयाध्यवसायः' इस प्रत्यक्षलक्षण में 'अध्यवसाय' शब्द से 'संशय' की निवृत्ति होती है । 'एकधर्मिकविरुद्धभावाऽभावप्रकारकमनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः' यह संशय का लक्षण है ।

शंका—'अध्यवसाय' पद से संशय की व्यावृत्ति कैसे होती है ?

समाधान—"संशयस्य०" इति । 'संशय' तो अनवस्थित का ग्रहण कराता है, अतः अनिश्चितरूप है । अनिश्चित ज्ञान का वारण 'निश्चित' पद से होता तो युक्तिसंगत है क्योंकि वही उसके विरुद्ध है । यहां 'निश्चय' पद तो है नहीं किन्तु 'अध्यवसाय' पद है । इससे अनिश्चयज्ञान का वारण कैसे हुआ ? उत्तर देते हैं—'निश्चयोऽध्यवसाय' इति चानर्थान्तरम् । निश्चय और अध्यवसाय शब्द एकार्थक है । अतः निश्चयवाचक 'अध्यवसाय' पद से अनिश्चयवाचक संशय का वारण परस्परविरुद्ध तेजस्तिमिर की तरह हो जाता है । अब 'विषय' पद से जिसका व्यवच्छेद होता है उसे बताते हैं—"विषयग्रहणेन" इति । 'विषय' पद से मिथ्याज्ञानात्मक 'विपर्यय'[१] का वारण हो जाता है । 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' को विपर्यय अर्थात् भ्रम कहते हैं । जैसे सामने चमकती हुई शुक्ति में रजत का 'इदं रजतम्' इत्याकारक भ्रम होता है । अभिप्राय यह है—विपरीतवृत्तिरूप ज्ञान को विपर्यय कहते हैं । अतः जहाँ स्थाणु को देखकर पुरुषाकार बुद्धिवृत्ति होती है वहां उस बुद्धिवृत्ति का विषय नहीं है, इसलिये वह विपर्ययज्ञान है । अब "प्रतिविषयाध्यवसाय" में विषयं विषयं प्रति वर्तते—विग्रह किया गया है । अतः यहां के 'प्रति' पद का व्यावर्त्य बताते हैं "प्रतिग्रहणेन च०" इति "विषयं विषयं प्रति वर्तते" के द्वारा इन्द्रिय में विषयवृत्तिता बताई गई है, जिससे इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष सूचित होता है । अतः अनुमिति, स्मृति और शाब्दबोध विषयक चित्तवृत्तियों का निराकरण होता है । क्योंकि ये वृत्तियाँ विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्य नहीं होतीं,[२] इसलिये उन्हें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता है ।

---

१. "विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्" । (यो० सू० १।८)
"इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्च विपर्ययः" ॥ (वै० सू० ९।२।१०)

२. प्रत्यक्षादिप्रमाणेनानुभूतस्य (ज्ञातस्य) विषयस्य यदिदं कालान्तरे पुनरुद्बोधकसांनिध्यात् संस्कारद्वारा स्फुरणं स चित्तस्य परिणामविशेष एव स्मृतिरुच्यते । एतदुक्तं भवति–यदा किंचिद् वस्तु दृष्टं श्रुतं वा भवति, तदावश्यमेकविधस्तदाकारसंस्कारश्चित्तेऽङ्कुरितो जायते, पुनः समयान्तरे यदा काचित्तदुद्बोधिका सामग्री उपस्थिता भवति तदा स एव चित्तवर्ती संस्कारः जागरितो भूत्वा ज्ञातपदार्थाकारेण चित्तं रञ्जयति योऽयं ज्ञातपदार्थविषयः कश्चित्तस्य तदाकारपरिणामः सैव स्मृतिरिति । इयं च चित्तवृत्तिर्नेन्द्रियसन्निकर्षजन्या भवतीति युक्तं प्रतिग्रहणेन तद्वारणमित्याशयः । एवमनुमानेऽपि सा न तथा भवतीति विज्ञेयम् । (सारबोधि०)

(३३) प्रत्यक्षस्य पर्यवसितं लक्षणम् ।

तदेवं समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात् "प्रतिविषयाध्यवसाय" इति दृष्टस्य सम्पूर्णं लक्षणम् । तन्त्रान्तरेषु लक्षणान्तराणि तैर्थिकानां न दूषितानि, विस्तरभयादिति ॥

(३३) प्रत्यक्ष का पर्यवसित लक्षण ।

अब प्रत्यक्ष के लक्षण में लक्षण के लक्षण को घटित करते हुए प्रकृत का "तदेवम्" से उपसंहार करते हैं। प्रत्यक्ष के लक्षण में दिये गये विशेषणों से अलक्ष्य का निरास हो जाने से प्रत्यक्ष के सजातीय संशयादि और विजातीय अनुमान-स्मृत्यादिकों की व्यावृत्ति हो जाती है अतः "प्रतिविषयाध्यवसायः" यह प्रत्यक्ष का अदुष्ट (दोषरहित) लक्षण है।

(३४) अनुमानस्य प्रमाणत्वसाधनम् ।

'नाऽनुमानम्प्रमाण'मिति वदता लोकायतिकेनाऽप्रतिपन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तो वा पुरुषः कथं प्रतिपद्येत ? नच पुरुषान्तरगता अज्ञानसंदेहविपर्ययाः शक्या अर्वाग्दृशा प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुम् । नापि प्रमाणान्तरेण, अनभ्युपगमात् । अनवधृताज्ञानसंशयविपर्ययस्तु यं कंचन पुरुषं प्रति प्रवर्तमानोऽनवधेयवचनतया प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येत । तदनेनाऽज्ञानादयः परपुरुषवर्तिनोऽभिप्रायभेदाद्वचनभेदाद्वा लिङ्गादनुमातव्याः, इत्यकामेनाऽप्यनुमानंप्रमाणमभ्युपेयम् ॥

(३४) अनुमान की प्रमाणता का साधन ।

शंका—अन्य शास्त्रों में 'प्रत्यक्ष' के अन्यान्य लक्षण किये गये हैं जैसे—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्"[1] (सर्वदर्शनसंग्रह) "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तद् प्रत्यक्षम्"[2] (मी० सू० १।१।४)। "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"[3] (न्या० सू० १।१।४)। यह सब लक्षण दुष्ट हैं या अदुष्ट ? यदि दुष्ट हैं तो यहां क्यों नहीं दूषित किये गये ? और यदि अदुष्ट हैं तो अन्य लक्षण क्यों बनाया गया ?

समाधान—अन्य दार्शनिकों के प्रत्यक्षलक्षण यद्यपि दुष्ट हैं तथापि यहाँ विस्तरभय से उन्हें दूषित नहीं किया गया। उन लक्षणों के दूषित करने का प्रकार न्यायवार्तिक की तात्पर्यटीका और तत्त्वप्रदीपिका में देखना चाहिये।

---

१. कल्पनाया अपोढम् = अपेतं कल्पनास्वभावरहितं, यत् किल न नाम्ना अभिधीयते, न च जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते तद् प्रत्यक्षमित्यर्थ इति बौद्धाः। तथाहि—"कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम् । विकल्पो वस्तुनिर्भासादविसंवादुपप्लवः ॥"

२. "पुरुषस्य इन्द्रियाणां सति = विद्यमाने विषये सम्प्रयोगे सति यद् बुद्धेः = ज्ञानस्य जन्म तत्प्रत्यक्षम्" इति जैमिनिः।

३. इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं तद् प्रत्यक्षम् ।-भ्रमवारणाय अव्यभिचारीति भ्रमभिन्नमित्यर्थः। तद्विभागमाह—अव्यपदेश्यं = निर्विकल्पकं, व्यवसायात्मकं = सविकल्पकमिति।

(छा. बो.)

अब अनुमान प्रमाण का निर्वचन करने वाली "त्रिविधमनुमानम्" कारिकांश की व्याख्या से अनुमान का अप्रामाण्य बताने वाले चार्वाक का निरसन करते हैं—"नानुमानं प्रमाणम्" इति। लौकायतिक[1] (चार्वाक) ने केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही माना है, अनुमानादि अन्य प्रमाणों को नहीं। तब वह अज्ञानी, संशयी तथा भ्रान्तपुरुष को कैसे पहचान सकता है? जैसे—किसी आदमी को सामने रखे हुए का घटत्वेन ज्ञान नहीं हो रहा है, किसी को—घट है या अन्य कुछ है—ऐसा संशय हो रहा है, अथवा कोई पीतल के घट को सुवर्ण समझता है। इन सब बातों का निश्चय लौकायतिक कैसे कर सकेगा? यदि कहें कि वह प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही इन सब बातों को जान लेगा, तो इस पर कहते हैं—"न च पुरुषान्तरगता०" इति। अन्य पुरुषों में रहने वाले अज्ञानादि भी गौरत्व-श्यामत्व की तरह देहधर्म ही हैं, पर तथापि उनमें रूप न होने से प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उनका जानना अशक्य है। हाँ; परकीय अज्ञानादिकों को योगी लोग अपने तपोमाहात्म्य से जान सकते हैं, किन्तु स्थूलदृष्टि वाले चार्वाक के लिये तो संभव नहीं है,[2] क्योंकि रूपवाले वस्तु को ही साधारण मनुष्य देख सकता है, रूपरहित वस्तु को नहीं। अज्ञानादि तो रूपरहित हैं। अतः चार्वाक को किसी के अज्ञानादि का ज्ञान कैसे हो सकता है।

शंका—यदि कहें कि किसी के अज्ञानादिकों का ज्ञान प्रत्यक्ष से न हो सके तो न सही, किन्तु उसके कहने से (शब्द से) तो ज्ञान हो ही जायगा।

समा०—किन्तु वचन (शब्द) भी तो प्रत्यक्ष से अतिरिक्त है अतः उसे चार्वाक कैसे स्वीकार करेगा? क्योंकि उसके सिद्धान्त में तो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण है ही नहीं। इसी बात को "नापि प्रमाणान्तरेण, अनभ्युपगमात्" से कहा गया है।

अन्य पुरुष के अज्ञानादि को बिना समझे ही किसी दूसरे से यदि बताने लग जाय तो इस पर (लौकायतिक पर) लोग हंस पड़ेंगे।

शंका—तथापि अनुमान के स्वीकार की आवश्यकता क्या है?

समाधान—"तदनेनाज्ञानादयः" इति। जब कि प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा अन्य पुरुष के अज्ञानादि को नहीं समझ पा रहा है तब उसे (चार्वाक को) दूसरे के अभिप्राय विशेष को[3] समझकर या वचनविशेष[4] को सुनकर ही (दूसरे के) अज्ञानादि को अनुमान प्रमाण के द्वारा

---

१. लोके आयतं = विस्तीर्णमिव यत् प्रसिद्धं प्रत्यक्षप्रमाणं तत् लोकायतं तत्प्रतिपादकं चार्वाकशास्त्रमपि लोकायतं, तदधीते तत् वेद यः सः लौकायतिकः। लोकायतशब्दात् 'क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्' इति ठक् प्रत्ययः।

२. यस्मादर्वाग् व्यवर्तन्त ततोऽर्वाक्स्रोतसस्तु ते।
प्रकाशाबहिरन्तश्च मनुष्याः साधकाश्च ते॥ (वि० पु०)

३. अयं जनः ईदृशाभिप्रायवान्, एवंवचनप्रयोक्तृत्वात्, सम्प्रतिपन्नवत्। इत्येवं तात्पर्यविशेषम् अनुमाय "अयम् एतद्विषयाज्ञानादिमान्, एतादृशाभिप्रायवत्त्वात्" इत्येवम् अज्ञानाद्यनुमानम्।

४. "एतद् वचनम् एतदन्तःकरणस्थाज्ञाननिमित्तम्, असंबद्धवचनत्वात्, मदीयासम्बद्धवचोवत्" इत्येवं परकीयाज्ञानस्य।

"एतद् वचः एतदन्तःकरणस्थसंशयनिमित्तम्, अनिश्चितवचनत्वात्, मदीयानिश्चितवचोवत्" इत्येवं परकीयसंशयस्य।

"एतद् वाक्यम् एतदन्तःकरणस्थविपर्ययनिमित्तम्, भ्रान्तिवचनत्वात् मदीयभ्रान्तिवचोवत्" इत्येवं परकीयविपर्ययस्य च प्रतिपत्तिरनुमेया।

ही समझना होगा। अर्थात् दूसरे के अज्ञान संशय और भ्रम को अनुमान प्रमाण से ही समझा जा सकता है। इसलिये अनुमान भी प्रमाणान्तर है, यह कहने से चार्वाक-सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है।

(३५) अनुमानस्य सामान्यलक्षणम्।

तत्र प्रत्यक्षकार्यत्वात् अनुमानं प्रत्यक्षानन्तरं लक्षणीयम्। तत्राऽपि सामान्यलक्षणपूर्वकत्वाद्विशेषलक्षणस्येत्यनुमानसामान्यं तावल्लक्षयति–"तत् लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्" इति। लिङ्गम् व्याप्यम्। लिङ्गि व्यापकम्। शङ्कितसमारोपितोपाधिनिराकरणेन च वस्तुस्वभावप्रतिबद्धं व्याप्यम्, येन प्रतिबद्धं तद्व्यापकम्। लिङ्गलिङ्गिग्रहणेन विषयवाचिना विषयिणं प्रत्ययमुपलक्षयति 'धूमादिर्व्याप्यो वह्न्यादिर्व्यापक' इति यः प्रत्ययस्तत्पूर्वकम्। लिङ्गिग्रहणं चावर्तनीयम्। तेन च लिङ्गमस्यास्तीति पक्षधर्मताज्ञानमपि दर्शितं भवति। तद्व्याप्यव्यापकभावपक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानमित्यनुमानसामान्यं लक्षितम्॥

(३५) अनुमान का सामान्य लक्षण।

इस प्रकार अनुमान का प्रामाण्य सिद्ध कर तल्लक्षपरक अंश को उपस्थित करते हैं—"तत्र प्रत्यक्षकार्यत्वात्" इति। अनुमान प्रमाण की आवश्यकता जब युक्ति से सिद्ध हुई तब (भूयोदर्शनात्मक प्रत्यक्षमूलक होने से) उसका लक्षणादि के द्वारा प्रतिपादन, प्रत्यक्षप्रमाण प्रतिपादन के पश्चात् ही होना चाहिये। "तत्रापि सामान्यलक्षण०" इति सामान्य और विशेष दोनों में से 'विशेष' सामान्यधर्म से व्याप्य धर्म का होता है, अतः अनुमान से सामान्य धर्म का ज्ञान हुए बिना उसके विशेषधर्म का ज्ञान होना असंभव है। इसलिये "लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम अनुमानम्" यह अनुमान का सामान्यलक्षण है। अर्थात् लिङ्गलिङ्गि के ज्ञान से उत्पन्न हुए ज्ञान को अनुमान कहते हैं[1]। "लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम" इस अनुमान लक्षण को स्पष्ट करने के लिये—लिङ्गलिङ्गि शब्द की व्याख्या करते हैं—"लिङ्ग[2] व्याप्यम्" इति। 'व्याप्य' की व्याख्या करते हैं 'शङ्कित०' इति। शङ्कित=सन्दिग्ध, समारोपित=निश्चित, स्वभावप्रतिबन्ध = व्याप्ति! अर्थात् धूमादि वस्तु का वह्नि आदि के साथ जो अविनाभावरूप स्वभाव उससे प्रतिबद्ध (आक्रान्त)। अभिप्राय यह है, कि जो वस्तु जिस वस्तु के बिना न रह सके वह वस्तु उसकी व्याप्य कहलाती है। उपाधि के निश्चय और संशय से होने वाले व्यभिचार-निश्चय तथा संशय दोनों ही व्याप्तिनिश्चय को रोक देते हैं, अतः उन दोनों का निराकरण होना आवश्यक रहता है। अब 'व्यापक' को बताते हैं— 'येन च०' इति। जिस वह्नि आदि के साथ अविनाभूतरूप से सम्बद्ध धूमादि हो, उस वह्नि आदि को व्यापक कहते हैं।

शंका—लिङ्ग का ज्ञान ही तो अनुमिति में हेतु होता है। लिङ्गादि वस्तु नहीं। तब लिङ्गादि वस्तु का उल्लेख यहां कैसे किया गया है?

---

१. "अनुमानं च लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनम्" (न्या० सू० १।१।५)

२. लिङ्ग्यते = गम्यते = ज्ञायतेऽप्रत्यक्षः अर्थः अनेन इति लिङ्गम्। (न्यायबिन्दुः) व्याप्तिबलेन लीनं = सन्दिग्धं अर्थं = साध्यं गमयति इति लिङ्गम् = हेतुः। (सिद्धान्तचन्द्रोदय)

समा०—ज्ञान और ज्ञेय के अविनाभाव को देखने से ज्ञेय का निर्देश ज्ञान के उपलक्षण के लिये है, इस बात को 'लिङ्गलिङ्गिग्रहणेन[1] च०' ग्रन्थ से लिङ्गलिङ्गिरूपविषयोद्दीपक ज्ञान को उपलक्षणविधया कारिकाकार बताते हैं अभिप्राय यह है—यहां पर लिङ्गलिङ्गि दोनों शब्द वस्तुपरक नहीं हैं, क्योंकि वस्तु अनुमिति में हेतु नहीं होती। अतः उपलक्षणविधया ये दोनों शब्द ज्ञानपरक हैं। ज्ञान और ज्ञेय का अविनाभाव रहने से कारिका में ज्ञेय का निर्देश किया गया है। कौमुदीकार सबका निष्कर्ष बता रहे हैं—'धूमादिर्व्याप्य०' इति। 'धूमादि व्याप्य हैं और वह्न्यादि व्यापक हैं' इस प्रकार धूम और वह्नि में जो व्याप्य-व्यापक भाव (व्याप्ति) का ज्ञान होता है, उसे अनुमिति में करण कहते हैं अर्थात् उससे अनुमिति होती है।

शंका—केवल व्याप्य-व्यापकभाव (व्याप्ति) के ज्ञान से तो अनुमिति का होना संभव नहीं। व्याप्य का पक्ष पर रहने (पक्षवृत्तित्व) का ज्ञान जब तक न हो तब तक अनुमिति का होना संभव ही नहीं तब कैसे कहा जाता है कि व्याप्यव्यापकभाव के ज्ञान से अनुमिति होती है ?

समा०—'लिङ्गिग्रहणं च०' इति। हेतु के पक्षवृत्तित्व का ज्ञान जिस उपाय से होता है उसे बताते हैं। तथाहि—लिङ्गि च लिङ्गि च ते लिङ्गिनी, लिङ्गं च लिङ्गिनी च तानि लिङ्गलिङ्गीनि, तत्पूर्वकम्' इस प्रकार एकशेषगर्भ होने के द्वारा 'लिङ्गलिङ्गिलिङ्गिपूर्वकम्' इतना अर्थ निकल आता है, द्वितीय 'लिङ्गि' पद की व्याख्या करते हैं—लिङ्गमस्यास्तीति०' इति। 'पक्षधर्मताज्ञानम्' = व्याप्यस्य[2] पक्षवृत्तित्वज्ञानम्। सबका निष्कर्ष बताते हैं—'तद्व्याप्यः' इति। तत् = तस्मात् इत्यर्थः। यह व्याप्य है और यह व्यापक है, इस प्रकार व्याप्यव्यापकभाव के ज्ञान से व्याप्य का जो पक्षवृत्तित्वज्ञान, तत्पूर्वक-अर्थात् तज्जन्य (उससे उत्पन्न हुआ—जो ज्ञान, उसे अनुमान कहते हैं। इस प्रकार अनुमान का सामान्य लक्षण बताया गया। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस अनुमिति में प्रथमतः वह्नि और धूम का व्याप्य-व्यापकत्वस्मरणरूप व्याप्तिज्ञान तदनन्तर व्याप्य (धूम) क पर्वतवृत्तित्वज्ञानरूप पक्षधर्मताज्ञान, तदनन्तर वह्न्याकारवृत्तिरूप जो बुद्धिव्यापर होता है वही व्यापार, प्रमा का करण होने से उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। उसका चित् (पुरुष) के साथ संबंध होता है जिसका फल, प्रमा (बोध) है। यहां चित्सान्निध्य ही। कारण (व्यापार) है। प्रत्यक्ष प्रमाण, बुद्धिव्यापार (वृत्ति) रूप होने पर भी वह व्याप्तिज्ञानजन्य न होने से उसमें अनुमान प्रमाण की अतिव्याप्ति नहीं होती। और न ही अनुमान में प्रत्यक्ष प्रमाण की, क्योंकि अनुमान, इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य नहीं होता। तथा शब्द प्रमाण वाक्यार्थज्ञानजन्य होता है, यही इनमें परस्पर भिन्नता है।

(३६) अनुमानस्य विशेषलक्षणम्-त्रैविध्यम् पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टभेदात्।

अनुमानविशेषान् तन्त्रान्तरलक्षितान् अभिमतान् स्मारयति—"त्रिविधमनुमानमाख्यातम्" इति। तत् सामान्यतो लक्षितमनुमानं विशेषतस्त्रिविधं, पूर्ववत्—शेषवत्—सामान्यतो दृष्टञ्चेति ॥

---

१. गृह्यते ज्ञायते अनेन इति ग्रहणं शब्दः।

२. व्याप्यस्य = व्याप्यस्याभयस्य धूमादेः पक्षवृत्तित्वज्ञानम् = पक्षेण सह सम्बन्धज्ञानं परामर्शः इति यावत्।

अब आर्या के 'त्रिविधम्' अंश को अवतरित करने के लिये कहते हैं "अनुमानविशेषान्" इति। तन्त्रान्तरे = अक्षपाददर्शन के "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च" (न्या० सू० १-१-५) सूत्र में। 'तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्' कारिका के द्वितीयार्ध के प्रथमोपन्यस्त 'तत्' पद को कारिका के प्रथमार्ध शेष त्रिविधमनुमानमाख्यातं के साथ जोड़ते हैं—'त्रिविधमनुमानमाख्यातं तद्' इति। 'तत्' का अर्थ क्रिया सामान्यतः लक्षित अनुमान अर्थात् साधारणरूप से बताया गया अनुमान। पूर्व कहे गये 'तन्त्रान्तरलक्षितान्' को 'पूर्ववत्' इत्यादि ग्रन्थ से कहते हैं।

(३६) अनुमान का विशेष-लक्षण और पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट के भेद से उसकी त्रिविधता।

तत्र प्रथमं तावत् द्विविधम्-वीतमवीतं च। अन्वयमुखेन प्रवर्तमानं विधायकं वीतम्, व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम् ॥

(३७) वीतावीतरूपेणानुमानस्य द्वैविध्यम्।

अपने मत से 'तत्र प्रथमं' ग्रन्थ के द्वारा अवान्तर विशेष बताते हैं। पूर्ववत्—शेषवत् सामान्यतोदृष्ट के भेद से अनुमान के तीन प्रकार होने पर भी प्रथम दो प्रकार अनुमान के बता रहे हैं—उन दोनों में से एक के दो प्रकार और एक का एक ही प्रकार है, इस रीति से अनुमान के तीन प्रकार समझने चाहिये[१]। 'वीतम्' का अर्थ है—वि = विशेषेण इतं = ज्ञानं = प्रसिद्धम्, अन्वयव्याप्तिहेतुकमित्यर्थः। इसी आशय को 'अन्वयमुखेन०' ग्रन्थ से कह रहे हैं। अन्वयमुखेन = अन्वयसहचारग्रहजन्यव्याप्तिग्रहत्वेन। प्रवर्तमानम् = अनुमितिजनकम्। 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः' इत्याकारक अन्वयसहचार ही, 'मुखम्' अर्थात् मुख की तरह प्रधान बनकर (साध्याधिकरणनिरूपितावृत्तित्वरूपान्वयव्याप्ति को प्राधान्य देते हुए 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्' इस प्रकार) प्रवृत्त होता हुआ 'विधायक' अर्थात् जो वह्नि का साधक होता है उसे 'वीत' कहते हैं। 'अन्वयेन प्रवर्तमानं कहने पर सिर्फ केवलान्वयि' ही 'वीत' कहलाता, 'अन्वयव्यतिरेकि' को 'वीत' न कहा जाता। इसलिये 'मुखेन' कहा गया है। केवलान्वयि उसे कहते हैं जो अन्वयमात्रव्याप्तिक रहता है "अन्वयमात्रव्याप्तिकत्वं केवलान्वयित्वम्" जैसे—"घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्, पटवत्" यहां प्रमेयत्व हेतु और अभिधेयत्व साध्य की व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थ प्रमेय भी हैं और अभिधेय भी हैं अतः उसका अभाव ही अप्रसिद्ध है। इसीलिये कहा गया है कि 'अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं च केवलान्वयित्वम्' उसे अभिधेयत्व और प्रमेयत्व में समझ लेना चाहिये। जो धर्म सर्वत्र रहता है और जिसका अत्यन्ताभाव अप्रसिद्ध हो उस धर्म को केवलान्वयी कहते हैं। तात्पर्य यह है—'वीतत्व' में प्रयोजक सिर्फ अन्वयव्याप्ति का प्राधान्य ही होता है, न कि व्यतिरेकव्याप्ति का असत्त्व भी। अतः 'ज्ञेयं वाच्यत्वात्' केवलान्वयि और 'पर्वतो वह्निमान्' में अन्वयव्यतिरेकि दोनों ही अन्वयमुखेन प्रवृत्त होने के कारण 'वीत' कहलाते हैं। निषेधविधायक 'अवीत' में अतिव्याप्ति न हो इसलिये कहा—'अन्वयमुखेन प्रवर्तमानम्' इति। 'अवीतम्' अर्थात् न वीतम् अवीतम् = व्यतिरेकव्याप्तिहेतुकम्—इसी को "व्यतिरेकमुखेन" ग्रन्थ से कहते हैं। व्यतिरेकमुखेन = व्यतिरेकसहचारमात्रग्रहजन्यव्याप्तिग्रहत्वेन। निषेधकम् = अप्रसिद्धसाध्यकम् 'तदसत्त्वे

---

१. प्रथमं तावत् अनुमानं द्विविधं, वीतमवीतं च, ततो वीतं द्विविधं पूर्ववत्, सामान्यतोदृष्टं चेति भेदात्, अवीतं पुनरेकविधं शेषवत् इति, इत्येवं त्रिविधमनुमानमिति।

तद्सत्त्वं व्यतिरेकः' इस आकार के व्यतिरेक सहचार का ही जहाँ मुखं = प्रारंभ है अर्थात् 'साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूप व्यतिरेकव्याप्ति' को प्रधान मानकर 'यत्र इतरभेदाभावः तत्र गंधाभावः' इस प्रकार गन्धाभाव (व्यापक) की पृथिवी से निवृत्ति होने के कारण क्षितिभेद (व्याप्य) का निषेधक जो 'पृथिवी इतरभेदवती गन्धवत्त्वात्' आदि अनुमान किया जाता है उसे 'अवीत' कहते हैं। तथाहि "पृथिवी इतरेभ्यो जलादिभ्यो भिद्यते, गन्धवत्त्वात्, यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत्, यथा जलम्, न चेयं पृथिवी गन्धाभाववती, तस्मान्न इतरभेदाभाववती" यहां पर यद्य यावत् पृथिवी पक्ष की कोटि में आजाने से "यद् गन्धवत् तद् इतरभिन्नम्" इस अन्वयव्याप्ति में किसी दृष्टान्त की उपलब्धि नहीं हो पाती, क्योंकि गन्धात्मक हेतु का व्यापक जो इतरभेदरूपसाध्य, उसके साथ सामानाधिकरण्यात्मक अन्वयव्याप्ति गृहीत नहीं हो पाती। "यत्र यत्र पृथिवीतरभेदाभावः तत्र तत्र गन्धाभावः, यथा जलादिकम्" इस व्यतिरेक-दृष्टान्त के अनुसार जलादि में रहने वाली इतरभेदाभाव-रूपसाध्याभावव्यापकता का गन्धाभाव (हेत्वभाव) में ज्ञान हो पाता है। अतः साध्याभावव्यापकी-भूताभावप्रतियोगित्वरूप व्यतिरेकव्याप्तिमत्त्व हेतु में होने से लक्षण का समन्वय हो जाता है। केवल-व्यतिरेकि अनुमान को ही अवीत कहते हैं। अभिप्राय यह है—"पृथिवी जलादिचतुष्कात् भिद्यते गन्धवत्त्वात्" यहां गन्धवत्त्व हेतु के (अपने) व्यापकसाध्यसामानाधिकरण्य का ज्ञान, प्रथमतः नहीं होता अपितु जलादिचतुष्टयभेदाभाव वाले जलादिचतुष्टय में गन्धवत्त्वाभाव का ज्ञान ही प्रथमतः होता है। इस प्रकार गन्धवत्त्व हेतु, साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूप व्यतिरेकव्याप्य होने से यह अनुमान केवलव्यतिरेकि है। पृथिवी में जलादिचतुष्टय का तादात्म्य नहीं है—इस रीति से अभावग्राहक होने के कारण अवीत अनुमान में निषेधकत्व सिद्ध होता है। अवीत के लक्षण में 'व्यतिरेकमुखेन' क्यों कहा? उत्तर यह है कि "वर्णा न क्षणिकाः त एव इति प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्" इस क्षणिकत्व-निषेधक अनुमान में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये कहा गया है। उक्त अनुमान में निषेधकत्व रहने पर भी व्यतिरेकमुखेन उसकी प्रवृत्ति नहीं है।

(३८) अवीत-निरूपणम्।

तत्राऽवीतं शेषवत्। शिष्यते परिशिष्यते इति शेषः, स एव विषयतया यस्यास्त्यनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत्। यदाहुः—"प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राऽप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेष" इति [वात्स्यायन-न्यायभाष्य १. १. ५.] अस्य चावीतस्य व्यतिरेकिण उदाहरणमग्रेऽभिधास्यते॥

(३८) अवीत का निरूपण।

वीत और अवीत भेद से अनुमान के दो प्रकार बताकर अब उसके अवान्तर भेद से तीन प्रकार बताने के लिये सूचीकटाहन्याय से प्रथमतः 'अवीत' को बताते हैं "तत्रावीतम्०" इति।

वीत और अवीत में से जो अवीत है उसे 'शेषवत्' कहते हैं। शेषवत् का अर्थ है 'शेषविषय'—इसी आशय को बताने के लिये उसकी व्युत्पत्ति बताते हैं—"शिष्यते" इति शेषः अस्ति अस्य इति शेषवत्, कर्मघञन्त शेषशब्द से 'मतुप्' किया गया है। "भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संबंधेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः" इस वार्तिक के अनुसार सम्बन्ध की विवक्षा में मतुप् का विधान होता है। तथा सभी पदार्थ, ज्ञान में विषयतासंबंध से ही प्रतीत होते हैं—इस कारण "विषयतया" यह कथन अनायास ही प्राप्त है। शेषवत् का ही नामान्तर 'परिशेष' है। जिसे

न्यायभाष्यकार ने भी कहा है—'यदाहुः' इति। वहां पर "शेषवन्नाम परिशेषः" इतना कहकर "प्रसक्तप्रतिषेधे॰" कहा गया है। जैसे—"शब्दः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः, अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति समवायिकारणकत्वात्, यन्नैवं, तन्नैवं यथा रूपम्" वह परिशेषानुमान है। इससे शब्द का आश्रय अष्ट द्रव्य से अतिरिक्त आकाश (द्रव्य) है, यह सिद्ध हो जाता है अथवा—"इच्छादयो गुणाः अनित्यत्वे सति अस्मदाद्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात्, गन्धवत्, ते च क्वचिदाश्रिताः गुणत्वात् रूपादिवत्" इस सामान्यतोदृष्टानुमान से कोई न कोई आश्रय तो इनका है ही। भले ही वह निश्चितरूप से ज्ञात न हो। यथा—'न तावत् पृथिव्यादिचतुष्टयगुणाः प्रत्यक्षत्वे सति अकारणगुणपूर्वकत्वात्। नापि आकाशविशेषगुणा बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात्। नापि दिक्कालमनसां गुणा विशेषगुणत्वात्।" इस रीति से प्रसक्तप्रतिषेध होने से परिशेषात् "इच्छादयः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः" ज्ञात हो जाता है। एवं च नैयायिकों के अनुसार इच्छादिक, आत्मा के धर्म सिद्ध किये जाते हैं।

शंका—सांख्यसिद्धान्त में इच्छादिकों को आत्मा के धर्म नहीं माना है अतः अवीत का उपर्युक्त उदाहरण न बन सकने से सांख्यसिद्धान्त के अनुसार अवीत का उदाहरण क्या होगा?

समाधान—'अस्य च अवीतस्य॰' के द्वारा समाधान किया जा रहा है। इस अवीत (व्यतिरेकी) अनुमान का उदाहरण अगली 'असदकरणात्' नवम कारिका में "न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते" से लेकर "तान्येतान्यभेदसाधनानि अवीतानि" इस ग्रन्थ से बताया जायगा।

(३९) वीतनिरूपणम् तद्द्वैविध्यम्।

वीतं द्वेधा–पूर्ववत्, सामान्यतो दृष्टं च। तत्रैकम् दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत्तत्पूर्ववत्, पूर्वं प्रसिद्धं, दृष्टस्वलक्षणसामान्यमिति यावत्, तदस्य विषयत्वेनाऽस्त्यनुमानज्ञानस्येति पूर्ववत्। यथा धूमाद्वह्नित्वसामान्यविशेषः पर्वतेऽनुमीयते, तस्य च वह्नित्वसामान्यविशेषस्य स्वलक्षणं वह्निविशेषो दृष्टो रसवत्याम्। अपरं च वीतं सामान्यतोदृष्टमदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्। यथेन्द्रियविषयमनुमानम्। अत्र हि रूपादिविज्ञानानां क्रियात्वेन करणवत्त्वमनुमीयते। यद्यपि करणत्वसामान्यस्य छिदादौ वास्यादि स्वलक्षणमुपलब्धम्, तथाऽपि यज्जातीयं रूपादिज्ञाने करणवत्त्वमनुमीयते तज्जातीयस्य करणस्य न दृष्टं स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण। इन्द्रियजातीयं हि तत्करणम्, न चेन्द्रियत्वसामान्यस्य स्वलक्षणमिन्द्रियविशेषः प्रत्यक्षगोचरोऽर्वाग्दृशाम्, यथा वह्नित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निः। सोऽयं पूर्ववतः सामान्यतो दृष्टात् सत्यपि वीतत्वेन तुल्यत्वे विशेषः। अत्र च दृष्टं दर्शनम्, सामान्यत इति सामान्यस्य, सार्वविभक्तिकस्तसिल्। अदृष्टस्वलक्षणस्य सामान्यविशेषस्य दर्शनम् सामान्यतोदृष्टमनुमानमित्यर्थः। सर्वं चैतदस्माभिर्न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायां व्युत्पादितमिति नेहोक्तं विस्तरभयात्॥

(३९) वीत का निरूपण और उसके प्रकार।

अवीत का निरूपण होने के पश्चात् अब 'वीत' का निरूपण करने के लिये उसका विभाग कह रहे हैं "वीतं द्वेधा॰" इति। वीत अनुमान के दो प्रकार हैं—एक पूर्ववत् और दूसरा सामान्यतोदृष्ट। दोनों के स्वरूप को कहते हैं—'तत्रैकम्॰' इति। तत्र = उन दो प्रकार के वीत अनुमान में से एक जो दृष्टस्वलक्षण सामान्यविषयक है, वह 'पूर्ववत्' नाम का 'वीत' नामक अनुमान है।

शंका—'पूर्ववत्' इस अत्यन्त लघु पद से "दृष्ट स्वलक्षण सामान्यविषय" इतना बड़ा अर्थ कैसे उपलब्ध हुआ ?

समाधान—'पूर्ववत्' शब्द की व्युत्पत्ति से उपलब्ध हुआ। व्युत्पत्ति करते समय 'पूर्व' शब्द का विवरण किया "प्रसिद्धम्"। 'प्रसिद्ध' पद का अर्थ करते हैं—दृष्टस्वलक्षणसामान्यम् "स्वम् = असाधारणं लक्षणं=रूपम्" व्युत्पत्ति के द्वारा स्वलक्षण[1] शब्द, तत्तद् अवयवसन्निवेश-विशेषालिङ्गित तत्तद्व्यक्तिपरक है। तात्पर्य यह है—वस्तु के दो प्रकार होते हैं एक साधारण और दूसरा असाधारण। इनमें से जो सकल व्यक्ति साधारण घटत्वादि है, वह सामान्यलक्षण है। और जो असाधारण स्थूलवर्तुलोदररूप है वह 'स्वलक्षण' है। अतः दृष्टम्–पहले ज्ञात हो गया है स्वलक्षण असाधारणरूप जिस सामान्य का, उसे दृष्टस्वलक्षणसामान्य कहते हैं। दृष्टस्वलक्षण सामान्य विषयक जो ज्ञान उसे 'पूर्ववत् अनुमान' कहते हैं। अर्थात् 'प्रत्यक्षीकृतजातीयसाध्यकम् अनुमानं पूर्ववत्' इति यावत्।

इसी को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं—"यथा धूमात् वह्निस्वसामान्यविशेषः" इति। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहां पर 'धूम' हेतु से पर्वत (पक्ष) पर वह्नित्वसामान्य विशेष का अनुमान किया जाता है। वह्नित्वसामान्यस्य विशेषः अर्थात् वह्नित्वसामान्यरूप जाति का विशेष वह्निव्यक्ति—ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिये। अन्यथा व्यक्तिविशेष ही अनुमेय होगा। यहां वह्नित्वरूप सामान्यविशेष[2] की अनुमिति अभिप्रेत है[3]। तात्पर्य यह है कि सत्ताजाति केवल सामान्यरूप है, किन्तु द्रव्यत्वादि जातियां सामान्यविशेषोभयरूप हैं। लक्षण को लक्ष्य में घटाते हैं 'तस्य च०' इति 'स्वलक्षण' का अर्थ किया है 'वह्निविशेषः' अर्थात् 'वह्नित्वावच्छिन्नमहान-सीयवह्निव्यक्तिविशेषः। 'रसवत्यम् = पाकशाला में।

दूसरे 'वीत को बताते हैं—'अपरं च०' इति। "सामान्यतो दृष्टम्" का अर्थ करते हैं—'अदृष्टस्वलक्षण०'[4] इति। न दृष्टं प्रत्यक्षेण तत् अदृष्टं, अदृष्टं च तत् स्वलक्षणं च अदृष्टस्वलक्षणं,

---

१. "यस्यार्थस्य सन्निधानाऽसन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत्स्वलक्षणम्" (न्यायबिन्दु)। "अर्थशब्दो विषयपर्यायः, यस्य ज्ञानविषयस्य सन्निधानं निकटदेशावस्थानं दूरदेशाव-स्थानं, तस्मात् सन्निधानादसन्निधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य ग्राह्याकारस्य भेदः स्फुटत्वाऽस्फुटत्वाभ्यां यो हि ज्ञानस्य विषयः सन्निहितः सन् स्फुटाभासं ज्ञानस्य करोति। असन्निहितस्तु योग्यदेशावस्थित एव अस्फुटं करोति—तत्स्वलक्षम्। सर्वाण्येव हि वस्तूनि दूरादस्फुटानि दृश्यन्ते, समीपे त्वस्फुटानि तान्येव स्वलक्षणानि" इत्येतदर्थं इति धर्मोत्तराचार्यः।

२. 'वह्नित्वरूपः सामान्यविशेषः' इत्युक्तोऽर्थस्तदैव संभवति यदि वह्नित्वस्य सामान्यविशेषोभया-त्मकत्वं स्यात् , तदेव तु कथमिति चेदत्र प्रशस्तपादाचार्याः—"सामान्यं द्विविधं परमपरं चानुवृत्ति-प्रत्ययकारणम्। तत्र परं—सत्ता, महाविषयत्वात्। सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। द्रव्य-त्वादि—अपरम्, अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषाख्यामपि लभते" इति। (सारबोधिनी)

३. "सामान्यावधारणप्रधानावृत्तिरनुमानम्" इति योगभाष्यात् (१-७) वह्नित्वरूपसामान्य-स्यैवानुमेयत्वमवगम्यते।

४. न दृष्टं प्रत्यक्षेण स्वलक्षणं = व्यक्तिः यस्य इन्द्रियत्वसामान्यस्य तत् अदृष्टस्वलक्षणसामान्यं तद्विषयकं ज्ञानमदृष्टलक्षणम्।

तस्य सामान्यं यज्जातीयं, तद् विषयो यस्य साध्यतया अनुमानस्य तत्। अर्थात् अप्रत्यक्षवस्तु की सजातीयवस्तु को जिसमें साध्य बनाया जाता है—ऐसे अनुमान को 'सामान्यतोदृष्ट' कहते हैं। इसी को संस्कृत में इस प्रकार कहेंगे—'यज्जातीयं साध्यं व्याप्तिज्ञानविषयः, तज्जातीयभिन्नविषयकानुमितिः'। जैसे—"रूपादिज्ञानानि करणवन्ति क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्"। इस इन्द्रियसाधक अनुमान को सामान्यतोदृष्ट कहते हैं। इसी का उपपादन करते हैं—'अत्र हीति'। इस अनुमान में ज्ञान को क्रियारूप न समझकर हेत्वसिद्धि की शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि अपने मत के अनुसार यह कहा गया है।

शंका—यहां भी[1] छेदन क्रिया में स्वलक्षण रूप कुठारादि करण तो दृष्ट ही हैं तब इसे दृष्टस्वलक्षणसामान्य (पूर्ववत्) से अतिरिक्त क्यों कहा है? यह संदेह 'यद्यपि करणत्वसामान्यस्य०' इति। ग्रन्थ से किया जाता है।

समाधान—साधारणतया दृष्ट रहने पर भी विशेषरूप से दृष्ट न होने के कारण इसे पूर्ववत् नहीं कह सकते। इसी आशय को "तथापि"[2] ग्रन्थ से कह रहे हैं। रूपादिकों के जानने में जिस जाति के पदार्थ में करणत्व का अनुमान किया जाता है उस जाति के पदार्थ (करण) का स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं है। वह किस जाति का करण है जो प्रत्यक्षगोचर नहीं हो रहा है? इस जिज्ञासा को "इन्द्रियजातीयम्०" से शान्त करते हैं। इन्द्रियत्वजाति का वह करण है जो रूपादि ज्ञान में करण होता है। इन्द्रिय के करण होने से प्रकृत में क्या लाभ हुआ? "न च" ग्रन्थ से उत्तर दिया, कि हम जैसे अयोगियों को इन्द्रिय का प्रत्यक्ष नहीं होता क्योंकि वह निरवयव और अतीन्द्रिय है। अतः इन्द्रिय में अदृष्टता सिद्ध है। इसमें व्यतिरेकी दृष्टान्त दे रहे हैं 'यथा' इति। जैसे वह्नित्वसामान्य का स्वलक्षण = वह्नि प्रत्यक्ष होता है वैसे इन्द्रियत्वसामान्य के स्वलक्षण = इन्द्रिय का प्रत्यक्ष नहीं है। अतः पूर्ववत् अनुमान से यह अतिरिक्त है। इसी आशय को "सोऽयं" ग्रन्थ से कहते हैं। वीतत्वेन दोनों पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्टानुमान की समानता रहने पर भी अभी अभी बताया गया दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयत्वरूप भेद पाया जाता है। "सामान्यतोदृष्ट" पद से "अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्" यह अर्थ कैसे निकलता है? इस शंका का समाधान "अत्र च०" ग्रन्थ से दे रहे हैं। "सामान्यतोदृष्टम्" इस वाक्य में 'दृष्टम्' का विवरण किया है। 'दर्शनम्' 'दृष्ट' में 'दृश' धातु से भाव अर्थ में 'क्त' प्रत्यय हुआ है तब दर्शन का अर्थ हुआ 'ज्ञान'। 'सामान्यतः' में षष्ठ्यन्त से 'तसिल्' प्रत्यय किया है तब 'सामान्यतः' का अर्थ हुआ 'सामान्यस्य'। 'सामान्यस्य दर्शनम्' सामान्य का दर्शन (ज्ञान), यह अर्थ उपलब्ध होने से सिद्ध हुआ कि विशेष का अदर्शन (अज्ञान)। इसी अर्थ को हृदय में रखकर "सामान्यतो दृष्टम्=अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्" कहा गया है। एवं च—विशेष दर्शन[3] में 'पूर्ववत्' अनुमान और सामान्यदर्शन में 'सामान्यतोदृष्टानुमान' होता है—इस प्रकार दृष्टाऽदृष्टत्व प्रयुक्त भेद इन दोनों में पाया जाता है। इस विषय का अधिक विस्तर मिश्रजी ने अपनी न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में किया है।

प्रयोजकवृद्धशब्दश्रवणसमनन्तरं प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तिहेतुज्ञानानुमानपूर्व-

---

१. 'रूपोपलब्धिः सकरणिका क्रियात्वात् छिदाक्रियावत्' इति करणानुमाने वास्यादि—स्वलक्षणं करणत्वस्याश्रयीभूता व्यक्तिरुपलब्धा तत्कथमदृष्टसामान्यं करणत्वमिन्द्रियमित्यर्थः।

२. स्वलक्षणम् = इन्द्रियव्यक्तिः तच्चास्माकं स्थूलदृशां गोचर इति अदृष्टस्वलक्षणमिन्द्रियत्वम्।

३. यदि स्वलक्षणशब्देन विवक्षितं तस्यैवात्र व्यवहारः इति बोध्यम्।

(४०) शब्दप्रमाण-लक्षणम् ।

कत्वाच्छब्दार्थसम्बन्धग्रहणस्य, स्वार्थसम्बन्धज्ञानसहकारिणश्च शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वादनुमानपूर्वकत्वमित्यनुमानानन्तरं शब्दं लक्षयति—"आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु" इति। आप्तवचनमिति लक्ष्यनिर्देशः, परिशिष्टं लक्षणम्। आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत्। आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति 'आप्तश्रुतिः'। श्रुतिः वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्॥

अब क्रम प्राप्त शब्द का निरूपण कर रहे हैं। अनुमान के पश्चात् शब्द निरूपण में 'उपजीव्योपजीवकभाव' संगति[1] को प्रदर्शित करते हैं "प्रयोजकवृद्ध०" इति।

(४०) शब्द प्रमाण का लक्षण।

प्रयोजक वृद्ध के 'गाम् आनय' आदि शब्दों के सुनने के पश्चात् प्रयोज्य वृद्ध की गवानयन विषयक जो प्रवृत्ति होती है उसमें कारणीभूत गवानयन विषयक जो ज्ञान उसका—'प्रयोज्यवृद्धस्य गवानयनप्रवृत्तिः,—गवानयनविषयकज्ञानजन्या, गवानयनगोचरप्रवृत्तित्वात् मदीयस्तन्यपानप्रवृत्तिवत्'—इत्याकारक अनुमान होता है और उसी पर निर्भर शब्दार्थ संबन्ध का ग्रहण (ज्ञान) होता है। यह गवानयन विषयकज्ञान ही, प्रवृत्ति में हेतु होने से प्रवर्तक ज्ञान कहलाता है। शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचकभाव संबन्ध का ज्ञान अर्थात् पद-पदार्थ सबन्ध का ज्ञान, अनुमान पूर्वक ही होता है। तथा च—बालक 'गवानयनज्ञानम् 'गामानय' इति वाक्यजन्यम्, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्' इस प्रकार अनुमान करके ही अर्थ में शब्दशक्ति का निश्चय करता है। इसी आशय को 'स्वार्थसम्बन्धः' ग्रन्थ से बताते हैं। स्वार्थ = शब्द और अर्थ के शक्त्याख्य सम्बन्ध का सहकारी शब्द ही अर्थप्रत्यायक अर्थात् शाब्दबोधजनक होता है। एवञ्च—प्रवृत्तिलिङ्गक प्रवर्तकज्ञान का अनुमान होने के पश्चात् ही शब्द, शाब्दबोध का जनक होता है, अतः अनुमान निरूपण के अनन्तर शब्द का निरूपण किया जाता है। अब लक्ष्य और लक्षण का विभाग बताते हैं—"तत्राप्तवचनम्" इति। 'आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु' इस मूल वाक्य में 'आप्तवचनम्' यह शब्दप्रमाणरूपलक्ष्य का निर्देश है। अवशिष्ट 'आप्तश्रुतिः' यह असाधारण धर्म (लक्षण) है। 'आप्तश्रुतिः' की विग्रह के द्वारा व्याख्या करते हैं—आप्ता प्राप्ता इति। 'प्राप्ता' का विवरण 'युक्ता' इति। सत्यार्थबोधन का सामर्थ्य होने से समीचीन या दोष विहीन। सांख्यसिद्धान्त में चित्तवृत्ति के प्रमाण रूप होने से लक्षणा के द्वारा 'श्रुति' शब्द का अर्थ 'चित्तवृत्ति' है। इसी आशय को 'वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्—' इति ग्रन्थ से व्यक्त किया है। श्रूयते इति श्रुतिः = श्रोत्रग्राह्यं वाक्यम्—यह वाक्य अर्थ है, और तज्जन्य ज्ञान यह लाक्षणिक अर्थ है। इसी प्रकार 'आप्तवचनम्' का आप्तवचनजन्यज्ञान यह लाक्षणिक अर्थ है।

---

१. यत् यदनन्तरं निरूपणीयं भवति, तत् तन्निरूपितसंगतिमत् भवति इति व्याप्तिः। "नासंगतं प्रयुञ्जीत" इत्यभियुक्तोक्तेः। सङ्गतिश्च अनन्तराभिधाने प्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयरूपा। षड्विधा च सा भवति—तथा चोक्तम्—"सप्रसङ्ग उपद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा। निर्वाहकैक्यकार्यैक्ये षोढा संगतिरिष्यते"॥ तत्र प्रसंगः = उपेक्षानर्हत्वम्, उपोद्घातादिभिन्नत्वे सति स्मरणप्रयोजकसंबन्धो वा। प्रकृतोपपादकत्वम् उपोद्घातः, हेतुता = उपजीव्योपजीवकभावः, उपजीव्यत्वं = कारणत्वम्—उपजीवकत्वं = कार्यत्वम्, अवसरः=अवश्यवक्तव्यम्। निर्वाहकैक्यम्=एकप्रयोजकप्रयोज्यत्वम्। कार्यैक्यम् = एककार्यकारित्वम्।

(४१) तस्य स्वतः-प्रामाण्यम् ।

तच्च स्वतः प्रमाणम् । अपौरुषेयवेदवाक्यजनितत्वेन सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तेर्युक्तं भवति । एवं वेदमूलस्मृतीतिहासपुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति ॥

(४१) उसका स्वतः प्रामाण्य ।

अब आगम प्रमाण का स्वतःप्रामाण्य दिखलाते हैं 'तच्च०' इति । वाक्यार्थज्ञान स्वतः प्रमाण होता है । अर्थात् उसका प्रामाण्य परापेक्ष नहीं है । स्वतः प्रामाण्य के औचित्य में हेतु बताते हैं 'अपौरुषेयवेद०' इति । पुरुष-रचित आनपूर्वी जहां हो उसे पौरुषेय कहते हैं ऐसी आनुपूर्वी वेद में न होने से वह अपौरुषेय है । ऐसे अपौरुषेय वेदवाक्य से उत्पन्न अर्थ ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य उचित ही है । भ्रम–प्रमाद–विप्रलिप्सा–करणापाटव आदि समस्त दोष, पुरुषप्रयुक्त हुआ करते हैं । वेद में तो उनकी आशंका भी नहीं होती क्योंकि वेद का रचयिता कोई है ही नहीं ।

अभिप्राय यह है—वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक स्वतः प्रमाण और दूसरा परतः प्रमाण । अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखते हुए अपने अर्थबोधन में जो समर्थ हो वह स्वतः प्रमाण है, और जो अन्य प्रमाण की अपेक्षा रखकर स्वार्थ बोधन में समर्थ होता वह परतः प्रमाण है । जैसे आम्नायरूप मूलप्रमाण सापेक्ष स्मृत्यादि वाक्यजन्यज्ञान परतः प्रमाण है । सांख्य और मीमांसा में ईश्वर को वेद का कर्ता अंगीकार नहीं किया गया है । अतः वेदों की रचना, पुरुषविशेष रूप ईश्वर के द्वारा भी न की जाने से वेद अपौरुषेय हैं । "न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्" (सां० सू० ५।४६) । इसी प्रकार चोदनासूत्र पर कुमारिलभट्ट लिखते हैं—"यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः" । वेद की स्वतःप्रमाणता अपौरुषेयता के सम्बन्ध में कुमारिल कहते हैं—"यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदाऽन्यन्नैव गृह्यते । निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाऽज्ञानादयत्नतः ॥"

इसी प्रकार वेदमूलक स्मृतियों, महाभारतादि इतिहास, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों से होनेवाला ज्ञान भी दोषहीन होता है ।

शंका—'ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति' इस वचन से ज्ञानसम्पन्न कपिल की उत्पत्ति का श्रवण हो रहा है । तब वेदाध्ययन किये विना ही प्रणीत किये सांख्यशास्त्र को कैसे प्रमाण माना जाय ?

(४२) कपिलस्य पूर्वजन्माधीतश्रुतिस्मरणम् ।

आदिविदुषश्च कपिलस्य कल्पादौ कल्पान्तराधीतश्रुतिस्मरणसम्भवः, सुप्तप्रबुद्धस्येव पूर्वेद्युरवगतानामर्थानामपरेद्युः । तथा चावट्यजैगीषव्यसंवादे भगवान् जैगीषव्यो दशमहाकल्पवर्तिजन्मस्मरणमात्मन उवाच "दशसु महाकल्पेषु विपरिवर्तमानेन मया" इत्यादिना ग्रन्थ-सन्दर्भेण ॥

सप्रा०—कपिल के सांख्य ज्ञान को वेदमूलक बताते हैं 'आदिविद्वद्य' इति। इस कल्प की[1] प्रथम सृष्टि के समय, अन्यकल्प में अधीत श्रुति का स्मरण होना संभव है। अतः कपिलस्मृति भी वेदमूलक होने से उसे प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इसी को दृष्टान्त से दृढ करते हैं—'सुप्तप्रबुद्धस्येवेति'। सोकर उठे हुए को जिस प्रकार पूर्व दिन में अनुभूत पदार्थों का दूसरे दिन स्मरण होता है उसी तरह प्रकृष्ट योगज धर्म के बल से कल्पान्तरानुभूत का भी स्मरण होना उपपन्न है। इस विषय में एक प्रसिद्ध संवाद[2] बताते हैं—"तथा चावट्ये"ति। आवट्य मुनि और जैगीषव्यमुनि परस्पर भाषण के समय भगवान् जैगीषव्यमुनि प्राकृतिक प्रलयान्त[3] तक अपने समस्त जन्मों का स्मरण यथावत् होने की बात कह रहे हैं जो योग सूत्र के व्यास भाष्य (पाद ३ सूत्र १८) का उद्धरण देकर बताई जा रही है।

(४२) कपिल को पूर्व जन्म में अध्ययन की हुई श्रुति का स्मरण।

आप्तग्रहणेनाऽयुक्ताः शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थकसंसारमोचकादीनामागमाभासाः परिहृता भवन्ति। अयुक्तत्वं चैतेषां विगानात् विच्छिन्नमूलत्वात्प्रमाणविरुद्धार्थाभिधानाच्च, कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद्बोद्धव्यम्।

(४३) आगमाभास-निरूपणम्।

"दशसु महाकल्पेषु०"[4] इति। 'आप्तश्रुतिः' यहां के 'आप्त' पद की सार्थकता बताते हैं 'आप्तग्रहणेन' इति। अयुक्त = अयथार्थ बोधन कराने वाले होने से असमीचीन (सदोष), शाक्य = शुद्धोदन राजा के पुत्र अर्थात् बुद्धों के पच्चीस भेदों में से अन्यतम बौद्ध धर्म के संस्थापक शाक्यसिंह नामक बुद्ध तथा उसके मतानुयायी सौत्रान्तिक–वैभाषिक–योगाचार–माध्यमिक नाम के शाक्यभिक्षु = बौद्ध संन्यासी, तथा निर्ग्रन्थक = वेदादिसच्छास्त्रभूत ग्रन्थों को छोड़ने वाले अर्थात् त्रयीबाह्य जैन और संसारमोचक = संसार = शरीरयोग, उसका मोचन = शरीर वियोग को ही मोक्ष समझने वाले–देहात्मवादी चार्वाकों के आगमाभास=अर्थात् अहिंसादि अंशों को देखने से आगम की तरह भासित होने वाले आगम, वेदविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन

(४३) आगमाभास का निरूपण।

---

१. कल्पः—चत्वारिंशदर्बुदद्वात्रिंशत्कोटिवर्षसमयात्मकः ब्रह्मणो दिवसः, तस्य प्रारम्भे अर्थात् सृष्टिप्रारम्भे।

२. संवादः—मिथः उक्ति-प्रत्युक्तिरूपं भाषणम्।

३. कल्पः ब्रह्मणो दिवसः, महाकल्पः = ब्रह्मणः शतवर्षसमयः=महाविष्णोः एकदिवसात्मकः कालः, प्राकृतिकप्रलयान्तकाल इति।

४. "दशसु महासर्गेषु भव्यत्वात् अनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरक-तिर्यग्भवं दुःखं सम्पश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत् किंचिद् अनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि।' भगवान् आवट्य उवाच—'यद् इदम् आयुष्मतः प्रधानवशित्वम् अनुत्तमं च सन्तोषसुखम्, किम् इदमपि दुःखपक्षे निक्षिप्तमिति ?' भगवान् जैगीषव्य उवाच—"विषयसुखापेक्षयैव इदम् अनुत्तमं सन्तोषसुखम् उक्तम्, कैवल्यापेक्षया तु दुःखमेव। बुद्धिसत्त्वस्यायं धर्मः—त्रिगुणः, प्रत्ययो हेयपक्षे न्यस्त इति दुःखस्वरूपः, तृष्णादुःखसन्तापाऽपगमात्तु प्रसन्नम् अबाधं सर्वानुकूलं सुखम् इदमुक्तमिति।

करते हैं। अतः वे सब दुष्टागम हैं उनकी 'आप्त' पद से व्यावृत्ति हो जाती है। अर्थात् शब्द प्रमाण के रूप में इनको नहीं माना जाता। बौद्धादि आगमों की अयुक्तता बताते हैं—'अयुक्तत्वं चैतेषाम्' इति। इन आगमों में कोई सर्वास्तित्ववाद को लेकर चला तो दूसरा विज्ञानमात्रास्तित्ववाद बोलने लगा। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अर्थ बोलने के कारण इनकी अयुक्तता सिद्ध हो जाती है। अथवा वेदविरुद्ध अर्थ को बताने के कारण इनकी अयुक्तता है।

शंका—परस्पर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने से यदि बौद्धागमों की अयुक्तता है तो सांख्य-योग-वेदान्तादि दर्शनों में भी परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादन रूप विगान तुल्य दिखाई देता है जैसे—"ईश्वराऽसिद्धेः' (सां० सू०) "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टपुरुषविशेष ईश्वरः' (यो० सू० १।२४) "एतेन योगः प्रत्युक्तः' (वे० सू०)। अतः दोनों में दोष की समानता रहने से इन्हें शब्द प्रमाण के रूप में कैसे स्वीकार किया जाय ?

समा०—[1]विच्छिन्नमूल होने से बौद्धागम अप्रमाण है और वैदिक दर्शन अविच्छिन्न मूल (वेदमूलक) होने से प्रमाण हैं।

इसी प्रकार अवैदिक दर्शनों की अयुक्तता में दूसरा हेतु देते हैं—"प्रमाणविरुद्ध" इति। प्रत्यक्ष-प्रत्यभिज्ञादिप्रमाणों से सिद्ध घटादि पदार्थों की स्थिरता के विषय में तद्विरुद्धक्षणिकता को बतलाते हैं। ऐसी (सर्वजनप्रसिद्धि के) विरुद्ध बातों के कहने से बुद्ध की असर्वज्ञता ही प्रकट होती है। इसी कारण उनके आगमों की विच्छिन्न मूलता से अर्थात् उनके आगम निर्मूल होने से वे आगम अप्रमाण हैं।

इस पर बुद्धानुयायी कह सकता है कि प्रत्यक्ष या प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से सिद्ध अर्थ को ही यदि तुम अविरुद्ध समझते हो तो यह भी तुमने प्रत्यक्ष देखा होगा, कि बुद्ध के रचे आगमों को कितने ही विद्वान् प्रमाण रूप में मानते हैं अर्थात् बहुजनपरिग्रह प्रत्यक्षसिद्ध है, जिसे तुम अविरुद्ध कहते हो, अतः बुद्धागम को प्रमाण रूप में तुम्हें भी स्वीकार करना चाहिये।

तब उत्तर दिया जाता है "कैश्चिदेव०" इति। बुद्धरचित आगमों का बहुजन समाज के द्वारा परिगह किये जाने की धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। हाँ, म्लेच्छसदृश[2], शृंग-पुच्छरहित पशुतुल्य कुछ थोड़े से ही पुरुषापसदों ने बुद्धागमों को प्रमाणरूप में स्वीकार किया है, अतः इनके परिग्रह कर लेने मात्र से बुद्धागमों को प्रमाण नहीं कहा जा सकता इसलिये वे अप्रमाण ही हैं।

---

१. विच्छिन्नं=विच्छेदाः तथ्यार्थविरोधिदोषाः भ्रमप्रमादविप्रलिप्साप्रभृतयः तद्विशिष्टं विच्छिन्नं तादृशं विच्छिन्नं मूलं कर्ता यस्य तस्मात्।

२. बोधायन ने म्लेच्छ की परिभाषा इस प्रकार की है:—

'गोमांसखादको यस्तु विरुद्धं बहु भाषते।
सर्वाचारविहीनश्च 'म्लेच्छ' इत्यभिधीयते॥

पाशविकवृत्तिवालों ने जिन कारणों से बौद्धागमों को प्रमाणरूप में मानकर स्वीकार किया है, उन कारणों को उदयनाचार्य ने अपनी कुसुमाञ्जलि के द्वितीयस्तबक की तृतीय कारिका में बताया है—"भूयस्तत्र कर्मलाघवमित्यलसाः, इतः पतितानामप्यनुप्रवेश इत्यनन्यगतिकाः, भक्ष्याभक्ष्य-नियम इति रागिणः, स्वेच्छया परिग्रह इति कुतर्काभ्यासिनः"। इति।

(४४) आप्तश्रुतेरनुमानाद्व्यवच्छेदः ।

'तु' शब्देनाऽनुमानाद् व्यवच्छिनत्ति । वाक्यार्थो हि प्रमेयो न तु तद्धर्मो वाक्यम्, येन तत्र लिङ्गं भवेत् । न च वाक्यं वाक्यार्थं बोधयत् सम्बन्धग्रहणमपेक्षते, अभिनवकविरचितस्य वाक्यस्याऽदृष्टपूर्वस्याऽननुभूतचरवाक्यार्थबोधकत्वादिति ॥

(४४) आप्त श्रुति की अनुमान से भिन्नता ।

अब 'द्विविधं सम्यग् ज्ञानं प्रत्यक्षमनुमानं च' सम्यग् ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) के दो ही प्रकार हैं, एक प्रत्यक्ष और दूसरा अनुमान—ऐसा कहने वाले शाक्यों (बौद्ध), और अनुमान निरूपण के पश्चात्-'एतेन शाब्दं व्याख्यातम्' (वै. सू. ९—२) कहकर अनुमान में शब्द का अन्तर्भाव[1] करने वाले वैशेषिकों के निरसनार्थ मूलकारिका 'आप्तवचनं तु' में 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है । अर्थात् "तु" शब्द के द्वारा अनुमान प्रमाण से आगम प्रमाण को पृथक् कर रहे हैं 'वाक्यार्थो हि०' इति । "इदं वाक्यं संसृष्टार्थज्ञापकम् आप्तवाक्यत्वात् वाक्यान्तरवत्" इस परस्परपदार्थसंसर्गरूप वाक्यार्थ को ही अनुमान का प्रमेय कहना होगा अर्थात् अनुमान के द्वारा जानना होगा । किन्तु वह संभव नहीं, क्योंकि यहां 'वाक्यत्व' को हेतु नहीं बना सकते । जैसे वह्निरूप प्रमेय का धर्म धूम होता है वैसे वाक्यार्थरूप प्रमेय का धर्म वाक्य नहीं, जिससे वाक्यार्थरूप प्रमेय का साधक हेतु वह बन सके । इस संबन्ध में अधिक विस्तृत विवेचन मिश्र जी ने अपनी तात्पर्य टीका में "पदानामेव पदार्थस्मरणावान्तरव्यापाराणां वाक्यार्थप्रमां प्रति करणतया प्रमाणत्वात् तेषां चापक्षधर्मतया लिङ्गत्वानुपपत्तेः" इत्यादि ग्रन्थ से और कुमारिलभट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में "कथं च पक्षधर्मत्वं शब्दस्येह निरूप्यते" इत्यादि ग्रन्थ से किया है ।

शंका—'धर्म और धर्मी में ही लिङ्गलिङ्गिभाव हो'—यह कोई नियम नहीं है, क्योंकि मेघोन्नति से वृष्टि का अनुमान होता है । इसीलिये नियम यह स्वीकार किया जाता है कि "ययोरेव परस्परम् अव्यभिचरितसहचाररूपसम्बन्धग्रहणं तयोरेव लिङ्गलिङ्गिभावः" इति । जिन दो पदार्थों में परस्पर अव्यभिचरितसहचाररूपसंबन्ध (नित्यसंबन्ध) का ज्ञान हो, उन्हीं में लिङ्ग-लिङ्गिभाव होता है । तदनुसार—जैसे वह्नि और धूम में अव्यभिचरितसहचाररूप संबंध (नित्यसंबन्ध) का ज्ञान (ग्रहण) होने से लिङ्ग-लिङ्गिभाव होता है वैसे ही वाक्य-वाक्यार्थ में भी अव्यभिचरितसहचाररूपसंबंध का ग्रहण (ज्ञान) होने से लिङ्ग-लिङ्गिभाव क्यों नहीं माना जाता ?

समाधान—"न च वाक्यम्०" इति । जैसे पर्वत पर वह्नि का ज्ञान कराने वाला धूम, महानस में वह्निके साथ हुए अपने संबन्धज्ञान की अपेक्षा रखता है, वैसे अपने अर्थ को बताने वाला वाक्य, पूर्वकालिक संबंधज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता, अर्थात् संबंधनियम के बिना ही वाक्य अपने अर्थ को बता देता है । क्योंकि अभिनव कवि के जिस वाक्य का उसके अर्थ के साथ पहिले कभी किसी को सम्बन्ध ग्रहण नहीं हुआ है ऐसे अश्रुतपूर्व तथा अननुभूतपूर्व वाक्य से

---

१. 'गौरस्ति' 'गामानय' इत्याद्याकांक्षादिमच्छब्देभ्यः स्वस्वशक्त्या पदार्थानां गवादीनामुपस्थित्यनन्तरं गवादौ अस्तित्वाद्यन्वयावगाही विलक्षणो बोधो (शाब्दबोधाख्यः) भवति, तत्र न शब्दः प्रमाणं, "गौः अस्तितावान् स्वधर्मिकास्तित्वान्वयबोधानुकूलाकांक्षादिमत्पदस्मारितत्वात्, घटवत्" इति अनुमानादेव शाब्दबोधसंभवात्, शब्दस्य शब्दबोधजनकत्वायोगात् इति वैशेषिकाः (सारबोधिनी)

अर्थज्ञान होना अनुभवसिद्ध है[1]। अतः आगम (शब्द) प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता[2]।

(४५) शास्त्रान्तरोक्तप्रमाणान्तराणामुक्तेष्वन्तर्भावः ॥

एवं प्रमाणसामान्यलक्षणेषु तद्विशेषलक्षणेषु च सत्सु, यानि प्रमाणान्तराण्युपमानादीनि प्रतिवादिभिरभ्युपेयन्ते तान्युक्तलक्षणेष्वेव प्रमाणेष्वन्तर्भवन्ति ॥

अब 'सद्‌प्रमाणसिद्धत्वात्, कारिका की व्याख्या करते समय "विशेषलक्षणानन्तरं चैतदुपपादयिष्यामः"—इस प्रकार अपनी ली हुई प्रतिज्ञा के अनुसार उपपादन कर रहे हैं "एवं प्रमाणसामान्यलक्षणेषु" इति। प्रमाणों के सामान्यलक्षण और विशेषलक्षणों के निरूपण कर चुकने पर नैयायिक, भाट्टमीमांसक, वेदान्ती, पौराणिक और आलंकारिकों ने जो अतिरिक्त-उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्य, चेष्टा आदि-प्रमाण बताये हैं, उनका भी उक्त तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भाव कर रहे हैं।

(४५) अन्य शास्त्रोक्तप्रमाणान्तरोंका अपने-उक्त तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भाव।

तथाहि—उपमानं तावद्यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यम्। तज्जनिता धीरागम एव। योऽप्ययं गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक इति प्रत्ययः, सोऽप्यनुमानमेव। यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते, सोऽसति वृत्त्यन्तरे, तस्य वाचकः, यथा गोशब्दो गोत्वस्य। प्रयुज्यते चैवं गवयशब्दो गोसदृशे, इति तस्यैव वाचक, इति तद् ज्ञानमनुमानमेव। यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत् प्रत्यक्षमेव। अत एव स्मर्यमाणायां गवि, गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम्। न त्वन्यद्गवि सादृश्यमन्यच्च गवये। भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते। सामान्ययोगश्चैकः। स चेद्गवये प्रत्यक्षो, गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति, यत्र प्रमाणान्तरमुपमानं भवेत्, इति न प्रमाणान्तरमुपमानम् ॥

(४६) उपमानस्य शब्देऽनुमाने चान्तर्भावः।

नैयायिकों का उपमान—

'प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्'[3] (न्या. सू. १।१।६) किसी नागरिक के द्वारा 'कीदृशो गवयः' गवय कैसा होता है? प्रश्न करने पर देहाती आदमी ने सर्वजन प्रसिद्ध गाय का सादृश्य दिखाते हुए उस अप्रसिद्ध गवय का ज्ञान जिस वाक्य-'यथा गौस्तथा गवयः'—के द्वारा कराया, उस वाक्य को उपमान कहते हैं।

(४६) उपमान का शब्द और अनुमान में अन्तर्भाव।

---

१. प्रसिद्धार्थककाव्यादौ शब्दश्रवणानन्तरं व्याप्तिज्ञानकल्पनसंभवेऽपि अपूर्वार्थककाव्यादौ तत्कल्पनाया असंभवः।

२. 'आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसंप्रत्ययः' (न्या. सू. २-१-५२) इति गौतमसूत्रे, 'अननुभूतचरे स्मरणायोगात्' इत्यादिना कुसुमाञ्जलिग्रन्थे च, 'शब्दात्प्रत्येमि' इति विलक्षणप्रतीतेः व्याप्तिनिरपेक्षादाकांक्षादिज्ञानादुत्पत्तेः तत्करणतया शब्दस्य अतिरिक्तं प्रामाण्यं सिध्यतीति नैयायिकसिद्धान्तः। (सा. बो.)

३. प्रसिद्धस्य = पूर्वं प्रमितस्य गवादेः साधर्म्यात् = सादृश्यज्ञानात् साध्यस्य = संज्ञासंज्ञिसंबंधस्य साधनं = ज्ञानम् उपमानप्रमाणम्। (सा. बो.)

इस पर सांख्य का कहना है कि 'यथा गौस्तथा गवयः' वाक्य से होने वाला चित्तवृत्तिरूप वाक्यार्थ ज्ञान, अर्थात् गोसदृश में गवयपदवाच्यत्वप्रकारक वृत्तिरूपज्ञान, अन्य कुछ न होकर आगम (शब्द) प्रमाण ही है। सांख्यसिद्धान्त में वाक्यजन्य ज्ञान ही आगमप्रमाण है, जिसका 'गवयपदवाच्यत्वेन गवयं जानामि' यह पौरुषेय बोध (शाब्दप्रमा) फल है। केवल वाक्य नहीं। क्योंकि इनके सिद्धान्त में चित्तवृत्ति को ही प्रमाण माना गया है। एवं च आगम (शब्द) प्रमाण में ही उपमान का अन्तर्भाव होने से उसे पृथक् प्रमाण नहीं माना गया।

न्यायवार्तिक के अनुसार "समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः" संज्ञा-संज्ञिसम्बन्ध का ज्ञान होना ही उपमान का फल है। 'गवय' शब्द के अर्थ को न जानने वाले किसी नागरिक ने किसी देहाती से पूछा कि 'कीदृशो गवयपदवाच्यः'? तब उसने बताया कि 'गोसदृशो गवयपदवाच्यः'। अनन्तर वह कभी वन में गया। वहां गोसदृश पिण्ड को देखकर सोचने लगा कि निश्चय ही 'यही गवयपदवाच्य है,' जिसे पहले उस देहाती ने बताया था। इसी को 'उपमिति' कहते हैं और इसके करण को 'उपमान' कहते हैं। अर्थात् 'गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः' इत्याकारक 'संज्ञि-संज्ञि सम्बन्धज्ञान को उपमिति' कहते हैं इस उपमिति के होने में 'गोसदृशो गवयशब्दवाच्यः' इस उपदेशवाक्यार्थ के स्मरण द्वारा वाक्य से होनेवाले 'गोसदृशो गवयः' इत्याकारक सादृश्यज्ञान को करण (साधन) माना गया है, जिसे उपमान कहते हैं।

इस मत का निरसन करने के लिये 'योऽप्ययमिति'। 'गवयशब्दः गोसदृशस्य वाचकः'—यही उपमिति 'प्रमा' है, किन्तु यह अनुमान से साध्य (अवगत) होती है, अतः इसका करण अनुमान ही हुआ, उपमान नहीं। अनुमानप्रकार—'गवयपदं, गोसदृशपिण्डवाचकम्, असति लक्षणादिवृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात् गोत्वे प्रयुज्यमानगोपदवत्'। एवञ्च संज्ञा-संज्ञि सम्बन्धज्ञान का जो उपमान-फल है—वह अनुमान से ही निष्पन्न हो जाता है, अतः उसके लिये पृथक् उपमान प्रमाण स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। ऊपर बताये हुए अनुमान प्रयोग की सामग्री बता रहे हैं—'यो हि शब्द' इति। 'योहि शब्दः यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते' के द्वारा व्याप्ति का स्वरूप बताया गया। इसके बताने से "असति वृत्त्यन्तरे (लक्षणादौ) वृद्धैः तत्र प्रयुज्यमानत्वात्" इससे हेतु का स्वरूप भी प्रदर्शित हो जाता है, इस प्रकार हेतु को दिखाकर उदाहरण बताया—'यथा गोशब्दो गोत्वस्य। उपनयको बताते हैं—'प्रयुज्यते चैवं गवयशब्दो गोसदृशे' इति। निगमन को बताते हैं—'इति, तस्यैव वाचकः'। निष्कर्ष यह हुआ कि—इस प्रकार से संज्ञा-संज्ञि सम्बन्धज्ञान तो अनुमान का फल अर्थात् अनुमिति रूप ही है। यहां पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग इस प्रकार किया जायगा—'गवयशब्दः गोसदृशस्य पशोः वाचकः, वृद्धैर्नगरादिभिः गोसदृशे प्रयुक्तत्वात्। यो यदर्थे प्रयुज्यते, सः असति वृत्त्यन्तरे तद्वाचकः, गोशब्दस्य गोवाचकत्ववत्, तस्मात् गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः" इति। इस प्रकार नैयायिकों के अभिमत उपमान प्रमाण का, अनुमान प्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अब मीमांसकों के उपमान प्रमाण का स्वरूप बताते हुए उसका भी निरसन 'यत्तु गवयस्य' से कर रहे हैं। मीमांसकों के उपमान प्रमाण का स्वरूप—

भाष्यकार शबरस्वामी कहते हैं—"उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टार्थे बुद्धिमुत्पादयति, यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य" इति। "यत् सादृश्यमानम् असन्निकृष्टार्थे बुद्धिम् उत्पादयति तत् उपमानम् = प्रमेयबुद्धिजनकमेव सादृश्यम् इन्द्रियप्रत्यक्षमुपमानम्, यथा—गवयदर्शनम् = सादृश्यविशिष्ट गवयदर्शनं गोस्मरणस्य जनकम्" ऐसा अर्थ न्यायरत्नाकरकार लगाते हैं। तथा च 'नगरानुभूतचरगोपिण्डस्य नरस्य अरण्यं प्राप्तस्य तत्र साक्षाद् गवयमीक्षमाणस्य

'प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टासन्निकृष्टगोपिण्डग्रहणरूपं यदनेन सदृशी मदीया गौः इति ज्ञानं तदुपमानम्" इति।

ऊपर दिये भाष्य का अर्थ इस प्रकार है—सादृश्यम् = पूर्वदृष्टपदार्थ के सादृश्य का ज्ञान ही उपमान है। वह असन्निकृष्टे = पूर्व दृष्ट एवं स्मर्यमाण पदार्थ में बुद्धिम् = सादृश्यज्ञान को पैदा करता है। अभिप्राय यह है—एकत्र सादृश्यज्ञान से अपरत्र = असन्निकृष्ट में होने वाले सादृश्य-ज्ञान को उपमिति कहते हैं। यहां प्रथम सादृश्यज्ञान, करण है और द्वितीय सादृश्यज्ञान, फल है। एवं च प्रथम सादृश्यज्ञान ही व्यापारवत्-करण होने से उपमानप्रमाण कहा जाता है। सदृशवस्तु का स्मरण ही यहां व्यापार है। नगर में जिसने गौ को देखा है, वही जब वन में गया तब वहां गवय के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर उसे प्रतीति होती है—"अयं पिण्डो गोसदृशः इति"। पश्चात् वह निश्चय करता है कि "अनेन सदृशी पूर्वदृष्टा गौः" इति।

इस मत में द्वितीय सादृश्यज्ञान, असन्निकृष्टविषयक होने से उसे 'प्रत्यक्ष' नहीं कह सकते, अनुमिति शब्द से भी उसे नहीं कह सकते। अतः द्वितीय सादृश्यज्ञान का करणभूत प्रथम सादृश्यज्ञान होने से उसे पृथक् प्रमाण ही मानना चाहिये। एवं च उपमानप्रमाण पृथक् प्रमाण है।

उपर्युक्त-मीमांसकाभिमत उपमान प्रमाण का ग्रन्थकार खण्डन करते हैं—'यत्तु गवयस्य०' इति। मीमांसकों ने जो यह बताया कि—गवयनिष्ठ गोसादृश्यज्ञान उपमान है और गोनिष्ठ गवसादृश्यज्ञान उपमान का फल अर्थात् उपमिति है। यह ठीक नहीं, क्योंकि गवयनिष्ठ जो गोसादृश्यज्ञान है वह तो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान ही है। द्वितीय सादृश्यज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमारूप ही है, अन्य कुछ नहीं। उसमें हेतुगर्भित विशेषण देते हैं—'चक्षुःसन्निकृष्टस्य' इति। जैसे आंख के सामने स्थित गौ में रहने वाले गोत्व का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही सामने आने वाले गवय में स्थित सादृश्य का भी प्रत्यक्ष होता है।

शंका—सादृश्य की प्रतियोगीस्वरूप गाय की तत्कालीन अनुपस्थिति में गवयगत सादृश्य को कैसे प्रत्यक्ष कहा जा सकता है?

समा०—उक्त शंका का समाधान कुमारिलभट्ट इस प्रकार देते हैं—

"समान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते।
प्रतियोगिन्यदृष्टेऽपि यस्मात्तदुपलभ्यते॥"

सामान्य की तरह सादृश्य भी प्रत्येक व्यक्ति में परिसमाप्त होता है। संयोग की तरह दोपदार्थों में व्यासक्त होकर नहीं रहता। अतः प्रतियोगीस्वरूप गोव्यक्ति के उस समय न दीखने पर भी गवय में 'गोसदृशोऽयं'—गाय के समान है—इस प्रत्यक्ष प्रतीति के होने में कोई बाधा नहीं पड़ती।

शंका—चक्षुःसन्निकृष्ट-गवयनिष्ठ-गोप्रतियोगिकसादृश्यज्ञान को 'प्रत्यक्ष' भले ही कहें किन्तु असन्निकृष्ट गोनिष्ठ-गवयप्रतियोगिक सादृश्यज्ञान को आप 'प्रत्यक्ष' कैसे कह सकते हैं?

समा०—'अतएव' इति। गवयनिष्ठगोसादृश्य के प्रत्यक्ष होने के कारण ही अर्थात् पुरःस्थित गवयगत सादृश्य जैसे प्रत्यक्ष हो रहा है उसी प्रकार बुद्धिस्थित गौ में रहनेवाले सादृश्य का भी प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि गाय में रहने वाला सादृश्य भिन्न प्रकार का है और गवय में रहने वाला सादृश्य भिन्न है। अतः दोनों की एकता रहने से इसका

---

१. प्रत्यक्षेण दृष्टो यो गवयः तत्सादृश्यविशिष्टतया असन्निकृष्टस्य नगरगतगोपिण्डस्य यद्ग्रहणं तदुपमानम्।

प्रत्यक्ष है तो उसका भी है ही। तात्पर्य यह है कि गवय में रहने वाला सादृश्य एक ही है, भिन्न भिन्न नहीं।

अब उभयनिष्ठ सादृश्य की अभिन्नता बताने के लिये सादृश्य का लक्षण बताते हैं—'भूय' इति। भूयोऽवयवसामान्ययोगः भूयसां = बहूनाम् अवयवानां यत् समान्यम् = ऐक्यं, तस्य योगः सम्बन्धः। गवय से भिन्न अन्य जाति की गौ में रहने वाला खुर, लाङ्गूल, शृङ्गादि अनेक अवयवों का जो संबन्ध है वही गौ में और गवय में रहने वाला सादृश्य है। एक जाति विशेष में जो एकावयव-सम्बन्ध है, वही दूसरी जाति विशेष में एकावयवसम्बन्ध हैं। और अनेक अवयवों का वह धर्मयोग-(सम्बन्ध) गोत्व की तरह एक ही है। वह यदि गवय में प्रत्यक्ष है तो गाय में भी उसका प्रत्यक्ष होना अनिवार्य है। इस रीति से सादृश्यज्ञान का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होने से उपमान की उपमेय वस्तु प्रत्यक्षप्रमेय के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जिससे उपमेय वस्तु के परिज्ञानार्थ उपमानप्रमाण की आवश्यकता हो। तात्पर्य यह है कि गोत्व की तरह आश्रय के ज्ञान से ही उसका (सादृश्य का) ज्ञान हो जाता है। गाय में पूर्वगृहीत सादृश्य का ही पुनः गवय में परामर्श होता है। विशेषता इतनी ही है कि पहले "अनेन सदृशीमदीया गौः" इत्याकारक प्रतियोगिवैशिष्ट्यव्यतिरेकेण गोत्व की तरह निर्विकल्परूप से सादृश्य का ग्रहण होता है, पश्चाद् गवयरूपप्रतियोगी के दीखने पर सविकल्परूप से उसकी प्रत्यभिज्ञा होती है।[1]

जिस प्रकार उपमान का प्रत्यक्षप्रमाण में अन्तर्भाव होता है। उसी प्रकार भाट्टमीमांसक और वेदान्ती को अभिमत अर्थापत्ति प्रमाण का भी अनुमान में अन्तर्भाव कर उसके प्रमाणान्तरत्व का निराकरण करने के लिये 'एवम् इति'।

(४७) अर्थापत्ते-रनुमानेऽन्तर्भावः।

एवमर्थापत्तिरपि न प्रमाणान्तरम्। तथा हि—जीवतश्चैत्रस्य गृहाभाव-दर्शनेन बहिर्भावस्याऽदृष्टस्य कल्पनमर्थापत्तिरभिमता वृद्धानाम्। साऽप्यनुमानमेव। यदा खल्वव्यापकः सन्नेकत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति। यदाऽव्यापक एक-त्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्तीति सुकरः स्वशरीरे व्याप्ति-ग्रहः। तथा च सतो गृहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानमेव। न

---

१. सादृश्यस्यैकत्वं, प्रत्यक्षेण गवये गोसादृश्ये गृह्यमाणे यदि अपि गवयसादृश्यं समानवित्ति-वेद्यतया गृहीतमेव, अन्यथा एकत्र सादृश्यज्ञाने सत्यपि अपरत्र संशयापत्तेः। "मदीया गौः एतद्गवयसदृशी, एतन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वात्, यो यद्गवसादृश्यप्रतियोगी स तत्सदृशः, यथा दर्पणस्थमुखावभासो मुखसदृशः" इत्यनुमानेनापि तत्संभवः। इदं न साक्षात्कृतं, नानुमितं, किन्तूप-मितम् इत्यनुभवस्तु नास्त्येवेति तु ध्येयम्। (तत्त्वविभाकरः)

मीमांसकसम्मतसादृश्यपदार्थः—

"सादृश्यस्य च वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम्।
भूयोऽवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत्॥" (कुमारिल श्लो० वा०)

मीमांसकों ने सादृश्य का सामान्यपदार्थ में अन्तर्भाव माना है, उसे पृथक् पदार्थ न मानने पर भी बौद्धों की तरह अवस्तुरूप नहीं माना, बल्कि वस्तुरूप माना है। वह सामान्यपदार्थ का ही रूपान्तर है। किन्तु प्रभाकरमीमांसक, सादृश्य को सामान्यपदार्थ से अतिरिक्त मानते हैं। इनके मत में गोगतसादृश्यज्ञान को स्मरणरूप माना गया है।

च चैत्रस्य कश्चित्सत्त्वेन गृहाभावः शक्योऽपह्नोतुम् , येनासिद्धो गृहाभावो बहिर्भावे न हेतुः स्यात् । न च गृहाभावेन वा सत्त्वमपह्नूयते, सत्त्वमेवानुपपद्यमानमात्मानं न बहिरवस्थापयेत् । तथा हि—चैत्रस्य गृहाऽसत्त्वेन सत्त्वमात्रं विरुध्यते, गृहसत्त्वं वा ? न तावदत्र कश्चन सत्त्वस्याऽस्ति विरोधो गृहासत्त्वेन, भिन्नविषयत्वात् । "देशसामान्येन,' गृहविशेषाक्षेपोऽपि पाक्षिक इति समानविषयतया विरोध" इति चेत् , येन प्रमाणविनिश्चितस्य गृहेऽसत्त्वस्य पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपायोगात् । नापि प्रमाणनिश्चितो गृहाभावः पाक्षिकमस्य गृहसत्त्वं प्रतिक्षिपन् सत्त्वमपि प्रतिक्षेप्तुं सांशयिकत्वं च व्यपनेतुमर्हतीति युक्तम् । गृहावच्छिन्नेन चैत्राभावेन गृहसत्त्वं विरुध्यते, न तु सत्त्वमात्रम् , तस्य तत्रोदासीन्यात् । तस्माद् गृहाभावेन लिङ्गेन सिद्धेन ,सतो बहिर्भावोऽनुमीयत इति युक्तम् । एतेन 'विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थयाऽविरोधापादनमर्थापत्तेर्विषय' इति निरस्तम् , अवच्छिन्नानवच्छिन्नयोर्विरोधाभावात् । उदाहरणान्तराणि चार्थापत्तेरेवमेवाऽनुमानेऽन्तर्भावनीयानि । तस्मान्नानुमानात्प्रमाणान्तरमर्थापत्तिरिति सिद्धम् ॥

मीमांसक और वेदान्ती अर्थापत्ति प्रमाण को भी पृथक् प्रमाण मानते हैं। मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी ने अर्थापत्ति का जो स्वरूप बताया है, उसे दिखाते हैं—"जीवत०" इति। 'शतवर्षजीवी चैत्रः' इस दैवज्ञवाक्य के अनुसार 'चैत्र' के शतवर्ष जीवित रहने का निश्चितज्ञान रहने के कारण जब घर में उसे नहीं पाया, तब बाहर कहीं उसके होने की जो कल्पना की जाती है उसे 'अर्थापत्ति' बताया है। किन्तु सांख्य का कहना है कि यह 'अर्थापत्ति' अनुमान प्रमाण के ही अन्तर्गत है। पृथक् प्रमाण नहीं।

(३०) अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव

अभिप्राय यह है—"उपपाद्यज्ञानप्रभवम् उपपादकज्ञानम् अर्थापत्तिः"। जो अन्य अर्थ किसी कल्पनीय अर्थ के बिना उपपन्न नहीं होता उस अर्थ को 'उपपाद्य' कहते हैं। और जिस कल्पनीय अर्थ के अभाव में (न रहने पर) उपपाद्य की उपपत्ति (सम्भव) नहीं हो पाती, उस कल्पनीय अर्थ को 'उपपादक' कहते हैं। जैसे—'गृहाऽसत्त्व' (घर में न होना) रूप अर्थ; 'बहिःसत्त्व' (बाहर होना) रूप कल्पनीय अर्थ के बिना, उपपन्न नहीं हो पाता। इस कारण गृहासत्त्वरूप अर्थ 'उपपाद्य' कहा जाता है। इसी प्रकार बहिःसत्त्वरूप कल्पनीय अर्थ के अभाव में, गृहासत्त्वरूप उपपाद्य अर्थ उपपन्न नहीं हो पाता, इसलिये बहिःसत्त्वरूप अर्थ 'उपपादक' कहा जाता है। यहां पर उपपाद्यज्ञान, करण होने से उसे 'अर्थापत्तिप्रमाण' कहते हैं। और उपपादकज्ञान, फल होने से उसे 'अर्थापत्तिप्रमा' कहते हैं। अर्थापत्ति शब्द में दो प्रकार से विग्रह होता है—'अर्थस्य = बहिःसद्भावस्य, आपत्तिः = कल्पना यस्मात्' इस बहुव्रीहि के करने पर 'अर्थापत्ति' शब्द, उपपाद्यज्ञानरूप करणपरक हो जाता है, तब वह प्रमाणवाचक कहलाता है, और 'अर्थस्य आपत्तिः' इस षष्ठीतत्पुरुष के करने पर उपपादकज्ञानरूप अर्थापत्ति शब्द प्रमिति (प्रमा) वाचक कहलाता है।

इस अर्थापत्ति के दो भेद हैं—दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति[1]। 'पीनो देवदत्तो दिवा

---

१. "अर्थापत्तिरपि यत्र दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना"। (शाब० भा०)

न भुङ्क्ते' यहां 'यद्विना यद् अनुपपन्नं तत् तदुपपादकम्' इस नियम के अनुसार रात्रिभोजन 'उपपादक' है और पीनत्व 'उपपाद्य' है, तथा उपपादकज्ञान 'फल' है, एवं उपपाद्यज्ञान 'करण' है। 'फल' और 'करण' दोनों के लिये अर्थापत्तिशब्द का प्रयोग किया जाता है। फल के लिये अर्थापत्तिशब्द का जब प्रयोग किया जाता है तब 'अर्थस्य आपत्तिः = कल्पना' यह व्युत्पत्ति और करण के लिये जब अर्थापत्तिशब्द का प्रयोग किया जाता है तब 'अर्थस्य आपत्तिः = कल्पना यस्याः' यह व्युत्पत्ति की जाती है। दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्वं रात्रिभोजनमन्तरेण नोपपद्यते = दिन में बिना खाये पुष्टता, रात्रिभोजन के बिना संभव नहीं, अतः पीनत्वान्यथाऽनुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरेव रात्रिभोजने प्रमाणम् = इसलिये उस असम्भव को हटाने के लिये रात्रिभोजन की अर्थात् कल्पना करनी पड़ती है। तात्पर्य यह है कि उसके रात्रिभोजन में अर्थात् कल्पना = आपत्ति (अर्थापत्ति) ही प्रमाण है, जो प्रत्यक्षादिप्रमाणों से भिन्न है। क्योंकि यहाँ रात्रिभोजन, प्रत्यक्षादिप्रमाणों का विषय नहीं हो पा रहा है। अतः मीमांसकों का कहना है कि प्रत्यक्षादि चार प्रमाणों के अतिरिक्त 'अर्थापत्ति' प्रमाण को मानना आवश्यक है।

किन्तु सांख्य का कहना है कि अर्थापत्तिप्रमाण पृथक् न होकर उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'चैत्रः बहिरस्तितावान्, जीवित्वे सति गृहाऽसत्त्वात्, स्वशरीरवत्' यहां गृहाऽसत्त्वात्मक उपपाद्यज्ञान का लिङ्गविधया अनुमान में अन्तर्भाव है। अतः तज्जन्य बहिःसत्त्व का जो ज्ञान हो रहा है उसे अनुमिति ही कहना चाहिये। उपर्युक्त अनुमान में 'अन्वयव्याप्ति' को दिखाते हैं 'यदा खलु०' इति। 'यः अव्यापकः सन् एकत्र नास्ति तदा अन्यत्र अस्ति' = जो परिच्छिन्न एवं विद्यमान होता हुआ भी किसी एक जगह नहीं है तो अवश्य ही दूसरी जगह होगा—यह अन्वयव्याप्ति है।

अब व्यतिरेक व्याप्ति को बताते हैं—'यदा बहिःसत्त्वाभावः तदा जीवतो गृहसत्त्वम्' जब बाहर अभाव होगा तब अर्थात् जीवितदेवदत्त का गृह में सत्त्व रहेगा। इसी व्यतिरेक व्याप्ति को बताने के लिये दृष्टान्त में व्याप्तिग्रह का प्रकार बताते हैं—'यदा खलु अव्यापकः, सन्०' इति। तात्पर्य यह है कि "यदाऽहं नेह तदाऽन्यत्र" इस अन्वयव्याप्ति को दिखाया गया है। व्यतिरेकव्याप्ति[१] को दिखला रहे हैं—'यदाऽव्यापक०' इति। अन्वयव्याप्ति में जीवितगृहासत्त्व 'व्याप्य'

दृष्टार्थापत्तेर्लक्षणम्—"प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता॥" (श्लो० वा०)

श्रुतार्थापत्तेर्लक्षणम्—"पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवचःश्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरुच्यते॥" (श्लो० वा०)

१. नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशी मते।
विपरीते प्रतीयेते एव तदभावयोः॥

नियम्यत्वम् = व्याप्यत्वम्, नियन्तृत्वम् = व्यापकत्वम्, तथा च—भावयोः = साध्यहेत्वोः यादृक्–व्याप्य–व्यापकभावः ततो विपरीतः अभावयोः व्याप्यव्यापकभावः।

इसी को स्पष्ट किया गया है—

व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम्।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
साध्याभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः॥

है और वह्निःसत्त्व 'व्यापक' है। व्यतिरेकव्याप्ति में—वह्निःसत्त्वाभाव 'व्याप्य' है और गृहसत्त्व 'व्यापक' है। इस नियम के अनुसार 'यदा' और 'तदा' को उलटा जोड़ना चाहिये। जैसे—यदा नान्यत्र = बाहर नहीं है, तदा एकत्र = गृह में है, ऐसी योजनाकर व्यतिरेकव्याप्ति जाननी चाहिये। इस प्रकार की व्याप्ति का ज्ञान सुलभता से अपने शरीर में ही प्राप्त किया जा सकता है। व्याप्ति दिखाने के पश्चात् हेतु को दिखाकर बहिर्भाव की अनुमिति करते हैं—"तथा च सतः०" इति। इस प्रकार से व्याप्तिग्रह हो जाने पर जीवित चैत्र के गृहाभाव-ज्ञान रूप हेतु से (जीवित्वे सति गृहासत्त्वात्), उसके बहिर्भाव का ज्ञान अनुमिति रूप ही है, अर्थात् अनुमान से ही साध्य है। अभिप्राय यह है—वह्निःसत्त्वज्ञानरूप अनुमिति में गृहासत्त्वज्ञान ही करण होने से उसे अनुमान कहना चाहिये और बहिर्भावदर्शन को अनुमिति कहना चाहिये। इसलिये मूलमें आये हुए 'बहिर्भाव दर्शनमनुमानमेव' का अर्थ 'अनुमानसाध्यमेव करना चाहिये। सांख्य के अनुसार लिङ्ग (हेतु) से उत्पन्न हुई बोद्धप्रभा अर्थात् चित्तवृत्ति ही अनुमान है।

उपर्युक्त अनुमान में हेतु की पक्षधर्मता[1] को दिखाने के लिये स्वरूपासिद्धि[2] का वारण करते हैं—"न च चैत्रस्य०" इति। चैत्ररूप 'पक्ष' में वर्तमान गृहाभावरूप 'हेतु' का चैत्र के किसी देश-विशेष में रहने के कारण बाध नहीं हो पाता, जिससे असिद्ध = स्वरूपासिद्ध[3] होने के कारण गृहाभाव बहिर्भाव में हेतु न बन सके। क्योंकि 'स्वरूपासिद्धहेतु,' सद्धेतु न होकर 'हेत्वाभास' होता है। अब 'सांध्यासिद्धि' का वारण करते हैं—'न च गृहाभावेन०' इति। 'सत्त्व' रूपसाध्यैकदेश अर्थात् 'बहिःसत्त्व' का 'गृहाभाव' से अपहव (प्रतिपन्न) नहीं होता, जिससे (सत्त्वापनयनरूप कारण से) सत्त्व अनुपपन्न होकर अपने को बहिर्देश में न रख सके। अर्थात् बहिःसत्त्वरूप 'साध्य' का संभव होने से 'साध्याप्रसिद्धि' नहीं है। जैसे 'अन्यत्र सत्त्व' के साथ 'गृहासत्त्व' का विरोध नहीं रहता वैसे ही 'गृहासत्त्व' के साथ अन्यत्र सत्त्व का भी विरोध नहीं होता।

शंका—सर्वलोकप्रसिद्ध सत्त्वाऽसत्त्व के विरोध को नहीं कहने मात्र से रोका नहीं जा सकता, उनके अविरोध में जबतक हेतु न दिखाया जाय।

समा०—विरोधाभाव को स्पष्ट करने के लिये दो प्रकार से विकल्प करते हैं—'तथाहि चैत्रस्य०' इति। चैत्र के 'गृहासत्त्व' से 'सत्त्वमात्र' अर्थात् जहां कहीं भी रहने का विरोध किया जाता है या 'गृहसत्त्व' का?

प्रथम विकल्प का निराकरण करते हैं—'न तावद् यत्र०' इति 'गृहासत्त्व' अर्थात् गृहवृत्तिसत्त्वाभाव के साथ 'यत्र क्वचनसत्त्व' = 'गृहेतरवृत्तिसत्त्व' का विरोध नहीं है। विरोध के न होने में हेतु बताते हैं—'भिन्नविषयत्वात्०' इति। 'सत्त्व' और 'असत्त्व' दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थों से

अन्वये = भावयोर्व्याप्यव्यापकभावे, साधनं व्याप्यं भवति, साध्यं = वह्न्यादिकं च व्यापकं भवति। अन्यथा = व्यतिरेके तु साध्याभावो व्याप्यो भवति, साधनात्ययः = हेत्वभावश्च व्यापको भवति।

१. हेतोः पक्षे वर्तमानत्वम् पक्षधर्मता, यथा—'पर्वते धूमेन वह्नौ साध्ये वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इत्यत्र धूमस्य पक्षधर्मता।

२. पक्षे हेत्वभावः—स्वरूपासिद्धिः, यथा—'घटः पृथिवी पटत्वात्' इत्यत्र घटरूपपक्षे हेत्वभावः।

३. यो हेतुः आश्रये न अवगम्यते—स स्वरूपासिद्धः। यथा—'सामान्यम् अनित्यं कृतकत्वात्' अत्र कृतकत्वं हेतुः आश्रये सामान्ये नास्ति। यथा वा—'शब्दो गुणः चाक्षुषत्वात्' अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे पक्षे नास्ति, शब्दस्य श्रावणत्वात्, इति चाक्षुषत्वं स्वरूपासिद्धम्।

सम्बन्धित हैं। 'असत्त्व' का विषय 'गृहात्मकप्रदेश' है और 'सत्त्व' का विषय 'बाह्यदेश' है। अतः दोनों का विषय समान न होने से विरोध नहीं है।

दोनों में विरोधसंपादनार्थ, दोनों (गृहासत्त्व और क्वचित्सत्त्व) की समानविषयता का साधन करनेवाले मीमांसक शंका करते हैं—'देशसामान्येन०' इति। "जीवंश्चैत्रः क्वचित् अस्ति"—जीवित चैत्र कहीं है—इस प्रकार आप्तवाक्य से उपलब्ध सत्त्व के आश्रयीभूत देशसामान्य से तदन्तःपाती गृहरूपदेशविशेष का लाभ भी अर्थात् हो जाने से वह 'पाक्षिक प्राप्त' है,[1] अतः 'सत्त्व' 'असत्त्व' दोनों की विषयता समान होने से यहां विरोध है ही। क्योंकि प्रतियोगी और उसके अभाव का परस्पर विरोध तो अवश्य रहता ही है। एवं च हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष कायम ही रहा।

इस प्रकार यथाकथञ्चित् विरोध प्रदर्शित करने पर भी अर्थात् 'प्राप्तगृहसत्त्व' से, 'प्रत्यक्षविज्ञात गृहासत्त्व' का बाध नहीं हो सकता, किन्तु 'विज्ञातगृहासत्त्व' के द्वारा—'अज्ञात गृहसत्त्व' का ही बाध होगा—इस अभिप्राय से समाधान करते हैं—'न, प्रमाणविनिश्चितस्य०' इति। प्रत्यक्षप्रमाण से सुनिश्चित 'गृहासत्त्व' का 'गृहसत्त्व' से प्रतिरोध नहीं किया जा सकता। 'गृहासत्त्व' के प्रतिक्षेप्य न हो पाने में "प्रमाणविनिश्चितस्य" और गृहसत्त्व के प्रतिक्षेपक न हो सकने में 'पाक्षिकतया-सांशयिकेन' ये हेतुगर्भविशेषण दिये गये हैं। तात्पर्य यह है संभावना के कारण पक्ष में प्राप्त होने से सन्दिग्धतया ज्ञात गृहसत्त्व का विशेषरूप से अवगत होनेवाले 'गृहासत्त्व' के द्वारा बाध हो सकेगा या नहीं ?—इस प्रकार संशयाक्रान्त 'गृहसत्त्व' के द्वारा प्रमाणविनिश्चित 'गृहासत्त्व' का प्रतिरोध नहीं होगा। प्रमित के द्वारा अप्रमित का ही प्रतिरोध हो सकता है, अप्रमित के द्वारा प्रमित का नहीं।

शंका—प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमित 'गृहासत्त्व' जैसे 'गृहसत्त्व' का प्रतिक्षेप करता है वैसे-ही वह 'सत्त्वमात्र' का भी प्रतिक्षेप कर सकता है। एवं च 'सत्व' 'असत्त्व' दोनों में विरोध बना ही रहा।

समा०—"नापि प्रमाण०" से समाधान करते हैं। प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा सुनिश्चित 'गृहाभाव' से चैत्र के संभावित पक्षप्राप्त 'गृहसत्त्व' का निराकरण करता हुआ वह 'गृहाभाव', 'गृह-सत्त्व' की तरह 'बहिःसत्त्व' का भी निराकरण कर सकता है। ऐसी स्थिति में गृहसत्त्व के सांशयि-कत्व को वह दूर कर सकता है-यह कहना उचित नहीं है। तात्पर्य यह है-शंकाग्रंथ में "सत्त्वमपि प्रतिक्षेप्तुमर्हति" और "गृहसत्त्वस्य सांशयिकत्वं च अपनेतुमर्हति" ये दो अंश हैं। इनमें से प्रथम-अंशको ही 'न युक्तम्' से अनुचित बताया गया है। एवं च गृहसत्त्व के सांशयिकत्व का अपनयन स्वीकृत होने से गृहसत्त्व का ही बाध यहां अभिप्रेत है, सांशयिकता का नहीं। अतः प्रमाण से निश्चित हुआ 'गृहाभाव', चैत्र के 'पाक्षिक गृहसत्त्व' का निराकरण करता हुआ 'सत्त्वमात्र' का निराकरण भी कर देगा—यह कहना उचित नहीं है, बल्कि 'गृहसत्त्व' के सन्देह का ही निराकरण करेगा। इसी अभिप्राय को ध्यान में रख गृहसत्त्व के बाध में हेतु देते हुए सत्त्वमात्र के अबाध को बताते हैं—"गृहावच्छिन्नेन०" इति। गृहनिष्ठ चैत्राभाव से उसके गृहसत्त्व का ही निराकरण (बाध) किया है क्योंकि 'विरुद्धत्वात्'—प्रमितगृहासत्त्व के साथ वह (गृहसत्त्व) रह नहीं सकता। सत्त्वमात्र का बाध वह नहीं कर सकता, क्योंकि उसके निरास में 'गृहासत्त्व' उदासीन है अर्थात् सत्त्वमात्र के साथ गृहसत्त्व का विरोध ही नहीं है। निष्कर्ष बताते हैं—'तस्मात्०' इति।

---

१. "चैत्र बहिर्वा स्यात् गृहे वा स्यात्" इति गृहाक्षेपः पाक्षिकः।

जब कि 'गृहाभाव' सिद्ध है, तब उस सिद्ध 'गृहाभाव' रूप लिङ्ग से जीवित चैत्र के बहिर्भाव का अनुमान किया जाता है।

जो लोग "जीवी चैत्रः क्वचिदस्ति" इस प्रकार सामान्यतया स्थितिबोधक 'शब्दप्रमाण' का 'गृहासत्त्व' को बताने वाले प्रत्यक्षप्रमाण के साथ पड़ने वाले विरोध का परिहार करने के लिये 'आगमस्य बहिर्देशविषयत्वकल्पनम्' को अर्थापत्ति का कार्य मानते हैं, उनके प्रति कहते हैं— "एतेन०" इति। संभावनामात्र से विरुद्ध लगने वाले 'प्रत्यक्ष' और 'आगम' प्रमाण की विषय-व्यवस्था (आगम का विषय-बहिरसत्त्व और प्रत्यक्ष का विषय गृहासत्त्व) से विरोधाभाव का संपादन करना अर्थापत्ति का फल है, यह कथन निरस्त हो जाता है। अभिप्राय यह है—चैत्र के 'गृहासत्त्व' में प्रत्यक्ष प्रमाण है, और उसके 'सत्त्व' में अनुमान अथवा शब्द प्रमाण है। अब 'असत्त्व' को प्रमाण मानने पर 'सत्त्व' के प्रामाण्य का स्वीकार नहीं किया जा सकता, और 'सत्त्व' को प्रमाण मानने पर 'असत्त्व' का प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस प्रकार दोनों में से किसी एक को प्रमाण मानने पर भी यथार्थज्ञान (प्रमा) का होना असंभव है, इसलिये अर्थापत्तिप्रमाण को पृथक् रूप से स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रमाण के द्वारा अर्थात् "असत्त्वस्य गृहविषयत्वं सत्त्वस्य च बहिर्विषयत्वं" इस कल्पना के द्वारा दो प्रमाणों के विरोध का जो परिहार किया जाता है वही अर्थापत्ति का प्रमेय है, जो अन्य प्रमेयों से विलक्षण है। दोनों में अविरोध को बताते हैं— 'अवच्छिन्नाऽनवच्छिन्नयोर्विरोधाभावात्' इति। 'गृहावच्छिन्न असत्त्व' प्रत्यक्ष है और 'गृहानवच्छिन्न सत्त्व' शाब्दिक है, इस रीति से उनमें विरोध नहीं है। जब विरोध है ही नहीं तब उसे दूर करने के लिये—'अर्थापत्ति' प्रमाण को स्वीकार करना निरर्थक है। मीमांसकों ने बृहद्दीपिका में "दिवा अभुञ्जानस्य चैत्रस्य पीनत्वेन रात्रिभोजनकल्पनम्, सर्पनकुलयोरेकस्य जयेन अन्यस्य पराजयेन वा उत्तरत्र जयपराजयकल्पनम्, बीजे सति अंकुरोत्पत्तेः मूषकाघ्राते अङ्कुरानुत्पत्तेर्दर्शनात् तत्र कारणत्वाकारणत्वव्याघातपरिजिहीर्षया शक्तिकल्पनम्" आदि अर्थापत्ति के अन्यान्य उदाहरण दिये हैं, उनका भी अनुमान में ही अन्तर्भाव समझना चाहिये। आशय यह है—"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" इस वाक्य से अवगत हुए पीनत्व से रात्रिभोजन की कल्पना करना श्रुतार्थापत्ति का कार्य है। किन्तु यह भी—"देवदत्तो नक्तंभोजी दिवा अभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्, व्यतिरेके यः नक्तं न भुङ्क्ते सः दिवाऽभुञ्जानः सन् पीनोऽपि न भवति, यथा नवरात्रोपवासी"—अनुमान से गम्य होने के कारण इसे अर्थापत्ति का कार्य (फल) कहना ठीक नहीं है। (व्यतिरेक व्याप्ति का स्वरूप इस प्रकार है—"यत्र यत्र दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वाभावः तत्र तत्र रात्रिभोजनत्वाभावः" इति। "यत्र यत्र दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वं तत्र तत्र रात्रिभोजनत्वम्" यह अन्वयव्याप्ति यहाँ नहीं दिखाई जा सकती, क्योंकि रोगी में व्यभिचार है। इसलिये यहां व्यतिरेकानुमान ही दिखलाया गया है।) इस प्रकार अर्थापत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव होने से उसे पृथक् प्रमाण के रूप में नहीं माना जाता। तात्पर्य यह है कि 'अर्थापत्तिप्रमाण' अनुमान प्रमाण से भिन्न नहीं है।

(४८) अभावस्य प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः।

एवमभावोऽपि प्रत्यक्षमेव। न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम। प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे एव भावाः, ऋते चितिशक्तेः। स च परिणामभेद ऐन्द्रियक इति नास्ति प्रत्यक्षाऽवरुद्धो विषयो यत्राऽभावाख्यं प्रमाणान्तरमभ्युपेयेतेति।

इसी प्रकार भाट्टमीमांसक और वेदान्ती मानते हैं कि 'यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत, यतो नोपलभ्यते अतः नास्ति' यदि यहां घड़ा होता तो उपलब्ध होता, जब कि नहीं उपलब्ध हो रहा है, अतः वह नहीं है—इस प्रकार प्रत्यक्षयोग्य वस्तु की उपलब्धि न होने से 'अत्र घटो नास्ति' यहां घड़ा नहीं है—इस प्रकार 'घटाभाव' का ज्ञान; जो हो रहा है, वह 'अनुपलब्धि' प्रमाण का फल (कार्य) है। उनके मत का खण्डन करते हैं 'एवमभावोऽपि प्रत्यक्षमेव' इति। जैसे अर्थापत्ति, अनुमानप्रमाण के अन्तर्भूत है वैसे ही अभावज्ञान का उत्पादक (जनक) अनुपलब्धिप्रमाण भी प्रत्यक्ष के ही अन्तर्गत है।

(४८) अभाव का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव

शंका—"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" (सां० का० ५) के अनुरोध से किये "अर्थसन्निकृष्टेन्द्रिय संबन्धनिबन्धनो बुद्धितत्त्वस्य वृत्तिविशेषः प्रत्यक्षप्रमाणम्" इस प्रत्यक्षप्रमाण के लक्षणानुसार पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होना आवश्यक है, किन्तु 'अभाव' पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) न होने से वह (अभाव पदार्थ) प्रत्यक्ष प्रमाण से कैसे जाना जा सकता है ? अर्थात् अभाव का प्रत्यक्ष होता है, यह कैसे कहा जाय ?

समाधान—"नहि भूतलस्य०" इति। अभाव पदार्थ अन्य कुछ न होकर भूतलस्वरूप ही है। क्योंकि 'भूतले घटाभावः' कहने पर भूतल के परिणामविशेष से अतिरिक्त 'घटाभाव' नाम का पदार्थ कोई नहीं, इसलिये उसका प्रत्यक्ष होता है—यह कह सकते हैं। अर्थात् भूतल के ज्ञान (ग्रहण) से ही 'अभाव' का ज्ञान (ग्रहण) हो जाता है, अतः 'अभावज्ञान' के लिये पृथक् से इन्द्रिय सन्निकर्ष (संबन्ध) की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि परिणामी भूतल के साथ 'इन्द्रियसन्निकर्ष' रहने से भूतल के परिणामविशेष रूप 'अभाव' के साथ भी 'इन्द्रियसन्निकर्ष' रहता ही है।

शंका—'मृत्तिका के परिणाम; घट-शरावादि होते हैं, सुवर्ण के परिणाम; कटक-कुण्डलादिक होते हैं, इससे स्पष्ट है कि 'परिणाम' का अर्थ 'कार्य' है, "यस्य यत् कार्यं तस्य तत्परिणामः"— इति। 'अभाव' तो भूतल का कार्य है नहीं, तब उसे भूतल का परिणाम कैसे कहा जाय ?

समा०—उपर्युक्त शंका के समाधानार्थ मूलग्रन्थ 'परिणामविशेषात्' में 'विशेष' पद दिया गया है। विशिष्यते अन्यस्मात् परिणामात् इति 'विशेषः' तस्मात्। अन्य परिणामों की अपेक्षा यह विलक्षण परिणाम है। उसी विलक्षणता (विशेषता) को 'कैवल्यलक्षणात्' से बताया गया है। कैवल्य का अर्थ है केवलत्व—भावान्तरों से असंसृष्टत्व—अर्थात् जो सद्वितीयत्वरूप धर्म की अपेक्षा धर्मान्तर—घटरहितत्व, वही है लक्षण (स्वरूप) का जिसका उसे 'कैवल्यलक्षण' परिणामविशेष कहा गया है। (परिणाम तीन प्रकार का होता है—[1]धर्मपरिणाम, [2]लक्षणपरिणाम और [3]अवस्थापरिणाम। अतः "कार्यमेव परिणामः' ऐसा नियम न होने से कैवल्यलक्षण (स्वरूप अवस्थाविशेष भी) भूतल का परिणाम ही है। भूतल पर घट के न रहने पर केवल भूतल ही रह जाता है, भूतल का यह केवलतारूप परिणाम ही अवस्थाविशेष है। तात्पर्य यह है—भूतल की घटवत्तादशा में भूतल का जो 'सद्वितीयत्व धर्म' है, उस भूतल की घटाभाववत्तादशा में जो 'केवलं भूतलम्' इत्याकारक कैवल्य (केवलत्व) रूप धर्मान्तर परिणाम है—यह भूतल का कैवल्य ही

---

१. अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्माभिभवे यः धर्मान्तरप्रादुर्भावः स धर्मपरिणामः।

२. प्रादुर्भूतस्य धर्मस्य अनागतादिलक्षणपरित्यागे वर्तमानलक्षणलाभो लक्षणपरिणामः।

३. वर्तमानलक्षणानां च धर्माणां प्रतिक्षणं अवस्थातारतम्यं अवस्थापरिणामः।

'अभाव' पदार्थ है और वह 'भूतलरूप अधिकारणात्मक' ही है। तात्पर्य यह है कि अभाव तो 'अधिकरणात्मक' है और अधिकरण, इन्द्रियग्राह्य होने से 'अधिकरणात्मक अभाव' भी इन्द्रियग्राह्य है। अतः उसके लिये 'अनुपलब्धि' रूप प्रमाण के स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

शंका—सद्वितीयत्वधर्मविशिष्ट भूतल तद्विपरीत कैवल्यरूपधर्मविशिष्ट कैसे हो सकता है ?

समा०—'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि०' इति। सांख्य का सिद्धान्त है कि सभी भाव ('इदं सत् इदं सत्' इस प्रतीति के विषय होने से जिन्हें भाव कहा जाता है—प्रकृति, महत्तत्त्व से लेकर स्थूल भूतों तक) उन पदार्थों (भावों) का प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है, क्योंकि सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। ये सभी, परिणाम करानेवाले चलत्वधर्मविशिष्ट रजोगुण से संबंधित रहते हैं। प्रतियोगी (घट) की सत्त्व (सत्ता) दशा में भूतल, 'सद्वितीयत्व'रूप अवस्था में रहता है। और प्रतियोगी के न रहने पर भूतल 'कैवल्य'रूप धर्म में परिणत होकर रहता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न समय में भूतल दो अवस्थाओं में रहता है।

शंका—आत्मा भी भावपदार्थ होने से क्या उसका भी परिणाम होता है ? अभिप्राय यह है—सांख्यसिद्धान्तानुसार परिणामी सभी पदार्थ क्षणिक हैं। ऐसी स्थिति में सबके अन्तर्गत 'पुरुष' (आत्मा) भी आजाता है। तब उसे भी क्षणिक कहना होगा, ऐसा कहने पर बौद्धसिद्धान्त और सांख्यसिद्धान्त में कोई अन्तर ही न होगा।

समा०—'ऋते चितिशक्तेः' इति। चेतनशक्ति–पुरुष–के अतिरिक्त प्रकृति से लेकर स्थूलभूतों तक सभी पदार्थों का प्रत्येकक्षण परिणाम होता रहता है। पुरुष तो सदैव परिणतिरहित ही रहता है। बौद्ध तो धर्मों के स्वरूप का ही नाश मानते हैं। किन्तु सांख्य 'परिणामवादी' होने से वैसा नहीं मानते। यथावस्थित धर्मी का 'धर्मलक्षणपरिणाम' होने पर भी उसका नाश कभी नहीं होता। कटक, कुण्डल रूप से परिणाम होने पर भी उन परिणामों में धर्मीरूप कनक के अन्वय (सम्बन्ध) की प्रतीति सभी को होती है। अतः बौद्धसिद्धान्त से सांख्य–सिद्धान्त का किंचिन्मात्र भी साम्य नहीं है।

शंका—अभाव को भूतल का ही परिणामविशेष मानने पर भी 'अनुपलब्धि' प्रमाण; अन्य प्रमाणों से पृथक् नहीं है, यह कैसे सिद्ध हुआ ?

समा०—'सच परिणामभेदः' इति। वह कैवल्यरूपधर्मपरिणामविशेष, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का ही विषय है। इसलिये प्रत्यक्ष से ग्रहण न करने योग्य ऐसा 'अभाव'[1] नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है, जिसके ज्ञान के लिये 'अनुपलब्धि' नामक प्रमाण की पृथक् से आवश्यकता हो।

(४९) सम्भवस्यानुमानेऽन्तर्भावः।

सम्भवस्तु, यथा—खार्यां द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगमः। स चानुमानमेव। खारीत्वं हि द्रोणाद्यविनाभूतं प्रतीतम् खार्यां द्रोणादिसत्त्वमवगमयति।

---

१. दृष्टस्तावदयं घटोऽत्र च पतन् दृष्टस्तथा मुद्गरो,
दृष्टा खर्परसंहतिः परिमितोऽभावो न दृष्टः परः।
तेनाऽभाव इति श्रुतिः क निहिता किं चात्र तत्कारणं
स्वाधीनां कलशस्य केवलमियं दृष्टा कपालावली॥

पौराणिक लोग 'संभव' प्रमाण मानते हैं। न्यायभाष्यकार ने 'संभव' का लक्षण किया है—"अविनाभाविनः अर्थस्य सत्ताग्रहणात् अन्यस्य सत्ताग्रहणं संभवः" (न्या. भा. २-२-१)। व्याप्य पदार्थ की सत्ता के ज्ञान से व्यापक की सत्ता का जो ज्ञान, उसे 'संभव' प्रमाण कहते हैं। जैसे 'खारी'[1] कहने पर द्रोण, आढक, प्रस्थ आदि परिमाणों का समावेश (अन्तर्भाव) हो ही जाता है। 'शतम्' कहने पर 'पंचाशत्' उक्त हो ही जाता है। दोनों जगह अर्थात् 'खारी' में 'द्रोण' का, 'शत' में 'पञ्चाशत्' का संभव रहता है। अतः 'संभव' भी एक पृथक् प्रमाण है। 'खारी' के ज्ञान से 'द्रोण' आदि का ज्ञान होना, 'संभव' प्रमाण का फल है। पौराणिकों के अभिमत उक्त 'संभव' प्रमाण का सांख्यसिद्धान्त के अनुसार 'अनुमान' प्रमाण में ही अन्तर्भाव है। अनुमान में उसके अन्तर्भाव का प्रकार बताते हैं—"खारीत्वं हि०" इति। जो अविनाभाव (व्याप्ति) के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करता है, उसे अनुमान कहते हैं—'यच्च अविनाभावबलेन अर्थप्रतिपादकं तत् अनुमानमेव' इति। अतः 'खारीत्व' द्रोणादि परिमाण का व्याप्य होकर ही प्रतीत होता है। तथा हि—'यत्र यत्र खारीत्वं तत्र तत्र द्रोणादि-घटितत्वम्' जहां जहां खारीत्व है वहां वहां द्रोणादि है ही—इस प्रकार द्रोणादि का व्याप्य बनकर प्रतीत होने वाला खारीत्व, द्रोणादि के होने को पता देता है। जैसे धूम, वह्निव्याप्य बनकर प्रतीत होता है और वह्नि की सत्ता का बोधन करता है। अतः 'संभव' प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है[2]।

(४९) संभव का अनुमान में अन्तर्भाव।

यच्चानिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमात्रम्—'इति होचुर्वृद्धाः,—इत्यैतिह्यम्, यथा 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' इति, न तत् प्रमाणान्तरम्, अनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात्। आप्तवक्तृकत्वनिश्चयेत्वागम एव। इत्युपपन्नम् "त्रिविधम्प्रमाणम्" इति ॥ ५ ॥

(५०) ऐतिह्यस्य प्रमाणत्वाभावः।

ऐतिहासिक लोग 'ऐतिह्य' संज्ञक प्रमाणान्तर मानते हैं, उसका खण्डन करने के लिये न्यायभाष्य में प्रतिपादित 'ऐतिह्य' के स्वरूप को बताते हैं "यच्च—अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमात्रम् 'इति होचुर्वृद्धा' इत्यैतिह्यम्''''''इति।" जैसे 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति'—इस वटवृक्ष पर यक्ष रहता है, यह कहनेवाला प्रथम वक्ता, जिसने वहां पर यक्ष देखा हो, उसका निर्देश जहां नहीं किया जा सकता। केवल वृद्ध लोग

(५०) ऐतिह्य तो कोई प्रमाण ही नहीं।

---

१. द्रोणचतुष्टयं खारी, चतुराढकश्च द्रोणः, चतुःप्रस्थं चाढकं, चत्वारः कुडवाश्च प्रस्थं, मुष्टिचतुष्टयं च कुडवः इति।

२. "इयं खारी द्रोणवती, तद्घटितत्वात्, यत् येन घटितं तत् तेन तद्वत्, यथा यववान् घटः" इति प्रयोगः। एवं 'शतवान्' इत्युक्ते 'पञ्चाशद्वान्' इति ज्ञानं संभवति, तस्यापि अनुमानेनैव निर्वाहः, शतस्य पञ्चाशद्व्याप्यत्वात् अत्रायं प्रयोगः—"शतं पञ्चाशद्वत् तद्घटितत्वात्, इति। यत्तु—'ब्राह्मणे विद्या संभवति; क्षत्रिये शौर्यं संभवति इत्यादि, तत्प्रमाणमेव न भवति, अनिश्चायकत्वात्। ततश्च व्याप्तिसापेक्षः संभवः अनुमाने एव अन्तर्भवति, तन्निरपेक्षस्तत् प्रमाणमेव नेतिविशेषम्॥ (सा० बो०)

ऐसा कहा करते हैं, इस प्रकार की प्रवादपरंपरा अर्थात् लोकप्रसिद्धि को 'ऐतिह्य' कहते हैं। पुरावृत्त के अर्थ में 'इति ह' यह निपातसमुदाय[1] है।

प्रवादपरंपरारूप ऐतिह्य में उच्चारयिता का निश्चय न होने से सन्देह बना रहता है। इसलिये 'ऐतिह्य' को प्रमाण के रूप में नहीं माना जाता। ऐतिह्यवाक्य के वक्ता में आप्तत्व का सन्देह होने से उस वाक्य के द्वारा होनेवाला ज्ञान भी संशय रूप ही होगा। अतः प्रमा (यथार्थ ज्ञान) जनक न होने के कारण उसे (ऐतिह्य को) प्रमाण नहीं माना जाता। यदि इस प्रवादरूप ऐतिह्य के वक्ता में आप्तत्व का निश्चय हो तो इसका 'आगम' प्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाता है। आगम के अतिरिक्त ऐतिह्य नामक कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु तीन ही प्रमाण हैं।

संसार के यच्च यावत् पदार्थों का अन्तर्भाव 'प्रमाता, प्रमाण प्रमेय, प्रमिति' इन चार तत्त्वों में ही होता है, इनके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। सांख्यसिद्धान्त में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहते हैं, और वह एक ही है। किन्तु पुरुष अनेक हैं। वे कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी और नित्यचैतन्यस्वभाव वाले होते हैं। वे अपरिणामी होने के कारण 'पङ्गु' हैं। और प्रकृति, जड होने के कारण 'अन्धी' है। प्रकृति को जब विषयभोगेच्छा और प्रकृति-पुरुष के भेद की दिदृक्षा होती है तब वह पुरुष के उपराग (सम्बन्ध) से परिणत (परिणाम को प्राप्त) होने लगती है। उसका सर्वप्रथम परिणाम बुद्धि (अन्तःकरण विशेष) है। इस बुद्धि को ही 'महत्तत्त्व' कहते हैं। वह दर्पण की तरह निर्मल होती है। और उसका बाह्यन्द्रियों के सहारे विषयाकार घट-पटात्मक जो परिणामविशेष होता है, उस परिणामविशेष के ज्ञान को ही 'वृत्ति' कहते हैं। बुद्धिस्थित वृत्त्यात्मक ज्ञान के साथ पुरुषचैतन्य का भेदाग्रह (भेद का अज्ञान) होने से 'अहं जानामि' इत्याकारक जो अभिमानविशेष होता है, उसे 'उपलब्धि' कहते हैं। चन्दन, पुष्प, वनिता आदि विषयों से सन्निकर्ष (सम्पर्क-सम्बन्ध) होने पर इन्द्रियोंके सहारे से बुद्धि का सुखदुःखादि के आकार का जो परिणामविशेष होता है, उसे 'प्रत्यय' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार, धर्म, अधर्मादि सब बुद्धि के ही परिणामविशेष हैं,' जो प्रकृति में सूक्ष्मरूप से वर्तमान (स्थित) रहते हैं, और भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में (अवस्था भेद से) आविर्भूत एवं तिरोभूत होते रहते हैं, और 'पुरुष' कमल पत्र की तरह इन सबसे निर्लिप्त रहता है, जिसका प्रतिबिम्ब बुद्धि में प्रतिफलित होता रहता है। किन्तु इन सब बातों पर प्रमाण के बिना किसी का विश्वास नहीं हो सकता। इसलिये प्रमाण का निरूपण करना आवश्यक था। क्योंकि किसी भी प्रमेय (पदार्थ) की सिद्धि (सत्ता) प्रमाण के आधार पर ही हुआ करती है। प्रथमतः प्रमाण के आधार पर पदार्थ की प्रमिति (ज्ञान) होती है, उसके पश्चात् प्रवृत्ति, उसके पश्चात् फलोपलब्धि आदि का क्रम[2] सर्वानुभवसिद्ध है। एवञ्च अन्यान्य दार्शनिकों के द्वारा स्वीकार किये गये प्रमाणान्तरों का अन्तर्भाव सांख्य के द्वारा सिद्धान्तित तीन प्रमाणों में ही हो जाता है। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम ये तीन ही प्रमाण उपपन्न होते हैं ॥ ५ ॥

---

१. 'इति ह' इति निपातसमुदायः पुरावृत्ते, तस्य भावः—ऐतिह्यम्—इति उपस्कारकाराः।
"पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमितिहाव्ययम्"—इत्यमरः।

२. "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्।" (न्या० भा०)

एवं तावद्व्यक्ताव्यक्तज्ञलक्षणप्रमेयसिद्ध्यर्थं प्रमाणानि लक्षितानि। तत्र व्यक्तं पृथिव्यादि स्वरूपतः पांसुलपादो हालिकोऽपि प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, पूर्ववता चानुमानेन धूमादिदर्शनाद् वह्न्यादीनि चेति, तद्व्युत्पादनाय मन्दप्रयोजनं शास्त्रम् इति दुरधिगममनेन व्युत्पाद्यम्। तत्र यत्प्रमाणं यत्र शक्तम् तदुक्तलक्षणेभ्यः प्रमाणेभ्यो निष्कृष्य दर्शयति—

(५१) प्रमाणानां शक्तिनिर्णयः।

अब षष्ठकारिका के अवतरणार्थ भूमिका का प्रारंभ करने के हेतु 'एवं तावदिति' ग्रन्थ का प्रारंभ कौमुदीकार कर रहे हैं—व्यक्त[1] अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार, मन, इन्द्रियां, तन्मात्राएं, और स्थूलभूत। अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति तथा 'ज्ञ' अर्थात् आत्मा—इन तीन तत्त्वों (प्रमेयों) की सिद्धि के लिये प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम) को लक्षित किया गया है। तत्र अर्थात् तीन प्रकार के प्रमेयों में 'व्यक्त' अर्थात् इन्द्रियां, स्थूल पृथिवी आदि को तो घट पटाकार से एक शास्त्रसंस्काररहित धूलिधूसरित पैरों वाला हालिक (हल जोतने वाला) मनुष्य भी प्रत्यक्ष के द्वारा जानता है। उसी प्रकार 'पूर्ववत्' अर्थात् पूर्ववत्संज्ञकदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयक अनुमान के द्वारा (जैसे धूम प्रत्यक्ष करने के अनन्तर व्याप्ति को याद कर) व्यवहित वह्नि आदि को भी जान लेता है। अतः स्थूल पृथ्वी आदि पदार्थों के बोधनार्थ यदि यह शास्त्र हो तो इस शास्त्र का बहुत ही स्वल्प प्रयोजन (उपयोग) समझा जायगा। इसलिये इस सांख्य शास्त्र के द्वारा ऐसा अतीन्द्रिय = स्थूलातिरिक्त सूक्ष्मतन्मात्रादि व्यक्त, अव्यक्त, चेतन आदि प्रमेय का बोधन किया जाना चाहिये, जो प्रमेय हलचलाने वाले जैसे शास्त्रसंस्काररहित मनुष्यों के द्वारा गम्य न हो। अतः सूक्ष्मतन्मात्रादिव्यक्त, अव्यक्त और चेतनादि प्रमेयों में से जिस प्रमेय को जो प्रमाण बोधन कर सके उस प्रमाण को उन प्रमाणों (जिनका लक्षण पहले बता चुके हैं) में से पृथक् कर षष्ठ कारिका के द्वारा दिखला रहे हैं—

(५१) प्रमाणों की शक्ति का निर्णय।

सामान्यतस्तु दृष्टात् अतीन्द्रियाणाम्प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्॥ ६॥

अन्वय॰—सामान्यतोदृष्टात् तु अनुमानात् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिः; तस्मादपि असिद्धं च परोक्षम् आप्तागमात् सिद्धम्।

भावार्थ—यहां सामान्यतोदृष्ट शब्द शेषवत् का भी उपलक्षक है। अतः सामान्यतोदृष्ट और शेषवत् नाम के अनुमान से प्रधान (प्रकृति), पुरुष (चेतन) आदि अतीन्द्रिय प्रमेयों (पदार्थों) की प्रतीति (ज्ञान) होती है[2] और उपर्युक्त उभयविध अनुमानों से भी जिस

---

१. "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तम्" (सां. का. १०).

२. शेषवता अनुमानेन स्थूलभूतत्वात्मकदृष्टकार्यलिङ्गकेन अतीन्द्रियाणामनुमितिर्भवति, यथा—स्थूलभूतानि, तन्मात्राकारणकानि, स्थूलभूतत्वात्, घटवत्।

अतीन्द्रिय पदार्थ की असिद्धि अर्थात् प्रतीति नहीं हो पाती उसकी प्रतीति आगम प्रमाण से होती है[1] ॥ ६ ॥

(५२) अतीन्द्रियाणां सामान्यतोदृष्टादनुमानात् प्रतीतिः

"सामान्यत" इति । 'तु' शब्दः प्रत्यक्षपूर्ववद्भ्यां विशिनष्टि । सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां प्रधानपुरुषादीनां प्रतीतिः चितिच्छायापत्तिर्बुद्धेरध्यवसाय इत्यर्थः। उपलक्षणं चैतत्, शेषवदित्यपि द्रष्टव्यम्।

(५२) अतीन्द्रिय-पदार्थों की सामान्य-तोदृष्टानुमान से प्रतीति होती है।

व्या०—"सामान्यतस्तु० इति । कारिकागत 'तु' पद का फल बताते हैं। 'तु' शब्द सामान्यतोदृष्टानुमान को 'प्रत्यक्षप्रमाण' और 'पूर्ववत्' नामक अनुमान से पृथक् करता है। प्रधानादिकों की प्रतीति न 'प्रत्यक्ष' से और न 'पूर्ववत्' अनुमान से ही होती है, बल्कि 'सामान्यतोदृष्टानुमान' से होती है[2]। सांख्यशास्त्र में 'बुद्धिवृत्ति' को ही प्रमाणशब्द से माना गया है। अतः उसी के अनुसार अनुमान की व्याख्या करते हैं—'सामान्यतोदृष्टानुमानात्' का अर्थ बताते हैं 'अध्यवसायात्' इति। क्योंकि लिंगज्ञानजन्यचित्तवृत्ति का नाम 'अनुमान प्रमाण' है। इस प्रमाण से प्रधान (मूलप्रकृति), पुरुष (चेतन), आदि शब्द से बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय आदि की प्रतीति होती है। 'प्रतीति' का अर्थ करते हैं 'चिच्छायापत्तिः' इति। बुद्धि में आत्मा की प्रतिबिम्ब पड़ने से बुद्धि की चेतन के साथ तादात्म्यापत्ति हो जाती है। जिससे बुद्धि का ज्ञानरूप व्यापार होता है। अतः बुद्धि के जड़ होने से वह ज्ञानरूप अध्यवसाय कैसे कर सकती है ? यह शंका नहीं की जा सकती।

शंका—"तन्मात्रेन्द्रियाणि अभिमानवद्द्रव्योपादानकानि, अभिमानकार्यद्रव्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा पुरुषः" इस प्रकार शेषवत्संज्ञक अनुमान से भी कतिपय अतीन्द्रियों की प्रतीति जब होती है, तब कैसे कहा जाता है कि समान्यतोदृष्टानुमान से अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रतीति होती है ?

एवं प्रत्यक्षकार्यत्वाल्लिङ्गेन इन्द्रियानुमानम्—यथा—रूपादिज्ञानानि सकरणकानि, प्रत्यक्षत्वे-सति कार्यत्वात्।

एवं प्रत्यक्षलिंगेन साधितान् पदार्थान् पक्षीकृत्य अहङ्कारादेः सिद्धिः सामान्यतोदृष्टानुमानेनभवति, यथा—तन्मात्रेन्द्रियाणि अभिमानवद्द्रव्यो—(अहंकारो) पादानकानि, अभिमानकार्यत्वे सति द्रव्यत्वात् इति, यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति, यथा पुरुषे। एवम्—अहंकारद्रव्यं निश्चयवृत्ति-मद्द्रव्यो-(बुद्धि) पादानकम् निश्चयकार्यत्वे सति द्रव्यत्वात्। एवम्-सुखदुःखमोहधर्मिणी बुद्धिः, सुखदुःखमोहात्मककारण—(प्रकृति) जन्या, सुखादिमत्कार्यत्वात्। एवं विवादास्पदं भोग्यं प्रकृत्यादिकं, परार्थम् (आत्मार्थम्) संहतत्वात्, शयनादिवत्। इति। (किर०)

१. यत्र न दृष्टं न चानुमानं तेषां सृष्टिक्रमस्वर्गब्रह्मधामादीनाम् आगमात् सिद्धिर्बोध्या (किर.)

२. "सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः"—(सां० सू० १, १०३)

समा०—'उपलक्षणं चैतत्०' इति। 'एतत्'=सामान्यतोदृष्ट पद को 'शेषवत्' का भी उपलक्षण समझना चाहिये। अर्थात् केवलव्यतिरेकिसंज्ञकपरिशेष (अवीत) अनुमान से भी कतिपय अतीन्द्रिय पदार्थों की प्रतीति होती है।

कारिका के उत्तरार्ध की लापनिका के लिये शंका करते हैं—

(५३) सामान्यतो दृष्टाद-नुमानादसिद्धानामाप्तागमात् सिद्धिः।

तत्किं सर्वेष्वतीन्द्रियेषु सामान्यतोदृष्टमेव प्रवर्तते ?। तथा च यत्र तन्नास्ति, महदाद्यारम्भक्रमे स्वर्गापूर्वदेवतादौ च, तत्र तेषामभावः प्राप्त इत्यत आह—"तस्मादपि" इति। तस्मादपीत्येतावतैव सिद्धे 'च' कारेण शेषवदित्यपि समुच्चितम्॥ ६॥

शंका—"तत्किमिति०"। तो क्या समस्त अतीन्द्रिय प्रमेय और उनकी व्यवस्था आदि का ज्ञान, सामान्यतोदृष्टानुमान से ही होता है ? यदि हाँ, कहते हैं तो उनसे पूछा जा सकता है—"तथा च०" इति। जहां महत्तत्त्व, अहंकार आदि सृष्टिक्रम, स्वर्गादिपरलोक, अपूर्वाख्यधर्माधर्म, इन्द्रादिदेव, यागादिकों में स्वर्गसाधनता, क्षीरसमुद्र जैसे अतीन्द्रिय-पदार्थों का ज्ञान, 'सामान्यतोदृष्टानुमान' या 'शेषवत्' अनुमान से तो नहीं हो पाता, तो क्या वह सब नहीं ही हैं ? तब इसके समाधानार्थ कहा गया है "तस्मादपि०" इति। तस्मात्='सामान्यतोदृष्टानुमान' से और कारिका में कहे गये "च" से 'शेषवत्' अनुमान के द्वारा भी जिन अतीन्द्रियपदार्थों का ज्ञान न हो सके उनका ज्ञान, आगम प्रमाण से होता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अगम्य परोक्ष का ज्ञान 'श्रुति'—प्रमाण से ही होता है॥ ६॥

(५३) सामान्यतोदृष्टानु-मान से सिद्ध न हो सकने वाले पदार्थों की आप्तागम से सिद्धि होती है।

(५४) प्रत्यक्षाभावात् प्रधानादीनामभावशङ्का।

स्यादेतत्, यथा गगनकुसुमकूर्मरोमशशविषाणादिषु प्रत्यक्षमप्रवर्तमानं तदभावमवगमयति, एवं प्रधानादिष्वपि। तत्कथं तेषां सामान्यतोदृष्टादिभ्यः सिद्धिरित्यत आह—

आकाशपुष्प, कूर्मरोम, शशविषाण और आदि शब्द से काकदन्त आदि पदार्थों के बोधनार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती अतः उपर्युक्त पदार्थों का अभाव (अविद्यमानता) ही निश्चित होता है।

शंका—अलीकप्रतियोगिक अभाव भी अलीक (मिथ्या) ही होता है। तब 'तदभावमवगमयति' यह ग्रन्थ कैसे उपपन्न होगा ?

समा०—लोकप्रसिद्ध कुसुम (पुष्प) पर गगनीयत्वाभाव, लोक-प्रसिद्ध रोम पर कूर्मीयत्वाभाव, विषाण पर शशीयत्वाभाव, दन्त पर काकीयत्वाभाव को बोधन कराया जाता है।

(५४) प्रधान आदि तत्वों का प्रत्यक्ष न होने से उनके अभाव की आशंका।

शंका—प्रकृत में इसी प्रकार प्रधान (प्रकृति), पुरुष (चेतन), महत्तत्त्व (बुद्धि) आदि के ज्ञान कराने में प्रत्यक्षात्मक इन्द्रिय की प्रवृत्ति न होने से प्रधान आदि पदार्थों के अभाव का ही समर्थन होगा। क्योंकि सभी पदार्थों की सत्ता, प्रत्यक्षप्रमाण से निरूपित ही हुआ करती है। अतः उपर्युक्त प्रमेयों (प्रधान, पुरुष, महत्तत्त्व आदि) का सत्त्व (सत्ता) प्रत्यक्ष प्रमाण से निरूपित न होने से 'असदेव प्रधानम्' अर्थात् प्रधान, पुरुष आदि पदार्थ हैं ही नहीं, यही समझना होगा। तब प्रधानादि प्रमेयों की सत्ता न होने के कारण

अप्रामाणिक अवस्तुभूत उन प्रमेयों का ज्ञान, सामान्यतोदृष्टअनुमान, एवं शेषवत्अनुमान और आगम से होता है—यह कैसे कहा जा रहा है ? क्योंकि अलीक (मिथ्या) वस्तु प्रमाण का विषय नहीं हुआ करती, इसी कारण उनके ज्ञान कराने के लिये अनुमान, आगम भी प्रवृत्त नहीं होते।

समा०—वस्तु के विद्यमान रहने पर भी (अस्तित्व-काल में भी) इन्द्रियों से उनका ज्ञान दोषवशात् नहीं हो पाता। एतावता उनकी असत्ता का निश्चय करना ठीक नहीं है। जिससे अनुमान, आगमादिप्रमाणों की अप्रवृत्ति की शङ्का की जारही है। ज्ञानप्रतिबन्धक दोषों के परिचयार्थ सप्तमकारिका अवतरित की जा रही है—

अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

अन्व०—अतिदूरात्, सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनवस्थानात्, सौक्ष्म्यात्, व्यवधानात्, अभिभवात् समानाभिहारात् 'च' कार से अनुद्भवात् (अनुपलब्धिः)।

भावार्थ—अत्यन्त दूरता से, अत्यन्त समीपता से, इन्द्रिय की विकलता से, मन की अनवधानता से, सूक्ष्मता से, व्यवधान रहने से, अभिभूत होने से, समानजातीय के संमिश्रण से, और अप्रकटता से विद्यमान होती हुई भी वस्तु की उपलब्धि नहीं हो पाती।

(५५) तन्निरासः, अतिदूरातिसामीप्येन्द्रियघातमनोऽनवस्थानसौक्ष्म्यव्यधानाभिभवसमानाभिहारेभ्यः प्रत्यक्षाभावः।

"अतिदूरात्" इति। अनुपलब्धिरिति वक्ष्यमाणं सिंहावलोकनन्यायेनानुषञ्जनीयम्। यथा उत्पतन् वियति पतत्त्री अतिदूरतया, सन्नपि प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते। सामीप्यादित्यत्राप्यतिरनुवर्तनीयः, यथा लोचनस्थमञ्जनमतिसामीप्यान्न दृश्यते। इन्द्रियघातोऽन्धत्वबधिरत्वादिः। "मनोऽनवस्थानात्", यथा कामाद्युपहतमनाः स्फीतालोकमध्यवर्तिनमिन्द्रियसन्निकृष्टमर्थं न पश्यति। "सौक्ष्म्यात्", यथेन्द्रियसन्निकृष्टम् परमाण्वादि प्रणिहितमना अपि न पश्यति। "व्यवधानात्", यथा कुड्यादिव्यवहितं राजदारादि न पश्यति। "अभिभवात्", यथाऽह्नि सौरीभिर्भाभिरभिभूतं ग्रहनक्षत्रमण्डलं न पश्यति। "समानाभिहारात्", यथा तोयदविमुक्तानुदबिन्दून् जलाशये न पश्यति॥

(५५) पूर्वोक्त शंका का निरास, अतिदूरत्वादि आठ कारणों से वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।

अग्रिम (८) वीं कारिका में स्थित 'अनुपलब्धि' पद को आगे कहे जानेवाले सिंहावलोकन न्याय[1] से इस कारिका की वाक्यपूर्ति के लिये जोड़ लेना चाहिये। अनुपलब्धि का अर्थ है 'अप्रत्यक्ष'। अतिदूरात्[2] का उदाहरण दे रहे हैं—"यथा उत्पतन्०" इति। जैसे—आकाश में बहुत ऊँचा उड़ता हुआ भी पक्षी अत्यन्त दूर होने से चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। यहां पक्षी का अत्यन्त ऊँचाई (अतिदूर) पर होना दोष है, इसी दोष के कारण होता हुआ भी पक्षी नहीं दीख पड़ता ! यह विषयगत दोष है।

---

१. जैसे जंगल में घूमता हुआ सिंह बीच-बीच में हिंसक के भय से पीछे आगे भी देखता चलता है वैसे ही उत्तर वाक्यगत पदों का अनुसंधान पूर्व वाक्य में भी किया जाता है।

२. अतिदूरत्वं च इन्द्रियसन्निकर्षाऽयोग्यत्वम्।

पूर्वपदस्थ 'अति' को 'सामीप्यात्' के साथ भी जोड़ना चाहिये। अतिसमीपता[1] के कारण भी विद्यमान वस्तु नहीं दिखलाई पड़ती। जैसे—नेत्रस्थित अंजन (आंख में लगाया हुआ काजल, सुर्मा) बहुत नजदीक होने के कारण नहीं दीखता। यह दोष भी विषयगत है। इन्द्रियघात से[2] = अन्ध, या बधिर होने से रूप को नहीं देख पाता और शब्द को नहीं सुन पाता। यह दोष, इन्द्रियगत है। मन के अनवस्थित होने से अर्थात् इतर-व्यासंग से इन्द्रिय-संयोग न होने के कारण या कामादिविकार से मन के दूषित होने के कारण सूर्य के प्रखर प्रकाश में स्थित और इन्द्रिय-संबद्ध घट-पटादि भी नहीं दिखाई पड़ते। यह मनोयोगाभावरूप दोष इन्द्रिय-गत है। सावधान चित्तवाला व्यक्ति परमाणुओं के इन्द्रियसन्निकृष्ट रहने पर भी सूक्ष्मता अर्थात् निरवयवद्रव्यता के कारण उनको नहीं देख पाता। दीवार-परदा आदि के व्यवधान[3] से राजस्त्रियां आदि नहीं दिखलाई पड़तीं। यह संबन्धगत दोष है। अभिभव[4] से भी—जैसे दिन में भी सूर्य की प्रभा से अभिभूत हुए ग्रह और नक्षत्रों के मण्डल नहीं दिखलाई पड़ते। यह विषयगत दोष है। समानाभिहार[5] से भी जैसे—मेघ से गिरे जलबिन्दु, जलाशय में गिरने पर नहीं दीखते। यह विषयगत दोष है।

(५६) अनुद्भवादपि प्रत्यक्षनिवृत्तिः।

'च' कारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेनानुद्भवोऽपि संगृहीतः। तद्यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्याद्यनुद्भवान्न पश्यति।

'समानाभिहारात्' पद में जोड़े गये 'च' से अनुक्त का भी संग्रह कर लेना चाहिये। अतः 'अनुद्भव'[6] से भी—जैसे दूध की दशा में दही नहीं दीखता। यह विषयगत दोष है।

(५६) अनुद्भव से भी प्रत्यक्ष की निवृत्ति।

शंका—आकाश पुष्प के न होने से वह नहीं दिखलाई पड़ता वैसे प्रधानादि पदार्थ न होने से ही नहीं दीखते यह क्यों न माना जाय? इस आशंका के समाधानार्थ 'एतदुक्तं भवति' ग्रन्थ से निष्कर्ष कहते हैं—

(५७) प्रत्यक्षनिवृत्ति-रेव नाभावस्य कारणम्। अपि तु योग्यप्रत्यक्ष-निवृत्तिः।

एतदुक्तं भवति। न प्रत्यक्षनिवृत्तिमात्राद्वस्त्वभावो भवति, अतिप्रसङ्गात्। तथा हि गृहाद्विनिर्गतो गृहजनमपश्यंस्तदभावं विनिश्चिनुयात्, न त्वेवम्। अपि तु योग्यप्रत्यक्षनिवृत्तेरयमभावं विनिश्चिनोति। न च प्रधानपुरुषादीनामस्ति प्रत्यक्षयोग्यता, इति न तन्निवृत्तिमात्रात्तदभावनिश्चयो युक्तः प्रामाणिकानाम् इति ॥ ७ ॥

---

१. अतिसामीप्यं च—इन्द्रियसन्निकर्षयोग्यत्वे सत्यपि इन्द्रियवृत्त्यविषयत्वम्।

२. इन्द्रियघातत्वं—स्वकारणतिरोभावत्वम्।

३. व्यवधानत्वं—इन्द्रियार्थसन्निकर्षविघटकत्वम्।

४. अभिभवत्वम्—स्वसजातीयोत्कटवस्त्वन्तर्गतत्वम्।

५. समानाभिहारत्वम्—स्वसजातीयवस्त्वन्तरमिश्रणत्वम्।

६. अनुद्भवत्वं—कारणावस्थात्मकत्वम्।

समा०—किसी वस्तु के प्रत्यक्ष न होने मात्र से ही यदि उस वस्तु का अभाव मान लिया जाय तो 'अतिप्रसंग' होगा। अर्थात् 'यस्मात् प्रत्यक्षनिवृत्तिः तत् असत्' ऐसी व्याप्ति (नियम) मान लें तो यह आपत्ति उपस्थित होगी—'तथाहीति०'। घर से बाहर गया हुआ आदमी घर में रहने वाले लोगों को नहीं देख पाता तो क्या वह उन्हें घर में नहीं हैं ऐसा समझ ले। ऐसा तो कभी भी कोई नहीं समझता। यहां—तदानीन्तन-प्रत्यक्षनिवृत्त्यात्मक हेतु' तो है किन्तु 'गृहान्तः-स्थजन' रूप पक्ष में 'असत्त्वात्मक' साध्य नहीं है। अतः हेतु और साध्य का सामानाधिकरण्य न होने से 'व्यभिचार' दोष हो गया। इसलिये 'योग्य-प्रत्यक्ष-निवृत्ति' को ही 'अभाव' का ग्राहक मानना चाहिये। योग्य प्रत्यक्ष-निवृत्ति का अर्थ है—योग्यताविशिष्ट प्रत्यक्ष-निवृत्ति। अर्थात् सावयवत्वादि सामग्री के समीप होने पर प्रत्यक्षयोग्य वस्तु का प्रत्यक्ष न हो पाना। योग्यता का स्वरूप—'यदि अत्र घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत' इस प्रकार की आपादनविषयता। प्रधान, पुरुषादिकों में 'यदि अत्र प्रधानं स्यात् तर्हि उपलभ्येत' इस प्रकार की आपादन-विषयतात्मक योग्यता के अप्रसिद्ध होने से योग्यताविशिष्ट प्रत्यक्ष-निवृत्ति भी अप्रसिद्ध है। अर्थात् प्रधानादि पदार्थ निरवयव होने से उनमें प्रत्यक्षयोग्यता नहीं है। अतः प्रधानादि पदार्थों के अभाव का निश्चय नहीं किया जाता, जिससे आकाशपुष्प की तरह प्रधानादि पदार्थों को मिथ्या कहा जाय। प्रधान पुरुष आदि पदार्थ, प्रत्यक्ष प्रमाण के योग्य नहीं है, अतः केवल प्रत्यक्ष के द्वारा उन्हें न देख पाने मात्र से प्रमाणकुशल विद्वान् प्रधानादि पदार्थों के अभाव का प्रतिपादन नहीं करते। थोड़े शब्दों में स्पष्ट उत्तर इस प्रकार दे सकते हैं—'यस्मात् प्रमाणसामान्यनिवृत्तिः तत् असत्'—जिससे समस्त प्रमाणों की निवृत्ति होती हो वह असत् है—इस नियम के अनुसार अनुमानादि प्रमाणसामान्य की निवृत्ति न हो पाने से प्रधानादि पदार्थ 'असत्' नहीं हैं। किन्तु 'सत्' हैं।

(५७) प्रत्यक्ष-निवृत्ति ही अभाव का कारण नहीं बल्कि योग्य प्रत्यक्ष-निवृत्ति।

कतमत्पुनरेतेषु कारणं प्रधानादीनामनुपलब्धावित्यत आह—

यदि प्रधानादि पदार्थ 'सत्' हैं तो उनके अप्रत्यक्ष में पूर्वोक्त आठ कारणों में से कौन सा कारण है? इसका उत्तर देते हैं :—

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात्, कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥ ८ ॥

अन्वय—तदनुपलब्धिः सौक्ष्म्यात्, न अभावात्, कार्यतः तदुपलब्धेः तच्च कार्यम्—प्रकृतिसरूपं विरूपं च महदादि (अस्ति) ॥

अर्थ—तेषां = प्रधान (प्रकृति), पुरुष आदि तत्त्वों की अनुपलब्धि = अप्रत्यक्ष, सौक्ष्म्यात् = सूक्ष्मता (निरवयवता) के कारण है। न तु अभावात् = उन तत्त्वों की असत्ता के कारण नहीं। उनकी सत्ता में प्रमाण बताते हैं—'कार्यतः' = महत्तत्त्व से लेकर पृथ्वी तक के कार्य से उन तत्त्वों की सत्ता का ज्ञान होता है। अर्थात् कार्यहेतुकमनुमान से प्रधान की सत्ता का ज्ञान होता है। वह महत्तत्त्वादि कार्य, प्रकृतिसजातीय और प्रकृति-विजातीय के भेद से दो प्रकार का है। सजातीयता और विजातीयता को १४-१५ वीं कारिका के द्वारा बतायेंगे ॥

"सौक्ष्म्यात्" इति । अथाभावादेव सप्तमरसवद्देतेषामनुपलब्धिः कस्मान्न भवतीत्यत आह—"नाभावात्" इति । कुतः ? "कार्यतस्तदुपलब्धेः" इति । 'तत्' इति प्रधानं परामृशति । पुरुषोपलब्धौ तु प्रमाणं वक्ष्यति "सङ्घातपरार्थत्वात्" (कारिका १७) इति । दृढतरप्रमाणावधारिते हि प्रत्यक्षमप्रवर्तमानमयोग्यत्वान्न प्रवर्तते इति कल्प्यते । सप्तमस्तु रसो न प्रमाणेनावधारित इति न तत्र प्रत्यक्षस्यायोग्यता शक्याऽध्यवसितुमित्यभिप्रायः ।

(५८) प्रधानानुपलब्धौ सौक्ष्म्यम् कारणम् ।

"सौक्ष्म्यात्" इति । प्रधानादि पदार्थों की अनुपलब्धि, सूक्ष्मता के कारण होती है—ऐसा कारिकाकार ने कहा उस पर शंका की जा रही है ।

(५८) प्रधान की अनुपलब्धि में कारण सूक्ष्मता है ।

शंका—"अथाऽभावादेवेति" । मधुर-अम्ल-लवण-कटु-कषाय-तिक्त-इन षड्विध रसों के अतिरिक्त सप्तम रस की सत्ता जैसे उसके न होने से (अभाव से) ही नहीं मानी जाती, इसी प्रकार प्रधान आदि पदार्थों के अभाव से ही उनका अप्रत्यक्ष क्यों न माना जाय ?

समाधान—सप्तम रस की तरह अभाव होने से प्रधानादि पदार्थों का अप्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता, वरिक सूक्ष्मता के कारण उनका अप्रत्यक्ष माना जाता है । ऐसा मानने में कारण बताते हैं —"कार्यतस्तदुपलब्धेः" इति महत्तत्त्वादिकार्यलिङ्गक अनुमान से प्रधान (प्रकृति) की सत्ता का ज्ञान हो जाता है । कारिका के 'तदुपलब्धेः' पद में घटकीभूत 'तत्' पद से 'प्रधान' ही समझना चाहिये 'पुरुष' नहीं, क्योंकि उससे कोई किसी प्रकार का कार्य पैदा नहीं होता । अतः वह किसी कार्य का कारण न होने से उसका ज्ञान कार्यलिङ्गक अनुमान से होना असंभव है । किन्तु अनुमान से 'प्रधान' की सत्ता का ही ज्ञान होता है । तथाहि—"सुख-दुःख-मोहात्मकमहत्तत्त्वादि पृथिव्यन्तं जगत्, सुख-दुःख-मोहात्मककारणकम् कारणतादात्म्यकार्यत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा आत्मा ।" पुरुष के अस्तित्व में अनुमान प्रमाण को 'संघातपरार्थत्वात्' (कारिका १७वीं) कारिका के द्वारा मूलकार बतावेंगे । कारिका के अभिप्राय को कौमुदीकार—'दृढतरप्रमाणावधारिते०' इति । ग्रन्थ से बताते हैं—प्रबल अनुमान प्रमाण से प्रधान आदि पदार्थों की सत्ता का निश्चय हो जाने पर पुनः प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी सत्ता का निश्चय कराने के लिये प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि प्रधानादिगत अयोग्यता '(यदि अत्र प्रधानं स्यात् तर्हि उपलभ्येत' इस प्रकार की आपादन-विषयता का अभाव) का निरसन तो अनुमान से ही हो चुका है । अर्थात् प्रधानादि पदार्थों के अस्तित्व का निश्चय तो अनुमानादि प्रमाणों से ही हो चुका है, परमाणु की तरह अत्यन्त सूक्ष्म होने से प्रधानादि पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता । सप्तम-रस के अस्तित्व में किसी प्रमाण के न होने से उसका (सप्तम रस का) अस्तित्व ही नहीं है, तब उसमें प्रत्यक्षायोग्यत्व की कल्पना कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि किसी पदार्थ के रहने पर ही उसके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष का विचार किया जाता है ।

किं पुनस्तत्कार्यं यतः प्रधानानुमानमित्यत आह—"महदादि तच्च कार्यम्" इति । एतच्च यथा गमकम् तथोपरिष्टादुपपादयिष्यते । तस्य च कार्यस्य विवेकज्ञानोपयोगिनी सारूप्यवैरूप्ये आह—"प्रकृतिसरूपं विरूपं च" इति । एते तूपरिष्टाद्विभजनीये इति ॥ ८ ॥

(५९) प्रधानास्तित्वसाधनकारणभूतमहदादिकार्यम् ।

अब कार्यान्यथानुपपत्त्या प्रधान के अस्तित्व को जो माना गया है उसी की ओर लक्ष्यकर पूछ रहे हैं—"किं पुनरिति०"। वह कौन सा कार्य है जिसके सहारे प्रधान के अस्तित्व का अनुमान किया गया है? उत्तर देते हैं—महत्तत्त्व, अहंकार आदि कार्य उसके (प्रधान के) हैं। यह महदादि (महत्तत्त्व आदि) कार्य किस प्रकार से प्रधान के गमक (अनुमापक) होते हैं, यह सब १४-१५ वीं कारिका की व्याख्या के समय बतावेंगे। "तस्य च कार्यस्येति"। उस महत्तत्त्वादिरूप कार्य का (प्रकृति से) साधर्म्य-वैधर्म्य (सारूप्य-वैरूप्य) १०-११ वीं कारिकाओं का व्याख्यान करते समय बताया जायगा[१]। इस साधर्म्य-वैधर्म्यज्ञान से प्रकृति-पुरुष की अन्यताख्याति (विवेकज्ञान) हो पाती है। यह प्रकृति-पुरुषान्यताख्याति ही तत्त्वज्ञान है। इसी से अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है॥ ८॥

(५९) प्रधान के अस्तित्व-साधन में कारणभूत महत्तत्त्वादि कार्य हैं।

कार्यात् कारणमात्रं गम्यते। सन्ति चात्र वादिनां विप्रतिपत्तयः। तथा हि केचिदाहुः, 'असतः सत् जायते' इति, 'एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सत्' इत्यपरे, अन्ये तु 'सतः असत् जायते' इति, 'सतः सत् जायते' इति वृद्धाः।

(६०) कार्यकारणसम्बन्धे वादिविप्रतिपत्तयः।

अन्यान्यवादियों की विप्रतिपत्तियों को बताते हुए सांख्यसिद्धान्त के 'सत्कार्यवाद' की स्थापना करने के हेतु नवम कारिका की अवतरणिका का आरंभ करते हैं—"कार्यात् कारणमात्रमिति"। कार्य को देखने पर 'अस्य किञ्चित्-कारणमस्ति' इसका कोई कारण अवश्य है—इस प्रकार सामान्यरूप से कारण की प्रतीति होती है। 'अस्य इदमेव कारणम्'—इसका यही कारण है इस प्रकार विशेष रूप से नहीं।

(६०) कार्य-कारण के संबंध में वादियों की विप्रतिपत्तियां।

निष्कर्ष यह है कि पृथिवी आदि कार्यों का परम्परया प्रधान (प्रकृति) ही कारण है—यह निश्चय नहीं हो पाता। सामान्यरूप से कारण का निश्चय होने पर "अजामेकाम्" श्रुति के सहारे विशेष रूप से प्रधान को यद्यपि कारण कहा जा सकता है, तथापि कारणविशेष के निर्धारण में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं—"सन्ति चात्रेति"। इसलिये इस समस्त कार्य का कारण 'प्रधान' ही है—यह नहीं कहा जा सकता। वे विप्रतिपत्तियां ये हैं—न्याय-दर्शन में बौद्धमत का अनुवाद करने वाले पूर्वपक्षसूत्र "अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्" के द्वारा 'अभावात् भावोत्पत्तिः' इस बौद्धसिद्धान्त को बताया है, जिसे कौमुदीकार 'तथाहि केचि-दाहुः'—'असतः सत् जायते' इति। इस ग्रन्थ से कह रहे हैं—'अभावात् भावो जायते' भावरूप कार्य का कारण 'अभाव' है। विनष्ट बीज से (बीज को फोड़कर) ही अंकुर पैदा होता है। दूध नष्ट होने पर (दूध की दुग्धता नष्ट होने पर) ही 'दही' बनता है। मृत्पिण्ड (मिट्टी का गोला) के नष्ट होने पर ही 'घट' बनता है। उपरिनिर्दिष्ट बीजादि सभी कारण जब अभावग्रस्त होते हैं

---

१. १०वीं कारिका से प्रकृति और उसके कार्यों में वैधर्म्य और ११वीं कारिका से उन दोनों में साधर्म्य बताया है।

तभी उनसे अङ्कुरादि कार्य होते दिखलाई पड़ते हैं। इससे [1]अनुमान कर सकते हैं कि—जितने भी कार्यरूप भावपदार्थ हैं सभी अभावरूप कारण से होते हैं, क्योंकि वे भी अंकुरादि कार्यों के तुल्य ही हैं। तात्पर्य यह है—कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षणवृत्ति पदार्थ को 'कारण' कहते हैं, अतः अंकुरादि कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में बीजादि पदार्थों का अभाव ही रहता है, बीजादि (साबूत बीज) तो नहीं, इसलिए 'अभाव' ही सभी कार्यों का कारण सिद्ध होता है, भावपदार्थ किसी कार्य का कारण नहीं। अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये प्रतिवादि-सम्मत भगवती श्रुति को सामने रखता है "एक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायते" यह श्रुति स्पष्टतयां बता रही है कि (कार्य की) उत्पत्ति से पूर्व कोई भी वस्तु (पदार्थ) नहीं थी। सब वस्तुओं का अभाव ही था। उसी अभाव से सृष्टि के समय सभी वस्तुओं की उत्पत्ति हुई। यदि भावपदार्थ से भावपदार्थ की उत्पत्ति होती तो कारण का उपमर्द कर कार्य कभी न होता, बीजनाश होने पर ही अंकुर की उत्पत्ति हुआ करती है। अतः बौद्धों का यह सिद्धान्त है—'असतः सत् उत्पद्यते'—असत् (अभाव) से सत् (भाव) की उत्पत्ति होती है।

सृष्टि के कारण का विचार करते हुए 'अपरे' अद्वैतवेदान्ती कहते हैं—'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' यह श्रुति कह रही है कि सृष्टि से पूर्व सत् = ब्रह्म ही था। वही अनिर्वचनीय-अनादि-अविद्योपाधि से नामरूपादिप्रपञ्च के आकार में परिणत होता है, जैसे—रज्जु सर्प के आकार में। इसी आशय को कौमुदीकार 'एकस्य सतः' इति-ग्रंथ से बताते हैं—'एक' अर्थात् अद्वितीय, 'सत्' = तीनों काल में जिसका बाध नहीं होता, उस ब्रह्म का विवर्त (अतात्त्विक अन्यथाभाव) यह कार्यजात कार्यसमूह (= सृष्टिरूपसमस्तकार्य) है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत्, अद्वितीय ब्रह्म का [2]विवर्त है। यह जगत् 'न वस्तुसत्' वास्तविकरूप से सत्य नहीं है। ऐसा मानने पर ही 'नेह नानास्ति किञ्चन,' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' 'एकेन विज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति' इत्यादि श्रुतियों की संगति भी लग जाती है।

अब 'नित्य-सूक्ष्म परमाणुओं से ही द्व्यणुकादिक्रम के द्वारा अनित्य जगत् की उत्पत्ति होती है'—इस सिद्धान्त को बतानेवाले न्यायवैशेषिकों का मत 'अन्ये तु' ग्रंथ से बताते हैं—'सतः असत् जायते' इति। नैयायिक और वैशेषिक कहते हैं—सतः = नित्यपरमाणु से, असत् = अनित्य द्व्यणुकादि होते हैं। जगत् की उत्पत्ति में नित्यपरमाणुओं को यदि कारण न माना जाय तो जगत् की उत्पत्ति को आकस्मिक कहना पड़ेगा। अब सांख्य का मत बताने के लिये कौमुदीकार लिखते हैं—'सतः सत् जायते' इति वृद्धाः' इति। 'सतः' = भावरूप नित्य प्रकृति से 'सत्' कारण में अनागत अवस्था से विद्यमान कार्य ही जायते = कारकव्यापार के द्वारा अभिव्यक्त होता है, यह कपिलमुनि आदि वृद्ध सांख्याचार्य कहते हैं। तात्पर्य यह है—सुख-दुःख-मोहात्मक कार्य को देख कर समझ में आता है कि उसका कारण भी अवश्य सुख-दुःख-मोहात्मक ही होगा, इसके विपरीत हो ही नहीं सकता। तब ऐसा कारण एकमात्र 'प्रधान' ही है, अन्य कोई नहीं।

---

१. सर्वे कार्यरूपा भावा अभावकारणकाः, कार्यत्वात् , बीजनाशोत्तरोत्पन्नाङ्कुरादिवत्।

२. विवर्त और परिणाम में भेद—

"सतात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः।
अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः॥"

अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः, स च अपरित्यक्तपूर्वरूपस्य रूपान्तरप्रकारकप्रतीतिविषयत्वम्। —यथा ब्रह्मणि समस्तस्य जगतो विवर्तः।

तत्र पूर्वस्मिन् कल्पत्रये प्रधानं न सिध्यति। सुखदुःखमोहभेदवत्स्वरूपपरिणामशब्दाद्यात्मकं हि जगत् कारणस्य प्रधानस्य प्रधानत्वं सत्त्वरजस्तमस्स्वभावत्वमवगमयति। यदि पुनरसतः सज्जायेत असन्निरुपाख्यं कारणं सुखादिरूपशब्दाद्यात्मकं कथं स्यात्, सदसतोस्तादात्म्यानुपपत्तेः? अथैकस्य सतो विवर्तः शब्दादिप्रपञ्चः, तथाऽपि सतः सज्जायत इति न स्यात्। न ह्यस्याद्वयस्य प्रपञ्चात्मकत्वम्, अपि त्वप्रपञ्चस्य प्रपञ्चात्मकतया प्रतीतिर्भ्रम एव। येषामपि कणभक्षाक्षचरणादीनां सत एव कारणादसतो जन्म तेषामपि सदसतोरेकत्वानुपपत्तेर्न कार्यात्मकं कारणमिति न तन्मते प्रधानसिद्धिः।

(६१) सत्कार्यपक्ष एव प्रधानास्तित्वसाधकः।

ऊपर बताये गये 'अभाव कारणवाद' (असतः सज्जायते), 'विवर्तवाद', (एकस्य सतो विवर्तः—कार्यजातं न वस्तुसत्), 'आरंभवाद' (सतोऽसज्जायते) और परिणाम वाद (सतः सज्जायते) चार वादों (मतों) में से परिणामवाद को छोड़ अवशिष्ट तीन मतों में तो जगत्कारण 'प्रधान' की सिद्धि नहीं हो पाती। अब कार्यलिङ्गक (कार्यहेतुक) अनुमान से प्रधान की सिद्धि का प्रकार 'सुख-दुःख-मोहभेद०' इत्यादि ग्रन्थ से कौमुदीकार बताते हैं "सुख-दुःख-मोहभेदवत्स्वरूपपरिणामशब्दाद्यात्मकम्०" इति। जिसमें सुख दुःख मोह रूप जो भेद = विशेष हैं, वह सुखदुःखमोहभेदवत् होता है, वह (सुख, दुःख, मोहभेदवत्) है स्वरूप जिनका वे सुखदुःखमोहभेदवत्स्वरूप हैं। इस प्रकार के जो परिणाम = कार्यविशेष अर्थात् शब्द-रूप आदि पञ्च तन्मात्रा, (पृथ्वी आदि में स्थूल और सूक्ष्म में सूक्ष्म) त एव आत्मा = वे ही हैं स्वरूप जिसका—वह सुखदुःखमोहभेदवत् स्वरूप परिणाम शब्दाद्यात्मक है, ऐसा जो कार्य = जगत्—वह अपने कारण=प्रधान की प्रधानता को बताता है। जगत्कारण की ऐसी प्रधानता (प्रधानत्व[1]) का अनुमान (उसके) कार्य से होता है। सांख्यातिरिक्त अन्य मतों में प्रधान की उपपत्ति नहीं बन पाती। 'प्रधानत्वम्' का विवरण करते हैं—'सत्त्वरजस्तमःस्वभावत्वम्' इति। अर्थात् सत्त्वरजस्तमःस्वरूपत्व (ता)। तात्पर्य यह है कि जगत् (कार्य) अपने कारण (प्रधान) की सत्त्वरजस्तमः स्वरूपता को बताता है[2]।

(६१) सत्कार्य पक्ष ही प्रधान के अस्तित्व का साधक है।

उपर्युक्त अनुमान से अवगत होने वाले त्रिगुणात्मक-सुख-दुःखमोहात्मक प्रधान की तथा कार्य-कारण के तादात्म्य की सिद्धि अन्य मतों में नहीं बन पाती। सांख्यमत में 'कार्य-कारण के तादात्म्य, से प्रधान की सिद्धि हो जाती है।

---

१. प्र = प्रकर्षेण वैषम्यावस्थापरिहारेण धीयन्ते = वर्तन्ते सत्त्वादिगुणा—यस्मिन् तत् प्रधानम्—तस्य भावः—प्रधानत्वम्।

२. 'सुखदुःखमोहभेदवत्स्वरूपपरिणामशब्दाद्यात्मकं जगत्, सुखदुःखमोहात्मककारणकम्, सुखदुःखमोहान्वितकार्यत्वात्', यथा मृदन्वितं घटादिकं मृत्कारणकं, तथा चेदं, तस्माच्चथा' ॥ यत् यदन्वितं तत् तादृगन्वितकारणपूर्वकम्। ये पदार्थाः येन रूपेण समन्वीयन्ते ते तदुपादानका उपलभ्यन्ते यथा—घट-कटकादयो मृत्सुवर्णान्वितास्तदुपादानकाः, तथा इमे पदार्थाः सुखदुःखमोहात्मनाऽन्वीयमाना उपलभ्यन्ते, तस्मात्तेऽपि सुखदुःखमोहात्मसामान्योपादानका भवितुमर्हन्ति, यादृशं च गुणत्रयात्मकत्वेन प्रधानमिति तदेव जगदुपादानं, नान्यत्।

बौद्धमत में ऊपर बताये गये सत्त्व-रजस्तमःस्वरूपवाले प्रधान की सिद्धि क्यों नहीं बन पाती ? उसे कौमुदीकार बताते हैं—"यदि पुनरसतः सज्जायेत" इति। अगर "असतः सज्जायते" इस सौगत (बौद्ध) मत को मान लिया जाय तो सत् = भाव और असत् = अभाव दोनों का तादात्म्य = अभेद असंभव होने से कहना होगा कि जगत् का कारण 'असत्' = अभावात्मक है, इसीलिये वह निरुपाख्य[1] = अनिर्वचनीय है, तब उसे कारण = (जगत् का) उपादानकारण कैसे कहा जा सकता है ?

असत्कारणवाद के मानने पर उस असत् रूप निरुपाख्य कारण की सुखदुःखमोहात्मकता कदापि नहीं बन सकती।

जैसे बौद्धमत में असत् कारण के साथ सत्कार्य का तादात्म्य नहीं वैसे ही अद्वैतवेदान्तियों के मत में भी सत्कारण के साथ भ्रम से साकार ज्ञात होने वाले असत् कार्य का तादात्म्य नहीं। अतः अद्वैतवेदान्तियों के मत से भी 'प्रधान' की सिद्धि नहीं हो पाती।

इसी अभिप्राय को कौमुदीकार "अथैकस्य०" इति ग्रन्थ से बता रहे हैं—एक सत् अर्थात् अद्वितीय त्रिकालाबाधित ब्रह्म का कार्य शब्दादिप्रपञ्च = नामरूपात्मक जगत् है। इनके मत में सत् = ब्रह्म के जगत् रूप कार्य को सत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसका बाध होता है। उसे असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसका अपरोक्षावभास = प्रत्यक्ष होता है। उसे सदसद्रूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि सत् और असत् में विरोध है। अतः चौथा प्रकार ही मिथ्यात्व है। इसलिये मिथ्याभूत कार्य का ब्रह्म के साथ कल्पित तादात्म्य मानने पर भी वास्तविक तादात्म्य के न होने से प्रधान की सिद्धि नहीं हो पाती। इसी बात को "तथापि०" ग्रन्थ से कौमुदीकार कह रहे हैं—कारण के सद्रूप रहने पर भी कार्य तो मिथ्या ही है। अतः 'सतः सज्जायते' यह सिद्धान्त नहीं किया जा सकता। इसलिये वेदान्तियों के मत में भी सत् और असत् का तादात्म्य असंभव होने से कार्यात्मक कारण सिद्ध नहीं है।

शंका—व्यासजी ने तो "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (वे. सू. २।१।१४) सूत्र के द्वारा – कारण से कार्य का अभेद बताया है। तब वेदान्तियों के मत में कार्यकारण का तादात्म्य नहीं है—कैसे कहा जाय ?

समा०—'न चास्य०' इति। इस अद्वितीय ब्रह्म का शब्दादि प्रपञ्चरूप से परिणत होना वेदान्तियों को अभिमत नहीं है, किन्तु "अशब्दमस्पर्शम्" (यजु० ४०।४) श्रुति के बल पर शब्दादि प्रपञ्चशून्य ब्रह्म का अविद्याकल्पित प्रपञ्चरूप से भासित होना केवल भ्रम है। उपरि-निर्दिष्ट व्याससूत्र के 'तदनन्यत्वम्' पद का अर्थ 'अभेद' नहीं है। बल्कि कारणभूत ब्रह्म से कार्य जगत् की पृथक् सत्ता नहीं है क्योंकि विकार केवल वाचारम्भण मात्र है, मृत्तिका ही सत्य है अर्थात् कारण ही सत्य है। जितना कार्यरूप विकार है वह अवस्तु है अर्थात् तत्त्वतः नहीं है, इसलिये वह मिथ्या है। इस प्रकार का मिथ्यात्व, ब्रह्म में नहीं है। तात्पर्य यह है कि विवर्तवाद के सहारे जगत् की पृथक् सत्ता स्वीकृत नहीं है। अतः इनके मत में कार्य-कारण का तादात्म्य नहीं है।

अब वैशेषिक तथा नैयायिकों के मत से भी प्रधान की सिद्धि नहीं बन पाती—इस आशय को "येषामपि०" ग्रन्थ से कौमुदीकार बता रहे हैं—

---

१. उपाख्या = 'इदं सत्' इति वर्णनं ततो निष्क्रान्तं = निरुपाख्यम् = 'सदिदम् एतादृश-मिति वक्तुमशक्यं, = क्वचिदपि सत्त्वेन प्रतीयमानत्वाभावभिकरणमिति यावत्।

वैशेषिक दर्शन के कर्ता कणाद[1] एवं न्यायदर्शन के कर्ता गोतम,[2] तथा आदि' पद से 'सत्' से 'असत्' की अर्थात् शब्दब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानने वाले वैयाकरण और 'नित्य परमाणु से अनित्य जगत् की उत्पत्ति मानने वाले के मत में भी ('सत एव कारणात् असतो जन्म'—सतः = ध्वंसाऽप्रतियोगी अर्थात् नित्य, परमाणु अथवा शब्द ब्रह्म से, असतः = द्व्यणुकादि—अनित्य जगत् की उत्पत्ति होती है—यह मत इन आचार्यों का है) 'सदसतोः एकत्वानुपपत्तेः' नित्य और अनित्य का तादात्म्य न होने से 'कारण' कभी भी कार्यात्मक अर्थात् कार्य से अभिन्न नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य के अविद्यमान होने से कारण का कार्य रूप कैसे कहा जा सकता है? इसलिये इनके मत में भी प्रधान की सिद्धि नहीं बनी।

(६२) सत्कार्यप्रतिपादनम्।

अतः प्रधानसिद्ध्यर्थं प्रथमं तावत्सत्कार्यं प्रतिजानीते—

प्रधान की सिद्धि यदि बन पाती है तो केवल सांख्य के मत में ही बन पाती है, क्योंकि सांख्य का सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। अतः सत्कार्यवाद के साधनार्थ कारिका का अवतरण दे रहे हैं—"अतः प्रधानसिद्ध्यर्थमिति०"। सत्कार्यवाद के अतिरिक्त अन्यान्यवादों में प्रधान की सिद्धि नहीं हो पाती, इसलिये प्रधान = मूलप्रकृति के साधनार्थ प्रथमतः 'सत्कार्यम्' अर्थात् 'कार्य' सत् है—ऐसी प्रतिज्ञा कारिकाकार कर रहे हैं।

(६२) सत्कार्य का प्रतिपादन।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥ ९ ॥

अन्वय—कार्यं सत्—(अत्र हेतवः प्रदर्श्यन्ते) असदकरणात्, उपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाऽभावात्, शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावात् च।

भावार्थ—कारण-व्यापार के पश्चात् जैसे कार्य सत् = विद्यमान रहता है वैसे ही कारण व्यापार के पूर्व भी कार्य 'सत्' रहता है, क्योंकि—

१—'असदकारणात्' यह प्रथम हेतु है, असतः अर्थात् शशशृंग की तरह पहले से ही अविद्यमान का 'अकरणात्' उत्पादन असंभव है, अतः 'कार्यं सत्' है यह प्रतिज्ञा की जाती है! व्यतिरेक व्याप्ति को ध्यान में रख कर इस हेतु का प्रयोग किया गया है। तथाच—'यद् असत् तत् अकरणम् = अनुत्पन्नम् यथा शशशृंगम्, यच्च उत्पद्यमानं तत् सत् यथा घटः'। निष्कर्ष यह कह

---

१. कणादः = कणभक्षः—कणम् अन्नकणं भक्षयतीति।

२. गोतमः = अक्षचरणः—अक्षं चक्षुः चरणे यस्य सः। गोतम के शिष्य व्यास ने "एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः" (वे० सू० २।१।१२) सूत्र से गोतम के मत को शिष्टाऽपरिगृहीत बताते हुए अनादृत किया, तब गोतम उन पर क्रुद्ध हुए और उन्होंने अपने चक्षु से व्यास के मुख को न देखने का संकल्प कर लिया, पश्चात् व्यास ने उन्हें किसी तरह मनाकर प्रसन्न कर लिया। तब शिष्यवत्सलता से द्रवित होकर अपने योग-प्रभाव से चरण में चक्षु पैदाकर उससे व्यास को देखा तब से गोतम का नाम अक्षपाद या अक्षचरण प्रसिद्ध हुआ।

सकते हैं कि कार्य के सत्त्व में हेतु 'उत्पद्यमानत्वात् = क्रियमाणत्वात्' है। अब हम अनुमान प्रयोग ऐसा कर सकते हैं—'कार्यं सत् क्रियमाणत्वात्' इति।

२—'कार्यं सत्'—उपादानग्रहणात् अर्थात् दध्यर्थी दधि के उपादान कारण क्षीर का ही ग्रहण करता है, अन्य वस्तु का नहीं। अतः उपादान के ही ग्रहण किये जाने से भी यह सिद्ध हो जाता है कि कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है। यहाँ पर उपादान ग्रहणात् यह हेतु नहीं, वल्कि कार्य के सत्त्व में प्रयोजक वाक्य है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'उपादानानि कारणव्यापारात् प्रागपि कार्यवन्ति, कार्यसम्बन्धानुयोगित्वात्। यो यत्सम्बन्धानुयोगी स तद्वान्' इति।

३—'कार्यं सत्'—सर्वसंभवाऽभावात् अर्थात् सभी कार्य सभी से संभव नहीं होते हैं किन्तु अपने अपने कारणों से सम्बन्धित कार्य ही तत्तत्कारणों से उत्पन्न होते हैं। और संबन्ध तभी होता है जब दोनों सत् हों, असत् का सम्बन्ध तो हो ही नहीं सकता, अतः 'कार्य सत् है' यह सिद्ध होता है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'कार्यं कारणेन संबद्धम् कारणे नियमेन अभिव्यज्यमानत्वात्' इति। कार्य-कारण सम्बन्ध के बोधनार्थ 'सर्वसंभवाभावात्' कहा गया है।

४—'कार्यं सत्' - शक्तस्य शक्यकरणात्—जिस कार्य के उत्पादन में जो कारण शक्त अर्थात् समर्थ हो वही कारण अपनी शक्ति से सम्बन्धित उसी कार्य को पैदा करता है। अपनी शक्ति से असम्बन्धित कार्य को नहीं।

यदि कार्य को असत् कहा जाय तो उसके साथ शक्ति का संबंध कैसे हो सकेगा? अतः 'कार्य सत्' है यह सिद्ध होता है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'कारणगता शक्तिः अनागतावस्थकार्यसम्बद्धा, विद्यमानसत्पदार्थविषयकत्वात्, ज्ञानवत्' इति। यही बताने के लिये 'शक्तस्य शक्यकरणात्' कहा गया है।

५—'कार्यं सत्'—कारणभावात् अर्थात् कार्य, कारणात्मक होते हैं। कारण से भिन्न = पृथक् कार्य नहीं। जब कि कारण सत् है तब उससे अभिन्न जो कार्य वह असत् कैसे हो सकता है? अतः कार्य सत् है यह सिद्ध होता है।

"असदकरणात्" इति। "सत् कार्यम्"—कारणव्यापारात् प्रागपीति शेषः। तथा च न सिद्धसाधनं नैयायिकतनयैरुद्भावनीयम्। यद्यपि बीजमृत्पिण्डादिप्रध्वंसानन्तरमङ्कुरघटाद्युत्पत्तिरुपलभ्यते, तथाऽपि न प्रध्वंसस्य कारणत्वम्, अपि तु भावस्यैव बीजाद्यवयवस्य। अभावात्तु भावोत्पत्तौ, तस्य सर्वत्र सुलभत्वात्, सर्वदा सर्वकार्योत्पादप्रसङ्ग इत्यादि न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः प्रतिपादितम्॥

(६३) बौद्धसिद्धान्तनिरासः।

"सत्कार्यमिति"। यहां 'कार्यम्' पक्ष है और 'सत्' अर्थात् 'सत्त्व' साध्य है। नैयायिकों का कहना है कि कारण व्यापार के पश्चात् कार्य सत् ही रहता है अर्थात् कार्य का सत्त्व तो सिद्ध है ही तब सांख्य के द्वारा कार्य में सत्त्व का साधन करना तो सिद्धसाधन ही कहलायगा। इसके उत्तर में कौमुदीकार कहते हैं—"कारणव्यापारात्प्रागपीति" मृत्तिका-दण्ड आदि कारणों के चक्रभ्रमणादिव्यापार के पूर्व भी कारण में कार्य का सत्त्व है अर्थात् कारणव्यापार के पश्चात् कार्य जैसे सत् है वैसे ही कारणव्यापार के पूर्व भी कारण में कार्य सत् है—इतना ही हम सांख्यों का कहना है। 'शेषः' का तात्पर्य यह है—'शिष्यते

(६३) बौद्ध-सिद्धान्त का निरसन।

इति शेषः' अर्थात् कारिका में "कारणव्यापारात् प्रागपि' इतना और कहना चाहिये था किन्तु स्थान की कमी के कारण नहीं कहा गया। अतः उसका अनुषंग कर लेना चाहिये। अतः नैयायिकों के तनयतुल्य शिष्यों को चाहिये कि वे हमारे सत्कार्य साधन पर 'सिद्धसाधन' दोष न दें। सिद्धसाधन का अर्थ है कि कारणव्यापार के अनन्तर कार्य में सत्त्व तो सिद्ध है ही, उसी सिद्ध का अनुमान से पुनः साधन करना यह 'सिद्धसाधन' दोष माना जाता है। इस दोष से पक्षता की हानि हो जाती है, क्योंकि 'पक्ष' उसे कहते हैं जो संदिग्धसाध्यवान् हो। पक्षता की हानि होने पर अनुमान प्रयोग ही नहीं किया जा सकेगा। हम तो उस 'सत्त्व' को सिद्ध करने जारहे हैं जो नैयायिकों के यहां सिद्ध नहीं है। नैयायिकों ने कारण-व्यापार के पूर्व कार्य का सत्त्व नहो माना है उस असिद्ध सत्त्व को हमें साध्य करना है। इस साध्य का कार्य में सन्देह ('कार्यं कारणव्यापारात् पूर्वं सत् अस्ति न वा') है ही अतः कार्य, सन्दिग्ध साध्यवान् बन जाने से उसके 'पक्ष' बनने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं है ? इसलिये 'पक्षताहानि' नहीं होती। जिससे 'सिद्धसाधन' दोष नहीं बन पाता।

अब सांख्यमत की निर्दुष्टता और अन्य मतों की दुष्टता का प्रदर्शन करने के लिये प्रथमतः बौद्धमत में अनास्था दिखा रहे हैं—"यद्यपीति"। यद्यपि बौद्धों का यह कथन है कि बीजध्वंस के पश्चात् ही अंकुर की उत्पत्ति होती देखने में आती है, उसी प्रकार मृत्तिका-पिण्डध्वंस के अनन्तर ही यह घट की उत्पत्ति होती है, तथापि पट के उत्पादन में अध्वस्त भावरूप तन्तु ही कारण हो पाते हैं, उसी प्रकार द्व्यणुक के प्रति अध्वस्तभावरूप परमाणु ही कारण हुआ करते हैं, इससे (सर्वत्र प्रध्वंस की उपलब्धि न होने से) यह नियम नहीं है कि कार्यमात्र में 'कारण-प्रध्वंस, ही कारण हो इसी आशय को कौमुदीकार "तथापीति।" ग्रन्थ से कह रहे हैं। अंकुरोत्पत्ति में भी भावरूप बीज के अवयव ही कारण हैं क्योंकि कार्याव्यवहित पूर्वक्षण में उनकी उपस्थिति है, बीजप्रध्वंस तो अन्यथासिद्ध है और ऐसा मानने में लाघव भी है। इसी अभिप्राय को "अपितु०" ग्रन्थ से कहा गया है। तात्पर्य यह है कि—मृत्सलिलसंयोगरूप (निमित्त) को पाकर स्थूल होने की क्रिया के द्वारा बीज के अवयव ही अपनी पूर्व आकृति (पूर्वव्यूह) का त्याग कर और दूसरी आकृति (व्यूहान्तर) को प्राप्त होते हैं तब उस दूसरी आकृति वाले बीजावयव से अंकुरोत्पत्ति होती है, बीजप्रध्वंस रूप अभाव से नहीं। अतः बीज ही अंकुर के उपादान कारण हैं और बीजप्रध्वंस, अंकुरोत्पत्ति में निमित्त कारण है। इसलिये 'भावात् भावोत्पत्तिः' यही मानना चाहिये, न कि 'अभावात् भावोत्पत्तिः'।

प्र०—'अभावात् भावोत्पत्तिः' मान लें तो क्या दोष है ?

उ०—अंकुरोत्पत्ति में यदि बीजाभाव को उपादान कारण मानते हैं तो वह अभाव मरुभूमि आदि सभी स्थलों में सुलभ है, तब मरुभूमि में भी शाल्यंकुरोत्पत्ति होनी चाहिये, आकाश में भी घटोत्पत्ति होनी चाहिये, किन्तु होती नहीं। इसी आशय को "नासतोऽदृष्टत्वात्" (वे० सू० २।२।२६) सूत्र पर भगवत्पूज्यपाद आचार्य शंकर ने अच्छी तरह स्पष्ट किया है। तथा श्री वाचस्पति मिश्र ने—"न हि अनन्वयविनष्टयोः शालियवबीजयोः कश्चिद् विशेषोऽस्ति येन एकस्माच्छाल्यङ्कुरो नान्यस्मात्"—इत्यादि ग्रन्थ से न्यायतात्पर्य टीका में भी (न्या० ता० टी० ४।१।१८) स्पष्ट किया है। निष्कर्ष यह है—कारण विनाश तो सर्वत्र एक-सा ही रहेगा तब क्या कारण है कि शालिबीज से ही शाल्यंकुर पैदा होता है, यवबीज से नहीं ? क्योंकि शालि-बीजविनाश भी यवबीजविनाश के समान ही है। अतः मानना होगा कि तत्तत्कारणों में भिन्न-भिन्न शक्ति विशेष हैं जिनसे भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं। वह विशिष्टशक्ति, भावपदार्थरूपकारण में ही रह सकती है, अर्थात् भावकारण का धर्म हो सकती है। अभावरूपकारण में नहीं। यदि

अभाव में विशिष्टशक्ति को माना जाय अर्थात् विशिष्ट शक्ति को अभाव का धर्म माना जाय तो, विशेषण के लग जाने से वह अभाव भी भाव कहलायगा, अर्थात् सोपाख्य कहलायगा, निरुपाख्य नहीं, लेकिन अभाव को तो निरुपाख्य कहा जाता है।

"अभावात् भावोत्पत्तिः" न मानने में दूसरा कारण यह भी है कि विनष्ट कारणों से कार्योत्पत्ति संभव नहीं। कार्योत्पत्ति के लिये कार्य के साथ कारण का अन्वय (संबंध) आवश्यक होता है। कारण के नष्ट होने पर उसका कार्य के साथ संबंध कैसे संभव होगा ? कार्य के साथ कारण का संबंध नहीं है— यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह तो प्रमाणसिद्ध है। इसलिये 'अभावात् भावोत्पत्तिः' यह बौद्धसिद्धान्त नितान्त अनुचित है।

(६४) वेदान्तमत-निरासः ; प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुम् इति ॥

बौद्धमत खण्डन के पश्चात् अद्वैतवेदान्तियों के मत का खण्डन करते हैं—"प्रपञ्चेति"।

(६४) वेदान्त मत का निरसन।

जब तक दृढतर बाधक प्रमाण न हो तब तक प्रत्यक्षरूप से अनुभव में आने वाले शब्दादिप्रपञ्च को 'अयं प्रपञ्चप्रत्ययः मिथ्या' इस प्रकार मिथ्या कहना संभव नहीं। जैसे नेत्रदोष के कारण होनेवाला जो शुक्ति में रजत प्रत्यय, वह दोषरहित इन्द्रियरूप प्रबल प्रमाण से बाधित होता है अर्थात् 'नेदं रजतम्' इत्याकारक उत्तरवर्ती विरोधिज्ञान से, पूर्ववर्ती ज्ञान नष्ट होता है, वैसे ही इस प्रतीयमान शब्दादिप्रपञ्च प्रत्यय का किसी प्रबल प्रमाण से बाध न होने के कारण उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता, अर्थात् 'शुक्तौ इदं रजतम्' यहाँ पर रजत के अधिकरण शुक्ति में स्थित रजताऽभाव का प्रतियोगी रजत है अर्थात् स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगी है इसलिये वह वहां मिथ्या कहा जाता है। यहां पर प्रपञ्चाधिकरण ब्रह्म में प्रपञ्च का अभाव न होने से प्रपञ्च में प्रतियोगिता नहीं, अपितु अप्रतियोगिता ही है। अतः प्रपञ्च-प्रत्यय को मिथ्या नहीं कहा जा सकता[१]। और "वाचाऽऽरंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इस श्रुति से कार्य की कारणात्मकता (कारणरूपता) ही बताई गई है, कार्य का मिथ्यात्व नहीं। ब्रह्मातिरिक्त समस्त जगत् को यदि मिथ्या कहा जाय तो जगत् के अन्तर्गत वेद को भी मिथ्या कहने का प्रसंग प्राप्त होगा। वेद के मिथ्या होने पर उससे प्रतिपादित ब्रह्म में भी मिथ्यात्त्व प्राप्त होगा, उसके मिथ्या होने पर वेदान्त सिद्धान्त में भी 'शून्यवाद' कहना पड़ेगा। इन सब आपत्तियों को टालने के लिये जगत्-मिथ्यात्व-प्रतिपादक श्रुतियों का तात्पर्य-'जगत् की अनित्यता'-बोधन करने में है—यह समझना चाहिये।

कणभक्षाक्षचरणमतमवशिष्यते। तत्रेदं प्रतिज्ञातम्, "सत् कार्यम्" इति। अत्र हेतुमाह "असदकरणात्" इति। असत् चेत् कारणव्यापारात् पूर्वं कार्यम्, नास्य सत्त्वं कर्तुं केनापि शक्यम्, नहि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते। 'सदसत्त्वे घटस्य धर्मौ' इति चेत्, तथाऽप्यसति धर्मिणि न तस्य धर्म इति सत्त्वं तदवस्थमेव। तथा च नासत्त्वम्, असम्बद्धेनातदात्मना

(६५) न्यायमतनिरासः। असतः करणायोग्यत्वात् सत् कार्यमिति प्रथमो हेतुः (१)।

१. "जगत्सत्यमदुष्टकारणजन्यत्वात्, बाधकाभावात्" (सां० सू० ६।५२)

चासत्त्वेन कथमसन् घटः ? तस्मात् कारणव्यापारादूर्ध्वमिव ततः प्रागपि सदेव कार्यमिति । कारणाच्चास्य सतोऽभिव्यक्तिरेवावशिष्यते । सतश्चाभिव्यक्तिरुपपन्ना, यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्यावघातेन धान्येषु तण्डुलानां दोहनेन सौरभेयीषु पयसः । असतः करणे तु न निदर्शनं किञ्चिदस्ति । न खल्वभिव्यज्यमानं चोत्पद्यमानं वा क्वचिदसद् दृष्टम् ॥

(६५) न्यायमत का निरसन असत् का उत्पादन न हो सकने से 'सत् कार्यम्' यह प्रथम हेतु है ।

इस प्रकार बौद्ध तथा वेदान्तियों के मत का खण्डन करने के पश्चात् अब न्याय-वैशेषिकों के मत का खण्डन कारिकाकार स्वयं करते हैं—"कणभक्षाऽक्षचरणमतमवशिष्यते, तत्रेदं प्रतिज्ञातमिति ।" कणभक्ष (कणाद) और अक्षचरण (गोतम) का मत है—'सतः असत् जायते' = सत् से असत् पैदा होता है[1] । इस मत का खण्डन करना अभी बाकी है, अतः न्यायवैशेषिकों के मत का निरसन करने के हेतु मूलकार ने प्रतिज्ञा[2] की है—"कार्यं सत्" । इस प्रतिज्ञा के सिध्यर्थ हेतु दे रहे हैं—'असदकरणात्' इति । अर्थात् 'कार्यं सत्, असदकरणात्' शश-विषाण के तुल्य असत् अर्थात् पहले से अविद्यमान का अकरणात् = उत्पादन असंभव होने से । व्यतिरेकव्याप्ति को अन्तर्भूत करके उक्त वाक्य का प्रयोग किया गया है । उससे यह समझ में आता है कि 'यत् असत्, तत् अकरणकम्, यथा शशशृङ्गम् ।' यच्च करणकम् = क्रियमाणम् = उत्पद्यमानं तत् सत्, यथा घटः । निष्कर्ष यह हुआ कि कार्य के सत्त्व में करणत्व उत्पद्यमानत्व = क्रियमाणत्व हेतु है, अतः—कार्यं, सत् करणात् = क्रियमाणत्वात्[3] ।

शंका—कार्यं सत् असदकरणात्[4]—इस प्रयोग में—'असदकरण' में पक्षधर्मता न होने से उसे हेतु कैसे कहा जा सकता है ?

समा०—उपर्युक्त शेषवत् अनुमान प्रयोग में व्यतिरेक व्याप्ति को लक्षित किया गया है : हेतु में व्यतिरेक व्याप्ति का भी उपयोग होता है । अतः असदकरणात् को हेतु कहने में कोई आपत्ति नहीं है । 'असदकरणात्' हेतु का उपपादन करते हैं—'असत् चेदिति' । कारण के व्यापार से पूर्व यदि कार्य असत् हो तो उस असत् कार्य को 'सत्' बनाने में किसी का भी सामर्थ्य नहीं हो सकता । 'यत् असत् तत् अकार्यम् (अकरणम्) यह व्यतिरेकव्याप्ति है और यत् करणं (कार्यं) तत् सत् यह अन्वयव्याप्ति है ।

तार्किक की शंका—कार्य की असत्ता, खरगोश के सींग के समान नहीं है, अपितु पाक होने के पूर्व घट में श्यामता और पाक के पश्चात् घट में रक्तता के तुल्य सत्त्व और असत्त्व दोनों विकार (कार्य) मात्र के धर्म हैं, अन्यथा 'सन् घटः, असन् घटः' यह व्यवहार उपपन्न नहीं

---

१. कारण के व्यापार से पूर्व कार्य की सत्ता को नहीं मानते ।

२. साध्यविशिष्टपक्षबोधकवाक्य ।

३. अथवा—'कार्यम्, स्वोपादान-निष्ठतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाऽप्रतियोगि, तादात्म्येन कारणे अभिव्यज्यमानत्वात् ।

४. क्रियते तत् करणं, न करणम् अकरणम्, असत् च तत् अकरणं च तस्मात् ।

हो सकेगा। सत्त्व एवं असत्त्व धर्मों की उत्पत्ति अपने कारणाधीन होने से ये धर्म कदाचित् ही होते हैं, सदैव नहीं। जैसे घट में पाक से पूर्व श्यामता और पाक के अनन्तर रक्तता, वैसे ही उत्पत्ति के पूर्व घट का 'असत्त्व' धर्म, पश्चात् उसका 'सत्त्व' धर्म होता है। यह हमारा अभिप्राय है।

समाधान—"तथापि" इति। घट के धर्मरूप में सत्त्व और असत्त्व को स्वीकार करने पर भी यह भूलना नहीं होगा कि धर्मी के धर्म की स्थिति बन नहीं सकती अतः धर्मी (कार्य) का सत्त्व तो उत्पत्ति के पूर्व अनायास ही प्राप्त हो जाता है, 'अतः 'सत्त्वं तदवस्थमेव' = उत्पत्ति के पूर्व भी घट (कार्य) का सत्त्व स्वीकार करना होगा। इससे यह स्पष्ट हुआ कि घट की उत्पत्ति के पूर्व भी घट का असत्त्व नहीं है। यह जो कहा गया है कि 'असन् घटः', घटस्य उत्पत्तेः प्राक् असत्त्वं धर्मः'—उत्पत्ति के पूर्व घटका असत्त्व धर्म है—वह तुम्हारे ही मत में ठीक नहीं बन पाता—असंबद्धे नेति। क्योंकि तुम्हारे न्यायसिद्धान्त में धर्म और धर्मी का भेद होने से तथा समवाय आदि सम्बन्ध से सम्बद्ध हुए धर्म के साथ धर्मी का आश्रयाश्रयिभाव उपपन्न होता है। तब धर्मी से सम्बन्ध प्राप्त न किये हुए—'असत्त्व' रूप धर्म से असम्बद्ध घटरूप धर्मी के साथ अर्थात् असत्त्व रूप धर्म को लेकर 'असन् घटः'—असत्त्वरूपधर्माश्रयो घटः इत्याकारक—आश्रयाश्रयिभाव-का कथन कैसे उपपन्न हो सकता है? क्योंकि धर्म के रहने पर ही धर्मी उसका आश्रय हो पाता है, अन्यथा नहीं। जैसे—'नीलं कमलम्' का अर्थ होता है—'नीलगुणरूपधर्माश्रयः कमलम्।' उसी तरह 'असन् घटः' का भी अर्थ करना होगा—'असत्त्वरूपधर्माश्रयो घटः'-किन्तु यह नहीं कह सकते। क्योंकि कमल के साथ जैसे नील का सम्बन्ध है, वैसे असत् (अविद्यमान) घट के साथ असत्त्वरूप धर्म का सम्बन्ध नहीं है। अतः नैयायिकों के मतानुसार भी 'असन् घटः' प्रयोग नहीं बन सका उसी प्रकार सांख्यमतानुसार भी 'असन् घटः' प्रयोग नहीं बन सकेगा "अतदात्मना चेति"। अतदात्मना—अतत्स्वरूपेण-अर्थात् धर्मिस्वरूप से अविद्यमान 'असत्त्व' धर्म के कारण 'असन् घटः' प्रयोग कैसे किया जा सकेगा? क्योंकि धर्मी रूप में विद्यमान धर्म के होने पर ही, उसका (धर्म का) आश्रय धर्मी कहलाता है। अभिप्राय यह है—"नीलं कमलम्" का अर्थ 'कमलस्वरूपं नीलम्' है, वैसे ही "असन् घटः" का भी अर्थ 'घटरूपम् असत्' कहना होगा, किन्तु नहीं कह सकेंगे क्योंकि कमल के साथ नील के जैसा असत् (अविद्यमान) घट के साथ 'असत्त्व' धर्म का सम्बन्ध नहीं है। एवंच—धर्मी से सम्बद्ध अथवा धर्मी रूप से विद्यमान धर्म के द्वारा ही धर्मी, उस धर्म का आश्रय बनता है यह नियम है। अतः असम्बद्ध या अतद्रूप 'असत्त्व' धर्म के द्वारा, धर्मी, उसका (धर्म का) आश्रय नहीं बना। यहां कौमुदीकार ने "असंबद्धेनाऽसत्त्वेन" को तार्किक मत के अभिप्राय से और "अतदात्मना चासत्त्वेन" को सांख्यमत के अभिप्राय से कहा है। 'नीलं कमलम्' में तार्किकों के सिद्धान्तानुसार गुणीरूप धर्मी (कमल) में समवाय संबंध से संबद्ध नीलगुणरूप धर्म के होने से आश्रयाश्रयिभाव की प्रतीति होती है। और सांख्य के सिद्धान्तानुसार धर्म और धर्मी का अभेद होने से धर्मीस्वरूप ही धर्म है इस कारण उस (आश्रयाश्रयिभाव) की प्रतीति होती है। इस ऊहापोह से निकला निष्कर्ष बता रहे हैं—'तस्मादिति'। कारण-व्यापार के पश्चात् कार्य जैसे सत् है वैसे ही कारणव्यापार से पूर्व भी वह सत् है, कारण में विद्यमान कार्य की अभिव्यक्ति ही कारण से होती है। जब तक कारण कुछ व्यापार न करे तब तक कार्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, कारण व्यापार से ही कार्य की अभिव्यक्ति होती है।

शंका—असत् कार्य की ही कारण व्यापार से अभिव्यक्ति क्यों न मानी जाय?

समा०—अभिव्यक्ति तो पहले से विद्यमान रहनेवाले वस्तु की ही हुआ करती हैं, असत् की नहीं ; जैसे तिलों में विद्यमान तेल की ही अभिव्यक्ति तिलों के रगड़ने पर होती है। धान्यों में विद्यमान तण्डुलों की ही अभिव्यक्ति धान्यों के कूटने पर होती है। गौओं में विद्यमान दूध की ही अभिव्यक्ति गौओं के दोहने पर होती है। असत् वस्तु की अभिव्यक्ति होने में कोई दृष्टान्त नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हैं—"न खल्विति"। जो वस्तु असत् हैं उसे अभिव्यक्त होते हुए अथवा नैयायिक के मत से उत्पन्न होते हुए कहीं भी नहीं देखा गया है। अर्थात् असत् की न अभिव्यक्ति और न उत्पत्ति ही होती है। उसी बात को सूत्रकार कहते हैं—"नासदुत्पादो नभृङ्गवत्"। जैसे—असत् शशशृङ्ग की उत्पत्ति किसी प्रकार से भी नहीं होती वैसे ही असत् कार्य की उत्पत्ति भी किसी कारक व्यापार से नहीं हो सकती अतः नैयायिकों का असत् कार्यवाद (सतः असदुत्पत्तिः) ठीक नहीं है इस बात को 'असदकरणात्' हेतु के द्वारा बताया गया।

(६६) कार्यकारण-सम्बन्धाच्च सत्कार्यमिति द्वितीयो हेतुः (२)।

इतश्च कारणव्यापारात् प्राक् सदेव कार्यम्—"उपादानग्रहणात्"। उपादानानि कारणानि, तेषां ग्रहणं, कार्येण सम्बन्धः। उपादानैः कार्यस्य सम्बन्धादिति यावत्। एतदुक्तं भवति—कार्येण सम्बद्धं कारणम् कार्यस्य जनकम्, सम्बन्धश्च कार्यस्यासतो न सम्भवति, तस्मादिति।

(६६) कार्यकारण सम्बन्ध से भी कार्य सत् है—यह द्वितीय हेतु (२)।

कारण-व्यापार के पूर्व भी कार्य की सत्ता में दूसरा हेतु "उपादानग्रहणात्" बताते हैं—'इतश्च०' इति। 'उपादान' का अर्थ कारण है, उन कारणों का ग्रहण = कार्य के साथ सम्बन्ध। 'उपादानैः कार्यस्य सम्बन्धात् इति यावत्'—इस ग्रन्थ से यह अनुमान करते हैं—"कार्यम् उपादाने सत्, उपादानेन सह सम्बद्धत्वात्, यद् यस्मिन् उपादाने न सत्, न तत् तेन सम्बद्धम्, यथा मृत्तिकया पटादिकम्।" जो जिस उपादान कारण में सत् (विद्यमान) नहीं होता, वह उससे सम्बद्ध नहीं रहता, जैसे मिट्टी से पटादि। अतः कहना होगा कि कार्य अपने उपादान कारण में सत् = विद्यमान रहता है क्योंकि वह उपादान कारण से सम्बद्ध रहता है। इस अनुमान में दिये गये 'उपादानसम्बद्धत्वात्' हेतु की निर्दुष्टता को बताते हैं—'एतदुक्तम्०'-इति। "कार्येण सम्बद्धमेव कारणं कार्यजनकम्"—कार्य से सम्बद्ध कारण ही कार्य का उत्पादक होता है—यह कहने से इस अनुमान को प्रदर्शित किया जाता है—"उत्पत्तेः प्राक् कार्यम् उपादानसम्बद्धम्, तज्जन्यत्वात्, यच्च न उपादानसंबद्धम्, न तत् तज्जन्यम्, यथा मृदः पटादिकम्" उत्पत्ति के पूर्व कार्य, अपने उपादान से सम्बद्ध रहता है, क्योंकि वह (कार्य) अपने जनक उपादान से जन्य है। जो (कार्य) अपने उपादान से सम्बद्ध नहीं रहता, वह उससे जन्य भी नहीं होता, जैसे मिट्टी से पट आदि। तात्पर्य यह है—'मृदादयः स्वसम्बद्धकार्यजनकाः, उपादानकारणत्वात्'—मृत् = मिट्टी अपने से सम्बद्ध कार्य का जनक = उत्पादक है, क्योंकि वह उपादान कारण है। यदि असत् होता तो उससे कारण कैसे सम्बद्ध हो पाता ? खरगोश के सींग (असत्) से किसी सत् पदार्थ का संयोग या समवाय सम्बन्ध हुआ कभी किसी ने न देखा और न सुना ही है।

स्यादेतत्-असम्बद्धमेव कार्यं कारणैः कस्मान्न जन्यते ? तथा चासदेवोत्पत्स्यत इत्यत आह—"सर्वसम्भवाभावात्" इति। असम्बद्धस्य जन्यत्वे, असम्बद्धत्वाविशेषेण सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद्भवेत्। न चैतदस्ति, तस्मान्नासम्बद्धमसम्बद्धेन जन्यते, अपि तु सम्बद्धं सम्बद्धेन जन्यत इति। यथाहुः सांख्यवृद्धाः—

(६७) कार्यकारणयोर्नियतसम्बन्धाभावे सर्वकार्यकारणभावविप्लवापत्तिः। (३)

"असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः" इति॥

इस पर यदि कोई यह कहे कि कारण से कोई सम्बन्ध न रखकर ही कार्य पैदा होता है, ऐसा मानने में क्या बाधक है? अर्थात् कोई बाधक नहीं है। एवञ्च कोई बाधक न होने से, यह बात कह सकते हैं कि उपादान कारण से संबंध न रखनेपर भी असत्कार्य की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है, अतः कार्य असत् ही है—इस आशंका का निराकरण करने के लिये कहते हैं 'सर्वसंभवाऽभावात्' इति। सर्वस्मिन् यः- संभवः = तदभावात् अर्थात् कपालादिकारणों के अतिरिक्त जिस किसी में भी घटादिकार्य का होना असंभव है। तात्पर्य यह है कि असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अतः यह अनुमान किया जाता है—'कार्यञ्च, कारणेन सम्बद्धं कारणे नियमेन अभिव्यज्यमानत्वात्।' अथवा 'कारणानि, कार्यसम्बद्धानि, स्वसम्बद्धकार्यवत्त्वात्' इति। कारिका के 'सर्वसंभवाऽभावात्' पद की व्याख्या स्वयं कौमुदीकार कर रहे हैं—'असम्बद्धस्य०' इति। कारण से असम्बन्धित कार्य की उत्पत्ति = आविर्भावस्थिति स्वीकार करने पर तो घट, पटादि सभी कार्यों की असम्बद्धता तो तुल्य ही है, तब जो जिसका कार्य नहीं है वह भी, जिस किसी से होने लगेगा। किन्तु ऐसा कहीं भी दिखाई नहीं देता। अतः यही स्वीकार करना उचित होगा कि अपने अपने नियत कारण से अर्थात् संबद्ध कारण से ही नियत कार्य—सम्बद्ध कार्य—आविर्भूत होते हैं। इस सिद्धान्त के स्वीकार करने में वृद्ध-सम्मति प्रदर्शित करते हैं—'यथाहुः सांख्यवृद्धाः' इति। कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व यदि सत्-विद्यमान—न हो तो उसका सत्त्वधर्मावच्छिन्न–सत्त्वधर्माश्रयभूत–कारण के साथ तादात्म्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। कारण के साथ सम्बन्ध न रखकर कार्य की उत्पत्ति मानने वाले के मत में दो कपालों से ही घट, तन्तुओं से ही पट या दूध से ही दही के होने की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। बल्कि सर्वस्मात् सर्वोत्पत्तिः = सब किसी से सभी किसी की उत्पत्ति होने लगेगी—यह अव्यवस्था असत्कार्यवादी–नैयायिक के मत में होती है। इसी अभिप्राय को सूत्रकार ने दो सूत्रों के द्वारा अभिव्यक्त किया है—"उपादाननियमात्", और "सर्वत्र सर्वदा सर्वासंभवात्" इति। अतः सांख्य का यह अपना सिद्धान्त है कि—"कारणसम्बद्धमेव कार्यं, कार्यसम्बद्धेन कारणेन जन्यते, न तु असम्बद्धमसम्बद्धेन, अन्यथा अव्यवस्था।"

(६७) कार्यकारण का नियत सम्बन्ध न मानने पर समस्त कार्य कारणभाव में विप्लव हो जायगा।

स्यादेतत्-असम्बद्धमपि सत् तदेव करोति यत्र यत् कारणं शक्तम्।

(६८) कारणशक्तेः कार्यपरत्वाच्च सत्कार्यम् (३)।

शक्तिश्च कार्यदर्शनादवगम्यते। तेन नाव्यवस्थेत्यत आह—"शक्तस्य शक्यकरणात्" इति। सा शक्तिः शक्तकारणाश्रया सर्वत्र वा स्यात्, शक्ये एव वा? सर्वत्र चेत्तदवस्थैवाव्यवस्था, शक्ये चेत्, कथमसति शक्ये तत्र? इति वक्तव्यम्। शक्तिभेद एव एतादृशो यतः किञ्चिदेव कार्यं जनयेत् न सर्वमिति चेत्, हन्त भोः! शक्तिविशेषः कार्यसम्बद्धो वाऽसम्बद्धो वा? सम्बद्धत्वे नासता सम्बन्धः इति सत् कार्यम्। असम्बद्धत्वे सैवाव्यवस्था, इति सुष्ठूक्तं "शक्तस्य शक्यकरणात्" इति।

किन्तु नैयायिक (असत्कार्यवादी) उक्त सांख्य-सिद्धान्त पर पुनः आक्षेप करता है—"स्यादेतदिति"।

(६८) कारण की शक्ति कार्यपरक होने से भी कार्य सत् है (३)।

कार्य से असम्बद्ध रहता हुआ भी सत् कारण उसी कार्य को कर सकता है, जिस कार्य में जो कारण शक्तियुक्त हो अर्थात् सभी कारण सभी कार्यों के पैदा करने में समर्थ नहीं होते। एवं च "मृद एव घटः" "कनकादेव कटकम्" = मिट्टी से ही घड़ा सुवर्ण से ही कङ्कण होने की व्यवस्था असत्कार्यवाद में भी संघटित हो पाती है, क्योंकि मिट्टी में ही घट के उत्पादन की शक्ति है। मिट्टी में घटोत्पादन की शक्ति होने में क्या प्रमाण है? उत्तर देते हैं—"शक्तिश्चेति।" मृद एव घटः—कनकादेव कटकम् इस प्रकार प्रतिनियत-कार्योत्पत्तिरूप अन्यथानुपपत्ति ज्ञान से कारणनिष्ठ शक्ति का अनुमान किया जाता है। अनुमान का प्रयोग—"अग्नौ दाहानुकूला शक्तिः अस्ति, दाहरूपकार्यजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवम्" इति। अथवा—"कपालं घटोत्पादनशक्तिमत् घटजनकत्वात्" इति। कार्यनियामक किसी अतिशय विशेष अथवा सामर्थ्यविशेष को शक्ति कहते हैं।

एवं च शक्तिमान् कारण को ही कार्यजनक मानने से अव्यवस्था नहीं होगी अर्थात् सर्वस्मात् सर्वोत्पत्ति रूप असंबद्धता (अव्यवस्था) नहीं होगी। इस प्रकार तार्किक के कहने पर उसके खण्डनार्थ कारिकाकार कहते हैं—"शक्तस्य शक्यकरणात्" इति। जिस कार्य में जो कारण शक्त (समर्थ) होता है उस शक्त कारण का वही करण (कार्य) होता है, दूसरा नहीं। असत्कार्य में शक्ति के न होने से कार्य सत् है। अतः सत्कार्यवादी सांख्य अनुमान करता है—'कारणगता शक्तिः, अनागतावस्थकार्यसम्बद्धा, 'विद्यमानसत्पदार्थविषयकत्वात्, ज्ञानवत्' इति। अब 'शक्तस्य शक्यकरणात्'—इस हेतु से कार्य के सत्त्व (सत्ता) को सुदृढ बनाने के लिये शक्ति में विकल्प प्रयोग करते हैं, कौमुदीकार—'सा शक्तिः'[1] इत्यादि ग्रन्थ से। कार्य-जनन की शक्ति रखने वाले कारण में विद्यमान जो शक्ति है, क्या वह सर्वकार्यविषयक अर्थात् सर्वकार्यनिरूपित है? "सर्वत्र" में सप्तमी का अर्थ विषयत्व है। अथवा जो उत्पादन के शक्य (कार्य) हैं तद्विषयक अर्थात् तन्निरूपित ही हैं? सर्वकार्यनिरूपितपक्ष को यदि स्वीकार करें तो 'सर्वं सर्वस्मात् संभवेत्'—यह अव्यवस्था दूर न हो सकेगी। अर्थात् कनक में सर्वकार्यविषयक

१. "शक्तिश्च शक्तिमत्सम्बन्धरूपा संयोगवदुभयत्र, या शक्याभावे न संभवतीति शक्यभावोऽभ्युपेयः" इति न्यायकणिका।

या सर्वकार्यनिरूपित शक्ति का स्वीकार किया जाय तो कनक से घट-पट आदि की भी उत्पत्ति होने लगेगी, तब मृद एव घटः, कनकादेव कटकम्—यह व्यवस्था नहीं बन पायेगी। अब दूसरा पक्ष—शक्यविषयक अथवा शक्यनिरूपित शक्ति के पक्ष का स्वीकार करें तो असत् अर्थात् अविद्यमान कार्यविषयक या तन्निरूपित शक्ति कैसे कही जा सकेगी ? क्योंकि जो शक्य (कार्य) विद्यमान (सत्) ही नहीं, वह विषय कैसे बनेगा ? उसे न विषय और न निरूपक ही कहा जा सकेगा। कारण व्यापार से पूर्व कार्य तो कारण में रहता ही नहीं, तब शक्यकार्यविषया अथवा तन्निरूपिता शक्ति कारण में कैसे रहेगी ? विद्यमान (सत्) कारण में अविद्यमान (असत्) शक्यकार्यविषया अथवा तन्निरूपित शक्ति कभी रह नहीं सकती। क्योंकि सत् (विद्यमान) पदार्थों का ही विषय-विषयिभाव या निरूप्य-निरूपकभाव संबंध होता है, अतः असत्कार्यवादी के मत में कारण तो विद्यमान (सत्) है और शक्य (कार्य) अविद्यमान है, इसलिये उन दोनों (विद्यमान-अविद्यमानों) का विषयविषयिभाव या निरूप्य-निरूपकभाव कभी संभव ही नहीं।

सिद्धान्ती के अभिप्राय—(कार्य से संबंधित शक्ति ही कार्य को पैदा करती है कार्य से असंबन्धित शक्ति नहीं)—को न समझ कर असत्कार्यवादी पुनः शंका कर रहा है—"शक्ति-भेद" इति। "सा शक्तिः सर्वत्र"—वह शक्ति सर्वत्र है इस बात को तो हम स्वीकार करते हैं, किन्तु सभी से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं। एक अद्‌भुत शक्ति विशेष है, जिससे (शक्तिविशेष से) कोई कारणविशेष ही किसी कार्यविशेष को पैदा कर पाता है, सभी कार्यों को नहीं। अतः "मृद एव घटः, तन्तुभ्य एव पटः"—यह व्यवस्था असत्कार्यवाद में भी उपपन्न होती है—यह असत्कार्यवादी तार्किक का अभिप्राय[1] है।

इस पर सिद्धान्ती असत्कार्यवादी तार्किक के अभिप्राय की दुर्बलता सूचित करने के लिये हर्षसूचक "हन्त" अव्यय का प्रयोग करता है—"हन्त भोः" इति। वह शक्तिविशेष (जिससे कोई कारण विशेष किसी कार्यविशेष को ही पैदा करता है) जो कार्य से अनिरूपित रहने पर भी किञ्चित्कार्य का जनक होता है, वह कारणस्थ शक्तिविशेष कार्य से सम्बद्ध है या असम्बद्ध ? तात्पर्य यह है कि निरूपितत्व संबन्ध का स्वीकार न करने पर भी अन्य किसी जन्यजनकत्वादि संबंध के द्वारा कार्य के साथ वह शक्तिविशेष सम्बद्ध है या नहीं ? आद्य पक्ष (सम्बद्ध पक्ष) का स्वीकार करते हैं तो (कार्यसम्बद्ध कारणनिष्ठ वह शक्तिविशेष) वह संभव नहीं, क्योंकि अविद्यमान कार्य के साथ विद्यमानकारणनिष्ठ शक्तिविशेष का सम्बन्ध है—यह कह नहीं सकते क्योंकि सत् और असत् का संबंध नहीं हुआ करता। एवञ्च सरलता से सत्कार्यवाद की सिद्धि हो जाती है। क्योंकि असत् (अविद्यमान) कार्य के साथ शक्तिविशेष का सम्बन्ध होना संभव नहीं। अब द्वितीयपक्ष (कार्य से असंबंधित शक्तिविशेष) का स्वीकार करें तो "सर्वं सर्वस्मात् संभवेत्" यह पूर्वोक्त अव्यवस्था होने लगेगी। कारण में कार्योत्पादनरूप शक्ति होती है, उस शक्ति को किसी कार्य से सम्बन्धित न मानें तो सर्वसाधारण कारण सर्वसाधारण कार्य को पैदा कर देगा। अतः यही मानना होगा कि "शक्तं कारणं शक्तिसम्बद्धमेव शक्यं करोति, नासम्बद्धम्।" इसी अभिप्राय से मूलकार ने ठीक ही कहा कि "शक्तस्य शक्यकरणात्" इति। एवञ्च कारण के आकार में लीन रहने वाले कार्य को ही अभिव्यक्ति नियामिका शक्ति समझना चाहिये, जिससे सत्कार्यवाद सिद्ध हो जाता है। इस विषय में अनुमान प्रयोग इस प्रकार किया

---

१. शक्तेः शक्यनिरूप्यस्वरूपविशेषो न स्वीक्रियते, येन शक्यं सत्त्वं स्यात्, किन्तु स्वरूपविशेष एव स तादृशो येन यत्किञ्चिदेव कार्यं जनयतीति।

जायगा—"कारणशक्तिः विद्यमानविषया, विषयित्वात्, ज्ञानवत्" इति। कारण में उसी के आकार में वर्तमान, कार्य की अनभिव्यक्त अवस्था (अव्याकृत अवस्था) रूप अनागतावस्था ही कार्य की नियामिका शक्ति[१] है, उस शक्ति से सम्बद्ध कार्य को 'शक्य' कहते हैं, अतः कारण में अनागतावस्था रूप से कार्य की सत्ता रहने के कारण कार्य की असत्ता नहीं कही जा सकती। एवञ्च 'सांख्य का सत्कार्यवाद पक्ष' स्थिर हो जाता है।

(६९) कारणात्मकत्वात् कार्यस्य सत् कार्यम्(४)।

इतश्च सत् कार्यमित्याह—"कारणभावाच्च"। कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। नहि कारणाद्भिन्नं कार्यम्, कारणं च सत्, इति कथं तदभिन्नं कार्यमसत् भवेत्।

अब कारण व्यापार के पूर्व कारण में कार्य की सत्ता सिद्ध करने के लिए 'कारणभावात्' यह दूसरा हेतु उपस्थित कर रहे हैं—"इतश्चेति"। तथा च 'कार्यम्, उत्पत्तेः प्रागपि सत्, कारणात्मकत्वात्'—यह अनुमान किया जाता है। 'कारणभावात्'—हेतुकी व्याख्या करते हैं—'कार्यस्य कारणात्मकत्वात्' इति। उसीका उपपादन करते हैं—'न हि कारणाद्भिन्नम्०' इति। कारण से भिन्न कार्य नहीं होता, और कारण सत् है, अतः उससे अभिन्न कार्य भी सत् है।

(६९) कार्य के कारणात्मक होने से कार्य, सत् है।

(७०) कार्यकारणाभेदसाधनानि।

कार्यस्य कारणाभेदसाधनानि च प्रमाणानि—(१) न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते, तन्तुधर्मत्वात्। इह यत् यतो भिद्यते तत् तस्य धर्मो न भवति, यथा गौरश्वस्य। धर्मश्च पटस्तन्तूनां, तस्मान्नार्थान्तरम्। (२) उपादानोपादेयभावाच्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः। ययोरर्थान्तरत्वं न तयोरुपादानोपादेयभावः, यथा घटपटयोः। उपादानोपादेयभावश्च तन्तुपटयोः। तस्मान्नार्थान्तरत्वम्। (३) इतश्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः, संयोगाप्राप्त्यभावात्। अर्थान्तरत्वे हि संयोगो दृष्टो यथा कुण्डबदरयोः, अप्राप्तिर्वा यथा हिमवद्विन्ध्ययोः। न चेह संयोगाप्राप्ती, तस्मान्नार्थान्तरत्वमिति। (४) इतश्च पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्। इह यद् यस्माद्भिन्नम्, तत् तस्मात् तस्य गुरुत्वान्तरं कार्यं गृह्यते, यथैकपलिकस्य स्वस्तिकस्ययो गुरुत्वकार्योऽवनतिविशेषस्तस्माद् द्विपलिकस्य स्वस्तिकस्य गुरुत्वकार्योऽवनतिभेदोऽधिकः। न च तथा तन्तुगुरुत्वकार्यात् पटगुरुत्वकार्यान्तरं दृश्यते। तस्मादभिन्नस्तन्तुभ्यः पट इति। तान्येतान्यभेदसाधनान्यवीतानि।

---

१. वे० सू० २-१-१८ श्रीशंकराचार्यः—"शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्या असती वा कार्यं नियच्छेत्, असत्त्वाविशेषात् अन्यत्वाविशेषाच्च। तस्मात् कारणस्यात्मभूता शक्तिः, शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्" इति।

'कारणभावात्' हेतु तो 'स्वरूपासिद्ध'[1] है, ऐसी शंका करने पर कारणाभेदसाधक प्रमाणों को बताते हैं—"कार्यस्येति।" 'कार्यस्य कारणाऽभेद-साधनानि'=कार्यपक्षक - कारणाऽभेदसाधकाऽनुमितिजनकानि अवीत-प्रमाणानि, अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व 'कार्य' की 'कारण' से अनन्यता (अभेद) बताई जा रही है। क्रमशः चार हेतुओं से 'कार्य'-'कारण' का अभेद दिखा रहे हैं—'पटः, न तन्तुभ्यो भिद्यते' इति। यहां 'पट' पक्ष है, 'न तन्तुभ्यो भिद्यते'—यह साध्य है, 'तद्धर्मत्वात्'—यह (१) हेतु है। 'तद्धर्मत्वात्' का अर्थ है तन्तुधर्मत्वात् अर्थात् तन्तुओं की ही अवस्था विशेष होने से। साधारणतया 'व्यतिरेकव्याप्ति' को बताते हुए उदाहरण देते हैं—'इह यदिति।' इह=यहाँ अनुमान में यत्='गौः', यतः='अश्व' से, भिद्यते=भिन्न है, इसलिये तत्='गौ', तस्य='अश्व' का धर्म नहीं कहलाता, इसलिये 'गाय' और 'अश्व' में अभेद नहीं है। 'यद् यतोभिद्यते' से 'साध्याभाव' का निर्देश और 'तत् तस्य धर्मो न भवति' से 'हेत्वभाव' का निर्देश किया गया है। एवञ्च—'व्यापक-तन्तुधर्मत्वाऽभाव' की 'पट' में निवृत्ति होने से अर्थात् 'तन्तुधर्मत्वाभाव', 'पट' में न रहने से 'व्याप्य-तन्तु भेद' की भी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् 'तन्तु भेद' भी 'पट' में नहीं रहता ('व्यापक' के न रहने पर 'व्याप्य' भी नहीं रहता) इसलिये 'तन्तुरूप कारण' और 'पटरूप कार्य' का अभेद सिद्ध हो जाता है। अब पक्ष में तद्धर्मत्व रूप हेतु का सत्त्व बताने के लिये उपनयवाक्य बताते हैं—"धर्मश्च पटः तन्तूनाम्" इति। यहां पर 'न चायं तथा'—इस उपनयवाक्य का अनुसन्धान करना चाहिये। अर्थात् 'अयं पटः, तन्तुभेदव्यापकः यः तन्तुधर्मत्वाभावः तद्वान् न, अपितु तन्तुधर्मत्ववान्'—तन्तुभेद का व्यापक जो तन्तुधर्मत्वाभाव तद्विशिष्ट यह पट नहीं है, किन्तु तन्तुधर्मत्व विशिष्ट ही है। अब निगमनवाक्य बताते हैं :—इसलिए पट, तन्तु से भिन्न पदार्थ नहीं है। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं—तस्मात्=तन्तुधर्मत्वाऽभावाऽभाववत्त्वात्; अर्थात् तन्तुधर्मत्वात्, न अर्थान्तरम्=न तन्तुभिन्नः। दूसरा अवीतानुमान भी दिखाते हैं—(२) 'उपादानोपादेय-भावाच्च०' इति। कार्य के लिये जिसका उपादान=ग्रहण किया जाता है उसे 'उपादान' (कारण) कहते हैं और 'कारणव्यापार' के पश्चात् जो प्राप्त करने योग्य होता है उसे 'उपादेय' (कार्य) कहते हैं। एवञ्च 'उपादानोपादेयभाव' का अर्थ हुआ 'कार्यकारण भाव'। 'मिट्टी' और 'घट' या 'तन्तु' और 'पट' आदि में 'कार्यकारणभाव' होने से भी दोनों में भेद नहीं हैं, अर्थात् अभेद हैं। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'पटः, न तन्तुभिन्नः, तन्तुनिरूपितकार्यतावत्त्वात्।' अथवा 'तन्तुपटौ, परस्परभेदाऽननुयोगिनौ, कार्यकारणभाववत्त्वात्।' उदाहरण के द्वारा व्यति-रेकव्याप्ति दिखाते हैं— 'ययोरर्थान्तरत्वमिति।' जैसे—घट और पट में 'अर्थान्तरत्व'=भेद है इसलिये उन दोनों में 'उपादानोपादेयभाव' भी नहीं है। अब उपनयवाक्य का प्रदर्शन करते हैं— 'उपादानोपादेयभावश्च तन्तुपटयोरिति।' यहां पर भी 'नेमौ तथा' इस 'उपनयवाक्य' का अनुसन्धान कर लेना चाहिये, अर्थात् 'इमौ=तन्तु-पटौ, अर्थान्तरत्वव्यापकः यः उपादानोपादेयभावाऽभावः तद्वन्तौ न' किन्तु 'उपादानोपादेयभाववन्तौ' इति। अब निग-मनवाक्य दिखलाते हैं—'तस्मान्नार्थान्तरत्वमिति।' 'उपादानोपादेयभावाऽभावाऽभाववत्त्वात्'—अर्थात् उपादानोपादेयभाववत्त्वात् न अर्थान्तरत्वम्—उपादानोपादेयभाव उनमें होने से दोनों में भिन्नता नहीं है। अन्य हेतु बताते हैं—(३) 'संयोगाप्राप्त्यभावात्' इति। संयोगश्च अप्राप्तिश्च तयोः अभावात् संयोग और अप्राप्ति का अभाव होने से। 'अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः'—अप्राप्त

(७०) कार्य-कारण के अभेद-साधक हेतु।

---

१. स्वरूपासिद्धिर्नाम पक्षे हेत्वभावः।

पदार्थों की प्राप्ति को 'संयोग' कहते हैं। 'अप्राप्ति' का अर्थ विभाग है। तात्पर्य यह है कि 'संयोगाप्राप्त्यभावात्' कहने से 'संयोगानाश्रितत्वात्' और 'विभागानाश्रितत्वात्' ऐसे दो हेतु फलित होते हैं। अर्थात्—'संयोगाभाव' और 'विभागाभाव' 'ये दो हेतु पृथक् पृथक् अभेदसाधक हैं। तथाहि—"पटः, तन्तुभ्यो न भिद्यते, तत्संयोगानाश्रयत्वात्, यद् यतो भिद्यते तयोः संयोगो दृष्टः, यथा घट-पटयोः।" इसी तरह "पटः, तन्तुभ्यो न भिद्यते, तद्विभागानाश्रितत्वात्, यद् यतो भिद्यते तयोर्विभागो दृष्टः, यथा हिमवद्विन्ध्ययोः।"—'पट', 'तन्तुओं' से भिन्न नहीं है, क्योंकि उनके 'संयोग' का वह आश्रय नहीं है। जो जिससे भिन्न रहता है उनका 'संयोग' होता देखा जाता है, जैसे घट-पट का। उसी प्रकार पट, तन्तुओं से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह उनके 'विभाग पर' आश्रित नहीं है, जो जिससे 'भिन्न' होता है उसमें 'विभाग' देखा गया है, जैसे 'हिमवान्' और 'विन्ध्य' में। यदि 'संयोग-विभाग' के न दीखने से आप 'अभेद' सिद्ध करते हैं तो 'तन्तु' और 'रूप' में भी 'संयोग-विभाग' नहीं देखा जाता तब 'रूप' को भी 'तन्तु' से भिन्न नहीं समझना चाहिये, ऐसा होने पर 'गुण' में व्यभिचार होगा, किन्तु सांख्यसिद्धान्त में 'धर्म' और 'धर्मी' का अभेद स्वीकार किया गया है अतः 'गुण' में व्यभिचार नहीं होगा। इसी आशय को ध्यान में रखकर कौमुदीकार कहते हैं—"अर्थान्तरत्वे हि संयोगो दृष्टो यथा कुण्डबदरयोः" इति। जैसे 'कुण्ड' और 'बदर' एक दूसरे से भिन्न हैं अतः उनका 'संयोग' देखने में आता है, इस प्रकार 'संयोग' का दृष्टान्त देकर 'भेद' बताया। वैसे ही 'विभाग' का दृष्टान्त देकर बताते हैं—"अप्राप्तिर्वा यथा हिमवद्विन्ध्ययोः" इति। यहां पर भी 'हिमवान्' और 'विन्ध्य' के एक दूसरे से भिन्न होने के कारण उनमें 'विभाग' पाया जाता है क्योंकि 'हिमाचल' और 'विन्ध्याचल' में सदैव ही विभाग रहता है। अब उपनय बताते हैं—"न चेह संयोगाऽप्राप्ती इति।" 'तन्तु-पट' में अप्राप्तिपूर्वकप्राप्तिरूप संयोग नहीं है और न विभाग ही है। अब निगमन दिखाते हैं—"तस्मान्नार्थान्तरत्वमिति।" अर्थात् 'संयोग' और 'विभाग' न होने से 'तन्तु' और 'पट' में भेद नहीं है। 'प्रतिज्ञा' से लेकर 'निगमन' तक पांच, 'न्याय' के अंग (अवयव) कहलाते हैं। प्रतिज्ञादि अवयवसमूह को 'न्याय' कहते हैं। प्रथमतः 'साध्य' का निर्देश किये, बिना 'क्यों'-इस प्रकार 'हेतु' की आकांक्षा कैसे हो सकती है ?—इसलिये सर्वप्रथम 'प्रतिज्ञा' का प्रयोग किया जाता है। 'साध्य' निर्देश करने के पश्चात् 'क्यों' ऐसी आकांक्षा होती है, इसलिये साधनताव्यञ्जकविभक्तियुक्त 'लिङ्ग' (हेतु) का निर्देश किया जाता है। 'हेतु' निर्देश करने के पश्चात् यह 'हेतु' 'साध्य' का गमक कैसे होता है ? ऐसी आकांक्षा उत्पन्न होती है, तब 'व्याप्ति' एवं 'पक्षधर्मता' का प्रदर्शन आवश्यक होता है, तब 'व्याप्ति' का प्राधान्य होने से उसे बताने के लिये 'उदाहरण' दिखाना पड़ता है। 'उदाहरण' के पश्चात् 'व्याप्त' पदार्थ 'पक्ष' में रहता है या नहीं ?—ऐसी आकांक्षा होने पर 'व्याप्त' पदार्थ की 'पक्षवृत्तिता' (पक्ष पर रहना) बताने के लिये 'उपनय' बताया जाता है और उसके पश्चात् निष्कर्षरूप 'निगमन' प्रदर्शित किया जाता है।

एक अन्य प्रयोग से भी 'कार्य-कारण' का अभेद सिद्ध करते हैं—"इतश्च पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते, (४) गुरुत्वाऽन्तरकार्याऽग्रहणात्" इति। प्रशस्तपादभाष्यकार गुरुत्व का लक्षण बताते हैं—"गुरुत्वं जलभूम्योः पतनकर्मकारणम्"—इस लक्षण से लक्षित पदार्थ में रहने वाला "धर्मविशेष ही गुरुत्व' है। 'तन्तु निष्ठगुरुत्व' की अपेक्षा जो अन्य 'गुरुत्व-(गुरुत्वान्तर)' है, उसका जो कार्य-'अधःपतनविशेष'—अवनतिरूप है, उसका 'पट' में ग्रहण नहीं होता, इसलिये 'पट' तन्तुओं से भिन्न नहीं है। जैसे—एक तराजू के दो पलड़े होते हैं, उनमें एक में परिमाण (बाट आदि) रखे जाते हैं, और दूसरे में जिस वस्तु को तोलना है वह वस्तु रखी जाती है। यदि परिमाण

(बाट आदि) निष्ठ गुरुत्व (भार) के बराबर ही वस्तु का गुरुत्व तोलना हो तो तराजू का दण्ड न उन्नत होता है और न अवनत ही होता है, बल्कि समान रहता है। अर्थात् परिमाण और परिमेय की समानता का सूचक होता है। किन्तु जब 'परिमाण' निष्ठ-गुरुत्व (भार) की अपेक्षा 'परिमेय' की गुरुता अधिक तोलनी होती है, तब परिमेयद्रव्यनिष्ठ-गुरुत्व के अवनतिरूप कार्यविशेष के कारण तुलादण्ड अधिक अवनत होता है। इस व्यावहारिक उदाहरण से यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि यदि 'पट', 'तन्तुओं' से भिन्न होता तो 'तन्तुनिष्ठगुरुत्व' के कार्य की अपेक्षा 'पटाश्रितगुरुत्व' का अवनतिरूप कार्यविशेष अधिक होता, किन्तु ऐसा होता नहीं। 'तन्तुनिष्ठगुरुत्व' का जितना अवनतिरूप कार्य होता है, ठीक उतना ही 'पटाश्रितगुरुत्व' का अवनतिरूप कार्य रहता है। एवञ्च दोनों में समान गुरुत्व रहने से 'पट' और 'तन्तु' में भेद नहीं है। यहां यह शंका हो सकती है कि यदि 'पट' में गुरुत्वान्तर नहीं है तो उसका (पट का) पतन नहीं होना चाहिये। समाधान यह है कि 'तन्तु और 'पट' का तादात्म्य होने से 'तन्तुनिष्ठ गुरुत्व' से ही 'पट' का पतन संभव है।

शंका—कौमुदीकार ने "गुरुत्वान्तराग्रहणात्" या "समानगुरुत्ववत्त्वात्" कहने के बजाय "गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्" यह कार्य पर्यन्त दौड़ क्यों लगायी ?

समाधान—"अप्रत्यक्षं पतनकर्म अनुमेयम्"—ऐसा कहा जाता है। 'गुरुत्व' तो अतीन्द्रिय होने से उसका प्रत्यक्ष से ग्रहण हो नहीं सकता। इसलिये 'पतनकर्म' अनुमेय है—इसी अभिप्राय से कौमुदीकार ने 'कार्य' तक दौड़ लगायी है। 'अधोदेशसंयोगानुकूलव्यापार' को पतन कहते हैं, जैसे—'वृक्षात् पर्णं पतति' यहां 'वृक्षविभागजनक व्यापार' से लेकर भूमिसंयोगजनक व्यापार तक सभी क्रियाएं पतन के अन्तर्गत हैं। उनमें भी 'प्राथमिक व्यापार' गुरुत्वजन्य और 'द्विती-यादिव्यापार' वेगजन्य समझने चाहिए। 'गुरुत्व' का यदि 'प्रत्यक्ष' माना जाय तो नीचे पड़ी वस्तु के गुरुत्व का भी त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने लगेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं। 'ऊर्ध्वस्थित वस्तु के गुरुत्व का ही ज्ञान होता है'—ऐसा नियम भी नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि किसी से बंधी हुई वस्तु के ऊर्ध्वदेशस्थ रहने पर भी उसकी 'गुरुता' का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।

उदाहरण के लिये 'व्यतिरेकव्याप्ति' दिखाते हैं—"इह यदिति।" घट तन्तुओं से भिन्न है—इसलिये घटनिष्ठ गुरुत्वान्तर कार्य अर्थात् 'नमन 'तन्तुओं' से अधिक 'तराजू' में प्रत्यक्ष होता है इसलिये 'घट' और तन्तु दोनों को अभिन्न नहीं कह सकते। व्यतिरेकिदृष्टान्त देते हैं—'यथैकपलिकस्य इति। 'अस्सी रत्ती का एक तोला, चार तोले का एक पल होता है। चार पल सोने का बनाये हुये स्वस्तिक (स्त्रियों के कण्ठ का आभूषण) के गुरुत्व का जो अवनतिरूप कार्यविशेष है, उससे 'दो पल' के सुवर्ण से निर्मित 'स्वस्तिक' के गुरुत्व का अवनतिरूप कार्य-विशेष अधिक होता है। इस प्रकार 'तन्तुगुरुत्व' के कार्य से 'पटगुरुत्व' का कार्य अधिक नहीं दिखाई देता। यह उपनयवाक्य दिखाया गया। इसलिये 'तन्तुओं' से 'पट' अभिन्न है यह निगमन वाक्य है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—

"पटः तन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरुत्वान्तरप्रयुक्तस्वाश्रिततुलादण्डाद्यवनतिविशेषग्रहणायोग्यत्वात्, गुरुत्वान्तरयुक्तस्वर्णादिवत्" इति। 'तुल्यगुरुत्व' युक्त पदार्थ में व्यभिचार का वारण करने के लिए हेतु में ग्रहणायोग्यत्वात् कहा गया है। क्योंकि उसी 'तुल्यगुरुत्व' वाले पदार्थ को यदि दूसरी तराजू में रखा जाय तो 'अवनत्यन्तर' का ग्रहण हो सकता है। पंचम कारिका में जो कहा गया था कि "अस्य चावीतस्य व्यतिरेकिण उदाहरणमग्रेऽभिधास्यते" इति उसे यहां पर दिखला दिया गया. यह स्मरण दिला रहे हैं कौमुदीकार—"तान्येतान्यभेदसाधनान्यवीतानि" इति। 'अवीत' अर्थात् व्यतिरेकव्याप्ति से युक्त 'कार्य-कारण की अभेदप्रमा के पूर्वोक्त चारों साधन

बता दिये गये। अब कार्य के सत्त्व का अनुमान इस प्रकार करना होगा—"कार्यम् उत्पत्तेः प्रागपि सत्, कारणात्मकत्वात्, उभयमतसिद्धकारणवत्।" इति।

शंका—यदि 'तन्तु' ही पट है तो उनके भिन्न-भिन्न नाम क्यों हैं? अर्थात् कारण को 'तन्तु' नाम से और कार्य को 'पट' नाम से क्यों व्यवहार किया जाता है?

(७१) कार्यकारणयोरभेदात् कारणपरिणामभेद एव कार्यम्। तन्मते विरोधादिपरिहारः।

एवमभेदे सिद्धे, तन्तव एव तेन तेन संस्थानभेदेन परिणताः पटो, न तन्तुभ्योऽर्थान्तरं पटः। स्वात्मनि क्रियानिरोधसंबन्धबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाभेदाश्च नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्ति, एकस्मिन्नपि तत्तद्विशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामेतेषामविरोधात्, यथा हि कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निःसरन्ति चाविर्भवन्ति। न तु कूर्मतस्तदङ्गान्युत्पद्यन्ते प्रध्वंसन्ते वा। एवमेकस्या मृदः सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषाः निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते, निविशमानास्तिरोभवन्ति विनश्यन्तीत्युच्यन्ते। न पुनरसतामुत्पादः सतां वा निरोधः। यथाह भगवान् कृष्णद्वैपायनः—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इति।

(भगवद्गीता, २।१६)

यथा कूर्मः स्वावयवेभ्यः सङ्कोचविकासिभ्यो न भिन्नः, एवं घटमुकुटादयोऽपि मृत्सुवर्णादिभ्यो न भिन्नाः। एवञ्चेह तन्तुषु पट इति व्यपदेशो, यथेह वने तिलका इत्युपपन्नः। न चार्थक्रियाभेदोऽपि भेदमापादयति, एकस्यापि नानार्थक्रियादर्शनात्। यथैक एव वह्निर्दाहकः पाचकः प्रकाशकश्चेति। नाप्यर्थक्रियाव्यवस्था वस्तुभेदे हेतुः, तेषामेव समस्तव्यस्तानामर्थक्रियाव्यवस्थादर्शनात्। यथा प्रत्येकं विष्टयो वर्त्मदर्शनलक्षणामर्थक्रियां कुर्वन्ति, न तु शिविकावहनम्। मिलितास्तु शिविकामुद्वहन्ति, एवं तन्तवः प्रत्येकं प्रावरणमकुर्वाणा अपि मिलिता आविर्भूतपटभावाः प्रावरिष्यन्ति॥

(७१) कार्य-कारण का अभेद होने से कारण परिणाम विशेष ही कार्य है। इस पक्ष में विरोध परिहार।

समाधान—"एवमभेदे सिद्धे०" इति। इस प्रकार अनेक अनुमान प्रयोगों के द्वारा 'कार्य-कारण' का अभेद सिद्ध होने पर आतान-वितानात्मक भिन्न-भिन्न अवयव संयोगों से अवस्थान्तर को (परिणत हुए) प्राप्त हुए वे 'तन्तु' ही 'पट' नाम से व्यवहार करने योग्य हो जाते हैं। अर्थात् अवस्थाभेद के कारण भिन्न भिन्न नामों से व्यवहार होता है। वास्तव में 'पट', तन्तुओं से भिन्न नहीं है।

किन्तु उपर्युक्त अभेदसाधक अवीतानुमान के प्रयोगों पर नैयायिक 'सत्प्रतिपक्ष'[1] दोष की उद्भावना करते हैं—तथा च—'पटः, तन्तुभिन्नः, तदीयोत्पत्त्याख्यक्रियाभेदात्', यहां पर हेतु को स्वप्रतियोग्याश्रयता' सम्बन्ध

१. साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य सः—सत्प्रतिपक्षः।

से लेना चाहिये। इसी प्रकार—'पटः, तन्तुभिन्नः, तदीयविनाशात्मक-निरोधभेदात्'। ऐसे ही 'पटः, तन्तुभिन्नः, 'अयं पटः' इति बुद्धिभेदात्'। 'पटः, तन्तुभिन्नः, 'पट' इति व्यपदेश (शब्द-व्यवहार) भेदात्'। 'पटः, तन्तुभिन्नः, प्रावरणाद्यात्मकार्थक्रियाभेदात्' इति।

सत्प्रतिपक्षदोष लगाने वाले नैयायिकों को उत्तर देते हैं—"**स्वात्मनि क्रियेति**।" 'स्वात्मनि' का अर्थ है—'कारण' से अभिन्न 'पटादि वस्तु' में **क्रियाभेद**-जैसे—'पट-उत्पद्यते, तन्तुरुत्पद्यते' इस प्रकार का **उत्पत्त्यात्मकक्रियाविशेष**। **निरोधभेद**—जैसे—'पटो नश्यति, तन्तुर्नश्यति'—इस प्रकार का **ध्वंसात्मक निरोधविशेष**। **बुद्धिभेद** जैसे—'अयं पटः, इमे तन्तवः'—इस प्रकार का **ज्ञानविशेष**। **व्यपदेशभेद**-जैसे—'पटः, तन्तवः—इस प्रकार का **शब्दभेद**। **अर्थक्रिया-भेद**-जैसे—'प्रावरणाऽप्रावरणात्मकसामर्थ्यविशेष' आदि ये सब 'कार्य कारण' में औपाधिक-(नैमित्तिक)—भेद को ही सिद्ध करते हैं। वास्तविक-(ऐकान्तिक)—भेद को सिद्ध नहीं कर पाते। 'परस्पर अत्यन्त विरुद्ध धर्म' ही अपनी वास्तविकता के कारण अपने 'आश्रय के भेदक' हुआ करते हैं। 'औपाधिक (नैमित्तिक) धर्म' तो अवस्थाभेद से एक ही पदार्थ में क्रमशः समाविष्ट हो सकने से विरोध न होने के कारण वास्तविक-(ऐकान्तिक)—भेद को सिद्ध नहीं कर पाते। इसी बात को **कौमुदीकार** कहते हैं—"**एकस्मिन्नपीति**"। कार्यकारणात्मक 'अभिन्न-वस्तु' में भी 'तुरी-वेमा' आदि के व्यापार की उपाधि के बल पर क्रियादि प्रावरणान्तविशेष-धर्मों के **आविर्भाव** और 'पूर्वस्थित धर्मों के **तिरोभाव** मे क्रियाभेद, निरोधभेद, बुद्धिभेद, व्यपदेशभेद, अर्थक्रियाभेद आदि हेतु चरितार्थ हो जाते हैं। अतः कोई विरोध नहीं, अर्थात् कार्य-कारण के वास्तविक अभेद का बाध करने में ये पूर्वोक्त हेतु समर्थ नहीं हैं। एवं च—क्रिया, निरोधादि हेतुओं के चरितार्थ होने से अर्थात् "पटः, न तन्तुभ्यो भिद्यते, तद्धर्मत्वात्" इत्यादि पूर्वोक्त हेतुओं के चरितार्थ न हो सकने से दोनों हेतुओं को 'समानबल' नहीं कहा जा सकता, इसलिए पूर्वोक्त हेतुओं 'सत्प्रतिपक्षित' नहीं हैं। क्रियातिरोधादि हेतुओं से 'औपाधिकभेद सिद्ध होने पर भी अपने अनौपाधिक अधिकरणात्मक द्रव्य में 'व्यभिचारशंकानिवर्तक तर्क' से रहित होने के कारण ये हेतु कमज़ोर पड़ जाते हैं। अतः ऐसे कमज़ोर हेतुओं से **सांख्य** के 'अनुमानप्रयोग' **सत्प्रतिपक्षित कैसे** हो सकेंगे? 'व्यभिचारशंका' उसे कहते हैं—जैसे 'हेतु' हो और 'साध्य' न हो। प्रकृत में—तुरीव्यापार से होने वाले 'स्थूलावस्थाविर्भावात्मक उत्पत्ति विशेषरूप हेतु' तो है किन्तु 'तन्तुभेद रूप साध्य' नहीं है, इस आशंका के 'निवर्तक तर्क' के न होने से उन समस्त 'औपाधिक हेतुओं' को असद्धेतु समझना चाहिये। **सांख्य** ने 'औपाधिक (नैमित्तिक)—उत्पत्ति' आदि को **आविर्भावादि** रूप मान लिया है, इसलिये कोई विरोध नहीं है—इसी बात को "**यथा हि॰**" ग्रन्थ से प्रदर्शित करते हैं, और लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं—जैसे कछुए के शरीर में ही स्थित रहने वाले अंग (कर चरणादि) उसके शरीर के बाहर प्रकट हो जाते हैं और उसके शरीर के भीतर समाहित भी हो जाते हैं, उसी प्रकार विद्यमान (सत्) मृत्तिका से घट का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। सत् सुवर्ण से ही मुकुट कुण्डल आदि का आविर्भाव तिरोभाव होता है। 'तिरोभाव' का अर्थ अतीतावस्था अर्थात् 'सूक्ष्मावस्था' को प्राप्त होना। 'आविर्भाव' का अर्थ **वर्तमान अवस्था** अर्थात् 'स्थूलावस्था' को प्राप्त होना। इस कथन में 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'—यह श्रुति प्रमाण है। खरगोश अथवा आदमी के असत् सींग की तरह अविद्यमानपदार्थ को 'उत्पत्ति' कारण के व्यापार से कभी नहीं हो पाती, उसी तरह **विद्यमान पदार्थों** का 'निरोध' (ध्वंस) भी नहीं होता। इस विषय में **भगवद्गीता** का वाक्य प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं—"**नासतो विद्यते॰**" इति। **शशशृङ्ग** की तरह

'असत्' पदार्थ का 'भाव' (सत्त्व) नहीं होता और न 'सत्' अर्थात विद्यमान पदार्थ का 'अभाव' (असत्त्व = ध्वंस) ही।

शंका—'उत्पत्ति' और 'ध्वंस' के न होने से 'कार्य-कारण' का अभेद कैसे सिद्ध हुआ ?

समाधान—जैसे कूर्म अपने संकुचित और विकसित अवयवों से पृथक् नहीं है, वैसे ही घट भी अपनी 'अतीतावस्थापन्न मृत्तिका' से और 'वर्तमानावस्थापन्न मृत्तिका' से भिन्न नहीं है, एवं मुकुट, कुण्डल आदि अलंकार भी अपने 'अतीतावस्थापन्न सुवर्ण' से और 'वर्तमानावस्थापन्न सुवर्ण' से भिन्न नहीं हैं। भिन्न-भिन्न अवस्थापन्न सुवर्ण का ही जब भेद नहीं, तब मुकुटावस्थापन्न सुवर्ण का भेद कैसे हो सकता है ? उसी प्रकार पट के अन्तर्गतावस्थापन्न तन्तुओं में 'तन्तवः इमे' ऐसी बुद्धि होती है, और 'पट' के वर्तमानावस्थापन्न तन्तुओं में 'पटोऽयम्'—ऐसी बुद्धि होती है। इस प्रकार एक ही पदार्थ (तन्तु) में भिन्न-भिन्न बुद्धि होने पर भी विरोध नहीं है, इसलिये **'बुद्धिभेद'** भी भेद का साधक नहीं हो सकता। इसी प्रकार **'व्यपदेशभेद'** भी, विरोध न होने से भेदसाधक नहीं हो पाता, इसी बात को कहते हैं—**"एवं चेति"** इति। जैसे 'इह वने तिलकाः' इस शब्दप्रयोग में 'तिलक' नाम के वृक्षों का समुदाय ही तो वन है, 'वृक्ष समुदाय' के अतिरिक्त कोई वन नहीं है। एवं च 'तिलक' और 'वन' का अभेद रहने पर भी 'आधाराधेय भाव' का व्यवहार (व्यपदेश) होता है। वैसे ही 'इह तन्तुषु पटः' यहां भी एक ही द्रव्य (तन्तु) में 'आधाराधेयभाव' का व्यवहार और भिन्न आनुपूर्वीवाले शब्दों का प्रयोग बिना किसी विरोध के होता है। इसलिये 'व्यपदेश भेद' से भी भेद की सिद्धि नहीं हो पाती। एवं अनेक तन्तुओं में **"एकोऽयं पटः"** यह व्यवहार भी 'एक प्रावरणरूप प्रयोजन' को निमित्त मानकर किया जाता है, वैसे ही एकदेश और एक काल में रहनेवाले अनेक वृक्षों में भी **'इदम् एकं वनम्'** प्रयोग भी उपपन्न हो जाता है। **'अर्थक्रियाभेद'** भी भेद का साधक नहीं बन पाता—**"न चार्थक्रियेति"**। अर्थक्रिया-भेद के द्वारा भी 'कारण' से 'कार्य' का भेद सिद्ध नहीं हो पाता, क्योंकि व्यभिचार है। उसे दिखाने के लिये **"नानार्थक्रियादर्शनात्"** इति। एक ही वस्तु में 'विजातीयक्रिया' भी देखी जाती है। जैसे—एक ही 'अग्नि' दाहक होने से 'दहनक्रियावान्' है, और वही 'अग्नि', उसी समय पाचक होने से 'पचनक्रियावान्' भी है और वही 'अग्नि,' उसी समय प्रकाशक होने से 'प्रकाशक्रियावान्' भी है। उसी प्रकार 'भेदात्मक साध्य' के अभावाधिकरण अग्नि में 'क्रिया-भेदात्मक' हेतु के रहने से व्यभिचार है। इसलिये "यत्र यत्र विभिन्नकार्यकारित्वं तत्र तत्र वस्तु-भेदः" यह व्याप्ति सर्वत्र नहीं लग सकती, क्योंकि 'अग्नि' में व्यभिचरित है।

शंका—इस पर नैयायिक कहता है कि कोई 'व्यभिचार' नहीं है—क्योंकि 'अर्थक्रिया' की व्यवस्था निश्चित रहने से व्यवस्था निश्चित है अर्थात् 'यत्र यत्र अर्थक्रियाव्यवस्थासत्त्वं तत्र तत्र व्यवस्था' इस प्रकार व्याप्ति बन जाती है। 'व्याप्य जो अर्थक्रियाविशेष' है वही हेतु है। जैसे 'तन्तुभिरेव सीवनम्', 'पटेनैव आच्छादनम्' 'सीवन' तन्तु का ही कार्य है, पट का नहीं। 'प्रावरण' पट का ही कार्य है, तन्तु का नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रावरणावच्छेदक' पटत्व है और 'सीवनावच्छेदक' तन्तुत्व है, अतः 'पटत्वव्याप्य'—प्रावरण हुआ और 'तन्तुत्व-व्याप्य'—सीवन हुआ। अब अनुमान प्रयोग इस तरह होगा—'तन्तुः, पटभिन्नः, सीवनात् तन्त्वन्तरवत्', 'पटः, तन्तुभिन्नः, प्रावरणात्, पटान्तरवत्', इस प्रकार अव्यभिचरित हेतु से 'भेद' की सिद्धि हो ही जायगी। इसलिये 'व्यभिचार' प्रदर्शित कर भेद सिद्धि नहीं होती यह जो आपने कहा था वह उचित नहीं है।

समाधान—सांख्यवादी कहता है 'नाऽप्यर्थक्रियाव्यवस्थेति।' इसका अर्थ है—'व्यवस्थित अर्थक्रिया' अर्थात् पक्षतावच्छेदकव्याप्य अर्थक्रिया। वह वस्तुभेद को सिद्ध करने में 'हेतु' नहीं हो सकती, अर्थात् 'व्यवस्थित अर्थक्रिया' को सद्धेतु नहीं कहा जा सकता। निष्कर्ष यह निकला कि—स्वाश्रयपदार्थानुयोगिक तथा स्वाऽनाश्रयपदार्थप्रतियोगिक भेद (वस्तुभेद) सिद्ध करने में 'पक्षतावच्छेदकव्याप्य अर्थक्रिया' को सद्धेतु नहीं कहा जा सकता। वह तो असद्धेतु है। इसी आशय से कौमुदीकार कहते हैं 'तेषामेवेति'। 'परस्पर संयुक्त हुए तन्तुओं' से ही प्रावरणात्मक अर्थक्रिया होती देखी जाती है। 'अलग अलग हुए तन्तुओं' से प्रावरणरूप अर्थक्रिया नहीं होती और 'परस्पर संयुक्त हुए तन्तुओं' में सीवन नहीं होता, इस कारण पटान्तरत्वेन अभिमत 'पट' व्यवहार के योग्य 'परस्पर संयुक्त तन्तुओं' में तन्तुभेदात्मक साध्य का अभाव और 'तन्त्वन्तर' में पटभेदात्मक साध्य का अभाव है लेकिन 'तत्तद् हेतु' वहां विद्यमान हैं, अतः तुम्हारे ही मत में 'व्यभिचार' है, इसलिये कोई 'हेतु' न होने से वस्तुभेद सिद्ध नहीं हो पाता। अब दृष्टान्त के द्वारा बताते हैं कि एक ही वस्तु में चाहे वह 'समस्त' (परस्पर संयुक्त) हो या 'व्यस्त' (परस्परपृथक्), अर्थ क्रियान्तरवत्ता उसमें रहती है। 'यथा प्रत्येकमिति।' जैसे 'विष्टि' अर्थात् काम करने वाले भृत्यों में से प्रत्येक भृत्य एक दूसरे को मार्ग दिखाता है, अर्थात् वे भृत्य मार्ग प्रदर्शनरूप अर्थक्रिया करते हैं। एक-एक भृत्य शिबिका (पालकी) वहन नहीं करता, किन्तु जब वे सब मिलकर एक ही कार्य करने की सोच लेते हैं, तब वे सब मिलकर शिबिकावहन करते हैं। ऐसी परिस्थिति में विष्टित्वव्याप्य अर्थक्रिया के व्यवस्थित रहने पर भी वह विष्टिभेद के साधन में समर्थ नहीं हो पाती। उसी प्रकार प्रत्येक तन्तु में प्रावरणधर्म प्रकट न रहने पर भी जब वे 'तन्तु परस्पर मिले रहते हैं' तब उनमें प्रावरणधर्म प्रकट हो जाता है। अर्थात् पट के रूप में अपने को प्रकट कर प्रावरण कार्य करते हैं। सत्कार्यवादियों के मत में 'प्रावरण धर्म' की सत्ता भी स्थूल-सूक्ष्म दोनों में से किसी न किसी अवस्था में रहती ही है। अतः इससे अभेद ही सिद्ध होता है। 'अर्थक्रियाविशेषों, के द्वारा स्वाश्रय में पटाद्यवस्था भेद का साधन तो सत्कार्यवादियों को भी सम्मत है केवल 'ऐकान्तिक भेद साधन' नहीं।

स्यादेतत्—आविर्भावः पटस्य कारणव्यापारात् प्राक् सन् असन् वा? असंश्चेत्, प्राप्तं तर्ह्यसदुत्पादनम्। अथ सन्, कृतं तर्हि कारणव्यापारेण। नहि सति कार्ये कारणव्यापारप्रयोजनं पश्यामः। आविर्भावे चाविर्भावान्तरकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गः। तस्मादाविर्भूतपटभावास्तन्तवः क्रियन्त इति रिक्तं वचः॥

(७२) कार्यस्य कारणपरिणामविशेषत्वे कारणव्यापारस्याप्रयोजकत्वमनवस्थापत्तिश्च।

अब पहिले जो कहा था कि सत् की अभिव्यक्ति उपपन्न होती है जैसे तिलों से तैल, 'धान' से चावल, 'गाय' से दूध आदि, उस सम्बन्ध में यह विकल्प उठता है कि वह अभिव्यक्ति सत् है या 'असत्'? इस रीति से नैयायिक 'सांख्यमत' पर दूषण दे रहा है—'स्यादेतत्' इति। सांख्यवादीने 'तन्तुओं' में 'पट का जो आविर्भाव बताया उसे 'तुरी-वेमादि कारणों के व्यापार से पूर्व वह 'सत्' स्वीकार करता है या 'असत्'? यदि आविर्भाव को वह 'असत्' समझता है तो असत्कार्य की उत्पत्ति का न्याय सिद्धान्त 'उसने' मान लिया

(७२) कार्य को कारण परिणामविशेष मानने पर कार्य के प्रति कारण व्यापार अप्रयोजक होगा और अनवस्था होगी।

ऐसा कहा जायगा, और यदि उसे 'सत्' कहता है तो कारणव्यापार की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिये क्योंकि सत् में साध्यता नहीं हुआ करती इसलिये तुर्यादि कारणव्यापार व्यर्थ ही है।

कारण व्यापार की निरर्थकता में 'प्रत्यक्ष प्रमाण' बताते हैं 'नहि सतीति।' कार्य के विद्यमान (सत्) रहने पर 'कारण व्यापार' की आवश्यकता कहीं पर भी नहीं होती यह सभी जानते हैं। अब यदि कहें कि आविर्भाव भी पहले अनभिव्यक्त दशा में रहता है, 'उसे' कारण व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, अतः आविर्भाव के लिये कारणव्यापा रसप्रयोजन है, निष्प्रयोजन नहीं तब तो 'अनवस्था' दोष आवेगा—'आविर्भावे चेति'। 'अनभिव्यक्त-आविर्भाव' का आविर्भाव भी पहिले 'अनभिव्यक्त' था, अतः उसे 'अभिव्यक्त' करने के लिये दूसरे आविर्भाव की अपेक्षा रहेगी, उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति में तीसरे आविर्भाव की, उसकी अभिव्यक्ति में चौथे आविर्भाव की। इस रीति से अनवस्था का प्रसंग प्राप्त होगा। इसलिये 'सत्–असत्' दोनों पक्षों में दोष है। अब यह जो कहा था कि कारणव्यापार के द्वारा 'तन्तवः आविर्भूतपटभावाः'—'तन्तुसमूह' 'पटरूप में' प्रकट होता है, यह कथन अप्रामाणिक है। इसलिये नैयायिक कहता है 'सांख्यवादी' से कि वह 'असत्कार्यवाद' का स्वीकार कर ले।

(७३) तत्परिहारः। उक्तदोषस्योभयमते तुल्यत्वम्।

मैवम्। अथासदुत्पद्यत इति मते केयमसदुत्पत्तिः? सती, असती वा? सती चेत्, कृतं तर्हि कारणैः। असती चेत्, तस्या अप्युत्पत्त्यन्तरमित्यनवस्था॥

इस पर सांख्यवादी कहता है—"यश्चोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥" इस नियम के अनुसार 'नैयायिक' को चुप करने के लिये "मैवम्। अथाऽसदुत्पद्यते" इति। न्यायमत में भी 'कार्यं कारणव्यापारात्पूर्वं यत् असत् उत्पद्यते' जो 'कार्य' पूर्व असत् है, वह 'कारणव्यापार' से उत्पन्न होता है। तब बताइये कि वह उत्पत्ति 'सत्' है या 'असत्'? यदि उत्पत्ति को 'सत्' कहें तो 'तुरीवेमादि कारणों' की आवश्यकता ही नहीं होगी। और उस उत्पत्ति को यदि 'असत्' कहें तो 'असत् उत्पत्ति' का उत्पत्त्यन्तर भी पूर्व 'असत्' था, उसकी भी एक 'अन्य (उत्पत्त्यन्तर) उत्पत्ति', उसकी भी एक 'अन्य उत्पत्ति', पुनः उसकी भी 'एक अन्य उत्पत्ति' इस प्रकार अनवस्था दोष का प्रसंग आवेगा। उस अनवस्था के परिहार के लिये जो भी उत्तर आप देंगे, बस वही उत्तर हमारा समझिये। और यदि कोई उत्तर नहीं है तो दोनों की मौनमुद्रा रहेगी।

(७३) पूर्वोक्तदोष का परिहार। उक्तदोष का उभय पक्ष में समान होना।

(७४) पटतदुत्पत्त्योरैक्यशङ्का–तत्परिहारश्च।

अथ—'उत्पत्तिः पटान्नार्थान्तरम्, अपि तु पट एवासौ', तथाऽपि यावदुक्तं भवति 'पट' इति, तावदुक्तं भवति 'उत्पद्यते' इति। ततश्च 'पट' इत्युक्ते, 'उत्पद्यते' इति न वाच्यम्, पौनरुक्त्यात्। 'विनश्यति' इत्यपि न वाच्यम्, उत्पत्तिविनाशयोर्युगपदेकत्र विरोधात्॥

अब नैयायिक 'उत्पत्ति' को पटस्वरूप मानकर 'अनवस्थापरिहार' का प्रयत्न करता है 'अथोत्पत्तिरिति।' 'उत्पत्ति' कोई 'पट' से पृथक् वस्तु नहीं है; वह तो पटात्मिका ही है। तथाहि—उत्पत्ति का अर्थ है 'आद्यक्षणसम्बन्ध', वह तो स्वरूपसंबंधविशेष है, उसे संयोगसंबन्धरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'ध्वंस' में उसका होना असंभव है। वह 'स्वरूपसंबन्ध' अनुयोगीरूप है, 'अनुयोगी' यहां पट है, वह 'कारणव्यापार' के पूर्व उत्पन्न नहीं है। इसलिये 'उत्पत्ति' को पटात्मिका (पटस्वरूप) कहना भी अनुपपन्न है। एवं च अनुत्पन्न पट से अनतिरिक्त उत्पत्ति की उपपत्ति के लिये 'कारणव्यापार' सार्थक है। अतः एक उत्पत्ति के लिये दूसरी उत्पत्ति की आवश्यकता न रहने से अनवस्थादोष नहीं है। इस प्रकार अनवस्था दोष का परिहार नैयायिक ने जब किया, तब सांख्यवादी कहता है कि हमारे सांख्य मत में भी 'आविर्भाव' पटात्मक होने से, उसके लिये 'आविर्भावान्तर' की आवश्यकता नहीं है, अतः अनवस्था नहीं। इस रीति से दोनों के पक्ष में समान परिहार हैं, तथापि नैयायिक के पक्ष में एक दूसरा दोष है, जिसे सांख्यवादी बता रहा है—'तथापीति।' 'पटात्मिका उत्पत्ति' कहने से यह प्रतीति होती है कि 'पट' और 'उत्पत्ति' का एक ही अर्थ है, 'पट' और 'उत्पत्ति' भिन्न-भिन्न नहीं है, अतः जो अर्थ 'पट' शब्द से बताया जाता है, वही (अर्थ) 'उत्पद्यते' से भी बताया जाता है, तब 'पट' कहने पर 'उत्पद्यते' उक्त हो ही गया। अथवा 'उत्पद्यते' कहने से 'पट' उक्त हुआ ही समझना चाहिये। एवं च 'पट' कहने पर 'उत्पद्यते' कहना नहीं चाहिये क्योंकि पुनरुक्ति हो जायगी। जैसे 'घटो घटः' यह प्रयोग शाब्दबोध के अनुकूल न होने से अनुपपन्न है, वैसे ही 'पटः उत्पद्यते' प्रयोग भी तुम्हारे मत में अनुपपन्न होगा। 'पुनरुक्तता' दोष को हटाने के लिये इसे 'अनुवाद' नहीं कह सकते, यह अभिप्राय है।

(७४) पट और उसकी उत्पत्ति में एकता की शङ्का तथा परिहार।

इसके अतिरिक्त अन्य दूषण भी दे रहे हैं—'विनश्यतीति।' सांख्यवादी कहता है कि तुम्हारे मत में 'पट' और 'उत्पत्ति' दोनों एक ही पदार्थ हैं, तब उत्पत्ति-विरोधी जो 'विनाश' है उसे—पटात्मक (पटस्वरूप) कहना तो असंभव है, इसलिये 'पटो विनश्यति' कहना भी उचित न होगा, क्योंकि परस्पर विरुद्ध 'उत्पत्ति और विनाश' का एक स्थान में और एक काल में रहना असंभव है। अर्थात् 'वर्तमानकालिक उत्पत्त्यात्मक पट', 'वर्तमानकालिक ध्वंसात्मक' कैसे हो सकता है? एक ही 'वस्तु' के एक काल में 'परस्पर विरुद्ध दो रूप' नहीं हो सकते।

तस्मादियं पटोत्पत्तिः स्वकारणसमवायो वा, स्वसत्तासमवायो वा? उभयथाऽपि नोत्पद्यते, अथ च तदर्थानि कारणानि व्यापार्यन्ते। एवं सत एव पटादेराविर्भावाय कारणापेक्षेत्युपपन्नम्। न च पटरूपेण कारणानां सम्बन्धः, तद्रूपस्याक्रियात्वात्, क्रियासम्बन्धित्वाच्च कारणानाम्, अन्यथा कारणत्वाभावात्॥

(७५) पटोत्पत्तौ सत्यामपि कारणव्यापारापेक्षा।

इसलिये नैयायिक को मानना होगा कि 'पटोत्पत्ति' नामक पदार्थ 'पट से' पृथक् है—'तस्मादियमिति।' उस 'पटोत्पत्ति' को 'स्वकारणसमवायात्मक' कहना होगा। 'स्व' शब्द से 'पट' को लीजिए, उसके कारणरूप-तन्तुओं में जो 'समवायसंबन्ध तदात्मक अर्थात् तद्रूप 'पटोत्पत्ति' है वैसी पटोत्पत्ति' तो तन्तु में भी है अतः उसमें (पटोत्पत्ति में) 'पटधर्मता' न बन सकेगी, इसलिये कहते हैं—'स्वसत्तासम-

(७५) पट की उत्पत्ति के होने पर भी कारण-व्यापार की अपेक्षा।

वायो वेति'। 'स्व' शब्द से पटात्मक कार्य, उसमें जो 'सत्ता जाति' है, उसका जो 'समवाय', तदात्मिका पटोपत्ति है ऐसा कहना चाहिये। किन्तु इन दोनों प्रकारों से उत्पत्ति की उत्पत्ति नहीं बन पाती, क्योंकि 'समवाय' नित्य होता है। अतः 'समवायात्मिका उत्पत्ति' भी नित्य होगी, इसलिये उत्पत्ति की उत्पत्ति होना संभव नहीं।

दूसरी बात यह है कि 'समवाय' तो 'नित्य' है और पट 'असत्' है तब असत् पट का कारण में 'समवाय' कैसा? और असत् पट में 'सत्तासमवाय' कैसा? क्योंकि 'सत् और असत्' का सम्बन्ध तो असंभव है। अतः 'पट' को भी सत् कहना चाहिये। तथा च—कार्यार्थी के द्वारा कार्य की उत्पत्ति रूप प्रयोजन के लिये तुरी, वेमा आदि कारणों को (साधनों को) उपयोग में लाया जाता है, यह तुम्हारे मत से प्राप्त हुआ। उसी प्रकार मेरे मत में भी 'कारण व्यापार' से पूर्व भी 'सत्' रूप से स्थित रहने वाले पट आदि के 'आविर्भाव' के लिये कारणव्यापार की अपेक्षा होती है, यह सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार नैयायिक का प्रतिबन्दी ने मुखमुद्रण तो कर दिया, किन्तु नैयायिक के द्वारा दिये गये 'दोषों' का परिहार नहीं हो पाया। जैसे—'असंश्चेत्! प्राप्तं तर्हि असदुत्पादनम्, अथ सत्, कृतं तर्हि कारणव्यापारेण' यदि 'कार्य असत्' है तो 'सतः असदुत्पत्तिः'—'सत् से असत् की उत्पत्ति' का जो नैयायिकों का सिद्धान्त है उसे आपने मान लिया। और यदि कार्य को 'सत्' कहते हैं तो उसे पैदा करने के लिए 'कारणव्यापार' की आवश्यकता ही नहीं होगी, लेकिन 'कारणव्यापार' की आवश्यकता तो होती ही है, बिना उसके 'कार्य' हो ही नहीं पाता। इस आपत्ति (दोष) का परिहार आपने क्या किया?

इस दोष का परिहार सांख्यवादी इस प्रकार करेगा—'सभी वस्तुओं' की सत्ता (सत्त्व) सूक्ष्म और स्थूल रूप से 'दो प्रकार' की होती है। इस तथ्य में किसी का वैमत्य नहीं। ऐसी परिस्थिति में 'कारण व्यापार' के द्वारा 'सूक्ष्म' को आवृत कर लिया जाता है और 'स्थूल' को प्रकाशित किया जाता है। जैसे तम से आवृत घट का 'तेज से' प्रकाशन किया जाता है। अतः 'कारण व्यापार' को निष्प्रयोजन (व्यर्थ) नहीं कहा जा सकता। इसे स्वीकार कर लेने पर 'अनवस्था' भी नहीं हो पाती। 'स्थूल सत्ता' (सत्त्व) को ही 'अभिव्यक्ति' और 'सूक्ष्म सत्ता' (सत्त्व) को 'अनभिव्यक्ति' कहते हैं। 'प्रतिक्षण परिणामशील कारण' से जबतक सूक्ष्म सत्ता (सत्त्व) का 'अनुवर्तन' किया जाता है तब तक 'अभिव्यक्ति' आवृत रहती है और अपने कारणव्यापार से 'प्रकाशित' होती है।

नैयायिक प्रश्न करता है कि यदि हम 'आवरणे आवरणान्तरात्मकं सत्त्वम्' = आवरण पर अन्य आवरण, 'प्रकाशे च प्रकाशान्तरात्मकं सत्त्वम्' = प्रकाश पर अन्य प्रकाश का होना ही सत्त्व (सत्ता) कहें तो अनवस्था कायम रहेगी, नहीं हट पायगी। तब सांख्य सूत्रकार उत्तर देते हैं कि—"पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत्" (अध्याय १, सूत्र १२२) जैसे 'बीज' के लिए 'अंकुर' और 'अंकुर' के लिए 'बीज' अपेक्षित होता है। अतः इस क्रमिक अनवस्था को दोष नहीं माना जाता है। उसी प्रकार अभिव्यक्ति आदि में एककालीन पारम्पर्य से होनेवाली 'अनवस्था' को भी दोष नहीं माना। अथवा "उत्पत्तिवद् वा अदोषः" (अ० १, सू० १२३) जैसे 'उत्पत्ति की पुनः उत्पत्ति' स्वीकार न करने से नैयायिक के मत में 'अनवस्था' नहीं, वैसे ही 'अभिव्यक्ति' की पुनः अभिव्यक्ति स्वीकार न करने से सांख्य के मत में भी 'अनवस्था' न होगी। अब नैयायिक यदि यह कहे कि 'स्वकारणसमवायात्मक उत्पत्ति' के नित्य होने से 'कारणव्यापार' की अपेक्षा वहां नहीं होती, तथापि 'पट' के विशाल परिमाणादि स्वरूप के लिये 'कारणव्यापार' की अपेक्षा होती है, तब सांख्यवादी कहता है—

'न च पटरूपेण कारणानां सम्बन्ध इति ।' पट का जो 'विशालपरिमाणादिस्वरूप' है उसके साथ 'कारणों' का जन्य-जनकभाव सम्बन्ध नहीं है इसलिये 'असम्बद्ध अर्थ' का सम्पादन करके 'कारणव्यापार' की सार्थकता नहीं बताई जा सकती । इस पर नैयायिक यदि पूछे कि 'पटरूप के साथ 'कारणों' का सम्बन्ध क्यों नहीं ? तो समाधान देते हैं—तद्रूपस्याक्रियात्वादिति ।' उस 'पट' का परिमाणादि जो 'स्वरूप' है वह तो गुण है, 'क्रिया' नहीं, अर्थात् पटात्मक जो अपना 'कार्य' है उससे वह भिन्न है । अतः 'कारणों' का उसके साथ सम्बन्ध नहीं होता । आशय यह है कि 'स्वकारण' का 'कारण' अपने (स्व के) प्रति 'अन्यथासिद्ध' हुआ करता है ।

'व्यापार' के द्वारा 'व्यापारवान' अन्यथासिद्ध नहीं होता । 'तुरी' आदि व्यापारियों द्वारा 'पटादिव्यापार' से पटादि स्वरूप (परिमाणादि) उत्पन्न किया जा सकेगा, उसमें कोई असम्बद्धता नहीं है । तब कहते हैं—'क्रियासम्बन्धित्वाच्चेति ।' तुरी आदि कारणों का अपने कार्य 'पट' के साथ ही जन्य-जनकभाव सम्बन्ध होता है, न कि अपने 'अकार्यरूप-कार्यकार्य' के साथ भी ।

वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि—'क्रियासम्बन्धित्वं कारकत्वम्' । तदनुसार 'पटरूप' में तदभिमत क्रियात्व के न होने से, उसके साथ सम्बन्ध होना संभव नहीं । क्रियासम्बन्धित्वाच्च यहाँ 'च' कार व्याप्ति का सूचक है । 'यत् कारकं तत् क्रियासम्बन्धि' इति एवञ्च 'कारक' होने से ही 'क्रियासम्बन्धित्व' वहां घटित हो पाता है । जहां 'क्रियासम्बन्धित्व' नहीं होगा वहां 'कारकत्व भी नहीं होगा । इसी को अन्यथेति से कहते हैं—अन्यथा = 'क्रियासम्बधित्व' के न होने पर भावात्' अर्थात् 'कारकत्व' का ही भंग हो जायगा ।

(७६) कारिकोपसंहारः। **तस्मात् सत् कार्यमिति पुष्कलम् ॥ ९ ॥**

(७६) कारिका का उपसंहार। इसलिये सत्कार्यवाद निर्दुष्ट है, उसमें किसी प्रकार का कोई दोष नहीं है । एवञ्च 'कारणव्यापार' के पूर्व भी 'कार्य सत्' इस बात को अनेक प्रमाणों के द्वारा सुदृढ कर दिया गया है ॥९॥

(७७) व्यक्ताव्यक्तसारूप्यवैरूप्ये । **तदेवं प्रधानसाधनानुगुणं सत् कार्यमुपपाद्य यादृशं तत् प्रधानं साधनीयं तादृशमादर्शयितुं विवेकज्ञानोपयोगिनी व्यक्ताव्यक्तसारूप्यवैरूप्ये तावदाह—**

(७७) व्यक्त और अव्यक्त का सारूप्य-वैरूप्य । दशम कारिका की अवतरणिका 'तदेवमिति' से दे रहे हैं—'नवम कारिका' में कहे हुए प्रकार से 'मूलप्रकृति' की अनुमिति में 'सत्कार्यवाद' (कार्य का सत्त्व) परंपरया प्रयोजक होता है । यह अनेक युक्तियो से स्थिर करके अब उस 'प्रधान' (प्रकृति) को 'पुरुष-बुद्धि' आदि से विलक्षण सिद्ध करना है, अतः तत्साधनार्थ अनुमितिरूप विवेक ज्ञान[1] की आवश्यकता होगी, उस विवेकज्ञान में 'हेतुविधया'[2] उपयुक्त होने वाले 'साधर्म्य-वैधर्म्य' को पहले कहते हैं—

---

१. अव्यक्तम् इतरभिन्नम् इत्याकारकम् । यहां पर 'इतर शब्द' से 'व्यक्त और चेतन' समझने चाहिये ।

२. अव्यक्तावस्था व्यक्तावस्थाभिन्ना अहेतुमत्त्वात् । अव्यक्तं चेतनभिन्नम् त्रिगुणत्वात्-इस रीति से हेतुविधया सारूप्य-वैरूप्य का उपयोग होता है ।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

अन्वय—व्यक्तम् हेतुमत् , अनित्यम् , अव्यापि, सक्रियम् , अनेकम् , आश्रितम् , लिङ्गम् , सावयवम् , परतन्त्रम् । अव्यक्तं विपरीतम् ।

भावार्थ—'व्यक्तम्'—बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक् , चक्षु, रसना, घ्राण, वाक् , पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—तेईस तत्त्वात्मक पदार्थ समुदाय । 'हेतुमत्' = कारण से जन्य है अर्थात् आविर्भावशील है । 'अनित्यम्' = तिरोभाव शील है । 'अव्यापि' = कारण से व्याप्य है अर्थात् असर्वगत है । 'सक्रियम्' = अध्यवसायादि अपने अपने नियत कार्यकारि हैं । 'अनेकम्' = सर्गभेद से भिन्न है । आश्रितम् = अपने अपने कारण के सहारे से रहते हैं अर्थात् स्वकारणनिरूपित-आधेयतावाले हैं । 'लिङ्गम्' = अपने कारण के अनुमापक हैं । 'सावयम्' = अप्राप्तिपूर्वक प्राप्त्यात्मक संयोग या अनुयोगिता या प्रतियोगितावाले हैं । अर्थात् इनमें सत्त्व, रज तथा तमोगुण का मेल होने से सब सावयव हैं । 'परतन्त्रम्'=कार्यजनन में प्रयोजकरूप अपने कारण की अपेक्षा रखनेवाले हैं—यह बुद्धि आदि त्रयोविंशति तत्त्वों का परस्पर साधर्म्य (समान धर्म) है । इन धर्मों का 'वैपरीत्य' 'अव्यक्त प्रकृति' में है हेतुमती नहीं है क्योंकि वह सब कार्यों का मूल कारण है, यदि उसका भी कारण माना जाय तो अनवस्था दोष होगा । सभी कार्यों में 'प्रकृति' का सम्बन्ध होने से वह व्यापक है तथा शान्त, घोर, मूढादि क्रिया रहित होने से निष्क्रिय है और सजातीय भेद शून्य होने से एक है और कारण रहित होने से निराश्रय है, तथा पुरुष की अनुमापक होने पर भी अपने कारण की अनुमापक न होने से अलिङ्ग है, और सत्त्वादि गुणात्मक होने से निरवयव है तथा कार्योत्पत्ति में स्वयं समर्थ होने से स्वतन्त्र है ॥

(७८) व्यक्तानां साक्ष्यम् । तत्र हेतुमत्त्वम् ॥ (१)

"हेतुमत्" इति । व्यक्तं हेतुमत् , हेतुः कारणम् , तद्वत् , यस्य च यो हेतुस्तमुपरिष्टाद्वक्ष्यति ॥

(७८) व्यक्तों का सारूप्य, हेतुमत्त्व से (१) ।

'हेतुमद्' इति । 'व्यक्त' हेतुमत् होता है । हेतु का अर्थ है—'कारण' । 'तद्वत्'—तत् (कारण) विद्यते = है, आविर्भावे = प्रकट होने में, यस्य = जिस के, उसे 'तद्वत्' अर्थात् 'हेतुमत्' कहते हैं । जिस 'महदादि व्यक्त पदार्थों' का जो हेतु = कारण है उसे आगे "प्रकृतेर्महान्"—इस बाईसवीं कारिका में कारिकाकार बतावेंगे । सभी व्यक्त पदार्थों का 'हेतु' (कारण) 'प्रधान' (प्रकृति) है । अतः 'बुद्धितत्त्व' हेतुमत् है, क्योंकि वह 'प्रधान' (प्रकृति) से पैदा होता है । 'अहंकार' हेतुमान् है, क्योंकि वह 'बुद्धि' से पैदा होता है । 'पंचतन्मात्राएँ' और 'एकादश इन्द्रियां' हेतुमान् हैं, क्योंकि वे दोनों 'अहंकार' से पैदा होते हैं, और 'पंचमहाभूत' हेतुमान् हैं क्योंकि वे 'पंचतन्मात्राओं' से पैदा होते हैं । तथाहि—'आकाश' हेतुमान् इसलिये है कि वह शब्दतन्मात्रा से पैदा होता है । 'वायु' हेतुमान् इसलिये है कि वह 'स्पर्शतन्मात्रा' से पैदा होता है, 'तेज' हेतुमान् इसलिये है कि वह 'रूपतन्मात्रा' से पैदा होता है, 'अप्' (जल) हेतुमान् इसलिये है कि वह रसतन्मात्रा से पैदा होता है, 'पृथ्वी' हेतुमती इसलिये है कि वह 'गन्धतन्मात्रा' से पैदा होती है—इस प्रकार 'पञ्चमहाभूतों' तक समस्त व्यक्त पदार्थ हेतुमान् हैं, यह सिद्ध होता है ।

(७९) अनित्यत्वम् । (२) "अनित्यम्", विनाशि, तिरोभावीति यावत् ॥

'अनित्य' पद की व्याख्या करते हैं—'विनाशीति'। 'विनाश' का अर्थ है—अपने 'कारण' में सूक्ष्मरूप से रहना। इसी अभिप्राय को सांख्यसूत्रकार भी कहते हैं—"नाशः कारणलयः।" विनाशः अस्ति अस्य इति विनाशि = तिरोभावशील अर्थात् तिरोभावि (अप्रकट रूप से रहना)। सांख्य के 'सत्कार्यवाद' में 'उत्पत्ति' और 'विनाश' का अर्थ आविर्भाव (प्रकट होना) और तिरोभाव (अप्रकट रहना) है।

(७९) व्यक्तों का सारूप्य अनित्यत्व से। (२)

(८०) अव्यापित्वम् ।(३) "अव्यापि", सर्वं परिणामिनं न व्याप्नोति। कारणेन हि कार्यमाविष्टम्, न कार्येण कारणम्। न च बुद्ध्यादयः प्रधानं वेविषतीत्यव्यापकाः ॥

"अव्यापि" का अर्थ करते हैं—"सर्वं परिणामिनं न व्याप्नोति"—परिणामः अस्ति अस्य इति परिणामी, तम्। परिणाम की परिभाषा—"अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः।" 'अव्यापि' का अर्थ हुआ अव्यापक, अर्थात् जो 'सर्वगत' नहीं है। 'व्यक्तपदार्थ' के अव्यापक होने में 'हेतु' बताते हैं—"कारणेनेति"। 'हि' शब्द हेतुवाचक है। एवंच—अपने-अपने 'कार्य' में कारण के व्याप्त रहने पर भी 'कार्य' अपने कारण में पूर्ण रूप से कभी भी व्याप्त नहीं रहता, इसलिये 'कार्य'-अव्यापक है। 'आविष्ट' का अर्थ 'व्याप्त' है। 'वेविषति' का अर्थ 'व्याप्नुवन्ति' है।

(८०) अव्यापित्व (३) के कारण व्यक्तों की सरूपता।

(८१) सक्रियत्वम् । (४) "सक्रियम्", परिस्पन्दवत्। तथा हि बुद्ध्यादयः उपात्तमुपात्तं देहं त्यजन्ति देहान्तरं चोपाददत इति तेषां परिस्पन्दः। शरीरपृथिव्यादीनां च परिस्पन्दः प्रसिद्ध एव ॥

'सक्रियम्' का अर्थ करते हैं—'परिस्पन्दवत्'। परिस्पन्दः अस्ति-अस्मिन् तत्-परिस्पन्दवत्। 'परिस्पन्द' की परिभाषा है—'प्रवेशनिःसरणादिरूपा क्रिया परिस्पदः।' इसी का उपपादन करते हैं—"तथा हीति।" 'बुद्ध्यादि व्यक्तपदार्थ' बार बार उपात्तं उपात्तं = गृहीतं गृहीतं—ग्रहण (धारण) किये हुए 'देह' (शरीर) को त्यागते हैं और देहान्तर (अन्य शरीर) का उपादान (स्वीकार) करते हैं—यही बुद्ध्यादिकों का 'परिस्पन्द' है। 'स्थूल शरीर' और 'स्थूल पृथिवी' आदि भूतों का 'परिस्पन्द' अर्थात् 'संयोगवियोगानुकूलक्रिया' प्रसिद्ध ही है। क्रिया दो प्रकार की होती है—'गमनादिरूपा स्पन्दात्मिका' और दूसरी—'आकुञ्चनप्रसारणादिसंवरणरूपा परिणामात्मिका।' उनमें पहिली 'कार्यमात्रवर्तिनी' और दूसरी 'कारणवर्तिनी' होती है।

(८१) सक्रियत्व के कारण व्यक्तों की सरूपता। (४)

(८२) अनेकत्वम् । (५) "अनेकम्", प्रतिपुरुषं बुद्ध्यादीनां भेदात्, पृथिव्याद्यपि शरीरघटादिभेदेनानेकमेव ॥

'अनेकम्' सजातीय भेद से युक्त अर्थात् सजातीयभेदवत्। 'सजातीयभेदवत्त्व' का परिष्कार सांख्यचन्द्रिकाकार ने इस प्रकार किया है—'स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभावसमानाधिकरणतत्त्वविभाजकोपाधिमत्त्वम्' यहां 'स्व' शब्द से महत्तत्त्वादि, उसका आश्रय महदादि, वह है प्रतियोगी जिसका ऐसा जो 'अन्योन्याभाव' तत्समानाधिकरण जो 'तत्त्वविभाजकोपाधि'—तद्वत्त्वम् = उससे युक्त होना। यह लक्षण—

(८२) अनेकत्व के कारण व्यक्तों की सरूपता। (५)

'महदादिकों' में घटित होता है, क्योंकि 'महदादिप्रतियोगिक अन्योन्याभाव' के साथ 'महदन्तरादि' में महत्तत्त्वादि का सामानाधिकरण्य है ही। 'प्रकृति' में यह लक्षण नहीं जायगा, क्योंकि प्रकृत्यन्योन्याभाव प्रकृति में तो रहेगा नहीं। 'पुरुष' में अनेकत्व तो इष्ट ही है, अतः कोई दोष नहीं। व्यक्त पदार्थों के अनेकत्व में हेतु बताते हैं—'प्रति पुरुषमिति। 'प्रत्येक पुरुष' के प्रति बुद्धि आदि तन्मात्रान्त सूक्ष्म शरीर भिन्न-भिन्न हैं, सूक्ष्म शरीर अनेक हैं। अन्यथा 'एक ही बुद्धि' सब पुरुषों के साथ रहने पर विरुद्ध प्रवृत्ति-निवृत्तियां नहीं बन सकेंगीं। पृथ्वी आदि तत्त्व तो एक एक ही हैं, उनमें अनेकत्व कैसे संभव है? इसके उत्तर में कहते हैं—"पृथिव्याद्यपीति।" पृथ्वी आदि पंचभूत भी पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय, जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज आदि शरीरों के भेद से तथा घट, करक, सुवर्णादि के भेद से अनेक हैं।

(८३) आश्रितत्वम्। (६) **"आश्रितम्" स्वकारणमाश्रितम्। बुद्ध्यादिकार्याणामभेदेऽपि कथञ्चिद्भेदविवक्षयाऽऽश्रयाश्रयिभावः, यथेह वने तिलका इत्युक्तम्॥**

'आश्रितम्"—'व्यक्त पदार्थ' आश्रित हैं। इसका उपपादन करते हैं—"स्वकारणमाश्रितमिति।" अर्थात् 'स्वकारणनिरूपिताऽऽधेयतावत्त्वम्।' जैसे—बुद्धि, स्वकारण प्रधान पर आश्रित है। अहंकार स्वकारण महत्तत्त्व (बुद्धि) पर आश्रित है। एकादश इन्द्रिय और पंचतन्मात्रा स्वकारण अहंकार पर आश्रित है और पंचमहाभूत स्वकारण पंचतन्मात्रा पर आश्रित हैं। इसी प्रकार जितना भी व्यक्त पदार्थ समुदाय है वह अपने कारण पर आश्रित है।

(८३) आश्रितत्व। (६)

शंका—'कार्य-कारण का तादात्म्य' होने से कौन किस का आश्रय और कौन किसका आश्रित? अर्थात् कोई किसी का आश्रित नहीं कहा जा सकता।

समा०—'कारण' के साथ 'कार्य' का तादात्म्य रहने पर भी यथा कथंचित् भेद विवक्षा से 'आश्रयाश्रयिभाव' (आधाराधेयभाव) समझना चाहिये। जैसे—वृक्ष और वन में भेद न रहने पर भी 'इह वने तिलकाः' यहां पर वन में 'आश्रयता' और तिलकों में 'आश्रितता' मानी जाती है। वास्तव में तो कारणावस्था से कार्यावस्था भिन्न होनेसे आश्रयाश्रयिभाव मान लेना उचित है।

(८४) लिङ्गत्वम्॥(७) **"लिङ्गम्" प्रधानस्य। यथा चैते बुद्ध्यादयः प्रधानस्य लिङ्गम्, तथोपरिष्टाद्वक्ष्यति। प्रधानं तु न प्रधानस्य लिङ्गम् पुरुषस्य लिङ्गम्भवदपीति भावः॥**

"लिङ्गम्" इति। किसका लिङ्ग?—ऐसी आकांक्षा होने पर शेषपूर्ति करते हैं—'प्रधानस्येति।' बुद्धि आदि प्रधान (मूल प्रकृति) का लिङ्ग (अनुमापक) है। लिङ्गयति = ज्ञापयति इति लिङ्गम् = अनुमापकम्। ये बुद्धि आदि किस रीति से 'प्रधान' के लिङ्ग होते हैं? उत्तर में

(८४) लिङ्गत्व। (७)

कहते हैं—'यथा चैते' इति। 'बुद्ध्यादि' जिस रीतिसे 'प्रधान' के लिङ्ग (अनुमापक) होते हैं—उसे आगे 'भेदानां परिमाणात्'—पंद्रहवीं कारिका में बतावेंगे। 'प्रधान' भी पुरुष का अनुमापक' है तब व्यक्तमात्र का 'लिङ्गत्वरूप साधर्म्य' कैसे कहा गया? 'लिङ्गम्' के बाद ही 'प्रधानस्य' का अध्याहार करके कौमुदीकार ने समाधान कर दिया है। 'प्रधानस्य लिङ्गम्' ऐसा व्याख्यान करने पर 'प्रधान' में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। इसी अभिप्राय को 'प्रधानं त्विति' से बताते हैं 'पुरुष' का लिङ्ग होता हुआ भी 'प्रधान' अपना लिङ्ग नहीं है, अतः 'प्रधान' में अतिव्याप्ति नहीं है। गौडपादाचार्य 'लिङ्गम्' का अर्थ 'लययुक्तम्' करते हैं, लय के समय पंचमहाभूत तन्मात्राओं में लीन होते हैं, 'तान्मात्राएँ' एकादश इन्द्रियों के साथ अहंकार में, 'वह' बुद्धि में और 'वह' प्रधान में विलीन होती है।

"सावयवम्" अवयवावयविसंयोगसंयोगि। अथवा अवयवनम् अवयवः, अवयवानामवयविनां मिथः संश्लेषो मिश्रणम् संयोग इति यावत्। अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः। तेन सह वर्तत इति सावयवम्। तथाहि पृथिव्यादयः परस्परं संयुज्यन्ते, एवमन्येऽपि। न तु प्रधानस्य बुद्ध्यादिभिः संयोगः, तादात्म्यात्। नापि सत्त्वरजस्तमसां परस्परं संयोगः अप्राप्तेरभावात्॥

(८५) सावयवत्वम्॥ (८)

"सावयवम्"—पहले 'हेतुमान्' और बाद में 'सावयव' कहते हैं, तो क्या यह पुनरुक्ति नहीं होगी? समाधानार्थ 'सावयवम्' की व्याख्या करते हैं—अवयवनम्-अवयवः-मिथः संश्लेषः = मिश्रणं = संयोगः इति। यहां संयोग शब्द से नित्य संयोग नहीं लेना है, अन्यथा साम्यावस्थात्मक गुणत्रय में अतिव्याप्ति होगी इति। अतः 'अप्राप्तिपूर्विका प्राप्ति को' संयोग कहते हैं। ऐसे 'अवयव' के साथ जो रहे उसे सावयव अर्थात् 'संयोग' कहते हैं। एवं च 'सावयव' का अर्थ हुआ संयोगयोगी। 'संयोग' का एक अनुयोगी और एक प्रतियोगी होता है। उनमें जिसका संयोग होगा वह 'प्रतियोगी' और जिसमें या जिसके साथ संयोग रहेगा वह 'अनुयोगी' होता है। अपनी परिष्कृत सावयवता को घटाकर दिखाते हैं—"तथाहि०" इति। 'पृथ्वीजलादयः स्थूलभूताः पूर्वम् अप्राप्ताः पश्चात् प्राप्ता भवन्ति। एवमन्येऽपि तन्मात्रादयः पूर्वम् अप्राप्ताः पश्चात् परस्परं संयुज्यन्ते = प्राप्ता भवन्ति, भूतावेशादिस्थले बुद्ध्यादिकमपि बुद्ध्यादिकान्तरेण मानसादिना वा अप्राप्तेन प्राप्तं भवति, अतः ससंयोगत्वमुपपन्नम्।' संयोग के लक्षण में 'अप्राप्तिपूर्विका' पद का प्रयोजन यह है कि 'प्रधान' में अतिव्याप्ति नहीं हो पाती। क्योंकि 'प्रधान' (मूल प्रकृति) का बुद्ध्यादि कार्यों के साथ 'तादात्म्य संबन्ध' होने से तथाकथित संयोग नहीं है। 'तादात्म्यस्थल' में नित्यप्राप्ति ही रहती है, कभी भी अप्राप्ति पूर्विका प्राप्ति नहीं होती। इसलिये 'प्रधान' (मूल प्रकृति), संयोगसंबंध का प्रतियोगी नहीं बन पाता। उसी तरह 'गुणत्रय संयोग' का अनुयोगी भी 'प्रधान' नहीं बन पाता, क्योंकि 'सत्त्वरजस्तमों' के विभु (नित्य प्राप्त) रहने से उनकी परस्पर 'अप्राप्ति' का अभाव ही है। इसलिए 'सत्त्वरजस्तमोंगुणों' का परस्पर संयोग रहने से 'प्रधान' में अतिव्याप्ति नहीं समझनी चाहिये।

"परतन्त्रम्" बुद्ध्यादि। बुद्ध्या स्वकार्येऽहङ्कारे जनयितव्ये प्रकृत्या-

(८६) परतन्त्रत्वम् । (९)

पूरोऽपेक्ष्यते, अन्यथा क्षीणा सती नालमहङ्कारं जनयितुमिति स्थितिः। एवमहङ्कारादिभिरपि स्वकार्यजनने। इति सर्वं स्वकार्येषु प्रकृत्यापूरमपेक्षते। तेन परां प्रकृतिमपेक्षमाणं कारणमपि स्वकार्यजनने परतन्त्रं व्यक्तम् ॥

"परतन्त्रम्" = पराधीन हैं बुद्धयादि। बुद्धयादि अपना-अपना कार्य करने में स्वतंत्र नहीं है। क्योंकि बुद्धि को अहंकारात्मक कार्य पैदा करने में 'प्रकृत्यापूरम् = प्रकृति की सहायता की अपेक्षा रहती है। जैसे—वृक्ष को फल पैदा करने के लिये स्थूलांश के ग्रहण करने में पृथ्वी की सहायता अपेक्षित होती है अर्थात् पृथ्वी अपना अंश देकर फल पैदा करने में वृक्ष को पूरित (समर्थ) करती है, वैसे ही प्रकृति-स्वरूप त्रिगुणों की सहायता से 'बुद्धि', त्रिगुणात्मक अहंकार को पैदा करती है। अन्यथा अर्थात् प्रकृति से सहायता की अपेक्षा यदि न करे तो 'बुद्धि' क्षीणा = जीवनरहित ही हो जायगी, तब वह 'अहंकार' स्वरूप अपने कार्य को पैदा करने में समर्थ नहीं हो पायगी—यह वास्तविक स्थिति है। इसी प्रकार अहंकारादि भी अपने 'तन्मात्रा', 'इन्द्रिय आदि कार्यों को पैदा करने में बुद्धयादि से सहायता की अपेक्षा करते हैं। इस रीति से जितने भी यच्च यावत् कार्य हैं, वे सभी अपने-अपने कार्यों को पैदा करने में अपनी-अपनी 'प्रकृति' (कारण) से सहायता चाहते हैं। क्योंकि यह नियम है—"सर्वं स्वकार्येषु प्रकृत्यापूरमपेक्षते"। इसलिये (उक्त नियम होने के कारण) 'परा प्रकृति' अर्थात् मूल प्रकृति को अपने सहायक रूप में अपेक्षा करने वाला जो संसार का अङ्कुरस्वरूप कारण = 'व्यक्त' अर्थात् 'बुद्धितत्त्व' है वह भी 'अहंकारात्मक' स्वकार्यजनन में परतन्त्र है।

(८७) अव्यक्तस्य वैपरीत्यम्।

"विपरीतमव्यक्तम्"—व्यक्तात्। अहेतुमन्नित्यं व्यापि निष्क्रियम्, यद्यप्यव्यक्तस्यास्ति परिणामलक्षणा क्रिया तथाऽपि परिस्पन्दो नास्ति। एकमनाश्रितमलिङ्गमनवयवं स्वतन्त्रमव्यक्तम्।

(८७) अव्यक्त का वैपरीत्य।

'व्यक्त (बुद्धयादि) पदार्थों का परस्पर साधर्म्य बताकर 'अव्यक्त' (प्रकृति) में तद् (व्यक्त) विरुद्ध धर्मों को बताते हैं—'विपरीतमव्यक्तम्' इति। किस से विपरीत—ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—"व्यक्तात्" इति। विपरीत धर्मों को बताते हैं—"अहेतुमदित्यादि।" (अव्यक्त) 'अहेतुमत्' है अर्थात् 'अज' है, किसी से इसका आविर्भाव नहीं होता, क्योंकि इसी में कारणता की विश्रान्ति मानी गई है। 'नित्यम्'—निरन्तर रहने से इसका तिरोभाव कभी नहीं होता। 'व्यापि०'—सर्वगत होने से समस्त परिणाम का व्यापक है। 'निष्क्रियम्'—शान्तादि क्रियाओं से रहित होने के कारण प्रवेश-निःसारणादि क्रिया (परिस्पन्द) से शून्य है। 'क्रिया' अनेक प्रकार की होती है—'परिणामात्मिका', 'संयोगानुकूलकर्मात्मिका', 'स्वासाधारणव्यापारात्मिका'। उनमें से 'परिणामात्मिका क्रिया'—'प्रकृति' में होने से 'निष्क्रियत्व' की उसमें अव्याप्ति है—"यद्यप्यव्यक्तस्यापीति"—यद्यपि अव्यक्त (प्रकृति) की 'परिणामलक्षणा = ' महत्तत्त्वात्मक अन्यथाभावात्मिका क्रिया होती है। 'तथापि' से उसका समाधान करते

है—'निष्क्रिय' शब्द से यहां पर 'परिणामात्मिका क्रिया' विवक्षित नहीं है, किन्तु 'परिस्पन्द' अर्थात् 'अप्राप्तिपूर्वक प्राप्त्यात्मक संयोगानुकूल क्रिया' विवक्षित है। वह क्रिया 'प्रकृति' में न होने से अव्याप्ति नहीं है। "एकम्"—सजातीय भेदशून्य, 'अनाश्रितम्'—कारण शून्य होने से किसी कारण में वह वृत्ति नहीं है। 'अलिङ्गम्'—कारण का अननुमापक है। अतः 'पुरुष' का अनुमापक रहने में कोई हानि नहीं है। 'अनवयवम्'—असंयोगी है। 'स्वतन्त्रम्'—दूसरे की अपेक्षा न रखते हुए स्वकार्यजनन में समर्थ है। यद्यपि अदृष्टादि' की अपेक्षा रखता है तथापि 'स्वोपादान' की अपेक्षा नहीं रखता। इन धर्मों से युक्त 'अव्यक्त' (मूल प्रकृति) है। यद्यपि 'अहेतुमत्त्वादिधर्म' जैसे 'प्रकृति' में हैं वैसे ही 'पुरुष' में भी हैं, केवल 'एकत्व धर्म' जो प्रकृति में हैं, वह 'पुरुष' में नहीं हैं, इस रीति से बहुत अधिक साधर्म्य 'प्रकृति-पुरुष' का उपलब्ध होता है। अतः दोनों का स्पष्ट वैधर्म्य बताने के लिये "त्रिगुणत्वे सति अहेतुमत्, त्रिगुणत्वे सति नित्यम्"—इस प्रकार प्रत्येक के साथ "त्रिगुणत्वे सति" विशेषण देने से 'पुरुष-प्रकृति' का वैधर्म्य स्पष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

(८८) व्यक्ताव्यक्तयोस्साधर्म्याणि पुरुषाच्च तयोर्वैधर्म्यम् ॥

तदनेन प्रबन्धेन व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तम्। सम्प्रति तयोः साधर्म्यम्, पुरुषाच्च वैधर्म्यम्, आह—

(८८) व्यक्त और अव्यक्त में साधर्म्य एवं दोनों का पुरुष से वैधर्म्य।

ग्यारहवीं कारिका को उपस्थित कराने के हेतु कौमुदीकार कहते हैं—"तदनेन प्रबन्धेनेति।". 'हेतुमदनित्यमव्यापि०' कारिका के द्वारा 'व्यक्त का' जो साधर्म्य है वह अव्यक्त का वैधर्म्य और जो 'अव्यक्त' का साधर्म्य है वह 'व्यक्त' का वैधर्म्य है—यह बताया। अब 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' का साधर्म्य तथा उन दोनों का 'पुरुष' से वैधर्म्य बता रहे हैं—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनम्प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं, तथा प्रधानम्, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

अन्व०—व्यक्तं तथा प्रधानं त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः, सामान्यम्, अचेतनम्, प्रसवधर्मि (भवति), तद्विपरीतः तथा च पुमान् (भवति) ॥

भावार्थ—'व्यक्त' और 'अव्यक्त' का साधर्म्य—'त्रिगुणम्'=सुखदुःखमोहात्मकत्व, 'अविवेकि'= परस्परसम्मिश्रणपुरःसरकार्यकारणशीलत्व, 'विषयः'. = उपभोगसाधनत्व, 'सामान्यम्' = अनेक पुरुषभोग्यत्व, अचेतनम्' = जडत्व, 'प्रसवधर्मि' = सरूप-विरूपान्यतरपरिणामशीलत्व—है। और 'पुरुष का वैधर्म्य—'तद्विपरीतः पुमान्' = त्रिगुणत्वादिविपरीतधर्मवान् पुरुष है। 'निर्धर्मक पुरुष' में ये धर्म कल्पित हैं। वास्तव में सुखदुःखमोहानात्मकत्व—परस्परसम्मिश्रणपुरःसरकार्य-करणशीलं यत् यत् तद्भिन्नत्व, उपभोगसाधनभिन्नत्व, भोग्यत्वानधिकरणत्व, जडत्वानधिकरणत्व, परिणामानधिकरणत्व, उसी प्रकार 'तथा च'—'हेतुमदनित्य'—इस कारिका के द्वारा उक्त धर्मों से रहित 'पुरुष' है। तथा च—अहेतुमत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व, निष्क्रियत्व, अनाश्रितत्व, अलिङ्गत्व, निरवयवत्व, स्वतन्त्रत्व—यह प्रकृति का पुरुष से साधर्म्य है।

(८९) त्रिगुणत्वम् प्रथमम् साधर्म्यम् ॥ (१)

"त्रिगुणम्" इति। त्रयो गुणाः सुखदुःखमोहा अस्येति त्रिगुणम्। तदनेन सुखादीनामात्मगुणत्वम् पराभिमतमपाकृतम् ॥

"त्रिगुणमि"ति। 'त्रयो गुणाः = सुखदुःखमोहा, अस्येति'। त्रिगुणम् 'सत्त्व' 'रज' और 'तम'–इन तीन गुणों के धर्म हैं–सुख, दुःख और मोह। तथापि 'धर्म' और धर्मी की अभेदविवक्षा से उन्हें (सुखादिकों को) गुण ही मान लिया गया है। 'सुखादिक' दो प्रकार के होते हैं—कचित् 'स्थूल अवस्था' में और कचित् 'सूक्ष्म अवस्था' में। प्रकृति, महत्, अहंकार, मन, तन्मात्रा, इन्द्रिय-इनमें सूक्ष्मावस्था से रहते हैं, और 'स्थूल भूतों' में स्थूल अवस्था से रहते हैं। तात्पर्य यह है कि "त्रिगुणम्" यहां पर 'गुण' शब्द से सुख-दुःख-मोह को न लेकर यदि सत्त्व-रज-तम-इन गुणों को ही लें, तो "त्रिगुणम्" का अर्थ होगा—सत्त्वादिर्गुणत्रय के आधार 'व्यक्त-अव्यक्त' हैं। किन्तु यह संभव नहीं, क्योंकि 'महदादि व्यक्त' तो गुणत्रय (सत्त्व, रज, तम तीन गुणों) के आधार होते हैं, लेकिन 'अव्यक्त' (मूल प्रकृति) गुणत्रय का आधार कभी नहीं हो सकती, अतः अव्याप्ति होगी।

(८९) त्रिगुणत्व प्रथम साधर्म्य। (१)

सांख्यसूत्रकार कहते हैं—"सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्" इति। 'सत्त्वादिगुण' प्रकृत के धर्म नहीं हैं, वे (गुण) तो प्रकृतिस्वरूप ही हैं। अतः 'प्रधान' (प्रकृति = अव्यक्त) गुणत्रयात्मक होने से वह 'गुणत्रय' का आधार कैसे हो सकता है? यह सोचकर ही कौमुदीकार ने कहा कि 'त्रिगुणम्' में 'गुण' शब्द का अर्थ सुख, दुःख, मोह करना चाहिये, जिससे प्रधान में अव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि 'प्रधान' में सत्त्वादि के धर्मभूत सुखदुःखादि की आधारता संभव है। "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्" इस न्यायसूत्र के अनुसारी नैयायिकों के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं—"तदनेनेति।" अनेन—सुखदुःखादि 'व्यक्ताव्यक्त' के धर्म हैं—इस कथन से तार्किकसम्मत सुखादिकों की आत्मगुणता का अपाकरण (खण्डन) किया गया है। क्योंकि "असङ्गो ह्ययं पुरुषः", "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इत्यादि श्रुतियों से विरोध होने के कारण सुखादिकों को 'आत्मा' के धर्म नहीं कहा जा सकता है।

"अविवेकि"। यथा प्रधानं न स्वतो विविच्यते, एवम्महदादयोऽपि न प्रधानात् विविच्यन्ते, तदात्मकत्वात्। अथ वा सम्भूयकारिताऽत्राविवेकिता। न हि किञ्चिदेकं पर्याप्तं स्वकार्ये, अपि तु सम्भूय। तत्र नैकस्मात् यस्य कस्यचित् केनचित्सम्भव इति॥

(९०) अविवेकित्वम् द्वितीयम्। (२)

"अविवेकीति।" विवेकः न यस्य विद्यते तद् अविवेकि। 'विवेक' का अर्थ है भेद अर्थात् पृथक् होना। अविवेकि = प्रधान से अभिन्न है व्यक्त। इसी को स्पष्ट करते हैं—"यथा प्रधानमिति।" जैसे 'प्रधान' स्वतः–(अपने) से 'न विविच्यते'—भिन्न नहीं, क्योंकि अपना 'भेद' अपने में असंभव है; उसी प्रकार 'महदादि' भी प्रधान से भिन्न नहीं है, क्योंकि 'तदात्मकत्वात्' = कार्य और कारण दोनों में एकता होने से 'महदादि' भी 'प्रधानात्मक' है। तथा च—'व्यक्तम्' (महदादि) अविवेकि (प्रधानाभिन्नम्) कार्य-करणयोरभेदात्।' इसी प्रकार 'प्रधानम् अविवेकि (प्रधानाभिन्नम्) स्वस्मिन् स्वस्य भेदाऽसंभवात्।'

(९०) अविवेकित्व द्वितीय। (२)

'अविवेक' की अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं—'अथवेति।' यहां 'अविवेक' का अर्थ संभूयकारिता = मिथः संमिश्रण पुरःसर कार्यकरणशीलता है, क्योंकि कोई भी 'एक तत्त्व' अकेला अपने कार्य को पैदा करने में पर्याप्त (समर्थ) नहीं है, अपितु संभूय = मिलकर (अपने कारण से

सहायता लेकर ही) अपना कार्य करने में समर्थ होता है। अतः 'महदादिकों' को संहत्यकार्यकारिता है। इससे यह समझ में आता है कि यह नियम है—'कार्यत्वावच्छिन्नम्प्रति समुदितकारणानामेव जनकत्वम्'। तत्र = ऐसा नियम रहने से यह कहा जा सकता है कि कोई भी 'कारण' दूसरे की सहायता लिये बिना 'किसी कार्य' को प्रकट नहीं कर सकता।

ये त्वाहुः—'विज्ञानमेव हर्षविषादमोहशब्दाद्यात्मकम्, न पुनरितोऽन्यस्तद्धर्मो' इति—तान् प्रत्याह—"विषय" इति। 'विषयो' ग्राह्यः, विज्ञानाद्बहिरिति यावत्। अत एव "सामान्यम्" साधारणम्, अनेकैः पुरुषैर्गृहीतमित्यर्थः। विज्ञानाकारत्वे तु, असाधारण्याद्विज्ञानानां वृत्तिरूपाणां, तेऽप्यसाधारणाः स्युः। विज्ञानं यथा परेण न गृह्यते, परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादित्यभिप्रायः। तथा च नर्तकी-भ्रूलताभङ्गे एकस्मिन् बहूनां प्रतिसन्धानं युक्तम्। अन्यथा तन्न स्यात् इति भावः॥

(९१) विषयत्वम् सामान्यत्वं च तृतीय-चतुर्थे। (३) (४)

विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध कहते हैं—जैसे 'स्वाप्नज्ञान', बाह्यपदार्थ के बिना भी 'ग्राह्य तथा ग्राहक' के आकार को धारण कर लेता है, 'जाग्रत् अवस्था' में बिना बाह्यपदार्थ के जैसे—जल के न रहने पर भी मरु-मरीचिकादि का ज्ञान होता है, वैसे ही अर्थात् इन्हीं ज्ञानों के तुल्य 'घट–पटादिकों' का ज्ञान भी है, अतः उसे भी बाह्यालम्बन रहित ही मानना चाहिये। एवं च—सभी कुछ 'क्षणिकविज्ञानात्मक' ही है। तथा च 'घटादयः ज्ञानरूपाः ज्ञानाऽविषयकप्रतीत्यविषयत्वे सति ज्ञानविषयकप्रतीतिविषयत्वात्, ज्ञानवत्।' ज्ञान के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, जो कुछ भी है वह सब ज्ञानरूप ही है।

(९१) विषयत्व और सामान्यत्व तृतीय तथा चतुर्थ। (३) (४)

उनके मत का खण्डन करने के लिये 'विषय' ग्रहण का प्रयोजन दिखाते हुए योगाचार का मत बताते हैं—"ये त्वाहुरिति।" जो बाह्यार्थ शून्यवादी योगाचार हैं, वे कहते हैं—हर्ष, विषाद, मोह (सुख-दुःख-मोह) को पैदा करनेवाले जो शब्दस्पर्शादि विषय हैं, वे सब चित्तवृत्तिरूप विज्ञान के ही आकार हैं, ज्ञान के अतिरिक्त कोई घट शब्दादि प्रपञ्च सुखादिधर्मवान् नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हैं—"सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाऽद्वये॥' जिसका जिसके साथ नियतसहोपलम्भ रहता है उसका उसके साथ भेद नहीं, अर्थात् वह उससे भिन्न नहीं रहता। किसी एक पदार्थ के साथ ही और एक ही समय में किसी पदार्थ का सहभान होना 'सहोपलम्भनियम' कहलाता है। जैसे—'द्वितीयचन्द्र का' ज्ञान वास्तव में 'एकचन्द्रज्ञान' के समय ही होता है, इसलिए 'द्वितीयचन्द्र' भिन्न नहीं माना जाता। उसी तरह 'ज्ञानकाल' में ही विषय का भान होने से विषय भी 'ज्ञान' से भिन्न नहीं है। तथा च—'नील विषय' और 'नील ज्ञान' का सहोपलम्भनियम होने से 'ज्ञान' का विषय के साथ अभेद स्पष्ट है। संक्षेप में यह कह सकते हैं—'यत् खलु येन सह नियमेन उपलभ्यते तत् ततो न व्यतिरिच्यते।' यथा एकेन चन्द्रमसा द्वितीयश्चन्द्रः। बाह्यार्थोऽपि नियमेन विज्ञानेन सहैव उपलभ्यते, न तद्व्यतिरेकेण कदाचित्। अतः ज्ञान से अर्थ (विषय) भिन्न नहीं है।

उन योगाचारों को उत्तर देते हैं—"विषय" इति। 'विसिनोति विषयिणम् अनुबध्नाति इति विषयः' अर्थात् ज्ञानविषयः। इसी का अर्थ कौमुदीकार ने 'ग्राह्यः' किया है। किन्तु 'ज्ञान' भी ज्ञान का विषय होता है तब योगाचार के मत का खण्डन कैसे होगा ? इसलिये—

कौमुदीकार ने 'ग्राह्यः' का अर्थ अधिक स्पष्ट किया 'विज्ञानाद् बहिः' इति यावत् अर्थात् 'घटपटादि' (पदार्थ) विज्ञानरूप न होकर आन्तरिक 'विज्ञान' से भिन्न बाहरी पदार्थ हैं। तथा च—'घटादिकम् विज्ञानभिन्नम् सर्वसाधारणगृहीतत्वात्।'—यह अनुमान प्रयोग हुआ। 'सर्वसाधारणगृहीतत्वात्'—हेतु का उपपादन करते हैं—'यत एव सामान्यमिति।' यतः = जिस कारण 'घटादि पदार्थ' अनेक पुरुषों के प्रत्यक्ष का विषय बनते हैं, अतः वे पदार्थ, विज्ञान से भिन्न हैं इस प्रकार 'व्याप्य से व्यापक की' सिद्धि होती है। घटादि पदार्थों को विज्ञानाकार मानने पर उनकी लोकप्रसिद्धि नहीं बन पायगी—यह बता रहे हैं—"विज्ञानाकारत्वे" इति। घटादि पदार्थों को विज्ञानात्मक मानने पर 'वृत्तिरूप विज्ञान के असाधारण होने के कारण अर्थात् 'बुद्धिवृत्तियाँ' प्रत्येक पुरुष की एक सी नहीं होतीं अपितु भिन्न-भिन्न होती हैं, अतः जिसकी जो 'बुद्धिवृत्ति' हो वह उसी से ग्राह्य होती है; दूसरे से नहीं। उसी तरह 'विज्ञानात्मक घटादि' भी असाधारण अर्थात् प्रतिपुरुष भिन्न होंगे, तब वे सर्वसाधारणों से ग्राह्य नहीं होंगे। लेकिन 'घटपटादि पदार्थ' तो प्रतिपुरुष भिन्न नहीं होते और अनेक पुरुषों के द्वारा ग्राह्य भी होते हैं अतः उन्हें विज्ञानात्मक नहीं कहा जा सकता। इसी को और विशद करते हैं—'विज्ञानं यथेति।' जैसे देवदत्त का विज्ञान यज्ञदत्त के द्वारा गृहीत नहीं होता उसी तरह विज्ञान से अभिन्न घट भी दूसरे के द्वारा गृहीत नहीं हो पायगा क्योंकि एक का ज्ञान, दूसरे के ज्ञान का विषय नहीं होता। घटादि पदार्थों की विज्ञान से भिन्नता में प्रसिद्ध दृष्टान्त दे रहे हैं—"तथा-चेति"। नर्तकी के एक ही भ्रूभंग में एक साथ अनेक पुरुषों का प्रतिसंधान (अभिनिवेश के साथ देखना) होना संगत हो पाता है। यह तभी संभव है जब कि सभी विषयों को साधारण (अनेक व्यक्ति ग्राह्य) माना जाय अन्यथा नर्तकी के भ्रूभंग को विज्ञानरूप मानने पर उस पर सभी का दृष्टिपात न होना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक पुरुष का ज्ञान (वृत्ति) भिन्न-भिन्न है।

(९२) अचेतनत्वम् पञ्चमम्। (५)

"अचेतनम्"। सर्व एव प्रधानबुद्ध्यादयोऽचेतनाः, न तु वैनाशिकवत् चैतन्यम्बुद्धेरित्यर्थः॥

"अचेतनम्" का उपपादन करते हैं—"सर्वे एवेति"। प्रधान, बुद्धि, अहंकार, मन, तन्मात्रा, इन्द्रिय, भूत आदि सभी विषय अचेतन (जड़) हैं अर्थात् 'व्यक्त' तथा 'अव्यक्त' (प्रधान) अनवभासक होने से 'स्वप्रकाशचेतन' से भिन्न हैं, वैनाशिक (बौद्ध) की तरह 'बुद्धि' को सांख्य में चेतन नहीं माना गया है। अर्थात् बौद्धों के मत में जैसे 'बुद्धि' चेतन है वैसे सांख्यवादियों के मत में वह 'चेतन' नहीं है, बल्कि जड़ है।

(९२) अचेतनत्व, पञ्चम। (५)

(९३) प्रसवधर्मित्वम् षष्ठ (६)

"प्रसवधर्मि"। प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि। प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातुम्। सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यत इत्यर्थः॥

"प्रसवधर्मि"—"प्रसवरूपो धर्मः यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि।" इति। 'प्रसव' का अर्थ है—कार्याविर्भावजनकत्वरूपधर्मपरिणाम से युक्त रहना। अर्थात् 'अन्याविर्भावहेतुत्वरूपः परिणामः स चासौ धर्मश्चेति प्रसवधर्मः, सः अस्य अस्तीति प्रसवधर्मी'ति विग्रहः। यहां पर कर्मधारय से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय किया गया है। एवं च प्रसवधर्मितारूप साधर्म्य दोनों का (व्यक्त-अव्यक्त का) है।

(९३) प्रसवधर्मित्व षष्ठ (६)।

शंका—'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत् तदर्थप्रतिपत्तिकरः'—इस नियम के अनुसार "प्रसवो धर्मो यस्य" ब० व्री०, 'धर्मादनिच् केवलात्' इति समासान्त 'अनिच्' करने पर 'प्रसवधर्मा' बनेगा। इस प्रकार बहुव्रीहि समास से ही प्रसवधर्मवत्वरूप अर्थ उपलब्ध हो जाता है तो मत्वर्थीय निर्देश की क्या आवश्यकता?

समाधान—'नित्ययोगमाख्यातुम्' इति। 'प्रसवधर्म' का प्रकृत्यादि धर्मी के साथ नित्य संबन्ध बताने के लिये 'कर्मधारय' करके मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय किया गया है। तथाहि—"भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥" इति। निष्कर्ष यह हुआ कि 'सरूपपरिणाम' अर्थात् त्रिगुणसाम्यावस्थारूप (कारणावस्थात्मक), और विरूपपरिणाम अर्थात् त्रिगुणवैषम्यावस्थात्मक (कार्यावस्थात्मक) ये दोनों प्रकार के 'परिणाम', प्रकृति के अपने 'स्वाभाविक धर्म' हैं, उनसे 'प्रकृत्यादि' (व्यक्त और अव्यक्त) कभी पृथक् नहीं हो पाते। 'सुख-दुःख-मोहाकारता'—यह तो है सरूप और 'महत्तत्त्वाद्याकारता' है विरूप। 'गुण', उन दोनों के द्वारा बिना परिणत हुए क्षणभर भी नहीं रहते। इस प्रकार परिणत होते देख 'धर्मी' (गुणों) को क्षणिक नहीं समझना चाहिये। क्योंकि 'अभिव्यक्ति' और 'तिरोभाव' की अवस्थाविशेष को ही क्षणिक माना गया है। प्रलयदशा में 'सजातीय परिणाम' और सर्ग (सृष्टि) दशा में 'विजातीय परिणाम' होता रहता है। अथवा प्रधान का 'त्रिगुणत्वेन रूपेण महदादि' सरूपपरिणाम है, और वही 'हेतुमत्वेन रूपेण' विरूपपरिणाम है। एवं च 'सरूप-विरूप परिणाम' के द्वारा 'व्यक्त तथा अव्यक्त' प्रसवधर्मी हैं। 'व्यक्त' प्रसवधर्मी इस प्रकार है—'बुद्धि' से अहंकार, उससे पञ्चतन्मात्रा और एकादशेन्द्रिय, 'पञ्चतन्मात्राओं' से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। और 'अव्यक्त' (प्रधान) प्रसवधर्मी इस प्रकार है—'अव्यक्त' से बुद्धि (महत्तत्त्व) उत्पन्न होती है।

(९४) उक्तव्यक्तधर्माणामव्यक्तेऽतिदेशः॥

व्यक्तवृत्तमव्यक्तेऽतिदिशति, "तथा प्रधानम्" इति। यथा व्यक्तं तथाऽव्यक्तमित्यर्थः॥

(९४) उक्तव्यक्त धर्मों का अव्यक्त में अतिदेश।

व्यक्तवृत्तमिति। 'व्यक्तस्य =' महदादिपृथिव्यन्तविकार समुदाय का, 'वृत्तम् =' साधर्म्य जो त्रिगुणत्वादि, उसे 'अव्यक्ते' मूल प्रकृति में अतिदिशति दिखाते हैं—'तथा प्रधानमिति'। 'त्रिगुणत्वादि' प्रधान का भी साधर्म्य है उसी को 'यथा व्यक्तं तथा अव्यक्तम्' से बताया है।

(९५) व्यक्ताव्यक्तयोः पुरुषात् वैधर्म्यम्॥

ताभ्यां वैधर्म्यं पुरुषस्याऽऽह—"तद्विपरीतः पुमान्" इति॥

और 'पुरुष' तद्विपरीत धर्मवाला है, अर्थात् 'व्यक्ताव्यक्तवृत्तिधर्म' के विपरीत धर्मवाला है।

(९५) व्यक्त और अव्यक्त का पुरुष से वैधर्म्य।

यह 'तद्विपरीतः पुमान्' से बताया है अर्थात् 'त्रिगुणत्वादि' धर्मों के विपरीत धर्मवाला पुरुष है। तथाहि—'अत्रिगुणः =' त्रिगुणात्मक जो जो पदार्थ हैं उससे भिन्न, ''विवेकी' = असंहत अर्थात् असंग है, 'अविषयः' = भोक्ता है अर्थात् भोग्य नहीं है, 'असाधारणः' स्वतन्त्रः अथवा प्रत्येक संघात के लिये भिन्न है। 'चेतनः' स्वयंप्रकाशः, 'अप्रसवधर्मी' परिणामरहित अर्थात् अकारण—इस प्रकार 'व्यक्ताव्यक्त से विपरीत, धर्म' पुरुष में होते हैं।

(९६) साधर्म्यं च।

स्यादेतत्-अहेतुमत्त्वनित्यत्वादि प्रधानसाधर्म्यमस्ति पुरुषस्य, एवमनेकत्वं व्यक्तसाधर्म्यम्, तत्कथमुच्यते 'तद्विपरीतः पुमान्' इति? अत आह—"तथा च" इति। चकारोऽप्यर्थः। यद्यप्यहेतुमत्त्वादिकं साधर्म्यम्, तथाप्यत्रैगुण्यादि वैपरीत्यमस्त्येवेत्यर्थः॥ ११॥

(९६) साधर्म्य।

शंका—हेतुमदनित्यमव्यापि' इस दसवीं कारिका के द्वारा बताये गये' 'व्यक्तविरुद्धधर्म जैसे 'अव्यक्त' (प्रकृति) में वैसे ही पुरुष में भी संभव हैं—उन्हें क्यों नहीं बताया?—स्यादेतदिति। 'अहेतुमत्त्व', नित्यत्व', 'व्यापकत्व', 'निष्क्रियत्व', अनाश्रितत्व' 'अलिङ्गत्व' निरवयवत्व' 'स्वतन्त्रत्व',—यह साधर्म्य प्रधान से 'पुरुष' का भी है उसी प्रकार 'अनेकत्वरूप साधर्म्य' व्यक्त से भी है—तो उसे न बताकर केवल 'तद्विपरीतः पुमान्' कैसे कहा? अर्थात् 'पुरुष' में प्रधान का साधर्म्य है और 'व्यक्त' का भी साधर्म्य है, तब कैसे कहा कि 'पुरुष उन दोनों के विपरीत है?'

समा०—कारिकाकार ने कहा है कि 'पुरुष' उनके समान भी है। 'तथा च पुमान्' में 'च' कार का अर्थ 'अपि' (भी) है। निष्कर्ष यह हुआ कि 'पुरुष' में अहेतुमत्त्व (कारणहीनता) आदि 'प्रधान' के तुल्य धर्म हैं, तथापि उसमें (पुरुष में) 'निर्गुणत्व' आदि विरुद्ध धर्म भी हैं। अर्थात् 'व्यक्ताव्यक्तगत' यावत् (समस्त) धर्मों के विपरीत धर्म उसमें विवक्षित नहीं हैं, किन्तु 'त्रिगुणमविवेकि' कारिका के द्वारा उक्त त्रैगुण्यादि धर्मों से विपरीत धर्म विवक्षित हैं। यह वैपरीत्य पुरुष में है ही। अतः 'तद्विपरीतः' यह कथन असंगत नहीं है॥ ११॥

(९७) गुणनिरूपणम्।

त्रिगुणमित्युक्तम्, तत्र के ते त्रयो गुणाः? किं च तल्लक्षणमित्यत आह—

(९७) गुणों का निरूपण।

'त्रिगुणमविवेकि'—इस ग्यारहवीं कारिका के द्वारा 'व्यक्ताव्यक्त' का साधर्म्य 'त्रिगुणम्' बताया था। किन्तु उन तीन गुणों का स्वरूप क्या है? उनका लक्षण क्या है? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ निम्नकारिका उपस्थित हो रही है:—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥ १२॥

अन्व०—गुणाः प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः, प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः, अन्योन्याभिभवाश्रयजनन मिथुनवृत्तयश्च भवन्ति।

भावार्थः—'गुणाः' = सत्त्व, रज, और तम, 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः' = सत्त्वगुण प्रीति (सुख) रूप है, रजोगुण अप्रतीति (दुःखं) रूप है, तमोगुण विषाद (मोह) रूप है—यह स्वरूप बताया है। उनका प्रयोजन बताते हैं—'प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः' इति प्रकाश करना 'सत्त्व' का प्रयोजन है, प्रवृत्ति करना 'रजोगुण' का प्रयोजन है, नियमन करना 'तमोगुण' का प्रयोजन है।

उनका व्यापार बताते हैं—'अन्योन्येति।' यहाँ 'अन्योन्य' शब्द और 'वृत्ति शब्द' चारों के साथ अन्वित होते हैं। एवं च—'अन्योन्याभिभववृत्तयः=' परस्पर तिरस्कार की क्रिया करने वाले 'अन्योन्याश्रयवृत्तयः' = परस्पर आश्रय की क्रिया करने वाले 'अन्योन्यजननवृत्तयः' = सभी त्रिगुणात्मक होने से परस्पर मिलकर सभी सबके जनक होते हैं। 'अन्योन्यमिथुनवृत्तयः' स्त्री-पुरुष की तरह परस्पर संयोग करने वाले होते हैं॥

(९८) गुणानां स्वरूपाणि, सुखदुःखयोः परस्पराभावरूपता व्युदासश्च ।

"गुणाः" इति परार्थाः "सत्त्वं लघु प्रकाशकम्" [कारिका १३] इत्यत्र च सत्त्वादयः क्रमेण निर्देक्ष्यन्ते तदनागतावेक्षणेन तन्त्रयुक्त्या वा प्रीत्यादीनां यथासंख्यं वेदितव्यम् ॥

(९८) गुणों के स्वरूप और सुख-दुःख में परस्पराभावरूपता का व्युदास ।

"गुणाः इति ।" यहां पर 'गुणाः' इति पद से नैयायिकों के अभिमत 'कर्मभिन्नत्वे सति द्रव्योपादानकत्वम्'—द्रव्य के 'धर्म' विशेष गुण नहीं लेते हैं, किन्तु 'सुखादि धर्म वाले धर्मी' ही ग्रहण करने हैं, यह बताने के लिये कहते हैं—'परार्था' इति । जैसे राजा के अमात्यादि उसके कार्य निर्वाहक होने से 'गुण' कहलाते हैं उसी तरह 'पुरुष' के सुखदुःखान्यतर साक्षात्कारात्मक भोग रूप कार्य के सम्पादक होने से सत्त्वादिक उसके 'गुण' कहलाते हैं । एवं च 'सत्त्वादिक' परार्थ होने से अर्थात् 'पर' (पुरुष) के उपकरण होने से 'गुण' कहलाते हैं । 'परार्थ' का अर्थ है परोपकारक । जो 'पर' के उपकार करने में लगे रहते हैं वे उसके (पर के) 'गुण' होते हैं, जैसे 'प्रधानयाग' के उपकारक अंगों को 'गुण' कहते हैं । वैसे ही 'सत्त्वादिक' भी प्रधान के उपकारक होने से परार्थ हैं । 'प्रधान' तो सत्त्वादिसमष्टिरूप है और 'सत्त्वादि एक एक' व्यष्टिरूप है ।

'सत्त्वादि' में संयोग-विभाग होते रहने से और 'लघुत्व', 'चलत्व' 'गुरुत्वादि' धर्मों के रहने से, वे सत्त्वादि द्रव्यरूप हैं, वैशेषिकों के 'गुणों' की तरह इन सत्त्वादिकों को गुण नहीं समझना चाहिये । यदि इन्हें वैशेषिकों के 'गुणों' की तरह मानेंगे, तो इनमें संयोग-विभाग नहीं बन सकेंगे । क्योंकि 'गुणे गुणानङ्गीकारात्'— यह नियम है । और 'चलत्वादि' धर्म भी इनमें संभव नहीं हो सकेंगे, क्योंकि धर्म का आश्रय 'द्रव्य' ही हुआ करता है इसलिये सत्त्वादिकों को द्रव्य ही समझना चाहिये, 'गुण' नहीं । 'पुरुष' के उपकरण होने से उनमें 'गुण' शब्द का प्रयोग किया जाता है । अथवा 'पुरुष पशु' को बांधने के लिये 'त्रिगुणात्मक महदादिरज्जु' को निर्माण करने के कारण इन्हें 'गुण' कहते हैं । कौन से वे 'गुण' हैं, जो परार्थ हैं—ऐसी जिज्ञासा होने पर बताते हैं—'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिति' । 'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्'—इस तेरहवीं कारिका में जो पृथक् पृथक् सत्त्वादिक बताये गये हैं, वे यहां ग्राह्य हैं । किन्तु अग्रिम कारिका में जिनका निर्देश अभी होना है उन तीन गुणों की प्रतीति (उनके निर्देश होने के पहिले ही) यहाँ कैसे हो सकेगी ? इस आशंका के समाधानार्थ—'तदनागतेति ।' अग्रिम कारिका में निर्देश किये जाने वाले 'गुणत्रय' का अनागतावेक्षण' न्याय (उत्तरत्र भाविनोऽपि पदार्थस्य बुद्ध्या समाकृष्य स्मरणेन अनुसन्धानम्—अनागतावेक्षणन्यायः) से पूर्व कारिका में उनका समाकर्षण (अपकर्ष) कर 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मक' लक्षणों का लक्ष्य उन्हें यथाक्रम समझ लेना चाहिये । आगे की बातको पहिले समझ लेने का एक दूसरा प्रकार भी बताते हैं—तन्त्रयुक्त्या वेति । 'तन्त्र' का अर्थ है प्रकृत सांख्यशास्त्र, उसकी—'गुण' शब्द का सत्त्व, रज, तम में ही संकेत है, 'सत्त्वादय एव अत्र गुणाः, ते च यथाक्रमं प्रीत्यादिधर्मकाः' इत्याकारक—जो युक्ति अर्थात् प्रकृत में सांख्यशास्त्र की युक्ति—तन्त्रयुक्ति है उससे सत्त्व-रज-तम यथाक्रम प्रीति-अप्रीति-विषाद रूप हैं—यह समझ में आता है ।

अथवा—'तंत्रयुक्ति' का एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है—मीमांसाशास्त्र की युक्ति—

'स्थान (क्रम) प्रमाण' से प्रीत्यप्रीतिविषादात्मक लक्षणों के लक्ष्य यथा संख्य समझने चाहिए। अर्थात् प्रीति-अप्रीति-विषाद के साथ सत्त्व-रज-तम का संबंध यथाक्रम समझना चाहिये।

अथवा—सकृत् उच्चरित शब्द का दो जगह अन्वय करना भी 'तंत्रयुक्ति' है।

अथवा—'अप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवति'—यह भी तंत्र युक्ति है। जैसे व्यास जी ने "सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥" इसमें जैसे सत्त्व, रज, तम का ही क्रम से निर्देश किया है, वैसे यहां भी 'सत्त्व, रज, तम' का क्रम से ग्रहण करना चाहिये।

ये तंत्रयुक्तियां–'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' [1]'सुश्रुत'–उत्तर ६५, 'चरक'–सिद्धिस्थान–(१२।४०।४५) 'अर्थशास्त्र' १५।१। अ० में बताई गई हैं। ये तंत्रयुक्तियां 'वाक्ययोजना' तथा 'अर्थयोजना' करने में सहायक होती हैं। यह शास्त्रीय अद्भुत उपाय है। 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः' यहां पर 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं प्रत्येकमभिसंबध्यते' इस नियम के अनुसार द्वन्द्वान्त में 'आत्म' शब्द के श्रुत होने से प्रीत्यादि तीनों में से प्रत्येक के साथ उसका संबंध होता है। इसी आशय से यथासंख्य अन्वय को विशद करते हैं—

(९९) उक्तलक्षणसमन्वयः।

एतदुक्तं भवति–प्रीतिः सुखम्, प्रीत्यात्मकः सत्त्वगुणः; अप्रीतिर्दुःखम्, अप्रीत्यात्मको रजोगुणः; विषादो मोहः, विषादात्मकस्तमोगुणः इत्यर्थः। ये तु मन्यन्ते "न प्रीतिर्दुःखाभावादतिरिच्यते, एवं दुःखमपि न प्रीत्यभावादन्यदिति", तान् प्रति "आत्म"–ग्रहणम्। नेतरेतराभावाः सुखादयः, अपि तु भावाः, आत्मशब्दस्य भाववचनत्वात्। प्रीतिः आत्मा भावो येषां ते प्रीत्यात्मानः। एवमन्यदपि व्याख्येयम्। भावरूपता चैषामनुभवसिद्धा। परस्पराभावात्मकत्वे तु परस्पराश्रयापत्तेरेकस्याप्यसिद्धेरुभयासिद्धिरिति भावः॥

(९९) उक्त लक्षण का समन्वय।

'प्रीतिः सुखमिति'। 'प्रीति' का अर्थ है 'सुख'। 'आत्म' शब्द का प्रत्येक के साथ संबंध बताते हैं—'प्रीत्यात्मक इति'। 'प्रीतिः आत्मा स्वभावः स्वरूपं वा यस्य सः'='प्रीत्यात्मकः' अर्थात् सुख ही 'सत्त्वगुण' का स्वरूप लक्षण है। उसी प्रकार 'अप्रीत्यात्मकः' अर्थात् दुःख ही 'रजोगुण' का स्वरूपलक्षण है। एवं 'विषादात्मकः' अर्थात् मोह ही 'तमोगुण' का स्वरूप लक्षण है। यहां 'सुख' शब्द से सरलता, मार्दव, ह्री, श्रद्धा, क्षमा, अनुकम्पा, ज्ञान, प्रसाद, लघुता, तितिक्षा, सन्तोष आदि ग्राह्य हैं, ये सब 'सुख' की अवस्थास्वरूप हैं। 'दुःख' शब्द से प्रद्वेष, द्रोह, मत्सर, निन्दा, पराभव, शोक आदि ग्राह्य हैं—ये सब 'दुःख' की अवस्थाएं हैं। 'मोह शब्द' से वञ्चना, भय, नास्तिक्य, कौटिल्य, कार्पण्य, अज्ञान, निद्रा आदि ग्राह्य हैं—ये सब मोह की अवस्थाएँ हैं। 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः' में 'आत्म' शब्द का ग्रहण करने से चार्वाकमत—'सुखाभावो दुःखं' या 'दुःखाभावः सुखम्' का खण्डन हो गया—यह बताने के लिये—'ये तु मन्यन्ते' इति। दुःखाभाव के अतिरिक्त 'प्रीति' नाम का कोई पदार्थ नहीं है, इसी तरह 'प्रीत्यभाव' के अतिरिक्त 'दुःख' नाम का भी कोई पदार्थ नहीं

१. तृतीय खण्ड—Vol. I, सम्पा०—डॉ० कु० प्रियबाला शाह, बड़ौदा १९५८। अध्याय ६—यहाँ ३२ तंत्रयुक्तियों का वर्णन किया गया है।

है—यह मानने वाले चार्वाकों के मत का खण्डन करने के लिये 'आत्म' पद का ग्रहण किया है। चार्वाकों का अभिप्राय यह है—जैसे-भारवाहक का भार उतर जाने पर वह सोचता है कि 'सुखी संवृत्तोऽहम्'—मैं सुखी हुआ, उसी तरह लोग बुखार उतरने पर कहते हैं—हम सुखी हुए, इत्याकारक ज्ञान 'दुःखाभावविषयक' होने से 'दुःखाभाव ही सुख है' और 'सुखाभाव ही दुःख है'—यह स्पष्ट है, अतः 'सुख-दुख' कोई पृथक् पदार्थ नहीं हैं—ऐसा कहने वालों का मत 'आत्म' पद के ग्रहण करने से खण्डित हो गया।

'आत्म' शब्द के ग्रहण करने से उनके मत का खण्डन किस प्रकार होता है, उसे कौमुदीकार बताते हैं—'नेतरेतराभावा' इति। अर्थात् न 'सुख', दुःखाभावस्वरूप है और न 'दुःख', सुखाभावस्वरूप है, बल्कि 'सुख और दुःख' दोनों 'भाव' पदार्थ हैं। उनके भावरूप होने में क्या प्रमाण है? इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि—'आत्म' शब्द 'भाव' (सद्रूप) का वाचक है। इसी को स्पष्ट करते हैं—'प्रीतिरात्मा भावो येषां ते प्रीत्यात्मानः', इसका अर्थ यह हुआ—'प्रीति' है सद्रूप (स्वरूप) जिसका 'अप्रीति' है सद्रूप (स्वरूप) जिसका, 'मोह' है सद्रूप (स्वरूप) जिसका। 'सुख-दुःखों' की भावरूपता में प्रत्येक का अनुभव बताते हैं—"भावरूपतेति।' 'सुखदुःखों' की भावरूपता (भावात्मकता) 'अहं सुखी' अथवा 'अहं सुखवान्'—इस अनुभवसे भी सिद्ध होती है। यदि कोई कहे कि सुख के समय 'दुःखाभाववान् अहम्' इत्याकारक अनुभव, 'सुख' को दुःखाभावस्वरूप भी सिद्ध कर सकता है—तब 'परस्परेति।'—'सति दुःखज्ञाने तदभावात्मकप्रीतिज्ञानं, प्रीतौ च ज्ञातायां तदभावात्मकदुःखज्ञानम्'—'अभाव का ज्ञान प्रतियोगिज्ञान सापेक्ष होता है, अतः दुःख के ज्ञात होने पर तदभावात्मक सुखज्ञान और सुख के ज्ञात होने पर तदभावात्मक दुःखज्ञान'—इस रीति से अन्योन्याश्रय दोष होने लगेगा, उसका परिणाम यह होगा कि तुम्हारे मत से 'दुःख' भावरूप न होने से 'अलीक' (मिथ्या) होने के कारण तत्प्रतियोगिक अभाव कैसे सिद्ध हो सकेगा? अर्थात् 'दुःखाभावात्मक सुख' ही सिद्ध नहीं हो सकेगा—इस प्रकार एक (सुख) की सिद्धि न हो सकने पर दूसरे (दुःख) की भी सिद्धि नहीं हो पायगी—तादृश 'अलीकसुख (दुःखाभावात्मक) प्रतियोगिक अभाव' भी अलीक होने से 'सुखाभावरूप दुःख' भी सिद्ध नहीं हो पायगा। इस प्रकार से 'दुःखाभाव' और 'सुखाभाव' दोनों की असिद्धि होगी। अतः 'न सुखाभावो दुःखं' 'नापि दुःखाभावः सुखं,' किन्तु सुखादयः पृथक् पृथक् पदार्थाः। इस प्रकार 'उभयासिद्धि' अर्थात् सुखाभाव और दुःखाभाव दोनों की सिद्धि नहीं हो पायगी।

(१००) गुणानां प्रयोजनम्-यथासंख्यं प्रकाशप्रवृत्तिनियमरूपम् ॥

स्वरूपमेषामुक्त्वा प्रयोजनमाह-"प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः" इति। अत्रापि यथासंख्यमेव। रजः प्रवर्तकत्वात् सर्वत्र लघु सत्त्वं प्रवर्तयेत्, यदि तमसा गुरुणा न नियम्येत। तमोनियतन्तु क्वचिदेव प्रवर्तयतीति भवति तमो नियमार्थम् ॥

इस रीति से 'गुणों' का स्वरूप लक्षण बताकर अब उनका प्रयोजन बताते हैं—

(१००) गुणों का प्रयोजन प्रकाश, प्रवृत्ति, नियम है।

'प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमार्थाः' इति। 'प्रकाशश्च प्रवृत्तिश्च-नियमश्च-ते अर्थाः प्रयोजनानि येषां ते'—प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। यहां पर भी यथासंख्य ही समझना चाहिये—अर्थात् सत्त्वगुण का 'प्रकाश' प्रयोजन है अर्थात् कार्य को प्रकाशित करने में 'बुद्धिवृत्ति रूप प्रकाश' 'सत्त्वगुण' का प्रयोजन है। कार्य के करने में 'यत्न' अर्थात्

प्रवृत्ति, 'रजोगुण' का प्रयोजन है। कार्य के निरोधार्थ (रोकने के लिये) 'प्रकाश, प्रवृत्ति का प्रतिबन्ध' अर्थात् नियमन करना 'तमोगुण' का प्रयोजन है। 'तम' के प्रयोजन का उपपादन करने से सत्त्व और रज' का उपपादन हो ही जाता है, इसलिये 'तम' के प्रयोजन का उपपादन करते है—'रजः प्रवर्तकत्वादिति'। यदि 'आवरक तम' के द्वारा 'रज की' प्रवृत्ति नियंत्रित न की जाय अर्थात् 'रजोगुण' का प्रवृत्तिरूप कार्य यदि 'तमोगुण' के द्वारा नियमित न किया जाय तो 'रजोगुण' स्वाभाविक रूप से प्रवर्तक होने के कारण समस्त कार्यों में 'प्रकाशशील (लघु) सत्त्वगुण' की प्रवृत्ति कराता रहेगा अर्थात् अपनी 'कार्यरूप प्रवृत्ति' से प्रकाश में उपकार करता रहेगा। किन्तु 'तमोगुण' से 'रज' जब नियन्त्रित रहता है तब वह (रज) 'सत्त्वगुण' पर अपनी प्रवृत्ति से किञ्चिन्मात्र ही उपकार करता है अर्थात् 'सत्वगुण' की क्वचित् ही प्रवृत्ति कराता है। इसी तरह 'तम' से अनभिभूत 'सत्त्वगुण' भी अपने प्रकाशरूप कार्य से 'रज' की (कार्यरूप) प्रवृत्ति में उपकार करेगा, अभिभूत हुआ 'सत्त्व' नहीं। अतः 'तमोगुण' नियमार्थ है 'रजोगुण' प्रवृत्त्यर्थ है और 'सत्त्वगुण' प्रकाशार्थ है।

प्रयोजनमुक्त्वा क्रियामाह—"अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च" इति। वृत्तिः क्रिया, सा च प्रत्येकमभिसम्बध्यते। 'अन्योन्याभिभववृत्तयः'। एषामन्यतमेनार्थवशादुद्भूतेनान्यदभिभूयते। तथा हि सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय शान्तामात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते, एवं रजः सत्त्वतमसी अभिभूय घोराम्, एवं तमः सत्त्वरजसी अभिभूय मूढामिति। 'अन्योन्याश्रयवृत्तयः'। यद्यप्याधाराधेयभावेन नायमर्थो घटते, तथाऽपि यदपेक्षया यस्य क्रिया स तस्याश्रय। तथा हि, सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवृत्त्येतरयोः, तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमेनेतरयोरिति। 'अन्योन्यजननवृत्तयः'। अन्यतमोऽन्यतममपेक्ष्य जनयति। जननं च परिणामः, स च गुणानां सदृशरूपः। अत एव न हेतुमत्त्वम्, तत्त्वान्तरस्य हेतोरसम्भवात्; नाप्यनित्यत्वम्, तत्त्वान्तरे लयाभावात्। 'अन्योन्यमिथुनवृत्तयः' अन्योन्यसहचराः, अविनाभाववृत्तय इति यावत्। 'चः' समुच्चये। भवति चात्रागमः—

(१०१) गुणानां क्रियाः, अन्योन्याभिभव-अन्योन्यापेक्षा-अन्योन्यापेक्षजनन अन्योन्यमिथुन वृत्तिरूपाः॥

"अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥
तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे।
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते॥
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते"॥ इति देवीभागवते–३।८॥ १२॥

तीनों गुणों का अपना-अपना प्रयोजन बताकर अब उनकी क्रिया (असाधारणव्यापार = वृत्ति) बताते हैं—'अन्योन्येति ।' "अन्योन्याभिवाश्रयजनन-मिथुनवृत्तयश्च" इति । 'वृत्ति' का अर्थ है 'क्रिया', 'वृत्ति' पद का प्रत्येक के साथ संबंध होगा । उसी तरह 'अन्योन्य' पद का भी प्रत्येक के साथ संबंध होगा । एवं च—'अन्योन्याभिभववृत्तयः', 'अन्योन्याश्रयवृत्तयः', 'अन्योन्यजननवृत्तयः', 'अन्योन्यमिथुन-वृत्तयः' । उनमें से 'अन्योन्याऽभिभववृत्तयः' की व्याख्या करते हैं—'एषामिति' । 'सत्त्व', 'रज', 'तम'—इन गुणों में से कोई एक अपने धर्माधर्मनिमित्तकसुखादिरूप प्रयोजन के बल से स्वकार्यजननो-न्मुख होकर अपने से भिन्न दो गुणों का अभिभव कर देता है ।

(१०१) गुणों की क्रियाएँ अन्योन्याभि-भव, अन्योन्यापेक्ष, अन्योन्यापेक्षजनन, अन्योन्यमिथुनवृत्ति-रूप हैं ।

एक गुण से अन्य गुणों का अभिभव कैसे किया जाता है ?—ऐसी जिज्ञासा होने पर उसका प्रकार बताते हैं—'तथा हीति ।' 'सत्त्व गुण'—रज, और तम को निर्बल बनाकर (अप्रधान बनाकर) अपनी सुखात्मकशान्त (प्रकाश ; वृत्ति (क्रिया—व्यापार) को अन्य दो वृत्तियों के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्राप्त करता है । उसी प्रकार 'रजोगुण' अपने प्रयोजनवश अपना कार्य करने के लिये जब उद्यत होता है, तब वह 'सत्त्व' और 'तम' को निर्बल बनाकर अपनी दुःखात्मक घोर वृत्ति (क्रिया) को अन्य दो वृत्तियों के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्राप्त करता है । उसी प्रकार 'तमोगुण' अपने प्रयोजनवश अपना कार्य करने के लिये जब उद्यत होता है, तब वह 'सत्त्व और रज' को निर्बल बनाकर अपनी विषादात्मकमूढ वृत्ति (क्रिया) को अन्य दो वृत्तियों के प्रति-द्वन्द्वी के रूप में प्राप्त करता है ।

'अन्योऽन्याश्रयवृत्तय इति ।' गुणों की 'अन्योन्याश्रयवृत्तिता' तो उपपन्न हो नहीं सकती, क्योंकि 'घट-भूतल', या 'कुण्ड-बदर' की तरह 'गुणों' का 'आधाराधेयभाव' तो असंभव है । इस आशंका का परिहार करते हैं – 'यद्यपीति ।' यद्यपि यहां पर 'आधाराधेयभाव' को लेकर अन्योन्याश्रयवृत्तिता नहीं बन पा रही है, तथापि जिसकी अपेक्षा कर के जिसकी क्रिया हो, वही उसका आश्रय होता है, अर्थात् जिस क्रिया में जिसको सहकारी (सहायक) के रूप में ग्रहण किया जाता है वह सहकारी (सहायक) ही उस सहकार्य का 'आश्रय' है । इसी को बताते हैं—'तथाहीति ।' 'सत्त्वगुण'—'रजोगुण' और 'तमोगुण' के प्रवृत्ति तथा नियमरूप कार्यों को अपने सहकारी (सहायक) के रूप में स्वीकार कर अपने 'प्रकाशात्मक कार्य' के द्वारा 'रज और तम' का उपकार (सहायता) करता है । उसी प्रकार 'रजोगुण' -सत्त्व और तम के 'प्रकाश तथा नियमरूप कार्यों' को अपने सहकारी (सहायक) के रूप में स्वीकार कर अपने 'प्रवृत्तिरूप' कार्य के द्वारा 'सत्त्व' और 'तम' का उपकार करता है । उसी प्रकार 'तमोगुण'—सत्त्व और रज के 'प्रकाश तथा प्रवृत्तिरूप कार्यों' को सहकारी (सहायक) के रूप में स्वीकार कर अपने 'नियमनरूप कार्य' के द्वारा 'सत्त्व और रज' का उपकार करता है । 'कर्मादीनामपि संबंधमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव'-शाब्दिकों के इस नियम के अनुसार 'मातुः स्मरति' की तरह 'रजस्तमसोः' और 'इतरयोः' में 'कर्मणि षष्ठी' की गई है । 'अन्योऽन्यजननवृत्तय' इति । 'तीन गुणों' में से कोई एक गुण किसी अन्य गुण का आश्रय लेकर कार्य उत्पन्न करता है अर्थात् प्रलयावस्था के समय कोई एक गुण जैसे 'सत्त्वगुण' अपनी अपेक्षया किसी अन्य गौण गुण (जैसे रजो-गुण या तमोगुण) की अपेक्षा (आश्रय) कर, 'गौण गुण' के समान 'परिणाम' से युक्त हो जाता है, अपने 'स्थूल परिणाम' से युक्त नहीं होता । तात्पर्य यह है कि प्रकाश 'सत्त्वगुण' अपने 'परिणाम' को संकुचित कर 'रज–तम' के प्रवृत्ति–नियम का भी संकोच करता है । उसी तरह 'रजोगुण'

भी अपने प्रवृत्ति परिणाम को संकुचित कर 'सत्त्व–तम' के प्रकाश नियमन परिणाम का भी संकोच करता है। उसीतरह 'तमोगुण' भी अपने नियमन परिणाम को संकुचित कर 'सत्त्व-रज' के प्रकाश-प्रवृत्ति, परिणाम का भी संकोच करता है। 'जनयति' से यह नहीं समझना चाहिये कि 'जनन' अर्थात् नवीन वस्तु (अपूर्व वस्तु) पैदा की जा रही है। बल्कि तत्तद्रूपेण 'परिणमन' ही यहां 'जननशब्द' का अर्थ है। 'जनन' का अर्थ यदि उत्पत्ति करें तो 'असत्कार्यवाद' मानना पड़ेगा।

शंका—उक्त 'परिणाम' का स्वरूप क्या है ?, जिसमें एक दूसरे का आश्रय कर 'गुण' सृष्टि के 'कारण' कहलाते हैं ?

समा०—'स चेति। वह 'परिणाम'—गुणों की साम्यावस्थारूप सदृश परिणाम है जिसे प्रधान कहते हैं। प्रलयावस्था के समय सत्त्व, रज, तम का सदृश परिणाम रहता है।

शंका—'अन्योन्याश्रयवृत्तयः' से यह बताया गया था कि 'अन्यतमगुण' कोई एक अन्यतम किसी एक गुण का आश्रय कर प्रवृत्त होता है, और अब 'अन्योन्यजननवृत्तयः' से भी वही बताया जा रहा है कि गुण अन्यतमगुण की अपेक्षा कर परिणत होता है। अतः पूर्व कथन से इस कथन में कोई विशेषता तो प्रतीत नहीं हो रही है, केवल पुनरुक्ति ही है।

समा० -'अन्योन्याश्रयवृत्तयः' से 'विसदृश परिणाम' (असाधारणप्रकाशादिरूपकार्य) में अन्यतम गुण, अन्यतम गुण का आश्रय करता है—यह बताया गया था, और 'अन्योन्यजनन-वृत्तयः' से तो 'सदृश परिणाम' में 'अन्यतम' गुण अन्यतम गुण की अपेक्षा करता है—यह बताया जा रहा है, अतः दोनों का प्रतिपाद्य भिन्न भिन्न होने से पुनरुक्ति नहीं है।

शंका—तीनों गुण जब परिणामी हैं तब तो 'गुणों' को सकारण (हेतुमान्) कहना चाहिये। एवं च 'प्रकृति' को सहेतुक (सकारण) कहना पड़ेगा। भाव यह है—यदि 'प्रकृति' गुणों का सदृश परिणाम है तो उसे हेतुमती कहना होगा, तब 'हेतुमदनित्य०' कारिका के द्वारा 'व्यक्त' का जो साधर्म्य बताया था वह फिर 'प्रधान' में भी अतिव्याप्त हुआ, तब तो व्यक्त की तरह 'प्रधान' को (प्रकृति को) भी गुणत्रय का कार्य कहना होगा।

समा०—अत एवेति। 'गुणों का सदृशपरिणाम' ही तो 'प्रधान' (प्रकृति) है, इसी कारण उसे 'सकारण' नहीं कहना पड़ेगा। जहां विसदृश परिणाम होता है वहां 'हेतुमत्त्व' होता है—'यत्र विसदृशपरिणामः तत्र 'हेतुमत्त्वम्'। जहां विसदृश परिणाम रहता है वहाँ हेतुमत्त्व होता है—यह व्याप्ति है। जैसे प्रकृति का विसदृशपरिणाम पृथिवी, गन्धतन्मात्रात्मकहेतुमती है। और जहां 'सदृश परिणाम' होता है वहाँ हेतुमत्त्व नहीं रहता, क्योंकि वहां कोई 'हेतु' ही नहीं है। अर्थात् जहां एक ही पदार्थ परिणाम को प्राप्त होकर (परिणत होकर) भिन्न भिन्न (अन्य) पदार्थ के रूप में उत्पन्न होता है, वही उत्पन्न होने वाला पदार्थ हेतुमान् (सकारण) कहलाता है। क्योंकि कार्यकारणभाव (हेतुहेतुमद्भाव) भिन्न पदार्थनिष्ठ होता है; किन्तु जहां स्वपरिणाम से स्वयं ही रहता है, वहां शब्दभेद से भले ही भिन्नता रहे, लेकिन अर्थ भेद न होने से समानरूपता (स्वयं के समान ही स्वयं) है, अतः ऐसी जगह 'कार्यकारणभाव' नहीं होता। जैसे—'पृथिवी' का सदृशपरिणाम–तन्मात्रात्मकता है, उस समय कार्य लयावस्था को प्राप्त होता हुआ अपने कारण को भी उसके स्वरूप (कारणत्व) से च्युत कराकर लीन कर देता है, अर्थात् 'कारण' जब अपने स्वरूप (कारणता) को त्याग देता है तब वह 'अकारण' हो जाता है अर्थात् उसमें 'कारणता' नहीं रहती, और अपने 'कारण' में लीन हो जाता है। उसी प्रकार 'बुद्धि' भी लीन होती हुई विसदृशपरिणामवाले अपने कारण को लीन करवा देती है।

है। 'सदृशपरिणाम' तो उसका प्रतिद्वन्द्वी है, न वह लीन होता है और न वह 'हेतुमत्त्व' से युक्त है। अतः वह प्रकृतिरूप है, प्रकृति में ही विश्रान्त होता है।

शंका—'सदृशपरिणाम' सहेतुक क्यों नहीं होता ?

समा०—'तत्त्वान्तरस्येति।' 'तत्त्वान्तर' का अर्थ है विजातीयतत्त्व। जहां किसी 'तत्त्वान्तर' को तत्त्वान्तर से उत्पन्न किया जाता है, वहींपर 'विसदृशपरिणामरूपतत्त्वान्तर' को 'हेतुमत्' कहा जाता है, यहां वैसी स्थिति नहीं है, यहां तो 'गुण' ही प्रधान हैं, गुणों से अतिरिक्त 'प्रधान' नाम का कोई तत्त्वान्तर नहीं है। अर्थात् 'गुण' ही विसदृशपरिणाम के प्रतिद्वन्द्वी सदृशपरिणामरूप 'प्रधान' (प्रकृति) शब्द से कहे जाते हैं। अतः विजातीयतत्त्वान्तरस्वरूप परिणाम न होने के कारण उसके प्रति अन्य कोई 'तत्त्वान्तर' हेतु न होने से, 'प्रधान' को हेतुमान् नहीं कहा जा सकता।

शंका—सृष्टि के समय गुणों में क्षोभ होने के कारण साम्यावस्थात्मक परिणाम का नाश होने से 'प्रधान' (प्रकृति) को अनित्य कहना होगा। तब प्रकृति का भी लय कहना पड़ेगा।

समा०—नापीति। यहां 'अनित्यत्व' से यह तात्पर्य है—तत्त्वान्तर में तिरोभाव होना। साम्यावस्थात्मक परिणाम कोई गुणत्रय से पृथक् तत्त्व नहीं अर्थात् उसका तत्त्वान्तर में तिरोभाव न होने से उसे अनित्य नहीं कहा जा सकता।

'अन्योन्यमिथुनवृत्तयः' इति। परस्पर मिथुनीभाव को प्राप्त हुए, इसी आशय को कौमुदीकारने स्पष्ट किया—'अन्योन्यसहचरा' इति। सहचर शब्द का अर्थ बताया—'अविनाभाववर्तिनः' इति। अर्थात् 'नित्यसम्बद्ध।' 'मिथुनवृत्तयश्च गुणाः'—में 'च' समुच्चयवाचक है। उसी समुच्चित अर्थ को कहते है—'भवतिचात्रागमः' इति। आगम के रूप में देवीभागवत की उक्ति दे रहे हैं—'अन्योन्यमिथुना' इति। 'सर्वे'—समस्तसत्त्वादिगुण 'अन्योन्यमिथुनाः'—परस्पर सहचर हैं, अतएव 'सर्वे'—गुण 'सर्वत्र गामिनः'—परस्पर सम्मिलित हैं—इसीको स्पष्ट करते है—'रजसो मिथुनमिति। 'सत्त्वम्'—सत्त्वगुण, 'रजसः'—रजोगुण का 'मिथुनम्'—सहचारी है, और 'रजः'—रजोगुण, 'सत्त्वस्य'—सत्त्वगुण का मिथुनम्—सहचारी है, 'ते उभे' सत्त्व और रज दोनों 'तमसः' तमोगुण के 'मिथुने'—सहचारी हैं, 'उभयोः'—सत्त्व और रज दोनों का 'तमः'—तमोगुण, 'मिथुनम्'—सहचारी 'उच्यते' कहा जाता है। 'एषाम्' सत्त्वादि गुणों का 'आदिः'—'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति'—निरुक्तकार के इन षड्भाव विकारों में से प्रथम उत्पत्तिरूप विकार, 'न उपलभ्यते' = नहीं होता, क्योंकि 'गुणास्तु न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते'—इस प्रकार उनकी उत्पत्ति का निषेध किया गया है।

तथा 'एषां सम्प्रयोगः'—तथा इन गुणों का परस्पर संयोग भी 'नोपलभ्यते' = नहीं होता अर्थात् 'ते इमे परस्परं संयुक्ता जाताः'—इस प्रकार से संयोग कभी होता नहीं सुना गया है। क्योंकि 'गुणों' के अनादि होने से उनका 'संयोग' भी अनादि है। एवं 'वियोगः'—अयमस्माद् वियुक्तो जातः—यह गुण उस गुण से पृथक् हुआ—इस प्रकार से उनका पृथक् होना भी नहीं पाया जाता, क्योंकि सदैव ये परस्पर संयुक्त ही रहते हैं। (दे० भा० स्कंध ३ अध्याय ८)

शंका—यदि गुणों का संयोग-विभाग होना स्वीकार नहीं किया जायगा तो 'योगभाष्यकार' का जो यह कथन—'एते गुणाः संयोगविभागधर्माणः' = गुणों के संयोग-विभाग होते हैं—है, उसके साथ विरोध होगा।

समा०—उपरिनिर्दिष्ट 'योगभाष्य' का अर्थ यह है—'अविवेकिना पुरुषेण सह गुणाः संयुज्यन्ते, विवेकी च तैर्वियुज्यते'—अविवेकी पुरुषके साथ गुण संयुक्त होते हैं और विवेकी पुरुष से गुण वियुक्त होते हैं—अर्थात् गुणों का पुरुषों के साथ संयोग-विभाग हुआ करता है। यह अर्थ नहीं है कि गुण परस्पर संयोग विभाग से युक्त हैं—'गुणाः अन्योन्यं संयोगविभागवन्तः'—इसलिये भाष्य के साथ कोई विरोध नहीं हैं ॥ १२ ॥

(१०२) गुणत्रयनिरूपणम्, तेषां पृथक्स्वभावश्च ॥

"प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः" इत्युक्तम्, तत्र के ते इत्थम्भूताः, कुतश्चेत्यत आह—

(१०२) गुणत्रय का निरूपण और उनका पृथक् स्वभाव।

बारहवीं कारिका में बताया था कि 'गुणाः प्रकाश-प्रवृत्तिनियमार्थाः' किन्तु तीन गुणों में से कौन से वे 'गुण' हैं जो इस प्रकार के हैं, अर्थात् प्रकाशार्थ कौन सा 'गुण' है, प्रवृत्त्यर्थ कौन सा 'गुण' है और नियमार्थ कौन सा 'गुण' है? तथा तत्तद् गुणों को किस कारण तत्तदात्मकता है?—इस जिज्ञासा के समाधानार्थ निम्न कारिका उपस्थित हो रही है—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

अन्व०—सत्त्वं—लघु, प्रकाशकम् (सांख्यविद्भिः) इष्टम्, रजः—उपष्टंभकं चलं च (इष्टम्), तमः—गुरुवरणकमेव (इष्टम्) प्रदीपवच्च अर्थतो वृत्तिः (भवति) ॥

भावार्थ—'सत्त्वम्'=सत्त्वगुण, 'लघु'=लघुता से युक्त अर्थात् कार्यपटुता से युक्त और 'प्रकाशकम्'=इन्द्रियार्थसन्निकर्षके होने पर अर्थावभासक होता है—ऐसा सांख्यविद्वानों को सम्मत है। एवं च 'लघुत्वं प्रकाशकत्वं च'—सत्त्वस्य लक्षणम्। 'रजः='रजोगुण 'उपष्टम्भकम्'= सत्त्व और तम का उत्तेजक होता है, 'चलम्=' प्रवृत्तिमान् अर्थात् सक्रिय होता है—एवंच 'प्रेरकत्वं सक्रियत्वं च—रजसो लक्षणम्"। 'तमः'= तमोगुण 'गुरु'= गुरुता से युक्त अर्थात् 'जडता से युक्त और 'वरणकम्'= आवरक अर्थात् आच्छादक होता है—एवं च 'गुरुत्वं तत्तदिन्द्रियव्यापारनिवृत्तिद्वारा तत्तत्कार्यप्रतिबन्धकत्वं च – तमोलक्षणम्। उन गुणों का परस्पर विरोध रहने पर भी 'प्रदीपवत्' = दीपक की तरह अर्थात् जैसे–तेल और बत्ती, दीप (वह्नि) के विरोधी होते हुए भी तेल और बत्ती के साथ मिलकर दीप, 'प्रकाश' अर्थात् घटादि प्रकाशात्मक कार्य करता है, वैसे ही 'सत्त्व, रज और तम' परस्पर विरुद्ध होते हुए भी—'अर्थतः' पुरुषार्थवश अर्थात् जीव के अदृष्टवश 'वृत्तिः' = एक दूसरे का अनुवर्तन करते हैं। 'दीपक पर तेल गिरने से दीपक बुझ जाता है इसलिये 'तेल' भी दीप का विरोधी है, एवं बत्ती भी छोटी होने पर दीप को बुझा देती है इसलिये वह भी दीप की विरोधिनी है।

(१०३) सत्त्वगुणस्वभावः—लाघवम्, प्रकाशकत्वम् ॥

"सत्त्वम्" इति। सत्त्वमेव लघु प्रकाशकमिष्टम्—सांख्याचार्यैः। तत्र कार्योद्गमने हेतुर्धर्मो लाघवं, गौरवप्रतिद्वन्द्वि, यतोऽग्नेरूर्ध्वज्वलनं भवति, तदेव लाघवम् कस्यचित्तिर्यग्गमने हेतुर्भवति, यथा वायोः। एवं करणानां वृत्तिपटुत्वहेतुर्लाघवम्, गुरुत्वे हि मन्दानि स्युरिति सत्त्वस्य प्रकाशात्मकत्वमुक्तम् ॥

"सत्त्वमिति"। सत्त्वगुण ही लघुता अर्थात् कार्यपटुता से युक्त होता है और 'प्रकाश' से युक्त होता है, इसके अतिरिक्त जो दो गुण हैं, वे ऐसे नहीं होते—यह सांख्याचार्यों को अभीष्ट है। 'लघुत्व' का लक्षण बताते हैं—'तत्र कार्योद्गमने' इति। 'लघुत्व' और 'प्रकाश' दोनों में से 'लघुत्व' उसे कहते हैं—किसी वस्तु के ऊपर जाने में जो 'धर्म' कारण होता है 'उस धर्म' को 'लघुत्व' (लाघव) कहते हैं।

(१०३) सत्त्वगुण का स्वभाव लाघव, प्रकाशकत्व।

शंका—'गुरुत्व' के अभाव से ही वस्तु का ऊर्ध्वगमन (ऊपर जाना) हो सकता है तब 'गुरुत्वाभाव' के अतिरिक्त लघुत्व को गुणान्तर मानने की क्या आवश्यकता ? इसीलिये वैशेषिकों ने चौबीस गुणों में 'लघुत्व' को स्वीकार न कर उसे 'गुरुत्वाभाव के रूप में ही स्वीकार किया है।

समा०—'गौरवप्रतिद्वन्द्वीति।' अर्थात् 'गुरुत्व' का विरोधी। जल और पृथ्वी के पतन (नीचे गिरने) में कारणीभूत गुण 'गुरुत्व' है, उसका विरोधी 'लघुत्व' है। एवं च जैसे—आद्य-पतन के हेतुत्वेन 'गुरुत्व' का अनुमान कर लेते हैं वैसे ही ऊर्ध्वगमन के हेतुत्वेन 'लघुत्व' का भी अनुमान कर लेंगे, तो समान न्याय से गुरुत्व जैसे अतिरिक्त पदार्थ है वैसे लघुत्व भी। अक्लृप्त अभाव में कारणत्वकल्पना करने की अपेक्षया क्लृप्तभाव में कारणत्वकल्पना ही उचित है। अतः ऊर्ध्व गमन में 'गुरुत्वाभाव' को कारण नहीं कहा जा सकता, इसलिये 'लघुत्व' को अभावरूप न मानकर उसे अतिरिक्त पदार्थ मानना ही उचित है। जैसे 'गुरुत्व' अतीन्द्रिय है वैसे 'लघुत्व' भी अतीन्द्रिय ही है। इसी अभिप्राय से 'लघुत्व' के आश्रय को उदाहरण के रूप में दिखाते हैं-जिस धर्म से अपने आश्रयभूत अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन (ऊर्ध्वगमन) होता है, उसे "लाघव"-कहते हैं। एवं च गौरव प्रतिद्वन्द्वी, कार्योद्गमन में हेतुभूत जो धर्म है वही 'लाघव' है।

शंका—'ऊर्ध्वगमन' में कारणभूत 'लघुत्व' को जैसे गुणान्तर मान लिया है वैसे 'तिर्यग्गमन' में कारणभूत 'लघुत्व' के अतिरिक्त किसी अन्य गुण को भी मान लिया जाय, अन्यथा वायु के तिर्यग्गमन को निर्हेतुक कहना होगा।

समा०—"तदेव लाघवमिति"। तत्सजातीय लाघव ही 'वायु' के तिर्यक् गमन (वक्र-गति) में कारण है। एवं च—'वह्निः, लघुतावान् ऊर्ध्वगमनात्'। 'वायुः लघुतावान् तिर्यग्गमनात्' इस प्रकार 'लाघव' का अनुमान से ज्ञान होता है।

शंका—यदि 'लघुत्व' को ही तिर्यग्गमन में भी कारण (हेतु) मानते हैं तो 'लघुत्व' के लक्षण का अनुगम नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'उद्गमनकारणं लाघवम्' कहने पर वायु की तिर्यग्गतिके कारणभूत 'लाघव' में लक्षण नहीं जा सकेगा, और 'तिर्यग्गमनकारणं लाघवम्' कहने पर वह्नि के उद्गमनकारणभूत 'लाघव' में लक्षण संगत नहीं हो पायगा। एवं च 'लाघव' का कोई एक अनुगत लक्षण नहीं हो पा रहा है।

समा०—'गुरुत्वजन्याऽधोगमनविभिन्नगमनहेतुत्वं लघुत्वम्'—इस अनुगतलक्षण को कौमुदी-कार ने 'गौरवप्रतिद्वन्द्वि' शब्द के प्रयोग से सूचित किया है, जिससे लक्षण का अननुगम नहीं हो रहा है।

शंका—यदि 'तिर्यग्गति' और 'ऊर्ध्वगति' में 'लघुत्व' कारण है, तो अग्नि में तथा वायु में 'लघुत्व' (लाघव) होने से अग्नि में कदाचित् 'तिर्यग्गति' और वायु में कदाचित् 'ऊर्ध्वगति' भी होनी चाहिये।

समा०—अग्नि (तेज) में वायु की तरह 'तिर्यग्गति'—इसलिये नहीं होती कि उसमें वायु की अपेक्षया 'सत्त्वगुण' का प्रकर्ष रहता है। अतः 'प्रकृष्ट सत्त्वगुण' के कारण अग्नि का—(तेज का) ऊर्ध्वज्वलन होता है और वायु में 'सत्त्वगुण' का अग्नि की अपेक्षया अपकर्ष रहता है, अतः 'अपकृष्ट सत्त्व' के कारण वायु का 'ऊर्ध्वज्वलन' न होकर 'तिर्यग्गमन' होता है। इस प्रकार स्थूल में 'लघुत्व' के दो प्रकार बताकर अब सूक्ष्म इन्द्रियादिकों में उसे बताते हैं—**एवमिति**। जैसे वह्नि आदि के 'ऊर्ध्वगमनादि' में हेतु, 'लाघव' धर्मविशेष है, वैसे ही बाह्यकरण इन्द्रियों की और अन्तःकरण—मन, अहंकार और बुद्धि की जो 'सात्त्विक वृत्तियां'—अर्थात् अपना अपना विषय ग्रहण करने के लिये सन्निकर्ष रूप व्यापार विशेष—है, उनकी पटुता में अर्थात् तत्काल (शीघ्र ही) विषयाकार हो जाने की निपुणता में कारण 'इन्द्रियादिकरणनिष्ठपटुत्वात्मक लाघव धर्म' ही है। यह 'लाघव' सत्त्व का धर्म है अर्थात् 'सत्त्वं लघु भवति' कहा जाता है सात्त्विक-अभिमान के कार्यस्वरूप करणों में 'विषयग्रहणरूप पटुत्व' तो सर्वप्रसिद्ध ही है। अतः उनमें भी सत्त्वधर्म 'लघुत्व' का अनुमान किया जाता है। 'सत्त्वगुण' तो व्यवहार का साक्षात् विषय होता नहीं, यह सोचकर ही 'लघुत्व' के आश्रय बनने वाले सात्त्विक करणों को ही उदाहरण के रूप में ग्रन्थकार ने दिया, साक्षात् 'सत्त्व' को नहीं। एवं च—'करणानि लघुत्ववन्ति, झटिति विषयाकाराकारितवृत्तिमत्त्वात्।' यहां पर 'साध्य' और 'हेतु' समनियत हैं। अब उसकी 'व्यतिरेक व्याप्ति' बताते हैं—**गुरुत्वे हीति**।' क्योंकि 'लघुत्व' के विरोधी 'गुरुत्व' के रहने पर वे 'करण' मन्द अर्थात् शीघ्र 'स्वविषयप्रकाशन' करने में समर्थ नहीं हो पायेंगे। एवं च—यत्र लघुत्वं नास्ति तत्र विषयाकाराऽऽकारितवृत्तिमत्त्वं नास्ति यथा निद्रितचक्षुः।' इस व्यतिरेकव्याप्ति से करणों में 'विषयप्रकाशनरूप पटुत्व' सर्वानुभवसिद्ध होने के कारण उनमें 'लघुत्व' का अनुमान कर लिया जाता है। एवं च 'सत्त्व गुण' में इस प्रकार से 'लाघव' की सिद्धि होती है और उस 'लाघव' से 'प्रकाशकत्व' सिद्ध हो जाता है 'सत्त्वं प्रकाशवत् लाघवात्'। 'याथार्थ्येन अर्थावभासकत्व' ही यहां प्रकाशकत्व है।

सत्त्वतमसी स्वयमक्रियतया स्वकार्यप्रवृत्तिं प्रत्यवसीदन्ती रजसोपष्टभ्येते अवसादात् प्रच्याव्य स्वकार्ये उत्साहं प्रयत्नं कार्येते। तदिदमुक्तम्—"उपष्टम्भकं रजः" इति। कस्मात्? इत्यत उक्तम्—"चलम्" इति। तदनेन रजसः प्रवृत्त्यर्थत्वं दर्शितम्।

(१०४) रजोगुणस्वभावः—उपष्टम्भकत्वम्, चलत्वम्॥

उपष्टम्भकं चलं च रजः' यहां पर जो रजोगुण की उपष्टंभकता बताई गई है उसका उपपादन करते हैं—'सत्त्वतमसी इति।' 'रजोगुण' का स्वभाव बता रहे हैं। 'सत्त्वतमसी'—यह कर्मकारक हैं। अतः रजसा सत्त्वतमसी उपष्टभ्येते' ऐसा अन्वय करना चाहिये। सत्त्व और तम स्वयं स्वरूपतः 'अप्रवृत्तिशील' होने से अपने अपने प्रकाशादिरूप कार्य के करने में अशक्त हैं, अतः 'रजोगुण' के द्वारा 'सत्त्व-तम' की स्व स्व कार्य करने में प्रवृत्ति कराई जाती है, इसी आशय को 'उपष्टम्भकं रजः' से कहा गया है। 'उपष्टभ्नाति = उत्तेजयति वृद्धं यष्टिरिव उत्थापयति प्रोत्साहयति स्वकार्ये प्रवर्तयति इति उपष्टम्भकम्' इस अभिप्राय से 'उपष्टभ्येते' की व्याख्या करते हैं—'**अवसादादिति**।' अवसादात्—

(१०४) रजोगुण का स्वभाव उपष्टंभकत्व और चलत्व।

शिथिलता से 'प्रच्याव्य' नीचे गिराकर अर्थात् शैथिल्य दूर कर अपने कार्य में 'सत्त्व-तम' के द्वारा उत्साह और प्रयत्न को रजोगुण' करवाता है। 'रजोगुण' क्यों ऐसा उत्साह, प्रयत्न करवाता है ? उत्तर यह है—'रजोगुण' चल अर्थात् सक्रिय होने से प्रवृत्तिशील है, इसी कारण रज को उपष्टम्भक कहा गया है।

रजस्तु चलतया परितस्त्रैगुण्यं चालयत्, गुरुणाऽऽवृण्वता च तमसा तत्र तत्र प्रवृत्तिप्रतिबन्धकेन क्वचिदेव प्रवर्त्यते इति ततस्ततो व्यावृत्त्या तमोनियामकमुक्तम्—"गुरु वरणकमेव तमः" इति। एवकारः प्रत्येकं भिन्नक्रमः सम्बध्यते, सत्त्वमेव, रज एव, तम एवेति।

(१०५) तमोगुणस्वभावः—गुरुत्वम् आवरकत्वम् ॥

अब 'तम' के स्वभाव को बताते हैं—'गुरुवरणकमेव तमः'। कौमुदीकार व्याख्या करते हैं—'रजस्त्विति'। यहां 'रजः' कर्म कारक है। किन्तु वह (कर्म कारक) उक्त होने से उसका प्रथमान्त प्रयोग किया गया है और 'कर्ता' अनुक्त होने से 'तमसा' यह कर्तरि तृतीया की गई है। तथा हि—"प्रयोगे कर्मवाच्यस्थ तृतीया कर्तृकारके। प्रथमान्ते भवेत्कर्म कर्माधीनं क्रियापदम् ॥" 'रजोगुण' सर्वदा प्रवृत्तिशील होने से सर्वत्र सत्वादि गुणों अथवा त्रिगुणात्मक इन्द्रियों को अपना अपना कार्य करने के लिये जब 'चालन' देने लगता है तब उसे 'प्रवृत्ति' में प्रतिबन्धक तम के द्वारा आच्छादित किया जाता है, अतः वह क्वचित् किसी एकाध काम में ही प्रवृत्त हो पाता है। तात्पर्य यह है कि 'तमोगुण' सर्वदैव उसे प्रवृत्ति नहीं करने देता। 'रजोगुण' को उसके अपने तत्तत्कार्य से रोकता है इसलिये 'तम' को नियामक कहा गया है। 'वरणकमेव'—यहां कारिकाकार ने 'वरणक' के साथ 'एव' को जोड़ा है किन्तु उसका सम्बन्ध वरण' के साथ न कर 'सत्त्व' 'रज' 'तम' के साथ (सम्बन्ध = अन्वय) करना चाहिये। एवं च—'सत्त्वमेव लघुत्वात् प्रकाशकम्, रज एव चलत्वात् उपष्टम्भकम्, तम एव गुरुत्वात् वरणकम्'—अर्थात् सत्त्वगुण ही लघु होने से प्रकाशक है, रजोगुण ही चञ्चल होने से 'उपष्टम्भक' है (उत्तेजक-प्रेरक), तमोगुण ही गुरु होने से 'वरणक' है।

(१०५) तमोगुण का स्वभाव-गुरुत्व और आवरकत्व।

ननु 'एते परस्परविरोधशीला गुणाः सुन्दोपसुन्दवत् परस्परं ध्वंसन्त इत्येव युक्तम्, प्रागेव त्वेतेषामेकक्रियाकर्तृता'—इत्यत आह—"प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः" इति। दृष्टमेवैतत्, यथा वर्त्तितैले अनलविरोधिनी, अथ मिलिते सहानलेन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुतः; यथा च वातपित्तश्लेष्माणः परस्परविरोधिनः शरीरधारणलक्षणकार्यकारिणः; एवं सत्त्वरजस्तमांसि मिथो विरुद्धान्यप्यनुवर्त्स्यन्ति स्वकार्यं करिष्यन्ति च। "अर्थत" इति पुरुषार्थत इति यावत्, यथा च वक्ष्यति—

(१०६) परस्परविरुद्धानामपि गुणानामर्थवशात् सहवृत्तित्वम् ॥

"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" इति ॥ [कारिका ३१]

इस रीति से 'एव' का क्रम बदल दिया गया है। 'ननु परस्परेति'। सत्त्व गुण का धर्म 'लघुता' है, रजोगुण का धर्म 'चलता' है और तमोगुण का धर्म 'गुरुता' है—अतः ये तीनों गुण परस्पर विरुद्धस्वभाववाले हैं, तब तो परस्पर ये एक दूसरे को नष्ट करेंगे 'सुन्दोपसुन्दवदिति'। जैसे सुन्द और उपसुन्द ये दोनों सहोदर असुर थे। उन्होंने अपनी तपस्या से पितामह ब्रह्मदेव को प्रसन्न कर लिया और उनसे वर मांगा—"त्रिषु लोकेषु यद्भूतं किञ्चित् स्थावरजङ्गमम्। सर्वस्मान्नो भयं न स्याद्दृतेऽन्यं पितामह॥" ब्रह्मदेव ने उनकी याचना के अनुसार उन्हें वर दिया। तदनन्तर किसी समय किसी तिलोत्तमा नामकी सुन्दरी पर मुग्ध होकर दोनों उस सुन्दरी को चाहने लगे, तब परस्पर (आपस) में युद्ध के लिये तैयार हो गये और युद्ध कर एक दूसरे ने एक दूसरे को मार दिया अर्थात् ब्रह्मदेव का दिया वर भी असत्य नहीं हो पाया और दोनों असुर आपस में ही लड़ कर मृत्यु को प्राप्त हो गये।—(म० भा० आदि प० अ० २०९–२१२)। उसी तरह उक्त तीनों गुण परस्पर विरुद्धस्वभाव के होने से परस्पर उनका ध्वंस ही सम्भव हो सकता है, न कि उन विरुद्ध गुणों का आपस में मिलकर किसी एक कार्य को सम्पन्न करना। इस जिज्ञासा के समाधानार्थ "प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिरिति।" 'वृत्ति' का अर्थ 'अनुवर्तन' है। यह देखा गया है—परस्पर विरुद्ध पदार्थ भी मिलकर एक कार्य करते हैं—"यथेति।" जैसे—रुई की बत्ती (वर्तिः), तेल ये दोनों अग्नि के विरोधी हैं, क्योंकि केवल बत्ती, अग्नि से जला दी जाती है, और केवल अग्नि 'तेल' से बुझ जाती है, अतः बत्ती और तेल, 'अग्नि' के विरोधी हैं। फिर भी ये दोनों 'अग्नि के' साथ मिलकर 'रूपप्रकाश लक्षण' (रूप में प्रत्यक्ष योग्यतात्मक) कार्य करते हैं। उसी तरह ये गुण विरुद्ध रहने पर भी भिन्न भिन्न निमित्तों से अपना कार्यसंपादन करपाते हैं। "यदि पुनः एत एव सुखादिस्वभावा भवेयुः, ततः स्वरूपत्वात् हेमन्तेऽपि चन्दनः सुखः स्यात्, न हि चन्दनः कदाचित् अचन्दनः। तथा निदाघेऽपि कुङ्कुमपङ्कः सुखो भवेत् नहि असौ कदाचित् अकुमङ्कुपङ्क इति एवं कण्टकः क्रमेलकस्य सुख इति मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात्, नहि असौ कञ्चित्प्रत्येव कण्टक इति। तस्मात् असुखादिस्वभावा अपि चन्दनकुङ्कुमादयो जातिकालावस्थाद्यपेक्षया सुखदुःखादिहेतवो न तु स्वयं सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्" इति। (भामती)

(१०६) परस्पर विरुद्ध गुणों का भी प्रयोजनवशात् सह वृत्तित्व।

अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःखमोहात्मकान्येव निमित्तानि' कल्पयन्ति। तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावकभावान्नानात्वम्। तद्यथा एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति; तत्कस्य हेतोः? स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखाकरोति; तत् कस्य हेतोः? ताः प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति; तत् कस्य हेतोः? तम्प्रति तस्याः मोहरूपसमुद्भवात्। अनया च स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याताः। तत्र यत् सुखहेतुः तत् सुखात्मकं सत्त्वम्, यत् दुःखहेतुः तत् दुःखात्मकं रज, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः। सुखप्रकाशलाघवानां त्वेकस्मिन् युगपदुद्भूतावविरोधः, सहदर्श-

(१०७) सुखदुःखमोहानां परस्परविरुद्धत्वात्तेषां निमित्तरूपेण गुणत्रयस्याऽऽश्रयकत्वम्॥

नात् । तस्मात् सुखदुःखमोहैरिव विरोधिभिः अविरोधिभिरेकैकगुणवृत्तिभिः सुखप्रकाशलाघवैर्निमित्तभेदा उन्नीयन्ते । एवं दुःखोपष्टम्भकत्वप्रवर्तकत्वैः, एवं मोहगुरुत्वावरणैः—इति सिद्धं त्रैगुण्यमिति ॥ १३ ॥

(१०७) सुख दुःख मोह परस्पर विरुद्ध होने से उनके निमित्त रूप में तीन गुणों की आवश्यकता ।

'अत्र चेति' । 'अत्र' से तात्पर्य है कि गुणों के स्वभाव निरूपण प्रस्ताव में यह समझना चाहिये—परस्पर विरोधी जो सुखदुःख मोह हैं, वे सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहने पर भी अचानक (सहसैव) प्रकट नहीं होते हैं, जिससे सभी को समान रूप से उनकी उपलब्धिहो, किन्तु अपने-अपने प्रादुर्भाव में निमित्तों की उन्हें अपेक्षा होती है। उनमें भी जिस किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं करते, बल्कि अपने अपने प्रादुर्भाव के अनुकूल (प्रयोजक) सुखदुःख मोहात्मक निमित्तों (सहकारिकारण सहित उपादान कारणों) की ही वे कल्पना (अपेक्षा) करते हैं। जैसे—सुख, अपने प्रादुर्भाव में धर्म की अपेक्षा करने वाले सुखात्मक सत्त्वरूप निमित्त की अपेक्षा रखता है, और दुःख अपने प्रादुर्भाव में 'अधर्म' की अपेक्षा करने वाले दुःखात्मक रजरूप निमित्त की अपेक्षा रखता है, तथा मोह अपने प्रादुर्भाव में 'उत्कट अधर्म की अपेक्षा रखने वाले मोहात्मक तमरूप निमित्त की अपेक्षा रखता है। उक्त निमित्तों के सहकारी जाति काल आदि भी हुआ करते हैं। अतः जातिरूप निमित्त सहकारी के अभाव में मनुष्य को कण्टक सुखकर नहीं होता, उसी तरह निदाघ काल रूप सहकारी के अभाव से हेमन्त में चन्दन सुखकर नहीं होता।

शंका—फिर भी धर्मादिनिमित्तविशेष तो सर्वत्र समान ही हैं अतः पूर्वोक्त अव्यवस्था वैसी ही कायम रहेगी।

समा०—"तेषां चेति" । 'धर्मादिनिमित्त' सर्वत्र समान (अविशिष्ट) नहीं हैं, बल्कि 'धर्मादि' नाना (अनेक) हैं। उनकी अनेकता (नाना होने) में कारण बताते हैं—'परस्पर-मभिभाव्येति ।' अभिभाव्य-अभिभावक का स्वरूप इस प्रकार है—"यद् उत्कृष्टं सद् इतर-निरोधकं भवति, तत् निमित्तम् अभिभावकमि'त्युच्यते । और 'यच्च निकृष्टत्वेन स्वकार्यजननाऽसमर्थं भवति, तन्निमित्तम्, 'अभिभाव्यम्' इति ।" एवं च तीनों गुणों का प्रतिक्षण परिणाम होते रहने से जब जिसके चित्त में धर्म फलोन्मुख होकर उत्कृष्ट होता है, तब उसके चित्त में सन्निहित वस्तु के प्रति 'सत्त्व' उत्कट हो जाता है, और रजोगुण तथा तमोगुण को दबाकर उसे सुख का ज्ञान कराता है। जब अधर्म उत्कृष्ट होता है, तब रज तथा तम उत्कट होते हैं और वे दुःख तथा मोह का ज्ञान कराते हैं। इस रीति से धर्मादिकों का निमित्त बनना कादाचित्क है अतः सभी सर्वत्र सर्वदा अविशिष्ट (एक सा) ज्ञान नहीं होता।

अथवा—"सुखदुःखमोहाः" । इस ग्रन्थ की व्याख्या दूसरी प्रकार से भी करते हैं—चित्त में वर्तमान सुखदुःखमोहादिक सहसैव प्रकट नहीं हुआ करते, किन्तु सुखाद्यात्मक निमित्तों की सहायता पाकर ही प्रकट होते हैं, अतः "सुखाद्यात्मका विषया एव धर्मादिसापेक्षाः तन्निमित्तभूताः" ऐसी कल्पना की जाती है। क्योंकि विषयगत विशेष के बिना केवल विषय की सन्निधि मात्र से सुखाद्यात्मक चित्तवृत्ति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ करता। अन्यथा अव्यवस्था हो जायगी। एवं च—चित्तगतसुखादिकों के नियामक रूप में कल्पना किये जाने वाले सुखाद्यात्मक विषयगत विशेष की ही कल्पना की जाती है। क्योंकि कार्य के अनुरूप ही कारण का औचित्य

होता है। एवं च सांख्यमत में समस्त वस्तु समुदाय 'त्रिगुणात्मक' और प्रतिक्षण 'परिणामशील' होने से कदाचित् ही धर्मादिनिमित्तवश चित्त के साथ वस्तु का संबंध होता है। इसलिये हमेशा सब प्रकार का ज्ञान नहीं हुआ करता। किन्तु धर्मादि निमित्तों के अनुरूप सुखाद्यात्मक ज्ञान के प्रति सुखाद्यात्मक रूप से ही वस्तु 'कारण' होती है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुएं सुखादि रूप होती हैं। अब उदाहरण के वस्तुओं (पदार्थों) की सुखाद्यात्मकता को बताते हैं—"तद् यथेति"। रूप-यौवन-कुल-शील से सम्पन्न एक ही स्त्री-अपने पति को अपने आनुकूल्य से आनन्दित करती है। 'सुखाकरोति' यहां पर "सुखप्रियादानुलोम्ये"—(पा० सू० ५-४-६३) सूत्र से 'करोति' के योग में 'डाच्' प्रत्यय होता है। कामिनी अपने कान्त के प्रति सुखजनक क्यों होती है? उत्तर देते हैं—"स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवादिति।" पति के चित्त में उद्भूत धर्म-रूप निमित्त के कारण पति के लिये पत्नी सुखरूप सत्वगुणात्मक चित्तवृत्ति की संपादिका बन कर प्रकट होती है। और वहीं स्त्री दुःखात्मक चित्तवृत्ति की सम्पादिका बनकर अपनी सपत्नी को उसके प्रतिकूल होती हुई दुःख पहुँचाती है—'दुःखाकरोतिः'—"दुःखात्प्रातिलोम्ये" सूत्र से 'डाच्' प्रत्यय किया गया है। कामिनी अपनी सपत्नी के लिये दुःखजनक किस कारण होती है? उत्तर देते हैं—"ताः प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवादिति।" सपत्नी के मन में उत्पन्न अधर्मात्मक निमित्त के कारण दुःखात्मक रजोगुणात्मक चित्तवृत्ति की संपादिका बनकर सपत्नियों के प्रति वह प्रकट होती है। वही स्त्री मोहात्मक चित्तवृत्ति की भी संपादिका बनती है—यह बताते हैं—"एवं पुरुषान्तरमिति।" वही स्त्री अपने को प्राप्त न कर सकने वाले अन्य पुरुष को मोहित करती है। वह कामिनी पुरुषान्तर के प्रति मोहजनक किस कारण होती है? उत्तर देते हैं—"तं प्रति तस्या मोहरूपसमुद्भवात्" इति। पुरुषान्तर के प्रति उस स्त्री का पुरुषान्तर के चित्त में उत्पन्न हुए उत्कृष्ट अधर्मात्मक निमित्त के कारण मोहात्मक तमोगुणात्मक चित्त वृत्ति की संपादिका बनकर प्रादुर्भाव होता है। तात्पर्य यह है—पति के सुख के लिये तो उस स्त्री के सुखात्मक सत्त्वरूप का प्रकट होना कारण है। और सपत्नियों को दुःख देने के लिये उसके दुःखात्मक रजोरूप का प्रकट होना कारण है, एवं पुरुषान्तर को मोहित करने के लिये उसके मोहात्मक तमोरूप का प्रकट होना कारण है। उक्त स्त्री के दृष्टान्त से संसार के अन्य संपूर्ण पदार्थों का त्रिगुणात्मक अर्थात् सुखदुःखमोहात्मक चित्तवृत्ति का संपादक तथा सुखदुःखमोहात्मक होना समझना चाहिये।

योगभाष्यकार भी इसी प्रकार अपने भाष्य में लिखते हैं—"धर्मापेक्षं चित्तस्य वस्तुसाम्येऽपि सुखज्ञानं भवति, अधर्मापेक्षं तत एव दुःखज्ञानम्, अविद्यापेक्षं तत एव मूढज्ञानम्" (योग० भा० ४।१५) सभी पदार्थ (वस्तु) त्रिगुणात्मक और चल होने से तत्तन्निमित्तों के अनुसार एक ही वस्तु में अनेक प्रकार का ज्ञान संभव हो पाता है। अर्थात् रजोगुण सहित सत्त्वगुण, धर्मसापेक्ष होकर पति को सुख का अनुभव कराता है, और रजोगुण सहित तमोगुण अधर्मसापेक्ष होकर सपत्नियों को दुःख का अनुभव कराता है और केवल तमोगुण अज्ञान सापेक्ष होकर कामी को मोह का अनुभव कराता है। इस प्रकार एक ही वस्तु नानाज्ञान कराती है। कंस की रंगशाला में स्थित लोगों को आनन्दकन्द परमानन्द एक ही श्रीकृष्णचन्द्र, अनेक रूपों में दिखाई दिये—तथाहि—'स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वद्रुः कालः शत्रुभिरीक्षितः' जैसे—मेघ वृष्टि कृषीवलों को सुख पहुँचाते हैं, पथिकों (प्रवासियों) को दुःख पहुँचाते हैं, और विरहियों को मोहित करते हैं। उसी प्रकार न्यायतत्परभूपति शिष्टों को सुखी करता है और दुष्टों को दुख देता है, मोहित करता है। अतः यह अनुमान होता है—"कार्यं सुखदुःखमोहात्मकम्, सुखदुःखमोहजनकत्वात् स्त्रीवत्"।

शंका—'अहं सुखी' अहं दुःखी, अहं मूढः' ऐसा अनुभव होने से विषयों के सुखादियुक्त होने में प्रमाण नहीं है: तब 'स्त्री' का उदाहरण कैसे दिया?

समा०—सुखादिबुद्धि कार्य रूप होने से तथा 'स्रक् सुखं चन्दनं सुखम्' इस अनुभव से विषयों में भी सुखादि धर्म होते हैं—यह सिद्ध होता है।

शंका—'कामिनी' रूप एक वस्तु से भिन्न भिन्न (अनेक प्रकार के) ज्ञान कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि अविलक्षण कारण से विलक्षण कार्य (कार्य भेद) होता है, ऐसा नहीं कह सकते।

समा०—'तत्रेति।' इस 'स्त्री' के उदाहरण में जो पतिचित्त वृत्ति सुखात्मक प्रत्यय है, उसका निमित्त—तद् (पति के) धर्मापेक्ष स्त्रीशरीरगत सुखात्मक सत्त्व है, और जो सपत्नीचित्तवृत्ति दुःखात्मक प्रत्यय है उसका निमित्ततद् (सपत्नी के) अधर्मापेक्ष स्त्री शरीर गत दुःखात्मक रज है, और जो पर-पुरुष के चित्तवृत्ति मोहात्मक प्रत्यय है, उसका निमित्त–तद् (पर पुरुष के) अधर्मापेक्ष स्त्री शरीरगत मोह है।

शंका—धर्म, अधर्म, उत्कट अधर्म आदि निमित्तों के भेद से सत्त्व, रज, तम की विलक्षणता हो जाती हैं और 'गुणत्रय' सिद्ध होते हैं, वैसे ही सत्त्व के भी सुख-प्रकाश-लाघवरूप धर्मों के कारण तीन प्रकार होंगे। उसी प्रकार रज के दुःख, उपष्टंभकत्व प्रवर्तकत्व धर्मों के कारण तीन प्रकार होंगे। उसी प्रकार तमोगुण के मोह, गुरुत्व, आवरण आदि धर्मों के कारण तीन प्रकार होंगे-एवं च प्रत्येक के तीन तीन भेद होने से नौ भेद अर्थात् नौ गुण होंगे।

समा—'सुखप्रकाशलाघवानामिति।' जहाँ गुणनानात्व में निमित्त, 'धर्मादिनानात्व प्रयोजक' होता है और सहोत्पत्ति में विरोध रहता है, वहीं पर संख्या में वैलक्षण्य की कल्पना की जाती है। और 'जहाँ निमित्त 'धर्मादिनानात्व प्रयोजक' नहीं रहता और सहोत्पत्ति में विरोध भी नहीं होता, वहाँ संख्या में विलक्षणता की कल्पना नहीं की जाती'—इस नियम के अनुसार सुख, 'प्रकाश,' 'लाघव' को सत्त्व, रज, तम की अपेक्षया अतिरिक्त गुण नहीं माना जाता। अर्थात् सुख, प्रकाश, लाघव (लघुत्व) ये तीनों एक साथ एक पदार्थ (सत्त्वगुण) में उत्पन्न (आविर्भूत) हो सकते हैं। उनके एक साथ आविर्भाव होने में कोई विरोध नहीं, क्योंकि उनकी एक साथ उपलब्धि होती है। आपस में विरोधी सुख, दुःख, मोह के अनुभव से, सत्त्व, रज, तमःस्वरूप आदि भिन्न भिन्न निमित्तों का जैसे अनुमान होता है, वैसे एक कार्य में रहने वाले आपस में अविरोधी सुख, 'प्रकाश', लाघव धर्मों के निमित्त रूप में भिन्न भिन्न गुणों का अनुमान नहीं किया जाता। उसी प्रकार दुःख, 'उपष्टम्भकत्व,' प्रवर्तकत्व धर्मों से एवं मोह, गुरुत्व, नियामकत्व आदि से भी उनके निमित्तरूप भिन्न भिन्न गुणों का अनुमान नहीं किया जाता। अतः तीन ही गुण हैं यह स्पष्ट होता है।

एवं च—'सुखदुःखमोहाः, परस्परं विभिन्नाः, परस्परपरिहारेण ज्ञायमानत्वात्, घटादिवत्'—इस अनुमान से सुख-दुःख-मोह में परस्पर भेद है, ऐसा भेद (भिन्नता) प्रकाशादिकों में नहीं। क्योंकि परस्पर परिहार के द्वारा उनका अनुभव नहीं होता, अतः उनका सहोपलंभ होने से प्रकाशादिकों का आपस में विरोध नहीं है। निष्कर्ष यह है—तस्मादिति। उनका एकत्र साथ रहना दिखाई देने से सुख, प्रकाश और लाघव तीनों का एक काल में और एकत्र प्रादुर्भाव होने में कोई विरोध नहीं है। इसलिये विरोधी सुख, दुःख,' मोह की तरह अविरोधी, और एक एक गुण का अनुवर्तन करनेवाले जैसे—सत्त्वगुण का अनुवर्तन करनेवाले सुख-प्रकाश-लाघव, एवं रजोगुण का अनुवर्तन करनेवाले दुःख, उपष्टम्भकत्व, प्रवर्तकत्व, एवं तमोगुण का अनुवर्तन करने वाले मोह, गुरुत्व,' आवरण को निमित्त भेद की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु सात्विक सुखादिकों को केवल धर्मापेक्ष सत्त्व की अपेक्षा रहती है। राजस दुःखादिकों को केवल अधर्मापेक्ष रज की अपेक्षा रहती है। तामस मोहादिकों को केवल अविद्यापेक्ष तम की अपेक्षा रहती है। अतः समस्त भाव (पदार्थ) त्रिगुणात्मक हैं॥ १३॥

(१०८) अननुभवसिद्धेषु सत्त्वादिष्वविवेकित्वादि-गुणासम्भवशङ्का ।

स्यादेतत्-अनुभूयमानेषु पृथिव्यादिष्वनुभव-सिद्धाः भवन्त्वविवेकित्वादयः। ये पुनः सत्त्वादयो नानुभवपथमधिरोहन्ति तेषां कुतस्त्यमविवेकित्वम्, विषयत्वंसामान्यत्वमचेतनत्वम् प्रसवधर्मित्वं च? इत्यत आह—

(१०८) अननुभव सिद्ध सत्त्वादिकों में अविवेकित्वादि गुणों की असंभवता का आक्षेप

समस्त पदार्थों की त्रिगुणात्मकता का साधन कर अब उसी 'त्रैगुण्य' रूप हेतु से प्रधानादिकों में अविवेकित्वादिधर्मों को बताने के लिये चौदहवीं कारिका को उपस्थित करने के लिए अवतरणिका दे रहे हैं—'स्यादेतदिति।' प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली पृथिवी आदिकों में 'अविवेकित्वादिधर्म' जो 'त्रिगुणमविवेकि' कारिका के द्वारा बताये गये हैं, भले ही रहें, किन्तु प्रत्यक्ष न दिखाई देने वाले जो सत्त्वादि सूक्ष्मपदार्थ हैं उनमें, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व, प्रसवधर्मित्व आदि धर्मों के होने में क्या प्रमाण है? "सत्त्वादयः" में 'सत्त्व' शब्द से सत्त्वादिगुणत्रयों की 'साम्यावस्थारूप प्रधान' को समझना चाहिये और 'आदि' शब्द से महत्तत्त्वादिकों का समुच्चय किया गया है।

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥

अन्व०—अविवेक्यादेः सिद्धिः त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात् कार्यस्य कारणगुणात्मकत्वात् अव्यक्तमपि सिद्धम् (भवति)॥

भावार्थ—'अविवेक्यादेः सिद्धिः = प्रधान (प्रकृति) महत्तत्त्व आदि में विवेकित्वादिधर्मों की अनुमिति, त्रैगुण्यात् = त्रैगुण्य हेतु से होती है—जैसे—'प्रधानं अविवेकित्वादिधर्मयोगि त्रिगुणत्वात् घटवत्। यत् यत् त्रिगुणात्मकं तत्तदविवेकित्वादिधर्मवत् यथा इदमनुभूयमानं व्यक्तम्।' इसीको व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा बता रहे हैं। 'यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति'—यह 'व्यतिरेक व्याप्ति' का स्वरूप है। "तद्विपर्ययाभावादिति।' 'तस्य' = अविवेकित्व आदि धर्मों के अभाव से = न रहने से त्रैगुण्य का भी अभाव होगा। तथाहि—'यत्र अविवेकि तत्र त्रिगुणम्, यथा आत्मतत्त्वम्।' 'कार्यस्य' = महदादि के 'कारणगुणात्मकत्वात्' = सुखदुःखमोहरूप होने से 'अव्यक्तमपि' = प्रधान भी 'सिद्धम्'भवति = सिद्ध होता है। एवं च अनुमान इस प्रकार होगा—'सुखदुःखमोहधर्मिणी बुद्धिः सुखदुःखमोहधर्मद्रव्यजन्या, कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहात्मकत्वात् कान्त दिवत्'॥

(१०९) तन्निरासः—गुणत्रयाविवेकित्वसाधनान्वयव्यतिरेकौ ॥

"अविवेक्यादेः" इति। अविवेकित्वमविवेकि-यथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' [पाणिनिसूत्र. १।४।२२] इत्यत्र द्वित्वैकत्वयोरिति, अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यात्। कुतः पुनरविवेकित्वादेः सिद्धिरित्यत आह-"त्रैगुण्यात्" इति। 'यद्यत् सुखदुःखमोहात्मकं तत्तदविवेकित्वादियोगि यथेदमनुभूयमानं व्यक्तम्'-इति स्फुटत्वादन्वयो नोक्तः। व्यतिरेकमाह—"तद्विपर्ययाभावात्" इति। अविवेक्यादिविपर्यये पुरुषे त्रैगुण्याभावात्। अथ वा व्यक्ताव्यक्ते पक्षीकृत्यान्वयाभावेनावीत एव हेतुस्त्रैगुण्यादिति वक्तव्यः॥

"अविवेकित्वमविवेकीति।" 'अविवेकि' पद की व्याख्या करते हैं—'अविवेकित्वम्'। इति। कारिका में 'अविवेकि' पद, भावप्रधान निर्देश करने के लिये 'अविवेकित्वपरक' है, उसमें दृष्टान्त के लिये पाणिनि का सूत्र दे रहे हैं—'द्व्येकयोरिति' जैसे—'द्व्येकयोः' का अर्थ 'द्वित्व' 'एकत्व' किया जाता है। वैसे ही 'अविवेकि' का अर्थ 'अविवेकित्व' आदि किया जाता है।

(१०९) पूर्वोक्त आक्षेप का निरसन। गुणत्रय और अविवेकित्व के साधक अन्वय व्यतिरेक।

शंका—पाणिनि के सूत्र में भी 'द्वि'-'एक' शब्द का द्वित्व-विशिष्ट, एकत्व विशिष्ट अर्थ ही क्यों न किया जाय, भावप्रधाननिर्देश करने की क्या आवश्यकता?

समा०—"अन्यथेति।" 'द्व्येक' शब्दों का (द्वि और एक शब्द का) द्वित्व और एकत्व अर्थ न किया जायगा तो 'द्वि' शब्द से द्वित्वविशिष्ट दो का और 'एक' शब्द से एकत्वविशिष्ट एक का अर्थ करना पड़ेगा, पश्चात् 'द्वन्द्व' समास करने पर 'द्व्येक' शब्द का अर्थ 'बहुसंख्या' (बहुत्वसंख्या) होने से 'द्व्येकेषु' ऐसा बहुवचनान्त निर्देश करना होगा। किन्तु ऐसा निर्देश तो किया नहीं है। अतः सूत्रकार ने 'द्व्येकयोः' ऐसा द्विवचन निर्देश जो किया है, वही 'द्वित्व-एकत्व' अर्थ करने में प्रमाण है।

शंका—किस हेतु से अविवेकित्वादि की अनुमिति होती है—"कुत" इति।

समा०—'अन्वय-व्यतिरेकी' हेतु दे रहे हैं—'त्रैगुण्यादिति।' अनुमान प्रयोग—'प्रधानादीनि अविवेकित्वादिधर्मवन्ति त्रिगुणत्वात् घटवत्' इस में अन्वयव्याप्ति दिखा रहे हैं—'यद्यदिति।' 'यत् यत् सुखदुःखमोहात्मकम्' अर्थात् त्रिगुणात्मक है 'तत् तत् अविवेकित्वादियोगि' अर्थात् वह अविवेकित्वादि धर्म से युक्त है, यथा इदमनुभूयमानं व्यक्तम्—अर्थात् जैसे प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले घट-पटादि स्थूल पदार्थ। इस रीति से 'अन्वयव्याप्ति' सरलतया समझ में आ सकती है। इसलिये कारिकाकार ने 'त्रैगुण्यसत्त्वे अविवेक्यादिसत्त्वम्' इत्याकारक 'अन्वय सहचार' नहीं बताया, उसे स्वयं समझ लेना चाहिये 'व्यतिरेकव्याप्ति' दिखाते हैं—'व्यतिरेकमाहेति।' अर्थात् 'व्यतिरेकसहचारजन्यव्यतिरेकव्याप्ति'—जहाँ होगी। ऐसे दृष्टान्त को दे रहे हैं। "यन्न अविवेकि तन्न त्रिगुणम् यथा आत्मतत्त्वम्"। "तद्विपर्ययाभावात्" इति। 'तस्य' अर्थात् व्यतिरेकित्वादि का, 'विपर्ययः' अर्थात् अभाव जहां हो वह 'तद्विपर्यय' हुआ, अर्थात् 'पुरुषः', 'तस्मिन्' उसमें 'अभावः तस्मात्' = अभाव रहने से। उसी का अर्थ बताते हैं—'अविवेक्यादि 'विपर्यये पुरुषे' इति। 'तद्विपर्यय' पद से ग्राह्य, 'पुरुष = आत्मा' ही है, इस 'व्यतिरेकी दृष्टान्त' को कारिकाकार ने बताया है। एवं च 'अविवेक्यादिविपर्यये'—अर्थात् अविवेकित्वादि धर्माभाव से युक्त पुरुष (आत्मा) में अर्थात् 'साध्याभावाधिकरण' में (साध्याभाववान् में) 'त्रैगुण्यात्मक' (त्रिगुणत्वरूप) हेतु का अभाव रहने से यदि केवल 'प्रधान' को पक्ष में रखेंगे, तब अन्वयिदृष्टान्त तो महदादिक होंगे और 'पुरुष' व्यतिरेकिदृष्टान्त होगा। और जब 'अतीन्द्रिय प्रधान महदादिक' को पक्ष बनावेंगे तब 'स्थूलघटादिक' 'अन्वयिदृष्टान्त' होंगे और 'पुरुष' व्यतिरेकिदृष्टान्त होगा। और जब 'स्थूल सूक्ष्मोभयविधव्यक्त और अव्यक्त' (प्रधान) दोनों को पक्ष बनावेंगे तब 'अन्वयिदृष्टान्त' न मिलने से 'अवीत' (व्यतिरेकी) हेतु होगा' 'त्रैगुण्यात्'। एवं च 'त्रैगुण्य' अभी भी सिद्ध न हो सकने से उसके अन्वय (संबन्ध) के द्वारा 'अविवेकित्वादि' की सिद्धि कैसे हो सकती है? अतः व्यतिरेकव्याप्ति से ही 'व्यक्ताव्यक्त' की सिद्धि हो सकती है—इसी को बता रहे हैं—'अथवेति'।

'संपूर्ण व्यक्ता व्यक्त' (महत्तत्त्व से पृथिवी तक का त्रयोविंशति तत्त्व समुदाय व्यक्त और प्रधान अर्थात् अव्यक्त) जडवर्ग को 'पक्ष' बनाने पर अन्वयव्याप्ति से युक्त कोई दृष्टान्त नहीं

मिलेगा, तब 'त्रैगुण्यात्' इस अवीत (व्यतिरेकी) हेतु को ही रखना होगा। तब अनुमान इस प्रकार करेंगे—'व्यक्ताव्यक्ते अविवेकित्वादियोगिनी त्रिगुणत्वात्', यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति अर्थात् जहां साध्य 'अविवेकित्वादि' नहीं रहेंगे वहां 'त्रिगुणत्व' हेतु भी नहीं रहेगा।

(११०) अव्यक्तसाधनम्।

स्यादेतत्-अव्यक्तसिद्धौ सत्यां तस्याविवेकित्वादयो धर्माः सिध्यन्ति। अव्यक्तमेव त्वद्यापि न सिध्यति, तत्कथमविवेकित्वादिसिद्धिरत आह—"कारणगुणात्मकत्वात्" इति। अयमभिसन्धिः-कार्यं हि कारणगुणात्मकं दृष्टम्, यथा तन्त्वादिगुणात्मकं पटादि। तथा महदादिलक्षणेनापि कार्येण सुखदुःखमोहरूपेण स्वकारणगतसुखदुःखमोहात्मना भवितव्यम्। तथा च तत्कारणं सुखदुःखमोहात्मकं प्रधानमव्यक्तं सिद्धम् भवति ॥ १४ ॥

(११०) अव्यक्त की सिद्धि।

शंका—स्यादेतदिति। अव्यक्त (प्रधान) जब पहिले सिद्ध हो जाय तभी उसके (प्रधान के) अविवेकित्वादि धर्म सिद्ध हो सकेंगे। किसी भी धर्म की सिद्धि में उसके आश्रयभूत धर्मी की सिद्धि पहिले अपेक्षित होती है। अभी तो 'अव्यक्त' ही सिद्ध नहीं है, अतः 'पक्ष' ही असिद्ध होने से 'हेतु' आश्रयासिद्ध हो गया। एवं च 'आश्रयासिद्धि' दोष से युक्त (दुष्ट) हेतु के द्वारा 'अविवेकित्वादि साध्य' की सिद्धि (अनुमिति) कैसे हो सकती है ?

समा०—"कारणगुणात्मकत्वादिति।" 'कार्य' हमेशा कारणगुणात्मक होता है अर्थात् कारण के जो गुण (सुखःदुखादि) होते हैं, उन्हीं से युक्त घटादि कार्य हुआ करते हैं। एवं च—'घटादयः स्वगुणसमानगुणवत्कारणजन्याः, कार्यत्वात्, पटवत्' इस अनुमान से 'महत्तत्त्वादि में सुखदुःख मोहात्मकता का साधन करने के पश्चात् 'महदादि कार्यम् स्वोपहितत्रिगुणात्मकवस्तूपादानोपादेयम् त्रिगुणात्मककार्यत्वात्'—इस अनुमान से 'अव्यक्त' की सिद्धि हो जाती है। इसी अभिप्राय को बताते हैं - 'अयमभिसंधिरिति।' अभिप्राय यह है—पटादि कार्य, कारणगुणात्मक है अर्थात् तन्तुरूप कारणवृत्ति गुण शुक्ल कृष्णादि तत्सजातीय गुण से युक्त ही पटादिकार्य दिखाई देता है। अर्थात् तन्तु जिस रंग के होंगे उसी रंग का पट बनेगा। प्रकृत में भी उसी तरह होता है—'तथा महदादिति।' महत्तत्त्वादि कार्य में उपलब्ध होने वाले सुखदुःखमोहादि गुणों से ही उसके (महत्तत्त्वादि के) सुखदुःखमोहात्मक (सुख दुःखमोह गुणवाले) अव्यक्त (प्रधान) की अनुमिति की जाती है—"सुखदुःखमोहधर्मकाः महदादयः सुखदुःखमोहधर्मककारणजन्याः, कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहात्मकत्वात्, कान्तादिवत्"—ऐसा कारण 'प्रधान' (अव्यक्त) ही है—इस रीति से 'अव्यक्त' सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

(१११) व्यक्तादेव सर्वकार्यकारणभावोपपत्तेरव्यक्तकारणकल्पना वैयर्थ्यशङ्का।

स्यादेतत्—'व्यक्तात् व्यक्तमुत्पद्यते' इति कणभक्षाक्षिचरणतनयाः ॥ परमाणवो हि व्यक्ताः, तैर्द्व्यणुकादिक्रमेण पृथिव्यादिलक्षणं कार्यं व्यक्तमारभ्यते। पृथिव्यादिषु च कारणगुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः। तस्मात् व्यक्तात् व्यक्तस्य तद्गुणानां चोत्पत्तेः कृतमहष्चरेणाव्यक्तेनेत्यत आह—

कणाद और गोतम मत के अनुयायी लोग 'व्यक्त परमाणुओं' से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। अतः 'अव्यक्त' के होने में कोई प्रमाण नहीं—इसी अभिप्राय से कहते हैं—स्यादेतदिति।' यहां पर 'व्यक्त' पद से प्रत्यक्ष का विषय नहीं कहा गया है, क्योंकि नैयायिकों ने 'परमाणु' को प्रत्यक्ष का विषय होना स्वीकार नहीं किया है। इसलिए 'व्यक्त' पद पृथिव्यादिपरक समझना चाहिये। किस प्रकार के 'व्यक्त' से किस प्रकार के 'व्यक्त' की उत्पत्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—'परमाणवो हीति।' परमाणु व्यक्त हैं—यहां व्यक्त का तात्पर्य उनकी सक्रियता से है 'व्यक्तत्वं सक्रियात्' अर्थात् अप्राप्ति पूर्वक प्राप्त्यात्मक संयोगानुकूल क्रिया से युक्त हैं, उन परमाणुओं से द्व्यणुकादि क्रम से पृथिव्यादि रूप व्यक्त कार्य पैदा होता है। उन पृथिवी आदि कार्यों में कारणगुण क्रम से अर्थात् परमाणु आदि कारण में जो (रूप रस गन्ध आदि) गुण हैं वे कार्य में भी क्रमशः पैदा होते हैं। अतः व्यक्त परमाणु कारणवाद में अपने अभिमत की सिद्धि हो जाने से परमाणु या महत्तत्वात्मक व्यक्त से सक्रिय यावत्कार्य द्रव्यात्मक व्यक्त की और व्यक्तगत रूपरस-गन्धादि गुणों की उत्पत्ति जब उपपन्न हो जाती है, तब अप्रामाणिक 'अव्यक्तात्मक प्रधान' की कल्पना करना व्यर्थ है। तथा च—निष्प्रयोजन 'प्रधान' का स्वीकार नहीं करना चाहिये। उक्त आशंका के निरसनार्थ पंद्रहवीं और सोलहवीं कारिकाओं का युग्म उपस्थित हो रहा है—

(१११) व्यक्त से ही समस्त कार्य कारण भाव की उत्पत्ति हो सकती है तो अव्यक्त-रूप कारण की कल्पना करना व्यर्थ है यह आशंका कर रहे हैं।

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥ १५ ॥

अव्यक्तं साधयित्वा अस्य प्रवृत्तिप्रकारमाह—

कारणमस्त्यव्यक्तम्, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥

अन्वय—भेदानां कारणम् अव्यक्तमस्ति, कारणकार्यविभागात् वैश्वरूप्यस्य अविभागात्, शक्तितः प्रवृत्तेः, परिमाणात्, समन्वयाच्च, त्रिगुणतः समुदयाच्च प्रवर्तते। प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवत् इति ॥

भावार्थः—प्रतिज्ञा कर रहे हैं—भेदानाम्=महदादि कार्यों का 'कारणम्'=कारण, (उपादान) 'अव्यक्तम्'=प्रधान, 'अस्ति'=है, यह कैसे ज्ञात हुआ? तो उसे अनेक हेतुओं से सिद्ध करते हैं—'कारणकार्यविभागात्'=परमाव्यक्तरूप कारण से 'महत्तत्वादि भूम्यन्त' सत् कार्य का ही आविर्भावरूपविभाग होने से अनुमान प्रयोग इस प्रकार करेंगे—'कार्याविर्भावः, तिरोभाव-पूर्वकः, आविर्भावत्वात्, कूर्माङ्गाविर्भाववत्'। एवं च कार्यतिरोभावविशिष्ट वस्तु ही अव्यक्त है यह स्पष्ट होता है। उसी तरह प्रतिसर्ग (प्रलय) के समय 'वैश्वरूप्यस्य'=सम्पूर्ण कार्य का विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यम्, 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' वार्तिक से स्वार्थिक 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ है। अपने अपने कारण में विश्वात्मक नानाविध कार्य का 'अविभागात्'=तिरोभाव होने से, 'महत्तत्त्वादिकों' का जहां तिरोभाव होता है, वह 'अव्यक्त' (प्रधान) है—तथा च अनुमान-प्रयोग इस प्रकार होगा—'प्रलयकालः, तिरोभूतकार्यवान्, कालत्वात्'। एवं च—उस समय जो तिरोभूत कार्यवान् होगा, वही 'प्रधान' (अव्यक्त) है, यह सिद्ध होता है। उसी प्रकार 'शक्तितः

प्रवृत्तेः' = कारण की शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति (प्रादुर्भाव) होती है। वह शक्ति क्या है? कार्य की 'अव्यक्तत्वरूपा' (शक्ति) है। अतः कार्य का कारण 'अव्यक्त' (प्रधान) है, यह सिद्ध होता है। अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा—'कार्यम्, अव्यक्तत्वात्मकशक्तिजन्यम्, कार्यत्वात् घटादिवत्'। इसी प्रकार 'परिमाणात्' = कार्य के परिमित (अव्यापक) होने से, व्यापक कारण की सिद्धि हो जाती है—अनुमानप्रयोग—'परिमिता महत्तत्वादयः व्यापककारणवन्तः परिच्छिन्नत्वात् घटादिवत्' एवं च जो व्यापक कारण है, वही 'प्रधान' (अव्यक्त) है। उसी प्रकार 'समन्वयात्' सुख-दुःख-मोहात्मक समानरूपवत्व के कारण 'महदादिक', स्वसमानरूपवत्कारण वाले हो सकते हैं—अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'व्यक्ताः महदादयः स्वसमानगुणवद्वस्तुप्रकृतिकाः समानरूपवत्त्वात् घटादिवत्'। एवं च—जो स्वसमानगुणवद्वस्तु हो वही प्रधान है ॥ इस रीति से 'अव्यक्त' (प्रधान) को सिद्ध किया गया। अब तथाकथित प्रधान की कार्य में प्रवृत्ति किस प्रकार होती है? इस प्रश्न के उत्तर में उस अव्यक्त की प्रवृत्ति का प्रकार बता रहे हैं—'त्रिगुणतः' परिणाम को प्राप्त होते रहना 'गुणों' का स्वभाव है, अतः वे (गुण) एक क्षण भी बिना परिणाम के नहीं रह सकते। अतः स्वभाव से ही त्रिगुण प्रधान प्रतिसर्गावस्था (प्रलयावस्था) में त्रिगुण साम्यावस्था को प्राप्त कर लेते हैं, और सृष्टि के समय 'समुदयाच्च' = परस्पर एक दूसरे से मिलजुल कर (सम्मिश्रित होकर) अर्थात् गुण-प्रधान भाव को प्राप्त होकर प्रवृत्त होते हैं। अभिप्राय यह है—'प्रधान' (अव्यक्त) की दो प्रकार से प्रवृत्ति होती है एक 'सृष्टिकालीन प्रवृत्ति' और दूसरी 'प्रलयकालीन प्रवृत्ति'। सृष्टिकाल में प्रकृति के तीनों गुण मिलकर प्रवृत्त होते हैं। उस समय उनमें से कोई गुण और कोई प्रधान बन जाता है, क्योंकि गुण-प्रधान भाव को स्वीकार किये बिना अनेक पदार्थों की मिलजुल कर प्रवृत्ति होना असंभव है। प्रलय काल में 'प्रधान' (प्रकृति) के तीनों गुण परस्पर एक दूसरे से पृथक् होकर (स्वतन्त्र होकर) अपने अपने स्वरूप से ही प्रवृत्त होते हैं।

एक एक रूप वाले गुणों की अनेक रूप से प्रवृत्ति क्यों होती है? उत्तर में कहते हैं—'प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवत्' इति। प्रत्येक गुण भिन्न भिन्न आश्रय के कारण अनेक रूपों से प्रवृत्त होता है। जैसे—जल—नरियल-ताल-बेल आदि भिन्न भिन्न आश्रयों के कारण मधुर, अम्ल, तिक्त आदि रस का हो जाता है। उसी तरह—विषय भेद के कारण एक एक गुण का प्रधानतया आविर्भाव होने से विभिन्न परिणाम को पाकर वह (अव्यक्त) प्रवृत्त होता है॥

"भेदानाम्" इति। भेदानां विशेषाणां महदादीनां भूम्यन्तानां कार्याणां कारणं मूलकारणमस्त्यव्यक्तम्। कुतः? "कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य"। कारणे सत् कार्यमिति स्थितम्। तथा च यथा कूर्मशरीरे सन्त्येवाङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते—'इदं कूर्मशरीरं, एतान्येतस्याङ्गानि—'इति; एवं निविशमानानि तस्मिन् अव्यक्तीभवन्ति। एवं कारणान्मृत्पिण्डाद्धेमपिण्डाद्वा कार्याणि घटमुकुटादीनि सन्त्येवाविर्भवन्ति विभज्यन्ते। सन्त्येव पृथिव्यादीनि कारणात्तन्मात्राद्वाविर्भवन्ति विभज्यन्ते, सन्त्येव च तन्मात्राण्यहङ्कारात् कारणात्, सन्ति

(११२) तत्परिहारः। अव्यक्तकारणसाधनानि। तत्र कारणकार्ययोर्विभागाविभागाभ्याम् व्यक्तसिद्धिरिति प्रथमम् (१)।

वाहङ्कारः कारणान्महतः, सन्नेव च महान् परमाव्यक्तात्। सोऽयं कारणात् परमाव्यक्तात् साक्षात् पारम्पर्येणान्वितस्य विश्वस्य कार्यस्य विभागः। प्रतिसर्गे तु मृत्पिण्डं सुवर्णपिण्डं वा घटमुकुटादयो विशन्तोऽव्यक्तीभवन्ति। तत्कारणरूपमेवानभिव्यक्तं कार्यमपेक्ष्याव्यक्तं भवति। एवं पृथिव्यादयस्तन्मात्राणि विशन्तः स्वापेक्षया तन्मात्राण्यव्यक्तयन्ति, एवं तन्मात्राण्यहङ्कारं विशन्त्यहङ्कारमव्यक्तयन्ति, एवमहङ्कारो महान्तमाविशन् महान्तमव्यक्तयति, महान् प्रकृतिं स्वकारणं विशन् प्रकृतिमव्यक्तयति। प्रकृतेस्तु न क्वचिन्निवेश इति सा सर्वकार्याणामव्यक्तमेव। सोऽयमविभागः प्रकृतौ वैश्वरूप्यस्य नानारूपस्य कार्यस्य [स्वार्थिकः ष्यञ्]। तस्मात् कारणे कार्यस्य सत एव विभागाविभागाभ्यामव्यक्तं कारणमस्ति॥

(११२) आक्षेप का परिहार। अव्यक्त को सिद्ध करने में अनेक हेतु उनमें से कारण-कार्य के विभाग और अविभाग से अव्यक्त की सिद्धि। (१)

"भेदानामिति।" 'भिद्यन्ते = परस्परं व्यावृत्ताः प्रतीयन्ते इति भेदाः' = कार्याणि महदादीनि अर्थात् एक दूसरे से व्यावृत्त (पृथक् पृथक्) महदादि (महत्त्वादि) जो कार्य हैं, उनका कारण 'अव्यक्त' है—'कारणमस्त्यव्यक्तम्'—इस अग्रिम कारिका के उत्तरार्ध के पाद से अन्वय किया गया है। एवं च—'कारणमस्त्यव्यक्तम्' इस प्रतिज्ञा में कारिकाकार ने 'परिमाणात्' आदि पांच हेतु दिये हैं। 'भेदानां—विशेषाणामिति।' महदादि से लेकर भूमि तक के पदार्थ विशेष रूप कार्यों—(महत्, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशरूप तिरोभाव प्रतियोगियों)—का कारण (उपादान कारण) जो अव्यक्त (प्रधान) है वही मूलकारण (अकार्यत्वे सति कारणम्) कहलाता है। तात्पर्य यह है—महदादिकार्यों का मूलकारण 'अव्यक्त' है—यह 'प्रतिज्ञा' है। उक्त प्रतिज्ञा के सिद्धयर्थ कारिकाकार ने पांच हेतु दिये हैं। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने कारिकोक्त पाठक्रम को त्याग कर आकांक्षाक्रम से उन हेतुओं की व्याख्या करने के लिये प्रथमतः दो हेतुओं को (कार्यकारण विभागात्, और अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य) बताते हैं—'सत् कारण' से ही 'कार्य का विभाग' अर्थात् आविर्भाव होने से—यह एक हेतु है। और 'विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यम् तस्य' अर्थात् संहार काल में विश्वात्मक कार्य का, कारण में में 'अविभाग' अर्थात् तिरोभाव होने से—यह दूसरा हेतु है। प्रथम हेतु के उपपादनार्थ आवश्यक सांख्यसिद्धान्त का स्मरण करवा रहे हैं—'कारणे सत्कार्यमिति स्थितम्' इति। 'कारणव्यापार' के पूर्व भी अपने 'उपादान कारण' में कार्य सत् (सद्भाव-विद्यमान) रहता है यह सिद्धान्त नवम कारिका के द्वारा बताया जा चुका है। प्रथमहेतु का उपपादन करते हैं—'तथा च यथेति।' जिसकी अवस्था पहिले 'अव्यक्त' रहती है उसी का 'आविर्भाव' होता है—'यत् आविर्भवति तत् अव्यक्तावस्थापूर्वकमेव भवति' यह नियम है। इसी को ध्यान में रखकर कहते हैं—'यथा कूर्मशरीरे' इति। जैसे—कछुए के शरीर में विद्यमान पादादि अंग ही शरीर के बाहर निकल आते हैं और विभक्त रूप से प्रतीत होते हैं। उसी विभाग प्रत्यय को बता रहे हैं—'इदं कूर्मशरीरम् एतानि अस्य अंगानीति' यह कछुए का शरीर है, इसके ये हस्त पादादि अंग हैं।

शंका—कूर्मरूप जो अवयवी है, वह तो 'कार्य' है और उसके अंग, 'कारण' हैं—एवं च इस कछुए के दृष्टान्त से तो 'कार्य' से 'कारण' का आविर्भाव होता दिखाई देता है। अतः इस विपरीत दृष्टान्त के द्वारा 'कारण' से 'कार्य' का आविर्भाव होना कैसे उपपादन किया जा सकेगा ?

समा०—यह दृष्टान्त तो केवल आविर्भाव के होने में दिया गया है, न कि कार्य से कारण का आविर्भाव बताने में अथवा 'कूर्म शरीर' पद का अर्थ 'स्नायु, अस्थि, मज्जा, रोम, लोहित, मांसात्मक षट्कोष समूह' है उक्त समूह के कार्य पादादिक अवयव होंगे, अतः कछुए के दृष्टान्त के द्वारा कारण से कार्य का आविर्भाव होना भी बताया जा सकता है। 'यत् तिरोभवति तत् कारणावस्थान्तम्' यथा कूर्माङ्गानि—इस व्याप्ति को ध्यान में रखकर कहते हैं—'एवं निविशमानानि' इति। इस रीति से कारण में निविष्ट (प्रविष्ट) होने वाले हस्तपादादिक अंग, उस कारण में 'अव्यक्त रूप' से रहते हैं। इस प्रकार दृष्टान्त को बताकर अब दार्ष्टान्तिक को बताते हैं—'एवं कारणान्मृत्पिण्डादित्यादि।' मृत्पिण्डरूप उपादान कारण से उसमें (मृत्पिण्ड में) विद्यमान (सत्) घटादि ही 'आविर्भूत' हो पाते हैं और उसी में (मृत्पिण्ड में) 'तिरोभूत' होते हैं। सुवर्ण पिण्ड रूप उपादान कारण से उसमें—(सुवर्णपिण्ड) विद्यमान अर्थात् सद्रूप से रहनेवाले मुकुटादि ही अविर्भूत (उत्पन्न) होते हैं और उसी में (सुवर्ण पिण्ड में) तिरोभूत होते हैं (समा जाते हैं)। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्दात्मक सूक्ष्म तन्मात्रारूप उपादानकारण से उसमें (तन्मात्रा में) सद्रूप से विद्यमान रहनेवाले पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ही आविर्भूत होते हैं और उसी में (तन्मात्रा में) तिरोभूत होते हैं। कार्यरूप तन्मात्राएँ अपने उपादान कारणरूप अहंकार में विद्यमान (सत्) रहती हुई ही उससे (अहंकाररूप कारण से) आविर्भूत होती हैं और उसी में (अहंकार में) तिरोभूत होती हैं। उसी प्रकार सद्रूप से रहता हुआ ही अहंकाररूप कार्य अपने 'उपादान कारण महत् से आविर्भूत और उसी में तिरोभूत होता है। सद्रूप से रहता हुआ ही महत्तत्त्व (महान्) अपने उपादान कारण अव्यक्त (प्रधान) से आविर्भूत होता है और उसी में तिरोभूत होता है। इस प्रकार प्रदर्शित किये गये प्रथम हेत्वर्थ का उपसंहार करते हैं—'सोऽयमिति।' प्रदर्शित किया हुआ यह—परमाव्यक्त अर्थात् मूल अव्यक्त (मूल प्रकृति) रूप उपादान कारण से साक्षात् सम्बन्ध (तादात्म्यसंबन्ध) के द्वारा महत्तत्त्व का और परम्परा सम्बन्ध के द्वारा (स्वजन्यजन्यत्व या स्वतादात्म्यतादात्म्य सम्बन्ध से) सम्बद्ध (अन्वित) विश्व का अर्थात् आविर्भाव प्रतियोगिवस्तु-मात्ररूपकार्य का विभाग है।

द्वितीय हेतु की व्याख्या करते हैं—'प्रतिसर्गे त्विति।' प्रलय (संहार) काल में घटादि कार्य अपने कारण मृत्पिण्ड में प्रविष्ट हो जाते हैं, और मुकुटादि अपने कारण सुवर्णपिण्ड में में प्रविष्ट हो जाते हैं, जिससे वे घटादि एवं मुकुटादि अव्यक्त कहलाते हैं अर्थात् अपनी घटावस्था को त्यागकर मृत्तिकादिरूप में अव्यक्त होकर रहते हैं। 'अव्यक्ती भवन्ति' में अभूततद्भावेच्विः" सूत्र से 'च्वि' प्रत्यय किया है। अतः पहिले व्यक्त रहते हुए ही पश्चात् अव्यक्त होते हैं।

शंका—'घटादयः अव्यक्तीभवन्ति' के द्वारा घटादि पदार्थ मृत्तिका के रूप में, "तन्मात्राणि अव्यक्तयन्ति, अहङ्कारम् अव्यक्तयन्ति, महान्तम् अव्यक्तयन्ति" इस वक्ष्यमाण ग्रन्थ से तन्मात्रादिकों की जो अव्यक्तता (घटादिकों की अव्यक्तता तथा तन्मात्रादिकों की अव्यक्तता) बताई गई है, वह उचित नहीं है। शब्दादिरहित एक मात्र प्रधान को ही 'अव्यक्त' शब्द से कहना उचित है।

समा०—प्रधान के अतिरिक्त तत्त्वों की अव्यक्तता आपेक्षिक बताई गई है—"तत्कारणरूप-मेवेति।" क्योंकि प्रलय (संहार) के समय अपने अपने कारण में तिरोभूत हुआ कार्य अन-

शब्द से कहा गया है। एवं च तत्तत्कार्य का सूक्ष्मावस्थारूप जो अनभिव्यक्तत्व है, वह तिरोभावानुयोगित्वात्मक ही यहां 'अव्यक्त' शब्द से विवक्षित है। अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यात्मकसंयोगानुकूलक्रियाशून्यत्वरूप अव्यक्तत्व, जो प्रधान (प्रकृति) में रहता है वह विवक्षित नहीं। मृत्पिण्डादि जो कारण हैं वे ही अपने अनभिव्यक्त कार्य (घटपटादि) की अपेक्षया 'अव्यक्त' शब्द से कहे जाते हैं। मृत्पिण्डात्मक पृथिव्यादि भूतों का अपने कारण में अविभाग बताते हैं—"एवं पृथिव्यादयः" इति। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द तन्मात्राओं में तिरोभाव को प्राप्त होने वाले पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश अपनी अनभिव्यक्त अवस्था की अपेक्षा गन्धादि तन्मात्राएँ व्यक्त होने पर भी उन्हें अव्यक्त बनाते हैं अर्थात् तन्मात्राओं में अव्यक्तत्व का संपादन करते हैं। अतः गन्धादितन्मात्राओं में अव्यक्तत्व का प्रयोग औपचारिक है। उसी प्रकार तन्मात्राएं (कार्य), अपने कारण–अहंकार में प्रविष्ट होती हुई अहंकार के व्यक्त रहने पर भी अपनी अपेक्षया उसे अव्यक्त बना देती हैं। उसी प्रकार अहंकार (कार्य), अपने कारण (महत्तत्त्व) में तिरोभूत (प्रविष्ट) होता हुआ उसे (महत्तत्त्व को) अपनी अपेक्षया अव्यक्त बना देता है। उसी प्रकार महत्तत्त्व (महान्) भी अपने कारण प्रकृति (प्रधान) में तिरोभाव को प्राप्त होकर (प्रविष्ट होकर) उस (प्रकृति) में अव्यक्तता ला देता है अर्थात् अपनी अनभिव्यक्ति के कारण उसे भी अव्यक्त बना देता है। प्रकृति के स्वाभाविक अव्यक्तत्व को युक्ति से सिद्ध करते हैं—"प्रकृतेस्तु न क्वचिन्निवेश" इति। उसका (प्रकृति का) कोई कारण न होने से किसी में तिरोभाव (प्रवेश) नहीं होता। अतः (कहीं प्रवेश (तिरोभाव) न होने से ही) वह (प्रकृति) समस्त महदादि भूम्यन्त कार्यों की दृष्टि से अव्यक्त ही है अर्थात् वास्तविक संयोगानुकूलक्रियाशून्यतारूप जो नित्य अव्यक्तत्व है उससे वह (प्रकृति) युक्त है। उपसंहार करते हैं—"सोयमविभागः प्रकृताविति।" "वैश्वरूप्यस्य" का अर्थ करते हैं—'नानारूपस्य कार्यस्य' इति। विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यम्–में 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्'—वार्तिक से स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय किया गया है। सभी कार्य, अव्यक्तपूर्वक हैं और अव्यक्तान्त भी हैं अर्थात् अव्यक्त से ही उत्पन्न होते हैं और अव्यक्त में ही उन कार्यों का अन्त भी होता है। इसी अभिप्राय को निगमन के रूप में कहते हैं—"तस्मादिति।" कारण से कार्य का विभाग एवं अविभाग होने से अर्थात् अपने उपादान कारण में कारणव्यापार के पूर्व भी विद्यमान कार्य का आविर्भाव (विभाग) और तिरोभाव (अविभाग) होता है, उन्हीं आविर्भाव-तिरोभाव से ही अव्यक्त (प्रधान) समस्त कार्यों का कारण सिद्ध होता है।

इतश्चाव्यक्तमस्तीत्यत आह—"शक्तितः प्रवृत्तेश्च इति"। कारणशक्तितः कार्यं प्रवर्तत इति सिद्धम्, अशक्तात् कारणात् कार्यस्यानुपपत्तेः, शक्तिश्च कारणगता न कार्यस्याव्यक्तत्वादन्या। न हि सत्कार्यपक्षे कार्यस्याव्यक्ततायाऽन्यस्यां शक्तौ प्रमाणमस्ति। अयमेव हि सिकताभ्यस्तिलानां तैलोपादानानां भेदो यदेतेष्वेव तैलमस्त्यनागतावस्थं न सिकतास्विति॥

(११२) कारणस्य शक्तिस्तस्मिन् कार्यस्याव्यक्ततया स्थितिरेवेति च द्वितीयम् (२)।

अव्यक्त की सिद्धि में द्वितीय हेतु दे रहे हैं—"इतश्चाऽव्यक्तमस्तीति।" इतश्च = 'शक्तितः प्रवृत्तेश्च' इस हेतु से भी अव्यक्त की सिद्धि की जाती है। अनुमान-प्रयोग—'कार्यम् अव्यक्तत्वात्मकशक्तिजन्यं, कार्यत्वात्'। शक्तितः प्रवृत्तेश्च' की व्याख्या करते हैं—"कारणशक्तितः कार्यं प्रवर्तते इति सिद्धम् इति'। अर्थात् 'शक्तस्य शक्यकरणात्'—इस नवम कारिका के द्वारा पहिले सिद्ध कर ही चुके हैं, तथापि उसे पुनः दृढ़ करने के लिये कह रहे हैं—"अशक्तात् कारणात् इति"। कार्यानुकूलशक्ति से शून्य उपादानकारण से कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होती, अतः कारण को शक्तिसंपन्न होना आवश्यक होता है। उस शक्ति का स्वरूप बताते हैं—"शक्तिश्चेति"। 'महत्तत्त्वादि कार्य की जो अव्यक्तावस्था अर्थात् कारणावस्था या प्रधानावस्था है, वही उपादानकारणगता' शक्ति है। तात्पर्य यह है कि महत्तत्त्वादि कार्य की अव्यक्तावस्थारूप ही उपादानकारण की शक्ति है। वह अव्यक्तावस्था से पृथक् नहीं है। उस शक्ति को यदि—अव्यक्तावस्था से पृथक् मानलिया जाय तो वह प्रामाणिक सिद्ध नहीं हो सकेगी—"नहीति।" असत्कार्यवाद में तो कारण में, कार्य के सत् न होने से (विद्यमान न होने से) तन्तुओं से पट ही होगा—इस प्रकार का कोई नियम नहीं रहेगा, तब अव्यवस्था होगी, अतः व्यवस्था बनाने के लिये स्वतन्त्रशक्तिवादियों को पटानुकूल शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। किन्तु हमारे सत्कार्यवाद में तो अव्यक्तावस्थावाला कार्य, कारण में विद्यमान होने से वही (कार्य) उस कारण से आविर्भूत होगा, दूसरा नहीं। इस प्रकार अव्यक्तावस्था से ही व्यवस्था बन सकती है, उसके (व्यवस्था बनाने के) लिये शक्त्यन्तर की कल्पना नहीं करनी होगी। कार्य की अव्यक्त अवस्था के अतिरिक्त किसी अन्यपदार्थ में शक्ति का होना अनुमानादि प्रमाणों से भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। किन्तु उस (शक्ति) के अव्यक्तावस्थात्मक मानने में तो प्रमाण दिया जा सकता है—'कारणशक्तिः, न अव्यक्तावस्थातो भिद्यते, कारणव्यापारात्प्राक् सत्कार्यसम्बद्धत्वात्'। कार्य की सूक्ष्मावस्थात्मकता या अव्यक्तावस्थात्मकता ही—कार्य का कारण में सम्बद्ध होना है। कारणगतशक्ति, अन्य कुछ न होकर कार्य की अनागतावस्थारूप ही है—इसी को दृष्टान्त के द्वारा विशेषरूप से दृढ़ करते हैं—'अयमेव हीति।' तिल और सिकता (बालू-रेता) में यही तो अन्तर (भेद) है कि तैल के उपादानकारण तिल हैं, सिकता नहीं। क्योंकि तिल में ही अनागतावस्थ तैल अव्यक्त अवस्था में रहता है—अनुमानप्रयोग :—'सिकताः, तैलस्य अव्यक्तावस्थात्मकशक्तिशून्याः, तैलाऽनभिव्यञ्जकत्वात्'।

(११३) कार्य की अपने कारण में अव्यक्तरूप से स्थिति ही कारण की शक्ति होने से (२)।

स्यादेतत्—शक्तितः प्रवृत्तिः कारणकार्यविभागाविभागौ च महत एव परमाव्यक्तत्वं साधयिष्यतः, कृतं ततः परेणाव्यक्तेनेत्यत आह—"परिमाणात्" इति। परिमितत्वात्, अव्यापित्वादिति यावत्। विवादाध्यासिता महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः, परिमितत्वात्, घटादिवत्। घटादयो हि परिमिताः मृदाद्यव्यक्तकारणका दृष्टाः। उक्तमेतद्यथा कार्यस्याव्यक्तावस्था कारणमेवेति, यन्महतः कारणं तत् परमाव्यक्तम्, ततः परतराव्यक्तकल्पनायां प्रमाणाभावात्॥

(११४) महदादिपर्यन्तस्य कार्यजातस्य परिमितत्वाच्चेति तृतीयम् (३)।

'परिमाणात्' हेतु को उपस्थित करने के लिये प्रधान में अकारणत्व और महत्तत्त्व में ही कारणत्व की आशंका करते हैं—'स्यादेतदिति ।' 'शक्तितः प्रवृत्तिः' इत्यादि अग्रिम ग्रंथ तब लग सकेगा कि जब जगत् के कारण महत्तत्त्व को ही परम अव्यक्त माना जाय, उसके अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं । यह मानने में कतिपय हेतुओं को बताते हैं—'शक्तितः प्रवृत्तिः, कारण-कार्यविभागादविभागात् ।' इन हेतुओं से समस्त कार्यों का मूलकारण (परम अव्यक्त) महत्तत्त्व ही सिद्ध होगा । 'शक्तितः—प्रवृत्तिः' का यह अर्थ है कि अव्यक्तावस्थारूप शक्ति के द्वारा जो प्रवृत्ति अर्थात् कार्य की अभिव्यक्ति, वह अव्यक्तावस्थात्मक शक्तिजन्य है, वह स्वयं कारण होती हुई भी अपने हेतुभूत अव्यक्तावस्थात्मक शक्ति की कल्पना महत्तत्त्व में करादेगी । अनुमान प्रयोग :—'महत्तत्त्वं, जगदव्यक्तावस्थानुयोगि, स्वजनकत्वसंबंधेन अभिव्यक्ताऽहंकारादिजगद्रूपकार्यवत्त्वात्' । उसी प्रकार 'कारणात् कार्यस्य विभागः' और 'कारणे कार्यस्य च अविभागः' इन दो हेतुओं में से कार्यविभागात्मक प्रथम हेतु के द्वारा (कारण) महत्तत्त्व में अव्यक्तत्व को सिद्ध करना चाहिये, अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'महत्तत्त्वं—जगदव्यक्तावस्थानुयोगि, स्वजनकत्वसंबन्धेन विभक्तयावत्कार्यवत्त्वात् ।' उसी प्रकार 'कारणे कार्यस्य चाऽविभागः' इस कार्याऽविभागात्मक द्वितीय हेतु से भी महत्तत्त्वरूपकारण में अव्यक्तत्व सिद्ध करना चाहिये अनुमान प्रयोगः—'महत्तत्त्वं, जगदव्यक्तावस्थानुयोगि, अविभक्त-यावत्कार्यवत्त्वात्' । एवं च महत्तत्त्व में ही अव्यक्तत्व जब सिद्ध हो रहा है तब उसे कारण न मानकर एक पृथक् अव्यक्त प्रधान को कारण मानने-की क्या आवश्यकता ?, निष्कर्ष यह है—'शक्तितः प्रवृत्तेः' और 'कारणकार्य विभागात्' इन दो हेतुओं से कार्यों की अव्यक्तपूर्वकता यद्यपि सिद्ध की गई है तथा 'अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य' हेतुसे समस्त कार्यों का अव्यक्त में अन्त भी सिद्ध किया जा चुका है, तथापि इतने निरूपण से समस्त कार्यों का कारण अव्यक्त प्रधान है—यह निश्चय नहीं हो पाता । अव्यक्त महत्तत्त्व को मानकर उसे ही समस्त कार्यों का कारण सिद्ध किया जा सकता है, जिससे अभिमत की असिद्धिरूप अर्थान्तरता हो जायगी—यह शंकाकर्ता का तात्पर्य है । समाधान करनेवाले का तात्पर्य यह है—महत्तत्त्व (बुद्धि) भी परिच्छिन्न होने से कार्य है, इसलिये उसमें (महत् में) परम अव्यक्तता नहीं कही जा सकती बल्कि उसके (महत् के) कारणरूप में अनुमित (कल्पित) प्रधान में ही परम अव्यक्तत्व मानना होगा । इसी आशय को 'परिमाणादिति' ग्रन्थ से बता रहे हैं—परिमितिः—परिमाणम् , भाव अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय किया गया है । अतः 'परिमाणात्' की व्याख्या की गई 'परिमितत्वात् अर्थात् परिच्छिन्नत्वात् इति ।' देश, काल, वस्तु के भेद से परिच्छिन्नत्व तीन प्रकार का होता है ।

(११४) महदादिपर्यन्त कार्यसमुदाय परिमित होने से (३) ।

शंका—तो, यहां 'परिमितत्व' कौन सा है—किं नाम परिमितत्वम् ?—यदि 'देशपरिच्छिन्नत्वं परिमितत्वम्' कहें अर्थात् 'देशतः परिच्छिन्नत्वात्' को हेतु बनावें तो "महदादिकम् अव्यक्तकारणकम् , परिमितत्वात् , घटादिवत्" इस अनुमान प्रयोग में महदादिरूप पक्ष के एकदेश आकाश में 'परिमितत्व' रूप हेतु के न रहने से भागाऽसिद्धि दोष होगा । आकाश विभु होने से सर्वदेशगत है अतः उपर्युक्त परिमितत्व (देशतः परिच्छिन्नत्व) उसमें नहीं है । 'पक्षैकदेशाऽवृत्तिर्हेतुर्भागासिद्धः'—पक्ष के एकदेश में न रहनेवाला हेतु 'भागासिद्ध' कहलाता है । 'यदि कालपरिच्छिन्नत्वं परिमितत्वम्' कहें, तो "अन्तःकरणं त्रिविधम्"—इस तैंतीसवीं कारिका के विवरण में पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त 'काल' तत्त्व का अस्वीकार (अनभ्युपगम) बताया जायगा, अतः 'स्वरूपाऽसिद्धि' दोष होगा । हेतु के स्वरूप की निष्पत्ति न होने से पक्ष में हेतु का ही अभाव है । यदि "संख्येयतारूपं वस्तुपरिच्छिन्नत्वात्मकं परिमितत्वम्" कहें तो 'सत्त्वादि' तनो

व्यक्ति होने से एक दूसरे से भिन्न हैं अतः उनमें भी परिमितत्व कहना होगा, तब 'व्यभिचार' दोष होगा। गुण ही तो अव्यक्त हैं अतः उनमें 'अव्यक्तकारणकत्व' रूप साध्य तो रह नहीं सकता किन्तु उसमें (साध्याभावाधिकरण गुणत्रय में) 'परिमितत्व' हेतु रहता है, इस लिये उन दोनों में (परिमितत्व और अव्यक्तकारणकत्व में) व्याप्य व्यापकभाव बताना असंभव है।—

समा०—इसी आशंका को मन में रख कर 'परिमितत्वात्' का अर्थ करते हैं—'अव्यापित्वादिति।'

'स्वकारणं परिणामिनं न व्याप्नोतीति अव्यापि, तस्य भावः अव्यापित्वम्-तस्मात् अव्यापित्वात्।' अव्यापित्वात् का अर्थ हुआ व्याप्यत्वात्। अर्थात् स्वकारणसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यकार्यत्वात्। एवं च-'नहि कार्यं, कारणं व्याप्नोति, अपितु कारणं कार्यम्'—कार्य, कारण को नहीं व्यापता, बल्कि कारण, कार्य को व्यापता है—इस नियम के अनुसार आकाश अपने (आकाश के) हेतुभूत शब्दतन्मात्रा, अहंकार, महत्, अव्यक्त को नहीं व्यापता, अतः हेतु को भागासिद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सकलपरिणाम्यनुवृत्तस्वरूपव्यापित्व नहीं है। और व्यभिचार दोष भी नहीं है, क्योंकि "अन्योन्यमिथुनाः सर्वे" इस उक्ति के अनुसार सत्त्वादि गुणों की परस्पर व्याप्ति स्वीकार की गई है। अतः गुणों की व्यापिता (व्यापकता) में कोई संदेह नहीं है। गुणों की परस्पर व्याप्ति, योगभाष्यकार ने भी बताई है "एते गुणा इतरेतराश्रयेण उपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति" (यो. भा. २।१५)।

इस कथन से पूर्व शंका का-(जैसे सत्त्वादिगुणों से निखिल कार्य आविष्ट = व्याप्त रहता है, वैसे ये सत्त्व-रज और तम परस्पर एक दूसरे को व्याप्त नहीं करते, क्योंकि इनका आपस में कार्यकारणभाव नहीं है, इसलिये गुणों में दिये हुए व्यभिचार का वारण करना कठिन है)—निरसन हो जाता है।

शंका—प्रलय के समय सत्त्व, सत्त्वरूप से—रजस्, रजोरूप से रहता है अतः उस समय गुणों में परस्पर व्याप्ति न होने से उनकी अव्यापकता तो वैसी ही बनी रही।

समा०—जैसे विद्यमान रहने वाले ग्रीष्म से हेमन्त का और हेमन्त से ग्रीष्म का अभिभव और ग्रीष्म तथा हेमन्त का अपने समय में उद्भव, व्याप्ति के बलपर सभी स्वीकार करते हैं, वैसे ही व्यापक रूप से रहने वाले सत्त्वादिगुणों का प्रलय के समय अभिभव और सृष्टि के समय उद्भव स्वीकार किया जाता है। क्योंकि सांख्य सत्कार्यवादी होने से प्रलयकाल में भी गुणों की परस्पर व्याप्ति का उन्होंने स्वीकार किया है। अतः गुणों की अव्यापिता (अव्यापकता) कहना उन्हें संभव ही नहीं। निष्कर्ष यह है—ऐसा 'अव्यापित्व' हेतु अर्थात् 'स्वकारणसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यकार्यत्वरूप अव्यापित्व'—हेतु, न भागासिद्ध, न स्वरूपासिद्ध और न व्यभिचरित ही हो सकता है। अतः यह 'अव्यापित्व' हेतु निर्दुष्ट है। इस निर्दुष्ट हेतु से अनुमान कर रहे हैं कौमुदीकार—'विवादाध्यासिताः' इति। विवादाध्यासिताः (विवादविषयीभूताः), महदादिभेदाः (महत्तत्त्वादिपृथिव्यन्ताः पदार्थाः,—यह पक्ष है। साध्य है—अव्यक्तकारणवन्तः (आविर्भावाख्यतादात्म्यसंबन्धेन अव्यक्तकारणवन्तः)। हेतु है—परिमितत्वात् (अव्यापित्वात् = स्वकारणसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यकार्यत्वात्)। दृष्टान्त है—घटवत्। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय करते हैं—'घटादयो हीति।' यहां 'हि' का अर्थ है—निश्चय। दृष्टान्त घटादि, जो परिमित हैं अर्थात् स्वकारणसत्तातिरिक्तसत्ताशून्य हैं उनके, कारण मृदादि अव्यक्त दिखाई देते हैं, अर्थात् घटादिकों की अपेक्षया मृदादिकों को औपचारिक रूप से अव्यक्त कहा जाता है, उसी तरह महत्तत्त्व का कोई अव्यक्त कारण अवश्य होगा।

शंका—घटादि के कारणरूप मृदादि को अव्यक्त कैसे कहा ?

समा०—'उक्तमिति।' अत्र जो बता रहे हैं—'यथा कार्यस्य अव्यक्तावस्था कारणमेव—महदादि कार्य की जो सूक्ष्मावस्था (तिरोभावात्मिका अव्यक्तावस्था) ही उपादान कारण है। इसे प्रस्तुत कारिका की व्याख्या में पहले बता चुके हैं—'प्रतिसर्गे···तत्कारणरूपमेव अनभिव्यक्तं कार्यमपेक्ष्य अव्यक्तं भवति' इति। तात्पर्य यह है—कार्य की अनागतावस्था या अनभिव्यक्तता की दृष्टि से तत्तत्कारण को 'अव्यक्त' कहा जाता है। अतः दृष्टान्त में साध्यविकलता नहीं है। इस ऊहापोह से फल यह निकला कि 'यन्महत इति।' जैसे अहंकारादि का कारण, महदादि 'अव्यक्त' कहा जाता है, वैसे ही महत्तत्त्व का भी कोई कारण अवश्य होगा, जिसे 'अव्यक्त' कह सकते हैं। एवं च—महत्तत्त्व के कारण रूप में जो होगा, वही हमारा 'परम अव्यक्त प्रधान' है। तात्पर्य यह है—'महत्तत्त्व के अव्यापि होने से उसे 'परम अव्यक्त' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अव्यक्तत्व की महत्तत्त्व में विश्रान्ति नहीं हो पा रही है। अतः "कृतं महतः परेणाव्यक्तेन" इस पूर्व शंका का पूर्ण रूप से समाधान हो जाता है।

शंका—जैसे 'महत्' अव्यक्त होने से उसका भी कोई दूसरा अव्यक्त कारण (प्रधान = प्रकृति) है, उसी प्रकार प्रधान भी अव्यक्त होने से उसका भी कोई अन्य अव्यक्त कारण हो सकता है, अतः अनुमानप्रयोग करते हैं—'प्रधानमपि यत्किञ्चिदव्यक्तकारणकं भवितुमर्हति, अव्यक्तत्वात्, महदादिवत्'—इस अनुमान के द्वारा प्रधान का भी एक अतिरिक्त कारण मान लिया जाय। प्रधान में ही अव्यक्तत्व की विश्रान्ति मानकर उसे ही परम अव्यक्त क्यों माना जाय ?

समा०—"ततः परतरेति"। ततः = उससे (प्रधान से) परतरस्य = अतिरिक्त चरम अव्यक्तत्व की कल्पना करने में अनुमानादि कोई प्रमाण नहीं है। पूर्वोक्त—'प्रधानमपि यत्किञ्चिद-व्यक्तकारणकम्'—अनुमान प्रयोग में जो 'अव्यक्तत्व' हेतु दिया गया है, वह तो सोपाधिक है अर्थात् 'व्याप्यत्वासिद्ध' है। हेतु के व्याप्यत्वासिद्ध होने से वह (हेतु) असद्धेतु हो गया, ऐसे असद्धेतु से अनुमिति नहीं हो सकती। अतः शंका करने वाले ने प्रधान के अतिरिक्त परमाव्यक्त की कल्पना करने में जो अनुमान उपस्थित किया था, उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता।

शंका—शंका करनेवाले के अनुमान में हेतु—'अव्यक्तत्व'—को सोपाधिक क्यों बता रहे हैं ?

समा०—पूर्वोक्त अनुमान में 'अव्यापित्व' उपाधि है, इसलिये 'हेतु' को सोपाधिक बताया गया है। 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः'—यह 'उपाधि' का लक्षण है। तदनुसार 'यत्र अव्यक्तकारणकत्वं महदादौ तत्र अव्यापित्वं, यत्र च अव्यक्तत्वं प्रधाने न तत्र अव्यापित्वम्'—'साध्य का व्यापक होता हुआ साधन (हेतु) का अव्यापक होने से 'अव्यापित्व'—उपाधि है। पूर्वोक्त, 'अव्यक्तत्व' हेतु, उपाधि से ग्रस्त होने से सोपाधिक बताया गया है। अतः प्रधान (प्रकृति) ही परमाव्यक्त है, उसके अतिरिक्त अन्य किसी को 'परमाव्यक्त' नहीं कह सकते। इसलिये परमाव्यक्त प्रधान ही सबका कारण है।

शंका—प्रधान को समस्त सृष्टि का कारण मानने की अपेक्षा अव्यक्त संज्ञक ब्रह्म को ही सब (सम्पूर्ण प्रपञ्च) का मूल कारण क्यों न मान लिया जाय ?

इतश्च विवादाध्यासिता भेदाः अव्यक्तकारणवन्तः—"समन्वयात्"।

(११५) समन्वयाच्चेति चतुर्थम् (४)।

भिन्नानां समानरूपता समन्वयः। सुखदुःखमोहसमन्विता हि बुद्ध्यादयोऽध्यवसायादिलक्षणाः प्रतीयन्ते। यानि च यद्रूपसमनुगतानि, तानि तत्स्वभावाव्यक्तकारणानि, यथा मृद्धेमपिण्डसमनुगताः घट-

मुकुटादयो मृद्धेमपिण्डाव्यक्तकारणका इति—कारणमस्त्यव्यक्तं भेदानामिति सिद्धम् ॥ १५ ॥

समा०—"इतश्च विवादाध्यासिता इति।" आगे कहे जानेवाले 'समन्वयात्' हेतु से भी महदादि विकारों (भेद) का कारण, अव्यक्त सिद्ध होता है अर्थात् सुख, दुःख, मोहात्मक सामान्य, अव्यक्तवस्तुप्रकृतिक है। अनुमान-प्रयोग बता रहे हैं—विवादाध्यासिताः (विवादविषयाः), भेदाः (महदादिविकाराः),—यह पक्ष है। अव्यक्तकारणवन्तः (आविर्भावाख्यतादात्म्यसंबंधेन स्वकारणाव्यक्तवन्तः)—यह साध्य है।

(११५) अव्यक्त की सिद्धि में 'समन्वयाच्च' चतुर्थ हेतु है। (४)

समन्वयात् (सुखाद्यात्मकसामान्यान्वितत्वात्),—यह हेतु है। 'समन्वयात्' हेतु का उपपादन करते हैं—"भिन्नानामिति।" अध्यवसाय, अभिमान, संकल्पादिविशेष धर्मों से युक्त होने के कारण परस्पर पृथक् पृथक् बुद्धि, अहंकार, मनःप्रभृतियों में सुखादिसाधारणधर्मवत्ता होने से जो समानरूपता (एकरूपता)—उसे 'समन्वय' कहते हैं। उक्तार्थगर्भितहेतु की पक्षधर्मता का उपपादन करते हैं—"सुख, दुःख, मोहादिसाधारणधर्मों से अवच्छिन्न (युक्त) होकर ही बुद्धि आदि पदार्थ अध्यवसाय, अभिमानादि असाधारणधर्मवाले प्रतीत होते हैं। सामान्यधर्म से युक्त हुए विना, विशेषधर्म से विशिष्ट नहीं हो पाते। अतः 'समन्वयात्' (सुखाद्यात्मकसामान्यान्वितत्वात्) हेतु, महत्तत्त्व (बुद्धि) आदि के पक्ष में ठीक उपपन्न होता है। सामान्यव्याप्ति बताते हैं—"यानि चेति।" 'यद् येन अन्वितं तत् तदुपादानकम्'—इस प्रकार सामान्यव्याप्ति ही बन पाती है। यानि (जो घटादिपदार्थ) यद्रूपसमनुगतानि (जिस स्पर्शवाली मृत्तिका के सामान्यरूप से युक्त हैं) तानि (वे घटादि पदार्थ) तत्स्वभावाऽव्यक्तकारणकानि (उस स्पर्शादिस्वभाव की मृत्तिका का जो सामान्यरूप अव्यक्त है तत् उपादानक अर्थात् अव्यक्तकारणक होते हैं। 'यत्सुखाद्यन्वितं तत्सुखाद्यन्वितवस्तूपादानकम्'—यह विशेष व्याप्ति है। घटादि दृष्टान्त में विशेषव्याप्ति का संभव न होने से, सामान्य व्याप्ति को ही बताया गया है। इसी अभिप्राय से उदाहरण दे रहे हैं—'यथा मृद्धेमेति।' जैसे मुकुटादि, जिस पीतवर्ण तथा गुरुत्वाश्रयभूतसुवर्णपिण्ड से संबंधित हैं उन मुकुटादिकों का कारण पीतवर्ण तथा गुरुत्वाश्रय, सुवर्ण पिण्ड अव्यक्त ही है, इस प्रकार समन्वय दिखाया गया है। अतः प्रदर्शित व्याप्ति के अनुरोध से महदादिभेदों (कार्यों) का कारण अव्यक्त ही सिद्ध होता है। सुखाद्यात्मक अव्यक्त ही कारण है—यह अनुमानप्रमाण से सिद्ध होता है। ऐसा सुखाद्यात्मक, गुणत्रययुक्त प्रधान ही है; ब्रह्म नहीं, क्योंकि वह निर्गुण होने से उसमें त्रिगुणत्व नहीं है। अतः 'अव्यक्तकारणक' कहने से 'ब्रह्म' रूप अर्थान्तर की प्रतीति नहीं होती। कुछ लोग ऐसा कहते हैं—गुण-गुणी का अभेद होने से सुख, दुःख, मोहात्मक सत्त्वादि गुणों को 'द्रव्य' कहा गया है, उनका महत्तत्त्वादि पक्ष में समन्वय होने से—'यत् येन द्रव्यसामान्येन अनुगतं तत् तदव्यक्तरूपद्रव्यसामान्योपादानकम्'—यह व्याप्ति समझनी चाहिये।

कुछ अन्य विद्वान् कहते हैं—'ये भावाः यदनेकवृत्तिभिः प्रत्येकमन्वीयन्ते ते तत्प्रकृतिकाः, यथा मृदन्विताः शरावादयः। तथा च—सुखदुःखमोहाः कार्याणां प्रकृतयः, तेषु प्रत्येकमन्वितत्वे सति अनेकवृत्तित्वात् , मृदादिवत्'।

वस्तुतः—सांख्यसिद्धान्त में जो कार्य आविर्भूत नहीं हुए हैं, वे प्रकृति से अभिन्न होने के कारण उनके समस्त धर्म प्रकृति में सूक्ष्मरूप से रहते हैं। अतः व्यभिचार न होने से श्री वाचस्पति मिश्र प्रतिपादित सामान्य व्याप्ति ही उचित समझनी चाहिये।

अव्यक्तं साधयित्वा अस्य प्रवृत्तिप्रकारमाह—"प्रवर्तते त्रिगुणतः" इति। प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति। परिणामस्वभावा हि गुणा नापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया, रजो रजोरूपतया, तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते। तदिदमुक्तम् "त्रिगुणतः" इति॥

(११६) प्रकृतेस्त्रिगुणतः प्रवृत्तिः प्रथमा (१)।

'यच्च प्रवृत्तिशीलं तदेव कारणं भवति, यच्च न तथा तत् कारणमपि न भवति, यथा पुरुषः'—जो प्रवृत्तिमत् होता है वही कारण कहलाता है, जो प्रवृत्तिमत् नहीं होता उसे कारण भी नहीं कहा जाता, जैसे पुरुष। इस नियम के अनुसार प्रधान में कारणता की उपपत्ति के लिये उसमें प्रवृत्तिमत्त्व मानना होगा। तब उसकी प्रवृत्ति किस तरह होती है? अर्थात् उसकी (प्रधान की) प्रवृत्ति स्थितिसंस्कार[1] से होती है या गतिसंस्कार[2] से?

(११६) प्रकृति की प्रवृत्ति में त्रिगुणात्मकत्व प्रथम हेतु है। (१)

स्थितिसंस्कार से प्रधान की प्रवृत्ति होती है—यह नहीं कह सकते, क्योंकि उसकी स्थिति सदैव रहने से उससे विकार (कार्य) पैदा ही नहीं हो सकेगा, तब 'प्रधान' का प्रधानत्व ही उपपन्न नहीं हो पायगा,[3] क्योंकि 'प्रधान' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'प्रधीयते = जन्यते विकारजातमनेन' इति। एवं च समस्त विकारों का जनक होने से जो प्रधानता 'मूलकारण' को प्राप्त हुई है, वह अब नहीं हो सकेगी।

अतः 'गतिसंस्कार' के कारण प्रधान की प्रवृत्ति का स्वीकार करें तो वह भी संभव नहीं, क्योंकि इस पक्ष में वह (प्रधान) सदैव (नित्य ही) कार्यजनन (सृजन) में ही लगा रहेगा, कभी कार्य की समाप्ति ही नहीं होगी, तब विकारों (कार्यों) में नित्यता प्राप्त होने से दोनों (प्रधान और विकार) परस्पर भेद ही क्या रहेगा? इस आशंका के समाधानार्थ—'कदाचित् प्रधानस्थित्या प्रवृत्त होता है और कदाचित् वह गत्या प्रवृत्त होता है[4] अर्थात् स्थितिसंस्कार से ही

---

१. अन्योन्यम् असंमिलितानां गुणानां यः कार्यजननाननुगुणः साम्यपरिणामपरम्परावाही परिणामः स स्थितिसंस्कारः। प्रलयकालीना कार्यारम्भरहिता गुणानां साम्यावस्था या सा स्थितिः। प्रधानं स्थित्यवस्थाशालि चेत् कदापि तत उत्पत्तिर्न स्यात्। प्रधानं स्थित्या वर्तमानं चेन्मन्येत तर्हि कार्यस्य न करणात् अप्रधानं स्यात्, यत्र सूक्ष्मरूपेण स्थितं सत् पुनरुत्पद्यते तस्यैव प्रधानत्वात्। (सारबोधिनी)

२. विलक्षणतत्तत्कार्यजननोन्मुखः यो गुणानां वैषम्यपरिणतिपरम्परावाही परिणामः स गतिसंस्कारः। सृष्टिकालीना या गुणानां कार्यारंभरूपावस्था सा गतिः। प्रधानं गत्यवस्थाशालि चेत् तदा सर्वदैव उत्पत्त्या कदापि प्रलयो न स्यात्। प्रधानं गत्या वर्तमानमङ्गीक्रियते चेत् तदा विकारस्य नित्यत्वात् अप्रधानं स्यात्, पदार्थलयाधारस्यैव प्रधानशब्दवाच्यत्वात्। (सारबोधिनी)

३. सर्वविकारजनकत्वरूपं यन्मूलकारणस्य प्रधानत्वं तन्न संभवेत्। (सारबोधिनी)

४. "साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम्" (सां० सू० ६।४२) 'सर्गप्रलयरूपं यत्कार्यद्वयं तद्गुणानां साम्यवैषम्याभ्यां भवति, साम्यावस्थातः प्रलयः, वैषम्यावस्थातश्च सर्ग इति सूत्रार्थः।' पंचशिखाचार्य ने भी इसी प्रकार कहा है—"उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा" इति।

प्रधान की प्रवृत्ति होती है, गतिसंस्कार से नहीं अथवा गतिसंस्कार से ही उसकी प्रवृत्ति होती है, स्थितिसंस्कार से नहीं—इन दो पक्षों में से किसी एक पक्ष का निर्धारण सम्भावित न होने के कारण कारिकाकार प्रधान की प्रवृत्ति में अनैकान्तिकता को ही बताते हैं। उनमें पहिले 'स्थित्या प्रवर्तते' पक्ष को लेकर कौमुदीकार लिखते हैं—'अव्यक्तं साधयित्वाऽस्य प्रवृत्तिप्रकारमाह' इति। 'अस्य' = प्रधान की; 'प्रधीयते-निधीयते = लीयते-विकारजातमस्मिन् इति प्रधानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुरोध से 'प्रवृत्तिप्रकारमाह' अर्थात् स्थित्यात्मक प्रवृत्ति का प्रकार बता रहे हैं— "प्रवर्तते त्रिगुणतः" इति। प्रधान की द्विविध प्रवृत्ति होती है—प्रलयकालिक और सर्गकालिक। उनमें – सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों की अन्योन्य गुण-प्रधानभाव के बिना ही केवल स्वरूप (साम्य) से अवस्थानरूप सदृशपरिणामपरम्परावाहिनी प्रवृत्ति तो प्रलयकालिक है, और सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों की परस्पर गुण-प्रधान भाव के कारण (अंगांगिभाव से) साम्यावस्थान से च्युतिरूप विसदृशपरिणामपरम्परावाहिनी प्रवृत्ति, सर्गकालिक होती है। अब प्रलयकालिक प्रथम प्रवृत्ति को बताने के लिये 'त्रिगुणतः' की व्याख्या करते हैं—'प्रतिसर्गावस्थायामिति।' प्रलयकाल में सत्त्वादि गुणों का सदृशपरिणाम होता है। सर्गारंभ की तरह उन गुणों का विलक्षण तत्तन्महदहंकार रूप से विसदृशपरिणाम नहीं हुआ करता—इसी आशय को स्पष्ट करते हैं 'सत्त्वं सत्त्वरूपतयेति।' सत्त्वगुण, रजोगुण, और तमोगुण, इन तीनों का सदृशपरिणाम (न न्यून और न अधिक) होता है।

शंका—प्रलयकाल में गुणों की अवस्था यदि सम रहती है तो उनका सदृशपरिणाम बताना निष्फल है।

समा०—"परिणामस्वभावा' इति। यह निश्चित समझिये कि परिणत (परिणाम को प्राप्त) होते रहना तो गुणों का स्वभाव है, एक क्षण भी वे परिणत हुए बिना नहीं रह पाते। इस स्वाभाविक परिणामशीलता को फल की अपेक्षा नहीं रहती। 'स्वभाव कभी फलापेक्षी नहीं हुआ करता'—यह नियम है। अथवा प्रलय की मर्यादा का रक्षण ही फल यदि मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं है। एवं च परिणामस्वभाव होने से सत्त्व सत्त्वरूप से (तिरोभूत लाघव और प्रकाश रूप से), रजस् रजोरूप से (तिरोभूत चञ्चलता और उपष्टम्भकतारूप से), तमस्—तमोरूप से (तिरोभूत गुरुत्व और आवरणात्मकत्वरूप से) प्रतिसर्गावस्था में भी (प्रलयावस्था में भी) प्रवृत्त (परिणत) होता रहता है।

प्रवृत्त्यन्तरमाह—"समुदयाच्च" इति। समेत्य उदयः 'समुदयः' समवायः। समुदयश्च गुणानां न गुणप्रधानभावमन्तरेण सम्भवति, न च गुणप्रधानभावो वैषम्यं विना, न च वैषम्यमुपमर्द्योपमर्दकभावादृते। इति महदादिभावेन प्रवृत्तिर्द्वितीया।

(११७) प्रकृतेस्समुदयात् प्रवृत्तिर्द्वितीया (२)।

उभयथा—स्थित्या गत्या च—स्थिति और गति दोनों से प्रधान की प्रवृत्ति हुआ करती है, तभी उसे 'प्रधान' शब्द से कहा जाता है। यदि उपर्युक्त दो पक्षों में से किसी एक पक्ष का स्वीकार किया जाय तो उस परम अव्यक्त प्रकृति को 'प्रधान' शब्द से नहीं कह सकेंगे। अतः द्विविध व्युत्पत्ति के अनुसार उभयविध प्रवृत्ति स्वीकार की जाती है। एक व्युत्पत्ति तो इस प्रकार है—प्रधीयते-जन्यते-विकारजातमनेन इति। और दूसरी इस प्रकार है-प्रधीयते लीयते-विकारजातं यस्मिन् इति। 'त्रिगुणतः' से स्थित्यात्मक प्रवृत्ति और 'समुदयाच्च' से गत्यात्मक प्रवृत्ति बताई गई है।

अब गत्यात्मक प्रवृत्ति को बताते हैं—"प्रवृत्त्यन्तरमाह—समुदयाच्चेतीति।" 'समुदय' शब्द की व्याख्या करते हैं—'सभेत्य उदय इति।' परस्पर मिलकर आविर्भाव। समुदय का पर्याय है 'समवाय' अर्थात् परस्पर सम्मिश्रण। उक्त समवाय को नैयायिकों का अभिमत संबंधविशेष समवाय नहीं समझना। सम्बन्धविशेष समवाय को सांख्य ने स्वीकार नहीं किया है[1]।

(११७) प्रकृति की प्रवृत्ति में कारण 'समुदय' भी है। (२)

गुणों का समुदय उनके गुण-प्रधानभाव के बिना होना संभव नहीं, इसलिये कह रहे हैं—'समुदयश्च गुणानामिति।' परस्पर विरुद्ध और समान बल वाले गुणों का समुदय गुण-प्रधानभाव (उपकार्योपकारकभाव) के बिना नहीं हो सकता, एवं गुण-प्रधानभाव भी वैषम्य (न्यूनाधिक्य) के बिना और वैषम्य उपमर्द्य-उपमर्दकभाव (अभिभाव्य और अभिभावक) के बिना नहीं हो सकता, इसलिये अनागतावस्थ भोगापवर्गवशात् प्रथम क्षोभ, पश्चात् कोई गुण अभिभावक होता है तो दो गुण अभिभाव्य होते हैं, उससे साम्यावस्थाच्युतिरूप वैषम्य होता है, पश्चात् वे गुण आपस में गुण-प्रधानभाव से मिलकर महदादि रूप से परिणत होते हैं—यह दूसरी गतिरूप प्रवृत्ति है[2]।

स्यादेतत्—कथमेकरूपाणां गुणानामनेकरूपा प्रवृत्तिरित्यत आह—"परिणामतः सलिलवत्" इति। यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्य नारिकेलतालतालीविल्वचिरविल्वतिन्दुकामलकप्राचीनामलककपित्थफलरसतया परिणमन्मधुराम्ललवणतिक्तकषायकटुतया विकल्प्यते, एवमेकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानगुणानाश्रित्याऽप्रधानगुणाः परिणामभेदान् प्रवर्तयन्ति। तदिदमुक्तम्—"प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्"। एकैकगुणाश्रयेण यो विशेषस्तस्मादित्यर्थः॥ १६॥

(११८) प्रकृतेः प्रवृत्तिः परिणामतो नाना प्रकारा।

शंका—गुण-प्रधानभाव को प्राप्त होनेवाले गुणों की "सत्त्वप्रधानमेकं रूपं, रजःप्रधानं चापर तमःप्रधानं चेतरत्"—इस रीति से अनेकरूपता होने पर भी, "रजस्तमउपसर्जनं सत्त्वं, सत्त्वतमउपसर्जनं रजः, सत्त्वरजउपसर्जनं तमः"—इस प्रकार एक रूप के गुणों की अनेक रूप में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है?—"कथमेकरूपाणामिति।" दो दो गुण उपसर्जन (गौण) हो जाने से एक एक गुण का स्वरूप प्रधान रहेगा अर्थात् सत्त्व प्रधान, रजःप्रधान तमःप्रधान रूप एक एक गुणों में से भी एक एक की

(११८) परिणाम को प्राप्त होने से प्रकृति की प्रवृत्ति अनेक प्रकार से होती है।

---

१. "न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात्"—(सां० सू० ५।९९)

२. अदृष्टवशात् (सृज्यमानप्राणिकर्मवशात्) पूर्वं गुणेषु क्षोभो जायते, "गुणक्षोभे जायमाने महान् प्रादुर्बभूव ह" इत्युक्तेः। ततश्च कश्चिद् गुण उद्भूतः सन् अभिभावको भवति, कश्चिच्च अनुद्भूतः सन् अभिभाव्यो भवति, ततश्च साम्यावस्थानात् प्रच्युतिरूपं वैषम्यमुपजायते, ततश्च परस्परं गुणप्रधानभावेन मिलित्वा महदादिरूपेण परिणामो भवति, इत्येवं विधा या प्रवृत्तिः सा द्वितीया इति।—सारबोधिनी

अनेक रूपों में-ब्रह्मादिरूपा[1] उत्तमसात्त्विकी, पित्राद्यात्मिका मध्यमसात्त्विकी, नक्षत्राद्यात्मिका अधमसात्त्विकी प्रवृत्तिः। गन्धर्वात्मिका उत्तमराजसी, क्षत्रियात्मिका मध्यमराजसी, नटाद्यात्मिका अधमराजसी। राक्षसात्मिका उत्तमतामसी, हस्त्याद्यात्मिका मध्यमतामसी, कीटसर्पाद्यात्मिका अधम-तामसी – प्रवृत्ति कैसे होती है ?

समा०—विभिन्न आत्माओं के विभिन्न पुरुषार्थात्मक निमित्तभेद से प्रवृत्ति में भेद होता है—इसे दृष्टान्त के द्वारा बताते हैं—"परिणामतः सलिलवत् इति।' 'यथाहीति।' 'मेघ से गिरने' वाला जल मधुर रस से युक्त रहने पर भी तत्तत् पृथ्वीविकार (पार्थिव परिणाम) स्वरूप नारिकेल, ताल, ताली, बिल्व, चिरबिल्व, तिन्दुक, आमलक, प्राचीनामलक, कपित्थादि फलों के रसों में परिणत हो जाने से तत्तत् = फलों के रसास्वाद[2] जैसे स्वाद का हो जाता है, 'विकल्पते' = विविधाकारेण परिणमते। वैसे ही—एक एक गुण की प्रधानता (समुद्भव = क्षोभरूप परिणाम विशेष) होने से कभी प्रधान सत्त्व, तो कभी प्रधान रज, कभी प्रधानतम इस प्रकार असंख्य बार प्रधान भाव को प्राप्त हुए प्रत्येक प्रधान गुणों का आश्रय प्राप्त करने से अप्रधान हुए गुण अपना प्रयोजन सम्पादन करने के लिये प्रधानभाव प्राप्तकर भिन्न-भिन्न कार्यों को करते हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न परिणामों के प्रति प्रवृत्त होते हैं। इसी अभिप्राय को बताने के लिये कहते हैं—'तदिदमुक्तमिति।' 'प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषादिति।'—'प्रति-प्रति' इस वीप्सा का अर्थ बताते हैं—'एकैकगुणाश्रयेणेति।' पहिले तत्तद्गुणों की प्रधानता की दृष्टि से तीन रूप बताये थे, उसके पश्चात् पुनः एक एक के अनेक रूप—तमोलेश से विशिष्ट रज अप्रधान होने से सत्त्व की प्रधानता, रजोलेश से मिश्रित तम के अप्रधान हो जाने से सत्त्व की प्रधानता इत्यादि—हो जाते हैं। इस प्रकार एक एक गुण के आश्रय से (एक एक गुण की प्रधानता से) जो अनेकता (विशेष वैलक्षण्य = अनेक रूपता) हो जाती है उस कारण अर्थात् अनेक रूप से परिणाम होने के कारण अनेक रूपों से प्रवृत्ति होना संभव है। तात्पर्य यह है—एक एक गुणों के क्षोभ रूप परिणाम विशेष से एक गुण की प्रधानता तो दूसरे गुण की अप्रधानता इस प्रकार प्रधान (अंगी) अंगभाव से एक दूसरे के सहायक होकर विरूपपरिणाम होता है। अन्यथा सरूपपरिणाम होता है। एवं च अन्य गुणों के सहकार-असहकार के द्वारा द्विविध प्रवृत्ति उपपन्न हो सकती है ॥ १६ ॥

(११९) पुरुषास्तित्व-साधनम्।

ये तु तौष्टिका अव्यक्तं वाऽहङ्कारं वा महान्तं वा इन्द्रियाणि वा भूतानि वाऽऽत्मानमभिमन्यमानास्ता-न्येवोपासते तान् प्रत्याह—

---

१. "स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः। पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः॥" मनु—१२-४२ से "ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च। उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः॥" तक मनु ने तत्तद्गुणप्रधान एक एक से अनेक रूप का परिणाम बताया है।

२. 'नारिकेल' = नारियल का मधुर रस, 'ताल' = वृक्षविशेष-तृणराज का अम्लरस (खट्टा), ताली = जटौषधि-खजूरीका लवण रस (खारा), बिल्व = बिल्व वृक्ष के फल का तिक्त रस (तीखा), चिरबिल्व = करञ्जवृक्ष-नक्तमाल का कषाय रस (कसैला), तिन्दुक = स्फूर्जक-तेन्दु का कटु रस, आमलक = धात्रीद्रुम-आँवले का कसैलारस, प्राचीनामलक का कटुरस, कपित्थ = कैथ का तिक्त रस होता है।

जिसके लिये प्रधान (प्रकृति) की प्रवृत्ति बताई गई है, जडवर्गातिरिक्त उस पुरुष के साधनार्थ और जडवर्ग को ही आत्मा मानने वालों के खण्डनार्थ 'संघातपरार्थत्वात्' इस आर्या को उपस्थित करते हैं—"ये तु तौष्टिका इति।" 'तौष्टिक' उन्हें कहते हैं, जो अव्यक्तादिकों को आत्मा समझ कर उसमें लीन हो जाना ही अन्तिम फल (प्रयोजन) समझते हैं और अपने को कृतकृत्य मानते हैं। क्योंकि प्रकृत्यादिकों में लय होने मात्र से ही कृतकृत्यतारूप तृप्ति को 'तुष्टि' कहते हैं। और तुष्टिरेव प्रयोजनं येषां ते तौष्टिकाः, 'तुष्टि'—शब्द से 'प्रयोजनम्' (पा० सू० ५।१।१०९) सूत्र से 'ठञ्' प्रत्यय करने पर 'तौष्टिक' शब्द निष्पन्न होता है। "वाह्या विषयोपरमात् पञ्च"—इस पचासवीं कारिका में बताई जाने वाली जो पांच बाह्य तुष्टियां हैं, उनसे युक्त योगियों को तौष्टिक कहा जाता है। अर्थात् प्रकृति, महत्, अहंकार, तन्मात्रा, भूत, इन्द्रियादिकों में से किसी एक को आत्मा समझकर उसी की उपासना करते रहने से उसके संस्कार से संस्कृत चित्त वाले जो योगी—शरीरपात के अनन्तर उन्हीं अव्यक्त (प्रकृति) आदिकों में लीन हो जाते हैं, जिनको लक्ष्यकर पुराणों में कहा गया है—

(११९) पुरुष के अस्तित्व का साधन

"दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते॥" (वायु पु०)

—उन योगियों को 'तौष्टिक' कहते हैं। इसी आशय से तौष्टिकों के भेदों को 'अव्यक्तं वा महान्तम्०' के द्वारा कौमुदीकार बता रहे हैं। उन सभी तौष्टिकों के प्रति कह रहे हैं—"संघातपरार्थत्वात्०"

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥ १७॥

अन्व०—'पुरुषः अस्ति—संघातपरार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्ययात्, अधिष्ठानात्, भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥ इति।

भावार्थः—पञ्चम्यन्त पाँच हेतुओं का 'पुरुषोऽस्ति' के साथ अन्वय है। पांच हेतुओं के द्वारा प्रकृत्यादिजडवर्ग से भिन्न 'पुरुष' सिद्ध होता है। पहिला हेतु है—'संघातपरार्थत्वात्'—संघाताश्च ते परार्थाश्चेति संघातपरार्थाः। 'संघाताः' यह हेतुगर्भविशेषण है। 'यतः संघाताः अतः परार्थाः तस्मात्।' जबकि अव्यक्तादि संघात (समुदाय) रूप होने से परोपकारक हैं तब तदुपकार्य कोई दूसरा अवश्य होना ही चाहिये, इसलिये संघातरूप पदार्थों से भिन्न जो दूसरा है वही 'आत्मा' है। 'संघातानाम्'=मिलजुलकर कार्य करने वाले जडवर्गों का, परार्थत्वात्=दूसरे के लिये होने से अर्थात् जडवर्ग से भिन्न किसी दूसरे के भोगापवर्गरूप फल के लिये होने से, पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है। दूसरा हेतु बताते हैं—'त्रिगुणादिविपर्ययात्=त्रिगुणादेः विपर्ययः अभावः—यत्र सः त्रिगुणादिविपर्ययः, तस्मात्', संघातात्मक जड पदार्थों में ही त्रिगुणता रहती है, अन्यत्र नहीं। एवंच—जिस में त्रिगुणत्वादिधर्मों का अभाव रहता है, वही जडवर्ग से भिन्न 'पुरुष' (आत्मा) सिद्ध होता है। तीसरा हेतु बताते हैं—'अधिष्ठानात्'=त्रिगुणत्व से युक्त संघातात्मक अव्यक्तादिजडवर्ग का अधिष्ठाता होने से अर्थात् सुखदुःखमोहात्मकजडवर्ग जिसके द्वारा अधिष्ठीयमान है,

वही पुरुष (आत्मा) है। चतुर्थहेतु बताते हैं—'भोक्तृ-भावात्'—भोक्तृभाव अर्थात् भोक्तृत्व (साक्षित्व) होने से—(सुख-दुःख जिसके भोग्य होते हैं) पुरुष (आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध होता है। पांचवां हेतु बताते हैं—'कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च = जिसकी मुक्ति के लिये शिष्टों और शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है उससे पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है।

"संघातपरार्थत्वात्" इति। पुरुषो ऽस्ति, अव्यक्तादेर्व्यतिरिक्तः। कुतः? "संघातपरार्थत्वात्"। अव्यक्तमहदहङ्कारादयः परार्थाः, संघातत्वात्, शयनासनाभ्यङ्गादिवत्, सुखदुःखमोहात्मकतया ऽव्यक्तादयः सर्वे संघाताः।

(१२०) संघातानां परार्थत्वादिति प्रथमसाधनम् (१)।

"संघातपरार्थत्वादिति।' 'अहं' इत्याकारक प्रत्यय के विषयरूप में पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी अव्यक्तादि जड वर्ग से भी वह (पुरुष) अतिरिक्त है—यह अब सिद्ध कर रहे हैं, इसी अभिप्राय से कौमुदीकार कह रहे हैं—'पुरुषोऽस्ति, अव्यक्तादेर्व्यतिरिक्त इति।' जडवर्ग से भिन्न आत्मा हैं। 'कुतः' क्योंकि 'संघातपरार्थत्वात्' इति। 'संहन्यन्ते-मिश्रीभवन्ति-अनेके सुखदुःखमोहादयो यत्र असौ संघातः' अर्थात् प्रधानादि जडवर्ग, उसके 'परार्थत्वात्'—परार्थ होने से अर्थात् परः = असंघातरूप कोई पदार्थ (आत्मा), उसका जो अर्थ = प्रयोजन (भोग) उसके लिये। अनुमान इस प्रकार होगा 'अव्यक्तेति' 'अव्यक्तमहदहंकारादयः, परार्थाः—अव्यक्ताद्यतिरिक्तचेतनार्थाः, संघातत्वात्, शयनाऽऽसनाऽभ्यङ्गादिवत्' इति। जैसे शयन, आसन, तूलिका, उपधान आदि उपकरण परार्थ (पुरुषार्थ) होते हैं। वैसे ही अव्यक्तादि पदार्थ भी पुरुषार्थ होते हैं, अतः तदतिरिक्त पुरुष सिद्ध हो जाता है। 'संघातत्वात्' हेतु में पक्षधर्मता बताने के लिये अव्यक्तादि पदार्थों के संघातत्व का उपपादन करते हैं—'सुखदुःखेति।' सुखदुःखमोहात्मक होने से अव्यक्तादि पदार्थों को 'संघात' शब्द से कहा जाता है। अब दृष्टान्त के बलपर अर्थान्तर की आशंका कर रहे हैं—

(१२०) संघात की परार्थता होने से (१)।

स्यादेतत्-शयनासनादयः संघाताः संहतशरीरार्था दृष्टाः, न त्वात्मानमव्यक्ताद्यतिरिक्तं प्रति परार्थाः। तस्मात् संघातान्तरमेव परं गमयेयुः, न त्वसंहतात्मानम् इत्यत आह—"त्रिगुणादिविपर्ययात्" इति। अयमभिप्रायः—संघातान्तरार्थत्वे हि तस्यापि संघातत्वात् तेनापि संघातान्तरार्थेन भवितव्यम्; एवं तेन तेनेत्यनवस्था स्यात्। न च व्यवस्थायां सत्यामनवस्था युक्ता, कल्पनागौरवप्रसङ्गात्। न च 'प्रमाणबलेन कल्पनागौरवमपि मृष्यत' इति युक्तम्, संहतत्वस्य पारार्थ्यमात्रेणान्वयात्। दृष्टान्तदृष्टसर्वधर्मानुरोधेन

(१२१) संघातानां संघातान्तरार्थत्वेऽनवस्था त्रिगुणादिविपर्ययश्च।

१. शयनासनादीनां नानावयवघटितत्वेन संहतत्वं प्रसिद्धमेव। अव्यक्तादीनां तु सत्त्वरजस्तमोघटितत्वात्तत्त्वमिति सारबोधिनीकाराः।

त्वनुमानमिच्छतः सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्ग इत्युपपादितं न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः । तस्मादनवस्थाभियाऽस्यासंघातत्वमिच्छताऽत्रिगुणत्वं विवेकित्वमविषयत्वमसामान्यत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वञ्चाभ्युपेयम् । त्रिगुणत्वादयो हि धर्माः संहततत्वेन व्याप्ताः । तत्संहतत्वमस्मिन् परे व्यावर्तमानं त्रैगुण्यादि व्यावर्तयति, ब्राह्मणत्वमिव व्यावर्तमानं कठत्वादिकम् । तस्मादाचार्येण 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' इति वदताऽसंहतः परो विवक्षितः, स चात्मेति सिद्धम् ॥

शंका—"शयनासनादिवत्" इस दृष्टान्त के बल पर तो अन्य संघात का ही अनुमान हो सकेगा, असंहत (संघात रहित) पुरुष का नहीं -'शयनासनादय' इति। शयन, आसन आदि जो संघात होता हैं, वे शरीरादि संघातरूप पदार्थों के उपयोग के लिये ही हैं—ऐसा अनुभव होता है। व्यक्त, अव्यक्तादिकों से भिन्न आत्मा के उद्देश से उनका (संघातों का) होना कहीं भी दिखाई नहीं देता। अर्थात् वे संघात, दूसरे संघात को ही सूचित करते हैं, संघातरहित आत्मा को सूचित नहीं करते।

(१२१) एक संघात को दूसरे संघात के लिये मानने पर अनवस्था और त्रिगुणादि विपर्यय होगा।

समा०—कारिका में "त्रिगुणादिविपर्ययात्" कहा गया है। इससे यह अनुमान कर सकते हैं—"आत्मा-असंहतः, अत्रिगुणादिमत्त्वात्, यत्र असंहतम्, तत्र अत्रिगुणादिमत्, यथा महदादिकम्"—इसी को स्पष्ट कर रहे हैं—'अयमभिप्राय इति।' एक संघात दूसरे संघात के लिये यदि होगा तो दूसरा तीसरे के लिये और तीसरा चौथे के लिये एवं चौथा पांचवें के लिये कहना होगा—इस प्रकार अप्रामाणिक कल्पना की कभी समाप्ति ही नहीं होगी अर्थात् 'अनवस्था' दोष होगा।

शंका—अनवस्था दोष से बचने का यदि कोई अन्य उपाय न हो तो बीजाङ्कुर की तरह वह अनवस्था भी दोषावह नहीं मानी जाती।

समा०—'न चेति।' "संघातत्वात्" यह हेतु तो केवल पारार्थ्य को सिद्धकर क्षीण हो जाता है, अतः संघातान्तर के साधन में उसका विशेष व्यापार नहीं होता। इसलिये असंहत परार्थ की सिद्धिरूप व्यवस्था का संभव होने से अनवस्था की कल्पना करना उचित नहीं है। अनवस्था के अनौचित्य में कारण बताते हैं—'कल्पनेति।' पारार्थ्य के साधन करने की अपेक्षया संहतपारार्थ्य के साधन में गौरव है।

शंका—प्रामाणिक कल्पनागौरव भी दोषावह नहीं होता—'न चेति।' एक संघात दूसरे संघात के लिये होने से एक दूसरे से व्याप्त (संबद्ध) है, अतः संहतपारार्थ्य की कल्पना प्रामाणिक है।

समा०—'संहतत्वस्येति।' "यद् यत् संहतं, तत् तत् परार्थम्, यथा शयनासनादि"—यह व्याप्ति है। अर्थात् संहतत्व, परोपकारत्व से व्याप्य है, संहतपरोपकारत्व से व्याप्य नहीं। अन्यथा 'संहतत्व' विशेषण व्यर्थ होगा। एवं च दृष्टान्त में 'संहतार्थत्व' प्रत्यक्ष (दृष्ट) रहने पर भी दार्ष्टान्त (लक्ष्य) में 'असंहतार्थत्व' सिद्ध होता है, इसलिये कोई हानि नहीं है। अर्थात् पुरुष में संहतत्व का अभाव होने से, संहतार्थत्व की सिद्धि होना संभव नहीं।

शंका—एक संघात दूसरे संघात के लिये है—यह न मानकर वह केवल परार्थ (दूसरे के लिये) है अर्थात् परार्थत्वमात्र को साध्य मान लिया जाय तो दृष्टान्त में दृष्ट संघातान्तरार्थस्वरूप धर्म का लाभ न होने से दृष्टान्त में साध्यवैकल्य के कारण पूर्वोक्त अनुमान ही न होगा, क्योंकि आपने तो दृष्टान्त में दृष्ट समस्त धर्मों के अनुरोध से ही अनुमान करना स्वीकार किया है।

समा०—"दृष्टान्तदृष्टेति।" दृष्टान्त में दृष्ट समस्त धर्म पक्ष में संभव नहीं होते, अन्यथा 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्, महानसवत्'—यहां धूम के द्वारा वह्नि का साधन करते समय दृष्टान्त में दृष्ट महानसत्वादि धर्मों की भी पर्वत पर अनुमिति करनी पड़ेगी, तब तो अनुमान का ही उच्छेद होगा। इसलिये 'परार्थाः चक्षुरादयः, संघातत्वात् शयनासनादिवत्'—यह हमने (वाचस्पति-मिश्र ने) अपनी 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' में (चतुर्थाध्याय के प्रथम आह्निक के इक्कीसवें सूत्र पर भाष्यवार्तिक की तात्पर्य टीका में) बताया है।

उपर्युक्त शंका-समाधानों का सरल अभिप्राय यह है—

कल्पना गौरव दोष के प्रामाणिक रहने पर उसे भी स्वीकार कर लेने की जो बात कही गई थी, वह ठीक नहीं है। क्योंकि 'संघातत्व' धर्म का अन्वय केवल 'पारार्थ्य' से ही है। 'पारार्थ्य' का अर्थ है दूसरे के लिये होना। 'परार्थस्य भावः पारार्थ्यम्'। शयनादि संघात दूसरे के लिये होते हैं—यह जो दृष्टान्त दिया था, उसका तात्पर्य केवल इतना ही था कि 'संघात परार्थ होता है'। अतः शयनादि संघात, 'शरीरादि संघात के लिये होते हैं'—एतावता समस्त संघात दूसरे संघात के लिये ही हैं, यह नहीं कह सकते। क्योंकि दृष्टान्त में दिखाई पड़ने वाले सम्पूर्ण धर्मों के अनुरोध से ही अनुमान करने की इच्छा रहने पर समस्त अनुमानों के ही उच्छेद होने का प्रसंग प्राप्त होगा। जैसे - यदि कोई अनुमान करे—'यह पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि वह धूमवान् है, जो जो धूमवान् होता है, वह वह्निमान् होता है, जैसे रसोई घर'—'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात् यथा महानसः' इति—तो इस अनुमान में दृष्टान्तरूप जो महानस उसकी लंबाई, चौड़ाई तथा अग्नि का परिमाण, और अग्नि का पाकादि प्रयोजन आदि समस्त धर्म, दार्ष्टान्त पर्वत पर भी होने का आग्रह किया जाय तो अनुमान की प्रवृत्ति ही रुक जायगी। इसलिये अनवस्था के भय से संघात का आश्रय असंघात है—ऐसा समझने वाले शास्त्रज्ञ को उसका (असंघात का) 'अत्रिगुणत्व', 'अविवेकित्व', 'अविषयत्व', 'असामान्यत्व', 'चेतनत्व', और 'अप्रसवधर्मित्व', भी स्वीकार करना होगा, क्योंकि त्रिगुणत्वादि धर्म, संघातत्व से व्याप्त हैं, अर्थात् जहां जहां त्रिगुणत्वादि-धर्म रहते हैं वहां संघात रहता है—इसप्रकार दोनों का साहचर्य है। जैसे—महदादिकों में। इस कारण 'पर' तत्त्व से संघातत्व की निवृत्ति के साथ ही त्रिगुणत्वादिकों की भी व्यावृत्ति होती है। जैसे—किसी पुरुष से ब्राह्मणत्व की निवृत्ति के साथ ही काठकत्व आदि की भी निवृत्ति हो जाती है। अभिप्राय यह है—किसी के ब्राह्मणत्व की शंका होने पर उसके कठ, कौथुमादि शाखा तथा गोत्र, प्रवर का भी विचार करने लगते हैं, क्योंकि शाखा, गोत्र, प्रवर आदि ब्राह्मणत्व के साथ साहचर्य रखनेवाले धर्म हैं। किन्तु किसी कारणवश यह ज्ञात हो जाय कि वह ब्राह्मण नहीं बल्कि शूद्र है, बस इतना ज्ञान होते ही उसके शाखा, गोत्र आदि धर्मों की, ब्राह्मणत्व की निवृत्ति के साथ ही अपने आप निवृत्ति हो जाती है, उसी तरह यहां भी समझना चाहिये। अर्थात् संघात का 'पर' अन्य आश्रय संघात नहीं इतना ज्ञात होते ही उसके त्रैगुण्यादि अन्य धर्मों की भी निवृत्ति हो जाती है, इसी प्रयोजनार्थ 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' कहने वाले सांख्याचार्य को 'परः (आत्मा) असंहतः' से असंघातरूप ही विवक्षित है। और वही 'पर' शब्द ग्राह्य आत्मा है, यह सिद्ध हुआ। अनुमान इस प्रकार होगा—'परः असंहतः, अत्रिगुणत्वात्' इति।

इतश्च परः पुरुषोऽस्ति—"अधिष्ठानात्", त्रिगुणात्मकानामधिष्ठीयमानत्वात्। यद्यत्सुखदुःखमोहात्मकं तत्सर्वं परेणाधिष्ठीयमानं दृष्टम्, यथा रथादिर्यन्त्रादिभिः। सुखदुःखमोहात्मकं चेदं बुद्ध्यादि, तस्मादेतदपि परेणाधिष्ठातव्यम्। स च परस्त्रैगुण्यादन्य आत्मेति॥

(१२२) त्रिगुणात्मकानामधिष्ठीयमानत्वादिति द्वितीयं साधनम् (२)।

अब 'अधिष्ठानात्' इस द्वितीय हेतु को उपस्थित कर रहे हैं—'इतश्चेति।' 'इतश्च' अर्थात् 'अधिष्ठानात्' हेतु से भी 'परः पुरुषोऽस्ति' यह प्रतिज्ञा की जा सकती है। हेतु का अर्थ बताते हैं—'त्रिगुणात्मकानामिति।' सुख-दुःख, मोहात्मक महदादि किसी के द्वारा अधिष्ठीयमान (प्रेरित)—होने से अधिष्ठाता पुरुष (आत्मा) सिद्ध होता है। अनुमान इस तरह होगा—'महदादिकं, केनचित् चेतनेन परेण अधिष्ठीयमानं, सुखाद्यात्मकत्वात्।' यहां 'व्याप्ति' बताते हैं—'यद्यदिति।' जो जो बुद्धि आदि (संपूर्ण तत्त्वसमुदाय) सुखाद्यात्मक (सुखदुःखमोहरूप) है वह सब 'जड' हैं इसलिए वे, किसी 'पर' (चेतन) से अधिष्ठीयमान (प्रेर्यमाण) प्रवर्तित किये जाते देखे गये हैं। अर्थात् उन जड़ पदार्थों का भी दूसरा कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिये, और वह दूसरा (पर) त्रैगुण्यादिकों से भिन्न आत्मा ही है। इसी को पुष्ट करने के लिये प्रसिद्ध दृष्टान्त बता रहे हैं—'यथा रथादीति।' जैसे—रथादि मोहात्मक जडपदार्थ, सारथी आदि से अधिष्ठित रहते हैं वैसे ही बुद्धि आदि समस्त तत्त्व-समुदाय सुख, दुःख, मोहात्मक हैं, इसलिये उनका भी कोई अन्य चेतन अधिष्ठाता होना चाहिये, इसलिये वह अन्य (पर), त्रैगुण्यादिकों से भिन्न ऐसा आत्मा ही है।

(१२२) त्रिगुणात्मकों का द्वितीय हेतु अधिष्ठीयमानत्व है (२)।

निर्गुण आत्मा में अधिष्ठातृत्व 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' (सां० सू० अ० १।९६) सूत्र से बताया गया है। जैसे—अयस्कान्तमणि लोहे को प्रवर्तित करता है, वैसे ही बुद्धितत्त्व को आत्मा अपने सान्निध्यमात्र से प्रवर्तित करता हैं'[1]।

इतश्चास्ति पुरुषो - "भोक्तृभावात्"। भोक्तृभावेन भोग्ये सुखदुःखे उपलक्षयति। भोग्ये हि सुखदुःखे अनुकूलप्रतिकूलवेदनीये प्रत्यात्ममनुभूयेते। तेनानयोरनुकूलनीयेन प्रतिकूलनीयेन च केनचिदप्यन्येन भवितव्यम्। न चानुकूलनीयाः प्रतिकूलनीया वा बुद्ध्यादयः, तेषां सुखदुःखाद्यात्मकत्वेन स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् तस्मात् योऽसुखा-

(१२३) भोक्तृभावादिति तृतीयम् (३)

१. 'निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते। सत्तामात्रेण देवेन तथैवायं जगज्जनिः॥
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वञ्च संस्थितम्। निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता सन्निधिमात्रतः॥
अचलतोऽपि नृपतिवद्वा सत्तामात्रेण प्रयोजकत्वमिति द्रष्टव्यम्। (सार बो०)
पंचम सूत्र के आत्मवाद में श्रीभट्टपादकुमारिल कहते हैं—
"न च सर्वत्र तुल्यत्वं स्यात्प्रयोजककर्मणाम्। चलनेन ह्यसिं योद्धा प्रयुंक्ते छेदनं प्रति॥
सेनापतिस्तु वाचैव भृत्यानां विनियोजकः। राजा सन्निधिमात्रेण विनियुंक्ते कदाचन॥
तस्मादचलतोऽपि स्याच्चलने कर्तृताऽऽत्मनः॥" इति। वार्षगण्याचार्य ने भी षष्टितन्त्र में 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते' कहा है।

ह्यात्मा सोऽनुकूलनीयः प्रतिकूलनीयो वा, स चाऽऽत्मेति ॥

तीसरा हेतु उपस्थित करते हैं—'इतश्चेति ।' 'भोक्तृभावात्' हेतु से भी 'असंहतः परः पुरुषः अस्ति' अर्थात् भोक्तृत्व (भोक्तृभाव) धर्म से भी आत्मा की सिद्धि होती है। क्योंकि भोक्तृत्व धर्म से (भोक्तृभाव से) भोग्य सुख, दुःखादिका ज्ञान होता है। इदं मे अनुकूलम्–इत्याकारक ज्ञान का जो विषय, उसे 'सुख' कहते हैं, और इदं मे प्रतिकूलम्–इत्याकारक ज्ञान का जो विषय, उसे 'दुःख' कहते हैं। उन दोनों (सुख, दुःखों) का प्रत्येक आत्मा को अनुभव करना होता है। अर्थात् ये दोनों प्रत्येक आत्मा के अनुभव के विषय होते हैं। अनुभव का विषय होना ही 'भोग्य' बनना है। अतः उन दोनों (सुख–दुःखों) को क्रमशः अपने अनुकूल और प्रतिकूल कर पाने योग्य कोई दूसरा (अन्य) होना चाहिये, क्योंकि जिसे अनुकूल या प्रतिकूल करना होता है वह, अनुकूल या प्रतिकूल करने वाले से भिन्न रहता है–यह प्रसिद्ध ही है। अतः अनुमान इस प्रकार होगा—'सुखाद्यात्मकं बुद्ध्यादिकं; स्वातिरिक्तेन केनचित् भोक्त्रा अनुभवनीयम्, भोग्यत्वात्, ओदनादिवत्' । इति ।

(१२३) भोक्तृभावात् यह तृतीय हेतु है (३)।

शंका०—बुद्धि आदि तत्त्वों को ही सुख, दुःखादि का भोक्ता मान लिया जाय। एक अतिरिक्त पुरुषतत्त्व को भोक्ता के रूप में मानने की क्या आवश्यकता ?

समा०—'न चानुकूलनीया इति ।' बुद्धि आदि तत्त्व, सुख, दुःखादिरूप ही हैं, अतः वें स्वयं अपने ही अनुकूलनीय और प्रतिकूलनीय नहीं बन सकते। क्योंकि स्वयं ही स्वयं का विषय बनना, अनुभव के विरुद्ध है। एक ही वस्तु कर्म और कर्ता नहीं बन सकती, क्योंकि कर्मकर्तृ विरोध होगा। अनुकूलनीय का अर्थ है सुखी होना और प्रतिकूलनीय का अर्थ है दुःखी होना। अतः बुद्ध्यादि स्वयं जब सुख दुःखरूप हैं तो उनसे सुखी या दुःखी होने वाला उनसे भिन्न कोई अन्य ही होगा। स्वयं में स्वयं का व्यापार नहीं होता। खड्ग की धारा अपने को ही नहीं काटती अथवा अग्नि अपने को ही नहीं जलाती। अतः स्वयं स्वयं का भोग्य न बन सकने से बुद्धि आदि तत्त्वों को भोक्ता नहीं कहा जा सकता, इसलिये उनसे भिन्न ही कोई भोक्ता मानना होगा, वही—'आत्मा' है।

अन्ये त्वाहुः-भोग्या दृश्या बुद्ध्यादयः। न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यता युक्ता तेषाम्। तस्मादस्ति द्रष्टा दृश्यबुद्ध्याद्यतिरिक्तः, स चाऽऽत्मेति। भोक्तृभाभावात् द्रष्टृभावात्, दृश्यत्वेन द्रष्टुरनुमानादित्यर्थः। दृश्यत्वं च बुद्ध्यादीनां सुखाद्यात्मकतया पृथिव्यादिवदनुमितम् ॥

(१२४) भोक्तृभावादित्यस्य द्रष्टृभावादित्यर्थोऽपि सम्भवति।

'असङ्गो ह्ययम्पुरुषः' श्रुति से आत्मा का असंगतत्व प्रतीत होता है, और जो असंग होता है वह कभी भी भोक्ता नहीं हो सकता, इसलिये उपर्युक्त व्याख्यान उचित नहीं है, अतः कुछ लोग प्रकारान्तर से व्याख्यान करते हैं—'अन्ये त्विति।' बुद्धि आदि पदार्थ भोग्य (भोग के विषय) अर्थात् दृश्य (ज्ञान के विषय) हैं। किन्तु द्रष्टा के बिना उनकी दृश्यता—उपपन्न नहीं हो पाती। इसलिये बुद्ध्यादि दृश्य पदार्थों से भिन्न (अतिरिक्त) कोई द्रष्टा है और वही आत्मा है। अनुमान इस प्रकार होगा—

(१२४) भोक्तृभावात् का अर्थ द्रष्टृ भावात् भी संभव हो सकता है।

'बुद्धयादयः द्रष्टृपूर्वकाः दृश्यत्वात् घटादिवत् ।' तथा च—यो द्रष्टा स आत्मा । 'भोक्तृभावात्' का अर्थ हुआ 'दृश्य' से 'द्रष्टा' का अनुमान होने के कारण । बुद्धयादि पदार्थों का दृश्यत्व अनुमान से सिद्ध होता है—"बुद्धयादयो दृश्याः, सुखदुःखाद्यात्मकत्वात् पृथिव्यादिवत्" इति । इस द्वितीय व्याख्या में भी असंग आत्मा की दर्शनकर्तृता वास्तविकरूप से संभव नहीं है । इसलिये बुद्धिरूप उपाधि के कारण ही उसका द्रष्टृत्व कहना होगा । तब तो औपाधिक द्रष्टृत्व की तरह उसका भोक्तृत्व भी संभव हो सकता है, अतः प्रथम व्याख्या भी अनुचित नहीं है ।

इतश्चास्ति पुरुष इत्याह—"कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च" इति । शास्त्राणां महर्षीणां च दिव्यलोचनानाम् । कैवल्यमात्यन्तिकदुःखत्रयप्रशमलक्षणं न बुद्धयादीनां सम्भवति । ते हि दुःखाद्यात्मकाः कथं हि स्वभावाद्वियोजयितुं शक्यन्ते । तदतिरिक्तस्य त्वतदात्मनस्ततो वियोगः शक्यसम्पादः, तस्मात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेरागमानां महाधियां चास्तिबुद्धयादिव्यतिरिक्त आत्मेति सिद्धम् ॥ १७ ॥

(१२५) शास्त्राणां कैवल्यार्थं प्रवृत्तेरिति चतुर्थं साधनम्—(४) ।

चतुर्थ हेतु को उपस्थित कर रहे हैं—'इतश्चेति ।' 'कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च' हेतु के द्वारा बुद्धयादिकों से अतिरिक्त पुरुष सिद्ध होता है । 'कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च' हेतु का उपपादन करते हैं—'शास्त्राणामिति ।'

(१२५) कैवल्य के लिये शास्त्रों की प्रवृत्ति होने से (४) ।

शंका—'प्रवृत्ति' का अर्थ है 'प्रयत्न', वह अचेतन शास्त्रों में संभव नहीं हो सकता, इसलिये कैवल्यबुद्धि का उत्पादक होने से 'प्रवृत्ति' पद का अर्थ 'प्रवर्तकत्व' करना चाहिये । अतः मुख्यार्थ के अनुरोध से अन्य सम्बन्धी को भी कहते हैं--'महर्षीणां चेति ।' साधारण लोग, नेत्रों से स्वसन्निहित बाह्यवस्तु को ही देखने में समर्थ हो पाते हैं, इसलिये वे लौकिकलोचन कहलाते हैं, किन्तु महर्षिगण अपने संयम के प्रभाव से व्यवहित तथा सूक्ष्म पदार्थ को भी देखने में समर्थ रहते हैं, इसलिये वे दिव्यलोचन[1] कहलाते हैं । शास्त्रों की प्रेरणा और दिव्यदृष्टि महर्षियों की प्रवृत्ति कैवल्य के लिये ही (केवलभाव के लिये, निरुपाधिक अवस्था के लिये) होती है, यह सर्वविदित ही है । त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिक[2] निवृत्ति ही 'कैवल्य' है । इस प्रकार का कैवल्य बुद्धि आदि में होना संभव नहीं । क्योंकि वे बुद्धि आदि तत्त्व दुःखात्मक हैं अर्थात् दुःख ही उनका स्वरूप या स्वभाव है । अतः उनका जो स्वभाव है उसे नष्ट कैसे किया जा सकता है ? औपाधिक

---

१. महाकवि भवभूति ने ऋषियों के सम्बन्ध में कहा है—"साक्षात्कृतब्रह्माणो महर्षयः तेषां ऋतंभराणि भगवतां परोरजांसि प्रज्ञानानि न क्वचिद् व्याहन्यन्त इत्यनभिशङ्कनीयानि ।" इति । (उ० रा० च० अं० ७)

भगवान् पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में—"बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः"—(यो० सू० ३।४३), "सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च"—(यो० सू० ३।४९), "प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्"—(यो० सू० ३।२५), "ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शास्वादवार्ता जायन्ते"—(यो० सू० ३।३६) ।

२. आत्यन्तिकत्वम्—स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावाऽसमानकालीनत्वम् । स्वम्—अस्मदादिदुःखध्वंसः तत्समानाधिकरणः यः दुःखप्रागभावः तदसमानकालीनदुःखध्वंसः ।

धर्म का वियोग उपाधि के वियोग होने पर ही संभव है। अतः सुख-दुःखादि जिसका स्वभाव या स्वरूप नहीं है ऐसे आत्मा को दुःख से विमुक्त किया जाना संभव हो सकता है। एवं च महर्षियों की प्रवृत्ति और शास्त्रों की प्रेरणा कैवल्य[1] के लिये होने से बुद्ध्यादि सुख, दुःख, मोहरूप तत्त्वों से भिन्न आत्मा है यह सिद्ध किया जा सकता है ॥ १७ ॥

(१२६) पुरुषबहुत्व साधनानि ।

तदेवं पुरुषास्तित्वं प्रतिपाद्य, स किं सर्वशरीरेष्वेकः किमनेकः प्रतिक्षेत्रमिति संशये, तस्य प्रतिक्षेत्रमनेकत्वमुपपादयति—

अठारहवीं कारिका को उपस्थित कर रहे हैं—'तदेवमिति' इसप्रकार पुरुष का प्रकृत्यादि जडतत्त्वों से अतिरिक्त तत्त्व के रूप में अस्तित्व सिद्धकर अब यह विचार करना है कि वह जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्जाख्य चतुर्विध शरीरों में एक ही है या प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है ? अर्थात् समस्त शरीरों में आत्मा एक—स्व[2] सजातीयप्रतियोगिकभेद-शून्य—है या भिन्न-भिन्न शरीरों में वह भी भिन्न-भिन्न (अनेक) स्वप्रतियोगिवृत्तित्व-स्वा[3]नुयोगिवृत्तित्वोभयसंबन्धेन भेदविशिष्टाऽसाधारणधर्मवान्—है ? अभिप्राय यह है—वेदान्ती कहते हैं कि 'एक एव आत्मा' आत्मा सर्वत्र एक ही है। अपने मन्तव्य में वे प्रमाण देते हैं—'नित्यः—सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः। एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः ॥'—वेदान्तियों के उक्त मत को दूषित करने के लियें भूमिका बांध रहे हैं—'तदेवमिति।' उस आत्मा की सभी भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्नता (अनेकता) है जिसकी उपपत्ति (अनुमानात्मक युक्ति) बताते हैं—

(१२६) पुरुष बहुत्व के साधनार्थ अनेक हेतु।

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

अन्व०—पुरुषबहुत्वं सिद्धम्, जनन-मरण-करणानां प्रतिनियमात्, 'अयुगपत्प्रवृत्तेश्च; त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव इति।

भावार्थ०—पुरुषबहुत्वं—पुरुष (आत्मा) की प्रत्येक शरीर में भिन्नता. 'सिद्धम्'—सिद्ध होती हैं। उसकी उपपत्ति के लिये हेतु दे रहे हैं—'जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्'—एक का जन्म होता है तो दूसरे की मृत्यु होती है, इस प्रकार—जन्म, मरणादि, 'प्रतिनियमात्'—प्रत्येक शरीर के नियत रूप से व्यवस्थित दिखाई पड़ते हैं, अतएव चक्षुरादि इन्द्रियां (करण) और अन्तःकरण भी प्रत्येक शरीर के भिन्न भिन्न नियमित रूप से व्यवस्थित दिखाई देते हैं, इससे ज्ञात होता है कि 'आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है।'

---

१. कैवल्यं च आत्यन्तिकदुःखध्वंसः।

२. स्वम्—आत्मा क्षेत्रभेदनियतस्वसजातीयप्रतियोगिकभेद से शून्य है।

३. स्वम्—आत्मभेदः स्वप्रतियोगिवृत्तित्व—स्वानुयोगिवृत्तित्वोभयसंबंधावच्छिन्न—स्वविशिष्टात्मत्ववत्वसंबंधेनात्मनि वर्तते, तत्र च स्वप्रतियोगिशरीरावच्छेद्यबुद्धिप्रतिबिम्बितत्वसंबंधेन शरीरभेदोऽपि वर्तते, इति क्षेत्रभेदव्याप्यत्वं आत्मभेदे समुपपन्नम्। अत्र 'किमेकः-किमनेकः' इति वाक्यद्वयेनापि 'अनेको न वे' त्येक एव संशयो बोध्यः। (किरणावली)

दूसरा हेतु है—'अयुगपत्प्रवृत्तेश्च'—सभी प्राणी अपनी-अपनी क्रियाओं में एकसाथ प्रवृत्त होते नहीं दिखलाई पड़ते। सबकी प्रवृत्तियाँ पृथक्-पृथक् हुआ करती हैं, इसलिये भी प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न-भिन्न ज्ञात होता है।

तीसरा हेतु है—'त्रैगुण्यविपर्ययाच्च'—सात्विक, राजस, तामसभेद से भी पुरुष का भेद सिद्ध होता है अर्थात् कुछ लोग सात्विक साधुवृत्ति के सज्जन होते हैं, कुछ लोग क्षत्रियादि राजस होते हैं, कुछ लोग तथा सर्पादिजन्तु तामस होते हैं, एवं च तीनों गुणों की असमानरूप से व्यवस्था होने के कारण प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न है, यह सिद्ध होता है।

जननेत्यादिना। "पुरुषबहुत्वं सिद्धम्"। कस्मात् ? "जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्"। निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धिवेदनाभिः पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म, न तु पुरुषस्य परिणामः, तस्यापरिणामित्वात्। तेषामेव च देहादीनामुपात्तानां परित्यागो मरणम्, नत्वात्मनो विनाशः, तस्य कूटस्थनित्यत्वात्। करणानि बुद्ध्यादीनि त्रयोदश। तेषां जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमो व्यवस्था। सा खल्वियं सर्वशरीरेष्वेकस्मिन् पुरुषे नोपपद्यते। तदा खल्वेकस्मिन् पुरुषे जायमाने सर्वे जायेरन्, म्रियमाणे च म्रियेरन्, अन्धादौ चैकस्मिन् सर्व एव अन्धादयो, विचित्ते चैकस्मिन् सर्व एव विचित्ताः स्युरित्यव्यवस्था स्यात्, प्रतिक्षेत्रं तु पुरुषभेदे भवति व्यवस्था। न च 'एकस्यापि पुरुषस्य देहोपधानभेदाद्व्यवस्था' इति युक्तम्, पाणिस्तनाद्युपाधिभेदेनापि जन्ममरणादिव्यवस्थाप्रसङ्गात्। न हि पाणौ वृक्णे, जाते वा स्तनादौ भवत्यवयवे युवतिर्मृता जाता वा भवतीति॥

(१२७) जन्ममरणप्रतिनियमादिति प्रथमम् (१)

'पुरुषबहुत्वं सिद्धम्' इति। 'पुरं—शरीरं—तस्मिन् शेते इति—पुरुषः', अथवा पुरुषु-भूरिषु-उत्कर्षशालिषु सत्त्वेषु सीदतीति, पुरूणि फलानि सनोतीति वा पुरुषः—आत्मा, तस्य बहुत्वम्, शरीरं शरीरं प्रति भिन्नत्वम् सिद्धम् अनुमितं भवति। (किरणावली) 'आत्मा' को 'पुरुष' कहने के अनेक कारण हैं—१-वह पुर(शरीर)—में शयन करता है, इस कारण उसे 'पुरुष' कहते हैं। २-पुरु—अनेक उत्कर्षशाली प्राणियों में स्थित होने से उसे 'पुरुष' कहा जाता है। ३-पुरु-प्रचुर-फलों को वह प्राप्त करता है इसलिये उसे 'पुरुष' कहते हैं। इस प्रकार 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है। यह आत्मा वेदान्तियों के सिद्धान्तानुसार एक नहीं है, किन्तु अनेक है। 'कस्मात्'—किस हेतु से ? ऐसा पूछने पर कहा कि पुरुषों की अनेकता तीन कारणों से है, उनमें प्रथम हेतु बताते हैं—'जननमरणकरणानाम्प्रतिनियमात्' इति। जन्म, मरण और इन्द्रियाँ, ये प्रत्येक शरीर की नियत होने से वह (पुरुष) अनेक है। 'जन्म' का अर्थ है—संघात विशिष्ट (समूह से युक्त) और अपूर्व देह, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि, तथा वेदना से 'पुरुष' का सम्बन्ध होना। क्योंकि 'पुरुष' अपरिणामी होने से उसके परिणाम को 'जन्म' नहीं कहा जा सकता। स्वीकार किये हुए उसी देहादिकों के त्याग को 'मरण' कहते हैं। क्योंकि निर्विकार और नित्य आत्मा का विनाश होना असंभव है। बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्रादि पंच ज्ञानेन्द्रियां और

(१२७) जन्म और मृत्यु प्रत्येक का नियतरूप में व्यवस्थित होने के कारण (१)

वागादि पंच कर्मेन्द्रियां—ये तेरह 'करण' हैं। इन जन्म, मरण, करणों का 'प्रतिनियम'—'व्यवस्था'—समस्त शरीरों में एक 'आत्मा' मानने पर नहीं हो सकेगा—'सा खल्विति'। समस्त शरीरों में एक आत्मा मानने पर एक का जन्म होने पर सब का जन्म होगा और एक की मृत्यु होने पर सब की मृत्यु हो जायगी। उसी प्रकार एक के अन्धे होने पर सब अन्धे हो जायेंगे। एक के विचित्त[1] (चित्त की सुषुप्ति) अर्थात् मनोवृत्ति शून्य होने पर सभी विचित्त (मनोवृत्ति शून्य) हो जायेंगे। कोई एक प्राणि सुषुप्ति में मनोवृत्ति रहित हो जाता है अतः एक के निद्रित होने पर सभी निद्रा के अधीन होंगे। एक को बन्ध प्राप्त होने पर सभी को बन्ध प्राप्त होगा। एक को मोक्ष प्राप्त होने पर सभी को मोक्ष प्राप्त होगा। किन्तु पुरुषों की अनेकता स्वीकार करने पर सब अव्यवस्था दूर होकर सुव्यवस्था बन जाती है—'प्रतिक्षेत्रंस्विति।' सब की आत्मा भिन्न भिन्न होने से किसी एक के जन्म, मृत्यु, अन्धे, और विचित्त होने पर सभी को वैसा होने का प्रसंग नहीं प्राप्त होगा। अतः वेदान्तियों का 'एकात्मवाद' उचित नहीं है।

वेदान्ती—'नचेति'। अद्वैतवेदान्ती कहते हैं—सभी शरीरों में एक आत्मा के स्वीकार करने पर भी देहोपधान के भेद से (देहरूप उपाधि के भेद से—उपधानम्-उपाधिः) जन्म, मरणादि की व्यवस्था हो जायगी, अर्थात् अंधत्वादि, इन्द्रियों के धर्म हैं तथा जन्म, मरणादि देह के धर्म हैं और प्रत्येक व्यक्ति की देह, इन्द्रियादि भिन्न-भिन्न होने से पुरुष के एक रहने पर भी उपाधि के कारण जन्म, मरण आदि की व्यवस्था बन सकती है, अतः हमारा 'एकात्मवाद' उचित है, अनुचित नहीं।

सांख्यवादी—वेदान्तियों के 'एकात्मवाद' को यदि स्वीकार किया जाय तो हाथ, पैर, स्तन आदि उपाधि से भी जन्म-मरणादि की व्यवस्था हो सकेगी, किन्तु किसी युवती स्त्री का हाथ टूटने पर वह मृत हुई अथवा स्तनादि अवयवों के प्राप्त होने पर उसका जन्म हुआ यह नहीं समझा जाता, क्योंकि लोकविरुद्ध बातों को स्वीकार नहीं किया जाता। अतः जन्म, मरणादि की व्यवस्था लगाने के लिये प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न है—यही स्वीकार करना चाहिये। तात्पर्य यह है—आत्मा उपाधिभेद से भिन्न नहीं, बल्कि आत्मभेद से ही वह भिन्न (अनेक) है।

इतश्च प्रतिक्षेत्रं पुरुषभेद इत्याह—"अयुगपत्प्रवृत्तेश्च" इति। प्रवृत्तिः प्रयत्नलक्षणा यद्यप्यन्तःकरणवर्तिनी, तथाऽपि पुरुषे उपचर्यते। तथा च तस्मिन्नेकत्र शरीरे प्रयतमाने, स एव सर्वशरीरेष्वेक इति सर्वत्र प्रयतेत, ततश्च सर्वाण्येव शरीराणि युगपच्चालयेत्। नानात्वे तु नायं दोष इति ॥

(१२८) पुरुषाणामयुगपत्प्रवृत्तेरिति द्वितीयम् (२)।

पुरुष की अनेकता सिद्ध करने में दूसरा हेतु दे रहे हैं—'इतश्च प्रतिक्षेत्रमिति।' 'इतश्च' = 'अयुगपत् प्रवृत्तेः'—इस द्वितीय हेतु से भी प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा का होना सिद्ध है। एक ही समय में समस्त शरीरादि की प्रवृत्ति न होने से आत्मा प्रतिशरीर में भिन्न है। 'प्रवृत्ति' का अर्थ है प्रयत्न। यद्यपि वह अन्तःकरण का धर्म है, तथापि पुरुष में उसका उपचार[1] करते हैं। अभिप्राय यह है कि 'राणाप्रताप सिंह है' इस वाक्य में राणाप्रताप में सिंह शब्द का

(१२८) अयुगपत् प्रवृत्ति होने से भी पुरुष (आत्मा) की अनेकता (२)।

---

१. प्रवृत्तिः प्रयत्नलक्षणा—इच्छाजन्यगुणात्मिका, यद्यपि अन्तःकरणं बुद्धिः तद्वर्तिनी वास्तविकी, तथापि पुरुषे उपचर्यते उपचारेण पुरुषीयतया व्यवह्रियते। अतद्वत्यपि नैमित्तिकस्तद्-

जैसे गौण प्रयोग—किया जाता है, वैसे ही 'पुरुष की प्रवृत्ति'—यह शब्दप्रयोग भी गौण है। क्योंकि 'सिंहत्व' जैसे राणाप्रताप का धर्म नहीं हो सकता, वैसे ही 'प्रवृत्ति' भी 'पुरुष' में नहीं रह सकती। एवं च जिस पर प्रयत्न का आरोप किया जा रहा है वह पुरुष (आत्मा) किसी एक शरीर में प्रयत्न करने लग जाय तो समस्त शरीरों में वही एक होने से उसकी प्रवृत्ति सर्वत्र होने लगेगी। तब वह सब शरीरों को एक ही समय में चलाने लगेगा—यह आपत्ति एकात्मपक्ष में प्राप्त होती है। किन्तु 'नानात्म' पक्ष में यह आपत्ति नहीं है। अतः इस ऊहापोह से आत्मा का प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होना ही सिद्ध होता है। अनुमान :—'प्रत्येकं शरीराणि, विभिन्नपुरुषाधिष्ठेयानि, अयुगपत्प्रवृत्तिमत्त्वात्'।

(१२९) त्रैगुण्यविपर्ययादिति तृतीयम् (३)।

इतश्च पुरुषभेद इत्याह—"त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव" इति। एवकारो भिन्नक्रमः 'सिद्धम्' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः सिद्धमेव नासिद्धम्। त्रयो गुणास्त्रैगुण्यम्, तस्य विपर्ययो ऽन्यथात्वम्। केचित्खलु सत्त्वनिकायाः सत्त्वबहुलाः, यथोर्ध्वस्रोतसः केचिद्रजोबहुलाः, यथा मनुष्याः केचित्तमोबहुलाः, यथा तिर्यग्योनयः। सोऽयमीदृशस्त्रैगुण्यविपर्ययोऽन्यथाभावस्तेषु सत्त्वनिकायेषु न भवेत् यद्येकः पुरुषः स्यात्, पुरुषभेदे त्वयमदोष इति ॥ १८ ॥

(१२९) तीन गुणों के अन्यथाभाव से भी पुरुष की अनेकतासिद्ध होती है (३)।

'त्रैगुण्यविपर्ययात्' हेतु से भी प्रतिशरीर में पुरुषभेद सिद्ध होता है। 'त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव'—यहाँ के 'एव' का अन्वय कारिका में स्थित 'सिद्धम्' के साथ होगा,' तब 'सिद्धमेव' पढा जायगा, अर्थात् पुरुष की अनेकता तो अब सिद्ध हो ही चुकी, उसके सम्बन्ध में कोई संदेह अब अवशेष नहीं है। अथवा उपर्युक्त हेतुओं से 'पुरुष का बहुत्व' ही सिद्ध होता है, 'आत्मैक्य' नहीं। यहाँ पर तीन गुणों को ही 'त्रैगुण्य' कहा गया है। 'त्रयोगुणा एव-त्रैगुण्यम्, उनका विपर्यय अर्थात् अन्यथाभाव क्योंकि विपर्यय, अभावरूप होने से उसके द्वारा पुरुष का भेद साधना असंभव होगा इसलिये 'विपर्यय' का अर्थ यहाँ 'अन्यथाभाव' किया गया है। अन्यथाभाव (अन्यथात्व) का अर्थ है 'वैचित्र्य' वैलक्षण्य। उसी वैचित्र्य को स्पष्ट कर रहे हैं—कुछ सत्त्वनिकाय'—सात्त्विक देह-होते हैं अर्थात् उनमें सत्त्वगुण अधिक होता है, जैसे-ऊर्ध्वरेतस् (जितेन्द्रिय) देवादि, कुछ राजस होते हैं अर्थात् उनमें रजोगुण अधिक होता है, जैसे—मनुष्य, कुछ तामस होते हैं अर्थात् उनमें तमोगुण अधिक होता है, जैसे—पशु, पक्षी आदि तिर्यक् प्राणि। यदि पुरुष सात्त्विकादि -- शरीरों में एक ही होता तो इस प्रकार त्रिगुणों का अन्यथाभाव न हुआ होता, किन्तु उनका अन्यथाभाव होता अनुभव में आता है अतः 'आत्मा' (पुरुष) एक है' यह न कह कर 'वह प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न (अनेक) है—यही कहना उचित है ॥ १८ ॥

व्यवहार उपचारः। बुद्ध्या सह यः स्वस्वामिभावसंबन्धः स एव निमित्तोऽत्र प्रवृत्तौ पुरुषीयत्व-व्यवहारे इति भावः। (किरणावली)

१. सत्त्वनिकायाः—सत्त्वं प्राणः तस्य निकायाः आश्रयाः प्राणिन इति यावत्। (सुषमा)

(१३०) पुरुषधर्माः । एवं पुरुषबहुत्वं प्रसाध्य विवेकज्ञानोपयोगितया तस्य धर्मानाह—

इस रीति से प्रत्येक शरीर में अनुमान प्रमाण से पुरुषभेद को सिद्धकर अब विवेकज्ञान ('पुरुषः, प्रकृत्यादिभिन्नः' इत्याकारक अनुमित्यात्मक भेदप्रकारक-ज्ञान) के उपयोग में आनेवाले उसके (पुरुष के) साक्षित्वादि धर्मों को बता रहे हैं—

(१३०) पुरुष के धर्म

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यम्माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

अन्वय—तस्मात् विपर्यासात् च अस्य पुरुषस्य साक्षित्वं, कैवल्यं, माध्यस्थ्यं, द्रष्टृत्वं सिद्धम्, अकर्तृभावः च सिद्धः ॥

भावार्थः—'तस्मात्'—'त्रिगुणमविवेकिविषयः' इस ग्यारहवीं कारिका में बताये गये धर्मों से, 'विपर्यासात्'—विपरीत अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असाधारणत्व, चेतनत्व, अप्रसवधर्मित्व आदि धर्मों के कारण, 'अस्य पुरुषस्य'—इस पुरुष (आत्मा) का ('चेतनत्व' धर्म के कारण) 'साक्षित्वम्'—साक्षित्व सिद्ध होता है। ('अत्रिगुणत्व, धर्म से) 'कैवल्यम्'—आत्यन्तिकदुःखशून्यत्व और 'माध्यस्थ्यम्'—उपकार-अपकार-शक्तिरहितत्व सिद्ध होता है। ('अविषयत्व' धर्म से) 'द्रष्टृत्वम्'—स्वप्रकृतिशीलज्ञातृत्व, (प्रकृति मुझ से संसार करवाती है, मैं संसारी (संसार कर्ता) नहीं हूँ, मैं तो कमल के पत्र की तरह निर्लिप्त हूँ—इस प्रकार की बुद्धि रखना ।) और (विवेकित्व, तथा अप्रसवधर्मित्व से) 'अकर्तृभावः'—अकर्तृत्व सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है—पूर्वोक्त त्रिगुणत्वादि धर्मों से रहित होने के कारण इस आत्मा में साक्षित्व, कैवल्य, माध्स्थ्य, द्रष्टृत्व, और अकर्तृत्व सिद्ध होता है।

"तस्माच्च" इति । 'च' शब्दः पुरुषस्य बहुत्वेन सह धर्मान्तराणि समुच्चिनोति । 'विपर्यासादस्मात्' इत्युक्ते त्रैगुण्यविपर्ययादित्यनन्तरोक्तं सम्बध्येत; अतस्तन्निरासाय 'तस्मात्' इत्युक्तम् । अनन्तरोक्तं हि सन्निधानादिदमो विषयो, विप्रकृष्टं च तदः, इति विप्रकृष्टं त्रिगुणमविवेकीत्यादि सम्बध्यते ॥

(१३१) तस्मात्पदस्य सम्बन्धप्रदर्शनम् ॥

'तस्माच्चेतीति ।' मूल कारिका के 'च' का अन्वय 'विपर्यासात्' के साथ करना चाहिये—'तस्मात् विपर्यासात् च' इति । 'तस्माद्विपर्यासाच्च' का अर्थ हुआ त्रैगुण्यविपर्ययात्–त्रैगुण्य के वैपरीत्य से । कारिका—'तस्मात् च'-में जो 'च' है, वह समुच्चयार्थक है, अतः जन्ममरणकरणानाम्'—इस अठारहवीं कारिका से प्रतिपादित जो पुरुष का बहुत्व या अनेकत्व धर्म है उसके साथ उसके (पुरुष के) अन्य धर्मों—'विवेकित्व', अविषयत्व, असाधारणत्व, चेतनत्व, अप्रसवधर्मित्व—का भी समुच्चय (संग्रह) करता है । मूल के 'तस्माच्च' पद से पूर्वकारिकोक्त 'त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव' नहीं समझना चाहिये, बल्कि 'त्रिगुणमविवेकि—' इस ग्यारहवीं कारिका में बताये गये 'त्रिगुणत्व, और 'च' कार से अविवेकित्वादिधर्मों को समझना चाहिये—

(१३१) 'तस्मात्' पद का सम्बन्ध प्रदर्शन ।

इसीलिये 'अस्माच्च विपर्यासात्' न कह कर 'तस्माच्च विपर्यासात्' कहा गया है। इसी अभिप्राय को प्रदर्शित करने के लिये 'विपर्यासादस्मादित्युक्ते' इति। प्रस्तुत कारिका में 'तस्मात्' के बजाय 'अस्मात्' यदि कहा होता तो अव्यवहित पूर्वकारिका में कथित 'त्रैगुण्यविपर्ययात्' के साथ अन्वय (संबंध) हुआ होता, क्योंकि 'अस्मात्' पद समीपवर्ती पदार्थ का दर्शक होता है और 'तस्मात्' पद दूरवर्ती पदार्थ का दर्शक होता है। एवंच अव्यवहितपूर्व अठारहवीं कारिका के 'त्रैगुण्यविपर्ययात्' के साथ संबन्ध न कर सकें, इसलिये 'अस्मात्' न कह कर 'तस्मात्' कहा गया है, जिससे ग्यारहवीं कारिका 'त्रिगुणमवि०' में उक्त त्रिगुणत्वादि धर्मों का परामर्श हो सके। अन्यथा 'अत्रैगुण्य' हेतु से 'पुरुष' में 'कैवल्य' और 'माध्यस्थ्य' की ही सिद्धि हो पायेगी, 'साक्षित्व' और 'द्रष्टृत्व' की नहीं।

शंका—'तस्मात्' पद के कहने से अव्यवहित पूर्व कारिका के 'त्रैगुण्यविपर्ययात्' के साथ संबंध क्यों नहीं किया जाता ?

समा०—'अनन्तरोक्तमिति।' समीपवर्ती वस्तु सन्निकृष्ट होने से 'इदम्' से निर्दिष्ट की जाती है (इदं शब्दजन्य उपस्थिति का विषय होती है)। व्यवहित या परोक्ष विप्रकृष्ट वस्तु 'तद्' शब्द से निर्दिष्ट की जाती है (तद् शब्दजन्यउपस्थिति का विषय होती है)। अतः ग्यारहवीं 'त्रिगुणमविवेकि' कारिका में उक्त 'त्रिगुणत्वादि' धर्म दूरस्थित (विप्रकृष्ट) होने पर भी 'विपर्यासात्' के साथ 'तद्' सर्वनाम के प्रभाव से अन्वित हो पाते हैं। कौनसा सर्वनाम किसका परामर्शक होता है, इस संबंध में एक अभियुक्तोक्ति प्रसिद्ध है—

"इदमस्तु सन्निकृष्टे, समीपतरवर्तिन्येतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्॥"

(१३२) अत्रैगुण्यादेः पुरुषस्य साक्षित्वम् द्रष्टृत्वं च।

तस्मात् त्रिगुणादेर्यो विपर्यासः स पुरुषस्यात्रिगुणत्वं, विवेकित्वमविषयत्वमसाधारणत्वं चेतनत्वमप्रसवधर्मित्वञ्च। तत्र चेतनत्वेनाविषयत्वेन च साक्षित्वद्रष्टृत्वे दर्शिते। चेतनो हि द्रष्टा भवति, नाचेतनः; साक्षी च दर्शितविषयो भवति; यस्मै प्रदर्श्यते विषयः स साक्षी, यथा हि लोकेऽर्थिप्रत्यर्थिनौ विवादविषयं साक्षिणे दर्शयतः, एवं प्रकृतिरपि स्वचरितं विषयं पुरुषाय दर्शयतीति पुरुषः साक्षी, न चाचेतनो विषयो वा शक्यो विषयं दर्शयितुम्, इति चैतन्यादविषयत्वाच्च भवति साक्षी। अत एव द्रष्टाऽपि भवति॥

(१३२) 'अत्रैगुण्य' हेतु से पुरुष में साक्षित्व और द्रष्टृत्व।

निष्कर्ष बताते हैं—'तस्माच्च त्रिगुणत्वादेः' इति। 'तस्मात्' पद से 'त्रिगुणत्वादि' का परामर्श किया गया है। 'त्रिगुणत्वादेः' यह पञ्चम्यन्त पद है, तथा यह पंचमी, षष्ठी के अर्थ में है, जिससे त्रिगुणत्व का विपर्यास (अभाव) अर्थात् 'अत्रिगुणत्व' का लाभ होता है। तथा 'च' के अर्थ 'आदि' शब्द से ज्ञातव्य अविवेकित्व का विपर्यास विवेकित्व, विषयत्व का विपर्यास अविषयत्व, सामान्य का विपर्यास असाधारणत्व, अचेतन का विपर्यास चेतनत्व, प्रसवधर्मित्व का विपर्यास अप्रसवधर्मित्व होता है। उनमें किस धर्म से किस धर्म की सिद्धि होती है, उसे बताते हैं—'तत्रेति'। पूर्वोक्त अत्रिगुणत्वादिधर्मों में से

'चेतनत्व' धर्म के द्वारा 'द्रष्टृत्व' बताया है, और 'अविषयत्व' धर्म के द्वारा उस (पुरुष) का साक्षित्व बताया है, उसी को बता रहे हैं—'चेतनोहीति।' जो चेतन हो वही द्रष्टा अर्थात् दृक्-शक्तिमान् होता है, न कि अचेतन (जड़)। और जिसे विषय दिखाया गया हो अर्थात् दर्शित-विषय पुरुष, वह 'साक्षी' कहलाता है। सूत्रकार भी इसका समर्थन करते हैं—'साक्षात् संबंधात् साक्षित्वम्'—(सां० सू० १।१६१)। अभिप्राय यह है—ग्यारहवीं कारिका में कथित व्यक्त और अव्यक्त (प्रधान) के धर्मों से विपरीत धर्म पुरुष के होते हैं, अर्थात् अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असाधारणत्व, चेतनत्व और अप्रसवधर्मित्वादि धर्म पुरुष में होते हैं। उनमें से चेतनत्व और अविषयत्व के कारण 'पुरुष' के 'साक्षित्व' और 'द्रष्टृत्व' धर्म स्पष्ट होते हैं, क्योंकि जो 'चेतन' होता है वही 'द्रष्टा' कहलाता है, 'अचेतन' तो कभी 'द्रष्टा' हो ही नहीं सकता। जिसे विषय दिखाया जाता है वही 'साक्षी' कहलाता है। लोकव्यवहार में भी वादी और प्रतिवादी वाद का (विजिगीषु कथा का) विषय साक्षी को बताते हैं (दिखाते हैं), उसी प्रकार बुद्धिरूप से परिणत हुई कर्त्री प्रकृति भी अपना विषय (चरित्र) पुरुष को (सन्निहित पुरुषप्रतिबिंब को) (भोग के लिये) दिखाती है (अर्पण करती है)। इस कारण वह (पुरुष) साक्षी कहा जाता है। किन्तु जो स्वभाव से ही 'अचेतन' और 'विषय' हो, उसे विषय दिखाना कभी संभव ही नहीं हो सकता; इसलिये वह 'चैतन्य' ही 'अविषय' होने के कारण 'साक्षी'[1] हो पाता है और उसी कारण वह 'द्रष्टा' भी होता है। अनुमान इस प्रकार होगा—'पुरुषः साक्षी, चेतनत्वात्, पुरुषः द्रष्टा, अविषयत्वात्' इति।

(१३३) कैवल्यम्। **अत्रैगुण्याच्चास्य कैवल्यम्। आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्। तच्च तस्य स्वाभाविकादेवात्रैगुण्यात् सुखदुःखमोहरहितत्वात्सिद्धम्॥**

पुरुष में धर्मान्तर के साधनार्थ कहते हैं 'अत्रैगुण्याच्चेति।' त्रिगुणरहित होने से ही उसका (पुरुष का) 'कैवल्य' भी सिद्ध होता है। अनुमान प्रयोग—'पुरुषः कैवल्ययोगी, अत्रिगुणत्वात्' इति।

(१३३) त्रिगुणशून्य होने से ही उसका कैवल्य भी सिद्ध है।

कैवल्य का स्वरूप कैसा है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—'आत्यन्तिको[2] दुःखत्रयाऽभावः कैवल्यम्?' आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखों का अत्यन्त अभाव होना ही 'कैवल्य' है। अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीनों प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही 'कैवल्य'

---

१. "जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन व्यवस्थितः॥"—(सांख्यप्रवचनभाष्य अ. १, सू. १४८)

२. आत्यन्तिकत्वं—स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावाऽसमानकालीनत्वम्, एतच्च, दुःखत्रयाभावः'—दुःखत्रयतिरोभावात्मिका निवृत्तिः, इत्यस्य विशेषणम्, प्रागभावः—अनाविर्भावः, ध्वंसः—तिरोभावः। तथा च—'स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावाऽसमानकालीनदुःखध्वंसः'—कैवल्यमिति समुदितोऽर्थः। 'स्व' पदेन मुक्तपुरुषीयदुखध्वंसोपादाने तदधिकरणवृत्तिदुःखप्रागभावस्यैवाऽप्रसिद्ध्या असंभवः स्यात्, अतः स्वम्—अस्मदादिदुःखध्वंसः तत्समानाधिकरणो यः दुःखप्रागभावः तत्समानकालीनः यः यः (स्वपदग्राह्यः) दुःखध्वंसः तदन्यदुःखध्वंसो मोक्षः इति। दुःखध्वंसमात्रस्यमुक्तित्वे अस्मदादीनामपि मुक्तत्वापत्तिःस्यात्, अतः आत्यन्तिकत्वं-कालीनान्तार्थकं स्वपदार्थविशेषणमुक्तम्, मुक्त्यात्मकदुःखध्वंसस्य अन्यदीयदुःखप्रागभावसमानकालीनत्वात् व्यासादीनाममुक्तत्वापत्तिवार-

है। यह कैवल्य पुरुष के स्वाभाविक अत्रिगुणत्व के कारण अर्थात् सुख, दुःख, मोह रूप तीनों गुणों से रहित होने के कारण उसमें कैवल्य सिद्ध ही है।

अत एवात्रैगुण्यान्माध्यस्थ्यम्। सुखी हि सुखेन तृप्यन् दुःखी हि दुःखं द्विषन् मध्यस्थो न भवति। तदुभयरहितस्तु मध्यस्थ इत्युदासीन इति चाख्यायते। विवेकित्वादप्रसवधर्मित्वाच्चाकर्तेति सिद्धम्॥ १९॥

(१३४) माध्यस्थ्यम्, अकर्तृत्वं च।

पुरुष में स्वरूपतः सिद्ध (स्वाभाविक) अत्रैगुण्य होने से ही उसका धर्मान्तर माध्यस्थ्य (ताटस्थ्य) भी सिद्ध हो जाता है। क्योंकि 'यत्र त्रैगुण्यं तत्र न माध्यस्थ्यम्'—जैसे—सुखी व्यक्ति सुख से तृप्त होने पर वह सुख-ग्रहण का पक्षपाती होता है, और दुःखी दुःख से द्वेष करने पर दुःखदूरीकरण का पक्षपाती होता है और अपनी तटस्थता (माध्यस्थ्य) को त्याग देता है। किन्तु यह पुरुष (आत्मा) सुख, दुःख से रहित होने के कारण मध्यस्थ[1] या उदासीन (उपेक्षक) है, यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है। यह बात 'दृष्टामयेत्युपे० (६६) कारिका के द्वारा बताई जायगी।

(१३४) अत्रैगुण्य से ही उसका माध्यस्थ्य और अकर्तृत्व सिद्ध होता है।

शंका—विवाद करनेवाले दोनों का जो पक्षपाती या हितैषी होता है उसे 'मध्यस्थ' कहते हैं। और विवाद करनेवाले दोनों की जो उपेक्षा करता है उसे 'उदासीन' कहते हैं इस प्रकार 'मध्यस्थ' और 'उदासीन' में भेद है, तब को 'पुरुष' मध्यस्थ या उदासीन बताकर 'मध्यस्थ' और 'उदासीन' को एक दूसरे के पर्याय के रूप में कैसे बताया गया?

समा०—केवल रागद्वेषराहित्य अंश में साम्य देखकर ग्रन्थकार ने दोनों का अभेद[2] प्रदर्शित किया है। वह विवेकी और अप्रसवधर्मी होने से उसका 'अकर्तृत्व' भी सिद्ध होता है। क्योंकि जो कर्ता होता है वह अपने इष्टलाभ के लिये प्रयत्न करता रहता है और उसी कारण वह विवेकशून्य और विकारी हो जाता है, किन्तु यह पुरुष (आत्मा) वैसा नहीं है, इससे सिद्ध है कि वह कर्ता भी नहीं है। अर्थात् संभूयकारित्व' शून्य और परिणाम शून्य होने से आत्मा में 'अकर्तृत्व' (अकारणत्व, कृतिशून्यत्व) सिद्ध होता है। जहाँ पर महदादि की तरह संभूयकारिता और परिणामशीलता रहती है, वहीं पर परिणामानुकूलकृति और स्वसमानाधिकरणशीला-

---

णाय स्वसमानाधिकरणेति प्रागभावविशेषणम्, 'दुःख'पदानुपादाने मुक्तात्मघटसंयोगध्वंसस्यापि स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावसमानकालीनाऽन्यध्वंसत्वान्मोक्षस्वरूपत्वप्राप्त्या तादृशध्वंसवतो घटादेरपि मोक्षापत्तिवारणाय दुःखध्वंसेत्युक्तम्।

अनुगमस्तु—दुःखध्वंसविशिष्टान्यदुःखध्वंसो मुक्तिः, वैशिष्ट्यं च—स्वतादात्म्य—स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावकालीनत्वोभयसंबंधेन, स्वम्—अस्मदादिदुःखध्वंसः निरुक्तोभयसंबंधेन तद्विशिष्टः स एव, तदन्यः आत्यन्तिकदुःखध्वंस इति।—(किरणावली)

१. "सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥" (गी० ६।९), वादिप्रतिवादिनोः समो मध्यस्थः, सर्वत्र उपेक्षावान् उदासीनः—इति शंकरानन्दः।

२. "श्रुत्वा युद्धोचनं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः।
तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल॥" (भा० १०।७८।१७)
यहाँ पर 'उदासीन' में भी 'मध्यस्थ' का प्रयोग किया गया है।

कारणता भी रहती है। आत्मा में तो संभूयकारिता और परिणामशीलता दोनों[1] नहीं हैं, इसलिये उसमें 'कारणता' हो ही नहीं सकती। हाँ, औपाधिक 'कर्तृत्व' तो 'कर्तेव भवत्युदासीनः'—(२० वीं) कारिका में बतावेंगे। अतः अनुमान इस प्रकार होगा—'पुरुषः अकर्ता विवेकित्वात्, अप्रसवधर्मित्वाच्च' इति ॥ १९ ॥

(१३५) चैतन्यकर्तृत्वयोर्वैयधिकरण्यापत्तिशङ्का।

स्यादेतत्—प्रमाणेन कर्तव्यमर्थमवगम्य 'चेतनोऽहं चिकीर्षन् करोमि' इति कृतिचैतन्ययोः सामानाधिकरण्यमनुभवसिद्धम्; तदेतस्मिन्मते नावकल्पते, चेतनस्याकर्तृत्वात् कर्तुश्चाचैतन्यात्, इत्यत आह—

(१३५) चैतन्य और कर्तृत्व के वैयधिकरण्यापत्ति की शंका।

'तस्मात्तत्संयोगात्०' इस बीसवीं कारिका को उपस्थित करने का कारण बता रहे हैं कौमुदीकार—'स्यादेतत्' इति। कोई भी व्यक्ति अपने करने योग्य घटपटादि वस्तुओं को प्रत्यक्षादि (अनुमान, शब्द) प्रमाणों के द्वारा अच्छी प्रकार जानकर अर्थात् 'घटोमत्कृतिसाध्यः' इस प्रकार निश्चय कर 'अहं चेतनः कर्तुमिच्छन् (चिकीर्षन्) सन् करोमि'—ऐसा अनुभव उसे होता है, अर्थात् 'कृति' करोमि से बोध्य व्यापारानुकूल प्रयत्न) और 'चैतन्य' का एकाधिकरणवृत्तित्व अनुभवसिद्ध है (अहं चेतनः चिकीर्षन् करोमि इत्याकारक अनुभव से ही सिद्ध है)। 'अवगम्य' से ज्ञान, 'चिकीर्षन्' से कृतिसाध्यत्वप्रकारिका इच्छा, 'करोमि' से व्यापारानुकूल प्रयत्न (कृति), 'चेतनोऽहम्' से ज्ञान, आदि सबकी एकाधिकरणता बताई गई है। एवं च—चेतनत्व, ज्ञान, इच्छा, कृति की एकाधिकरणवृत्तिता होने से आत्मा में ही ज्ञानादिक सिद्ध होते हैं। किन्तु यह कथन सांख्यमत में उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि सांख्यमत में तो 'बुद्धिः कर्त्री ज्ञानादिमती,' 'पुरुषस्तु अकर्ता' माना गया है। अतः चैतन्य के साथ ज्ञानादिकों का सामानाधिकरण्य कैसे हो सकता है ? चैतन्य (चेतनत्व) का अधिकरण जो पुरुष है वह अकर्ता है अर्थात् कृति का अधिकरण नहीं है। और कर्त्री (कृतिमती) जो बुद्धि है उसमें चैतन्य नहीं है अर्थात् चेतनत्व का अभाव है। निष्कर्ष यह है—'अहं जानामि, अहमिदं करोमि'– इस व्यवहार से द्रष्टृत्व और कर्तृत्व की एकाधिकरणत्वेन प्रतीति होती है। दूसरी ओर 'द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च' कहा है अर्थात् आत्मा को द्रष्टा बताया है किन्तु उसमें कर्तृत्व नहीं है, ऐसा कहा गया है। इन परस्पर विरुद्ध बातों के समाधानार्थ अब बीसवीं कारिका को उपस्थित किया जा रहा है—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

अन्वय—तस्मात् तत्संयोगात् अचेतनं लिङ्गं चेतनावदिव, तथा गुणकर्तृत्वेऽपि उदासीनः कर्तेव भवति ॥

भावार्थ—यद्यपि त्रिगुणात्मक और परिणामी होने से बुद्धि का कर्तृत्व (कृतिमत्व) सिद्ध है और अत्रिगुणात्मक तथा अपरिणामी होने से आत्मा का अकर्तृत्व और द्रष्टृत्व युक्तियों से सिद्ध है—

१. यदि संभूयकारित्वं पुरुषस्य नास्ति, तदा कर्तृत्वमपि नास्ति, एकस्मात् पदार्थात् कस्यापि कार्यस्य असंभवात्। परिणामं विना कार्योत्पत्तेः असंभवात् नास्य कर्तृत्वम्।—(सारबोधिनी)

जैसे उस आत्मा के संयोग (सन्निधान) से अचेतन (जड़) लिङ्ग शरीर (तन्मात्रा, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार से युक्त बुद्धि) भी चेतनत्व धर्म से विशिष्ट हुआ सा (वास्तव में नहीं), प्रतीत होता है। उसी प्रकार आत्मा के संयोग से सत्व-रजस्-तमो गुणों में (बुद्ध्यादिरूप से परिणत हुए गुणों में) कर्तृत्वधर्म (कृतिमत्व) स्वभावसिद्ध है, तथापि बुद्ध्युपराग के कारण (बुद्धि में चेतन के प्रतिबिम्बित होने से) उदासीन (उपेक्षक) कृतिरहित होता हुआ भी आत्मा कर्ता = कृतिमान् सा प्रतीत होता रहता है।

(१३८) इष्टापत्तिः। सामानाधिकरण्यज्ञानं भ्रान्तिविलसितम्।

"तस्मात्" इति। यतश्चैतन्यकर्तृत्वे भिन्नाधिकरणे युक्तितः सिद्धे, तस्मात् भ्रान्तिरियमित्यर्थः। भ्रान्तिबीजम् तत्संयोगः तत्सन्निधानम्। 'लिङ्गम्' महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं वक्ष्यति। अतिरोहितार्थमन्यत् ॥ २० ॥

(१३८) इष्टापत्ति। सामानाधिकरण्य का ज्ञान, भ्रम से हो रहा है।

कारिका में "तस्मात्" कहकर तच्छब्द का ही उपादान किया है, यच्छब्द का नहीं, किन्तु तच्छब्द को यच्छब्द की सदैव अपेक्षा रहती है, इसलिये कौमुदीकार कहते हैं—'यत' इति। 'चैतन्य' (प्रकाशकत्व) आत्मधर्म है और 'कर्तृत्व' (कृतिमत्व) बुद्धिधर्म है अतः 'चैतन्य' और 'कर्तृत्व' दोनों के आश्रय (अधिकरण) भिन्न भिन्न हैं यह बात पूर्वोक्त युक्ति से (त्रिगुणत्वात्, परिणामित्वात् बुद्धेः कर्तृत्वम्, निर्गुणत्वात् अपरिणामित्वात् पुरुषस्य अकर्तृत्वम्—द्रष्टृत्वादिकं च) बताई जा चुकी है, इसलिये यह चैतन्य और कर्तृत्व के सामानाधिकरण्य की प्रतीति भ्रमपूर्ण है अर्थात् अविवेककृत अस्मिता नाम की भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति क्यों होती है ? उत्तर देते हैं—"भ्रान्तिबीज तत्संयोगः" इति। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" श्रुति से चेतन तो असंग प्रतीत होता है, तब उसका संयोग कैसे ? उत्तर देने के लिये कौमुदीकार 'संयोग' का अर्थ लिखते हैं—"तत्सन्निधानम्" इति। सांख्यसूत्रकार कहते हैं "उपरागात्कर्तृत्वं चित्सन्निधानात्"—(सां. सू. १-१६४) बुद्धि में उपराग होने से अर्थात् बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने से पुरुष में कर्तृत्व की प्रतीति होती है और बुद्धि में चेतनत्व की प्रतीति पुरुष के सान्निध्य से होती है। अब कारिका में आये हुए 'लिङ्ग' पद की व्याख्या करते हैं—"महदादिसूक्ष्मपर्यन्तमिति।" महत्तत्त्व, अहंकार, मन, इन्द्रिय, और तन्मात्रात्मक अष्टादश (१८) तत्त्वसमूहात्मक लिङ्ग और सूक्ष्म पद से सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्राएं समझनी चाहिये।

यह बात चालीसवीं कारिका के द्वारा आगे बताई जायगी। अवशिष्ट कारिका के अंश का अर्थ सरल है ॥ २० ॥

(१३७) पुरुषप्रधानयोः संयोगे शङ्का।

'तत्संयोगात्' इत्युक्तम्, न च भिन्नयोः संयोगोऽपेक्षां विना, न चेयमुपकार्योपकारकभावं विनेत्यपेक्षाहेतुमुपकारमाह—

इक्कीसवीं (पुरुषस्य दर्शनार्थम्०) कारिका की अवतरणिका देते हैं—"तत्संयोगादिति।"

---

१. संयोग का लक्षण योगसूत्रकार ने बताया है—"स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिः संयोगः" (यो. सू. २।२३) दृश्य तो द्रष्टा के लिये होता है। दृश्य के द्वारा किया जाने वाला

(१३७) पुरुष और प्रधान के संयोग होने में संदेह ।

परस्परभिन्न 'बुद्धि-पुरुष' का संयोग होना (सन्निधान अर्थात् बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ना) एक-दूसरे की आकांक्षा के बिना या परस्पर के राग बिना संभव नहीं । और अपेक्षा 'उपकार्योपकारक भाव' के बिना संभव नहीं । इसलिये संयोग की प्रयोजिका अपेक्षा में हेतु अर्थात् संयोग में कारणीभूत अविद्या के अवान्तर व्यापाररूप उपकार (बुद्धि और पुरुष के परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव) को कारिकाकार बता रहे हैं—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

अन्वय—पुरुषस्य दर्शनार्थं, तथा प्रधानस्य कैवल्यार्थम् , उभयोरपि संयोगः, पङ्ग्वन्धवत् , तत्कृतश्च सर्गः ।

भावार्थः—'पुरुषस्य' और 'प्रधानस्य' दोनों में कर्मणि षष्ठी है । दोनों के लिए कर्ताओं का अध्याहार करना होगा । तब इस प्रकार कहना होगा—प्रधानेन पुरुषः दर्शनार्थम् अपेक्ष्यते, उसीतरह पुरुषेण प्रधानं कैवल्यार्थम् अपेक्ष्यते । 'दर्शनार्थं' का तात्पर्य है अपने में भोग्यत्व सिद्ध करने के लिये और 'कैवल्यार्थं' का तात्पर्य है अपनी मोक्षप्राप्ति के लिये परस्पर एक दूसरे को वे चाहते हैं । इसप्रकार परस्पर अपेक्षा होने के कारण 'प्रधान' और 'पुरुष' दोनों का संयोग होता है । संयोग होने में पंगु और अन्ध का दृष्टान्त देते हैं । जैसे चलने में असमर्थ पंगु अपने अभीष्टदेश की प्राप्ति के लिये चलने में समर्थ अन्धे की अपेक्षा रखता है और देखने में असमर्थ अन्धा मार्ग दिखानेवाले दर्शक पङ्गु की अपेक्षा रखता है, उसीप्रकार परस्पर अपेक्षा होने से उन दोनों का संयोग—अर्थात् पङ्गु, अन्धे के स्कन्ध पर आरोहण करता है और अन्धा उस पङ्गु को ले चलता है—जिससे अभीष्ट देशान्तर की प्राप्ति-रूप कार्य सम्पन्न हो पाता है, ठीक उसी तरह प्रकृति-पुरुष का संयोगकृत यह सर्ग (सृष्टि, ५२ वीं कारिका के द्वारा बताई जाने वाली) होता है । 'उभयोरपि संयोग' यहाँ पर भी कर्मणि षष्ठी समझनी चाहिये, जिससे 'उभाभ्याम् उभौ संयुज्येते' यह वाक्यार्थ निष्पन्न हो सकेगा ।

भोगापवर्गरूप उपकारक को स्वीकार करने वाला "पुरुष" स्वामी कहलाता है और दृश्य उसका 'स्व' कहलाता है ।

उन दोनों का (भोगापवर्ग करानेवाला) संयोग अर्थात् बुद्धि ('स्व' शक्ति) और पुरुष (स्वामिशक्ति) दोनों का स्व-स्वामिभावरूप, भोग्य-भोक्तृभावरूप, द्रष्टृदृश्यभावरूप से सम्बन्ध होना । इन दोनों का भोगापवर्ग के उद्देश्य से जो संयोग बताया गया है वह घट-पट के संयोग के तुल्य नहीं समझना चाहिये । इन (बुद्धि-पुरुष) का संयोग तो 'योग्यता' रूप है । दृश्य में जडत्व, विषयत्व, भोग्यत्व की योग्यता है, वैसे ही द्रष्टा में चेतनत्व, भोक्तृत्व की योग्यता रहती है । वह योग्यतारूप संयोग, अनादि जो विपर्ययज्ञानवासना उससे होता है । इसलिये वह (संयोग) भी अनादि है किन्तु अनन्त नहीं, बीच में निमित्त के नष्ट होने पर उसका (संयोग का) भी नाश हो जाता है । निमित्त का नाश (अपाय) सम्यक् दर्शन (विवेकज्ञान) से ही होता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं, क्योंकि सम्यक् दर्शन (विवेकज्ञान) ही विपर्ययदर्शन (अज्ञान) का विरोधी है ।

"पुरुषस्य" इति। प्रधानस्येति कर्मणि षष्ठी। प्रधानस्य सर्वकारणस्य यद्दर्शनं पुरुषेण तदर्थम्। तदनेन भोग्यता प्रधानस्य दर्शिता। ततश्च भोग्यं प्रधानं भोक्तारमन्तरेण न सम्भवतीति युक्ताऽस्य भोक्त्रपेक्षा।

(१३८) प्रधानस्य पुरुषापेक्षा—भोक्त्रपेक्षा।

"पुरुषस्येति।" कौमुदीकार कारिका की व्याख्या करते हैं—"प्रधानस्येतिकर्मणि-षष्ठीति"। 'प्रधानस्य-पुरुषस्य' दोनों जगह 'उभयप्राप्तौ कर्मणि'—सूत्रसे कर्मणि षष्ठी की गई है। कर्म के द्वारा अपेक्षित दर्शनरूप गौण-क्रिया बताने के लिये कहते हैं—'प्रधानस्य सर्वकारणस्य यद्-दर्शनमिति।' बुद्धयात्मककार्यरूप में परिणत हुई 'प्रकृति', जो सर्व-कारण अर्थात् समस्त संसार का उपादान कारण है उसका जो दर्शन अर्थात् उसकी अपनी दृश्यता = भोग्यता[1]। प्रकृति का दर्शन किसके द्वारा किया जाता है? तो कहते हैं—पुरुषेण अर्थात् पुरुष के द्वारा = पुरुषकर्तृक वह दर्शन है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति स्वयं भोग्य बनने के लिये पुरुष को चाहती है। इसी को स्पष्ट करते हैं—'तदनेनेति।' 'प्रकृति', पुरुषकर्तृकदर्शन का विषय बनती है—यह कहने से 'प्रधान' (प्रकृति) की भोग्यता प्रदर्शित होती है। यह भोग्यता तब तक नहीं बन सकती, जबतक भोग्यता का आश्रय बनने की इच्छुक प्रकृति (प्रधान), भोक्तृत्व के आश्रय बनने वाले भोक्ता पुरुष को न अपनाए। इसलिये प्रधान को भोक्ता पुरुष की अपेक्षा होना उचित ही है। वृत्तिविरोध होने से स्वयं में ही भोग्यत्व-भोक्तृत्व दोनों नहीं बन सकते अतः अपने से भिन्न भोक्ता की अपेक्षा रखना आवश्यक है।

(१३८) प्रधान को भोक्ता पुरुष की अपेक्षा।

"पुरुषस्यापेक्षां दर्शयति – "पुरुषस्य कैवल्यार्थम्" इति। तथाहि भोग्येन प्रधानेन सम्भिन्नः पुरुषस्तद्गतं दुःखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यम् प्रार्थयते। तच्च सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिनिबन्धनम्। न च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः प्रधानमन्तरेणेति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधान-मपेक्षते अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यत इति युक्तम्॥

(१३९) कैवल्यार्थं पुरुषस्य प्रधानापेक्षा।

उपर्युक्त कथन युक्तिसंगत रहने पर भी 'पुरुष' किसलिये 'प्रधान' को चाहता है? यह आकांक्षा बनी रहती है, उसके समाधानार्थ ग्रन्थकार कहते हैं—"पुरुषस्याऽपेक्षामिति।"

'प्रधानेन सम्भिन्नः' अर्थात् प्रधान (प्रकृति) से अपने को पृथक् (अलग) समझ न पानेवाला पुरुष प्रधानगत (प्रकृति में स्थित) त्रिविध दुखों को अपने में ही समझता हुआ वह 'कैवल्य' (त्रिविध दुःखों से छुटकारा पाने की) की इच्छा करता है। किन्तु वह 'कैवल्य', सत्त्व-पुरुषान्यता-ख्यातिनिबन्धन रहता है। 'यहां 'सत्त्व' का अर्थ है प्रधान और 'पुरुष' का अर्थ है चेतन।

(१३९) कैवल्य के लिये पुरुष को प्रधान की अपेक्षा।

---

[1] सुखदुःखानुभव को भोग और उनके अनुभविता को भोक्ता कहते हैं। सुख-दुःख में अनुभव-विषयता होने से सुखदुःख को भोग्य समझा जाता है। अतः सुखदुःखमोहात्मक प्रधान (प्रकृति) में भोग्यता सिद्ध हो जाती है।

एवंच—प्रतिक्षण परिणत होने वाली परिणामिनी प्रकृति से मैं चेतन—अपरिणामी भिन्न हूँ—इस प्रकार का ज्ञान ही कैवल्य प्राप्ति का मुख्य कारण है। इसप्रकार की सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति रूप विवेकज्ञान अर्थात् प्रकृति और पुरुष में भेद का ज्ञान, 'प्रधान' के बिना हो नहीं सकता। क्योंकि बुद्धि के रूप में परिणत हुए प्रधान का परिणाम ही 'विवेकज्ञान' है, इसलिये प्रधान के बिना उसका (विवेकज्ञान का) होना संभव नहीं। तात्पर्य यह है—मनुष्य को अपनी अभिलषित वस्तु के पाने की इच्छा होती है, अनन्तर उसकी प्राप्ति के साधन की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। उसी प्रकार मनुष्य दिनरात अनुभूयमान त्रिविधदुःखों को त्यागना चाहता है, उन दुःखों के परिहारार्थ साधन की खोज करता है। त्रिविध दुःखों का परिहार प्रकृति-पुरुष के विवेकाधीन हैं, अतः प्रकृति के बिना पुरुष अपने में उसके भेद को (मैं प्रकृति से भिन्न हूँ) कैसे समझ सकेगा? एवंच पुरुष को त्रिविध दुःखों के अभिघातार्थ (परिहारार्थ) अपेक्षित ज्ञान के साधनरूप में प्रकृति की अपेक्षा हुआ करती है। यदि पुरुष, भोग के लिये प्रकृति से संयुक्त हुआ है तो पुनः वह कैवल्य के लिये क्यों उससे संयुक्त होता है? प्रतिक्षण परिणामशील भाव पदार्थों के परिणामविशेष को ही संयोग कहते हैं, अतः प्रकृति-पुरुष का संयोग भी प्रकृति का परिणाम ही है। यह संयोग-परम्परा अनादि है इसलिये संयोग को भी अनादि कहा जाता है। आपेक्षिक संयोग जैसे भिन्न-भिन्न होते हैं, वैसे ही 'भोग' के लिये और 'कैवल्य' के लिये भी संयोग भिन्न-भिन्न होता है—यही बताने के लिये कहते हैं—"अनादित्वाच्चेति।" तात्पर्य यह है कि भोगापेक्षिकसंयोग की तरह कैवल्यापेक्षिक संयोग भी पुरुष में अनादिकाल से चला आरहा है।

(१४०) भोगापवर्गार्थमेव महदादिसर्गस्यावश्यकत्वम्।

ननु भवत्वनयोः संयोगो, महदादिसर्गस्तु कुत इत्यत आह—"तत्कृतः सर्गः" इति। संयोगो हि न महदादिसर्गमन्तरेण भोगाय कैवल्याय च पर्याप्त इति संयोग एव भोगापवर्गार्थं सर्गं करोतीत्यर्थः॥ २१॥

शंका—प्रकृति और पुरुष का भोगापेक्षिक तथा कैवल्यापेक्षिक संयोग भले ही अनादिकाल से चला आ रहा हो किन्तु महत्तत्त्वादिलिङ्गाख्य, धर्माधर्मादिभावाख्य, और पृथिव्यादिभूताख्य रूप से विविध सर्ग (सृष्टि) क्योंकर होता है? इस शंका के समाधानार्थ कहते हैं—"तत्कृतः सर्गः" इति। यह सर्ग द्रष्टृदृश्य संयोगकृत है। यह निश्चित समझिये कि महत्तत्त्वादिसर्गरूप साधन के बिना भोगसंपादन के लिये एवं कैवल्य संपादन के लिये पुरुष समर्थ नहीं हो पाता, अतः उक्त संयोग, भोगापवर्ग की निष्पत्ति के लिये ही सृष्टि को साधनरूप में प्रकट करता है। इसी बात को योगसूत्रकार ने भी कहा है—"द्रष्टृदृश्ययोः संयोगोहेयहेतुः"—(यो० सू० २।१७), अर्थात् द्रष्टापुरुष और दृश्याबुद्धि, दोनों का संयोग, 'हेयहेतु' = संसार का कारण है॥ २१॥

(१४०) भोग और अपवर्ग के लिये ही महदादिसर्ग की आवश्यकता।

सर्गक्रम-निरूपण

सर्गक्रममाह—

'प्रकृतेर्महान्०' इस २२ वीं कारिका की अवतरणिका दे रहे हैं -
'सर्गक्रममाह' इति। तत्त्वीयसर्ग का क्रम दिखाते हैं—

प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ २२॥

अन्वय—प्रकृतेः महान्, ततः अहंकारः, तस्मात् षोडशकः गणश्च, तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि (आविर्भवन्ति)।

भावार्थः—'प्रकृतेः' = प्रधान से, 'महान्' = महत्तत्त्व (प्रकट होता है), 'ततः' = महत्तत्त्व से, 'अहंकारः' = अहंकार (प्रकट होता है), 'तस्मात्' = अहंकार से, 'षोडशकः गणः' = मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन सोलह तत्त्वों का समुदाय (प्रकट होता है), 'तस्मादपि षोडशकात्' = उन षोडश-पदार्थों के अन्तर्गत, 'पञ्चभ्यः' = पञ्चतन्मात्राओं (शब्दस्पर्शरूपरसगंध) से, 'पञ्च भूतानि' = गगन, पवन, अनल, सलिल, अवनि (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) प्रकट होते हैं।

यद्यपि महत्तत्त्वादि की सृष्टि होने में प्रकृति-पुरुषसंयोग निमित्त है तथापि उपादानकारण के विना कार्य की उत्पत्ति होना असंभव है। 'पुरुष' को यदि उपादान कारण मान लिया जाय तो वह असंगत होगा, क्योंकि 'पुरुष', अपरिणामी है, और तात्त्विक संगरहित भी है। इसलिये 'अव्यक्त' (प्रकृति-प्रधान) ही महत्तत्त्वादि की सृष्टि का उपादानकारण हो सकता है—यह मन में सोचकर ही कारिकाकार ने "प्रकृतेर्महान्" कारिका को उपस्थित किया। 'प्रकृतेः' = प्रधान से, 'महान्' = महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व) होता है।

(१४१) प्रकृतेर्महानित्यादिः सर्गक्रमः।

"प्रकृतेः" इति। प्रकृतिरव्यक्तम्। महदहङ्कारौ वक्ष्यमाणलक्षणौ। एकादशेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि, तन्मात्राणि च पञ्च, सोऽयं षोडशसंख्यापरिमितो गणः षोडशकः। तस्मादपि षोडशकादपकृष्टेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्याकाशादीनि॥

(१४१) प्रकृति से महान् इत्यादि सर्ग क्रम।

'प्रकृति' पद की व्याख्या करते हैं 'अव्यक्तमिति।' सब का कारण 'प्रधान' है इसीलिये उसे 'मूलप्रकृति' कहते हैं। 'महत्' और 'अहंकार', 'वक्ष्यमाणलक्षणौ' अर्थात् 'अध्यवसायो बुद्धिः' इस २४ वीं कारिका के द्वारा बताये जाने वाले लक्षण से लक्षित—जैसे—'अध्यवसायात्मकं लक्षणं-तल्लक्षितं महत्तत्त्वम्, 'अभिमानोऽहंकारः'—इस २४ वीं कारिका के द्वारा बताये जानेवाले लक्षण से लक्षित—जैसे—'अभिमानात्मकं लक्षणं-तल्लक्षितः अहंकारः—ऐसा समझना चाहिये। अब 'षोडशकात्' पद की व्याख्या करने के लिये 'एकादशेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि'—अर्थात् ज्ञानेन्द्रियां (बुद्धीन्द्रियां) = चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् तथा कर्मेन्द्रियां अर्थात् वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ—इन दस इन्द्रियों को आगे २६ वीं कारिका के द्वारा बताया जायगा एवं 'उभयात्मकमत्रमनः" इस २७ वीं कारिका के द्वारा मनस्तत्त्व, और शब्द-स्पर्शरूप-रस-गन्धात्मक पञ्चतन्मात्राओं को 'तन्मात्राण्यविशेषाः' - इस ३८ वीं कारिका से बताया जायगा। 'षोडश परिमाणम् अस्य'—अर्थ में 'तदस्य परिमाणम्'—५-१-५७ पाणिनि सूत्र से 'कन्' प्रत्यय करने पर 'षोडशकः' रूप बनता है। इसी अभिप्राय से 'सोऽय'मित्यादि ग्रन्थ से कौमुदीकार बताते हैं—अभी बताया हुआ षोडशसंख्यापरिमितिसमुदाय, 'अहंकार' से आविर्भूत होता है। इन सोलह में से 'अपकृष्ट' अर्थात् पृथक् किये हुए शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधात्मक पंचतन्मात्राओं से आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन पाँच भूतों का आविर्भाव होता है।

(१४२) तन्मात्रेभ्यो गुणक्रमेण भूतसर्गः।

तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दस्पर्शगुणः, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद्गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी, जायत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

(१४२) गुणक्रम के अनुसार तन्मात्राओं से भूतसृष्टि।

आविर्भाव का क्रम बताते हैं—'तत्रे'ति। 'पञ्चभूतों' में शब्दतन्मात्रा (सूक्ष्म आकाश) से स्थूल शब्दगुणवाला स्थूलआकाश, सूक्ष्मशब्दतन्मात्रसहित स्पर्शतन्मात्रा (सूक्ष्मवायु) से स्थूल-शब्द-स्थूल-स्पर्श गुणोंवाला स्थूलवायु, सूक्ष्मशब्द-स्पर्शतन्मात्रसहित रूपतन्मात्रा (सूक्ष्म अनल = तेज) से स्थूल शब्द-स्पर्श-रूप गुणोंवाला स्थूल तेज, सूक्ष्म-शब्द-स्पर्श-रूप तन्मात्रसहित सूक्ष्म रसतन्मात्रा (सूक्ष्म जल) से स्थूल शब्द-स्पर्श-रूप-रस गुणोंवाला स्थूल जल और सूक्ष्म शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्रसहित सूक्ष्म गन्धतन्मात्र (सूक्ष्म पृथ्वी) से स्थूल शब्द-स्पर्श-रूप-रस गुणों वाली स्थूल पृथ्वी आविर्भूत होती है। इसी आशय को योगसूत्र के भाष्यकार और उनके व्याख्याकार विज्ञानभिक्षु (योगवार्तिककार) ने भी व्यक्त किया है—"एकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः" (यो. २।१९) ॥ २२ ॥

महत्तत्त्वलक्षणनिरूपण

(१४३) बुद्धिलक्षणप्रस्तावः।

अव्यक्तं सामान्यतो लक्षितम् "तद्विपरीतमव्यक्तम्" (कारिका १०) इत्यनेन; विशेषतश्च "सत्त्वं लघु प्रकाशकम्" (कारिका १३) इत्यनेन। व्यक्तमपि सामान्यतो लक्षितम् "हेतुमत्" (कारिका १०) इत्यादिना। सम्प्रति विवेकज्ञानोपयोगितया व्यक्तविशेषं बुद्धिं लक्षयति—

(१४३) बुद्धि (महत्तत्व) के लक्षण का प्रस्ताव।

'अध्यवसायोबुद्धिः' इस २३वीं कारिका की उपस्थिति कराने के निमित्त अवतरणिका देते हुए पूर्वलक्षित पदार्थों का स्मरण दिला रहे हैं—कौमुदीकार "अव्यक्त"मिति। 'अव्यक्त' का अर्थ है प्रधान (मूलप्रकृति)। 'तद्विपरीतमव्यक्तम्'—इस १०वीं कारिका से अहेतुमत्त्व-नित्यत्वादि सामान्यलक्षणों के द्वारा 'अव्यक्त' को लक्षित किया गया था और 'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्' इस १३वीं कारिका से लघुत्वादि विशेष धर्मों के द्वारा उसके प्रत्येक गुण लक्षित कराये गये थे। उसी प्रकार बुद्धि से लेकर पृथ्वी तक के व्यक्त तत्त्वसमुदाय को भी 'हेतुमदनित्यम०'—इस १०वीं कारिका से हेतुमत्त्वादि सामान्यलक्षणों के द्वारा लक्षित करा चुके हैं। अब विवेकज्ञान में उपयोग होने के कारण अर्थात् 'पुरुषः प्रकृत्यादि भिन्नः' इस विवेकज्ञान में प्रयोजक बनने वाले प्रतियोगिज्ञान में विषयविधया उपयुक्त होने के कारण व्यक्त समूह में से प्रथमतः बुद्धि को लक्षित करते हैं—'अध्यवसायो बुद्धिः' इति।

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—अध्यवसायो बुद्धिः, एतद्रूपं धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्, सात्त्विकम्। अस्माद् विपर्यस्तं तामसम् ॥

भावार्थः—'अध्यवसायः' = निश्चय, निश्चयात्मिका अन्तःकरणवृत्ति को 'बुद्धि' कहते हैं, 'अध्यवसायत्वं बुद्धेर्लक्षणम् ।' 'एतद्रूपम्' = एतस्याः = इस बुद्धि के—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य—ये चार प्रकार के 'सात्त्विकम्' = सत्त्वांशप्रधान, 'रूपम् = रूप हैं। अर्थात् धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य—ये चारों 'बुद्धि' के सात्त्विक धर्म हैं। 'अस्मात्' = इस सात्त्विकरूप के 'विपर्यस्तम्' = विरुद्ध-अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य—ये चार प्रकार के 'तामसम्' = तमःप्रधान धर्म हैं। अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य—ये चारों बुद्धि के तामसधर्म हैं। कोई भी आदमी जब किसी काम में प्रवृत्त होता है तब अन्तःकरण में तीन वृत्तियां—क्रियाएं-हुआ करती हैं। जैसे-सब से पहिले 'आलोचन' (वस्तु का ज्ञान) पश्चात् 'मैं इसका अधिकारी हूँ'—इस प्रकार का अभिमान, तदनन्तर 'मेरा यह कर्तव्य है'—इस प्रकार से अध्यवसाय (निश्चय ज्ञान) होता है इनमें 'तीसरे ज्ञान' का नाम बुद्धि है।

"अध्यवसाय" इति । 'अध्यवसायो बुद्धिः' क्रियाक्रियावतोरभेदविवक्षया । सर्वो व्यवहर्ताऽऽलोच्य मत्वाऽहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मयेत्यध्यवस्यति, ततश्च प्रवर्तत इति लोकसिद्धम् । तत्र योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसन्निधानादापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायः, बुद्धेरसाधारणो व्यापारः; तदभेदा बुद्धिः । स च बुद्धेर्लक्षणम् समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात् ॥

(१४४) बुद्धेर्लक्षणम् अध्यवसाय इति ॥

"अध्यवसाय"[1] इति । कारिका की व्याख्या करने के लिये उसका प्रतीक दे रहे हैं—'अध्यवसायो बुद्धि'रिति। 'अध्यवसानम् अध्यवसायः' अर्थात् निश्चय । जैसे- 'अयं घटः, 'अयं पटः' = यह घट है, यह पट है, इस प्रकार—'अध्यवस्यति' = निश्चिनोति या सा बुद्धिः—जो निश्चय करती है उसे बुद्धि कहते हैं।

(१४४) 'अध्यवसाय' बुद्धि का लक्षण है।

शंका—"अध्यवसायो बुद्धिः'—यह लक्षण ठीक नहीं है, क्योंकि अध्यवसाय तो क्रियारूप है, अतः बुद्धि के साथ सामानाधिकरण्य से उसका अभेदान्वय करना संभव नहीं। जैसे 'गन्धः पृथिवी' न कहकर 'गन्धवती पृथिवी' ही कहा जाता है वैसे यहां पर भी "अध्यवसायवती बुद्धिः"—ऐसा लक्षण करना उचित था, क्योंकि 'अध्यवसाय' तो धर्म है और 'बुद्धि', धर्मी है, इसलिये धर्म और धर्मी का सामानाधिकरण्य से अभेदान्वय नहीं हो सकता।

समाधान—"क्रिया[2] क्रियावतो' रिति । व्यापार और व्यापारी अथवा धर्म और धर्मी की अभेद विवक्षा से उपर्युक्त (कारिकोक्त) लक्षण समझना चाहिये। अन्य इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न

१. अध्यवसायः = विषयमधिकृत्य अवसायः = निश्चयः ।
२. क्रिया = परिणामात्मिका ।

व्यापार से पृथक् बुद्धि के व्यापार को बताने के लिये व्यापारों के क्रम को बताते हैं—"सर्वो-व्यवहर्तेति।" लेने-त्यागने का व्यवहार करनेवाला मनुष्यमात्र सर्वप्रथम 'आलोचन' करता है अर्थात् अपने ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों से वस्तु का प्रत्यक्ष करता है, तदनन्तर 'मनन' अर्थात् यह वस्तु ऐसी है या नहीं इसप्रकार मनमें उसके गुण-दोषों को विचार कर, पश्चात् "इसके निष्पादन में मैं समर्थ हूँ"—इसप्रकार 'अभिमान' अर्थात् उसे अहंकारव्यापार का विषय बनाकर "यह करना है"—ऐसा निश्चय करता है—इस रीति से आलोचन, मनन, अभिमान, अवधारण-करने के पश्चात् वह उस कार्य को करता है, यह लोकप्रसिद्ध है। यहाँ पर कौमुदीकार ने आलोच्य से इन्द्रियव्यापार, 'मत्वा' से मनका व्यापार, 'अहम्' से अहंकार का व्यापार, और 'अध्यवस्यति' से बुद्धि का व्यापार बताया है। और 'प्रवर्तते' से लोकानुभव को सूचित किया है जैसे—कृति के योग्य इष्टसाधन यागादि में लोगों की प्रवृत्ति होती है। ज्ञान, इच्छा, कृति ये 'आत्मा' के धर्म नहीं हैं, यह बताने के लिये अनुभवारूढ करके बताया गया है कि अध्यवसाय, 'बुद्धि' का धर्म है। 'बुद्धि' का व्यापार क्या है? इस जिज्ञासा के होने पर उसका व्यापार बताते हैं, "तत्रेति।" आलोचन, मनन, अभिमान, अवधारण आदि व्यापारों में से जो "कर्तव्यम्" कर्तव्य के रूप में बुद्धि का निश्चय, उसे अध्यवसाय कहते हैं, बुद्धि का वही असाधारण[1] व्यापार है।

शंका—'बुद्धि' तो अचेतन (जड़) है, तब वह मनुष्यों की तरह निश्चय कैसे कर सकती है?

समा०—"चितिसन्निधाना"दिति। 'चितेः सन्निधानात्' अर्थात् चैतन्यस्वरूप 'पुरुष' के संबंध से (अन्तःकरणरूपबुद्धि में चिन्मात्रपुरुष के रहने से) 'आपन्नचैतन्यायाः' इति। 'आपन्नं = प्राप्तं 'चैतन्यं यया तस्याः, अथवा 'आपन्नम्' = आरोपितं 'चैतन्यं' यस्यां तस्याः। प्राप्त किया है 'चैतन्य' जिसने अथवा आरोपित है 'चैतन्य' जिसपर उस बुद्धि का। जैसे—'स्फटिक' और 'जपाकुसुम' पास पास रखने पर स्फटिक जपाकुसुम के लौहित्य को पा लेता है उसी तरह चित्सन्निधान से 'बुद्धि' भी 'चैतन्य' को प्राप्त कर लेती है—अपना व्यापार है 'अध्यवसाय'।

शंका—अध्यवसाय यदि बुद्धि का अपना (असाधारण) व्यापार है, तो "अध्यवसायो बुद्धिः"—ऐसा सामानाधिकरण्य से निर्देश ग्रन्थकार ने कैसे किया?

समा०—"तदभेदे"ति। तस्मात् अभेदः यस्याः सा = तदभेदा। अध्यवसायरूप व्यापार से अभेद है जिसका ऐसी बुद्धि। क्रिया और क्रियावान् की अभेद विवक्षा से तदभिन्नत्वेन विवक्षा की गई है, क्योंकि सांख्यसिद्धान्त में धर्म और धर्मी का तादात्म्य माना जाता है। यह निश्चयरूप अध्यवसायसंज्ञक व्यापार, स्वसमानजातीय मन आदि अन्य इन्द्रियों से और असमानजातीय पञ्चतन्मात्रा आदि से बुद्धिको अलग करता है, इसलिये अध्यवसाय ही बुद्धि का लक्षण है।

(१४५) बुद्धेः सात्त्विका धर्माः धर्मज्ञानविरागैश्वर्याभिधानाः। तत्र धर्मज्ञानवैराग्याणां निरूपणम्।

तदेवं बुद्धिं लक्षयित्वा विवेकज्ञानोपयोगिनस्तस्या धर्मान्सात्त्विकतामसानाह—"धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं, तामसमस्माद्विपर्यस्तम्" इति। धर्मोऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः, तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतुः, अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुः। गुणपुरुषान्यताख्यातिर्ज्ञानम्। विरागो वैराग्यं रागाभावः।

[1] १. स्ववृत्तित्वे सति स्वेतरावृत्तित्वमसाधारणत्वम्।

इस प्रकार बुद्धि का निरूपण कर विवेकज्ञान में उपयुक्त होनेवाले बुद्धि के सात्त्विक, तामस धर्मों को (बुद्धि के आश्रित रहने वाले पदार्थों को) बताते हैं—

(१४५) बुद्धि के सात्त्विक धर्मः—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य का निरूपण।

"सात्त्विकतामसानिति।" धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य—ये बुद्धि के सात्त्विक धर्म हैं और उनके विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अविराग, अनैश्वर्य—ये बुद्धि के तामस धर्म हैं।

शंका—बुद्धि के सात्त्विक, तामसधर्मों की तरह राजस धर्मों को भी कहना उचित था।

समा०—स्वतन्त्ररूप से राजसधर्म कोई नहीं है। सत्त्व, और तमोगुण स्वयं क्रियाशील न होने से उनमें क्रिया उत्पन्न करने के लिये रजोगुण की आवश्यकता अनिवार्य है, इसलिये 'उभयविधा अपि धर्मा राजसाः' कहा जा सकता है। इसलिये राजसधर्मों का पृथक् उल्लेख नहीं किया गया।

बुद्धि के चार सात्त्विकधर्मों में से प्रथमतः 'धर्म' को बताते हैं—"अभ्युदयेति।" धर्म उसे कहते हैं, जो अभ्युदय और निःश्रेयस का हेतु हो। स्वाराज्य, साम्राज्यादि ऐश्वर्यविशेष को अभ्युदय कहते हैं और निश्चितं श्रेयः (कल्याणम्) निःश्रेयसम् अर्थात् कैवल्य। वैशेषिकाचार्य कणभक्ष भी कहते हैं—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (वै. सू. १।१।२)। किन्तु एक में दोनों की कारणता बन पाना संभव नहीं इसलिये उसकी व्यवस्था करते हैं "तत्र यागदानाद्यनु०" इति। आदि शब्द से वेद के कर्मकाण्ड भाग में विहित समस्त कर्म समझने चाहिये। उनमें देवता को उद्देश्य कर द्रव्यत्यागात्मक व्यापार को याग कहते हैं। स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादन को दान कहते हैं। ऐसे यागदानादि के अनुष्ठान से उत्पन्न धर्म, अभ्युदय का हेतु होता है। और अष्टाङ्गयोग के अनुष्ठान से उत्पन्न धर्म, निःश्रेयस का हेतु होता है। कृष्ण, शुक्लकृष्ण, शुक्ल, अशुक्लाकृष्ण के भेद से कर्म के चार प्रकार हैं। उनमें हिंसा, मिथ्याभाषण आदि कृष्ण कर्म हैं। पापरूपकर्माशय के कारण दुःखरूपफल का उत्पादक होने से उक्त कर्म कृष्ण कहलाता है। ऐसे कृष्णकर्म, विचारहीन दुष्ट लोगों के रहते हैं। बाह्य साधनों के द्वारा साध्य होने वाले यागादि, शुक्ल-कृष्ण कर्म कहे जाते हैं। इसमें क्षुद्रप्राणियों का वध होने से और ब्राह्मणों को भोजन-दक्षिणा आदि के देने से मिश्रित पुण्य-पापरूप कर्माशय तैयार होता है, उसके द्वारा ये कर्म, मिश्रित सुख-दुःखरूप फल के उत्पादक होते हैं, इसी कारण इन कर्मों में शुक्ल-कृष्णता रहती है। ऐसे शुक्ल-कृष्णकर्मों को यागादिकर्मों में आसक्त रहने वाले लोग किया करते हैं। फलेच्छु लोगों के द्वारा फल की इच्छा से किये जाने वाले तप, जप, ध्यान आदि शुक्लकर्म हैं। सत्यभाषण, इन्द्रियनिग्रहरूप तप और जप, ध्यान आदि कर्मों में बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं होती इसलिये हिंसा का भी प्रसंग नहीं आता, अतः उक्तविध कर्म शुक्ल कहे जाते हैं"। ऐसे कर्म निर्दोष, विवेकशील लोगों के रहते हैं। यम-नियमादि का अनुष्ठान, अशुक्लाकृष्ण कर्म है। यह कर्म, योगियों का हुआ करता है। धर्ममेघसमाधिरूप योगानुष्ठान निष्काम होने से शुक्लकर्म रूप नहीं और केवलचित्तसाध्य होने से उसमें बाह्यसाधनों की अपेक्षा नहीं है इसलिये वह कृष्णकर्मरूप भी नहीं, अतः उक्त योगानुष्ठान अशुक्लाकृष्णकर्म कहलाता है और उससे उत्पन्न धर्म भी अशुक्लाकृष्ण होता है। अब निःश्रेयस के हेतुभूत धर्म को बताते हैं—'अष्टाङ्गयोगानुष्ठाने'ति। पतञ्जलि ने योग के आठ अंग इस प्रकार बताये हैं—'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये आठ अंग, योग के होते हैं। इनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पांच बहिरंग साधन हैं, और धारणा, ध्यान, समाधि ये अन्तरङ्ग साधन हैं। प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रियनिरोध। किसी एक लक्ष्य में चित्त की नियुक्ति को धारणा कहते हैं। चित्तवृत्ति के सजातीय प्रवाह को

ध्यान कहते हैं। ध्यान जब परिपक्व हो कर ध्येय के आकार में परिणत होता है तब चित्त की वृत्ति विद्यमान रहती हुई भी अविद्यमान सी लगती हैं, इसी अवस्था को समाधि कहते हैं। प्रारंभ में सबीज समाधि होती है, पश्चात् निर्बीज अवस्था की प्राप्ति होने पर पुरुष की अपने स्वरूप में स्थिति रहती है। परमात्मा से अपने को दूर समझने वाला जीवात्मा जिन साधनों के द्वारा पुनः उससे युक्त हुआ अपने को समझने लगता है उन्हीं साधनों को वस्तुतः योग कहते हैं। वह योग चार प्रकार का है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग।[1]

योगसाधन के छह उपाय हैं—"उत्साहात् साहसात् धैर्यात् तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात्। जनसङ्गपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्धयति॥" अब ज्ञान को बताते हैं—'गुणेति।' यहां गुण का अर्थ है बुद्धितत्त्व। अन्यता का अर्थ है तत्प्रतियोगिक भेद। पुरुष, बुद्धि से भिन्न है—इस प्रकार निश्चय हो जाना ही ज्ञान है। वैराग्य को बताते हैं—'विराग' इति। वैराग्यं—रागाभावः, राग का न होना ही वैराग्य है। 'आसक्तिलक्षणोरागः', 'पुनः पुनर्विषयानुरञ्जनेच्छा रागः' आदि राग के लक्षण प्रशस्तपादभाष्यादि में बताये हैं। इसी के अनुरोध से प्रशस्तपाद ने वैराग्य का लक्षण "दोषदर्शनाद् विषयत्यागेच्छा वैराग्यम्" किया है। न्यायवार्तिककार ने भी—"भोगानभिषङ्गो वैराग्यम्" बताया है। इसी को ध्यान में रखकर साम्प्रदायिक विद्वान् कहा करते हैं—ऐहिक, आमुष्मिक विषयों में दोषदृष्टि करने से निःस्पृह हुए व्यक्ति का जो विमर्श—ये विषय मेरे वशवर्ती हैं, मैं इनके वश नहीं हूँ—उसे वैराग्य कहते हैं। उस वैराग्य के चार भेद हैं, जो—प्राचीन सांख्याचार्यों को सम्मत हैं।

तस्य-यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा—इति चतस्रः संज्ञाः। रागादयः कषायाश्चित्तवर्तिनः, तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्यन्ते। तन्माऽत्र प्रवर्तिषत विषयेष्विन्द्रियाणीति तत्परिपाचनायारम्भः प्रयत्नो यतमानसंज्ञा। परिपाचने चानुष्ठीयमाने केचित्कषायाः पक्वाः, पक्ष्यन्ते च केचित्, तत्रैवं

(१४६) विरागस्य यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियत्ववशीकाररूपाश्चतस्रः संज्ञाः।

---

१. १ मंत्रयोग :—यह दृश्यमान संसार नामरूपात्मक है, इसमें आसक्त हुआ जीव, बद्ध हो जाता है। चित्त की वृत्तियां भी नाम, रूप का ही अवलम्बन कर चित्त को चञ्चल कर देती हैं। उन चित्तवृत्तियों के निरोधार्थ मन्त्रजपात्मक क्रियाएँ जो शास्त्रों में बताई गयीं हैं, उन जपात्मक क्रियाओं को ही 'मन्त्रयोग' कहा जाता है।

२ हठयोग :—स्थूल शरीर का प्रभाव सूक्ष्मशरीर पर समानरूप से पड़ता है, इसलिए यह स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर का ही एक परिणाम है। स्थूल शरीर का अवलंबन कर उसका सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालकर चित्तवृत्ति की निरोधक समस्त क्रियाओं को 'हठयोग' कहते हैं।

३ लययोग :—यह पिण्ड, व्यष्टिशरीर रूप है, और ब्रह्माण्ड, समष्टि सृष्टि रूप है। ये दोनों समष्टि–व्यष्टि के सम्बन्ध से एक ही है। दोनों को एक समझकर उसमें व्यापक रूप से रहने वाले प्रधानपुरुष और प्रकृतिशक्ति का अपने शरीरस्थित पुरुष में लीन कराने की शैली को तथा उसके साधनों को 'लययोग' कहते हैं।

४ राजयोग :—मन की क्रियाएँ मनुष्य को बांधती हैं और बुद्धि की क्रियाएँ उसको मुक्त कराने में सहायक होती हैं। "जीवः अज्ञानात् बध्यते, विद्यया तु मुच्यते" यह शास्त्रसिद्धान्त है। बुद्धि की क्रियाओं के विचार द्वारा चित्तवृत्तियों के निरोध करने की पद्धति को "राजयोग" कहते हैं।

पूर्वापरीभावे सति पक्ष्यमाणेभ्यः कषायेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकेणावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा । इन्द्रियप्रवर्तनाऽसमर्थतया पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थापनमेकेन्द्रियसंज्ञा । औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिरुपस्थितेष्वपि दृष्टानुश्रविकविषयेषु, या संज्ञात्रयात् पराचीना सा वशीकारसंज्ञा । यामत्रभगवान् पतञ्जलिर्वर्णयाञ्चकार—"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" इति [योगसूत्र-१।१५] । सोऽयं बुद्धिधर्मो विराग इति ॥

चार भेदों के नाम—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा। उनमें से प्रथम यतमानसंज्ञा को बताते हैं—"रागादयः कषाया इति"। कषाय का अर्थ है—मल। मंजीठ की तरह रागादि भी चित्त को रंग देते हैं इसलिये रागादि, कषाय कहे जाते हैं। राग = विषयाभिलाष, चित्त में रहने वाले रागादि मल इन्द्रियों को अपने अपने विषयों में प्रेरित करते हैं। जिस विषय को ग्रहण करने की योग्यता जिस इन्द्रिय में हो उसे उसी विषय में प्रवृत्त कराया जाता है। जैसे रूपग्रहण में चक्षुरिन्द्रिय को। दोष ही प्रवर्तनाकारक (प्रवर्तक) होते हैं। अक्षपाद कहते हैं—"प्रवर्तनालक्षणा दोषाः" (न्या. सू. १।१।१८)। राग, द्वेष, ईर्ष्या, परापकारचिकीर्षा, असूया, अमर्ष आदि राजस-तामसरूप छह धर्म चित्त में विक्षेप पैदाकर उसे कलुषित करते है, इसलिये ये रागादि छह चित्तमल कहे जाते हैं। इन छह चित्तमलों के कारण चित्त में छह प्रकार की कलुषता पैदा होती है। जैसे—रागकालुष्य, द्वेषकालुष्य, ईर्ष्याकालुष्य, परापकारचिकीर्षाकालुष्य, असूयाकालुष्य, अमर्षकालुष्य। ये रागादिमल इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त न कर सकें, इसलिये उनके परिपाचनार्थ (रागादिमलों के प्रक्षालनार्थ) मैत्री, करुणा आदि की भावना का अनुष्ठान रूप जो यत्न है उसी को यतमानसंज्ञक वैराग्य कहते हैं। सुखोपभोग सम्पन्न व्यक्तियों में मैत्री भावना करने से केवल रागमल की ही निवृत्ति नहीं होती बल्कि असूया-ईर्ष्या आदि मलों की भी निवृत्ति हो जाती है। गुणों में दोषों का आविष्करण करना ही असूया है और दूसरों के गुणों को सहन न करना ही ईर्ष्या है। अतः मित्रता के कारण परसुख को जब अपना ही समझने लग जाय तब परगुणों में असूयादि दोषों का पैदा होना कैसे संभव होगा ? दूसरी संज्ञा को बताते हैं—"परिपाचन इति।" रागादि मलों के प्रक्षालन के लिये मैत्री आदि की भावना करते समय चिकित्सक की तरह यह विवेचन करना कि इतने मल शान्त (निवृत्त) हुए और इतने अभी शान्त होने हैं। पश्चात् अवशिष्ट दोषों के शान्त (निवृत्त) होने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे व्यतिरेक संज्ञक वैराग्य कहते हैं। अब तृतीय संज्ञा को बताते हैं—"इन्द्रियेति।" कृशता के कारण बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्तिके कराने में असमर्थ होकर रागादिमलोंका केवल चित्त की तृष्णारूप में रहना ही एकेन्द्रिय वैराग्य कहा जाता है। निवृत्त हुए मल, इन्द्रियों को अपने अपने विषयों में जब प्रवृत्त नहीं करा पाते, तब वे केवल चित्त में अवस्थित होकर विषयों के प्रति कुछ कुछ उत्कण्ठित से होते रहते हैं, इसी अवस्था को एकेन्द्रिय संज्ञक वैराग्य कहते हैं। चौथी संज्ञा को बताते हैं—"औत्सुक्यमात्रस्यापीति।" स्रक्, चन्दन, ललना, अन्न-पान आदि लौकिक विषय और वेदवर्णितस्वर्गादिविषयों की उपस्थिति रहने पर भी तद्विषयक जो उपेक्षा उसे वशीकारसंज्ञक वैराग्य कहते हैं। यह वशीकारसंज्ञक वैराग्य, उपर्युक्त तीन प्रकार के—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रियसंज्ञक-वैराग्यों के पश्चात् होने वाला है। अपने विवेकबल से समस्त दिव्य-अदिव्य विषयों के प्रति उपेक्षा करने से उनके प्रति उत्कण्ठा

(१४६) वैराग्य के यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, वशीकार ये चार नाम हैं।

(तृष्णा) का भाव भी निवृत्त हो जाता है इसी अवस्था को वशीकार वैराग्य कहते हैं, यह वैराग्य की चौथी अवस्था है।

योगदर्शन में यद्यपि वशीकारसंज्ञक एक ही वैराग्य बताया गया है, यतमानादि तीन वैराग्यों को नहीं। तथापि पूर्वोक्त तीन वैराग्यों के विना वशीकारवैराग्य का होना संभव ही नहीं। तीन वैराग्यों के पश्चात् ही वशीकारवैराग्य का उदय होता है, अतः वशीकारसंज्ञक वैराग्य के कथन से ही पूर्वभावी तीन वैराग्य सूचित होते हैं। श्री वाचस्पति मिश्र ने "पराचीना" कहकर यतमानादि तीन वैराग्यों का वर्णन किया जाना उचित ही है, यह सूचित किया है।

इस चतुर्थ वशीकार वैराग्य में प्रमाण बताते हैं—"यामिति।" जिस वशीकारसंज्ञक वैराग्य को सूत्र के रूप में पूजनीय भगवान् पतञ्जलि ने बताया है। पतन्त्यः अञ्जलयः यत्रेति पतञ्जलिः अर्थात् शेषावतार पतञ्जलि नामक महर्षि। वह सूत्र इस प्रकार है—"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।" स्त्री, चन्दन, स्रक्, अन्नपानादि लौकिक विषय और स्वर्गादि अलौकिक विषय अर्थात् दिव्य-अदिव्य विषयों को उनकी परिणामविरसता के कारण दुःखरूप समझकर तत्तद् विषयों के उपस्थित रहने पर भी उनके प्रति तृष्णारहित हुए योगमार्ग के पथिक अधिकारी पुरुष की जो हेयोपादेयशून्य चित्तस्थिति अर्थात् उपेक्षाभाव, उसी का नाम वशीकार संज्ञा वैराग्य है। वह चार प्रकार का वैराग्य (विराग) बुद्धि का धर्म है।

(१४७) ऐश्वर्यनिरूपणे अष्टसिद्धिनिरूपणम्।

ऐश्वर्यमपि बुद्धिधर्मो, यतोऽणिमादिप्रादुर्भावः। (१) तत्राणिमाऽणुभावो, यतः शिलामपि प्रविशति। (२) लघिमा लघुभावः, यतः सूर्यमरीचीनालम्ब्य सूर्यलोकं याति। (३) गरिमा गुरुभावः, यतो गुरुर्भवति। (४) महिमा महतो भावः, यतो महान् भवति। (५) प्राप्तिः, यतोऽङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम्। (६) प्राकाम्यमिच्छानभिघातो यतो, भूमावुन्मज्जति निमज्जति च यथोदके। (७) वशित्वम्, यतो भूतभौतिकं वशीभवत्यवश्यम्। (८) ईशित्वम् यतो भूतभौतिकानां प्रभवस्थितिः यानामीष्टे। यच्च कामावसायित्वं सा सत्यसङ्कल्पता, येन यथाऽस्य सङ्कल्पो भवति भूतेषु तथैव भूतानि भवन्ति, अन्येषां-मनुष्याणां निश्चेतव्यमनुविधीयन्ते, योगिनस्तु निश्चेतव्याः पदार्थाः निश्चयम्। इति चत्वारः सात्त्विका बुद्धिधर्माः॥

(१४७) ऐश्वर्य निरूपण के प्रसंग में अष्ट सिद्धियों का निरूपण।

अब ऐश्वर्य की व्याख्या करते हैं—"ऐश्वर्यमपीति।" जिस ऐश्वर्यसंज्ञक बुद्धि-धर्म से अणिमादि सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। अणिमादि-पदार्थों को बताते हैं—"तत्राणिमेति। आदि शब्द से अन्य ऐश्वर्य भी ग्राह्य हैं। उनमें से—१. अणिमारूप ऐश्वर्य की व्याख्या करते हैं—अणोर्भावः अणिमा, अणु शब्द से इमनिच् प्रत्यय किया है। इसी अभिप्राय से कौमुदीकार कहते हैं—अणुभावः, स्थूलकाय पुरुष भी परमाणु की तरह अणु हो जाता है। जिस अणुभाव से अर्थात् अणिमसिद्धि की प्राप्ति से छिद्ररहित पाषाण में भी वह प्रवेश पा लेता है। २—लघिमा पदार्थ को बताते हैं—लघिमा का अर्थ है लघुभाव। लघोर्भावः लघिमा, लघु शब्द से इमनिच् प्रत्यय किया है। इस लघिमा के प्रभाव से सूर्यकिरणों

को हाथों से पकड़कर स्वर्ग तक पहुँच पाता है। अर्थात् रुई की तरह हलका शरीर हो जाता है और ऊंचे से ऊंचा उड़ने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। ३—गरिमा की व्याख्या करते हैं—गुरोर्भावः गरिमा, गुरु शब्द से इमनिच् प्रत्यय किया है। गरिमा का अर्थ है गुरुभाव। गरिमा के प्रभाव से योगी का वजन अत्यन्त गुरु भी हो सकता है। ४—महिमापदार्थ को बताते हैं—महतो भावः महिमा। महत् शब्द से इमनिच् प्रत्यय। जिस महिमा के प्रभाव से लघु (तनु) परिमाणवाला भी पर्वतादि के समान शरीरवाला हो जाता है। ५—प्राप्ति पदार्थ को बताते हैं—दूर, दूरतर स्थित पदार्थों को भी समीप लाने की शक्ति को प्राप्ति कहते हैं। अर्थात् सभी पदार्थों का सन्निध हो जाना। इस प्राप्तिरूप ऐश्वर्य की महिमा से भूमि पर स्थित होता हुआ भी दो लाख योजन (चार कोस का एक योजन) दूरीपर स्थित चन्द्रमा को अपनी अंगुलि के अग्रभाग से स्पर्श कर लेता है। ६—प्राकाम्यपदार्थ को बताते हैं—प्रकामस्य = यथेप्सितस्य भावः—प्राकाम्यम्। प्रकाम शब्द से ष्यञ् प्रत्यय किया है। प्राकाम्य का अर्थ है इच्छा का अभिघात न हो पाना, अर्थात् इच्छा का सदा सर्वत्र सफल होना। इस प्राकाम्य के प्रभाव से योगी का स्वरूप, भूमि के काठिन्यादि धर्मों से कभी अभिहत नहीं होता। वह योगी जल की तरह भूमि फोड़कर भी निकलता है और जल में डूबने के समान भूमि में प्रविष्ट भी हो जाता है। अर्थात् जल में निमज्जन, उन्मज्जन की तरह वह भूमि में भी निमज्जन, उन्मज्जन करलेता है। ७–वशित्व पदार्थ को बताते हैं—"भूतेति।" वशित्व के प्रभाव से भूत (सूक्ष्म और स्थूल) और भौतिक (स्थावर, जंगम देह) इस योगी की इच्छा का अनुवर्तन करते हैं। अवश्यम् अर्थात् दूसरों के अधीन न रहनेवाले ये भूत, भौतिक, योगी के अधीन रहते हैं। ८—ईशित्व की व्याख्या करते हैं—"यतो भूतभौतिकानामिति।" ईशिनः = प्रभोः भावः, ईशित्वम्। पृथिव्यादि भूतपदार्थ, और गोघटादि भौतिकपदार्थों के प्रभव, व्यूह, व्यय (उत्पाद, यथावत् अवस्थापन, नाश) करने में योगी समर्थ रहता है। ईशित्व को ही प्रकारान्तर से कहते हैं "यच्च कामावसायित्वमि"ति। कामावसायिता को ही सत्यसंकल्पता कहते हैं। कामान् अवसातुं शीलं येषां तत्त्वम्—यह व्युत्पत्ति है। अर्थात् मुझे यह करना है अथवा मुझे ऐसा होना है इत्यादि संकल्पों को सत्य करने का है स्वभाव जिनका ऐसे योगी में कामावसायिता रहती है। इस सत्यसंकल्पता के प्रभाव से यह योगी तन्मात्राओं में जैसी इच्छा करता है अर्थात् विष भी अमृत का काम करे ऐसी इच्छा यदि करता है तो वे तन्मात्राएँ वैसी ही हो जाती हैं अर्थात् विष भी अमृत हो जाता है। शंका—यदि योगी इतना स्वतंत्र सामर्थ्य सम्पन्न है तो चन्द्र को सूर्य और अमावास्या को पूर्णिमा क्यों नहीं बनाता? समाधान—इतनी स्वतन्त्र सामर्थ्य रखता हुआ भी योगी परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करना नहीं चाहता। शंका—यदि योगी परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करना नहीं चाहता तो उसमें और साधारण मनुष्य में अर्थात् योगी और भोगी में क्या अन्तर है? समाधान—जो योगी नहीं हैं अर्थात् साधारण लोगों के निश्चय (ज्ञान), निश्चेतव्य (ज्ञेय) पदार्थ के अधीन होते हैं। किन्तु योगियों के निश्चय (ज्ञान), ज्ञेय पदार्थ के अधीन नहीं हुआ करते, बल्कि वस्तुओं (विषयों) को योगी के ज्ञान के अनुरूप होना पड़ता है। इसी आशय को महाकवि भवभूति ने पद्य के द्वारा प्रकट किया है—

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥

साधारण लोगों के ज्ञान, विषय के अधीन होते हैं किन्तु असाधारण योगियों के ज्ञान के अधीन विषय होते हैं। उनकी इच्छामात्र से विष, अमृत होता है और अमृत भी विष हो जाता है।

(१४८) बुद्धेस्तामसा धर्माः अधर्मादयः ॥

तामसास्तु तद्विपरीता बुद्धिधर्माः। अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याभिधानाश्चत्वार इत्यर्थः ॥ २३ ॥

इस प्रकार ये चार—धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य-सत्त्वांशमात्रजन्य हैं, ये बुद्धि के गुण (धर्म) हैं। तामसधर्मों को बताते हैं—'तामसास्त्विति ।' तमोंशमात्रजन्य और तद्विपरीत अर्थात् धर्म, ज्ञान आदि के विपरीत अधर्म, अज्ञान, अविराग, अनैश्वर्य हैं, ये बुद्धि के तामस धर्म हैं ॥ २३ ॥

(१४८) अधर्मादि, बुद्धि के तामसधर्म हैं

अहङ्कारस्य लक्षणमाह—

अहंकार का लक्षण कहते हैं—

अभिमानो ऽहङ्कारः, तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ २४ ॥

अन्व०—अभिमानः—अहङ्कारः, तस्मात् द्विविधः सर्गः प्रवर्तते, एकादशकश्च गणः, तन्मात्रपञ्चकश्चैव ।

भावार्थः—अभिमानरूप धर्म और अहंकाररूप धर्मी दोनों में अभेद विवक्षा करके 'अभिमानोऽहङ्कारः' कहागया है। वास्तविक अर्थ यह है—अभिमानवान्—अहंकारः। अभिमानवत्वम्—अहंकारस्य लक्षणम्। तस्मात् = उस अहंकाररूप उपादानकारण से। द्विविधः = दो प्रकार का सर्ग = सृष्टितत्त्व। प्रवर्तते = प्रकट होता है। वह सृष्टितत्त्व इस प्रकार है—एकादशको गणः = मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, ये ग्यारह इन्द्रियां। और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पांच सूक्ष्मतन्मात्राएँ।

(१४९) अहङ्कारस्य लक्षणम् ॥

"अभिमान" इति । 'अभिमानोऽहङ्कारः' । यत् खल्वालोचितम्मतं च तत्र 'अहमधिकृतः', 'शक्तः खल्वहमत्र', 'मदर्था एवामी विषयाः', 'मत्तो नान्योऽत्राधिकृतः कश्चिदस्ति', 'अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमानः सोऽसाधारणव्यापारत्वादहङ्कारः । तमुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति-'कर्तव्यमेतन्मया' इति निश्चयं करोति ॥

अभिमानोऽहङ्कारः, 'अहमस्मि' = मैं हूँ-इत्याकारक ज्ञान (अभिमान) को अहंकार कहते हैं। जिस वस्तु या कार्य को बाह्येन्द्रियों से देखा पश्चात् 'मतं च' = मन के द्वारा विशेषरूप से सोचा, 'तत्र' = उस वस्तु या कार्य में मैं अधिकृत अर्थात् समर्थ हूँ यह वस्तु या यह कार्य मेरा उपकारक है, मेरे अतिरिक्त कोई अन्य इसका अधिकारी नहीं है, मैं ही इसका अधिकारी हूँ इस प्रकार का जो अभिमान (ज्ञानविशेष) वह बुद्धि का असाधारण व्यापार (वृत्ति) होने से अहंकार का लक्षण है। 'अहम्' मैं इत्याकारक ज्ञान जिससे होता है उसे अहंकार कहते हैं। 'तमुपजीव्य' = अभिमान वृत्ति वाले अहंकार का आश्रय कर बुद्धि अपना अध्यवसायरूप व्यापार करती है। अध्यवसाय का स्वरूप बताते हैं—'कर्तव्यमिति'। 'एतत्कार्यं मया कर्तव्यम्', अर्थात् मत्कृतिविषयमेतत् = यह कार्य मुझे करना है।

(१४९) अहंकार का लक्षण

तस्य कार्यभेदमाह—"तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः" इति। प्रकारद्वयमाह "एकादशकश्च गणः" इन्द्रियाह्वयः, तन्मात्रपञ्चकश्चैव। द्विविध एव सर्गोऽहङ्कारात्, न त्वन्य इति 'एव'—कारेणावधारयति ॥ २४ ॥

(१५०) अहङ्कारस्य कार्यभेदाः।

कौमुदीकार उस अहंकार के कार्यभेद = सर्गभेद को बताते हैं—'तस्मादिति'। उस अहंकार से दो प्रकार का एक इन्द्रियजातीय और दूसरा तन्मात्रजातीय कार्य (सर्ग) प्रादुर्भूत होता है। द्विविध प्रकार बताते हैं - 'एकादशकः गणः'—एकादश परिमाणमस्य इति एकादशकः, गणः = समुदायः, अर्थात् मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण-वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ आदि इन्द्रियां और 'तन्मात्रपञ्चकश्चैव' इति। तन्मात्राणां पञ्चकः अर्थात् पांचसंख्यावाला गण = सूक्ष्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक पांच तन्मात्राएँ = सूक्ष्मतन्मात्राएँ। कारिका में आये हुए 'एव' का अर्थ करते हैं—'द्विविध एवेति' यहां 'एव' का अर्थ अन्ययोग-व्यवच्छेद है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियजातीय और तन्मात्रजातीय के अतिरिक्त जो सर्ग है वह अहंकारनिष्ठ-उपादानता-निरूपित साक्षादुपादेय नहीं है अर्थात् उस अतिरिक्त सर्ग का उपादानकारण अहंकार नहीं है ॥ २४ ॥

(१५०) अहंकार के विभिन्न कार्य

स्यादेतत्-अहङ्कारादेकरूपात्कारणात्कथं जडप्रकाशकौ गणौ विलक्षणौ भवत इत्यत आह—

अब 'सात्त्विक एकादशकः'—कारिका को उपस्थित कराने के लिये आशंका कर रहे हैं कौमुदीकार 'स्यादेतत्' इति। 'एतत् उपपद्येत', अर्थात् एकरूप अहंकार से यानी अहंकारत्व रूप एक धर्मवाले अहंकारसंज्ञक उपादानकारण से विलक्षण धर्म = विरुद्ध धर्मवाले (जडत्व धर्मवाले तन्मात्रतत्त्व और प्रकाशकत्वधर्मवाले इन्द्रियों के) दो समुदाय कैसे प्रकट हुए? यह आशंका की जा सकती है।

इस आशंका का समाधान करने के लिये पचीसवीं कारिका उपस्थित की जा रही है—

'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः, तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

अन्व०—वैकृतात् अहंकारात् सात्त्विकः एकादशकः प्रवर्तते। भूतादेः तन्मात्रः प्रवर्तते, सः तामसो (भवति) तैजसात् उभयं (प्रवर्तते)।

भावार्थ—वैकृतात्[1] = वैकृतसंज्ञक—सात्त्विक (सत्त्वगुणविशिष्ट)—अहंकारात् = अहंकार से, सात्त्विकः = सत्त्वांशप्रचुर, एकादशकः = ग्यारह इन्द्रियों का समुदाय प्रकट होता है। भूतादेः = भूतादिसंज्ञक—तमोगुणविशिष्ट यानी तामस—अहंकार से, तन्मात्रः = तन्मात्र समूह प्रकट होता है। तन्मात्रसमूह तामस होने से वह तामस अहंकार से जन्य है। और राजस अहंकार का कोई स्वतन्त्र कार्य नहीं है, अतः तैजसात् = राजस अहंकार से उभयम् = सात्त्विक एकादश इन्द्रियाँ और तामस तन्मात्राएँ ये दोनों प्रकट होती हैं। तात्पर्य यह है कि सात्त्विक

१. जब अहंकार में सत्त्व के द्वारा रजस्तमोगुण अभिभूत हुए रहते हैं तब उस अहंकार को सात्त्विक कहते हैं, उस सात्त्विक अहंकार की संज्ञा पूर्वाचार्यों ने 'वैकृत' रक्खी है।

निष्क्रिय होने से वह इन्द्रियों के उत्पादन में तैजस अहंकार की सहायता चाहता है। उसी प्रकार तामस अहंकार भी स्वयं निष्क्रिय होने से वह भी तन्मात्राओं के उत्पादन में क्रियाशील तैजस अहंकार की सहायता चाहता है।

"सात्त्विक" इति। प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विको वैकृतात्सात्त्विकादहङ्कारात्प्रवर्तते। भूतादेस्त्वहङ्कारात्तामसात्तन्मात्रो गणः प्रवर्तते। कस्मात्? यतः 'स तामसः'। एतदुक्तम्भवति 'यद्यप्येकोऽहङ्कारस्तथाऽपि गुणभेदोद्भवाभिभवाभ्यां भिन्नं कार्यं करोतीति॥

(१५१) एक रूपस्याप्यहङ्कारस्य गुणभेदाद्विकारभेदाः—सत्त्वादिन्द्रियगणः, तामसात्तन्मात्रगणः॥

इस उक्ति के अनुसार इन्द्रियसमुदाय, प्रकाश और लघुत्व का आश्रय होने से सात्त्विक कहा गया है। इसी अभिप्राय से कौमुदीकार कहते हैं—"प्रकाशलाघवाभ्यामिति।"—इस ग्रन्थ से इन्द्रियों की सात्त्विकता में उपपत्ति बता दी। अहंकाररूप कारण की सात्त्विकता के बिना इन्द्रियसमुदायरूप कार्यकी सात्त्विकता संभव नहीं। अतः कार्य की सात्त्विकता से कारण की सात्त्विकता स्पष्ट हो रही है। इसी अभिप्राय से कौमुदीकार कहते हैं—"वैकृतादिति।" जब अहंकार में रज और तम को अभिभूत कर सत्त्व का समुद्भव होता है उस समय के अहंकार को प्राचीन विद्वानों ने 'वैकृत' नाम से कहा है। इसलिये 'वैकृतात्' की व्याख्या 'सात्त्विकात्' करते हैं। अर्थात् 'रजस्तमोऽभिभवेन सत्त्वसमुद्रेकविशिष्टात्।' रजोगुण, तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण की अधिकता से विशिष्ट हुए अहंकार से ग्यारह इन्द्रियां होती हैं। और भूतसर्ग (सृष्टि) की पूर्वावस्थावाले अहंकार से अर्थात् तामस अहंकार से तन्मात्राएं होती हैं। भूतसृष्टि के पूर्व अहंकार में सत्त्व और रज को अभिभूत कर तम की अधिकता रहती है, इस कारण प्राचीन विद्वानों ने भूतसृष्टि की पूर्वावस्था वाले अहंकार को 'भूतादि' नाम (संज्ञा) दिया है। अर्थात् सांख्यशास्त्र में तामस अहंकार को "भूतादि" कहते हैं। तन्मात्रो गणः = तन्मात्राणि सन्ति अस्मिन् गणे इति तन्मात्रो गणः। 'तन्मात्रा + अच्—'अर्श आदिभ्योऽच्' इति।

(१५१) अहंकार का रूप एक रहने पर भी उस विभिन्न गुण के कारण विभिन्न विकार होते हैं—अहंकार के सत्त्वांश से इन्द्रियगण और तामस अंश से तन्मात्रगण होते हैं।

शंका—तन्मात्रगण की सृष्टि के पूर्व अहंकार की तामसता का अनुमान कैसे किया गया? यह शंका 'कस्मात्' से की गई।

समाधान—सः तामसः = वह अर्थात् तन्मात्रगण तमोगुणप्रचुर होता है क्योंकि उसमें गुरुत्व एवं अप्रकाशकत्व रहता है।

कौमुदीकार निष्कर्ष बताते हैं—'एतदुक्तं भवति' इति। अहंकार त्रिगुणात्मक होने पर भी उसमें जब तमोगुण के अभिभूत होने से सत्त्व का उद्रेक रहता है तब उससे इन्द्रियगण पैदा होता है, और तमोगुण से जब सत्त्व तिरोहित (अभिभूत) होता है, तब उससे (अहंकार से) तन्मात्रगण होता है। 'गुणभेदोद्भवाभिभवाभ्याम्'—उद्भवः = गुणान्तराभिभवेन उद्गमः, अभिभवः = गुणान्तरेण तिरोहितत्वम्, ताभ्याम्। जब अहंकार में सत्त्व और तम को अभिभूत कर रजोगुण की अधिकता रहती है तब उस अहंकार को "तैजस" कहते हैं। एवं च सांख्यशास्त्र में राजस अहंकार को "तैजस" कहते हैं।

ननु यदि सत्त्वतमोभ्यामेव सर्वं कार्यं जन्यते तदा कृतमकिञ्चित्करेण रजसेत्यत आह—"तैजसादुभयम्" इति। तैजसाद्राजसादुभयं गणद्वयं भवति, यद्यपि रजसो न कार्यान्तरमस्ति तथाऽपि सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये समर्थे अपि न स्वस्वकार्यं कुरुतः; रजस्तु चलतया ते यदा चालयति तदा स्वकार्यं कुरुत इति। तदुभयस्मिन्नपि कार्ये सत्त्वतमसोः क्रियोत्पादनद्वारेणास्ति रजसः कारणत्वमिति न व्यर्थं रज इति ॥ २५ ॥

(१५२) सत्त्वतमसोः प्रवर्तकतया रजसः सार्थकता ॥

शंका—सात्त्विक तथा तामस अहंकार से सृष्टि के होने में रजोगुण की गौणता (अप्रधानता) स्पष्ट है, अर्थात् सत्त्व और तम दोनों से ही आहंकारिक समस्त कार्य (इन्द्रिय और तन्मात्रादि) यदि पैदा होते हैं तो अकिंचित्कर ऐसे रजोगुण से क्या लाभ ? निष्कर्ष यह है कि अहंकार में राजस अंश का स्वीकार करना व्यर्थ है।

अकिञ्चित्करेण = किञ्चिदपि न करोति इति अकिञ्चित्करः = अकारणः, अन्यथासिद्ध इत्यर्थः।

समाधान—"तैजसादुभयमिति।" तैजस = राजस अहंकार से उभय = गणद्वय (इन्द्रियगण—तन्मात्रगण) रूप कार्य होता है। रजोगुण किसी राजस-स्वतंत्र कार्य का जनक न रहने पर भी गणद्वय (दो गणों) के सर्जन में प्रयोजक होने से उसे अन्यथासिद्ध नहीं कहा जा सकता। इसी अभिप्राय को "यद्यपि" ग्रन्थ से व्यक्त करते हैं। रजोगुण का राजसत्वावच्छिन्न, सात्त्विक, तामसगण से भिन्न कोई कार्य नहीं है, तथापि सत्त्वगुण और तमोगुण स्वयं अक्रिय = प्रवृत्तिशील न होने से स्वकार्यानुकूल शक्ति रहने पर भी रजोगुण की सहायता के बिना अपने २ कार्य को पैदा नहीं कर सकते। किन्तु रजोगुण चलस्वभाव वाला होने से वह जब सत्त्व—तम को प्रेरित करता है तब वे अपना अपना कार्य (सात्त्विक, तामस) कर पाते हैं। इस प्रकार रजोगुण में प्रवर्तकत्व रहने से सात्त्विक और तामस दोनों प्रकार के कार्यों के करने में सत्त्वगुण तथा तमोगुण की प्रवृत्ति कराकर रजोगुण दोनों का प्रयोजक (निमित्त) बनता है अतः उसे व्यर्थ या अन्यथासिद्ध नहीं कह सकते।

(१५२) सत्त्व और तम का प्रवर्तक होने से रजोगुण की सार्थकता

कुछ विद्वान् इस प्रकार व्याख्या करते हैं—सात्त्विक अहंकार से ग्यारहवां इन्द्रिय मन हुआ, राजस अहंकार से दोनों कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय। तामस अहंकार से तन्मात्राएं होती हैं। सम्पूर्ण प्रघट्टक का भाव यह है—

अहंकार में सत्त्व, रज, तम तीन गुण रहते हैं। उनमें जब सत्त्वगुण के द्वारा रजस्तमोगुण का अभिभव हो जाता है तब उस अहंकार की 'वैकृत' संज्ञा होती है, उस वैकृत अहंकार से (सात्त्विक अहंकार से) अर्थात् अहंकार, प्राधान्येन सत्त्वगुण की सहायता से एकादश इन्द्रियों को पैदा करता है। उत्कट सत्त्वप्रधान वाले अहंकार से 'मन' होता है, मध्यमसत्त्वप्रधान वाले अहंकार से ज्ञानेन्द्रियां, निकृष्टसत्त्वप्रधान वाले अहंकार से कर्मेन्द्रियां होती हैं। इसी कारण इन्द्रियों को सात्त्विक कहा जाता है।

जब तमोगुण के द्वारा सत्त्व, रजस् को अभिभूत (तिरस्कृत) किया जाता है तब उस अहंकार की 'भूतादि' संज्ञा होती है। तमोगुण की अधिकता से उस अहंकार को 'तामस' भी कहते हैं।

उस भूतादि अथवा तामस अहंकार से तत्समानस्वभाववाली शब्दादिपञ्चतन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं।

उसी प्रकार जब रजोगुण से सत्त्व तथा तमस् का अभिभव हो जाता है तब उस अहंकार की 'तैजस' संज्ञा होती है। उस तैजस अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्रायें दोनों उत्पन्न होती हैं। क्योंकि जब वैकृत अहंकार विकृत होकर एकादश इन्द्रियों को उत्पन्न करना चाहता है, उस समय वह निष्क्रिय होने से अपना कार्य करने में समर्थ नहीं रहता, इसलिये वह क्रिया-स्वभाववाले तैजस अहंकार की सहायता ग्रहण करता है, उसी प्रकार तामस अहंकार भी निष्क्रिय होने से तन्मात्र रूप कार्य पैदा करने में समर्थ नहीं रहता इसलिये वह भी तैजस अहंकार की सहायता लेता है। इस प्रकार वैकृत, भूतादि दोनों अहंकारों के साथ उन दोनों के कार्यों में सहायक बन जाने से यह तैजस अहंकार भी द्विविध कार्य का कारण बन जाता है॥ २५॥

सात्त्विकमेकादशमाख्यातुं बाह्येन्द्रियदशकं तावदाह—

सात्त्विक अहंकार का कार्य एकादश इन्द्रियां हैं—यह बताने के लिये प्रथमतः दश बाह्येन्द्रियों को कारिका के द्वारा बता रहे हैं—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥ २६॥

अन्वयः—चक्षुश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि बुद्धीन्द्रियाणि आहुः, वाक्-पाणि-पाद-पायूप-स्थानि कर्मेन्द्रियाणि आहुः।

भावार्थ—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक्—इन्हें 'बुद्धीन्द्रियाणि' ज्ञानेन्द्रिय, 'आहुः'—कहते हैं, और वाक्, पाणि (हाथ), पाद-(पैर), पायु-(गुदा), उपस्थ, इन्हें कर्मेन्द्रियाणि-कर्मेन्द्रिय, आहुः—कहते हैं।

(१५३) इन्द्रियदशकम् इन्द्रियलक्षणम् पद-व्युत्पत्तिश्च॥

"बुद्धीन्द्रियाणि" इति। सात्त्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्। तच्च द्विविधम् बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च। उभयमप्येतदिन्द्रस्यात्मनश्चिह्नत्वादिन्द्रियमुच्यते। तानि च स्वसंज्ञाभिश्चक्षुरादिभिरुक्तानि। तत्र रूपग्रहणलिङ्गं चक्षुः, शब्दग्रहणलिङ्गं श्रोत्रम्, गन्धग्रहणलिङ्गं घ्राणम्, रसग्रहणलिङ्गं रसनम्, स्पर्शग्रहणलिङ्गं त्वक्, इति ज्ञानेन्द्रियाणां संज्ञा। एवं वागादीनां कार्यं वक्ष्यति (कारिका २८)॥ २६॥

व्याख्या—"बुद्धीन्द्रियाणीति।" सांख्यशास्त्र के अनुसार इन्द्रिय का लक्षण बताते हैं—"सात्त्विकाहङ्कारोपादनकत्वम्।"

सत्त्वप्रधान अहंकार है उपादानकारण जिसका उसे इन्द्रिय कहते हैं। उस इन्द्रिय के दो भेद हैं—बुद्धीन्द्रिय = ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय = आदान-प्रदानादि-क्रियाओं को करने वाला। इन्द्रिय की व्युत्पत्ति बता रहे हैं—'उभयमप्येतदिति।' ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों ही 'इन्द्रिय' इसलिये कहलाते हैं कि वे इन्द्र = स्वामी-आत्मा-पुरुष के चिह्न = लिङ्ग = अनुमापक हैं। तथाहि—'शरीरम् आत्मवत्, सक्रियेन्द्रिय-वत्त्वात् अथवा चिह्नत्वात् = भोगस्य साधनत्वात्'। वे इन्द्रियां सब मिलकर दश हैं, जिनकी चक्षु

(१५३) इन्द्रिय लक्षण, दस इन्द्रियां और पद व्युत्पत्ति।

आदि संज्ञाएँ हैं। उनमें चक्षु इन्द्रिय का लक्षण—'रूपग्रहणलिङ्गत्वम्' = रूपविषयकज्ञानजनकत्वम्—रूपज्ञान करानेवाले को चक्षुरिन्द्रिय कहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का लक्षण—'शब्दग्रहणलिङ्गत्वम्' = शब्दविषयकज्ञानजनकत्वम्—शब्दज्ञान कराने वाले को श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं। घ्राणेन्द्रिय का लक्षण—'गन्धग्रहणलिङ्गत्वम्' = गन्धविषयकज्ञानजनकत्वम्—गन्धज्ञान कराने वाले को घ्राणेन्द्रिय कहते हैं। रसनेन्द्रिय का लक्षण—'रसग्रहणलिङ्गत्वम् = रसविषयकज्ञानजनकत्वम्—रसज्ञान कराने वाले को रसनेन्द्रिय कहते हैं। त्वगिन्द्रिय का लक्षण—'स्पर्शग्रहणलिङ्गत्वम्' = स्पर्शविषयकज्ञानजनकत्वम्—स्पर्शज्ञान कराने वाले को त्वगिन्द्रिय कहते हैं। इसी आधार पर अनुमान प्रयोग भी कर लेने चाहिये, जैसे -- 'रूपग्रहणं, करणजन्यं, क्रियात्वात्, छिदिक्रियावत्' इति। वागादि कर्मेन्द्रियों के कार्यों को "वचनादानविहरणोत्सर्गाऽऽनन्दाश्च पञ्चानाम्"—का० २८ के द्वारा आगे बतावेंगे। चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'चष्टे अनेन' इति चक्षुः, शृणोति अनेन इति श्रोत्रम्, 'जिघ्रति अनेन' इति घ्राणम्, 'रसयति अनेन' इति रसनम्, 'स्पृशति अनेन' इति स्पर्शः त्वक्, 'उच्यते अनेन' इति वचनं वाक्, 'पण्यते अनेन' इति पाणिः. 'पद्यते अनेन' इति पादः, 'पिबन्ति जलादिकम्' अनेन योगिन इति पायुः, उपतिष्ठते विषयार्थम् इति उपस्थम् ॥ २६ ॥

एकादशमिन्द्रियमाह—

पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रियों के अतिरिक्त जो इन्द्रिय है उसे 'मन' कहते हैं। इसे एकादश (ग्यारहवां) 'इन्द्रिय' बताया गया है।

उभयात्मकमत्र मनः, सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

अन्वयः—अत्र संकल्पकं मनः, उभयात्मकम् इन्द्रियं च साधर्म्यात्, नानात्वं गुणपरिणामविशेषात्, बाह्यभेदाश्च।

भावार्थः—अत्र = इन एकादश इन्द्रियों में से, मनः = मनःसंज्ञक, संकल्पकम् = इदमेवं, नैवम्—यह ऐसा है; ऐसा नहीं है—इस प्रकार संकल्प विकल्प करता है इसलिये 'संकल्पवत्त्वं' मनसो लक्षणम् = संकल्प, करने वाले को मन कहते हैं। वह 'मन' उभयात्मक है अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का प्रवर्तक होने से वह ज्ञानेन्द्रिय है और कर्मेन्द्रियों का प्रवर्तक होने से कर्मेन्द्रिय भी है।

प्रश्न—'मन' का इन्द्रियत्व कैसे सिद्ध है ?

उत्तर—'साधर्म्यादिति।' सात्त्विकाहङ्कारोपादनकत्वरूप धर्म जैसे अन्य इन्द्रियों में है, वैसे ही मन में भी है अर्थात् 'मन' और 'अन्यइन्द्रियों' में समान (एकसा) धर्म है, इसलिये 'मन' में इन्द्रियत्व सिद्ध होता है।

प्रश्न—एक सात्त्विक अहंकार से एक इन्द्रिय पैदा न होकर एकादश (ग्यारह) इन्द्रिय क्यों होती हैं ?

उत्तर—'गुणपरिणामविशेषात् नानात्वम्' इति। 'गुणानां परिणामः विशेषः तस्मात्' नानात्वम् = गुणों के अदृष्टविशेष से इन्द्रियों की अनेकता सिद्ध होती है। अर्थात् 'अदृष्टसहितशब्दबलात् अहंकारेण' श्रोत्रं जनितम्। 'अदृष्टसहितस्पर्शबलात्' त्वक् जनिता। इसी बात को पुष्ट करने के लिये दृष्टान्त देते हैं—'बाह्यभेदाश्च' जैसे-एक ही मिट्टी से अदृष्टविशेष के सहारे घट-पटादि भिन्न-भिन्न पदार्थ पैदा होते हैं।

"उभयात्मकम्" इति। अत्र एकादशस्विन्द्रियेषु मध्ये मन उभयात्मकम्, बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेः।

(१५४) मनसो बुद्धिकर्मोभयात्मकत्वसाधनम्।

कारिका की व्याख्या करने के हेतु कौमुदीकार कारिका का प्रतीक दे रहे हैं—'उभयात्मकमि'तीति। कारिका में स्थित 'अत्र' पद का अर्थ करते हैं—एकादशसु इन्द्रियेषु मध्ये इति। 'उभयात्मकम्' का अर्थ करते हैं—'बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं चेति।' 'मन' की उभयात्मकता में हेतु दे रहे हैं—'चक्षुरादीनामिति।' चक्षु, रसना, घ्राण, श्रोत्र और त्वक् तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ–इन पंच ज्ञानेन्द्रियों एवं पंच कर्मेन्द्रियों की, मन से सम्बद्ध होनेपर ही रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श तथा वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग, आनन्दात्मक अपने अपने विषयों में क्रमशः प्रवृत्ति हुआ करती है। भगवती श्रुति भी इसका समर्थन करती है—"अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्" इति। मनोव्यापार के बिना इन्द्रियां अपने-अपने व्यापार करने में—असमर्थ रहती हैं, अतः 'मन' उभयविध व्यापार वाला होने से उभयेन्द्रियरूप है। 'मन' की सहकारिता से ये उभय विध इन्द्रियां अपना-अपना कार्य संपादन कर पाती हैं, इससे 'मन' की उभयात्मकता सिद्ध होती है।

(१५४) मन की बुद्धि-कर्मोभयात्मकता का साधन

शंका—इन्द्रियों से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान में सहायक होनेमात्र से यदि 'मन' को इन्द्रिय कहा जा सकता है तो 'आलोक' (प्रकाश) को भी सहायक होने के कारण इन्द्रिय कहना चाहिये। आलोक (प्रकाश) यदि न हो तो इन्द्रियां (त्वक् और चक्षु) अपने-अपने विषय का ज्ञान नहीं कर पातीं। त्वक् और चक्षु, द्रव्य की भी ग्राहक होती हैं और अन्य इन्द्रियां केवल गुण की ग्राहक होती हैं।

समा०—"सात्त्विकाहङ्कार कार्यत्वे सति ज्ञानकर्मोभयकारणत्वेन मनस उभयेन्द्रियत्वम्"—सात्त्विक अहंकार का कार्य होते हुए ज्ञान, कर्मोभय का कारण होने से मन की उभयेन्द्रियता यहां विवक्षित है, अतः 'आलोक' को इन्द्रिय नहीं कहा जा सकेगा।

तदसाधारणेन रूपेण लक्षयति–"सङ्कल्पकमत्र मनः" इति। सङ्कल्पेन रूपेण मनो लक्ष्यते। 'आलोचितमिन्द्रियेण वस्त्विदम्' इति सम्मुग्धम् 'इदमेवम्, नैवम्' इति सम्यक्कल्पयति विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति यावत्।

(१५५) मनसो लक्षणम्–सङ्कल्पकम्, लक्षणसमन्वयश्च।

यदाहुः—

> सम्मुग्धं वस्तुमात्रं तु प्राग्गृह्णन्त्यविकल्पितम्।
> तत् सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः' ॥ इति ॥ तथाहि,
> अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमन्निर्विकल्पकम्।
> बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजमिति ॥
> ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
> बुद्ध्याऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥

सोऽयं सङ्कल्पलक्षणो व्यापारो मनसः समानासमानजातीयाभ्यां व्यवच्छिन्दन् मनो लक्षयति ॥

अब मन को उसके असाधारण धर्म के द्वारा बता रहे हैं—"तदसाधारणेनेति।"

(१५५) 'मन' का लक्षण- 'सङ्कल्पकम्', और लक्षण का समन्वय

असाधारण उसे कहते हैं जो तन्मात्रवृत्ति हो अर्थात् 'लक्ष्यमात्रवृत्तित्वे सति तदितरावृत्तित्वं'-तन्मात्रवृत्तित्वम्। मन का अपना असाधारण रूप (धर्म) क्या है ? उत्तर है—'लक्ष्यतावच्छेदक मनस्त्वसमनियत-संकल्पात्मकत्व'। निष्कर्ष यह निकला कि "संकल्पकं मनः" इति। इसका अर्थ बताते हैं—संकल्पेन रूपेण०" इत्यादि। अर्थात् 'इदमेवम्' 'नैवम्' इस प्रकार जो सम्यक् कल्पयति = अच्छीतरह समझता है उसे "मन" कहते हैं अतः 'मन' का लक्षण हुआ 'संकल्पवत्त्वम्'। 'लक्ष्यते = प्रतीयते (इतरभेदानुमितिविषयीक्रियते) अनेनेति लक्षणम्।' तथाहि—'मनः इतरभिन्नं संकल्पवत्त्वात्' इति। क्रमशः होनेवाले मानसिकव्यापारों को बताते हैं—'आलोचितमिति।' बाह्येन्दिय के द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला पदार्थ प्रथमतः 'इदं किञ्चित्' इत्याकारक सम्मुग्धरूप से ज्ञात होता है, अर्थात् उसका अनुवृत्त-व्यावृत्त रूप (सामान्यविशेष धर्म) अविविक्त (पृथक्-पृथक् नहीं) रहता है, उसके पश्चात् द्वितीय क्षण में 'इदम् एवम्'—जैसे घटः = घटत्ववान्, 'इदं नैवम्'-जैसे-'घटः-पटत्ववान् न', इस प्रकार से सम्यक् कल्पना करता है 'सम्यक्' का अर्थ करते हैं—'विशेषणविशेष्यभावेन अर्थात् धर्मधर्मिभावेन = धर्मधर्मिभाव की कल्पना करता है। 'कल्पयति' का अर्थ करते हैं—'विवेचयति' = विशिष्ट वृत्ति का (सविकल्पक ज्ञान का विषय बनाता है। तात्पर्य यह है कि पदार्थ का प्रथम 'निर्विकल्पक' पश्चात् 'सविकल्पक' प्रत्यक्ष होता है। इस पर प्राचीन विद्वानों की सम्मति बताते हैं—'यदाहुरिति।" 'मानसिकव्यापार' होने से पहिले अर्थात् केवल मनःसंयुक्तचक्षुःपात के पश्चात् तत्काल ही अविकल्पित (सामान्य—विशेषरूप से अनाकलित) ज्ञान होता है, उसी कारण वह ज्ञान, सम्मुग्ध अर्थात् अविविक्त (केवलवस्तुमात्र) 'इदम्' इत्याकारक पदार्थमात्र (वस्तुमात्र) को स्वीकार करता है। तात्पर्य यह है कि प्रथम दर्शन में लोगों को केवल वस्तु का ज्ञान होता है, पश्चात् मानसिक व्यापार शुरू होता है। तब अनुवृत्त-व्यावृत्त (सामान्य-विशेष) धर्म के सहित विवेचन पूर्वक उस वस्तु (पदार्थ) को समझते हैं। उस पदार्थ को अपनी मानसिक विशिष्ट-वृत्ति का विषय बनाते हैं। भाव यह है कि प्रथम क्षण में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तदनन्तर उसी वस्तु का सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसी अभिप्राय को मीमांसा सूत्र के भाष्य पर वार्तिक लिखने वाले कुमारिल भट्टपाद ने अपने श्लोकवार्तिक में विशद किया है—'अस्तीति।"

'अस्तिह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजम् ॥'

प्रथमं = चक्षुः संयोग होने के प्रथम क्षण में, मुग्धवस्तुजम् = अविविक्तवस्तुविषयक (जो) आलोचनज्ञानम् = प्रत्यक्षज्ञान होता है, (वह) निर्विकल्पकम् = प्रकारता-विशेष्यता-संसर्गताऽन्यतमविषयता निरूपकता से शून्य (रहित) होता है। इस तथ्य को हृदयंगम कराने के लिये लोक प्रसिद्ध एक अन्य निर्विकल्पक ज्ञान का दृष्टान्त दे रहे हैं—'बालमूकादिविज्ञानसदृशम्' इति। एक वर्ष से भी छोटे बच्चे को या जन्म से ही बधिर-मूक को, या घोरमूर्ख को धर्म-धर्मि विवेक

रहित ज्ञान होता है, ठीक उसके तुल्य ही यह निर्विकल्पक ज्ञान है। ततः परं पुनः (पुनस्ततः परम्) निर्विकल्पकज्ञान होने के बाद, यया बुद्ध्या = विशिष्टप्रत्यक्षात्मिका बुद्धिवृत्ति के द्वारा, जात्यादिभिर्धर्मैः = जातिविशिष्ट, गुणविशिष्ट, कर्मविशिष्ट अर्थात् विशेषण-विशेष्य-संसर्ग में से किसी एक से विशिष्ट हुई वस्तु (पदार्थ) का ज्ञान होता है। साऽपि = और वह विशिष्ट बुद्धि-वृत्ति, प्रत्यक्षत्वेन = विशिष्टप्रत्यक्षात्मिका है, उसे ही विद्वानों ने सविकल्पक स्वीकार किया है। इस प्रकार संकल्प का निर्वचन कर लक्षण समन्वय करते हैं—'सोऽयमिति।' यह जो मन का संकल्परूप व्यापार है वह अंतःकरण होने के नाते सजातीय बुद्धि आदि से और बाह्यकरण होने के नाते विजातीय चक्षुरादि से पृथक् करते हुए 'मन' का अनुमान कराता है 'मनः इतरभिन्नं संकल्पवत्त्वात्' इति।

(१५६) मनस इन्द्रियत्वसाधनम्—इन्द्रियैः सह सात्त्विकाहङ्कारोपादानत्वरूप साधर्म्यात् ॥

स्यादेतत्—असाधारणव्यापारयोगिनौ यथा महदहङ्कारौ नेन्द्रियम्, एवम्मनोऽप्यसाधारणव्यापारयोगि नेन्द्रियं भवितुमर्हतीत्यत आह—"इन्द्रियं च" इति। कुतः?—"साधर्म्यात्"। इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकाहङ्कारोपादानत्वं च साधर्म्यम् नत्विन्द्रलिङ्गत्वम्, महदहङ्कारयोरप्यात्मलिङ्गत्वेनेन्द्रियत्वप्रसङ्गात्, तस्माद्व्युत्पत्तिमात्रमिन्द्रलिङ्गत्वम् न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् ॥

(१५६) इन्द्रियों के साथ 'सात्त्विक अहंकारोपादनत्व' रूप समान धर्म के कारण 'मन' की इन्द्रियता का साधन

अब 'मन' के इन्द्रिय न होने की शंका करते हैं—'स्यादेतत्' इति। शंका—मन को इन्द्रिय मानने में क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में यदि यह कहें—'मनः, इन्द्रियम्, असाधारणव्यापारवत्त्वात् चक्षुर्वत्', तो ठीक न होगा, क्योंकि 'महत्तत्व' और 'अहंकार' में इन्द्रियत्वरूप साध्य का अभाव रहने पर भी 'स्वस्व असाधारणव्यापारवत्त्व' रूप हेतु के रहने से व्यभिचार है। महत्तत्त्व और अहंकार अपना २ असाधारण व्यापार (क्रम से अध्यवसाय और अभिमान) करते हैं, लेकिन वे इन्द्रिय नहीं कहलाते। इसलिये 'असाधारणव्यापारवत्त्वात्' हेतु व्यभिचारी है, इस व्यभिचरित हेतु से 'इन्द्रियत्व' रूप साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती। उत्तर देते हैं—"इन्द्रियं चे" ति। क्यों? "साधर्म्या" दिति। चक्षु का जो दृष्टान्त दिया है, तन्निष्ठ (चक्षुर्निष्ठ) असाधारणव्यापारवत्त्वरूप धर्म को हेतु बनाकर उससे मन की इन्द्रियता नहीं साध रहे हैं, बल्कि चक्षुर्निष्ठ 'सात्त्विक अहंकारोपादनकत्वरूप' जो समान धर्म है उसे हेतु बनाकर मन की इन्द्रियता को सिद्ध कर रहे हैं, अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ मन का जो 'सात्त्विकाहंकारोपादनकत्व'रूप साधर्म्य है, उससे सिद्ध होता है कि 'मन' इन्द्रिय है।

शंका—पहिले तो यह बताया था कि 'इन्द्रस्य = आत्मा का लिङ्गत्वात् = चिह्न या अनुमापक हेतु होने से उसे (मन को) इन्द्रिय कहते हैं। तथाहि—'इदं शरीरम् आत्मवत्, सक्रियेन्द्रियवत्त्वात्' इति। उसी प्रकार चक्षुरादि की तरह 'मनोऽपि इन्द्रियं इन्द्रलिङ्गत्वात्' इति। क्यों नहीं कहते?

समाधान—'नत्विन्द्रलिङ्गत्व'मिति। इन्द्रलिङ्गत्व से इन्द्रियत्व का साधन नहीं कर रहे हैं। क्योंकि बुद्धि, अहंकार में व्यभिचार होता है। व्यभिचारी हेतु को भी यदि साध्य का साधक मानलिया जाय तो क्या आपत्ति होगी? आपत्ति यह होगी कि महत्तत्त्व और अहंकार, आत्मा का

लिङ्ग होने से अहंकार और महत्तत्त्व (बुद्धि) को भी इन्द्रिय मानना होगा। तथाहि—'इदं शरीरम् आत्मवत् अहंकारवत्त्वात्, बुद्धिमत्त्वाद् वा' इस रीति से अहंकार और बुद्धि भी आत्मा के अनुमापक चिह्न हैं तो बुद्धि और अहंकार को भी इन्द्रिय कहना पड़ेगा।

शंका—पहिले बुद्धि आदि को आत्मा के चिह्न होने के कारण इन्द्रिय कैसे कहा ?

समा०—'इन्द्रलिङ्गत्व' व्यभिचारी होने से यह इन्द्रियत्व का साधक हेतु नहीं हो सकता, बल्कि वह तो व्युत्पत्तिमात्र है अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय के अर्थ का अन्वाख्यानमात्र है। उसे इन्द्रिय शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं कहा जा सकता। प्रवृत्तिनिमित्त का परिष्कार इस प्रकार है—'वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्रकारत्वम्—प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्।' जैसे—घटपद की प्रवृत्ति में निमित्त 'घटत्व' होता है क्योंकि उसमें 'घटपदवाच्यत्व' रहता है। अर्थात् घटपदवाच्य जो 'घटा'त्मक कार्य उसमें समवायसम्बन्ध से 'घटपदवाच्यत्व' (घटत्व) रहता है। और वह घटपदजन्य घटोपस्थिति में प्रकार भी है। उसी प्रकार 'इन्द्रिय' पद का प्रवृत्ति-निमित्त 'इन्द्रियत्व' होता है। उस इन्द्रियत्व का स्वरूप 'सात्त्विकाहंकारोपादनकत्व' है। इसलिये 'इन्द्रलिङ्गत्व' कभी भी इन्द्रियपद का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है।

अथ कथं सात्त्विकाहङ्कारादेकस्मादेकादशेन्द्रियाणीत्यत आह—"गुणपरिणामविशेषात् नानात्वं बाह्यभेदाश्च" इति। शब्दाद्युपभोगसम्प्रवर्तकाददृष्टसहकारिभेदात्कार्यभेदः। अदृष्टभेदोऽपि गुणपरिणाम एव॥

(१५७) एकस्याहङ्कारस्य गुणपरिणामविशेषात्कार्यभेदाः।

शंका—विलक्षणताशून्य अहंकार से ये विलक्षण इन्द्रियां कैसे हुईं ? अर्थात् एक प्रकार के सात्त्विक अहंकार से ये एकादश इन्द्रियां (पञ्च ज्ञानेन्द्रियां, पञ्च कर्मेन्द्रियां और मन) कैसे उत्पन्न हुईं ? क्योंकि—कार्यभेद में कारणभेद प्रयोजक हुआ करता है।

(१५७) गुणों के परिणाम-विशेष से एक अहंकार के भी अनेक कार्य।

समा०—'गुणपरिणामविशेषात् नानात्वम्' इति। सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण का जो धर्माधर्मरूप अदृष्ट परिणाम उसके विशेष (वैचित्र्य) से इन्द्रियरूप कार्य में अनेकता होती है। इसी अभिप्राय को कौमुदीकार कहते हैं—शब्द-स्पर्शादि का जो सुख-दुःखान्यतर साक्षात्काररूप 'उपभोग' उसका प्रवर्तक (संपादक) जो विभिन्न अदृष्ट सहकारिकारण, उसके भिन्न-भिन्न होने से इन्द्रियजातीय कार्य में विभिन्नता होती है। तथाहि—'शब्दोपभोगसम्पादकाऽदृष्टप्रयोज्यगुणविमर्दवैचित्र्यविशिष्टाऽहंकारस्य श्रोत्रजनकत्वम्।' 'स्पर्शोपभोगसम्पादकाऽदृष्टप्रयोज्यगुणविमर्दवैचित्र्यविशिष्टाहंकारस्य त्वग्जनकत्वम्।' उसी प्रकार विशिष्ट-कारणों की अनेकता से इन्द्रियों की अनेकता (एकादशता) सिद्ध होती है।

शंका—गुणपरिणाम का अर्थ होता है न्यूनाधिकता, उसकी भिन्नता से कार्यभेद होता है, यह न कहकर 'अदृष्टात्मक सहकारिभेद से कार्यभेद होता है' ऐसा क्यों कहा ?

समा०—'अदृष्टभेदोऽपि' यहां 'गुणपरिणाम' शब्द से अदृष्ट को ही सहकारि समझना चाहिये, क्योंकि वह भी गुणों का परिणाम है।

'बाह्यभेदाश्च' इति दृष्टान्तार्थम्—यथा बाह्यभेदास्तथैतदपीत्यर्थः॥ २७॥

(१५८) बाह्यभेदाश्चेति दृष्टान्तार्थम्।

दृष्टान्त देकर समझाते हैं—'बाह्यभेदाश्च' इति। बाह्यभेद जैसे—'पृथ्वी' एक रहने पर भी निमित्त भेद के कारण उससे पैदा होने वाले और सभी के अनुभव में आने वाले बाह्य घट, पटादि भिन्न भिन्न पैदा होते हैं। अथवा जल एक रहने पर भी पृथ्वी विकाररूपी अनेक निमित्तों को पाकर नारिकेल, ताल, नीम्बू आदि फलों में वह रस बनकर मधुर, अम्ल आदि भिन्न भिन्न रस का बन जाता है, उसी तरह अदृष्टात्मक सहकारी से विशिष्ट शब्द स्पर्शादि विभिन्न विषयरूप कार्य के बल पर अहंकार के भिन्न भिन्न परिणाम होते हैं अतः उससे भिन्न-भिन्न इन्द्रियां और तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। इसी को 'एतदपि' इति ग्रंथ से कौमुदीकार ने बताया। अर्थात् बाह्यभेद की तरह इन्द्रियां भी भिन्न भिन्न पैदा हुई हैं॥ २७॥

(१५८) 'बाह्यभेदाश्च' यह दृष्टान्त के लिये बताया गया है।

(१५९) दशेन्द्रियवृत्तिकथनम्।

तदेवमेकादशेन्द्रियाणि स्वरूपत उक्त्वा दशानामप्यसाधारणीर्वृत्तीराह—

(१५९) दशेन्द्रियों की वृत्ति का कथन।

इस प्रकार एकादश इन्द्रियों के स्वरूप को बताकर अब कारिकाकार दसों इन्द्रियों के असाधारण व्यापार को बताते हैं—

शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्॥ २८॥

अन्वयः—रूपादिषु (यत्) आलोचनमात्रं (तत्) पञ्चानां वृत्तिः इष्यते, पञ्चानाञ्च वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः (वृत्तयः इष्यन्ते)॥

भावार्थ:—रूपादिषु = रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादि विषयों को, आलोचनमात्रम् = सामान्यरूप से जानना ही, पञ्चानाम् = चक्षुरादिपञ्चज्ञानेन्द्रियों का, वृत्तिः = विशेषव्यापार, इष्यते = समझा जाता है, पञ्चानाञ्च = और वागादि पंचकर्मेन्द्रियों का, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः = बोलना, लेना, चलना, मलत्याग तथा उपभोग अपना-अपना विशेष व्यापार है।

रूपादि विषयों के समीप रहने पर रूपादिविषयाकार से परिणामरूप जो आलोचन होता है, वही पञ्चज्ञानेन्द्रियों का असाधारण व्यापार (धर्म) है। उस आलोचन में सामान्य विशेष विवेचन नहीं रहता। इसी बात को कारिकाकार ने 'मात्र' शब्द के द्वारा सूचित किया है।

बुद्धीन्द्रियाणां सम्मुग्धवस्तुदर्शनमालोचनमुक्तम्। "वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्" कर्मेन्द्रियाणाम्। कण्ठताल्वादिस्थानमिन्द्रियं वाक्, तस्या वृत्तिर्व्यापारो वचनम्। ज्ञानेन्द्रियाणां वृत्तयः स्पष्टाः॥ २८॥

कारिका के पूर्वार्ध में आये 'पञ्चानाम्' की व्याख्या करते हैं—'बुद्धीन्द्रियाणामिति।' 'बुद्धीन्द्रियाणाम्' का अर्थ है ज्ञानेन्द्रियों का। 'आलोचन' शब्द की व्याख्या करते हैं—'सम्मुग्धेति।' "अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानम्" इस वार्तिक के द्वारा पूर्व बताया जा चुका है कि सामान्य रूप से वस्तु मात्र का ज्ञान होना ही 'आलोचन' है। कारिका के उत्तरार्ध में आये 'पञ्चानाम्' की व्याख्या है 'कर्मेन्द्रियाणामिति।' कर्मेन्द्रियों के वचनादानादि अपने-अपने असाधारण विषय हैं। अन्यान्य इन्द्रियों के अधिष्ठान तो स्पष्ट ही हैं, उन्हें बताने की आवश्यकता न समझकर वागिन्द्रिय के अधिष्ठान को बताते हैं—'कण्ठताल्वादीति।' कण्ठ-तालु आदि स्थान हैं जिस इन्द्रिय के ऐसा

वागिन्द्रिय है। आदि पद से कण्ठ-तालु के अतिरिक्त अन्यस्थानों को भी समझ लेना चाहिये। व्याकरण सूत्रकार पाणिनिमहर्षि ने शिक्षा में वर्णस्थान बताये हैं—

"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलञ्च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥" इति।

तस्याः = उस वागिन्द्रिय (वाणी) का वृत्ति = व्यापार क्या है? व्यापार—वचन है अर्थात् भाषण = शब्द से अर्थ का प्रतिपादन करना यही व्यापार है। उसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के व्यापारों को भी समझ लेना चाहिये। तथाहि—'आदान' = ग्रहण, यह हस्त का व्यापार है, 'विहरण' = गमन, (उत्तरदेशसंयोगजनकक्रिया) यह पैर का व्यापार है, 'उत्सर्ग' = मलत्याग, यह पायु-संज्ञक इन्द्रिय का व्यापार है। 'आनन्द' = रमण, यह व्यापार उपस्थसंज्ञक इन्द्रिय का है॥ २८॥

अन्तःकरणत्रयस्य वृत्तिमाह—

अब अवसरसंगति से आभ्यन्तर तीन करणों का (अन्तःकरणत्रय = महत्-अहंकार-मन) व्यापार बताते हैं।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च॥ २९॥

अन्वयः—त्रयस्य स्वालक्षण्यं वृत्तिः, सा एषा असामान्या भवति, (एषां) सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्याः पञ्च वायवः (भवन्ति)।

भावार्थः—त्रयस्य = बुद्धि, अहंकार, मन इन तीन करणों के, स्वालक्षण्यम् = अपने-अपने (पूर्वोक्त) लक्षण ही, जैसे—'महत्' (महत्तत्त्व = बुद्धि) का निश्चय करना, 'अहंकार' का—अभिमान करना, 'मन' का संकल्प करना, 'वृत्तिः' = व्यापार है, यह वृत्ति (व्यापार) 'असामान्या' = विशेष, 'भवति' = है। अर्थात् निश्चयादि व्यापार, इन तीन अन्तःकरणों के अपने-अपने विशेष व्यापार हैं। इन तीन अन्तःकरणों का यह एक व्यापार हुआ, जो अपना-अपना विशेष व्यापार कहा जाता है। और दूसरा व्यापार एषां = इन तीनों का, सामान्यकरणवृत्तिः—साधारण होता है। जैसे—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच भीतरी वायुओं को ही अन्तःकरणत्रय का साधारण व्यापार कहते हैं। क्योंकि—जीवनादि के द्वारा ये पांच वायु, समस्त करणों के व्यापारों में बीज हैं।

(१६०) अन्तःकरणत्रयस्य स्वस्वलक्षणरूपमेवासाधारणं वृत्तित्रयम्।

'स्वालक्षण्यम्' इति। स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य। स्वमसाधारणं लक्षणं येषां तानि स्वलक्षणानि महदहङ्कारमनांसि, तेषां भावः स्वालक्षण्यम्, तच्च स्वानि स्वानि लक्षणान्येव। तद्यथा-महतोऽध्यवसायोऽहङ्कारस्याभिमानः सङ्कल्पो मनसो वृत्तिर्व्यापारः॥

(१६०) अन्तःकरणत्रय की स्वस्वलक्षणरूप ही असाधारण तीन वृत्तियाँ हैं।

"स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य" इति। 'स्वम्' = अपना असाधारण, 'लक्षणम्' = धर्म। जैसे—अध्यवसायादिरूपधर्म। 'तच्च'—वह स्वालक्षण्य क्या है? अपने-अपने लक्षण ही हैं। अर्थात् जिस जिस असाधारणधर्म से जो लक्षित हो उसका लक्षण ही उसकी 'वृत्ति' (व्यापार) है। जैसे—'महतः' = बुद्धितत्त्व की वृत्ति अध्यवसाय है, क्योंकि "अध्यवसायो बुद्धिः" यह बुद्धि का लक्षण कहा है। 'अहंकार' की वृत्ति अभिमान है, क्योंकि "अभिमानोऽहङ्कारः" यह अहंकार का लक्षण बताया गया है।

'मन' की वृत्ति संकल्प है, क्योंकि "मनः संकल्पकमिन्द्रियं च" इससे मन का लक्षण 'संकल्पक' होना बताया गया है।

(१६१) पञ्चवायुरूपा साधारणी वृत्तिः।

वृत्तिद्वैविध्यं साधारणासाधारणत्वाभ्यामाह—"सैषा भवत्यसामान्या" असाधारणी। सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च। सामान्या चासौ करणवृत्तिश्चेति। त्रयाणामपि करणानां पञ्च वायवो जीवनं वृत्तिः, तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात्। तत्र प्राणो नासाग्रहृन्नाभिपादाङ्गुष्ठवृत्तिः, अपानः कृकाटिकापृष्ठपादपायूपस्थपार्श्ववृत्तिः, समानो हृन्नाभिसर्वसन्धिवृत्तिः, उदानो हृत्कण्ठतालुमूर्धभ्रूमध्यवृत्तिः, व्यानस्त्वग्वृत्तिरिति पञ्च वायवः ॥ २९ ॥

(१६१) पंचवायुरूपा साधारणी वृत्ति।

इन तीनों करणों की वृत्ति (व्यापार) दो प्रकार की है एक 'साधारण' और दूसरी 'असाधारण'। अन्तःकरण की वृत्ति होने के नाते तो 'साधारण' है। और अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प आदि के रूप में असाधारण है। सैषा = स्वालक्षण्यरूपा वृत्ति, असामान्या = असाधारणी अर्थात् तत्तत्करणों से सम्बन्धित। सामान्याचासौकरणवृत्तिः = सामान्यकरणवृत्तिः। तीनों अतःकरणों की प्राणादिरूपा साधारणी वृत्ति (व्यापार) होती है। वायवः = वायु के तुल्य इन प्राणादिकों का संचार होने से ये प्राणादि वायु की तरह भासते हैं। वायु की तरह भासित होने वाले ये प्राणादि पांच, इन 'बुद्धि, अहंकार और मन' (अन्तःकरणत्रय) की सामान्य (साधारण) वृत्ति (व्यापार) है। यह साधारण व्यापार (वृत्ति) ही 'जीवन' शब्द से कहा जाता है। जैसे पींजडे (पंजर) को हिला देने का कार्य (व्यापार) कबूतरों के समूह का साधारण व्यापार है, उसी तरह शरीर धारणरूप जो जीवनाख्य प्राणनादि व्यापार, वह भी सम्मिलित अन्तःकरणों का साधारण व्यापार है।

यह जीवनवृत्ति 'अन्तःकरण' का धर्म है इस बात को अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा बताते हैं—अन्तःकरण के अस्तित्व में अर्थात् शरीर के जीवित रहने पर प्राणनादि व्यापार का सद्भाव (अस्तित्व) दिखलाई देता है। और अन्तःकरण के न रहने पर जैसे पाषाण में प्राणनादि व्यापार नहीं दिखाई पड़ता।

स्थानभेद से उन प्राणादिकों की जीवनवृत्ति पांच प्रकार की है। प्राणनात् प्राणः, अन्नभक्षणादि के द्वारा शरीर का धारण करने से वह 'प्राण' कहलाता है, वह नासा के अग्रभागपर, हृदय में, नाभि में, दोनों पैरों में और अंगूठे में रहता है। 'मलमूत्रादेः अपनयनात्' अपानः—मल-मूत्र का निःसारण करने से उसे अपान कहते हैं, और वह कृकाटिका में अर्थात् घाटा घण्टी में (ग्रीवायामुन्नतभागः, यौवनोद्भेदसमये गले उपलभ्यमाना कृकाटिका 'कृकं' = कण्ठम् अटति = व्याप्नोति इस अर्थ में 'कर्मण्यण्' सूत्र से 'अण्' प्रत्यय 'टिड्ढा०' सूत्र से ङीप्, स्वार्थ में 'क' प्रत्ययं, "केऽणः" सूत्र से ह्रस्व, 'अजाद्यतः' से टाप्, 'कृकाटिका' शब्द बनता है।) पृष्ठ, दोनों पैर, पायु, उपस्थ दोनों पार्श्व भाग में रहता है। 'समम् अनुरूपं नाडीषु रसानां नयनात्' समानः = नाडियों में रसों को समानरूप से ले जाता है इसलिये उसे समान कहते हैं। और वह 'हृदय' में, 'नाभि' में और सभी 'सन्धियों' में रहता है। 'रसादूर्ध्वनयनात्' उदानः = रसादिकों को ऊपर पहुँचाता है इसलिये उसे उदान कहते हैं,

यह हृदय, कण्ठ, तालु, मूर्धा और भ्रूमध्य में रहता है। 'बलवत्कर्महेतुत्वात् सर्वशरीरव्यापित्वाच्च व्यानः' प्रबल कर्म का कारण और संपूर्ण शरीरव्यापी होने से उसे व्यान कहते हैं। वह त्वचा में रहता है। इस प्रकार स्थानभेद और क्रियाभेद से एक ही प्राण की पाँच संज्ञाएं हो गई हैं। उसी प्रकार नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय ये पांच वायु भी कहीं कहीं निर्दिष्ट किये जाते हैं। ये 'प्राणादि' स्थूलवायु के अतिरिक्त कोई अन्य वायु नहीं हैं ॥ २९ ॥

चतुर्विधकरणस्यासाधारणीषु वृत्तिषु क्रमाक्रमौ सप्रकारावाह—

पूर्वोक्त तेरह करणों के व्यापारों का क्रम है या अक्रम? इस आशंका के समाधानार्थ कौमुदीकार कहते है—"चतुर्विधकरणस्येति" दस बाह्येन्द्रियों के समूह को एक मानकर 'एक बाह्यकरण' और 'तीन आभ्यन्तर करण' अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार मिलकर चतुर्विध करण कहा गया है। इन चतुर्विध करणों के असाधारण संकल्प, अभिमान, अध्यवसायादिरूप व्यापारों (वृत्तियों) का क्रम तथा अक्रम अर्थात् पौर्वापर्य और यौगपद्य को उनके प्रकारों के साथ बताते हैं। जैसे—दृष्टपदार्थ में तेरहों करणों की वृत्ति 'युगपत्' और 'अयुगपत्' होती है, यह एक प्रकार। दूसरा प्रकार—अदृष्ट पदार्थ में आलोचनपूर्वक अन्तःकरणत्रय की ही वृत्ति (व्यापार) युगपत् और अयुगपत् हुआ करती है। प्रथमतः चक्षुरादि बाह्यइन्द्रियों से "इदं किञ्चिदस्ति" यह सामान्य ज्ञान होता है और 'मन' से 'अयं घटः', 'इदं वस्त्रम्' यह विशेष ज्ञान होता है। पश्चात् 'अहंकार' से 'अनेन वस्तुना संबंधं कर्तुं शक्नोमि', अर्थात् 'एतद् वस्तु उत्थापयितुं शक्नोमि, स्प्रष्टुं प्रभवामि, ग्रहीतुं शक्नोमि' = इस वस्तु को मैं उठा सकता हूं, छू सकता हूँ, ले सकता हूँ आदि आदि, इस रीति से अभिमान होता है, और 'बुद्धि' के द्वारा 'मया एतत् कर्तव्यम्' यह 'अध्यवसाय ज्ञान' होता है। इस प्रकार ज्ञान की चार अवस्थाएँ होती हैं। किन्तु इन 'ज्ञानों' के क्रम या अक्रम के विषय में कोई निर्णय अभी तक नहीं हुआ है, अतः उसके निर्णयार्थ यह तीसवीं कारिका उपस्थित की जा रही है।

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे तथाऽप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

अन्वयः—दृष्टे तु तस्य चतुष्टयस्य वृत्तिः युगपत् निर्दिष्टा, क्रमशश्च निर्दिष्टा। तथा अदृष्टेऽपि तत्पूर्विका त्रयस्य वृत्तिः युगपत् क्रमशश्च निर्दिष्टा।

भावार्थः—'दृष्टे' = जहाँ किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, वहाँ 'तस्य चतुष्टयस्य' = बाह्येन्द्रिय, मन, अहंकार तथा महत्तत्त्व इन चारों का, 'वृत्तिः' = व्यापार, 'युगपत्' = अक्रम तथा 'क्रमशश्च' = क्रम से भी, 'निर्दिष्टा' = कहा गया है। जैसे—अन्धेरे में बिजली का प्रकाश होते ही सिंह को सामने देखकर एकदम संकल्प, अभिमान तथा निश्चय होते हैं। जिससे देखने वाला शीघ्र हट जाता है। मन्द प्रकाश में पहिले सामान्य रूप से आगे उपस्थित विषय को जानकर सावधान होता हुआ 'यह शस्त्र लिये हुए चोर आ रहा है' ऐसा मन में समझकर 'यह मुझे ही मारने आ रहा है' ऐसा अभिमान कर निश्चय करता है कि मैं यहाँ से हट जाऊँ, इस प्रकार बाहरी (बाह्य) तथा तीन भीतरी ऐसे चारों करणों का क्रम से भी व्यापार होता है।

'तथा' = उसी प्रकार, 'अदृष्टेऽपि' = अप्रत्यक्ष विषयों में भी बाह्येन्द्रियों को छोड़कर, 'त्रयस्य' = तीन करणों के 'वृत्तिः' = व्यापार, 'युगपत्' = एकदम, 'क्रमशश्च' = और क्रम से होते हैं, परन्तु 'सा वृत्तिः' = वह व्यापार, 'तत्पूर्विका' = प्रत्यक्षपूर्वक है, क्योंकि 'अनुमिति, शाब्दबोध तथा स्मरण' अप्रत्यक्ष पदार्थों में प्रत्यक्षपूर्वक ही हुआ करते हैं।

तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षस्थल में चक्षुरादि बहिरिन्द्रियों में से किसी एक की सहायता से अन्तःकरणत्रय का व्यापार अक्रम तथा क्रम से होता है—यह सांख्याचार्यों ने बताया है। प्रत्यक्ष-स्थल में बहिरिन्द्रियों में से किसी अन्यतम की सहायता के बिना केवल अन्तःकरणत्रय का व्यापार होना असंभव है। इसलिये 'चतुष्टयस्य' कहा गया है। और अनुमानादि अप्रत्यक्ष स्थल में केवल अन्तःकरणत्रय का युगपत् और क्रम से व्यापार होता है। किन्तु वह व्यापार प्रत्यक्षपूर्वक होता है। क्योंकि अनुमानादि प्रत्यक्षमूलक हुआ करते हैं। अनुमिति आदि के विषय में बहिरिन्द्रियों की सहायता अपेक्षित नहीं रहती। इसलिये "त्रयस्य" कहा गया है।

(१६२) चतुर्विधकरणस्य प्रत्यक्षे युगपद्वृत्तिः।

"युगपत्" इति, दृष्टे यथा—यदा सन्तमसान्धकारे विद्युत्सम्पातमात्राद्व्याघ्रमभिमुखमतिसन्निहितं पश्यति तदा खल्वस्यालोचनसङ्कल्पाभिमानाध्यवसाया युगपदेव प्रादुर्भवन्ति, यतस्तत उत्प्लुत्य तत्स्थानादेकपदेऽपसरति॥

(१६२) प्रत्यक्ष में चतुर्विध करणों की युगपत् वृत्ति

चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों के गोचर होनेवाले पदार्थों के प्रति पूर्वोक्त सभी कारणों की वृत्ति (व्यापार) कभी क्रम से तो कभी बिना क्रम के भी हुआ करती है। इस बात को सांख्याचार्यकपिल महामुनि ने "क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः" (सां. सू. २-३२) सूत्र के द्वारा बताया है। इसी आशय को ध्यान में रखकर कौमुदीकार 'यौगपद्य' का उदाहरण दे रहे हैं—"दृष्टे यथे" ति। चारों ओर फैले हुए घने अन्धकार में जब विद्युत्प्रकाश हुआ तब क्या देखता है कि अपने सामने अत्यन्त सन्निकट एक शेर खड़ा है। अर्थात् जब विद्युत्प्रकाश हुआ तब उस प्रकाश में उसके मन में "किञ्चिदिति"=यह कुछ है इस प्रकार दर्शनात्मक आलोचन, संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय और भय ये सब निर्विकल्पक वृत्तियाँ युगपत् हुईं। द्वितीयक्षण में वे सविकल्पक हुईं। इन वृत्तियों के युगपत् होने के पश्चात् तृतीयक्षण में ही छलांग मारकर उस जगह से सहसैव तत्क्षण ही दूर कहीं भाग जाता है। यह सभी को अनुभव है, इस अनुभव के बल पर 'युगपत् विभिन्नज्ञानानुत्पत्तिः इस न्यायसिद्धान्त का खण्डन हो जाता है।

(१६३) क्रमशश्च।

"क्रमशश्च" यदा मन्दालोके प्रथमन्तावद्वस्तुमात्रं सम्मुग्धमालोचयति, अथ प्रणिहितमनाः कर्णान्ताकृष्टसशरशिञ्जितमण्डलीकृतकोदण्डः प्रचण्डतरः पाटच्चरोऽयमिति निश्चिनोति, अथ च माम्प्रत्येतीत्यभिमन्यते, अथाध्यवस्यत्यपसरामीतः स्थानादिति॥

(१६३) क्रमशः वृत्ति भी हैं

'दृष्टविषय' में युगपत् होनेवाली वृत्तियों को बताकर उसी में (दृष्ट विषय में) क्रमशः होनेवाली वृत्तियों को बताते हैं—"यदा मन्दाऽऽलोके" इति। जैसे—मन्द प्रकाश रहने पर प्रथमक्षण में अपनी आँखों से केवल वस्तुमात्र अर्थात् धर्मधर्मिभावानापन्न पदार्थ को ही सम्मुग्धरूप से अर्थात् अविविक्त रूप से देखता है। उसके पश्चात् द्वितीयक्षण में बड़ी सावधानी से मन लगाकर देखता है और निश्चय कर लेता है कि 'अयं

पाटच्चरः (चौर) यह चोर है (स्थाणु आदि अन्य पदार्थों से यह भिन्न है इस प्रकार विवेचन कर लेता है)। वह पाटच्चर कैसा है ? यह प्रश्न पैदा होने पर कहते हैं—"कर्णान्तेति।" बाण चढ़ाये हुए धनुष की प्रत्यञ्चा को कान तक तानने से जिसमें से गूंज निकल रही है और गोलाकार बन गये धनुष को लिया हुआ दिखाई दिया। तब अर्थात् संकल्पोत्तरक्षण में 'मां प्रति आगच्छति' वह चोर मेरी ओर आ रहा है ऐसा मनमें होने लगा (यही अभिमान है)। इसके उत्तरक्षण में उसने निश्चय किया कि इस जगह से अन्यत्र कहीं चला जाऊँ (यही अध्यवसाय है) यह एक प्रकार है।

परोक्षे त्वन्तःकरणत्रयस्य बाह्येन्द्रियवर्जं वृत्तिरित्याह—"अदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः" इति। अन्तःकरणत्रयस्य युगपत्क्रमेण च वृत्तिर्दृष्टपूर्विकेति। अनुमानागमस्मृतयो हि परोक्षेऽर्थे दर्शनपूर्वाः प्रवर्तन्ते नान्यथा। यथा दृष्टे तथाऽदृष्टेऽपीति योजना॥ ३०॥

(१६४) अन्तःकरणत्रयस्य परोक्षे वृत्तिद्वयम् दृष्टपूर्वकमेव॥

अब दूसरे प्रकार से क्रम-अक्रम को बताते हैं—'परोक्षे' इति। अप्रत्यक्ष विषय में अर्थात् पर्वत की गुहा के भीतर रहने वाले सिंह के विषय में (सिंह के अप्रत्यक्ष रहने पर)। बाह्येन्द्रियों की सहायता के बिना मन, 'अहंकार' महत्तत्त्व इन तीन अंतःकरणों के व्यापारों को युगपत् और क्रमशः बताते हैं—सिंह के प्रत्यक्ष न रहनेपर 'मन, अहंकार', 'महत्तत्त्व' तीनों के आलोचनपूर्वक व्यापार होते हैं। इसी मूल की व्याख्या 'अन्तःकरणत्रयस्य' के द्वारा करते है—युगपत् (समानक्षणावच्छेदेन) और क्रम से (अव्यवहितोत्तरोत्तरक्षणावच्छेदेन) आलोचनपूर्वक अन्तःकरणत्रय का व्यापार होता है।

(१६४) परोक्ष में अन्तःकरण त्रय की दो वृत्तियां दृष्टपूर्वक ही होती हैं।

'अनुमानागमस्मृतयः' = अनुमानम् (अनुमितिवृत्तिः), 'आगमः' (शाब्दबोधवृत्तिः), 'स्मृतिः' (स्मरणात्मकवृत्तिः)—ये सब वृत्तियां अप्रत्यक्ष-पदार्थ में आलोचनपूर्वक ही हुआ करती हैं। आलोचन हुए बिना कभी नहीं होतीं। जैसे—अनुमितिवृत्ति का उदाहरण—गुहा में रहने वाले सिंह की गर्जना का आलोचन करने के पश्चात् ही श्रोता के मन में 'अयं देशः सिंहवान्' इस प्रकार से संकल्पाभिमान अध्यवसायादि अनुमितिरूप वृत्तियां युगपत् होती हैं। शाब्दबोधवृत्ति का उदाहरण—दीवार, कमरा आदि का व्यवधान रहनेपर चिर विरहिणी स्त्री जब अपने पति का शब्द—'अहमागतोऽस्मि' = मैं आया हूँ—सुनती है, तब उसके मन में तत्काल ही संकल्प, अभिमान, अध्यवसायरूप वाक्यबोधात्मक वृत्तियां युगपत् पैदा होती हैं। स्मरणात्मकवृत्ति का उदाहरण—भयंकर युद्ध करते हुए योद्धा लोग अपने प्रतियोद्धा के शस्त्र को जब देखते हैं तब उसका प्रतीकार करने के लिये तत्काल ही संकल्पाभिमानाध्यवसायात्मिका प्रतिशस्त्रस्मरणवृत्ति युगपत् उनके मन में जागरित होती है।

इसी प्रकार अदृष्टपदार्थ के विषय में क्रमशः, जैसे—प्रकाश को देखकर या धूम को देखकर पर्वतीय अदृष्ट अग्नि के संबंध में व्याप्त्यात्मक संकल्प, परामर्शात्मक अभिमान, अनुमित्यात्मक अध्यवसाय क्रमशः होते हैं।

इस प्रकार दिये गये दोनों दृष्टान्तों की योजना करते हैं—'यथा दृष्टे तथा अदृष्टेऽपीति।' जैसे दृष्ट पदार्थ के संबंध में चतुर्विधकरणों की 'युगपत्' और 'क्रमशः' वृत्तियां होती हैं वैसे ही अदृष्ट पदार्थ के विषय में बाह्यकरणवृत्तिपूर्वक अन्तःकरणत्रय की ही 'युगपत्' और 'क्रमशः' वृत्तियां हुआ करती हैं॥ ३०॥

स्यादेतत्-चतुर्णां त्रयाणां वा वृत्तयो न तावत्तन्मात्राधीनाः तेषां सदा-तनत्वेन वृत्तीनां सदोत्पादप्रसङ्गात्, आकस्मिकत्वे तु वृत्तिसङ्करप्रसङ्गो नियमहेतोरभावादित्यत आह—

(१६५) करणानां स्वतन्त्रत्वे दोषाः ॥

अग्रिम कारिका को उपस्थित कराने के हेतु शंका के रूप में भूमिका दे रहे हैं—"स्यादेतदिति।" 'बाह्येन्द्रियां, मन, अहंकार, महत्तत्त्वादि' चारों का और 'मन, अहंकार, महत्तत्त्वादि' तीनों का अपना अपना असाधारण व्यापार तथा साधारण व्यापार किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा बिना किये केवल बुद्धयादि करण के ही अधीन नहीं होता, बल्कि उसमें अन्य हेतु भी होता है। केवल बुद्धयादिकों को ही वृत्ति का हेतु मानें तो चारों या तीनों करण सर्वकाल स्थायी होने से उनके कार्यात्मकवृत्तिरूप धर्मों की सदैव उपलब्धि होने लगेगी। जिससे 'सर्ववृत्तिलयात्मक सुषुप्ति की उपपत्ति न हो सकेगी। 'व्यापार' (वृत्ति) को यदि निर्हेतुक कहें अर्थात् करणों से उत्पन्न होने वाले व्यापार को यदि अनैमित्तिक मानें तो वृत्तियों (व्यापारों) का संकर होने लगेगा, एक इन्द्रिय के व्यापारकाल में अन्य इन्द्रिय का व्यापार भी होने लगेगा। तात्पर्य यह है—कदाचित् 'चक्षुरिन्द्रिय' ही शब्दग्रहण के लिये व्यापार करने लगेगा, कभी 'श्रोत्रेन्द्रिय' ही रूप ग्रहणार्थ व्यापार करने लगेगा, कदाचित् 'मन' ही बुद्धि के व्यापार (निश्चय) को करने लगेगा। तो कदाचित् 'बुद्धि' ही मन के व्यापार (संकल्प) को करने लगेगी। इस रीति से वृत्तियों का परस्पर व्यतिक्रम होने लगेगा। क्योंकि 'इयं त्वदीया वृत्तिः एतद्गोचरा' = यह तेरी वृत्ति एतद्विषयिणी है—इस प्रकार के नियम का प्रदर्शक कोई हेतु तो है नहीं।

(१६५) करणों की स्वतंत्रता में दोष।

इन्द्रियों की प्रवृत्ति क्रम से तो कभी अक्रम से हुआ करती है—यह बता चुके, परन्तु इन इन्द्रियों का प्रेरक कौन है? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ यह इकत्तीसवीं कारिका उपस्थित हो रही है—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—परस्पराकूतहेतुकां स्वां स्वां वृत्तिं प्रतिपद्यन्ते पुरुषार्थ एव हेतुः, केनचित् करणं न कार्यते।

भावार्थः—(चारों करण) 'परस्पराकूतहेतुकाम्' = परस्परं यत् आकूतं तदेव हेतुः यस्याः ताम्। सृष्टि के समय आपस में किया हुआ संकेत ('अध्यवसाय' को 'महत्तत्त्व,' 'अभिमान' को 'अहंकार,' 'संकल्प' को मन, और 'शब्द का ग्रहण' 'श्रोत्र' करेगा—इस प्रकार का आपसी संकेत) ही जिस वृत्ति का नियामक है, ऐसी अपनी अपनी असाधारण वृत्ति (व्यापार) को स्थूल रूप से प्राप्त करते हैं, इस प्रकार पूर्व संकेत के कारण वृत्तिसांकर्य नहीं हो पाता। करणों के व्यापारोत्पत्ति का मुख्य प्रयोजक कौन है? उत्तर देते हैं—'पुरुषार्थ एव हेतुः' = पुरुषस्य अर्थः = प्रयोजनं (भोग और अपवर्ग) भोगापवर्गात्मक पुरुषार्थ ही उस व्यापारोत्पत्ति का निमित्त है, तदतिरिक्त कोई नहीं। इन्द्रियों को अपने अपने व्यापार में प्रवृत्त कराने वाला कोई चेतन नहीं है, बल्कि 'भोगापवर्गात्मक पुरुषार्थ' ही एकमात्र उनका प्रेरक है। इसी अभिप्राय को 'न केनचित् कार्यते करणम्' के द्वारा बताते हैं। 'पुरुषार्थ' के अतिरिक्त अन्य किसी चेतन आदि

के द्वारा दोनों ही प्रकार के करण (बाह्य और आभ्यन्तर) प्रेरित नहीं किये जाते अर्थात् स्थूल-वृत्तिवाले नहीं किये जाते।

"स्वाम्" इति। करणानीति शेषः। यथा हि बहवः पुरुषाः शाक्तीकयाष्टीकधानुष्ककार्पाणिकाः कृतसङ्केताः परावस्कन्दनाय प्रवृत्ताः तत्रान्यतमस्याकूतमवगम्यान्यतमः प्रवर्तते, प्रवर्तमानस्तु शाक्तीकः शक्तिमेवादत्ते न तु यष्ट्यादिकम्, एवं याष्टीकोऽपि यष्टिमेव, न शक्त्यादिकम्। तथाऽन्यतमस्य करणस्याकूतात् स्वकार्यकरणाभिमुख्यादन्यतमं करणं प्रवर्तते। तत्प्रवृत्तेश्च हेतुत्वान्न वृत्तिसङ्करप्रसङ्ग इत्युक्तम्—"स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते" इति॥

(१६६) तन्निराकरणम्-परस्परसापेक्षाण्येव करणानि स्वस्वावृत्तिषु॥

"स्वामिति"। "करणानीति शेषः।" 'बाह्य करण' और 'अन्तः-करण' दोनों करण शब्द से ग्रहण किये जाते हैं। कौमुदीकार ने 'करणानीति' के साथ 'शेषः' जोड़कर यह सूचित किया है कि कारिका में स्थित 'करण' पद कर्ता का निर्वाहक नहीं है। इसी को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं—"यथाहीति"। एक पक्ष के ही बहुत से योद्धा लोग जो शक्ति, यष्टि, धनुष, कृपाण हाथ में किये हुए (शक्तिः प्रहरणमायुधं यस्यासौ शाक्तीकः, यष्टिः प्रहरणमस्यासौ याष्टीकः, धनुः प्रहरणमस्यासौ धानुष्कः, कृपाणः प्रहरणमस्यासौ कार्पाणिकः) और पहिले ही से आपस में संकेत किये हुए योद्धा लोग (जैसे—आक्रमण के समय तुम शक्ति संज्ञक आयुध को लेना, और वह यष्टि और वह धनुष्, और वह कृपाण आदि को हाथ में ले इस प्रकार जिन्होंने पहिले ही से निश्चय कर लिया है) युद्ध के आरम्भ में शत्रुओं के दमनार्थ प्रवृत्त होते हैं, उस समय योद्धाओं के द्वारा आपस में किये गये संकेत के अनुसार अपने अपने निर्धारित शस्त्रों को लेकर व्यक्ति प्रवृत्त होता है। उनमें शक्तिसंज्ञक आयुध का स्वामी शक्ति को ही ग्रहण करता है, यष्टि को नहीं। यष्टि का स्वामी 'यष्टि' को ही लेता है, शक्ति को नहीं।

(१६६) उसका निराकरण परस्पर सापेक्ष होकर ही कारण अपना अपना व्यापार करते हैं।

अब दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटाते हैं—"तथेति"। उसी तरह 'प्रत्येक करण' अपने अपने निर्धारित किये गये व्यापार को करने के लिये प्रवृत्त होती है। अपने अपने व्यापार में जो प्रवृत्ति हुई है वह सहेतुक होने से अर्थात् प्रवृत्त होने से पहिले हीं तुम्हें यह काम करना है इस प्रकार निश्चय किया होने से वृत्ति=व्यापार में कारणानियम्योत्पत्ति रूप संकर का प्रसङ्ग (अनियमितता का प्रसंग या आकस्मिकता का प्रसंग) अब नहीं हो पायगा।

स्यादेतत्—याष्टीकादयश्चेतनत्वात् परस्पराकूतमवगम्य प्रवर्तन्त इति युक्तम्, करणानि त्वचेतनानि, तस्मान्नैवं प्रवर्तितुमुत्सहन्ते। तेनैषामधिष्ठात्रा करणानां स्वरूपसामर्थ्योपयोगाभिज्ञेन भवितव्यमित्यत आह—"पुरुषार्थ एव हेतुः, न केनचित्कार्यते करणम्" इति। भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थ एवानागतावस्थः प्रवर्तयति करणानि, कृतमत्र तत्स्वरूपाभिज्ञेन कर्त्रा। एतच्च "वत्सविवृद्धिनिमित्तम्" (कारिका ५७) इत्यत्रोपपादयिष्यते॥ ३१॥

(१६७) करणानामचेतनत्वेऽपि पुरुषार्थस्यैव प्रवर्तकत्वम्।

उत्तरार्ध को उपस्थित कराने के हेतु शंका करते हैं 'स्यादेतदिति'। यष्टि आदि आयुधों के के लिये योद्धा लोग तो चेतन होने से दूसरे के अभिप्राय को जान सकते हैं, अतः उनका प्रवृत्त होना तो उचित है क्योंकि चेतन मनुष्य तो दूसरे के अभिप्राय को जानने, समझने, स्मरण करने में समर्थ हो सकता है। किन्तु बाह्य तथा आभ्यन्तर 'करण' तो अचेतन होने से शाक्तीक आदि योद्धाओं के समान स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकते, अतः उनकी (करणों की) प्रवृत्ति का प्रयोजक अर्थात् तत्तद् व्यापार में तत्तत् का सामर्थ्य पहिचानकर उनको उनके व्यापार में प्रेरित करने वाला कोई चेतन ही होना चाहिये। अर्थात् बाह्य तथा आभ्यन्तर करणों के स्वरूप को, जैसे—यह बुद्धि व्यक्ति है, यह अहंकार व्यक्ति है, इस प्रकार स्वरूप से करणों को पहिचानने वाला, उसी प्रकार अध्यवसाय व्यापार द्वारा भोग देने में 'बुद्धि' का सामर्थ्य है, 'अहंकार' का अभिमान में सामर्थ्य है, इस प्रकार सामर्थ्य का उपयोग समझने वाला कोई चेतन ही हो सकता है, जड़ नहीं। अतः करणों का अधिष्ठाता कोई चेतन ही होना चाहिये।

(१६७) करणों के अचेतन होने पर भी पुरुषार्थ ही उनका प्रवर्तक होता है।

उत्तर देते हैं—'पुरुषार्थ एव०' इति। करणों के स्वरूप तथा सामर्थ्य को पहिचानने वाला एकमात्र भोगापवर्गात्मक पुरुषार्थ ही है। (पुरुषस्य अर्थः प्रयोजनम् = पुरुषार्थः)। पुरुषार्थ के अतिरिक्त कोई चेतन आदि, करणों की प्रवृत्ति कराने वाला नहीं है। अर्थात् 'करणों' का प्रेरक कोई चेतन पदार्थ नहीं। यद्यपि करणों को व्यक्तिगतरूप से पहिचानने वाला 'पुरुष' अधिष्ठाता बन सकता है, तथापि वह 'पुरुष' असंग और निर्विकार होने से उनका अधिष्ठाता नहीं बन सकता। अर्थात् 'करणों' का प्रेरक नहीं कहा जा सकता। इसलिये प्रकृति में स्थित 'भोगापवर्ग' भावी रहने पर भी वे ही करणों के प्रवर्तक हुआ करते हैं, क्योंकि गुणों की प्रवृत्ति तभी तक होती रहती है जब तक वे भोग और अपवर्ग को पैदा नहीं कर पाते। 'भोग' और 'अपवर्ग' को पैदा करने के पश्चात् उनका (गुणों का) अधिकार समाप्त होने से वे (गुण) निवृत्त हो जाते हैं। 'भोग' का अर्थ है—सुख-दुःखान्यतरसाक्षात्कार। 'अपवर्ग' का अर्थ है—अपवृज्यते अनेन = केवली भवति अनेन इति—अपवर्गः। 'विवेकज्ञान' अथवा आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति रूप पुरुषार्थ (पुरुष का प्रयोजन) ही स्थूलावस्था में आने से पूर्व कारण में (प्रकृति में) सूक्ष्मरूप से स्थित रहता हुआ सुखाद्यनुकूलवृत्तिवाले करणों को प्रवृत्त करता है अर्थात् उन्हें स्थूलवृत्ति का बनता है। करणों को प्रेरित करने के लिये 'पुरुषार्थ' के अतिरिक्त किसी 'चेतन' कर्ता को मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अपरिणामी होने से चेतन को कोई कार्य कर्तव्य नहीं है, अतः व्यापार में प्रवृत्त कराने के लिये उसकी कल्पना करना व्यर्थ है। एतच्च अर्थात् 'करणं न केनचित् चेतनेन प्रवर्त्यते' इस अभिप्राय को कारिका ५७ "वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य" के द्वारा स्पष्ट किया जायगा ॥ ३१ ॥

(१६८) करणविभागः।

"न केनचित् कार्यते करणम्" इत्युक्तम्। तत्र करणं विभजते—

(१६८) करणों का विभाग।

पूर्वकारिका में "न केनचित् कार्यते करणम्" कहा गया था, अतः जिज्ञासा होती है कि 'करण' कितने प्रकार के है? उस जिज्ञासा के समाधानार्थ बत्तीसवीं कारिका उपस्थित हो रही है—

करणं त्रयोदशविधं, तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥ ३२ ॥

अन्वयः—करणं त्रयोदशविधं, तत् आहरण-धारण-प्रकाशकरं, तस्य च कार्यम् आहार्यं, धार्यं, प्रकाश्यं च दशधा भवति ।

भावार्थ—'करणम्' = बुद्धि, अहंकार तथा ग्यारह इन्द्रियां । 'त्रयोदशविधं' = तेरह प्रकार की हैं । 'तत्' = पांच बुद्धीन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां), पांच कर्मेन्द्रियां और मन, अहंकार, बुद्धि । 'आहरण-धारण-प्रकाशकरम्' = (उनमें) ज्ञानेन्द्रियों का अपने अपने विषय को प्रकाशित करना व्यापार है, कर्मेन्द्रियों का अपने अपने विषय को ग्रहण करना व्यापार है और मन, अहंकार, बुद्धि इन तीनों का प्राणादि वायुओं के द्वारा शरीर को धारण करना व्यापार है । अब व्यापार (क्रिया) के सकर्मक होने से वे कर्म (कार्य) कौन से और कितने हैं ? इस प्रश्न का उत्तर उत्तरार्ध से देते हैं—'तस्य' = तेरह प्रकार के करणों के, कार्य = काम (विषय) दस प्रकार के होते हैं, जो आहार्य, धार्य, प्रकाश्य कहे जाते हैं । अर्थात् कर्मेन्द्रियों के ग्रहण योग्य वचन, आदान इत्यादि विषय लौकिक तथा अलौकिक भेद से दो प्रकार के होने से दस प्रकार के हो जाते हैं । बुद्धि, अहंकार, मन तीनों के धारण योग्य (धार्य) शरीरादि कार्य, पृथ्वी आदि पांच महाभूतों से उत्पन्न हुए हैं, जो लौकिक तथा अलौकिक भेद से दो प्रकार के होते हैं, अतः धार्य विषय भी दस प्रकार का है । उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से प्रकाश करने योग्य (प्रकाश्य) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच विषय भी दिव्य तथा अदिव्य के भेद से दो प्रकार के हैं । अतः वे दस प्रकार के हैं ॥

(१६९) त्रयोदशविधकरणपरिगणनम् ।

"करणं त्रयोदशविधम्" इति । इन्द्रियाण्येकादश बुद्धिरहङ्कारश्चेति त्रयोदशप्रकारं करणम् । कारकविशेषः करणम् । न च व्यापारावेशं विना कारकत्वमिति व्यापारावेशमाह—"तदाहरणधारणप्रकाशकरम्" इति यथायथम् । तत्र कर्मेन्द्रियाणि वागादीन्याहरन्ति, यथास्वमुपाददते, स्वव्यापारेण व्याप्नुवन्तीति यावत् । बुद्ध्यहङ्कारमनांसि तु स्ववृत्त्या प्राणादिलक्षणया धारयन्ति । बुद्धीन्द्रियाणि, च प्रकाशयन्ति ॥

(१६९) तेरह प्रकार के करणों का परिगणन

करणों की त्रयोदश संख्या को बताते हैं—'एकादश इन्द्रियां' और बुद्धि तथा अहंकार, ये दो मिलाकर तेरह संख्या होती है । "तदाहरण" इस कारिकांश को उपस्थित कराने के हेतु कहते हैं—'कारकविशेष इति' । अर्थात् कर्ता आदि छः कारकों में से यह 'करण' साधकतमरूप है । इसमें प्रमाण महर्षि पाणिनि का सूत्र हैं "साधकतमं करणम्" व्यापारावेश के बिना अर्थात् क्रिया के साथ संबंध प्राप्त किये बिना कारक नहीं बन सकता, क्योंकि 'व्यापाराश्रयस्यैव कारकत्वात्' ऐसा नियम है ।

शंका—क्या प्रत्येक करण तीनों क्रियाओं = व्यापारों (आहरण-धारण-प्रकाश) को करता है ?

समा०—"यथायथ" मिति । 'यथास्वन्तु यथायथम्' अर्थात् यथाऽऽत्मीयम् , एवं च प्रत्येक करण आहरणादि तीनों क्रियाओं को नहीं करता, किन्तु जिस करण में जिस क्रिया को करने की

योग्यता रहती है, वह करण उस क्रिया को करता है। जैसे—कर्मेन्द्रियां आहरण करती हैं। मन आदि धारण करते हैं। चक्षुरादि प्रकाशित करते हैं। उन करणों में से वागादि कर्मेन्द्रियां = क्रियते एभिः इति कर्माणि, कर्माणि च तानि इन्द्रियाणि इति कर्मेन्द्रियाणि। 'आहरन्ति' पद के अर्थ को बताते हैं—'यथास्वमुपाददते'। स्वम् अनतिक्रम्य वर्तते इति यथास्वम् अर्थात् अपनी वृत्ति (व्यापार) का उल्लंघन बिना किये जो रहता है, तात्पर्य यह हुआ कि अपनी क्रिया अथवा अपने व्यापार से, 'उपाददते' = वचनादि विषयों को ग्रहण करते हैं। 'यथास्वमुपाददते' इसी का भावार्थ बताते हैं—'स्वव्यापारेण व्याप्नुवन्ति'। व्यापार का अर्थ है क्रिया। अपनी क्रिया से व्याप्त करते हैं, जैसे—'वाक्' अपनी उच्चारण क्रिया से शब्द (वचन) को व्याप्त करती है। 'हस्त' अपनी अञ्जलि प्रसारण क्रिया के द्वारा आदान को व्याप्त करता है। 'चरण' अपनी गमनक्रिया से विहरण को व्याप्त करता है। 'पायु' अपनी विकास क्रिया से उत्सर्ग को व्याप्त करती है। 'उपस्थ' अपनी जाग्रत् क्रिया से आनन्द को व्याप्त करता है।

अथवा अपने 'असाधारण व्यापार' से व्याप्त करते हैं, जैसे—'वाक्' अपने वचन (शब्द) व्यापार से (शब्द द्वारा) 'वाच्यार्थ' को व्याप्त (विषय) करती है। 'पाणि' अपने आदान (ग्रहण धारण) व्यापार से धार्य पदार्थ को व्याप्त (विषय) करता है। 'पाद' अपने विहरण व्यापार से भूतलादि को व्याप्त करता है। 'पायु' अपने उत्सर्जन व्यापार से मल को व्याप्त (विषय) बनाता है। 'उपस्थ' अपने आनन्द व्यापार से काम (सुरत) को व्याप्त करता है। 'बुद्ध्यहंकारमनांसि।' बुद्धि, अहंकार और मन ये तीनों अपने साधारण प्राणापानसमानव्यानोदानात्मक जीवनव्यापार (वृत्ति) के द्वारा शरीर को धारण करते हैं, अर्थात् मृत्युपर्यन्त वह निरुपद्रव रह सके इस प्रकार उसकी रक्षा करते हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण-ये ज्ञानेन्द्रियां (बुद्धीन्द्रियां) प्रकाश (ज्ञान) करती हैं। जैसे—'श्रोत्र' शब्दज्ञान करता है, 'त्वक्' स्पर्शज्ञान करता है, 'चक्षु' रूपज्ञान करता है, 'रसना' रसज्ञान करती है, 'घ्राण' गन्धज्ञान करता है।

(१७०) करणव्यापारपरिगणनम्।

आहरणधारणादिक्रियाणां सकर्मकतया किं कर्म कतिविधं चेत्यत आह— "कार्यं च तस्य" इति। कार्यं तस्य त्रयोदशविधस्य करणस्य दशधा. आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च। आहार्यं व्याप्यम्। कर्मेन्द्रियाणां वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाः यथायथं व्याप्याः; ते च यथायथं दिव्यादिव्यतया दश-इत्याहार्यं दशधा। एवं धार्यमप्यन्तःकरणत्रयस्य प्राणादिलक्षणया वृत्त्या शरीरम्, तच्च पार्थिवादिपाञ्चभौतिकम्। शब्दादीनां पञ्चानां समूहः पृथिवी, ते च पञ्च दिव्यादिव्यतया दशेति धार्यमपि दशधा। एवं बुद्धीन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा यथायथं व्याप्याः; ते च यथायथं दिव्यादिव्यतया दशेति प्रकाश्यमपि दशधेति ॥ ३२ ॥

(१७०) कारण व्यापारों का परिगणन

'आहरण' = व्यापन, 'धारण' = रक्षण, 'आदि' शब्द से प्रकाश। उक्त क्रियाओं के सकर्मक होने से आकांक्षा होती है कि इस क्रियाओं का कर्म क्या है और वह कितने प्रकार का है? उस आकांक्षा के निवृत्ति के लिये कहते हैं—'कार्यं च तस्य दशधा।' उस त्रयोदशविध करणों में से प्रत्येक का कार्य (कर्म) 'आहार्य, धार्य, प्रकाश्य' दस प्रकार का होता है।

आहार्यम्=आहर्तुं व्याप्तुं योग्यं=व्याप्त करने योग्य वचनादि या वस्तु। धार्यम्=धर्तुं रक्षितुं योग्यं शरीरम्। प्रकाश्यम्=प्रकाशितुं ज्ञातुं समालोचितुं योग्याः शब्दादयः। 'आहार्यं' का अर्थ करते हैं—'व्याप्यमि'ति। उसी को बताते है—'कर्मेन्द्रियाणामिति।' वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ इन कर्मेन्द्रियों के क्रमशः वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग, आनन्द ये पाँचों व्याप्य (विषय) हैं। और वे पांचों वचनादि देवादिकों के दिव्य हैं। उनमें दिव्यता यही है कि हमलोगों के वचनादि की अपेक्षा सत्त्वांश की प्रधानता विशेष रहती है और वे विशेष सुखकर होते हैं। तथा वे ही पांच हमलोगों के अदिव्य=न्यून सत्त्वांशप्रधान और न्यूनसुखकर होते हैं। इस प्रकार दिव्य–अदिव्य भेद से 'आहार्य' के दस प्रकार बताये गये हैं। उसी प्रकार 'मनोऽहंकारबुद्धि' इस अन्तःकरणत्रय का प्राणापानसमानव्यानोदानात्मक साधारण व्यापार के द्वारा धार्य=धारण कर्मरूप शरीर विषय है। वह एक रहने पर भी उसके दस प्रकार प्रदर्शित करने के लिये कहते हैं—"तच्च पार्थिवादिपाञ्चभौतिकमिति।" पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पञ्चभूतों का विकारात्मक वह शरीर है। उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पञ्चतन्मात्राओं का समुदाय ही पृथ्वी है। उनमें भी सूक्ष्म शब्दादि पांच दिव्य हैं अर्थात् पांच सूक्ष्मतन्मात्राएँ दिव्य होती हैं, और स्थूलशब्दादि पांच अदिव्य होते हैं, दोनों को मिलाकर दश होते हैं। उनसे युक्त पृथ्वी भी दस प्रकार की हुई। और उसी का परिणाम होने से शरीर भी दस प्रकार का है। उसी प्रकार श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण इन पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के यथाक्रम स्थूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध व्याप्य=प्रकाश्य अर्थात् आलोचनविषय होते हैं। वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध देवताओं के दिव्य होते हैं और हम लोगों के अदिव्य होते हैं। उसी प्रकार प्रकाशकर्म भी दस प्रकार का होता है। निष्कर्ष यह है कि पांच प्रकार का आहार्य, पांच प्रकार का धार्य और पांच प्रकार का प्रकाश्य होता है॥ ३२॥

(१७१) त्रयोदशविधकरणेऽवान्तरविभागः—बाह्यान्तरभेदात्।

त्रयोदशविधकरणेऽवान्तरविभागं करोति—

अब तैंतीसवीं कारिका को उपस्थित करते हैं "त्रयोदशविधकरणे" इति। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, मन, अहङ्कार, बुद्धि इन तेरह करणों में पुनः अवान्तर विभाग अर्थात् बाह्य तथा आन्तर भेद से विभाग करते हैं। 'अवान्तरविभागं करोति' को शास्त्रीय भाषा में यदि कहना चाहें तो इस प्रकार कहेंगे—'करणत्वव्याप्यधर्मान्तरप्रतिपादनं करोति।'

(१७१) बाह्य और अवान्तर भेद से तेरह करणों के अवान्तर विभाग।

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्॥ ३३॥

अन्व०—त्रिविधम् अन्तःकरणं, दशधा बाह्यं, त्रयस्य विषयाख्यम्, बाह्यं साम्प्रतकालम्, आभ्यन्तरं करणं त्रिकालं भवति॥

भावार्थ—(मन-बुद्धि-अहङ्कार के भेद से) 'त्रिविधम्'=तीन प्रकार का, 'अन्तःकरणं'=आभ्यन्तर करण है और पंचज्ञानेन्द्रिय एवं पञ्चकर्मेन्द्रियों के भेद से दस प्रकार का, 'बाह्य'=

बाह्य करण है। उनमें भी 'बाह्यं'=बाह्यकरण, 'त्रयस्य'=अन्तकरणत्रय का, 'विषयाख्यम्'= व्यापार जनक है। एक दूसरी विशेषता यह भी है कि बाह्य करण वर्तमान मात्र को विषय करता है और मनोऽहंकार बुद्धिसंज्ञक आभ्यन्तरकरण अतीत, अनागत और वर्तमान को विषय करता है। तात्पर्य यह है—बाह्यकरण बाह्य विषयों को लेकर उन्हें मनोबुद्धि अहङ्कारात्मक अन्तःकरणत्रय के अधीन कर देता है। आख्यातीति आख्यं, विषयाणामाख्यम्=विषयाख्यम्। बाह्यकरणम् अन्तःकरणत्रयाय विषयं ददातीति यावत्।' और 'बाह्यकरणं साम्प्रतकालं भवति, साम्प्रतः कालो विषयः यस्य तत्=साम्प्रतकालम्,' अर्थात् वर्तमानकालीनसन्निकृष्ट विषय का ग्राहक है, क्योंकि अतीत और भविष्यत्कालीन असन्निकृष्ट (दूर स्थित) विषय के ग्रहण करने में बाह्यकरण का सामर्थ्य नहीं होता। लेकिन आभ्यन्तर करण तो त्रिकालं=त्रयः कालाः=विषयाः यस्य तत् अर्थात् त्रैकालिक विषयों के ग्रहण करने में समर्थ है, यही विशेष है।

(१७२) अन्तःकरणस्य त्रैविध्यम्।

"अन्तःकरणम्" इति। अन्तःकरणं त्रिविधम्—'बुद्धिरहङ्कारो मन' इति; शरीराभ्यन्तरवर्तित्वादन्तःकरणम्॥

(१७२) अतःकरण की त्रिविधता॥

"अन्तःकरणं त्रिविधमिति।" अन्तःकरण के नाम बताकर उसकी त्रिविधता को स्पष्ट करते हैं—'बुद्धिरहङ्कारो मन' इति। उसे अन्तःकरण क्यों कहते हैं? इसके उत्तर में कहा कि 'शरीराऽभ्यन्तरवर्तित्वात्।' स्थूल शरीर के अन्दर रहने वाले हृदयपद्म में वे (मन, बुद्धि अहङ्कार) रहते हैं, इसलिये उन्हें 'अन्तःकरण' कहते हैं—'अन्तः वर्तमानं करणम्। अन्तःकरणम्'।

(१७३) बाह्यकरणानां दशधात्वम्।

"दशधा" बाह्यं करणम् "त्रयस्य" अन्तःकरणस्य "विषयाख्यम्"। विषयमाख्याति—विषयसङ्कल्पाभिमानाध्यवसायेषु कर्तव्येषु द्वारीभवति। तत्र बुद्धीन्द्रियाण्यालोचनेन, कर्मेन्द्रियाणि तु यथास्वं व्यापारेण॥

(१७३) बाह्यकरणों की दशविधता॥

'दशधा बाह्यम्' यहांपर शेष पूर्ति के लिये 'करणम्' कहा गया है। बाह्यकरण—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ भेद से—दस प्रकार के हैं। 'बाह्य' और 'आभ्यन्तर' करण का 'द्वारद्वारिभाव' बताते हैं—"त्रयस्य" के शेष पूरणार्थ 'अन्तःकरणस्य' कहा गया है। "विषयाख्यम्" इति। आख्याति=कथयति अर्थात् ददाति इति आख्यम्, विषयाणाम् आख्यम्=विषयाख्यम्। बाह्यकरण ही विषयदान के द्वारा मनः प्रभृति अन्तःकरणों को व्यापारयुक्त बना देते हैं। इसी अर्थ को 'विषयेति' के द्वारा बता रहे हैं—ये दस बाह्यकरण ही तीनों आभ्यन्तरकरणों (मन–बुद्धि–अहङ्कार) के संकल्प, अभिमान तथा अध्यवसायरूप व्यापार करने में द्वार होते हैं, अर्थात् विषयसमर्पक होते हैं। बाह्येन्द्रियों के अधीन रहकर अन्तःकरण बाह्य विषय में प्रवृत्त होता है, तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण की बाह्य पदार्थविषयकवृत्ति पैदा करने में बाह्येन्द्रिय सहायक रहता है। 'समर्पकत्व' को स्पष्ट करते हैं—'तत्रेति'। दस बाह्यकरणों में से 'बुद्धीन्द्रियां' (ज्ञानेन्द्रियां) आलोचन करती हुई (विषय का सम्मुख भाव से ग्रहण करती हुई) आलोचन व्यापार के द्वारा सहायक होती हैं। और 'कर्मेन्द्रियां'

यथास्वं = अपने अपने व्यापार के द्वारा। जैसे—'वाक्' वचन व्यापार के द्वारा, 'हस्त' आदान व्यापार के द्वारा, 'पाद' विरहणव्यापार के द्वारा 'पायु' उत्सर्जन व्यापार के द्वारा, 'उपस्थ' आनन्द व्यापार के द्वारा सहायक होता है। निष्कर्ष यह है—वागिन्द्रिय प्रथमतः पदों को उपस्थित करता है, उसके पश्चात् 'इस पद का यहां प्रयोग करना उचित है' इस प्रकार 'मन' संकल्प करता है। पश्चात् "इन पदों को मैं बोल सकता हूँ" इस प्रकार 'अहङ्कार' अभिमान करता है। उसके पश्चात् 'इन शब्दों से मैं दूसरों को समझाता हूँ' इस प्रकार बुद्धि के द्वारा अध्यवसाय (निश्चय) करता हुआ वचन बोलता हैं। अर्थात् कर्मेन्द्रियों के व्यापार से पदार्थ (विषय) उपस्थित किये जाने पर बुद्धीन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियों) की प्रवृत्ति होती है, पश्चात् अन्तः-करण की प्रवृत्ति होती है।

(१७४) बाह्यान्तरकरण-योर्भेदः–बाह्यकारणानां वर्तमानकालीनत्वं, अन्तःकरणानां त्रिकालीनत्वम्॥

बाह्यान्तरयोः करणयोर्विशेषान्तरमाह—"साम्प्रतकालम्" इति। वर्तमानकालं बाह्यमिन्द्रियम्। वर्तमानसमीपमनागतमतीतमपि वर्तमानम्; अतो वागपि वर्तमानकालविषया भवति। "त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्" इति। तद्यथा—नदीपूरभेदादभूद् वृष्टिः; अस्ति धूमादग्निरिह नगनिकुञ्जे, असत्युपघातके पिपीलिकाण्डसञ्चरणाद्भविष्यति वृष्टिरिति, तदनुरूपाश्च सङ्कल्पाभिमानाध्यवसाया भवन्ति॥

(१७४) बाह्य और आभ्यन्तर करणों में भेद—बाह्य-करण-वर्तमानकालीन होते हैं और आभ्यन्तर करण त्रैकालिक होते।

बाह्य–आभ्यन्तर करणों का भेद 'द्वार–द्वारिभाव' के द्वारा बताकर दूसरे प्रकार से भी एक और भेद उनका बताते हैं "साम्प्रतःकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणमिति।" 'साम्प्रतः कालो विषयो यस्य तद्' इस व्युत्पत्ति के बल पर 'साम्प्रतकाल' पद की व्याख्या करते हैं—'वर्तमानकालमिति।' 'बाह्य' पद का अर्थ करते हैं—'इन्द्रियमि'ति। अर्थात् लौकिक दस इन्द्रियां वर्तमानकाल में समीपस्थित विषयों को ग्रहण करपाती हैं। जैसे—प्रथम क्षण में 'शब्दोत्पत्ति' और द्वितीय क्षण में उसकी 'स्थिति', उसी समय के शब्द का श्रोत्र से ग्रहण किया जाता है। उत्पत्ति-क्षण में शब्द का ग्रहण नहीं हो पाता। उसी प्रकार वचन (शब्द) को छोड़कर अन्य व्यापार और विषय, जिनकी समानकाल में स्थिति रहती है उन्हीं का बाह्येन्द्रियों से ग्रहण होता है, लेकिन योगियों की अलौकिक शक्तिशाली इन्द्रियों के लिये यह नियम नहीं है।

शंका—शब्दोच्चारण तो वागिन्द्रिय का विषय है, इसलिये वह वागिन्द्रिय से ही पैदा होगा, पूर्व से ही वह सिद्ध तो है नहीं। एवं च 'वागिन्द्रिय' अनागत (भविष्य) विषयक होने से वह वर्तमान काल के विषय का ग्राहक कैसे होगा?

समा०—"वर्तमानेति" वर्तमानकाल के समीप रहने वाले अनागत (भविष्य) को भी वर्तमान के रूप में स्वीकार किया जाता है। अतः 'शब्दोच्चारण को विषय करने वाले वागिन्द्रिय' में भी वर्तमानकाल विषयता बन जाती है। उसी प्रकार वर्तमान के समीप रहने वाला 'अतीतकाल भी वर्तमान काल के रूप में समझा जाता है। महर्षि पाणिनि ने कहा है "वर्तमानसामीप्येवर्तमानवद्वा" तीनों क्षणों में वर्तमानता का व्यवहार होता है। अतः वर्तमान के समीप अतीत–अनागत में भी वर्तमान काल का व्यवहार होने से विषय के पूर्व रहने

वाली 'वाक्' भी वर्तमानविषया कही जाती है। 'त्रिकालमिति'। 'त्रयः कालाः यस्य तत् = त्रिकालम्' करण संप्रयोगदशा में वर्तमान, तथा उसके पूर्व एवं उसके उत्तर अर्थात् तीनकालों में रहने वाला है विषयसत्ताकाल जिसका ऐसा आभ्यन्तर करण होता है। अर्थात् अन्तःकरण का जो विषय हो, उसका जो काल, वह तत्करणसंप्रयोग दशा में या तो वर्तमान के रूप में होगा या अतीत काल के रूप में होगा या भविष्यकाल के रूप में होगा।

अन्तःकरण का व्यापार तीनों कालों को विषय करता है उसे स्पष्ट करने के लिये प्रथमतः अतीत विषयक अनुमान करते हैं—'नदीपूरभेदात्' इति। नदी के पूरविशेष से अनुमान होता है कि वृष्टि हुई थी जैसे "भूतकालीना उपरिदेशसम्बन्धिनी नदी, वृष्टिमती, पूरविशेषात्।" नदी के पूर को आंखों से देखने पर 'मन' संकल्प करता है—'यत्र पूरविशेषः तत्र वृष्टिः' तदनन्तर भूतकालीन नदी और वृष्टि का 'अहंकार' के द्वारा 'अभिमानवृत्ति' रूप 'परामर्श' किया जाता है 'वृष्टिव्याप्यपूरविशेषवती इयमेव नदी।' तदनन्तर भूतकालीन नदी वृष्टि की 'अध्यवसायात्मिका अनुमिति' होती है—'नदी वृष्टिमती।' अब वर्तमान कालीन अनुमानवृत्तिक दृष्टान्त को कहते हैं—'अस्तीति'। पर्वत के वृक्षलताच्छादित प्रदेश में अग्नि है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होगा—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' प्रथम क्षण में आंख से धूम देखा गया, द्वितीय क्षण में मन ने संकल्प किया—'यत्र धूमस्तत्र वह्निः' तृतीय क्षण में अहंकार ने 'वह्निव्याप्यधूमवानयमेव पर्वतः' इस प्रकार परामर्शात्मक अभिमान किया। तब चतुर्थ क्षण में बुद्धि 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारक अध्यवसाय कर पाती है। प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त होने वाले वह्नि के परिणाम विशेष में भी परिणामी वह्नि तो एक ही माना जाता है इसलिये संकल्प, अभिमान, अध्यवसायों की अपने अपने क्षण में वह्नि के साथ समान कालता बन जाती है।

अब भविष्यत् कालीन अनुमानवृत्तिक दृष्टान्त दे रहे हैं—'असत्युपघातके' इति। शलाका आदि के द्वारा उपद्रव करने पर यदि पिपीलिकाएँ अपने अण्डों के साथ बिल से बाहर निकलती हैं तो वह वृष्टि की सूचक नहीं होतीं, इसीलिये कहा "असत्युपघातके" एवं च वर्षा के मूलकारणभूत महाभूतसंक्षोभ के होने पर पृथ्वी की ऊष्मा से बिलबिलाई हुई पिपीलिकाएं पृथ्वी के बिलों में रखे हुए अण्डों को ऊपर लेकर जब संचार करने लगती हैं तब वर्षा के सूचक उस पिपीलिकाण्डसंचरण से भविष्यद् वृष्टि का अनुमान होता है—'भविष्यत्कालः वृष्टिमान् असत्युपघातके पिपीलिकाण्डसंचरणात्।' तब किसी प्रकार के उपद्रव न रहने पर भी पिपीलिकाण्डसंचार हुआ करता है, तब तदुत्तरकाल में वृष्टि होनी चाहिये—इस प्रकार से संकल्प करता है। तदनन्तर 'वृष्टिनियतोपघातशून्यपिपीलिकाण्डसंचरणसमुपलक्षणीयवृष्टिमद्भविष्यकाल ही है'—ऐसा अभिमान करता है। तदनन्तर 'भविष्यत्कालो वृष्टिमान्' इस प्रकार अध्यवसाय करता है। भविष्यत्काल और वृष्टि का संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय के साथ समानकाल न रहने पर भी 'ग्राह्य-ग्राहकभाव' बन जाता है।

(१७५) सांख्यमते कालस्य न तत्त्वान्तरत्वम्।

कालश्च वैशेषिकाभिमत एको न अनागतादिव्यवहारभेदं प्रवर्तयितुमर्हति। तस्मादयं यैरुपाधिभेदैरनागतादिभेदं प्रतिपद्यते। सन्तु त एवोपाधयः, ये ऽनागतादिव्यवहारहेतवः, कृतमत्रान्तर्गडुना कालेनेति सांख्याचार्याः, तस्मान्न कालरूपतत्त्वान्तराभ्युपगम इति ॥ ३३ ॥

(१७५) सांख्य के अनुसार 'काल' नाम का कोई पृथक् तत्त्व नहीं है।

'त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्' कह कर 'सांख्याचार्य' ने 'वैशेषिकों' की तरह 'काल' को तत्त्वान्तर के रूप में स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि सांख्याचार्यों ने 'काल' को उपाधि के अन्तर्गत माना है—इसी बात को 'कालश्चेति' ग्रन्थ से कहते हैं[1]। वैशेषिक दर्शनकार कणादऋषि ने 'काल' को द्रव्य के रूप में एक अलग तत्त्व माना है 'अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि[2]'' (अ. २, आ. २, सू. ६), वह 'काल' एक है अर्थात् स्वसजातीयकालव्यक्तिभेद से शून्य है अतः "न अनागतादिव्यवहारभेदं प्रवर्तयितुमर्हति।" जो स्वरूपतः ही एक और नित्य वस्तु है उसके अपने में ही दो, तीन आदि स्वगतभेद कैसे हो सकते हैं ? एवं च 'काल' अपने में ही अतीत, वर्तमान, अनागत इन स्वगतभेदों को सिद्ध नहीं कर सकता। क्योंकि 'स्वस्य स्वभेदजनकत्वाभावात्' यह नियम है। इसलिये काल के दिन, मास, संवत्सर, युग, अतीत, वर्तमान, अनागत आदि भेद, उपाधि के कारण होते हैं। अर्थात् अतीत सूर्यक्रियासंबन्धरूप उपाधि से उसमें अतीतत्व है, वर्तमानसूर्यक्रियासंबंध से उसमें वर्तमानत्व है और अनागत सूर्यक्रियासंबंध से उसमें भविष्यत्त्व है। वास्तव में काल तो नित्य, अखण्डदण्डायमान एक ही है। ये उपाधियां चार प्रकार की होती हैं—जैसे—स्वजन्यविभागप्रागभावावच्छिन्न कर्म, पूर्वसंयोगावच्छिन्न विभाग, पूर्वसंयोगनाशावच्छिन्नोत्तरसंयोगप्रागभाव, उत्तरसंयोगावच्छिन्नकर्म। प्रत्येक 'उपाधि' तत्तद्विशिष्टकालरूप क्षण कहलाती है और क्षणसमुदाय 'दिन' कहलाता है—यह वैशेषिकों का मत है। उन्होंने प्रशस्तपादभाष्य में बताया है—"एकत्वेऽपि सर्वकार्याणामारम्भक्रियाभिनिर्वृत्तिस्थितिनिरोधोपाधिभेदान्मणिवत् पाचकादिवद्वा-नानात्वोपचारः"—'आरम्भ का अर्थ है उपक्रम, क्रियाया अभिनिर्वृत्ति = परिसमाप्ति, स्थिति = स्वरूपावस्थान, निरोध = नाश इन उपाधियों के भेद से नानात्व का व्यवहार होता है। जैसे—स्फटिक एक ही है फिर भी तत्तन्नीलादिरूप उपाधियों के भेद से अनेकरूप का होता है। जैसे 'पुरुष' एक ही है लेकिन तत्तत्क्रिया भेद से पाचक, पाठक आदि कहलाता है। उसी तरह काल भी एक ही है किन्तु उपाधिभेद से उसके भिन्न भिन्न रूप हो जाते हैं[3]।

अब कालतत्त्व को वैशेषिकों ने जो पदार्थान्तर के रूप में स्वीकार किया है, उसके खण्डनार्थ कौमुदीकार कहते हैं—"सन्तु त एव०" इति। जो कर्म, विभाग, प्रागभाव, कर्म ये चार उपाधियाँ हैं अथवा कार्यारम्भ, कार्यस्थिति, कार्यनिरोधरूप उपाधियां हैं, उन्हें ही भविष्यत्काल, वर्तमानकाल, अतीतकाल आदि शब्दप्रयोगात्मक व्यवहार का कारण मान लिया जाय। अर्थात्

---

१. 'त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्' सुनकर किसी को यह भ्रम नहीं करना चाहिये कि पंचविंशति तत्त्वों के अतिरिक्त 'कालतत्त्व' को भी सांख्यचार्यों ने माना है।

२. वै० सू० में स्थित 'इति' शब्द 'प्रत्यय' (ज्ञान) प्रकार परक है, उसका प्रत्येक के साथ संबंध होता है। तथा च—अपरमिति प्रत्ययः, युगपदिति प्रत्ययः, चिरमिति प्रत्ययः, क्षिप्रमिति प्रत्ययः इति काललिङ्गानि। "अपरस्मिन्नपरम्" से "परस्मिन् परम्" भी समझना चाहिये—ऐसा उपस्कारकार कहते हैं।

३. "यथा एकस्मिन् पुरुषे अनेक संबंधभेदानुविधायिनि अभिन्ने "पिता पुत्रोभ्राता" इति प्रत्यया भवन्ति, तद्वदेकः कालः कार्यकारण विशेषापेक्षः परापरादिप्रत्ययहेतुः" इति न्यायवार्तिककारः। अस्यायमर्थः—कार्यस्य = परापरादेः प्रत्ययस्य, यः कारणविशेषः = बहुतराल्पतरातीततपन परिस्पन्दावच्छिन्न कालपिण्डसंयोगः, तदपेक्षः—काल एकोऽपि परापरादि प्रत्ययहेतुः। इति सारबोधिनी।

इन उपाधियों से ही अनागतादिव्यवहार रूप शब्दतत्त्व को स्वीकार करना चाहिये। तात्पर्य यह है—'उपाधियां' ही क्षण, दिन मासादि काल की बोधक हैं, उसके अतिरिक्त एक कालतत्त्व मानने की आवश्यकता नहीं ऐसा कपिलादि सांख्याचार्य का कहना है। अतः अतीतादिव्यवहारात्मक शब्द का निर्वाह उपाधि से ही जब हो जाता है तब पंचविंशतितत्त्वों के अतिरिक्त एक और कालतत्त्व को स्वीकार करना उचित नहीं है॥ ३३॥

(१७६) बाह्येन्द्रियविषयविवेचनम्।

साम्प्रतकालानां बाह्येन्द्रियाणां विषयं विवेचयति—

(१७६) बाह्येन्द्रियों के विषय का विवेचन।

चौतीसवीं कारिका को उपस्थित करने के हेतु कौमुदीकार कहते हैं—"साम्प्रतकालानामि"ति। स्वसमानकालीनवस्तुग्रहणसमर्थ=अपने काल में स्थित वस्तु के ग्रहण करने में समर्थ (वर्तमानकालीनवस्तु को विषय करने वाले) श्रोत्रादि दस बाह्येन्द्रियों के विषयों को पृथक् २ बताते हैं।

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि॥ ३४॥

अन्वयः—तेषां पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि विशेषाऽविशेषविषयाणि वाक् शब्दविषया भवति, शेषाणि तु पञ्चविषयाणि (भवन्ति)॥

भावार्थ—'तेषां' = दसबाह्येन्द्रियों में से, 'पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि' = श्रोत्रादि पांच ज्ञानेन्द्रियां, विशेषाऽविशेषविषयाणि' = विशेष और अविशेष को अपना विषय बनाती हैं। अर्थात् हमारी पांच ज्ञानेन्द्रियों के विशेष (स्थूल) पृथ्वी, जल आदि पांच प्रत्यक्ष के विषय हैं। और योगियों के अविशेष (अतीन्द्रिय) पञ्च तन्मात्राएँ प्रत्यक्ष की विषय हैं। उसी प्रकार पांच कर्मेन्द्रियों में से 'वाक् = वागिन्द्रिय, 'शब्दविषया भवति' = शब्द का जनक होने से स्थूल शब्द को ही विषय करता है, और सूक्ष्म शब्द, वागिन्द्रिय का विषय नहीं होता, क्योंकि वागिन्द्रिय तथा सूक्ष्म शब्द दोनों 'एक ही अहंकार के' कार्य हैं। 'शेषाणि तु' = बाकी के हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ इन चार कर्मेन्द्रियों के 'पंचविषयाणि भवन्ति' = पांच पांच विषय होते हैं॥

(१७७) बुद्धीन्द्रियाणां विषयाः स्थूलसूक्ष्मरूपाः।

"बुद्धीन्द्रियाणि" इति। "बुद्धीन्द्रियाणि" तेषां दशानामिन्द्रियाणाम्मध्ये "पञ्च," "विशेषाविशेषविषयाणि" विशेषाः स्थूलाः शब्दादयः शान्तघोरमूढरूपाः पृथिव्यादिरूपाः, अविशेषास्तन्मात्राणि सूक्ष्माः शब्दादयः, मात्रग्रहणेन स्थूलभूतमपाकरोति। विशेषाश्च अविशेषाश्च विशेषाविशेषाः, त एव विषया येषां बुद्धीन्द्रियाणां तानि तथोक्तानि। तत्रोर्ध्वस्रोतसां योगिनाञ्च श्रोत्रं शब्दतन्मात्रविषयं स्थूलशब्दविषयं च, अस्मदादीनां तु स्थूलशब्दविषयमेव। एवन्तेषां त्वक् स्थूलसूक्ष्मस्पर्शविषया अस्मदादीनां तु स्थूलस्पर्शविषयैव। एवञ्चक्षुरादयोऽपि तेषामस्मदादीनां च रूपादिषु सूक्ष्मस्थूलेषु द्रष्टव्याः॥

"बुद्धीन्द्रियाणि तेषां०" की व्याख्या करते हैं—दशानामि'ति। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन दस इन्द्रियों में से श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रियां विशेष-अविशेष विषयक होती हैं। 'विशेषाऽविशेष विषयाणि' की व्याख्या करते हैं—'विशेषा०' इति। 'विशेष' पद का अर्थ है कार्य—जैसे—"स्थूलाः शब्दादय" इति। स्थूल शब्दादिकों को 'विशेष' क्यों कहा जाता है? उत्तर देते हैं—"शान्तघोरमूढरूपा" इति। 'अभिव्यक्तः शान्तः, घोरः, मूढः परिणामो येषां ते तादृशाः।' एवं च विशेष का स्वरूप यह हुआ—'अभिव्यक्त-शन्त-घोर-मूढाऽन्यतमवत्वं विशेषत्वम्'। अभिव्यक्त हुओं को स्थूल कहते हैं, अतः अभिव्यक्त होने वाले पृथिव्यादिपञ्चभूत स्थूल हैं, धर्म और धर्मी के अभेदाभिप्राय को "पृथिव्यादिरूपाः' कहकर व्यक्त किया है। 'शब्दादितन्मात्राओं' के परिणाम से स्थूल शब्दादि पैदा होते हैं, और वे ही शांत घोर, मूढ होने से (शान्त-विपञ्ची आदि का ध्वनि, घोर—मेघादि का ध्वनि, मूढ—व्याघ्रादि का ध्वनि) पृथिव्यादि भूतरूप हैं।

(१७७) बुद्धीन्द्रियों के स्थूल-सूक्ष्म विषय।

'अविशेष' पद का अर्थ बताते हैं—'तन्मात्राणि' इति। 'तन्मात्र' शब्द की व्याख्या है—'सूक्ष्माः शब्दादयः' इति। 'तन्मात्राओं' को 'अविशेष' क्यों कहते हैं? उत्तर है—उनका अभिव्यक्त शान्त, घोर, मूढ रूप से परिणाम नहीं होता, इसलिये उन्हें अविशेष कहते हैं, यही उनकी अविशेषता है। 'तन्मात्राणि' में 'मात्र' पद देने की आवश्यकता क्यों हुई? उत्तर देते हैं—'मात्रग्रहणेन' इति। मात्र पद देने से 'स्थूल भूत' अर्थात् स्थूलभाव को प्राप्त हुए 'शब्दाद्यात्मक पृथिव्यादिपञ्चभूतसमुदाय' की व्यावृत्ति हो जाती है। अर्थात् महाभूतों के रूप में होने वाले परिणाम की व्यावृत्ति करने के लिये 'मात्र' पद दिया गया है। 'स्थूल भूतों' को तन्मात्र शब्द से नहीं कहा जाता। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, अकाश—ये भूत विशेष स्थूल हैं। इनमें से 'पृथ्वी' का गुण 'गन्ध' है। 'जल' का गुण 'रस' है। 'तेज' का गुण 'रूप' है। 'वायु' का गुण 'स्पर्श' है। 'आकाश' का गुण 'शब्द' है। गन्धादि गुण वाले पृथ्वी आदि पंच भूतों को 'हाथ' अपने आदानव्यापार के द्वारा आहार्य (ग्राह्य) बना लेते हैं। 'पैर' अपने गमन व्यापार के द्वारा उन्हें आहार्य (ग्राह्य) बना लेते हैं। 'पायु इन्द्रिय' के द्वारा वे उत्सृष्ट होते हैं। 'लिङ्ग' से अपने आनन्द व्यापार के द्वारा वे वीर्यादि आहार्य (स्खलित) किये जाते हैं। इस रीति से पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये चार कर्मेन्द्रियां स्थूल पृथ्वी, जलादि की ग्राहक होने से उनमें (पृथ्वीजलादिकों में) तादात्म्यरूप से स्थित स्थूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की भी ग्राहक होती हैं। 'विशेषाऽविशेषविषयाणि' में 'द्वन्द्व' समास है—विशेषाश्च अविशेषाश्च विशेषाऽविशेषाः। इसके बाद 'बहुव्रीहि समास' है—ते (विशेषाऽविशेषा) एव विषयाः (वृत्ति ग्राह्याः) येषां = बुद्धीन्द्रियाणां तानि। उनका समन्वय दिखाते हैं—'तत्रेति।" 'तत्र' का अर्थ है—विशेषाऽविशेषविषयक इन्द्रियों में। 'ऊर्ध्वस्रोतसाम्'[१] = ऊर्ध्वमेव रेतःस्रोतो येषां ते तेषाम्—जिनका

---

१. 'ऊर्ध्वस्रोतस्' वे कहलाते हैं, जिनका रेतःस्रोत सदैव ऊर्ध्व ही बहता है कभी भी नीचे की ओर नहीं बहता। जैसे जनक, सनक, सनन्दनादि तथा भीष्मादि नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं वीतराग परमहंस सन्यासी। तथाच—'अष्टविधमैथुनेच्छारहितत्वम्'—ऊर्ध्वरेतस्त्वम्।

अष्टविधमैथुनानि—'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ नैष्ठिक ब्रह्मचारी उसे कहते हैं, जो आजीवन ब्रह्मचारी रहकर गुरुकुल में निवास करता है और ब्रह्मचर्य समाप्तकर गृहस्थाश्रम में जो प्रवेश करता है, उसे उपकुर्वाण कहते हैं।

ऊर्ध्वरेतःस्रोत है। जैसे—भीष्म प्रभृति नैष्ठिक ब्रह्मचारियों का और योगाभ्याससंपादित दिव्यसामर्थ्यसम्पन्नयोगियों[1] का श्रोत्रेन्द्रिय, 'सूक्ष्मतन्मात्रात्मक शब्द' को और 'स्थूलशब्द' को भी विषय करता है और हम जैसे पार्थिवप्रधान शरीरधारी मनुष्यों का श्रोत्रेन्द्रिय केवल 'स्थूल शब्द' को ही विषय करता है। उसी प्रकार उन योगियों और देवताओं का त्वगिन्द्रिय 'स्थूल, सूक्ष्म दोनों प्रकार के स्पर्श' को विषय करता है, किन्तु स्थूलपार्थिव शरीरधारी हमलोगों का त्वगिन्द्रिय 'स्थूलस्पर्श' का ही ग्राहक होता है। उसी प्रकार उन ऊर्ध्वस्रोताओं और योगियों की चक्षुरादि इन्द्रियां भी अर्थात् चक्षु, रसना, घ्राण, 'स्थूल, सूक्ष्म उभयविध रूप, रस, गन्ध विषयक' होती हैं, परन्तु हम लोगों के चक्षु, रसना और घ्राण केवल 'स्थूल रूप, रस, गन्धविषयक' होते हैं।

(१७८) कर्मेन्द्रियाणां विषयाः।

एवं कर्मेन्द्रियेषु मध्ये "वाग्भवति शब्दविषया" स्थूलशब्दविषया, तद्धेतुत्वात्। न तु शब्दतन्मात्रस्य हेतुस्तस्याहङ्कारिकत्वेन वागिन्द्रियेण सहैककारणकत्वात्। "शेषाणि तु" चत्वारि पायूपस्थपाणिपादाख्यानि "पञ्चविषयाणि" पाण्याद्याह्यार्याणां घटादीनां पञ्चशब्दाद्यात्मकत्वादिति ॥ ३४ ॥

(१७८) कर्मेन्द्रियों के विषय।

अब 'कर्मेन्द्रियों' की 'विशेषता' बताते हैं—"एवमित्यादि"। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ संज्ञक कर्मेन्द्रियों में से जो 'वागिन्द्रिय' है, वह केवल 'स्थूल शब्द' को विषय करता है। क्यों ?—ऐसा प्रश्न करने पर उत्तर देते हैं—' तद्धेतुत्वादिति।" 'वागिन्द्रिय' अपने उच्चारणात्मक व्यापार के द्वारा 'स्थूल शब्द' का जनक (हेतु) है। अनुमानप्रयोग—"वागिन्द्रियं स्थूलशब्दविषयं, स्थूलशब्दमात्रहेतुत्वात्।" 'वागिन्द्रिय', सूक्ष्म शब्द का उच्चारण करने में असमर्थ होने से वह सूक्ष्मशब्द' का हेतु नहीं है, यह "न शब्दतन्मात्रस्य हेतुः" के द्वारा बता रहे हैं।

अनुमानप्रयोग इस प्रकार है—"वागिन्द्रियं, न शब्दतन्मात्रविषयकं, शब्दतन्मात्रहेतुत्वाभाववत्वात्।' शब्दतन्मात्रा के प्रति वागिन्द्रिय हेतु क्यों नहीं है ? उत्तर देते हैं—"तस्येति।" 'वागिन्द्रिय' का उपादानकारण 'सात्त्विक अहंकार' है और 'सूक्ष्म शब्द' का भी उपादानकारण 'सात्त्विक अहंकार' है, अतः वागिन्द्रिय और शब्दतन्मात्रा (सूक्ष्म शब्द) दोनों का कारण समान (एक) है। अतः वे दोनों समानकालोत्पत्तिवाले हैं। 'समानकालोत्पत्तिक दो वस्तुओं में पौर्वापर्य (क्रम) न होने से कार्य-कारणभाव नहीं रहता।'

---

१. "स्वर्णे लोष्टे गृहेऽरण्ये सुस्निग्धे चन्दने तथा। समताभावना यस्य स योगी परिकीर्तितः ॥" ब्रह्मवैवर्त्त।

"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥"
—भगवद् गीता।

"सर्वकर्माणि सन्न्यस्य समाधिमचलं श्रितः। य आस्ते निश्चलो योगी स सन्न्यासी न पञ्चमः ॥
योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिकः सांख्य एव च। तृतीयोऽत्याश्रमी प्रोक्तो योगमुत्तममास्थितः ॥
कूर्मपु०।

अथवा—असमानकालीन उत्पत्ति मानें तो 'तन्तुकारणकसंयोग' और 'पट' में कार्य-कारण-भाव दिखलाई पड़ता है, इसलिये 'समानकारणकद्रव्ययोर्न कार्य-कारणभावः, एक कारणवाले दो द्रव्यों में कार्य-कारणभाव नहीं होता—इस अर्थ में तात्पर्य समझना चाहिये। बाकी बचे हुए पायु, उपस्थ, पाणि और पाद इन चारों के शब्दादि पांच स्थूल विषय होते हैं। क्योंकि पाणि से आहार्य घटादि स्थूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस' गन्धात्मक प्रतीत होते हैं। पैरों से आहार्य (विहरण विषय) भूतलादि स्थूल शब्दादिपञ्चात्मक प्रतीत होते हैं। पायु से उत्स्रष्टव्य मलादि स्थूल-शब्दादि पंचात्मक प्रतीत होते हैं। उपस्थ से आनन्द के योग्य वीर्यादि स्थूल शब्दादि पंचात्मक प्रतीत होते हैं ॥ ३४ ॥

साम्प्रतं त्रयोदशसु करणेषु केषाञ्चिद्गुणभावं केषाञ्चित्प्रधानभावं सहेतुमाह—

अब पैंतीसवीं कारिका को उपस्थित करने के हेतु "साम्प्रतमिति।" तेरह करणों में से कुछ करणों (दश बाह्येन्द्रियों) के गुणभाव = उपकारभाव अर्थात् द्वारत्व और कुछ करणों (मन, अहंकार, बुद्धि इन आभ्यन्तर करणों) के प्रधानभाव = उपकार्यभाव अर्थात् द्वारित्व को हेतु (युक्ति) सहित बताते हैं—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

अन्व०—यस्मात् सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयम् अवगाहते, तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, शेषाणि द्वाराणि ॥

भावार्थः—'यस्मात्' = जिस कारण, 'सान्तःकरणाबुद्धिः' = मन और अहंकारसहित बुद्धि, सर्वं विषयम्' = बाह्येन्द्रियों के द्वारा अर्पित समस्त विषय (पदार्थ) का, 'अध्यवस्यति' = निश्चय करती है। 'तस्मात्' = इसलिये, 'त्रिविधं करण' = मनोऽहंकारबुद्ध्यात्मक तीनों प्रकार के करण, 'द्वारि' = प्रधान हैं। 'शेषाणि' = अवशिष्ट बाह्य दशविध करण, 'द्वाराणि' = अप्रधान हैं ॥

(१७९) सर्वविषकरणेषु अन्तःकरणानां प्राधान्यम् ।

"सान्तःकरणा" इति। "द्वारि" प्रधानम्। "शेषाणि" करणानि बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि। तैरुपनीतं सर्वं विषयं समनोऽहङ्कारा बुद्धिः यस्मादवगाहतेऽध्यवस्यति, तस्माद्बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि, द्वारवती च सान्तःकरणा बुद्धिरिति ॥ ३५ ॥

(१७९) समस्त करणों में अन्तःकरणों की प्रधानता ।

'द्वारीति'। 'द्वारम् = उपकारकम् अस्यास्ती'ति द्वारि अर्थात् प्रधान। 'बाह्यकरण' विषय के आकारका प्रदान कर बुद्धि पर उपकार करते हैं। और बुद्धि, उन विषयों का साक्षात् भोग करने के लिये आत्मा को उनका समर्पण करती है। इसलिये राजा के प्रधान के तुल्य प्रधान करण बुद्धि है। अवशिष्ट दश बाह्येन्द्रिय (करण) 'द्वार' (उपकारक, या अप्रधान) हैं। इसी का 'उपपादन' करते हैं—"तैरिति।" उन दशबाह्य-इन्द्रियों के द्वारा उपनीत (वृत्ति में धार्य के आकार में अवस्थापित) समस्त यथाक्रम प्राप्त—घटादि विषयों को मन और अहंकार के सहित अर्थात् मन के द्वारा संकल्पित और अहंकार के

द्वारा अभिमत घटादि पदार्थों को बुद्धि निश्चित करती है (अन्तिम व्यापार करती है), इसलिये बाह्य 'दस इन्द्रियां' द्वार (अप्रधान) कहलाती हैं। और 'सान्तःकरणा (मनोऽहंकार सहित) बुद्धि' द्वारवती (प्रधान) कहलाती हैं। निष्कर्ष यह है—'बाह्य इन्द्रियां' द्वार हैं और 'मन' द्वारि है, और जब 'मन' द्वार हो तब 'अहंकार' द्वारी है, और जब 'अहंकार' द्वार हो तब 'बुद्धि' द्वारिणी है—यह क्रम है। अर्थात् 'बाह्यइन्द्रियां'। केवल द्वार हैं, और मन तथा 'अहंकार' द्वार और द्वारी दोनों हैं। किन्तु 'बुद्धि' तो केवल द्वारिणी है ॥ ३५ ॥

न केवलं बाह्यानीन्द्रियाण्यपेक्ष्य प्रधानं बुद्धिः, अपि तु ये'ऽप्यहङ्कारमनसी द्वारिणीते अप्यपेक्ष्य बुद्धिः प्रधानमित्याह—

अब छत्तीसवीं कारिका को उपस्थित कराने के हेतु कौमुदीकार कहते हैं—"न केवलमि"ति। केवल 'दस बाह्यइन्द्रियों' की अपेक्षा से ही 'बुद्धि' की प्रधानता नहीं है अपितु 'अहंकार, मन' जो दस बाह्येन्द्रियों की अपेक्षा से प्रधान हैं, उनकी अपेक्षा से भी 'बुद्धि' प्रधान है :—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

अन्वयः—एते परस्परविलक्षणा (अपि) गुणविशेषाः प्रदीपकल्पाः पुरुषस्य कृत्स्नम् अर्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥

भावार्थः—'एते' = श्रोत्रादि दशेन्द्रिय, मन, अहंकार 'परस्परविलक्षणाः' = स्वतंत्ररूप से परस्पर विरुद्ध विषयों के ग्राहक अर्थात्—जैसे आंखें देवमूर्ति का दर्शन करती हैं और मन परकामिनी विषयक संकल्प करता रहता है, इस प्रकार असम्बद्ध विषयों के ग्राहक—रहते हुए भी 'गुणविशेषाः' = द्वार विशेष, त्रिगुणविकारात्मक द्वादश करण विशेष 'प्रदीपकल्पाः' = परस्पर विरुद्ध रहते हुए भी बत्ती, तेल, अग्नि सब मिलकर जैसे प्रदीप के रूप में प्रकाश करते हैं ठीक उसी तरह 'एते' = परस्पर विरुद्ध स्वतन्त्र कार्य करनेवाले उपर्युक्त द्वादश करण 'पुरुषस्य' = पुरुष को 'कृत्स्नम् अर्थं प्रकाश्य' = समस्त विषय (पदार्थ) प्रदर्शित करने के लिये (उन सब पदार्थों को) 'बुद्धौ' = बुद्धि को 'प्रयच्छन्ति' = अर्पण कर देते हैं ॥

(१८०) अन्तःकरणेष्वपि बुद्धेः प्राधान्यम् ।

"एते" इति । यथा हि ग्रामाध्यक्षः कौटुम्बिकेभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छति, विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय, स च भूपतये; तथा बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति मनश्च सङ्कल्प्याहङ्काराय, अहङ्कारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभूतायां,-तदिदमुक्तम्—"पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति" इति ॥

---

१. 'ये अपि, ते अपि'—दोनों जगह "ईदूदेद्" सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा होने से संधि नहीं हुई।

२. यो विषयः बाह्येन्द्रियेषु भासते, स एव विषयः अन्तरिन्द्रिये मनसि विशेष रूपेण पतति, पुनः स, एव विषयः अहंकारे गच्छति यस्य, तस्य अभिमानो भवति, ततः स एव विषयः तद्द्वारा, बुद्धौ भासते, अतः एषु सर्वं प्रधाना बुद्धिरेव अस्ति।

सांख्यमते—इन्द्रियादि संघातस्य अध्यक्षं बुद्धितत्त्वमेव अस्ति, नैयायिकमतवत् आत्मा अध्यक्षो नास्ति। नैयायिकानां मते हि सर्वेषां, पदार्थानां ज्ञानं साक्षात्संबंधेन आत्मन्येव उत्पन्नं

कारिका को स्पष्ट करने के लिये कौमुदीकार लौकिक दृष्टान्त दे रहे हैं—"यथाहीति।" जैसे—संरक्षक राजकीय कर्मचारी ग्रामीण किसानों से, नागरिकों से कर (टैक्स) वसूल कर अपने ऊपर के अधिकारी जिलाध्यक्ष को अर्पण करता है, और जिलाध्यक्ष सबके ऊपर रहने वाले अधिकारी प्रधानमंत्री को अर्पण करता है, और वह प्रधानमंत्री राजा को अर्पण करता है, ठीक उसी तरह 'दस बाह्येन्द्रियां' अपने-अपने निर्धारित विषयों को वृत्तिस्थ बनाकर अपने अध्यक्ष 'मन' को अर्पित करती हैं और 'मन' 'इदम् एवं, नैवम्'—यह ऐसा है, ऐसा नहीं है—इस प्रकार सोच समझकर विषयाध्यक्षस्थानापन्न 'अहंकार' को अर्पित करता है और 'अहंकार' उस विषय को यह मेरे ही लिये है ऐसा अभिमानकर (समझकर) सर्वाध्यक्षस्थानापन्न 'बुद्धि' के अर्पण कर देता है—इसी अभिप्राय का अनुसन्धान कर कहा गया है कि "पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति" 'पुरुषस्य' यहां षष्ठी विभक्ति संबन्ध अर्थ में है। पुरुष का अर्थ (पदार्थ) के साथ भोग (भोगाख्य) सम्बन्ध है। निष्कर्ष यह है—पुरुष के भोग्य समग्र पदार्थों का आलोचन, संकल्प, अभिमान कर उन्हें बुद्धि के हवाले कर दिया जाता है।

(१८०) अन्तःकरणों में भी बुद्धि की प्रधानता।

बाह्येन्द्रियमनोऽहंकाराश्च "गुणविशेषाः"—गुणानां सत्त्वरजस्तमसां विकाराः, ते तु परस्परविरोधशीला अपि पुरुषार्थेन भोगापवर्गरूपेणैकवाक्यतां नीताः, यथा वर्तितैलवह्नयः सन्तमसापनयेन रूपप्रकाशाय मिलिताः प्रदीपः, एवमेते गुणविशेषा इति योजना ॥ ३६ ॥

(१७१) परस्परविरोधशीलानामपि गुणानां पुरुषार्थरूपएककार्ये प्रवृत्तिः प्रदीपवत्।

'गुणविशेषों' को बताते हैं—"बाह्येन्द्रिय इति।" दश बाह्येन्द्रिय, मन और अहंकार। 'गुण विशेष' पद का अर्थ करते हैं—गुणानामिति।" सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के विकार (कार्य), अर्थात् बुद्धि के अतिरिक्त अहंकार, मन, श्रोत्रादि इन्द्रियां। 'ते तु' = अहंकार, मन, श्रोत्रादि करण परस्पर विरुद्ध विषयों के ग्राहक होने से प्रायः विरोधशील हैं, जैसे—नेत्र पुण्यप्रद देवदर्शन करने लगता है तो उसी समय मन पापप्रद परस्त्री आदि के बारे में संकल्प (सोचने) करने लगता है, तथापि सुख-दुःखान्यतर साक्षात्कार रूप भोग और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप अपवर्गात्मक पुरुषार्थ (यही प्रयोजक है) के साथ एक वाक्यता = एक कार्यकारिता को प्राप्त कराये गये—(अहंकार, मन, श्रोत्रादि बाह्येन्द्रियात्मक गुण विशेष) दीपक के तुल्य अर्थात् बत्ती, तेल, अग्नि परस्पर विरुद्ध स्वभाव के रहते हुए भी अन्धकारका अपसारण करते हुए घटादि पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करने के हेतु सब मिलकर एक दीपक बन जाते हैं और प्रकाश करते हैं, उसी प्रकार—ये गुण विशेष अहंकारादि, सूक्ष्मशरीर रूप से पुरुष के भोग के लिये विषयों (पदार्थ) को पुरुष के अर्पित करते हैं ॥ ३६ ॥

(१८१) गुणों के परस्पर विरोधी रहने पर भी प्रदीप की तरह पुरुषार्थ-सम्पादनकार्य सब का एक ही है।

भवति इन्द्रियाणि च तस्यैव साधनानि सन्तिः अतः स एव अध्यक्षो (प्रधानः) ऽस्ति।

सांख्यमते तु सर्वं ज्ञानं बुद्धावेव तिष्ठति, आत्मनि (पुरुषे) तस्य (बुद्धितत्त्वस्य) छायामात्रं पतति साक्षात्संबंधस्य ज्ञानं च भ्रान्तिरूपमेवास्ति, अतः बुद्धिरेव प्रधानाऽस्ति। —सा० बो०।

कस्मात्पुनर्बुद्धौ प्रयच्छन्ति, न तु बुद्धिरहङ्काराय द्वारिणे मनसे चेत्यत आह—

सैंतीसवीं कारिका के अवतारणार्थ कौमुदीकार कहते हैं—"कस्मादिति"। बुद्धि को ही प्रधानता क्यों दी गई है ? अहंकार, मन को क्यों नहीं ? क्यों कि 'बुद्धि' जैसे अन्तःकरण है वैसे ही मन अहंकार भी। जब कि तीनों में अन्तःकरणता समान है, तब 'बुद्धि' को ही प्रधान कहना, और अन्य दोनों को नहीं इसका क्या कारण है ? इस आशंका के समाधानार्थ यह कारिका है :—

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अन्व०—यस्मात् बुद्धिः पुरुषस्य सर्वं प्रति उपभोगं साधयति, सैव च पुनः सूक्ष्मं प्रधानपुरुषान्तरं विशिनष्टि ॥

भावार्थः—'यस्मात्' = जिस कारण, (बुद्धि) 'पुरुषस्य' = पुरुष के लिये 'सर्वं प्रतिः' = समस्त शब्दादिकों के 'उपभोगं' = उपभोग को 'साधयति' = साधती है, 'सैव च' = और वही पुनः = फिर से 'सूक्ष्मम्' = दुर्लक्ष्य, 'प्रधानपुरुषान्तरं' = प्रधान और पुरुष के भेद को, 'विशिनष्टि' = करती है, इसलिये वही (बुद्धि) प्रधान है ॥

प्रश्न यह था कि तीन अन्तः (भीतरी) करणों में से 'बुद्धि' को ही क्यों विषय दिये जाते हैं ? 'बुद्धि' अहंकार या 'मन' को विषय समर्पण क्यों नहीं करती, अर्थात् बुद्धि ही प्रधान क्यों ?

समाधान यह है कि—'भोग' (पुरुषार्थ) के प्रयोजक होने से उसका जो प्रत्यक्ष (साक्षात्) साधन है वही प्रधान हो सकता है, बुद्धि ही आत्मा के साक्षात् भोगों का साधन है, क्योंकि उसी के निश्चय के अनुसार आत्मा को भोग मिलता है, इसलिये वही (बुद्धि) प्रधान है। जैसे—सर्वाध्यक्ष प्रधान मन्त्री ही राजा के समस्त राजकार्यों का साधक होने से प्रधान कहलाता है और बाकी के ग्रामाध्यक्ष आदि उसके अंग रहते हैं, वैसे बुद्धि ही आत्मा के समस्त भोगों को सिद्ध कर देती है और विवेक ज्ञान के समय वही प्रकृति आदि जड़ तथा चेतन की विलक्षणता को (जिसे जानना बहुत कठिन है) बता देती है, इसलिये तीनों अन्तःकरणों में 'बुद्धि' ही प्रधान है।

(१८२) बुद्धेः प्राधान्यसाधनम्—साक्षात्पुरुषार्थसाधनत्वात्।

"सर्वम्" इति। पुरुषार्थस्य प्रयोजकत्वात् तस्य यत्साक्षात्साधनं तत् प्रधानम्। बुद्धिश्चास्य साक्षात्साधनम्, तस्मात्सैव प्रधानम्। यथा सर्वाध्यक्षः साक्षाद्राजार्थसाधनतया प्रधानमितरे तु ग्रामाध्यक्षादयस्तम्प्रति गुणभूताः। बुद्धिर्हि पुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तद्रूपेव सर्वविषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति। सुखदुःखानुभवो हि भोगः, स च बुद्धौ, बुद्धिश्च पुरुषरूपेवेति, सा च पुरुषमुपभोजयति। यथाऽऽलोचनसङ्कल्पाभिमानाश्च तत्तद्रूपपरिणामेन बुद्धावुपसंका-

न्ताः, तथेन्द्रियव्यापारा अपि बुद्धेरेव स्वव्यापारेणाध्यवसायेन सहैकव्यापारीभवन्ति, यथा स्वसैन्येन सह ग्रामाध्यक्षादिसैन्यं सर्वाध्यक्षस्य भवति । "सर्वं" शब्दादिकं "प्रति" य "उपभोगः" "पुरुषस्य" तं साधयति ॥

पुरुष (चेतन) का 'भोगापवर्गात्मक प्रयोजन' ही प्रकृति की संसार-प्रवृत्ति का प्रयोजक है अर्थात् संसार की रचना में प्रकृति का प्रवर्तक है । भोगापवर्गात्मक पुरुषार्थ के संपन्न होने पर प्रकृति निवृत्त हो जाती है । प्रकृति तभी तक चेष्टा करती रहती है, जब तक पुरुष को भोग तथा अपवर्ग का संपादन नहीं करा देती, भोगापवर्ग का निष्पादन करा देने पर वह अपने को कृतकृत्य समझती हुई उससे निवृत्त हो जाती है—यह सांख्य का सिद्धान्त है । संसार की रचना में प्रकृति की प्रवृत्ति होने पर उसके प्रयोजक स्वरूप भोगाऽपवर्गात्मक पुरुषार्थ का जो साक्षात् साधन (करण) है, वह प्रधान (मुख्य या द्वारि) है । इस पुरुषार्थ की साक्षात् साधन तो बुद्धि है, इसलिये (साक्षात् साधन होने से) 'बुद्धि' ही प्रधान (मुख्य अर्थात् द्वारि) करण है । इसी का उपपादन दृष्टान्त देकर करते हैं—"यथेति" । जैसे समस्त राज्यमण्डल का अधिकारी प्रधानमन्त्री राजा के समस्त कार्यों का साक्षात् साधक होने से प्रधानमंत्री कहा जाता है, और प्रधानमंत्री के अतिरिक्त ग्रामाध्यक्ष, विषयाध्यक्षादि उस प्रधानमंत्री की अपेक्षया गौण अर्थात् उसके सहायक होते हैं । इस दृष्टान्त का दार्ष्टान्त में अतिदेश करते हैं—"बुद्धिरीति ।" 'बुद्धि', पुरुष के सन्निधान से (समीप रहने से) 'तच्छायापत्त्या' 'तस्य' = पुरुषस्य 'छाया' = प्रतिबिम्बः, 'तस्य आपत्तिः' = पतनं, तया'—अर्थात् उस बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने से 'तद्रूपेव' तस्य = पुरुषस्य रूपं स्वरूपं चैतन्यं तदात्मिकेव सती अर्थात् पुरुष का जो अपना आकार (स्वरूप) 'चैतन्य' है, तद्रूप सी वह बुद्धि हो जाती है और पुरुष के लिये सब प्रकार के विषयों के उपभोग का संपादन करती है । कौमुदीकार ने "तद्रूपेव" = पुरुषस्वरूपा इव यहां 'इव' शब्द जोड़ कर अवास्तविकता को सूचित किया है । 'बुद्धि' वस्तुतः आत्मा से अभिन्न नहीं है, फिर भी लोगों को अभिन्न सी लक्षित होती है । जपाकुसुम के सन्निधान से स्फटिकमणि जपाकुसुम का सा हो जाता है क्योंकि जपाकुसुम का उस स्फटिक मणि में प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, वैसे ही 'बुद्धि' भी चिच्छायापत्ति से (पुरुष का प्रतिबिम्ब गिरने से) पुरुष के स्वरूप (चेतन) की सी प्रतीत होती है । 'पुरुष' चिद्रूप है । 'चिदेव चैतन्यम्' ।

(१८२) पुरुषार्थ प्राप्ति की साक्षात् साधन होने से बुद्धि का प्राधान्य सिद्ध है ।

शंका—शब्दादि विषयों का भोग किस प्रकार होता है ? और निष्क्रिय चिन्मात्र पुरुष के लिये वह भोग कैसे संभव है ? एवं बुद्धि, उस भोग को कैसे संपादन करती है ?

समा०—'भोग पदार्थ' को बताते हैं—'सुखेति' । 'सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः' सुख या दुःख दोनों में से किसी एक का साक्षात्कार (अनुभव) होना ही 'भोग' है । वह 'भोग', बुद्धि का धर्म है, अतः 'बुद्धि' को अपना आश्रय बनाकर उस पर आश्रित रहता है । और 'बुद्धि', पुरुष के प्रतिबिम्ब से युक्त होने के कारण चेतन सी (स्वयं जड़ होती हुई भी पुरुषाकार की तरह) प्रतीत होती है । एवं च 'बुद्धि और पुरुष' दोनों में भेद का ग्रह (ज्ञान) न हो सकने से वह बुद्धि पुरुष के द्वारा उपभोग करवाती है अर्थात् पुरुष के लिये उपभोग देती है । बुद्धि के व्यापार के साथ ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार की एकता को दृष्टान्त के द्वारा बताते हैं—'यथेति' । जैसे—घट के प्रति 'आलोचनात्मक चक्षुर्व्यापार', 'संकल्पात्मक मनोव्यापार', 'अभिमानात्मक अहंकारव्यापार' ये सब तत्तद्घटात्मक स्वरूप के भावाकार परिणाम के द्वारा बुद्धि में संक्रान्त

होकर आत्मा को भोगदान करने के लिये, उन सब का व्यापार एक हो जाता है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के व्यापारों की बुद्धिव्यापार के साथ एकता को दृष्टान्त के द्वारा बताते हैं—"तथेन्द्रियेति।" कर्मेन्द्रियों के आदानादि व्यापार भी संकल्प और अभिमान के सहित या असहित होकर बुद्धि के अध्यवसायात्मकव्यापार के साथ एक व्यापार वाले हो जाते हैं अर्थात् भोगात्मक एक कार्य करने वाले होते हैं। लौकिक दृष्टान्त देते हैं—"यथा स्वसैन्येनेति।" जैसे—ग्रामाध्यक्ष और विषयाध्यक्ष की अपनी-अपनी सेना सर्वाध्यक्ष की सेना के साथ मिलकर विजयकार्यात्मक एक ही व्यापार को करती हुई सर्वाध्यक्ष का कार्य करनेवाली कहाती है, उसी तरह इन्द्रियों के अपने-अपने व्यापार, बुद्धि के व्यापार के साथ एक व्यापारवाले होकर बुद्धि के कार्य करनेवाले कहलाते हैं। 'बुद्धि' के कर्तव्य को बताते हैं—"सर्वमिति।" समस्त शब्द, स्पर्शादि विषयों के प्रति जो 'पुरुष' का उपभोग है उसे बुद्धि संपादन करती है। 'बुद्धि' का नित्य संयोग रहने से पुरुष' के मोक्षाऽभाव की शंका करते हैं—

ननु पुरुषस्य सर्वविषयोपभोगसम्पादिका यदि बुद्धिः तर्ह्यनिर्मोक्ष इत्यत आह—"सैव च"ति। पुनःपश्चात् "प्रधान पुरुषयोरन्तरं" विशेषं "विशिनष्टि" करोति-यथौदनपाकं पचतीति,—करणं च प्रतिपादनम्। ननु प्रधानपुरुषयोरन्तरस्य कृतकत्वादनित्यत्वम्-तत्कृतस्य मोक्षस्यानित्यत्वं स्यादित्यत आह—"विशिनष्टि"—'प्रधानं सविकारमन्यदहमन्य' इति विद्यमानमेवान्तरमविवेकेनाविद्यमानमिव बुद्धिर्बोधयति, न तु करोति, येनानित्यत्वमित्यर्थः। अनेनापवर्गः पुरुषार्थो दर्शितः, "सूक्ष्मम्" दुर्लक्ष्यम् तदन्तरमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

(१८३) पुरुषार्थस्यापवर्गस्य कृतकत्वादपि नानित्यत्वम्-करणस्यात्र बाधनार्थत्वात्।

नन्विति।" यदि 'बुद्धि', पुरुष के लिये समस्त विषयों के उपभोग का संपादन करती है, तो 'बुद्धि' का नित्य संयोग रहने से (नित्यसान्निध्य रहने से) उपभोग की प्रसक्ति भी नित्य रहेगी, तब तो पुरुष का कभी भी मोक्ष नहीं (अनिर्मोक्ष) होगा। 'अनिर्मोक्षः' = 'निःशेषेण मोक्षः निर्मोक्षः' = अपवर्गः, न निर्मोक्षः इति अनिर्मोक्षः।' उक्त आशंका का निरास करने के लिये कहते हैं—"सैव चेति।" वही बुद्धि, जो भोगदात्री है वही पश्चात् अर्थात् भोगाधिकार के समाप्त होने पर मोक्षदात्री हो जाती है। इसी को कौमुदीकार ने "प्रधान" पुरुषयोरन्तरं विशिनष्टि' से बताया है 'अन्तर'शब्द का अर्थ है—विशेष, वियोगेन शिष्यते इति विशेषः = वियोगेन स्थितिः = मोक्षः। विशिनष्टि का अर्थ है करोति=करती है। क्योंकि विशेष का पुनः विशेष करना संभव नहीं, इसलिये विशिनष्टि का अर्थ करोति' किया गया है। करोति में 'कृञ्' धातु का अर्थ है 'करणम्' और करणम् का अर्थ है 'प्रतिपादन' अर्थात् बोधन। तात्पर्य यह है कि 'मोक्ष' तो पहिले से ही सिद्ध है, तथापि हमें वह अज्ञात है, उस अज्ञात मोक्ष का ज्ञापन करती है बुद्धि। इसी को दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं—"यथौदनेति।" जैसे—"ओदनपाकं पचति" इस प्रयोग में पाककर्मक पाक (पाक का पुनः पाक) तो संभव नहीं, इसलिये 'पचति' का अर्थ 'करोति' किया जाता है। उसी तरह प्रकृत में भी 'विशिनष्टि' का अर्थ करोति किया गया है। प्रकृति और पुरुष का 'अन्तर' अर्थात् 'भेद' और 'मोक्ष' दोनों नित्य होने से 'करण' का अर्थ यहां 'उत्पादन' नहीं है अपितु 'करण' का अर्थ 'प्रतिपादन' किया गया है।

(१८३) अपवर्गरूप पुरुषार्थ कृतक होने पर भी अनित्य नहीं है।

कारिकाकारने 'करोति' शब्द का प्रयोग न कर 'विशिनष्टि' शब्द का प्रयोग क्यों किया? उत्तर यह दिया कि 'करोति' शब्द का प्रयोग करने से 'मोक्ष' में कृतकत्व का भ्रम होगा और उसे (मोक्ष को) अनित्य मानने का प्रसंग आवेगा। इस विपत्ति के निरसनार्थं 'करोति' शब्द का प्रयोग न कर 'विशिनष्टि शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी आशय को 'प्रधान—पुरुषयोरन्तरस्य' से बताया है। 'प्रधान' और 'पुरुष' का जो अन्तर (भेद) है, वह 'कृतक' (क्रियमाण) होने से कार्य है। उस 'प्रकृति-पुरुष' के भेदज्ञान से 'कृत' अर्थात् जन्य (उत्पन्न) होने से) 'मोक्ष' को अनित्य कहना पड़ेगा। इसलिये 'विशिनष्टि' कहा गया है। 'विशिनष्टि' शब्द के प्रयोग से यह बताया है कि बुद्धि से बोध्य जो अपवर्ग (मोक्ष) है वह पुरुषार्थ= पुरुष का प्रयोजन है। 'सूक्ष्म' का अर्थ किया है 'दुर्लक्ष्यम्' अर्थात् जब तक अज्ञान है तब तक जानना संभव नहीं है। वह दुर्लक्ष्य कौन है? उत्तर है—'तदनन्तरम्' अर्थात् 'तयोः' = प्रधान पुरुष का 'अन्तरं' = भेद दुर्लक्ष्य है॥

यहां कारिका के पूर्वार्द्ध से बुद्धि के द्वारा संपादित विषयोपभोगाख्य पुरुषार्थ को दिखाया है और उत्तरार्द्ध से अपवर्गाख्य पुरुषार्थ को आचार्य ने बताया है। मोक्षार्थियों (अपवर्गार्थियों) को 'प्रधान-पुरुष के भेद का ज्ञान ही' प्राप्त करना चाहिये॥ ३७॥

इस प्रकार 'करणों' के विभाग का प्रतिपादन कर अब पूर्वोक्त 'विशेष-अविशेषों' के विभाग बताते हैं:—

तदेवं करणानि विभज्य विशेषाविशेषान् विभजते—

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः, शान्ता घोराश्च मूढाश्च॥ ३८॥

अन्वयः—तन्मात्राणि अविशेषाः, तेभ्यः पंचभ्यः पंच भूतानि। एते विशेषाः स्मृताः च शान्ताः घोराः च मूढाः सन्ति॥

भावार्थः—'तन्मात्राणि' = सूक्ष्मशब्दादिपञ्चतन्मात्राओं को 'अविशेष' कहते हैं। 'तेभ्यः पञ्चभ्यः' = शब्दादि पञ्च तन्मात्राओं से, 'पञ्चभूतानि' = आकाशादि पंच महाभूत (होते हैं) 'एते' = इन आकाशादि महाभूतों की संज्ञा (नाम) 'विशेष' रखा गया है। क्योंकि इनमें से कुछ 'शान्त' हैं, कुछ 'घोर' हैं, कुछ 'मूढ' है। और सूक्ष्म शब्दादि तन्मात्राएँ उपभोग के योग्य नहीं होती हैं, इसी कारण उनके शान्तत्वादि धर्म हमारे अनुभव में नहीं आने पाते। इसीलिये ये 'अविशेष' शब्द से कहे जाते हैं। आकाशादि पंचमहाभूतों के शान्तत्वादि धर्म अपनी स्थूलता के कारण हमारे अनुभव में आते हैं। इसलिये ये स्थूलभूत 'विशेष' शब्द (पद) से कहे जाते हैं।

(१८४) अविशेष-(सूक्ष्म) कथनम्।

"तन्मात्राणि" इति। शब्दादितन्मात्राणि सूक्ष्माणि। न चैषां शान्तत्वादिरस्ति उपभोगयोग्यो विशेष इति मात्रशब्दार्थः॥

(१८४) अविशेष-(सूक्ष्म) का कथन।

"शब्दादीति।" 'तन्मात्राणि' का विग्रह इस प्रकार करना चाहिये—'तान्येव तन्मात्राणि' मयूरव्यंसकादित्वान्नित्यसमासः। कुछ लोग ऐसा भी विग्रह करते हैं—'सा सा मात्रा यस्मिन् तत्'—तन्मात्रम्—'शब्दादिक ही तन्मात्राएँ हैं, वे योगियों के द्वारा ही ग्राह्य हो पाती हैं। 'तन्मात्रा' में नित्य समास करते समय जो 'एव' शब्द दिया गया है, वह उपभोगयोग्य सकल विशेषयोग के व्यवच्छेदार्थं है। उसे ध्यान में रखकर "तन्मात्राणि" के 'मात्र' शब्द का अर्थ करते हैं—

"न चैषामिति।" इन तन्मात्राओं में उपभोग योग्य 'शान्तत्वादि' विशेष नहीं है—यही 'मात्र' शब्द का अर्थ (प्रयोजन) है। इसलिये इनका व्यवहार 'अविशेष' नाम से किया जाता है। अर्थात् शब्दादि तन्मात्राओं के 'मात्र' पद से धर्मान्तरराहित्य की प्रतीति होती है, जिससे शान्तत्वादि धर्मों की उपलब्धि नहीं होती। तब "इदम् अस्माद् भिन्नम्, इदम् अस्माद् भिन्नम्" आदि प्रत्यय (ज्ञान) होना असंभव है—बस यही उन शब्दतन्मात्रादि की 'अविशेषता' है। यही बात विष्णुपुराण में कही है—

"तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रास्तेन तन्मात्रता स्मृता।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः॥"

तत्तद्भूतों में 'तन्मात्रा' रहती है अतः 'धर्म-धर्मी' का अभेद मानकर द्रव्यों का भी 'तन्मात्रा' शब्द से व्यवहार किया गया है। पंचतन्मात्रा रूप वे पदार्थ, 'स्थूल' में रहनेवाले शान्त, 'घोर', मूढ संज्ञक 'शब्दादि विशेषों' से रहित होते हैं। तथा च—'शान्तादिविशेषशून्यशब्दादिमत्त्वमेव भूतानां शब्दादितन्मात्रत्वम्।'

(१८५) विशेष(स्थूल) कथनम्–तदुत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकम्।

अविशेषानुक्त्वा विशेषान् वक्तुमुत्पत्तिमेषामाह—"तेभ्यो भूतानि" इति। तेभ्यस्तन्मात्रेभ्यो यथासंख्यमेकद्वित्रिचतुःपञ्चभ्यो भूतान्याकाशानिलानलसलिलावनिरूपाणि "पञ्च" "पञ्चभ्यः" तन्मात्रेभ्यः।

(१८५) विशेष-(स्थूल) का कथन तथा उसकी उत्पत्ति।

'अविशेषों' को बताकर 'विशेषों' को बताने के लिये उनकी (विशेषों की) उत्पत्ति (आविर्भाव) बताते हैं। "विशेषान् वक्तुम्" में "तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्" इस सूत्र से 'तुमुन्' प्रत्यय किया गया है। तथा च—'विशेषोक्तिफलिका मत्कर्तृका वर्तमानकालिकी एषाम् उत्पत्त्युक्तिः' इति शाब्दबोधः। कारिकागत "तेभ्यः" का अर्थ है 'तन्मात्रेभ्यः' तन्मात्राओं से। यथाक्रम 'एकद्वित्रिचतुःपञ्चभ्यः' एक दो तीन चार पांचों से—"भूतानि" आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी—ये पांच भूत। पंचभ्यः = पांच तन्मात्राओं से इन भूतों की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है—'केवल आकाश तन्मात्रा' से आकाश उत्पन्न होता है, 'वायुतन्मात्रा के सहित आकाश तन्मात्रा' से वायु उत्पन्न होता है, 'तेजस्तन्मात्रा के सहित आकाश-वायुतन्मात्राओं' से वह्नि उत्पन्न होता है, 'अप्तन्मात्रा के सहित आकाश-वायु-तेजस्तन्मात्राओं से जल उत्पन्न होता है, पृथ्वी तन्मात्रा के सहित आकाश-वायु तेजोऽप्तन्मात्राओं' से पृथ्वी उत्पन्न होती है। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं—

'एक'–शब्दतन्मात्रा-से शब्दगुणक आकाश, 'दो'–शब्दतन्मात्र सहित स्पर्शतन्मात्रा से शब्द–स्पर्श गुण वाला वायु, 'तीन'–शब्दतन्मात्र-स्पर्शतन्मात्रसहित रूपतन्मात्रा से शब्द-

---

१. 'पंचीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलभूतान्युत्पद्यन्ते' इति तु अत्र वेदान्त सिद्धान्तः। पञ्चीकरण-रीतिश्च पंचदश्यां विद्यारण्यस्वामिभिरुक्ता—

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्चते॥'

प्रथमम् अपञ्चीकृतान्येव भूतान्यासन् तत ईश्वरेच्छयास्थूलसृष्टिद्वारा जीवानां भोगार्थं परस्पर–मेकनरूपं पञ्चीकरणं बभूव। —सा० बो०।

स्पर्श-रूप गुणवाला वह्नि, 'चार' शब्दतन्मात्र—स्पर्शतन्मात्र-रूपतन्मात्र सहित रस-तन्मात्रा-से शब्द-स्पर्श-रूप-रस गुणवाला जल, 'पांच' शब्दतन्मात्र-स्पर्शतन्मात्र-रूपतन्मात्र-रसतन्मात्र सहित गन्ध-तन्मात्रा-से शब्द-स्पर्श रूप-रस गन्ध गुण वाली पृथ्वी पैदा होती है। यहां पर 'पञ्चीकृत भूतों' से स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं—इस वेदान्तसिद्धान्त को अपनाया गया है। 'पञ्चभ्यः' का अर्थ है 'तन्मात्रेभ्यः'।

अस्त्वेतेषामुत्पत्तिः, विशेषत्वे किमायातमित्यत आह—"एते स्मृता विशेषाः" इति। कुतः—"शान्ता घोराश्च मूढाश्च"। चकार एको हेतौ, द्वितीयः समुच्चये। यस्मादाकाशादिषु स्थूलेषु सत्त्वप्रधानतया केचिच्छान्ताः, सुखाः, प्रकाशा लघवः, केचिद्रजःप्रधानतया घोराः, दुःखाः अनवस्थिताः, केचित्तमःप्रधानतया मूढा, विषण्णा, गुरवः। तेऽमी परस्पर-व्यावृत्त्याऽनुभूयमाना 'विशेषाः' इति च 'स्थूला' इति चोच्यन्ते। तन्मात्राणि त्वस्मदादिभि परस्परव्यावृत्तानि नानुभूयन्ते, इत्यविशेषाः सूक्ष्मा इति चोच्यन्ते॥ ३८॥

(१८६) भूतानां स्थूलत्वे हेतुकथनम्।

पंचस्थूल भूतों की उत्पत्ति को स्वीकार करता हुआ उनकी (पंचस्थूल भूतों की) विशेषता किस प्रकार से है?—'अस्त्वेतेषामिति।' 'स्थूल भूतों' की उत्पत्ति (आविर्भाव) भले ही रहे, किन्तु उससे उनमें 'विशेषत्व' (जो आपको अभिप्रेत है) कैसे सिद्ध होगा? उत्तर देते हैं—'एते स्मृता विशेषा' इति। सांख्याचार्यों ने 'स्थूल पृथ्वी आदिकों को 'विशेष' शब्द से कहा है। क्योंकि 'शान्ता घोराश्च मूढाश्च' 'चकारः एको हेतौ' इति। 'घोराश्च' यहां का चकार हेतु बोधक है। यस्मात् कारणात् = जिस कारण ये 'शान्त, घोर और मूढ' हैं—'तस्मात् कारणात्' = इसलिये ये 'विशेष शब्द से वाच्य हैं। तथाच—'पृथिव्यादिस्थूलभूतानि, विशेषाः, शान्तघोरमूढत्वात्।' एवं च—'शान्तत्वघोरत्वमूढत्वं विशेषत्वम्'—यह 'विशेष' का लक्षण हुआ। 'अनुभवयोग्यैः सुखदुःखमोहरूपैर्धर्मैर्विशेष्यन्ते इति विशेषाः।' "द्वितीयः समुच्चये" इति। 'मूढाश्च' यहां का 'चकार' शान्तत्व, घोरत्व, मूढत्व तीनों का 'समुच्चायक' है। फलितार्थ यह सम्पन्न हुआ:—'आकाशादि पांच स्थूल-भूतों में कतिपय 'चन्द्र आदि देवता' सत्त्व प्रधानता के कारण शान्तस्वभाववाले और शीतल हैं। 'जडवर्ग' में भी शान्तत्व धर्म दिखाते हैं—'सुखा' इति। जैसे—दुग्धादि पदार्थ सुखकर हैं। उसी के उपलक्षित धर्मों को कहते हैं—'प्रकाशाः' इति। जैसे—'दीपप्रभा आदि।' 'लघवः' = लघुत्वधर्मवाले तिर्यग्गमनवान् पवनादि। 'कुछ क्षत्रियादि' रजःप्रधान होने से घोर होते हैं। उपलक्षितार्थ को बताते हैं—'दुःखा' इति। 'सपत्नी आदि' दुःखद हैं, वात, पित्त, श्लेष्मा कण्टक आदि पार्थिवादि पदार्थ दुःखद होते हैं। 'अनवस्थिताः' = अत्यन्त अभीष्ट पदार्थ भी शीघ्र ही परिणाम शील देखे जाते हैं कुछ 'तिर्यक् पशु आदि' तमःप्रधान होने से मूढ होते हैं उसी का उपलक्षित अर्थ बताते हैं—'विषण्णा' इति। 'परस्त्री आदि' विषादप्रद होती हैं। 'गुरवः' = गुरुत्वधर्मवाले पाषाण आदि पदार्थ होते हैं। इस प्रकार पांच भौतिक सभी पदार्थ गौण-प्रधान रूप से शान्त-घोर-मूढ होते हैं। ये उत्पत्तिशील 'पृथ्वी आदि पदार्थ' एक दूसरे से पृथक् रहकर अनुभव में आने वाले (कुछ पदार्थ शान्त, कुछ घोर, कुछ मूढ) 'विशेष' इस संज्ञा से और 'स्थूल' शब्द से कहे जाते हैं।

(१८६) भूतों की स्थूलता में हेतु।

किन्तु 'सूक्ष्म शब्द स्पर्शादि पंचतन्मात्राओं का परस्पर व्यावृत्त रूप में (कुछ तन्मात्राएं शान्त, कुछ घोर और कुछ मूढ इस प्रकार भिन्न रूप में) अनुभव नहीं होता इसलिये उन तन्मात्राओं को 'अविशेष' शब्द से कहा जाता है। और उन्हीं को 'सूक्ष्म' भी कहते हैं ॥ ३८ ॥

विशेषाणामवान्तरविशेषमाह—

उन्तालिसवीं कारिका को उपस्थित कराने के हेतु कहते हैं—"विशेषाणामिति।" 'विशेषाणां'= स्थूल पंचमहाभूतों के अवान्तर 'विशेषम्' = भेद (त्रिविधता) को कहते हैं—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सहप्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता, मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

अन्व०—सूक्ष्माः मातापितृजाः प्रभूतैः सह त्रिधा विशेषाः स्युः, तेषां सूक्ष्माः नियताः, मातापितृजाः निवर्तन्ते ॥

भावार्थ :—पहला विशेष :—'सूक्ष्माः = सूक्ष्मशरीर (महत्तत्त्व से—लेकर सूक्ष्मगन्धतक अष्टादशतत्त्वात्मक सूक्ष्मशरीर, उसमें शान्त-घोर-मूढधर्मक दसइन्द्रियाँ 'विशेष' हैं, अतः इन्द्रियघटित होने से 'अष्टादशतत्त्वसमुदायात्मकसूक्ष्मदेह' भी 'विशेष' शब्द से कहा जाता है।

दूसरा विशेष :—'माता-पितृ-शरीरजन्य'=माता पिता के शरीर से उत्पन्न होने वाले पुत्रादि-स्थूलशरीरनिष्ठ षट्कोष (माता से रोम, लोहित, मांस और पिता से स्नायु, अस्थि, मज्जा) होते हैं।

तीसरा विशेषः—'बाह्यानि सर्वाणि प्रभूतानि' = पंचस्थूलभूत। मूलकारिकामें 'सह' का अर्थ साहित्य है, उसका प्रयोग त्रित्वसंख्यापूरकतया किया गया है। ये तीन प्रकार के विशेष हैं। उन तीन प्रकार के विशेषों में 'सूक्ष्माः'=सूक्ष्मशरीरात्मकविशेष, 'नियताः'=आदिसर्ग से लेकर महाप्रलयतक (प्रत्येक सूक्ष्म—शरीर) प्रत्येक चेतन के साथ रहता है। 'मातापितृजास्तु' माता पिता से उत्पन्न हुए षट्कोश तो मृत्यु होने पर निवृत्त हो जाते हैं। एवं 'बाह्यपंचमहाभूत' (प्रभूत) तो निवर्तनशील हैं ही ॥ ३९ ॥

(१८७) अवान्तरविशेषकथनम्-सूक्ष्ममातृपितृजभेदेन ।

"सूक्ष्मा" इति। "त्रिधा विशेषाः स्युः" इति। तान् विशेषप्रकारानाह—"सूक्ष्माः" सूक्ष्मदेहाः परिकल्पिताः, "मातापितृजाः" षाट्कौशिकाः। तत्र मातृतो लोमलोहितमांसानि, पितृतस्तु स्नाय्वस्थिमज्जान इति षट् कोशाः। प्रकृष्टानि महान्ति भूतानि "प्रभूतानि"—तैस्सह। सूक्ष्मं शरीरमेको विशेषः, मातापितृजो द्वितीयः, महाभूतानि तृतीयः, महाभूतवर्गे च घटादीनां निवेश इति।

(१८७) सूक्ष्म-मातृ-पितृज भेद से अवान्तर-विशेष का कथन।

"त्रिधा विशेषाः स्युः" इति। 'विशेष' तीन ही प्रकार के हैं, तीन से न न्यून हैं, न अधिक हैं। उन 'विशेषों' के प्रकार (भेदों) को कहते हैं—'सूक्ष्माः' का अर्थ है सूक्ष्मदेहाः। ये 'दस इन्द्रियाँ' शान्त, घोर, मूढ आदि धर्म वाली होने से 'विशेष' कहलाती हैं। और 'सूक्ष्म शरीर' दशेन्द्रिय घटित होता है। इन्द्रियों के संबंध से 'सूक्ष्म शरीर' भी सुख दुःखदायक होता है, अतः 'सूक्ष्म देह' को भी 'विशेष' कहते हैं। इसी अभिप्राय से उन्हें परिकल्पिताः = अनुमानगम्याः कहा गया है। यह 'सूक्ष्मदेह' एक प्रकार का विशेष हुआ। द्वितीय विशेष बताते हैं—"मातापितृजाः" इति। 'माता-

पितृजाः' का अर्थ करते हैं—'षाट्कौषिकाः' अर्थात् स्थूल शरीर। षट् कोषों को बताते हैं—"मातृत्त" इति। 'लोम लोहित मांसानि' = रोम, रुधिर, मांस—'ये तीन माता के शरीर के अंश हैं और 'स्नाय्वस्थिमज्जानः' = स्नायु, हड्डी, मज्जा—ये तीन पिता के शरीर के अंश हैं—ये षट् कोष हैं। अब "प्रभूतैः सह" की व्याख्या "प्रकृष्टानीति।" 'प्रकृष्टानि भूतानि'—प्रभूतानि तैः सह। महाभूतात्मक जो विशेष उसके साहचर्य से ही विशेषों की त्रित्व संख्या पूर्ण होती है। अर्थात् एक विशेष—'सूक्ष्म शरीर', जो कि चालसवीं कारिका के द्वारा बताया जायगा। दूसरा विशेष—'मातापितृज'—षट्कोशात्मकस्थूलशरीर। तीसरा विशेष-'पंच महाभूत'। 'महाभूत' पद से घटादि समस्त पञ्चमहाभूतविकार भी ग्राह्य हैं। "महाभूतवर्गं चेति।" पंचमहाभूतों का जो वर्ग = समुदाय, उसमें घटादि पदार्थों का—यहां 'आदि' पद से हिम, करकादि, सुवर्ण हीरकादि, प्राणसमीरणादि, घटाकाशादि का—निवेश (संग्रह) समझना चाहिये।

(१८८) सूक्ष्ममातापितृजयोर्भेदः नित्यत्वानित्यत्वनिबन्धनः।

सूक्ष्ममातापितृजयोर्देहयोर्विशेषमाह—"सूक्ष्मास्तेषाम्" इति। विशेषाणां मध्ये ये ते "नियताः" नित्याः। "मातापितृजा निवर्तन्ते" इति, रसान्ता वा भस्मान्ता वा विडन्ता वेति ॥ ३९ ॥

(१८८) नित्यत्व-अनित्यत्व के कारण सूक्ष्म और मातृपितृज में भिन्नता।

उक्त तीन विशेषों में से 'सूक्ष्म शरीर और मातापितृजस्थूलशरीर' दोनों की शरीरत्वेन समानता रहने पर भी उनकी विशेषता (वैलक्षण्य) को बताते हैं—"सूक्ष्मास्तेषामिति।" उन तीन प्रकार के विशेषों में से जो सूक्ष्म शरीरात्मक विशेष हैं—वे नित्य हैं, 'नियत' का अर्थ 'नित्य' है। आदि सर्ग से लेकर महाप्रलय तक ये सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ रहते हैं। सांख्यमत में चेतन (पुरुष) की जब तक मुक्ति नहीं होती तब तक एक एक के साथ एक एक सूक्ष्मशरीर का संबन्ध नियत है। नियत रहना (निश्चित रहना) ही उसकी नित्यता है। माता पितृज 'स्थूलदेह', मृत्यु होने पर नष्ट हो जाते हैं। 'मृत शरीर' की तीन प्रकार से व्यवस्था होती है—'रसान्ता' इति। 'रसान्ताः' = 'रसा' = पृथ्वी सैव 'अन्तः' = तिरोभावात्मकः परिणामः येषान्ते अर्थात् पृथ्वी भाव (मृत्तिका भाव) को प्राप्त होने वाले (स्थूल शरीर), या दाह करने पर 'भस्म अन्तोयेषान्ते'—भस्मान्ताः = भस्म (राख) ही है परिणाम जिनका अर्थात् भस्म भाव को प्राप्त होने वाले (स्थूल शरीर) या 'विट्' = विष्ठा अन्तः = परिणामो येषां ते—विडन्ताः गृध्रादि मांसभक्षी पशुओं के द्वारा खाये जाने पर विष्ठा के रूप में परिणाम को प्राप्त होने वाले ये स्थूल शरीर हैं। इसी प्रकार 'महाभूत' भी प्रलय काल में अपने अपने अव्यक्त कारण में विलीन हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

सूक्ष्मशरीरं विभजते—

"सूक्ष्मशरीरं विभजते" यहां 'मिलितानामवयवप्रदर्शनं विभागः।' सम्मिलितों के अवयवों का प्रदर्शन करना ही विभाग पदार्थ है। अर्थात् सूक्ष्म शरीर के अवयवों को दिखाते हैं—'विभजते' का शाब्दबोध प्रौढ भाषा में इस प्रकार होगा—'सूक्ष्मशरीरत्वसामान्यधर्मनिष्ठ-व्यापकता निरूपित-व्याप्यतावन्महत्त्वादिधर्मप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारवान् ग्रन्थकारः'।

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतम्महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

अन्व०—पूर्वोत्पन्नम् असक्तम् नियतम् महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् भावैरधिवासितं निरुपभोगं लिङ्गं संसरति।

भावार्थः—'पूर्वोत्पन्नम्'—'पूर्वम् उत्पन्नम् = पूर्वोत्पन्नम्'—आदिसर्ग (सृष्टि) में प्रधान से उत्पन्न, 'असक्तम्' = अव्याहत अर्थात् परमाणु आदि में शिला आदि में भी प्रवेश करने में समर्थ, 'नियतम्' = आदि सर्ग से महाप्रलय तक और मुक्ति तक प्रत्येक आत्मा के साथ निश्चित-रूप से रहनेवाला, 'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्' = महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्मतन्मात्रा तक अर्थात् महत्व, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक तन्मात्रा—इन सबका समुदायरूप। 'भावैः' = धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्यात्मक आठ धर्मों से, युक्त जो बुद्धि, उससे, अन्वित होने के कारण भावैः 'अधिवासितं' = अन्वित अर्थात् युक्त। 'निरुपभोगम्' = स्थूल शरीर के बिना उपभोग प्रदान करने में असमर्थ, इसलिये 'लिङ्गम्' = सूक्ष्मशरीर, 'संसरति' = संसरण का अर्थ है स्थूल शरीर के साथ संबन्ध करता है।

(१८९) सूक्ष्मशरीरोपपादनम्-तस्य लक्षणानि-(१) असक्तत्वम्-(२) नित्यत्वम्।

'पूर्वोत्पन्नम्' इति। "पूर्वोत्पन्नम्" प्रधानेनादिसर्गे प्रतिपुरुषमेकैकमुत्पादितम्। "असक्तम्" अव्याहतम्, शिलामप्यनुविशति। "नियतम्" आ चादिसर्गादा च महाप्रलयादवतिष्ठते,—"महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्" महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्। एषां समुदायः सूक्ष्मं शरीरम्, शान्तघोरमूढैरिन्द्रियैरन्वितत्वाद्विशेषः।

(१८९) सूक्ष्मशरीर का उपपादन और उसका लक्षण।

"पूर्वोत्पन्नमिति।" पूर्वोत्पन्न-पद की व्याख्या करते हैं—'प्रधानेनेति।' 'प्रधीयते प्रलयकाले कार्यजातमत्रेति प्रधानम्'—प्रलय के समय समस्तकार्य जहां अर्पित हो जाते हैं (विलीन हो जाते हैं) उसे 'प्रधान' (प्रकृति) कहते हैं। उस प्रकृति के द्वारा आदि सर्ग (सर्व प्राथमिक सृष्टि के समय) में असक्त (सङ्गरहित) क्योंकि अन्य वस्तु के संपर्क से गति में रुकावट पैदा होती है। एवं च गतिविघात न होने से सर्वत्र प्रवेश पासकने वाला, यहां तक कि 'शिलामपि अनुप्रविशति' = पाषाण में भी घुस जाता है। 'नियतम्' = नित्य अर्थात् आदि सर्ग से आरंभ कर प्रलयपर्यन्त स्थायी रहनेवाला, "महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्" = यहां 'सूक्ष्म' पद 'पञ्चतन्मात्र' परक है। महद, अहंकार, एकादशेन्द्रिय पञ्चतन्मात्रपर्यन्त। इन अष्टादश (अठारह) अवयवों का समुदाय ही 'सूक्ष्मशरीर' है। 'सूक्ष्मशरीर' में कर, चरणादि अवयव नहीं होते। 'एषां समुदायः' के द्वारा यह बताया है कि 'सूक्ष्मशरीर' को स्थूलशरीर की तरह 'अवयवी' नहीं समझना चाहिये। अष्टादश अवयवात्मक ही 'सूक्ष्मशरीर' (लिङ्ग शरीर) है, तथा च कपिल सूत्रम्—"सप्तदशैकं लिङ्गम्" 'सप्तदश च एकं च—सप्तदशैकम्' = अष्टादश, तैः 'लिङ्गम्' = सूक्ष्मशरीरम् उत्पद्यते इत्यर्थः। अर्थात् 'बुद्धि, अहंकार, मन,' 'पञ्चसूक्ष्मभूत', 'दस इन्द्रियां'—ये अठारह अवयव हैं, इनका समुदाय ही 'सूक्ष्मशरीर' है। (कुछ लोग इसके अतिरिक्त 'अनादिवासनारूप कारण शरीर' को भी स्वीकार करते हैं) इसके पूर्व की कारिका में (तन्मात्राण्यविशेषाः—इस ३८ वीं कारिका में) 'एते स्मृता विशेषाः' कहकर महाभूतों को 'विशेष' शब्द से परिभाषित किया है। एवं उससे अगली कारिका' सूक्ष्मा

मातापितृजा' में "त्रिधा विशेषाः स्युः" कहकर 'सूक्ष्मशरीर' को भी 'एक प्रकार का विशेष' बताया है अतः 'सूक्ष्मशरीर' को भी 'स्थूल महाभूत' से घटित ही समझना चाहिये। अब यदि 'सूक्ष्म शरीर' को महदादि पञ्चतन्मात्रपर्यन्त समुदायात्मक कहते हैं, तो महाभूतों के लेश से भी रहित उस 'सूक्ष्मशरीर' को 'एक प्रकार का विशेष' क्यों बताया गया ? उसकी 'विशेषता' को सिद्ध करने के लिये कहते हैं—"शान्तघोरमूढै" रिति। शान्त, घोर, मूढ अवस्थावाले इन्द्रियों से सम्बद्ध होने के कारण उसे 'विशेष' कहा जाता है। अर्थात् "एते स्मृता विशेषाः" के द्वारा 'महाभूत' ही 'विशेष' पद के वाच्य हैं—ऐसा निर्णय नहीं किया गया है, किन्तु 'शान्तघोर-मूढत्वात्'—हेतु से 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' की तरह जहां-जहां शान्त-घोर-मूढ अवस्था पाई जाय वे सभी 'विशेष' पद के वाच्य हैं अर्थात् वे सब 'विशेष' हैं यह बताया गया है। एवं च—इन्द्रियों की शान्त, घोर, मूढ अवस्था हम लोगों के अनुभव में आती है इसलिये वे (इन्द्रियां) 'विशेष' पद से वाच्य हैं। और उन इन्द्रियों से घटित होने के कारण 'सूक्ष्म शरीर' को भी 'विशेष' शब्द से कहा गया है। यहां 'इन्द्रिय' पद भी करणमात्र का उपलक्षण है। क्योंकि बुद्धि और अहंकार की भी शान्त-घोर-मूढ अवस्था का अनुभव होता है। "तन्मात्राण्यविशेषाः" के द्वारा यह बताया है कि "तन्मात्राओं" की ही शान्त, घोर, मूढ अवस्थाओं का अनुभव नहीं हो पाता, इसलिये उन्हीं को 'अविशेष' कहा जाता है 'अन्य विकारों' को नहीं। 'मात्र' पद से उन्हीं में "शान्तत्वादि धर्मराहित्य' की प्रतीति होती है। यद्यपि 'विशेष' पदार्थ घटित होने से 'सूक्ष्म शरीर' का 'विशेष' के अन्तर्भूत होना संभव है, वैसे ही 'पञ्चतन्मात्र' घटित होने से उसका 'अविशेष' होना भी संभव है, तथापि 'अधिकेन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से 'विशेष—संघक अवयवों' के अधिक रहने के कारण उसे 'विशेष' के अन्तर्गत ही कहना उचित है। तात्पर्य यह है—'सूक्ष्मशरीर' अपनी सूक्ष्मता के कारण 'तन्मात्राओं' की तरह 'अविशेष' क्यों नहीं कहा जाता ? इस प्रश्न का समाधान यही है कि 'घोरत्वादिविशेषयुक्त इन्द्रियात्मक' होने के कारण उसे 'विशेष' कहा गया है।

(१९०) (१) संसरणम् निरुपभोगत्वं च ततश्च षाट्कौशिकशरीरस्यावश्यकत्वम्।

नन्वस्त्वेतदेव शरीरं भोगायतनं पुरुषस्य, कृतं दृश्यमानेन षाट्कौशिकेन शरीरेणेत्यत आह—"संसरति" इति। उपात्तमुपात्तं षाट्कौशिकं शरीरं जहाति, हायं हायं चोपादत्ते-कस्मात् ? "निरुपभोगम्" यतः, षाट्कौशिकं शरीरं भोगायतनं विना सूक्ष्मं शरीरं निरुपभोगं यस्मात्तस्मात्सूक्ष्मं शरीरं संसरति॥

(१९०) संसरण और निरुपभोगता के कारण षाट्कौशिक शरीर की आवश्यकता।

कारिका के उत्तरार्ध को उपस्थित करने के लिये शंका करते हैं—"नन्विति"। 'यह सूक्ष्म-शरीर ही' पुरुष का भोगायतन है अर्थात् ऐहिक आमुष्मिक सुख-दुःखादि भोगों का अधिकरण (आश्रय, स्थान) है। ऐसी स्थिति में 'प्रधान के परिणामविशेष' से जीव के दृश्यमान षाट्कौषिक स्थूल शरीर की कल्पना करना व्यर्थ है। 'सूक्ष्मशरीर के उत्पादन' से भोग का निर्वाह हो ही जायगा। इसी अभिप्राय से कहते हैं—"संसरतीति"। 'संसरति' का कर्ता है "महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्"। 'संसरति' का अर्थ है—संसरणं करोति। संसरण पदार्थ यह है—'स्वाऽदृष्टोपनिबद्धशरीरपरिग्रह'

अर्थात् 'पूर्वं पूर्वं स्थूलशरीर' का परित्याग कर अदृष्ट के अनुसार 'अपरापरस्थूलशरीर-विशेष' का धारण करना, इसी बात को कहते हैं 'उपात्तमुपात्तमिति ।' 'उपात्तम् उपात्तम्' का अर्थ है—गृहीतं गृहीतम् = बार बार धारण किये हुए 'पाट्कौशिक (पूर्वोक्त षट्कोशों के समुदायरूप) स्थूल शरीर' को त्यागता है और 'हायं हायम्' यह पद 'णमुल्' प्रत्ययान्त है 'क्त्वा' के अर्थ में "आभीक्ष्ण्ये णमुल् च" सूत्र से 'णमुल्' प्रत्यय किया है। 'हायं हायम्' का अर्थ हुआ हित्वा हित्वा = त्याग त्याग (छोड़ छोड़) कर नये नये (अन्यान्य) स्थूल शरीर का उपादान (परिग्रह, स्वीकार) करता है।

अब 'सूक्ष्म शरीर' के द्वारा 'स्थूल शरीर' के ग्रहण करने में हेतुगर्भ विशेषणों को क्रमशः उपस्थित कराते हैं—"कस्मादिति"। किस कारण स्थूल शरीर का ग्रहण करता है और उसका त्याग करता है? उत्तर—हेतु अर्थात् उसका प्रयोजन बताते हैं—"निरुपभोगमिति"। 'निरुपभोगम्' = धर्माधर्म के भोग करने में असमर्थ। 'न भुज्यते उपभोगः' = सुखदुःखसाक्षात्कारादिः येन सूक्ष्मशरीरेण तत् 'निरुपभोगम्'। तात्पर्य यह है—कि स्थूल शरीर के परिग्रह किये बिना उसमें धर्माधर्म के भोग करने का सामर्थ्य न होने से यह (सूक्ष्म शरीर) संसरण करता है = तत्तद्धर्माधर्मनिबन्धन स्थूल शरीर को स्वीकार करता है।

(१९१) धर्माधर्मादि-भावैरधिवासितत्वमूलकं तत्संसरणम्।

ननु धर्माधर्मनिमित्तः संसारः, न च सूक्ष्मशरीरस्यास्ति तद्योगः, तत्कथं संसरतीत्यत आह—"भावैरधिवासितम्" इति। धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि भावाः-तदन्विता बुद्धिः, तदन्वितञ्च सूक्ष्मं शरीरमिति तदपि भावैरधिवासितम्, यथा सुरभिचम्पककुसुमसम्पर्काद्वस्त्रं तदामोदवासितम्भवति। तस्माद्भावैरेवाधिवासितत्वात्संसरति ॥

(१९१) धर्माऽधर्मादि भावों के संस्कार से उसका संसरण।

सूक्ष्म शरीर में विशेषण 'भावैराधिवासितम्' क्यों लगाया गया है? इसी को शंका-समाधान के द्वारा बता रहे हैं—"ननु" इति। यह संसार धर्माधर्मनिमित्तक है, उस धर्माधर्म का संबन्ध सूक्ष्म शरीर से तो है नहीं, तब वह (सूक्ष्म शरीर) क्यों संसरण करता है? तात्पर्य यह है—'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्। वाचा-वाचाकृतं कर्म कायेनैव तु कायिकम् ॥ शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः। वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥' इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि शरीरधारण धर्माधर्मनिमित्तक है, वे धर्माधर्म जिसके होंगे उसीको शरीर से सम्बन्धित करेंगे। एक के धर्माधर्म से दूसरे को शरीर प्राप्त हो जाय यह कभी संभव नहीं। वे धर्माधर्म तो आत्मा से सम्बन्धित रहते हैं—इस बात को सभी मीमांसक, वैशेषिक, तार्किक आदि दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। 'सूक्ष्म शरीर' का धर्माधर्म से संबन्ध रहना किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है। तब सोचिये कि आत्मनिष्ठ धर्माधर्म सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर का संबन्ध कैसे उत्पन्न कर सकते हैं? अतः सूक्ष्म शरीर संसरण करता है अर्थात् शरीरान्तर को स्वीकार करता है यह कैसे कहा गया? क्योंकि धर्माधर्मरूप शरीर के ग्रहण करने में कोई हेतु नहीं है। संसार की परिभाषा गदाधर ने प्रामाण्यवाद में इस प्रकार की है—'मिथ्याधीप्रभवा वासना' और कातन्त्र परिशिष्ट व्याख्या में गोपीनाथ ने 'स्वादृष्टोपनिबद्धशरीर-

परिग्रहः' इति । "भावैरधिवासितम्" में भावपदार्थ की व्याख्या करते हैं—"धर्माधर्मेति।" 'धर्म,[1] अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य इन आठों को भाव कहते हैं। भवति संसारः एभ्यः इति भावाः = संसारप्रयोजका धर्माः। अथवा भवन्तीति भावाः धर्माधर्मादयः परिणामाः। 'तदन्विता बुद्धि'[2] रिति। सांख्याचार्यों ने वैशेषिकों की तरह 'धर्माधर्म' को 'पुरुष' का धर्म नहीं माना है, अपितु उसे 'बुद्धि' का ही धर्म माना है। और तदन्वित = बुद्धि से घटित सूक्ष्म शरीर है, इसलिये वह 'सूक्ष्म शरीर' भी धर्माधर्मादि आठ भावों से अधिवासित है अर्थात् साहित्यात्मक अत्यन्त-संबंध होने से बुद्धि के समान 'सूक्ष्म शरीर' भी आठ भावों का अधिकरण है। 'अधिवासित' में 'अधि' उपसर्ग अत्यन्त संबन्धार्थक है। जितने भी 'प्राकृत पदार्थ' हैं वे सभी त्रिगुणात्मक होने से धर्माधर्मादि से सम्बद्ध होते हैं, केवल एक 'पुरुष' ही ऐसा है जो गुणातीत होने से वस्तुतः धर्माधर्मादि से असंबद्ध है। इसलिये 'लिङ्ग शरीर' के सूक्ष्म होने पर भी धर्माधर्मादि का संबन्ध उसके साथ रहना असंभव नहीं है। धर्माधर्मादिभाव तो सूक्ष्म शरीर के एकदेश में रहते हैं, उससे सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर भावाधिवासित कैसे कहा जाता है? इस प्रश्न के समाधानार्थ एक दृष्टान्त के द्वारा उसका परम्परया सम्बन्ध दिखाते हैं—"यथेति" जैसे—वस्त्र के एक देश में चम्पक पुष्प का सम्बन्ध रहने पर भी सम्पूर्ण वस्त्र सुवासित हो जाता है वैसे ही एकदेशवृत्ति धर्माधर्मादिभावों से संपूर्ण सूक्ष्म शरीर अधिवासित कहा जाता है। अतः धर्माधर्मादि भावों के पुरुषवृत्ति (निष्ठ) न होने से बल्कि धर्माधर्मादि भाव परंपरया सूक्ष्म शरीरनिष्ठ होने से अदृष्टनिबन्धन 'स्थूल शरीर' के साथ सम्बन्ध 'सूक्ष्मशरीर' का ही उचित है।

कस्मात् पुनः प्रधानमिव महाप्रलयेऽपि तच्छरीरञ्च तिष्ठतीत्यत आह—
(१९२) महाप्रलये तस्य "लिङ्गम्" इति। लयं गच्छतीति लिङ्गम्-हेतुमत्त्वेन लयंगामित्वाल्लिङ्गत्वम्॥ चास्य लिङ्गत्वमिति भावः॥ ४०॥

आदि सर्ग से लेकर महाप्रलय तक सूक्ष्म शरीर की स्थिरता के उपपादनार्थ शंका करते हैं—'कस्मादिति।' जैसे 'प्रधान' (प्रकृति) महाप्रलय में भी स्थिर रहता है वैसे ही सूक्ष्मशरीर महाप्रलय में क्यों नहीं स्थिर रहता? उत्तर है—"लिङ्गम्"। लयं गच्छतीति लिङ्गम्'—अपने कारण में तिरोभाव को प्राप्त होता है। वह लय को क्यों प्राप्त होता है अर्थात् उसका लय क्यों होता है? "हेतुमत्त्वेनेति।" वह हेतुमान् है अर्थात् जन्य (कार्य) है। एवं च—'जो जो जन्यभावात्मक होता है वह विनाशी होता है यह व्याप्ति है। सूक्ष्मशरीर भी एक परिणामविशेष है इसलिये उसे जन्यभाव पदार्थ मानना ही' होगा, तब वह विनाशी कैसे नहीं होगा? वह अपने कारण (प्रकृति) से उत्पन्न (कार्यरूप) है, अतः उसका अपने कारण में लय होना अवश्यंभावी है, इसलिये 'सूक्ष्म-शरीर' का भी लय महाप्रलय में अवश्य होता है॥ ४०॥

(१९२) महाप्रलय के समय सूक्ष्म शरीर का अपने कारण में लय होने से उसे लिङ्ग कहते हैं।

---

१. धार्यते—अभ्युदयः क्रियते अनेनेति धर्मः, तद्विरुद्धः अधर्मः। ज्ञायते अनेन प्रकृतिपुरुषभेदः इति ज्ञानम् = तत्त्वज्ञानम्, तद्विपरीतमज्ञानम्। विगतो रागो विरागः, स एव वैराग्यं = तृष्णालयः तद्विपरीतम् अवैराग्यम् = सतृष्णत्वम्। ऐश्वर्यम्—ईष्टे इति ईश्वरः, तस्य भाव ऐश्वर्यम् = अणिमादिसामर्थ्यम्, तद्विपरीतम् अनैश्वर्यम् = असामर्थ्यम्।

२. तदन्विता = भावान्विता अर्थात् भावाधिकरणं बुद्धिः-यह सांख्यसिद्धान्त है।

स्यादेतत्-बुद्धिरेव साहङ्कारेन्द्रिया कस्मान्न संसरति ? कृतं सूक्ष्मशरीरेणाप्रामाणिकेनेत्यत आह—

एकतालीसवीं कारिका को उपस्थित कराने के लिये "स्यादेतदिति"। एकादशेन्द्रिय और अहंकार के सहित बुद्धि ही मुख्य है तब वह पञ्चतन्मात्रा के बिना ही क्यों नहीं संसरण करती अर्थात् स्थूल शरीर के साथ संयोग-वियोग क्यों नहीं करती ? अप्रामाणिक = प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय न होने वाले (प्रत्यक्ष न दीखने वाले) अष्टादशतत्त्वात्मक सूक्ष्म शरीर को मानने की क्या आवश्यकता ? इन्द्रिय, मन, अहंकार को ही अपना उपकरण बनाकर अकेली बुद्धि का का ही संसरण मान लेना चाहिये। अप्रामाणिक सूक्ष्म शरीर के संसरण मानने की आवश्यकता नहीं। तात्पर्य यह है—सूक्ष्म शरीर की कल्पना ही अप्रामाणिक होने से 'सूक्ष्म शरीर' यह संज्ञा ही निरर्थक है। इस आशंका के समाधानार्थ निम्न कारिका को उपस्थित कर रहे हैं।

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा च्छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—यथा चित्रम् आश्रयम् ऋते (न तिष्ठति), यथा च्छाया स्थाण्वादिभ्यो विना (न तिष्ठति), तद्वत् लिङ्गं अविशेषैः विना निराश्रयं न तिष्ठति ॥

भावार्थः—'यथा' = जैसे (शिल्पी के द्वारा निर्मित) 'चित्रम्' = आलेख्य (तसवीर) 'आश्रयम्' = पट या भित्ति के 'ऋते' = विना (न तिष्ठति = नहीं रहता बल्कि उसी के सहारे रहता है), और जैसे 'छाया' = तत्तत्पदार्थ के पीछे पीछे चलनेवाला आतपाभाव, 'स्थाण्वादिभ्यो विना' = स्थाणु आदि के विना ('न तिष्ठति' = नहीं रहता), 'आदि' शब्द से शाखा वाले वृक्ष, लता, गुल्म आदि पदार्थों को ग्रहण करना चाहिये। शाखा-पत्रादि से रहित वृक्ष को स्थाणु कहते हैं। 'तद्वत्' = उसी तरह 'लिङ्गम्' = बुद्धि आदि, 'अविशेषैः विना' = सूक्ष्म शरीर के विना, 'निराश्रयं' = निराधार, 'न तिष्ठति' = नहीं रहता, किन्तु वह बुद्ध्यादि, सूक्ष्म शरीर के आश्रित होकर ही रहता है, अतः उन बुद्धि आदि के धर्मिभूत सूक्ष्मशरीर की कल्पना करना आवश्यक है। (कुछ लोग 'विनाविशेषैः' में 'अविशेषैः'—ऐसा पदच्छेद नहीं करते। अपितु लिङ्ग शरीर को सूक्ष्म, मातापितृज, (स्थूल शरीर) पंच भूतों में से किसी एक की अपेक्षा दिखलाते हुए इस कारिका की व्याख्या दूसरी प्रकार से करते हैं—"लिङ्गम्" = सूक्ष्म शरीर विशेषैः विना = स्थूल, सूक्ष्म—अन्यतर शरीर के विना, निराश्रय (निराधार) होकर नहीं रहता, किन्तु सूक्ष्म-स्थूल शरीर और पंचभूत का आश्रय (सहारा) लेकर ही रहता है)।

(१९२) सूक्ष्मशरीरस्यावश्यकत्वप्रदर्शनम् ॥

"चित्रम्" इति। लिङ्गनात् ज्ञापनात् बुद्ध्यादयो 'लिङ्गम्', तत् अनाश्रयन्न तिष्ठति। जन्ममरणान्तराले बुद्ध्यादयः प्रत्युत्पन्नशरीराश्रयाः,—प्रत्युत्पन्नपञ्चतन्मात्रवत्त्वे सति बुद्ध्यादित्वात्—दृश्यमानशरीरवृत्तिबुद्ध्यादिवत् । "विना विशेषैः" इति, सूक्ष्मैः शरीरैरित्यर्थः।

आगमश्चात्र भवति—

"ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशाङ्गतम्।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद्यमः" ॥

(महा० वन० अ० २१६) इत्यङ्गुष्ठमात्रत्वेन सूक्ष्मशरीरत्वमुपलक्षयति। आत्मनो निष्कर्षासम्भवात् सूक्ष्ममेव शरीरम् 'पुरुषः', तदपि पुरि स्थूलशरीरे शेते इति ॥ ४१ ॥

'लिङ्ग' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ बुद्धयादि है—"लिङ्गनादि"ति। "लिगि गतौ" का णिजन्तरूप है। लिङ्गयति = ज्ञापयति इति लिंगनं = ज्ञापनम्। वैयाकरणों ने गत्यर्थक धातुओं को ज्ञानार्थक स्वीकार किया है। अतः "लिङ्गनात्" की व्याख्या की है 'ज्ञापनात्' अर्थात् प्रधान अथवा आत्मा की अनुमापक होने से तन्मात्राओं को छोड़कर बुद्धि आदि तेरह करणों का 'लिङ्ग' शब्द से व्यवहार किया गया है। तत् = वह बुद्धयादिक त्रयोदय करणसमुदायात्मक लिंग, अनाश्रितं = शरीरविशेष का आश्रय विना किये, न तिष्ठति नहीं रहता। लिङ्गदेह की अप्रामाणिकता का निरास करने के लिये उसके (सूक्ष्म शरीर के) साधक, व्याप्ति-पक्षधर्मताज्ञानपूर्वक अनुमान को उपस्थित कर रहे हैं—"जन्म-प्रयाणान्तराले" = 'प्रयाणं च जन्म च जन्मप्रयाणे, तयोः अन्तराले' = मध्ये इति विग्रहः। अल्पाच् होने से जन्म शब्द का पूर्व निपात हुआ है, 'प्रयाण' का अर्थ मृत्यु है। एवं च—मृत्यु के पश्चात् पुनः स्थूल शरीर के स्वीकार करने तक बुद्धिआदिकों का आधारभूत वर्तमान किसी शरीर को तो कहना ही होगा। अर्थात् मरने के बाद पुनः जन्म प्राप्त होने तक जो समय बीच में व्यतीत होता है, उसमें 'बुद्धि, अहंकार आदि तेरह तत्त्व' प्रत्येक पुरुष को भोग लेने के लिये पैदा हुए शरीर के सहारे ही रहते हैं। क्योंकि वे प्रत्येक सृष्टि के समय निर्माण हुई पञ्चतन्मात्राओं से युक्त होकर बुद्धि, अहंकार आदि रूप से ही रहते हैं। 'जो-जो पदार्थ पञ्चतन्मात्रा से युक्त होकर बुद्धयादिरूप से रहता है वह शरीर के बिना नहीं रहता। जैसे—अपने इस स्थूल शरीर में रहने वाले बुद्धि, अहंकार आदि पदार्थ।' यह परार्थानुमान का प्रयोग बताया गया है। इसमें 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण' बताये गये हैं। हम देखते हैं—किसी भी जीवित प्राणी के 'बुद्धि आदि पदार्थ' उसके 'स्थूल शरीर' के आश्रय (सहारे) से रहते हैं, इससे स्पष्ट है कि 'बुद्धि आदि पदार्थ', शरीर के बिना नहीं रह पाते। मृत्यु के पश्चात् प्राणी का 'स्थूल शरीर' तो रहता नहीं। और पूर्वशरीर (नष्ट हुए स्थूल शरीर) के द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगने के लिये 'बुद्धि आदि तत्त्वों' की आवश्यकता तो अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, लेकिन वे 'बुद्धि आदि तत्त्व' निराधार रहेंगे कैसे? उन्हें आधार (आश्रय) अवश्य चाहिये। इसलिये सूक्ष्म शरीर की कल्पना करना अनिवार्य हो जाता है। उपर्युक्त अनुमान का यह निष्कर्ष है। सूक्ष्म शरीरात्मक विशेष के बिना जन्म और मृत्यु के मध्यवर्ती काल में 'बुद्धयादिक' निराधार नहीं रह सकते। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से सूक्ष्म शरीर को प्रामाणिक सिद्ध करके अब शब्द प्रमाण से उसी को सुदृढ बनाते हैं—आगमश्चात्रेति। इस सूक्ष्मशरीर के विषय में आगम (शब्द) प्रमाण के रूप में 'महाभारत' को उपस्थित कर रहे हैं—"तत" इति। महाभारत में सावित्री के उपाख्यान में :—

"ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतम्।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्" ॥

यम ने सत्यवान् के स्थूल शरीर से पाशबद्धकर अपने अधीन किये हुए अङ्गुष्ठ परिमाण वाले पुरुष को बलपूर्वक खींचकर निकाल लिया। अङ्गुष्ठमात्रम्—'अङ्गेषु (गोलकेषु) तिष्ठतीति अङ्गुष्ठम् = इन्द्रियादिकरणसमुदायः, अंगानि = षट्कोषात्मकानि उत्–स्थापयति–आविर्भावयतीति

---

१. 'परशरीरम् आत्मवत् इन्द्रियादिमत्त्वात्।'

अंगुष्ठं = तन्मात्रसमुदायः, अंगुष्ठमेवेति अंगुष्ठमात्रम् ।' सूक्ष्मशरीर का अंगुष्ठमात्र परिमाण होने में प्रमाण उपलब्ध न होने से 'अंगुष्ठमात्र' पद सूक्ष्मपरक है—यह "अंगुष्ठमात्रत्वेनेति" से बताया है। पुरुष की अंगुष्ठमात्रता यहां उसकी सूक्ष्मता की उपलक्षक है। बादरायण ने भी "हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्"—वें. सू. १।३।२५, सूत्र के द्वारा मनुष्य के हृदय से संबद्ध होने के कारण पुरुष को अंगुष्ठमात्र परिमाणवाला बताया है। मनुष्यों का हृदय प्रायः अंगुष्ठमात्र होता है, अतः व्यापक पुरुष भी हृदय में अपने अवस्थान की दृष्टि से अंगुष्ठमात्र कहा जाता है। कठोपनिषद्भाष्य में भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य कहते हैं—"अंगुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यंतःकरणोपाधिरङ्गुष्ठमात्रः, अंगुष्ठमात्रवंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत्" इति। ब्रह्मसूत्र के भाष्य में भी—"मनुष्याणां च नियतपरिमाणः कायः। औचित्येन निमतपरिमाणमेव चैषामंगुष्ठमात्रं हृदयम्। अतो मनुष्याधिकारत्वात् शास्त्रस्य मनुष्यहृदयावस्थानापेक्षमंगुष्ठमात्रत्वमुपपन्नं परमात्मनः।" इति।

देश-काल आदि से असीमित आत्मा का शरीर में पहिले भी प्रवेश नहीं था और न बाद में ही। तब देह में से उसका निष्कर्षण (निकालना) कैसे संभव है? इसलिये शरीर से निष्क्रमणरूप उत्क्रान्ति और लोकान्तर में गमनरूप गति, एवं वहां से आगमनरूप आगति आदि क्रियाएँ (कर्म) सूक्ष्मशरीर की हुआ करती हैं—"आत्मन" इति। महाभारतोक्त श्लोक के 'पुरुष' पद का अर्थ आत्मा करने पर उसके निष्कर्ष आदि कर्म उपपन्न नहीं होते, अतः 'पुरुष' शब्द से यहां पर सूक्ष्म शरीर ही समझना चाहिये। "तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्"—वे. सू. ३।१।१. बादरायण के इस सूत्र से भी सूक्ष्म भूतों के सहित ही इन्द्रियादिकों का उत्क्रमण बताया गया है। ',सूक्ष्ममेव शरीरं पुरुषः'' इति। एवं च 'पुरुष' पद ही शरीरपरक है और 'अंगुष्ठमात्र' विशेषण के जोड़ देने से उसकी सूक्ष्मता सूचित होती है।

शंका—'सूक्ष्म शरीर' को 'पुरुष' कैसे समझा जाय? 'पुरुष' शब्द तो आत्मा में निरूढ है।

समा०—"तदपीति"। तथा च—"पुरि" = स्थूल शरीर में "शेते" सोता है अतः वह 'पुरुष' कहलाता है। यह 'पुरुष' शब्द आत्मा में योगरूढ है और यहां सूक्ष्म शरीर में यौगिक ही है, क्योंकि 'सूक्ष्म शरीर' भी स्थूलशरीरशायी है। एवं च—स्थूलशरीर में शयन करने वाले 'सूक्ष्म शरीर' को यम ने बलपूर्वक खींचकर निकाल लिया। सूक्ष्म शरीर में शयन करने से जैसे 'पुरुष' यह विशेषण 'आत्मा' का है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर का भी वह (पुरुष) विशेषण हो सकता है ॥ ४१ ॥

एवं सूक्ष्मशरीरास्तित्वमुपपाद्य यथा संसरति, येन हेतुना च—तदुभयमाह—

इस प्रकार अनुमान तथा आगम प्रमाण से अष्टादशतत्त्वात्मक सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को सिद्ध करने के पश्चात् वह किस प्रकार और किसलिये अनेक शरीरों में भ्रमण करता है, अर्थात् जिस धर्माधर्मादि निमित्त के कारण स्थूल शरीर से संबंधित होकर रहता है और जिस पुरुषार्थरूप हेतु के लिये वह संसरण करता है, उन दोनों को कहते हैं—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद्व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—पुरुषार्थहेतुकम् इदं लिङ्गम् निमित्त-नैमित्तिकप्रसंगेन प्रकृतेर्विभुत्वयोगात् नटवत् व्यवतिष्ठते ॥

भावार्थ—'पुरुषार्थहेतुकम्' = 'पुरुषार्थः' = भोगापवर्गरूप, 'हेतुः' = प्रयोजक है 'यस्य' = जिसका – ऐसा, 'इदं लिङ्गम्' = यह सूक्ष्मशरीर, 'निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन' = निमित्तं-धर्मादि, नैमित्तिकं —धर्मादिकारणक स्थूलदेहादि, तदुभयप्रसंगेन = उन दोनों के संबंध से, 'प्रकृतेः = मूल-कारण प्रधान का, 'विभुत्वयोगात्' = व्यापकत्व (सर्वत्र सर्वदा रहना) के योग से अर्थात् 'स्वाश्रयवृत्तित्व संबंध' से तथा अपने 'विभु (व्यापक) कारण' के साथ 'तादात्म्य संबन्ध' होने से, 'नटवत्' = नट की तरह वह (सूक्ष्म शरीर), 'व्यवतिष्ठते—मोक्ष होने तक संसरण करता रहता है ॥ ४२ ॥

(१९४) सूक्ष्मशरीर-संसरणप्रकारः ।

"पुरुषार्थहेतुकम्" इति । पुरुषार्थेन हेतुना प्रयुक्तम् । "निमित्तम्" धर्माधर्मादि, "नैमित्तिकम्" तेषु तेषु निकायेषु यथायथं षाट्कौशिकशरीरग्रहः, स हि धर्मादिनिमित्तप्रभवः । निमित्तञ्च नैमित्तिकञ्च-तत्र यः प्रसङ्गः प्रसक्तिस्तया "नटवद्व्यवतिष्ठते लिङ्गम्" सूक्ष्मशरीरम् । यथा हि नटस्तां तां भूमिकां विधाय परशुरामो वाऽजातशत्रुर्वा वत्सराजो वा भवति, एवन्तत्तत्स्थूलशरीरपरिग्रहणाद्देवो वा मनुष्यो वा पशुर्वा वनस्पतिर्वा भवति सूक्ष्मं शरीरमित्यर्थः ॥

(१९४) सूक्ष्म शरीर के संसरण का प्रकार ।

"पुरुषार्थहेतुकम्" की व्याख्या करते हैं—"पुरुषार्थेनेति" । 'पुरुषस्य' = चेतन का 'अर्थः' = भोगापवर्गात्मकप्रयोजन, तेन, (उस) 'हेतुना' = प्रयोजक (प्रवर्तक) के द्वारा, 'प्रयुक्तम्' = प्रवर्तित । 'निमित्तम्' = धर्माधर्मादि अर्थात् धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य अनैश्वर्य—ये आठों भाव । कहां कौन से भाव निमित्त होते हैं—यह तो 'धर्मेणगमनमूर्ध्वम्' इस चवालीसवीं कारिका में बताया जायगा । 'नैमित्तिकम्' का अर्थ करते हैं—'तेषु तेषु' इति । 'तेषु-तेषु निकायेषु' = तत्तन्मनुष्य, पशु आदि की योनियों में 'यथायथम्' = अदृष्टक्रम के अनुरूप 'षाट्कौशिक शरीरग्रहः' = स्थूल शरीर की प्राप्ति । उस षाट्कौशिकशरीर की प्राप्ति धर्माधर्मादिरूप निमित्तकारण से 'प्रभवः' = जन्य है । तथाच धर्माधर्मादि से स्थूलशरीर की प्राप्ति और स्थलशरीर से पुनः धर्माधर्मादि का उपार्जन—इस रीति से मोक्ष प्राप्ति तक सूक्ष्मशरीर का संसरण चलता रहता है । शरीर का कारण धर्माधर्मादि और धर्माधर्मादि का कारण शरीर इस तरह अनवस्था है, किन्तु यह संसरण अनादि होने से यह क्रमिक अनवस्था दोषावह नहीं हो पाती । सांख्यसूत्रकार ने भी कहा है—'पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजाङ्कुरवत्'—(सां. सू. अ. १।१२२) उदयनाचार्य ने भी कहा है—'मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम् । वस्त्वानन्त्यादशक्तेश्च नानवस्था हि दूषणम् ॥' 'निमित्त-नैमित्तिकप्रसङ्गेन' निमित्तञ्च नैमित्तिकञ्च—निमित्तनैमित्तिके (द्वन्द्व) तत्र (निमित्तनैमित्तिकयोः) यः प्रसंगः (प्रसक्ति-सहयोग-सहचारभाव) तेन = निमित्त और नैमित्तिक के सहयोग से । यदि धर्माधर्मादि के साथ या स्थूलशरीर के साथ योग (सहयोग) न रहा तो वह ठहर ही नहीं पायेगा बल्कि विलीन हो जायगा । 'लिङ्गम्' का अर्थ करते हैं—सूक्ष्मशरीरम् । दूसरे के शरीर में 'आत्मा का लिङ्गन' (अनुमापक) होने से 'लिङ्ग' कहलाता है । उसकी सूक्ष्मता है—'मध्यम-अणुपरिमाण' से युक्त होना । इसमें सूक्ष्मता का व्यवहार दृश्यमान स्थूलशरीर की दृष्टि से किया जाता है । 'शरीरम्' की व्युत्पत्ति है—शीर्यते=करणे क्षीयते इति शरीरम् । 'नटवद् व्यवतिष्ठते' इति दृष्टान्त

को स्पष्ट करते हैं—"यथेति" जैसे—नाटक का अभिनेता तत्तद्देश-काल के अनुकूल प्रतिभा से कल्पित पात्रविशेष की वेषरचना करके 'वीरचरित' जैसे नाटक में 'परशुराम' बन जाता है, कभी 'वेणीसंहार' जैसे नाटक में 'अजातशत्रु युधिष्ठिर' बन जाता है, कभी 'रत्नावली' जैसी नाटिका में 'वत्सराज उदयन' बन जाता है। इसी प्रकार यह 'सूक्ष्मशरीर' कभी ब्राह्मणशरीर धारण कर वेदाध्ययनादि करने लगता है, कुछ समय के बाद उस स्वांग को त्याग कर व्याघ्र का स्वांग ले लेता है और उसके अनुरूप आहार विहार करने लगता है, आगे चलकर कभी वृक्ष के रूप में स्थावर होकर रहता है। कभी-कभी देवता बनकर इन्द्रलोक के सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार अनेक स्वांग रचकर उनके अनुरूप अभिनय कर दिखाता है। इस रीति से अनेक शरीरों में सूक्ष्मशरीर कैसे घूमता है—यह बताया गया।

(१९५) सूक्ष्मशरीर-संसरणे हेतुः=प्रकृतेर्विभुत्वम् ॥

कुतस्त्यः पुनरस्येदृशो महिमेत्यत आह "प्रकृतेर्विभुत्वयोगात्" इति। तथा च पुराणम्—"वैश्वरूप्यात् प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुत" इति ॥ ४२ ॥

इस सूक्ष्मशरीर में विविध शरीरों के ग्रहण करने का सामर्थ्य कहां से आया? उत्तर देते हैं—प्रकृतेर्विभुत्वयोगादिति।" 'सूक्ष्मशरीर' का कारण जो 'प्रधान' (मूलप्रकृति) उसकी व्यापकता (अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व = सर्वत्र रहना) के सम्बन्ध से (स्वाश्रयजन्यत्व सम्बन्ध से) अर्थात् अपने व्यापक कारण (मूलप्रकृति) के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने से (जिस कारण में तादात्म्य से सूक्ष्मशरीर रहता है उस कारण के सर्वत्र सर्वदा रहने से) यह सूक्ष्मशरीर सर्वत्र सर्वदा संसरण करता रहता है। उपर्युक्त कथन में 'देवीभागवतपुराण' का प्रमाण दे रहे हैं—"वैश्वरूप्यात् प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुतः" इति। प्रकृति की नाना रूपता और व्यापकता के कारण यह—देह से देहान्तर की प्राप्ति रूप—संसार अनन्त और अपार होने से आश्चर्यजनक है। अर्थात् 'प्रकृति' विभु होने से वह सब चमत्कार कर सकती है ॥ ४२ ॥

(१९५) प्रकृति की विभुता ही सूक्ष्मशरीर के संसरण में हेतु है।

"निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन" इत्युक्तम्-तत्र निमित्तनैमित्तिके विभजते—

निमित्त और नैमित्तिक में आसक्त हो जाने से सूक्ष्मशरीर को अनेक स्थूलशरीरों में भ्रमण करना पड़ता है—यह अव्यवहित पूर्वकारिका में बताया जा चुका है, इसलिये अब निमित्त और नैमित्तिक को विस्तार के साथ विभक्त करके बताते हैं—

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥

अन्व०—भावाः, सांसिद्धिकाः प्राकृतिकाः, वैकृताश्च (भवन्ति), (तत्र) धर्माद्याः करणाश्रयिणः दृष्टाः, कललाद्याश्च कार्याश्रयिणो दृष्टाः।

भावार्थः—'भाव' दो प्रकार के होते हैं, कुछ 'भावों' को सांसिद्धिक कहते हैं। क्योंकि वे 'प्राकृतिक' हैं, प्रकृति का अर्थ है—स्वभाव अर्थात् वे स्वभाव से ही सिद्ध हैं। जैसे—आदिविद्वान् कपिल महामुनि के साथ ही धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य-ये चार भाव उत्पन्न हुए थे। ये चार भाव इन्हें जन्म-जन्मान्तर की परंपरा से ही प्राप्त थे। अतः ये उनके सांसिद्धिक भाव कहे जाते हैं।

और कुछ भाव, 'वैकृत' अर्थात् अस्वाभाविक (नैमित्तिक) होते हैं, अर्थात् जो धर्मादि भाव, देवताराधनादि उपायों के अनुष्ठान से उत्पन्न हुए विकार (नैमित्तिक कार्य) हैं, उन्हीं को 'वैकृत' नैमित्तिक, असांसिद्धिक कहते हैं। प्राचेतसादिकों को धर्मादि चारों भाव उपासनादिनिमित्तों से प्राप्त हुए थे। अतः उनके ये भाव नैमित्तिक अर्थात् असांसिद्धिक (वैकृतिक) कहलाते हैं। उसी प्रकार सभी के अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्यरूप चारों भाव (कार्य) ब्रह्महत्यादिनिमित्तसे पैदा होने के कारण नैमित्तिक होने से असांसिद्धिक ही हैं। ज्योतिष्मती व्याख्याकार कहते हैं कि ये प्राकृतिक और वैकृत होते हैं। ये धर्माधर्मादि भाव, बुद्धितत्त्वरूप जो करण है, उसके आश्रय से रहते हैं अर्थात् बुद्धितत्त्व आश्रय है और ये भाव आश्रयी हैं। जो 'भावों' का कार्य है वह भी 'भाव शब्द' से ही बोला जाता है। जैसे—भावों का कार्य स्थूलशरीर है, उसके आश्रित कललादि आठों भाव अर्थात् शरीर की अवस्थाएँ भी 'भाव' से जन्य होने के कारण 'भाव शब्द' से कही जाती हैं। अर्थात् ये कललादि भाव, सांसिद्धिक, वैकृत से भिन्न होने पर भी भाव शब्द से व्यवहार किये जाते हैं। ये सांसिद्धिक भी हैं और असांसिद्धिक भी। कललादि आठ भाव ये हैं—

कलल, बुद्बुद, मांसपेशी, करण्ड (यकृत्), पेशी, अंग (हस्तादि), प्रत्यङ्ग (अंगुली आदि) और गर्भ से बाहर आये हुए बालक के भाव—शैशव, कौमार, यौवन, वार्धक्य। इस कारिका में धर्मादि निमित्त और शरीरावस्थाविशेष नैमित्तिक का सांसिद्धिक तथा असांसिद्धिक रूप से विभाग बताया गया है। भावों का विभाग; निमित्तविभाग है, और शरीरों का विभाग, नैमित्तिक विभाग है।

(१९६) निमित्त-नैमित्तिकविभागः-धर्मादि-रूपनिमित्तस्य प्राकृतिक-वैकृतिकभावकथनम्, तस्य च करणाश्रयित्व-वर्णनम्।

"सांसिद्धिकाश्च" इति। "वैकृतिकाः" नैमित्तिकाः, पुरुषस्य जातस्योत्तरकालदेवताराधनादिनोत्पन्नाः। "प्राकृतिकाः" स्वाभाविका भावाः सांसिद्धिकाः। तथाहि-सर्गादावादिविद्वानत्रभगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूवेति स्मरन्ति। वैकृताश्च भावा असांसिद्धिकाः, ये उपायानुष्ठानेनोत्पन्नाः, यथा प्राचेतसप्रभृतीनाम्महर्षीणाम्। एवमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याण्यपि। एते कुत्र दृष्टाः ? इत्यत आह—करणाश्रयिणः इति। करणं = बुद्धितत्त्वमिति।

(१९६) निमित्त नैमित्तिक का विभाग, धर्मादि रूपनिमित्त का प्राकृतिक वैकृतिक भाव का कथन और उसके करणाश्रयित्व का वर्णन

"वैकृताः"—विकृता एव वैकृताः-वैकृतिका इत्यर्थः-इसी का अर्थ किया है—'नैमित्तिकाः' अर्थात् किसी निमित्त को पाकर पैदा होने वाले। देवताराधनारूप भक्ति के द्वारा देवता प्रसाद से प्राप्त पुण्यसंचयरूप भाव को नैमित्तिक या वैकृत कहते हैं।

"प्राकृतिकाः"—प्रकृति का अर्थ स्वभाव है, अतः 'प्राकृतिकाः' का अर्थ स्वाभाविक अर्थात् स्वभाव से सिद्ध। इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये कहा "सांसिद्धिकाः" इति। इसी को दृष्टान्त के द्वारा बताते हैं—'तथाहीति।' सृष्टि के आरंभ में समस्त महर्षियों से प्राचीन सर्वज्ञ भगवान् महामुनि कपिल पूर्व सृष्टि के अपने धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य के सहित ही प्रकट हुए—ऐसा सुना जाता है। "ऋषिं प्रसृतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानञ्च पश्येत्" इति श्रुतिः। ऊपर उन वैकृतभावों को, जो देवतारा-

धनादि के द्वारा लभ्य उत्तम भाव हैं उनकी चर्चा की गई थी, अब तपश्चर्या आदि से प्राप्त होनेवाले अनुत्तम भावों को बताने के लिये पुनः कहते हैं—"वैकृता" इति। व्याख्या करते हैं—"वैकृताश्च भावा असांसिद्धिका इति। ये सांसिद्धिक धर्मादि से भिन्न हैं, जो तपश्चर्यादि उपायों के अनुष्ठान करने से प्राप्त हुए हैं। प्रचेता के पुत्र प्राचेतस् वाल्मीकि, विश्वामित्र आदि महर्षियों ने तपोनुष्ठान के द्वारा धर्मादिभावों को प्राप्त किया था। जैसे—धर्मादि चारों भावों का सांसिद्धिक और वैकृतिक के रूप में विभाग दिखाया गया, वैसे ही अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य—इन चारों भावों का भूतप्रेत, दैत्य, राक्षसादिकों में भी उसी प्रकार विभाग रहता है। सारबोधिनीकार का कहना है कि अधर्मादि चार बुद्धिधर्मों का कहीं पर भी स्वाभाविकरूप से रहना न होने के कारण उन्हें 'सांसिद्धिक' नहीं कहा जा सकता, वे हमेशा नैमित्तिक होने से 'असांसिद्धिक' ही हैं। धर्माधर्मादि भावों का अधिकरण पूछते हैं—"एते कुत्र दृष्टा" इति। ये धर्माधर्मादि आठ भाव कहां पर निश्चित रूप से रहते हैं? उत्तर देते हैं—'करणाश्रयिण' इति। इन्द्रियरूप करण तो उनके अधिकरण बन नहीं सकते अतः 'करण' का अर्थ किया 'बुद्धितत्त्व' अर्थात् बुद्धितत्त्वरूप करण के आश्रित रहते हैं।

(१९७) शरीरग्रहरूपनैमित्तिकस्य कार्याश्रयित्वकथनम्।

कार्यं शरीरं तदाश्रयिणः, तस्यावस्थाः, कललबुद्बुदमांसपेशीकरण्डाद्यङ्गप्रत्यङ्गव्यूहाः गर्भस्थस्य, ततो निर्गतस्य बालस्य बाल्यकौमारयौवनवार्धकानीति ॥ ४३ ॥

(१९७) शरीरग्रहरूप नैमित्तिक का कार्याश्रयित्वकथन।

अब धर्माधर्मादिभावों से जन्य स्थूलदेह, जो कललादि अवस्थारूप हैं, वे भी 'भाव' शब्द से कहे जाते हैं—इसी अभिप्राय को 'कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः' के द्वारा कारिका में बताया है। कौमुदीकार उसी की व्याख्या करते हैं—'कार्यम्' इति। 'कार्य' का अर्थ किया है 'शरीर' अर्थात् स्थूल शरीर। ये कललादिभाव लौकिक कृतिसे साध्य होने के कारण उस स्थूल शरीर के आश्रय से रहते हैं। कैसा वह स्थूलशरीर है? जिसके लिये 'भाव' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। उत्तर देते हैं—तस्यावस्था इति। 'भवन्तीति भावाः'—विकाराः—अवस्थाविशेषाः इति। 'स्थूल शरीर' की अवस्थाएँ अर्थात् क्रमिक परिणाम ये हैं—'कलल' अर्थात् वीर्य और रज का मिश्रण, 'बुद्बुद' अर्थात् दोनों का वर्तुलाकार बनना, 'मांस' अर्थात् उसका घनीभाव होना, 'पेशी' अर्थात् मांस का कोशीभाव होना, 'करण्ड' अर्थात् उससे भी अधिक कठिनतर भाग, 'अंग' अर्थात् कर चरणादि, 'प्रत्यङ्ग' अर्थात् अंगुली आदि—इनसे निष्पन्न शरीर। ये अवस्थाएँ गर्भस्थ शरीर की होती हैं, इसलिये इन्हें भी 'भाव' कहते हैं। गर्भ से निर्गत अर्थात् बाहर आये हुए बाल शरीर की भी 'बाल्यावस्था, 'कौमारावस्था,' 'वृद्धावस्था' होती है, ये भी 'भाव' शब्द से कही जाती हैं। गर्भस्थ शरीर के कललादि भाव स्वाभाविक होने से सांसिद्धिक हैं और बाल्यादि भाव खान-पान के द्वारा शरीर के उपचयापचयनिमित्त से होने के कारण असांसिद्धिक हैं। आयु के चार विभाग किये है—"आषोडशाद् भवेद् बालस्तरुणस्तत उच्यते। वृद्धस्तु सप्ततेरुर्ध्वं वर्षीयान् नवतेः परः" ॥ ४३ ॥

(१९८) निमित्तविशेषाणां कार्यविशेषनिरूपणम्।

अवगतानि निमित्तनैमित्तिकानि। कतमस्य तु निमित्तस्य कतमन्नैमित्तिकमित्यत आह—

(१९८) निमित्तविशेषों के कार्यविशेष का निरूपण

बुद्धिधर्मादि निमित्त और कललाद्यवस्थाश्रयशरीररूप नैमित्तिकों का ज्ञान हो गया, अब किस निमित्त से किस प्रकार का नैमित्तिक होता है—यह बताते हैं —

धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो, विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—धर्मेण ऊर्ध्वं गमनं भवति, अधर्मेण अधस्ताद् गमनं भवति, ज्ञानेन च अपवर्गो भवति, विपर्ययात् बन्धः इष्यते ॥

भावार्थः—'धर्मेण' = अभ्युदय के हेतुभूत धर्म से, 'ऊर्ध्वम्' = स्वर्गलोकादि में, 'गमनं भवति' = गमन होता है (जाता है), 'अधर्मेण' = अधर्म से, 'अधस्ताद' = पातालादिलोकों में या पशु आदि की जातियों में, 'गमनं भवति' = गति होती है, 'ज्ञानेन च' = और पच्चीस पदार्थों के तत्त्वज्ञान से सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिद्वारा, 'अपवर्गो भवति' = मोक्ष होता है, 'विपर्ययात्' = विपर्यय-विकल्पादिरूप अज्ञान से, 'बन्धः' = अनेक प्रकार का बन्धन, 'इष्यते' = सांख्याचार्यों के द्वारा माना जाता है। तात्पर्य यह है—परहिंसावर्जित शुद्ध जपादि एवं शास्त्रीय परहिंसापूर्वक यागादि के अनुष्ठान से ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, पितृ स्वर्गादिलोकों की प्राप्ति होती है, और शास्त्रनिषिद्ध आचरण से तथा परपीडा आदि से रौरव, महारौरव, वह्नि, वैतरणी, कुम्भीपाक, तामिस्र, अन्धतामिस्रादि नरकों की प्राप्ति होती है। आत्मसाक्षात्कार (आत्म ज्ञान), से मोक्ष होता है। अज्ञान से प्राकृतिक, वैकृतिक, दाक्षिण भेद से तीन प्रकार का बन्धन प्राप्त होता है। विश्वरूपाचार्य ने कहा है—'शुभैराप्नोति देवत्वं निषिद्धैर्नारकीं गतिम्। उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुष्यं लभतेऽवशः' ॥ ४४ ॥

(१९९) धर्मस्य ऊर्ध्वगमनं प्रति अधर्मस्याधोगमनम्प्रति, ज्ञानस्यापवर्गम्प्रति, अज्ञानस्य च बन्धनम्प्रति-कारणत्वम् ।

"धर्मेण गमनमूर्ध्वम्" द्युप्रभृतिषु लोकेषु । "गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण" भूतलादिषु लोकेषु । "ज्ञानेन चापवर्गः ।" तावदेव प्रकृतिर्भोगमारभते न यावद्विवेकख्यातिं करोति; अथ विवेकख्यातौ सत्यां कृतकृत्यतया विवेकख्यातिमन्तम्पुरुषम्प्रति निवर्तते । यथाहुः—

"विवेकख्यातिपर्यन्तं ज्ञेयम् प्रकृतिचेष्टितम्" इति ।

"विपर्ययात्" अतत्त्वज्ञानात् "इष्यते बन्धः" ॥

(१९९) ऊर्ध्वगमन के प्रति धर्म, अधोगमनके प्रति अधर्म, अपवर्ग के प्रति ज्ञान, और बन्धन के प्रति अज्ञान कारण है।

"धर्मेण गमनमूर्ध्वमिति।" 'ऊर्ध्वम्' की व्याख्या करते हैं—'द्युप्रभृतिषु लोकेषु' इति—'द्युलोक' अर्थात् स्वर्गलोक प्रभृति से महर्जनतपःसत्यलोकों का ग्रहण करना चाहिये। "गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण" इति। 'अधस्तात्' की व्याख्या करते है—'भूतलादिषु'—भूतल = मर्त्यलोक में। 'आदि' पद से अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल लोकों का ग्रहण करना चाहिये। निष्कर्ष यह है कि मृत्युलोक से ऊपर महा लोकादि सभी लोक पुण्यात्माओंके हैं। जो सात्त्विक पुण्यशाली लोग हैं वे शरीरपात के अनन्तर स्वर्गादि उच्चलोकों में पहुँचते हैं। जो रजोगुणी पुण्यशाली हैं, वे अन्यत्र कहीं न जाकर यहीं मध्यलोक (मनुष्य लोक अर्थात् भूलोक) में जन्म प्राप्त करते हैं और जो तमोगुणी पापनिरत हैं वे मृत्यु के पश्चात्

कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, वृक्षादि नीच योनियों में जन्म पाते हैं। रौरव, कुम्भीपाकादि नरकों में पहुँचकर वहां के घोर दुःखों को भोगते हैं। इसी आशय की छान्दोग्य श्रुति—५।१०।७ देखिये—"तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते—रमणीयां योनिमापद्येरन्—ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्—श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।" इति। "ज्ञानेन चापवर्गः" प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान से (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति से) 'आत्यन्तिकदुःखध्वंसात्मक' मोक्ष होता है। अर्थात् देहपात के पूर्व 'जीवन्मुक्ति' और देहपात होने पर 'विदेह कैवल्य' होता है। भगवती श्रुति-कहती है—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये, अथ सम्पत्स्ये" इति। भाष्यकार ने 'मोक्ष' के तीन प्रकार बताये हैं अतः अपवर्ग तीन प्रकार का है—'आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्। कृच्छ्रक्षयात्तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥" विषयों में आसक्ति को 'राग' कहते हैं, उसके क्षय करने में 'वशीकारसंज्ञक वैराग्य' हेतु है। सर्वत्र वासनोच्छित्ति को 'कृच्छ्रक्षय' कहते हैं, उसमें 'असम्प्रज्ञात समाधि' हेतु है। 'सर्वकर्मक्षयलक्षण मोक्ष' ज्ञान से होता है, जो गीता में बतया हैं—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।" "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।" शंका—जीवित अवस्था में बुद्धि के द्वारा समर्पित विषयों का उसे 'साक्षी' तो अवश्य बनना ही पड़ेगा, तब वह साक्षी बनना बन्ध के ही समान होने से ज्ञान के द्वारा अपवर्ग की संभावना कैसे की जा सकती है?

समाधान करते हैं—"तावदेवेति।" प्रकृति तबतक सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारात्मक भोग देती रहती है, जब तक तत्त्वज्ञान के द्वारा अपने (प्रकृति) से पुरुष के भेद का ज्ञान नहीं कराती। तत्त्वज्ञान के द्वारा विवेकख्याति (प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान) को पैदा करा देने पर वह (प्रकृति) भोगात्मक प्रयोजन सम्पादन कर चुकने के कारण अर्थात् 'कृतकृत्यतया' = कृतं निष्पादितं कृत्यं प्रयोजनं भोगदानात्मकं यया सा कृतकृत्या, तस्या भावः कृतकृत्यता, तया। तत्त्वज्ञान से प्राप्त हुई विवेकख्याति से युक्त पुरुष को वह (प्रकृति) भोग नहीं देती। पुरुषापवर्ग ही प्रकृति का मुख्य प्रयोजन है, इसलिये वह उसे अवश्य ही करना है। उस प्रयोजन को यदि वह सम्पन्न कर लेती है तब उसका पुरुष के प्रति प्रवृत्त होना निरर्थक है। विवेक ख्याति कराने की ओर प्रकृति शनैःशनैः स्वयं चेष्टा करती है, क्योंकि वही उसका अन्तिम उद्देश्य है, उसे जब वह कर लेती है तब उसे कर्तव्यान्तर (अन्य कर्तव्य) न रहने से जिस पुरुष का अपवर्ग हो गया उससे वह (प्रकृति) निवृत्त हो जाती है। इस कथन में प्राचीनों की सम्मति बताते हैं—"यदाहुरिति।" "विवेकख्यातिपर्यन्तं ज्ञेयं प्रकृतिचेष्टितम्"—'प्रकृतिचेष्टितम्' अर्थात् प्रकृति का भोगदानानुकूल चरित्र, 'विवेकख्यातिपर्यन्तम्' अर्थात् विवेकः = प्रकृति और पुरुष का भेद, 'तस्य' = उसकी ख्यातिः = ज्ञान पर्यन्त समझना चाहिये। "विपर्ययात्" पद का अर्थ करते हैं—'अतत्त्वज्ञानात्' इति। देहाध्यासरूप अतत्त्वज्ञान से। प्रत्यक्षात्मक प्रमा, अनुमिति प्रमा और शाब्दप्रमा—ये सब तत्त्वज्ञान हैं और इनसे उत्पन्न—'प्रकृतिः आत्मभिन्ना' इस प्रकार के सत्त्व-पुरुषान्यताज्ञान (ख्याति) को भी तत्त्वज्ञान कहते हैं। उससे भिन्न जो अप्रमात्मक, विपर्ययात्मक, विकल्पात्मक, और स्मरणात्मक ज्ञान-ये सभी 'अतत्त्वज्ञान' हैं—इनसे बन्ध अर्थात् मोक्षविरोधी पाश प्राप्त होता है।

(२००) बन्धत्रैविध्यनिरूपणम् प्राकृतिकवैकृतिकदाक्षिणकरूपम्।

स च त्रिविधः—प्राकृतिको वैकृतिको दाक्षिणकश्चेति। तत्र प्रकृतावात्मज्ञानाद्ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः, यः पुराणे प्रकृतिलयान् प्रत्युच्यते।

"पूर्णं शतसहस्रं हि तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः" इति ॥

वह बन्ध तीन प्रकार का है—एक तो प्राकृतिक, दूसरा—वैकृतिक और तीसरा—दाक्षिणक।

(२००) प्राकृतिक, वैकृतिक, दाक्षिणक तीन बन्धों का निरूपण

प्राकृतिकः—'प्रकृतिः'-मूलमाया 'तत्र भवः' 'प्रकृतौ चेतनस्य लयात्मकः'। वैकृतिकः—विकाराः महत्तत्त्वादयः तत्र भवः 'महत्तत्त्वादिपु चेतनस्य लयात्मकः'। दाक्षिणकः—'यज्ञादौ बहुविधगोसुवर्णादिदक्षिणादानेन लभ्यः, तत्पुण्यभोगार्थं प्रसह्यापि स्वर्गीयशरीरादौ अवस्थानात्मकं बन्धनम्।' इन तीन प्रकार के बन्धनों में जो लोग 'प्रकृतौ आत्मज्ञानात्' = आत्मा प्रकृत्यभिन्नः अर्थात् प्रकृतिरेव आत्मा—ऐसा समझकर प्रकृति की उपासना (मनन) करते हैं, उन्हें (प्रकृति के उपासकों को) प्राकृतिक बन्ध (मृत्यु के पश्चात् मूल-प्रकृति में लय) होता है अर्थात् लयात्मक बन्धन प्राप्त होता है। यहां पर 'लय' शब्द से तिरोभाव नहीं समझना चाहिये। क्योंकि चेतन का तिरोभाव होना असंभव है। अतः दीर्घकाल तक केवल सूक्ष्मशरीर के साथ प्रकृति में अवस्थान अर्थात् मूर्छित रहना समझना चाहिये। इस कथन में पुराण को प्रमाणरूप में उपस्थित करते हैं—"यः पुराणे इति।" जो प्राकृतिक बन्ध पुराण में प्रकृतिलयों के लिये (प्रकृति में लय को प्राप्त हुओं के लिये) कहा गया है। पुराण का वाक्य इस प्रकार है—"पूर्णं शतसहस्रं हि तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः"—'अव्यक्त' का अर्थ है मूल प्रकृति। उसके चिन्तक, आत्मा प्रकृति से अभिन्न है—'आत्मा प्रकृत्यभिन्नः' इस प्रकार मनन (उपासना) करने वाले पूर्ण शतसहस्र मन्वन्तर तक अर्थात् चार युगों की एक सप्तति (७१) मन्वन्तर होता है। एक मन्वन्तर के वर्ष ३०६७२०००० (विंशतिसहस्राधिक सप्तषष्टिलक्षोत्तर त्रिंशत्कोटि) होते हैं। ऐसे शतसहस्र (लक्ष) मन्वन्तरों तक प्रकृति में ही लीन हुए की तरह रहते हैं अर्थात् तबतक मोक्ष की कोई आशा नहीं।

वैकारिको बन्धस्तेषां ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीः पुरुषधियोपासते, तान् प्रतीदमुच्यते—

"दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकास्तु शतम्पूर्णं, सहस्रन्त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।"
"ते खल्वमी विदेहा येषां वैकृतिको बन्धः" इति ॥

इष्टापूर्तेन दाक्षिणकः। पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यते इति ॥ ४४ ॥

अब 'वैकृतिक बन्ध' के अधिकारियों को बताते हैं—'वैकारिको बन्धस्तेषामिति।' जो लोग प्रकृति के विकारभूत पंचभूतों की आत्मा के रूप में उपासना करते हैं उन चार्वाकों के प्रति, और जो श्रोत्रादि इन्द्रियों को ही आत्मा समझकर उपासना करते हैं उन नास्तिकों के प्रति, उसी प्रकार जो मन, अहंकार और बुद्धि की आत्मबुद्धि से उपासना करते हैं, उन सब को लक्ष्यकर पुराण में यह कहा है—"दशेति।" इन्द्रियों का आत्मा के रूप में चिन्तन करने वाले दशमन्वन्तर तक प्रकृति में लीन रहते हैं। आत्मबुद्धि से स्थूलभूतों की उपासना करने वाले शतमन्वन्तर तक प्रकृति में लीन रहते हैं, और अभिमान (अहंकार) को ही आत्मा समझकर जो उपासना करते हैं, वे सहस्रमन्वन्तर तक प्रकृति में लीन रहते हैं और जो बौद्ध अर्थात् बुद्धि को ही आत्मरूप से उपासना करते हैं, वे दशसहस्रमन्वन्तर तक प्रकृति में लीन रहते हैं। वे किस प्रकार लीन रहते हैं ? उत्तर में कहते हैं—"विगतज्वराः" इति।

'विगतः' = नहीं है, 'ज्वरः' = स्थूल शरीर से लभ्य सुखदुःखादि भोग 'येषां' = जिन्हें, वे स्थूल भोगरहित रहते हैं तथापि सूक्ष्मशरीर के सहित होने से भोजनादि रहित, निगडित कारागारनिवासी की तरह अवरुद्ध रहते हैं। उन प्रकृतिलीनों की संज्ञा बताते हैं— "ते खल्वमीति।" इन 'वैकृतिक बन्धवालों' को 'विदेह' कहते हैं। जब तक वे लीन रहते हैं तब तक स्थूल देह से रहित होने के कारण उन्हें 'विदेह' कहा जाता है—'विगतः देहः = स्थूलशरीरं येषां ते विदेहाः'। पश्चात् लय की अवधि समाप्त होने पर अपने अपने धर्माधर्मादि क्रम के अनुसार विविध स्थूल शरीरों को पुनः पाते रहते हैं। तीसरे बन्ध को दिखाते हैं—"इष्टापूर्तेन दाक्षिणकः"—'इष्टस्य' = इष्टसाधनस्य अर्थात् इष्टं स्वर्गादि तत्साधनं वापीतडागादिः, तस्य आ = समाप्तौ सत्यां यत् पूर्तं कर्म दक्षिणादानं ब्राह्मणभोजनादिकं तेन। कुछ लोग 'इष्टापूर्तं' की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—इष्टम् यागादि, पूर्त्तम् खातादि। तथाह—

"अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥"
"वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥"

इष्टं च पूर्तं च अनयोः समाहारः—इष्टापूर्त्तम्, समाहारद्वन्द्वे पूर्वपदस्य दीर्घः। दाक्षिणकः—दक्षिणमार्गेण धूमादिना चन्द्रलोकादिप्राप्तिरूपो बन्धः। इस प्रकार के पुण्य से होने वाले बन्ध को 'दाक्षिणक' कहते हैं। यह बन्ध किसे होता है?

उत्तर—जो पुरुषतत्त्व अर्थात् सुखदुःखादिकामनाशून्य आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित होता है उसे (अज्ञानी को) यह बन्ध प्राप्त होता है। उस अज्ञानी का मन (अन्तः करण) विविध पुण्यभोग विषयक मनोरथों से भरा रहता है, इसलिये वह सदैव इष्टापूर्तादि कर्मों के अनुष्ठान में लगा रहता है। वह अज्ञानी इष्टापूर्तजनित पुण्य से देवादि दिव्य शरीरों को प्राप्त कर बन्धन में फस जाता है, मुक्त नहीं हो पाता, क्योंकि धर्म से शरीर, शरीर के द्वारा पुनः धर्म, पुनः उससे शरीर पुनः उससे धर्म—इस प्रकार चक्र चलते रहने के कारण बन्धन से छूट नहीं पाता॥ ४४॥

अब किस उपाय से कौनसा लय सिद्ध होता है, उसे कहते हैं:—

वैराग्यात् प्रकृतिलयः, संसारो भवति राजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः॥ ४५॥

अन्वयः—वैराग्यात् प्रकृतिलयः (भवति), राजसात् रागात् संसारे (लयः भवति), ऐश्वर्यात् अविघातः, विपर्ययात् तद्विपर्यासः॥

भावार्थः—तत्त्वज्ञानरहित पुरुष का 'वैराग्यात्' = केवल वशीकार संज्ञक वैराग्यसे, 'प्रकृतिलयः' = प्रकृति में और उसके महत्तत्त्वादि कार्यों में लय अर्थात् सूक्ष्म शरीर के साथ प्रवेश, 'भवति' = होता है, 'राजसात्' = रजोगुण के कार्यरूप, 'रागात्' = कर्मफलाभिलाष से (अवैराग्य से) कर्मफलोपभोग, शरीरसाध्य होने से 'संसारः' स्थूल शरीर का परिग्रह होता है अर्थात् दुःखप्रद एक शरीर से दूसरे शरीर की प्राप्तिरूप संसरण होता है, यहाँ पर चन्द्रिकाकार ने ऐसी व्याख्या की है:—

'रागात्' = काम-क्रोधादि से संसार होता है, यागादिविषयक कामना से (आसक्ति से) स्वर्गादि और स्त्री आदिविषयक काम से लोकभोग ही प्राप्त होता है॥ 'ऐश्वर्यात्' = अणिमा-

महिमादि के सामर्थ्य से, 'अविघातः'—अप्रतिबन्ध अर्थात् जिस वस्तु की वह इच्छा करता है वही वस्तु उसे मिल जाती है। 'विपर्ययात्' = अनैश्वर्यसे, 'तद्विपर्यासः' = उस अविघात का विपर्यास = विघात होता है, अर्थात् सर्वत्र इच्छा का विघात होता है। जिस वस्तु की वह इच्छा करता है वह उसे नहीं मिल पाती।

(२०१) वैराग्यात् प्रकृतिलयः।

"वैराग्यात् प्रकृतिलयः" इति। पुरुषतत्त्वानभिज्ञस्य वैराग्यमात्रात् प्रकृतिलयः, प्रकृतिग्रहणेन प्रकृतिमहदहङ्कारभूतेन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेष्वात्मबुद्ध्योपास्यमानेषु लयः। कालान्तरेण च पुनराविर्भवति॥

"वैराग्यात् प्रकृतिलयः" इति। कारिका को स्पष्ट करने के लिये कौमुदीकार कहते हैं—

(२९१) वैराग्य से प्रकृति में लय होता है।

"पुरुषतत्त्वानभिज्ञस्य"—इति। पुरुष का स्वरूप, स्वभावादि जो तत्त्व उससे अनभिज्ञ अर्थात् तत्त्वज्ञानरहित व्यक्ति का केवल यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, वशीकार वैतृष्ण्याख्य वैराग्य से प्रकृति में लय होता है। 'पुरुषतत्त्वाऽनभिज्ञस्य' यह कहने का प्रयोजन यह है कि "पुरुषः—प्रकृत्यादिजडाऽभिन्नः" इस रीति से प्रकृत्यादिकी आत्मरूप से उपासना करने वाले का प्रकृति में लय होता है। 'प्रकृति' शब्द से—प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पञ्चभूत, मन, दशेन्द्रिय समझने चाहिये। इनमें से किसी की भी आत्मबुद्धि से उपासना करने पर (आत्मा महत्तत्त्वाऽभिन्नः, आत्मा अहंकाराऽभिन्नः, आत्मा भूतात्मदेह एव, आत्मा तन्मात्राणि, आत्मा मनः, आत्मा इन्द्रियाणि—इस प्रकार मनन करते रहने पर) उन उन तत्त्वों में लय होता है अर्थात् केवल सूक्ष्म शरीर के साथ जडवत् अवस्थिति होती है। लय की अवधि समाप्त होने पर सूक्ष्मशरीर के साथ बन्धन से मुक्त होता हुआ (छुटकारा पाकर) पूर्वजन्म के अदृष्टानुरूप स्थूल शरीर पाता है।

(२०२) राजसाद्रागात् संसारः।

"संसारो भवति राजसाद्रागात्" इति। 'राजसात्' इत्यनेन रजसो दुःखहेतुत्वात् संसारस्य दुःखहेतुता सूचिता॥

"संसारो भवति राजसाद्रागात्" इति। 'राजसराग' अर्थात् रजोगुण के धर्मस्वरूप अवैराग्य से संसार (जन्मजन्मान्तरप्राप्ति) प्राप्त होता है।

(२०२) राजसराग से संसार होता है।

शंका—'राग' तो रजोमय ही होता है तब "राजसात्" विशेषण 'उष्णो वह्निः' में वह्नि के उष्णत्व विशेषण की तरह अनावश्यक है। तब इस विशेषण देने की क्या आवश्यकता?

समा०—रजोगुण दुःख का हेतु होने से रजोगुणात्मक राग को भी दुःख का हेतु कहना होगा, तब राग से लब्ध होने वाला जन्मजन्मान्तरप्राप्त्यात्मक संसार रूप फल भी दुःखप्रद ही है—यह सूचित करने के लिये 'राजसात्' विशेषण देना आवश्यक था।

(२०३) ऐश्वर्यादिच्छानभिघातः, अनैश्वर्याच्चेच्छाभिघातः।

"ऐश्वर्यादविघात" इति—इच्छायाः। ईश्वरो हि यदेवेच्छति तदेव करोति। "विपर्ययात्" अनैश्वर्यात् "तद्विपर्यासः" सर्वत्रेच्छाविघात इत्यर्थः॥४५॥

"ऐश्वर्यादविघातः"—यहां 'इच्छायाः' का अध्याहार कर शेष पूर्ति की गई है। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्वरूप ऐश्वर्य (सामर्थ्य) से इच्छा का अविघात होता है। अर्थात् इच्छा का भंग नहीं होता। निष्कर्ष यह है कि 'ईश्वर' = ऐश्वर्यवान् वह व्यक्ति जो कुछ भी इच्छा करता है उसकी वह इच्छा निश्चित रूप से पूर्ण होती है। अर्थात् जैसा वह चाहता है वैसे ही होता है।

(२०३) ऐश्वर्य से इच्छा का अनभिघात और अनैश्वर्य से इच्छा का अभिघात होता है।

"विपर्ययात् तद्विपर्यासः"। विपर्ययात् = ऐश्वर्य के विपरीत अनैश्वर्य से "तद्विपर्यासः" का अर्थ सर्वत्र इच्छाविघातः, जिस जिस पदार्थ को अपने अनुकूल बनाने की इच्छा करता है वे सब प्रतिकूल होते जाते हैं। इस प्रकार उसकी इच्छा सदैव निष्फल होती रहती है। यही दुःख की पराकाष्ठा है ॥ ४५ ॥

बुद्धिधर्मान् धर्मादीनष्टौ भावान् समासव्यासाभ्यां मुमुक्षूणां हेयोपादेयान् दर्शयितुं प्रथमन्तावत् समासमाह—

'अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्'—इस तेईसवीं—कारिका के द्वारा उक्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य इन आठ बुद्धिधर्मों (धर्मादि आठ पदार्थों) में से अधर्मादि चार मुमुक्षुओं को त्याज्य हैं और धर्मादि चार ग्राह्य हैं, इसलिये उन्हें समास और व्यास (संक्षेप और विस्तर) से समझाने के लिये पहिले संक्षेप (चार प्रकार) बताते हैं। संक्षेप से कहने के पश्चात् उनके पचास भेद कर विस्तर भी बताएंगे।

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात्, तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ ४६ ॥

अन्व—एषः प्रत्ययसर्गः, विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः (चतुर्धा भवति), गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदाः तु पञ्चाशत् (भवन्ति) ॥

भावार्थः—'एषः' = धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्यावैराग्य, ऐश्वर्यानैश्वर्यात्मक जो आठ प्रकार का एक गण बताया है वह, 'प्रत्ययसर्गः' = बुद्धिसर्ग (सृष्टि) है—'प्रतीयन्ते विषयाः अनेन इति प्रत्ययः = ज्ञानं-बुद्धिः, तस्य सर्गः = सृष्टिः।' उसी के विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि-ये चार नाम हैं।

'विपर्ययश्च अशक्तिश्च तुष्टिश्च सिद्धिश्च आख्याः = नामानि यस्य तादृशः।' अर्थात् उपर्युक्त चार नाम हैं जिसके ऐसा 'यह गण' बुद्धिसृष्टि कहलाता है। (उसके) 'गुणवैषम्यविमर्दात्' = गुणों की न्यूनाधिकता से एक गुण या दो गुणों का जो अभिभव होता है, उस कारण पञ्चाशत् (५०) भेद होते हैं ॥

"एषः" इति। प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययो बुद्धिः, तस्य सर्गः। तत्र "विपर्ययः" अज्ञानमविद्या, साऽपि बुद्धिधर्मः, "अशक्तिः" अपि करणवैकल्यहेतुका बुद्धिधर्म एव। "तुष्टिसिद्धी" अपि वक्ष्यमाणलक्षणे बुद्धिधर्मावेव। तत्र विपर्ययाशक्तितुष्टिषु यथायोगं सप्तानाञ्च धर्मादीनां ज्ञानवर्जमन्तर्भावः; सिद्धौ च ज्ञानस्येति ॥

(२०४) विपर्ययादिबुद्धिसर्गस्य समासेन कथनम्।

'प्रतीयते' इति। 'प्रतीयते ज्ञायते विषयः अनेनेति प्रत्ययः' बुद्धिः 'तस्य' = उस प्रत्यय (बुद्धि) का 'सर्गः' = कार्य चार प्रकार का होता है। उनमें जो 'विपर्यय' है उसका अर्थ है 'अज्ञान'। योगसूत्रकार ने इसी को 'मिथ्याज्ञान' शब्द से कहा है—'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्' इति। इसी अज्ञान का पर्यायवाची शब्द 'अविद्या' है। यह (विपर्यय) अविद्या[1] 'बुद्धि' का तमःप्रभव परिणाम है अर्थात् एक प्रकार का बुद्धिधर्म है।

(२०४) विपर्ययादि बुद्धि सर्ग का संक्षेप से कथन।

उसी प्रकार 'अशक्ति' भी बुद्धि का धर्म है। 'अशक्ति' का अर्थ है असामर्थ्य। अर्थात् किसी पदार्थ का निश्चय करने में या क्रिया करने में असामर्थ्य।

शंका—'अयं घट एव' यह घट ही है—इस प्रकार बुद्धि का अध्यवसाय (चित्संबंध) रहने से निश्चय होना अवश्यंभावी है, उसी प्रकार 'कर्तव्यमेतन्मया' इस 'अध्यवसाय' के पश्चात् 'प्रवृत्ति' (कृति) होने पर 'क्रिया' का होना भी अवश्यंभावी है, तब 'निश्चयजनन' में और 'क्रिया जनन' में बुद्धि की असमर्थता (असामर्थ्य) कैसे कही जा सकती है?

समा० — 'करणवैकल्यहेतुकेति।' एकादशेन्द्रिय और बुद्धि, अहंकार इन तेरह कारणों की विकलता (अपटुता) के कारण वह अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती है। करणं वैकल्य हेतुका—'करणवैकल्यं हेतुः प्रयोजकं यस्याः सा'—इति विग्रहः। तात्पर्य यह है—ज्ञानेन्द्रियों के विकल रहने पर विषय का ग्रहण करना ही असंभव है, तब मन, अहंकार, बुद्धि का संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय कर पाना कैसे संभव हो सकता है? मन के विकल होने पर सम्मुग्ध रूप से वस्तु का इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किये जाने पर भी उसके विषय में मनोजन्य सम्यक् कल्पन (संकल्प) करना असंभव है। तब अहंकार और बुद्धि के द्वारा अभिमान-अध्यवसाय करपाना भी असंभव है। अहंकार की विकलता होनेपर इन्द्रिय से आलोचित तथा मन से संकल्पित वस्तु के विषय में भी 'वस्तु खलु आलोचितं मतं च तत्राहमधिकृतः' इत्याकारक अभिमान न हो सकने से बुद्धि का अध्यवसाय भी संभव नहीं। और बुद्धि के विकल होने पर तो सभी असंभव है। अतः बुद्धि की अपने निश्चयात्मक व्यापार कर पाने में असमर्थता, करणवैकल्यनिबन्धन (हेतुक) है—यह कहना ठीक ही है।

उसी प्रकार बुद्धि के विकल हो जाने पर 'एतत् कर्तव्यमेव' इत्याकारक अध्यवसाय करपाना संभव ही नहीं रहता, तब तत्पश्चात् भावी प्रवृत्त्याख्य कृति के न हो पाने से अहंकार-मन-कर्मेन्द्रियों के विकल न रहने पर भी क्रिया की उत्पत्ति नहीं हो पाती। अहंकार के विकल होने पर तो 'शक्तः खलु अहमत्र' इत्याकारक अभिमान का संभव न हो सकने से मन के समीपवर्ती कर्मेन्द्रियों से भी क्रिया की उत्पत्ति होना संभव नहीं हो पाता।

मन के विकल होने पर 'एतत् एवं कर्तव्यम्' इत्याकारक संकल्प कर पाना असंभव हो जाता है, तब इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति ही नहीं हो पाती, ऐसी स्थिति में क्रिया की उत्पत्ति कहां हो सकती है? कहा भी है—'चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेः' इति।

---

१. अविद्याशब्देन अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशरूपाः पञ्चापि गृह्यन्ते। "अविद्यापञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः" इति विष्णुपुराणे पञ्चप्रकाराऽविद्याया महत्तत्त्वधर्मतोक्तेः। (सा. बो.)

कर्मेन्द्रियों के विकल होने पर भले ही बुद्धि अध्यवसाय कर ले, पश्चात् प्रवृत्त्याख्य कृति भी हो जाय और अहंकार अपने अभिमान कार्य) को भी कर ले तथा इन्द्रियों का अधिष्ठाता मन भी संकल्प कर ले तब भी यदि कर्मेन्द्रियां विमुख रहें तो क्रिया की उत्पत्ति होना अत्यन्त असंभव है, अर्थात् कभी भी संभव नहीं। अतः क्रियाजनन में बुद्धि की असमर्थता, करणवैकल्यहेतुक है यह कथन उचित ही है। इस प्रकार करणवैकल्यनिबन्धन अनेक भेद अशक्ति के हो सकते हैं, किन्तु यहाँ तो मुमुक्षु के लिये जो हेय और उपादेय हैं उनका ही प्रदर्शन करना है इसलिये अग्रिम कारिका में अट्ठाईस ही भेद बतायेंगे। "तुष्टिसिद्धीति।"—नौ तुष्टियाँ 'आध्यात्मिक्यश्चतस्रः' (का ५०) कारिका के द्वारा बताई जायेंगी और आठ सिद्धियां 'ऊहः शब्दोऽध्ययनम्' (का० ५१) कारिका के द्वारा कही जायेंगी। उन तुष्टि और सिद्धियों को बुद्धि के धर्म ही समझना चाहिये। इन चारों में धर्माधर्मादि आठों का अन्तर्भाव बताते हैं—"तत्रेति" 'विपर्यय' में अज्ञान और अधर्म का अन्तर्भाव होता है। 'अशक्ति' में अवैराग्य और अनैश्वर्य का अन्तर्भाव होता है। 'तुष्टि' में धर्म और वैराग्य और ऐश्वर्य का अन्तर्भाव होता है—इसी को बता रहे हैं—'यथायोगं सप्तानां च धर्मादीनामिति'। कौन-कौन से सात धर्म हैं ? यह आकांक्षा होने पर बताते हैं—'ज्ञानवर्जमिति'। 'ज्ञानवर्जम्' यह णमुलन्त प्रयोग है, उस का अर्थ होगा ज्ञानं वर्जयित्वा। अर्थात् ज्ञान के सिवाय उक्त सातों का उक्त तीनों में अन्तर्भाव बताया। और ज्ञान का अन्तर्भाव 'सिद्धि' में होता है। अर्थात् 'ऊहः शब्दोऽध्ययनम्'—इस (५१ वीं) कारिका से उक्त ऊहादिसिद्धि में ज्ञान का अन्तर्भाव होता है।

(२०५) तस्यैव व्यासेन कथनम्-पञ्चाशद्भेदाः।

व्यासमाह —"तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्" इति। कस्मात् ? "गुणवैषम्यविमर्दात्" इति। गुणानां वैषम्यमेकैकस्याधिकबलता द्वयोर्द्वयोर्वा, एकैकस्य न्यूनबलता द्वयोर्द्वयोर्वा, ते च न्यूनाधिक्ये मन्दमध्याधिमात्रतया यथाकार्यमुन्नीयेते। तदिदं गुणानां वैषम्यम् तेनोपमर्दः एकैकस्य न्यूनबलस्य द्वयोर्द्वयोर्वाऽभिभवः। तस्मात्तस्य भेदाः पञ्चाशदिति ॥ ४६ ॥

(२०५) उसी का व्यास (विस्तार) से कथन

अब विपर्ययादि चारों का व्यास (विस्तार) बताते हैं—"तस्य च भेदास्तु पञ्चाशदि"ति। 'तस्य' = विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धिसंज्ञक संक्षिप्त सर्ग के पञ्चाशत्संख्यक भेद (पचास प्रकार) होते हैं। 'कस्मात्' क्यों होते हैं ? यह पूछने पर बताते हैं—'गुणवैषम्यविमर्दादिति।' 'गुणानां वैषम्यं = गुणवैषम्यम्—सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का जो 'वैषम्य' = न्यूनाधिकभाव, 'तेन कृतः यः विमर्दः' = उससे होने वाला जो विमर्द = अपना अपना कार्य पैदा करने के सामर्थ्य का पराभव, उस अनेक प्रकार के पराभवों से पचास भेद (विपर्यय के) हो जाते हैं। अर्थात् गुणों की विषमता से होने वाले पारस्परिक अभिभव के कारण ये ५० भेद होते हैं।

'वैषम्य' पदार्थ को स्पष्ट करते हैं—'एकैकस्येति।' एक एक की अधिकबलता = अधिकपरिमाणता अथवा दो दो की अधिकपरिमाणता ही वैषम्य है। 'एकैकस्य' 'द्वयोर्द्वयोः' इस प्रकार वीप्सा दिखाने का प्रयोजन, 'कार्यात्मक सत्त्वादिकों की सर्वत्र व्याप्ति सूचित करना' है। उसी प्रकार एक-एक की या दो-दो की न्यूनबलता भी सूचित की गई है।

जैसे—१-'सत्त्व' का न्यूनबल और रज-तम का अधिकबल।
२-'रज' का न्यूनबल और सत्त्व-तम का अधिकबल।
३-'तम' का न्यूनबल और सत्त्व-रज का अधिकबल।
उसी प्रकार ४-'सत्त्व' का अधिकबल और रज-तम का न्यूनबल।
५-'रज' का अधिकबल और सत्त्व-तम का न्यूनबल।
६-'तम' का अधिकबल और सत्त्व-रज का न्यूनबल।

इस रीति से न्यूनबलता छह प्रकार की और अधिकबलता भी छह प्रकार की, दोनों मिलकर बारह प्रकार हुए। उनमें कोई न्यूनबलता—मन्दा, कोई मध्या, कोई अधिमात्रा (तीव्रा) ये अठारह भेद हुए। उसी प्रकार अधिकबलता के भी मन्द-मध्य-तीव्र भेद होने से अठारह होंगे मिलकर ३६ भेद न्यूनाधिकबलता (वैषम्य) के होते हैं इसी अभिप्राय से कहते हैं—"ते चन्यूनाधिक्ये मन्दमध्याधिमात्रतयेति।" 'यथाकार्यं = कार्य जिस प्रकार दिखाई दे उससे उसके कारण की न्यूनाधिकता समझ लेनी चाहिये। इस प्रकार से अनेक भेदों के द्वारा प्रदर्शित किये गये गुणों के वैषम्य (न्यूनाधिकभाव) से जो उपमर्द अर्थात् एक-एक न्यूनबलवाले का या दो-दो न्यूनबलवाले गुणों का जो अभिभव, उससे (जितने प्रकार का वैषम्य हो सकता है उतने प्रकार के अभिभव से) पंचाशत्संख्याक अर्थात् ५० भेद (परिणाम विशेष) सांख्याचार्यों के द्वारा दिखाये गये हैं॥ ४६॥

तानेव पञ्चाशद्भेदान् गणयति—

पूर्वोक्त पचास भेदों को उनके अवान्तर भेदों के द्वारा गिनाते हैं—

पञ्चविपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः॥ ४७॥

अन्व०—विपर्ययभेदाः पञ्च भवन्ति, करणवैकल्यात् अशक्तिश्च अष्टाविंशतिभेदा (भवति), तुष्टिः नवधा (भवति), सिद्धिः अष्टधा (भवति)।

भावार्थः—'विपर्ययभेदाः' = अविद्या के भेद,' 'पञ्च भवन्ति' = पांच होते है, तथाहि—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश। 'करणवैकल्यात्' = ग्यारह इन्द्रियों के कुण्ठित भाव से (अपने-अपने विषयों के ग्रहण करने की असमर्थता से) एकादश (ग्यारह) और बुद्धिगत नौ तुष्टियों के नौ विपर्यय, तथा अष्टसिद्धियों के आठ विपर्यय—इन सब को जोड़ने से अठ्ठाईस भेद (प्रकार) 'अशक्ति' के हुए। इस अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति को 'एकादशेन्द्रियवधा'—४९ वीं कारिका के द्वारा बतावेंगे। 'तुष्टिः' = प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य और शब्दादि पांच विषयों के पांच उपरम—सब मिलकर नौ प्रकार की तुष्टि हुई। अब 'सिद्धिः' = अणिमादि आठ सिद्धियां 'ऊहः शब्दोऽध्ययनम्' कारिका के द्वारा बतावेंगे।

"पञ्च" इति। अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा यथासंख्यं तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रसंज्ञकाः पञ्च विपर्ययविशेषाः, विपर्ययप्रभवानामप्यस्मितादीनां विपर्ययस्वभावत्वात्। यद्वा—यदविद्यया विपर्ययेणावधार्यते वस्तु, अस्मितादयस्तत्स्वभावाः सन्तस्तदभिनिविशन्ते। अत एव पञ्चपर्वाविद्येत्याह भगवान् वार्षगण्यः॥ ४७॥

(२०६) विपर्ययादीनां पञ्चाशद्भेदपरिगणनम्॥

[1]'अविद्येति।' अनित्य को नित्यसमझना, 'अशुचि' को शुचि समझना, 'दुःख' को सुख समझना, 'देह-इन्द्रियादि अनात्माओं' को आत्मा समझना, इस अविद्या को 'पतञ्जलि' ने "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" सूत्र से बताया है। यह अन्धकार की तरह आत्मज्ञान की आवरक होने से 'तम' शब्द से कही जाती है।

(२०६) विपर्ययादि के पचास भेदों का परिगणन

[2]अस्मिता—बुद्धि और पुरुष दोनों एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं, फिर भी दोनों को अभिन्न 'अहं चेतनाऽस्मि, 'अहं कर्तास्मि' समझ लेना। 'अस्मेर्भावः—अस्मिता' = अज्ञानम्। यह क्लेशरूप है। बुद्धि और पुरुष को मोहित करने से इसे 'मोह' शब्द से कहा जाता है।

रागः—अनात्मधर्म सुख की तृष्णा। इसी को 'महामोह' कहते हैं। क्योंकि समस्त वस्तुओं में 'मोह' की पराकाष्ठा कराने का साधन यही राग है।

द्वेष :—अनात्मधर्म दुःख के त्याग की इच्छा। यह क्रूर तामस धर्म होने के कारण इसे 'तामिस्र' कहते हैं।

अभिनिवेश :—अनात्मधर्म मरण का आत्मा के विषय में भय। विद्वान्, मूर्ख, पशु आदि सभी को अन्धे की तरह अज्ञान पैदा कराने वाला तामस धर्म होने के कारण उसे अन्धतामिस्र कहते हैं। इसी को 'यथासख्य' मिति से बताया है। ये पांच 'विपर्ययविशेष' अर्थात् पांच प्रकार के विपर्यय हैं।

शंका—'विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्' से अविद्या को ही विपर्यय कहा गया है, तब अस्मिता आदि को क्यों विपर्यय कहा गया ?

समा०—विपर्ययप्रभवानामपीति।' विपर्यय = अविद्या, उससे जन्य अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश में भी विपर्यय का धर्म रहने से इन्हें भी 'विपर्यय' कहते हैं। विपर्ययस्वभावत्वात् = विपर्ययस्य स्वभावः धर्मः—अज्ञानत्वं तद्वत्त्वात्। अथवा अविद्या का स्वभाव अर्थात् कार्य होने से और कार्य-कारण का अभेद होने से इन्हें भी विपर्यय कहते हैं।

शंका—उपादान और उपादेय में ही अभेद हुआ करता है, 'विपर्यय' तो अस्मिता आदि का निमित्त कारण है, 'उपादान' नहीं, तब अस्मितादि के साथ अविद्या का अभेद रहना संभव नहीं, अतः अस्मितादि को विपर्यय शब्द से कैसे कह सकते हैं ?

समा०—'यद्वृति०'। 'अविद्या के द्वारा वस्तु विपर्यय (अयथार्थ) रूप में जानी जाती है, अस्मिता आदि भी अविद्यास्वभाव की होने से उस वस्तु को विपर्यय अर्थात् अयथार्थरूप में ही वह निश्चित करती हैं। तात्पर्य यह है कि अस्मिता आदि अविद्योपादनक न होने पर भी

---

१. "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः" इति योगसूत्रेण विपर्ययस्य अविद्यादिपञ्चावयवत्वमुक्तं भगवता पतञ्जलिना। अत एव "क्लेशा इति पञ्चविपर्यया इति च" इति योगभाष्यकृता व्याख्यातम्, तान् पञ्च आह—'अविद्येति'।—(सा. बो.)

२. "दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता" [यो. सू.] दृक्शक्तिः पुरुषः, दर्शनशक्तिः बुद्धिः, तयोः एकात्मता इव एकपदार्थता इव अस्मिता अहंकार इत्यर्थः। अस्मितायामेवसत्यां पुरुषः 'अहमस्मि सुखी दुःखी कर्ता भोक्ता" इत्यभिमन्यते। तत्र बुद्धिपुरुषयोः एकात्मता न पारमार्थिकी, किन्तु आविद्यकी इति द्योतयितुं सूत्रे "इव" शब्दः। जडचैतन्ययोः एकात्मताया असंभवात्।—(सा. बो.

उनमें 'तद्विषय-विषयकत्व' का अविनाभाव रहने से 'अस्मितादिकों को भी 'विपर्यय' शब्द से कहा गया है।

अविद्या, अस्मितादि पांच 'अविद्या' शब्द से वाच्य होने में प्राचीन सांख्याचार्य का वचन प्रमाणरूप से उपस्थित करते हैं—'अत एवेति।' "पञ्चपर्वा अविद्या" 'पञ्च पर्वाणि शाखाः यस्याः सा।' ऐसी पांच पर्ववाली अविद्या को भगवान् (महर्षि) 'वार्षगण्य' नाम के सांख्याचार्य कहते हैं। 'पञ्चपर्वा'=एकाऽपि सती पंचशाखाविशिष्टा। आगे 'अशक्तिश्च' इत्यादि अवशिष्ट कारिकांश सरल होने से उसकी व्याख्या कौमुदीकार ने नहीं की है॥ ४७॥

(२०७) विपर्ययादीनां प्रत्येकमवान्तरभेदकथनम्-तत्र प्रथमं विपर्ययस्य द्वाषष्टिः।

सम्प्रति पञ्चानां विपर्ययभेदानामवान्तरभेदमाह—

(२०७) विपर्ययादिकों के अवान्तर भेदों का कथन, उनमें प्रथमतः विपर्यय के बासठ भेद।

अब विपर्यय के पांच भेदों के अवान्तर भेद बताते हैं—अर्थात् अविद्या के तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र, जिन्हें क्रमशः, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश नाम से भी कहा जाता है—इन पांच भेदों के ही अपने अवान्तर भेदों के कारण द्वाषष्टिसंख्यक (६२) भेद होते हैं, उन्हें बताते हैं—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च, दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः॥ ४८॥

अन्वयः—तमसः अष्टविधो भेदः, मोहस्य च (अष्टविधो भेदः) महामोहः दशविधः, तामिस्रः अष्टादशधा, अन्धतामिस्रः तथा (अष्टादशधा) भवति॥

भावार्थः—'तमसः'=अविद्या के 'अष्टविधो भेदः'=आठ भेद हैं—

यथा—'आत्मा प्रकृत्यभिन्नः' १, 'आत्मा महत्तत्त्वाऽभिन्नः' २, 'आत्मा अहंकाराऽभिन्नः' ३ 'आत्मा शब्दतन्मात्राऽभिन्नः' ४, 'आत्मा स्पर्शतन्मात्राऽभिन्नः' ५, 'आत्मा रूपतन्मात्राऽभिन्नः' ६, 'आत्मा रसतन्मात्राऽभिन्नः' ७, 'आत्मा गन्धतन्मात्राऽभिन्नः' ८,—यह अष्टविध अज्ञान है, क्योंकि 'तम' अष्टविधविषयक है। और 'मोहस्य'='अस्मिता' के आठ भेद हैं, क्योंकि देवताओं के ऐश्वर्य आठ प्रकार के होते हैं।

तथाहि—१ तपस्या से प्राप्त शाश्वतिक अणिमात्मक ऐश्वर्य से युक्त मैं हूँ—'ऐश्वर्यवानहमस्मि।'
२ तादृश महिमा से युक्त हूँ—'तादृशमहिमवानस्मि।'
३ तादृश लघिमा से युक्त हूँ—'तादृशलघिमवानस्मि।'
४ तादृश गरिमा से युक्त हूँ—'तादृशगरिमवानस्मि।'
५ तादृश प्राप्ति से युक्त हूँ—'तादृशप्राप्तिमानस्मि।'
६ तादृशप्राकाम्य से युक्त हूँ—'तादृशप्राकाम्यवानस्मि।'
७ तादृशवशित्व से युक्त हूँ—'तादृशवशित्ववानस्मि।'
८ तादृशईशित्व से युक्त हूँ—'तादृशेशित्ववानस्मि।'

निष्कर्ष यह है—अष्टविध ऐश्वर्य की शाश्वतिकता का ज्ञान भी अष्टविधविषयक ही होता है। अमृतत्त्व से रहित रहने पर भी ये देवता अमृतत्व का अभिमान करते हैं। अर्थात् अणिमादि

अष्टविध ऐश्वर्य को पाकर 'वयम् अमृताः स्मः' ऐसा अभिमान करने लगते हैं। समझते हैं कि हमें प्राप्त हुआ यह अणिमादि ऐश्वर्य नित्य है, अर्थात् अविनाशी है, मृत्युलोक में रहने वाले योगियों तक का ऐसा ऐश्वर्य नहीं है। एवं च अशाश्वतिक ऐश्वर्य में भी शाश्वतिकता का अभिमान 'अतद्वति तत्प्रकारकज्ञान' होने से 'अस्मिता' अर्थात् मोह की विपर्ययविशेषता स्पष्ट हो जाती है।

"दशविधो महामोह इति।" महामोहसंज्ञक राग के शब्दादिविषयकदिव्यादिव्यभेद से दस भेद होते हैं। उनमें पांच प्रकार का राग तो हम लोगों का और पांच प्रकार का राग देवताओं का दोनों मिलाकर उसके दस प्रकार होते हैं।

तथाहि—१ मुझे शब्द सुख हो—'मम शब्दसुखं जायताम्।'
२ मुझे स्पर्श सुख हो—'मम स्पर्शसुखं जायताम्।'
३ मुझे रूप सुख हो—'मम रूपसुखं जायताम्।'
४ मुझे रस सुख हो—'मम रससुखं जायताम्।'
५ मुझे गन्ध सुख हो—'मम गन्धसुखं जायताम्।'

देवताओं का तो दिव्यादिव्य उभयविधविषयक राग होता है।

तथाहि—६ मुझे दिव्यादिव्य शब्द सुख हो—'मम दिव्यादिव्यशब्दसुखं जायताम्।'
७ मुझे दिव्यादिव्य स्पर्श सुख हो—'मम दिव्यादिव्यस्पर्शसुखं जायताम्।'
८ मुझे दिव्यादिव्य रूप सुख हो—'मम दिव्यादिव्यरूपसुखं जायताम्।'
९ मुझे दिव्यादिव्यरससुख हो—'मम दिव्यादिव्यरससुखं जायताम्।'
१० मुझे दिव्यादिव्य गन्ध सुख हो—'मम दिव्यादिव्यगन्धसुखं जायताम्।'

'दिव्य' का अर्थ है अलौकिक, यह अलौकिक सुखज्ञान जो तन्मात्रलक्षणसूक्ष्मशब्दादि-विषयक है, वह केवल योगिमात्रगम्य है। 'अदिव्य' का अर्थ है लौकिक, जो स्थूलशब्दादि-विषयक अस्मदादिगम्य है। एवं च इन रञ्जनीय अर्थात् इष्टसाधनताज्ञानजन्य इच्छा के विषय होने वाले उक्त 'दिव्यादिव्य शब्दादिविषयों' में जो 'राग' = आसक्ति अर्थात् बलवती लिप्सा, उसे 'महामोह' कहते हैं। दिव्यादिव्य भेद से दशविध शब्दादिविषयक वह महामोह भी दस प्रकार का है। निष्कर्ष यह है कि वस्तुतः 'अनिष्ट साधनत्व' रहने पर भी इन शब्दादि विषयों में 'इष्टसाधनत्व' का ज्ञान होता है—यह विपर्यय ही है, इसलिये तन्मूलक और तद्विषयक-रागात्मक महामोह भी विपर्ययविशेष ही है।

'तामिस्रः अष्टादशधा' इति। तामिस्रसंज्ञक द्वेष के अठारह भेद होते हैं। उनमें दिव्या-दिव्य शब्दादिविषयक दस भेद और अणिमादि अष्टैश्वर्यविषयक आठ भेद, दोनों को जोड़ने से हमारे और देवताओं के यथासंभव अठारह भेद होते हैं।

सभी सोचते हैं—१ मद्भोग्यः अदिव्यशब्दः स्वरूपेण मा नंक्षीत्'—
मेरे भोगने योग्य लौकिक शब्द का स्वरूप नष्ट न हो यह स्वरूपनाश में द्वेष है।
२ वैसे ही अदिव्य स्पर्श नष्ट न हो—'अदिव्यस्पर्शो मा नंक्षीत्।'
३ अदिव्य रूप नष्ट न हो—'अदिव्यरूपं मा नंक्षीत्।'
४ अदिव्य रस नष्ट न हो—'अदिव्यरसो मा नंक्षीत्।'
५ अदिव्य गन्ध नष्ट न हो—'अदिव्यगन्धो मा नंक्षीत्।'
उसी प्रकार—६ 'दिव्यशब्दो मा नंक्षीत्।'
७ 'दिव्यस्पर्शो मा नंक्षीत्।'

८ 'दिव्यरूपं मा नंक्षीत् ।'
९ 'दिव्यरसो मा नंक्षीत् ।'
१० 'दिव्यगन्धो मा नंक्षीत् ।'

उसी प्रकार—११ शब्दादिसाधनम् अणिमा मा नङ्क्षीत् ।
१२ 'महिमा मा नंक्षीत् ।'
१३ 'लघिमा मा नंक्षीत् ।'
१४ 'गरिमा मा नंक्षीत् ।'
१५ 'प्राप्तिः मा नंक्षीत् ।'
१६ 'प्राकाम्यं मा नंक्षीत् ।'
१७ 'वशित्वं मा नंक्षीत् ।'
१८ 'ईशित्वं मां नंक्षीत् ।'

इस प्रकार स्वरूप नाश के प्रति द्वेष बताया है ।

तथा 'अन्धतामिस्रः'—उसी प्रकार अन्धतामिस्र भी अठारह प्रकार का है। इस 'अन्धतामिस्र' को ही 'अभिनिवेश' कहते हैं। यह अभिनिवेश', अनिष्ट के भय का बोधक होने से 'त्रास' रूप ही है। इस त्रासरूप अभिनिवेशात्मक अन्धतामिस्र के भी दिव्यादिव्य शब्दादि दश (विषय हैं) और अणिमादि आठ विषय हैं। दोनों का योग करने पर अठारह भेद होते हैं। देवता लोग शब्दादि भोग्यविषय और उनके प्रापक अणिमादि उपायों को असुर लोग कहीं नष्ट न कर दें, इस आशंका से डरते रहते हैं।

तथाहि—१ 'अदिव्यः शब्दो मा उपघानि ।'
२ 'अदिव्यः स्पर्शो, मा उपघानि ।'
३ 'अदिव्यं रूपं मा उपघानि ।'
४ 'अदिव्यो रसो मा उपघानि ।'
५ 'अदिव्यो गन्धो मा उपघानि ।'

उसी प्रकार ६ 'दिव्यः शब्दो मा उपघानि ।'
७ 'दिव्यः स्पर्शो मा उपघानि ।'
८ 'दिव्यं रूपं म उपघानि ।'
९ 'दिव्यो रसो मा उपघानि ।'
१० 'दिव्यगन्धो मा उपघानि ।'

उसी प्रकार ११ 'अणिमा मा उपघानि ।'
१२ 'महिमा मा उपघानि ।'
१३ 'लघिमा मा उपघानि ।'
१४ 'गरिमा मा उपघानि ।'
१५ 'प्राप्तिर्मा उपघानि ।'
१६ 'प्राकाम्यं मा उपघानि ।'
१७ 'वशित्वं मा उपघानि ।'
१८ 'ईशित्वं मा उपघानि ।'

यह असुरों से होनेवाला शब्दादिविषयक त्रास (भय) है। सबको जोड़ने से बासठ भेद होते हैं, इसी प्रकार छोटे मोटे अनन्त भेद किये जा सकते हैं।

"भेदः" इति । भेदस्तमसोऽविद्याया अष्टविधः । अष्टस्वव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेष्वनात्मस्वात्मबुद्धिरविद्या तमः, अष्टविधविषयत्वात्तस्याष्टविधत्वम् ॥

(२०८) अविद्यारूपविपर्ययस्याष्टविधत्वम् ।

"भेदस्तमसोऽविद्याया अष्टविधः" इति । 'अविद्या', 'अस्मिता', 'राग', 'द्वेष, 'अभिनिवेश'संज्ञक जो तम, मोह, महामोह, तामिस्र अन्धतामिस्र हैं, उनमें से प्रथम पर्व (शाखा), अविद्या के आठ भेद हैं । उसी को विवरण देते हैं—"अष्टस्वव्यक्तेति ।" 'अव्यक्त' अर्थात् मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) इन अनात्मभूत आठ जड़ पदार्थों में जो आत्मबुद्धि, उसे 'अविद्या' कहते हैं । 'विद्या', मोक्षदायिका है । विद्या, तत्त्वज्ञान, सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति ये सब पर्याय हैं । उसकी विरोधिनी अविद्या है, उसी को 'तम' कहते हैं । उस अविद्या (तम) के प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-ये आठ विषय होने से आठ भेद किये जाते हैं ।

(२०८) अविद्यारूप-विपर्यय के आठ प्रकार

"मोहस्य च" इति, अत्राप्यष्टविधो भेदश्चकारेणानुषज्यते । देवा ह्यष्टविधमैश्वर्यमासाद्यामृतत्वाभिमानिनोऽणिमादिकमात्मीयं शाश्वतिकमभिमन्यन्ते, सेयमस्मिता मोहोऽष्टविधैश्वर्यविषयत्वादष्टविधः ॥

(२०९) अस्मितारूप विपर्ययस्याष्टविधत्वम् ।

"मोहस्य चेति ।" यहां भी 'च' कार से 'अष्टविधो भेदः' का अनुषङ्ग (संबंध) करते हैं । मोह के आठ भेदों को दिखाते हैं—'देवा ह्यष्टविधमिति ।" देवता लोग आठ प्रकार के ऐश्वर्यरूप सिद्धिविशेष को प्राप्त कर अपने को अमर समझने लग जाते हैं, 'वयम् अमरणधर्मकाः' ऐसा अभिमान उन्हें हो जाता है । उनका यह ऐश्वर्य आगन्तुक रहने पर भी उसे वे नित्य अर्थात् कभी नष्ट न होनेवाला मान बैठते हैं । इस अभिमान को ही 'अस्मिता'—(अस्मेर्भावः) कहते हैं, यह मोहक होने से इसे मोह भी कहते हैं ।

(२०९) अस्मितारूप विपर्यय के आठ प्रकार

"दशविधो महामोहः" इति । शब्दादिषु पञ्चसु दिव्यादिव्यतया दशविधविषयेषु रञ्जनीयेषु राग आसक्तिर्महामोहः, स च दशविधविषयत्वाद्दशविधः ॥

(२१०) द्वेषरूपविपर्ययस्याष्टादशविधत्वम् ॥

"दशविधो महामोह" इति : शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसंज्ञक पांच दिव्य विषय, स्थूल और सूक्ष्म शब्दतन्मात्रात्मक भी हैं । हमारे शब्दादिविषयों की अपेक्षया ये अधिक सुखप्रद हैं । अतः इन्हें दिव्य समझा जाता है । भूमि के 'शब्दादि' स्थूल हैं । देवादिकों के शब्दादिकों की अपेक्षया न्यून सुखप्रद होने से इन्हें 'अदिव्य' समझा जाता है । इस प्रकार उनकी 'दिव्यता' और 'अदिव्यता' के कारण दस प्रकार के इन रञ्जनीय अर्थात् अपने में आसक्त बनाने वाले विषयों में जो राग अर्थात् आसक्ति-अत्यधिकतृष्णा, उसे 'महामोह' कहते हैं । दिव्यादिव्य भेद से दस प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को अपना विषय बना लेता है, इसलिये यह (महामोह) भी दस प्रकार का है ।

(२१०) रागरूपविपर्यय के दस प्रकार ।

"तामिस्रो" द्वेषो "ऽष्टादशधा"। शब्दादयो दशविषया रञ्जनीयाः स्वरूपतः, ऐश्वर्यन्त्वणिमादिकन्न स्वरूपतो रञ्जनीयम्। किं तु रञ्जनीयशब्दाद्युपायाः। ते च शब्दादय उपस्थिताः परस्परेणोपहन्यमानास्तदुपायाश्चाणिमादयः स्वरूपेणैव कोपनीया भवन्तीति शब्दादिभिर्दशभिः सहाणिमाद्यष्टकमष्टादशधेति, तद्विषयो द्वेषस्तामिस्रोऽष्टादशविषयत्वादष्टादशधेति।

(२११) द्वेषरूपविपर्ययस्याष्टादशविधत्वम्।

"तामिस्रः" इति। 'तामिस्र' का अर्थ 'द्वेष' है। इसके अठारह भेद होते हैं। 'शब्दादय' इति। पांच 'दिव्य शब्दादि' और पांच 'अदिव्य शब्दादि' दोनों मिलकर दस हुए। ये दस विषय स्वरूप से (स्वयं) ही रञ्जनीय (रागजनक) होते हैं, और अणिमादिक अष्टविध ऐश्वर्य स्वरूपतः (स्वयं) तो रागजनक नहीं होता, उसका (अणिमादि ऐश्वर्य का) सेवन शब्दादि विषयों के उपभोगार्थ किया जाता है, इसलिये अणिमादिक रञ्जनीय अर्थात् राग के विषयभूत शब्दादिविषयों के भोग का उपाय (साधन) होने से परम्परया रञ्जनीय कहलाता है। फल के प्रति राग या द्वेष होने से उसके उपाय के प्रति भी जैसे राग या द्वेष कहा जाता है, वैसे ही प्रकृत में भी 'रञ्जनीय' शब्द का प्रयोग समझना चाहिये। एवं च शब्दादिकों के स्वरूपनाश के प्रति द्वेष होने से शब्दादिस्वरूपनाश के प्रयोजक अणिमादि ऐश्वर्य के स्वरूपनाश के प्रति भी द्वेष हो जाता है, उसे बताते हैं—"तेचेति।" वे शब्दादि विषय भोग्यरूप से उपस्थित होने पर उनका परस्पर विरोध रहने से वे एक दूसरे का प्रतिबन्ध करते हैं। उनका प्रतिबन्ध होने पर पहिले जो उनके प्रति राग था उसी का क्रोध में परिणाम हो जाता है। काम का प्रतिबंध होने पर उसका क्रोध में परिणत होना स्वाभाविक ही है। अधिकाधिक सामर्थ्य वालों से अभिभूत होते रहने से अणिमादि आठ प्रकार का ऐश्वर्य तो स्वयं ही द्वेष का पात्र है। इस प्रकार 'तामिस्र नामक द्वेष' के शब्दादि दस और अणिमादि आठ सब मिलकर अठारह विषय होने से 'तामिस्र' के अठारह प्रकार बताये गये हैं।

(२११) द्वेषरूप विपर्यय के अठारह प्रकार

"तथा भवत्यन्धतामिस्रः"। अभिनिवेशोऽन्धतामिस्रः। तथेत्यनेनाष्टादशधेत्यनुषज्यते। देवाः खल्वणिमादिकमष्टविधमैश्वर्यमासाद्य दश शब्दादीन् विषयान् भुञ्जानाः 'शब्दादयो भोग्यास्तदुपायाश्चाणिमादयो ऽस्माकमसुरादिभिर्मोपघानिषत' इति-बिभ्यति। तदिदं भयमभिनिवेशोऽन्धतामिस्रोऽष्टादशविषयत्वादष्टादशधेति॥

(२१२) अभिनिवेशरूपविपर्ययस्याष्टादशविधत्वम्।

"तथा भवत्यन्धतामिस्रः" इति। 'अभिनिवेशोऽन्धतामिस्रः'—अभिनिवेश का पर्याय शब्द है अन्धतामिस्र अर्थात् भय। 'तथा' पद से 'अष्टादशधा' का अनुषङ्ग (संबंध) किया गया है। तात्पर्य यह है कि यह 'अन्धतामिस्र' अर्थात् अभिनिवेशात्मक त्रास (भय) भी अठारह प्रकार का है। उसी को बताते हैं—"देवाः खल्विति।" देवतालोग अपने पुण्य प्रभाव से प्राप्त किये अणिमादि अष्टैश्वर्य के प्रभाव से दिव्यादिव्य शब्दादि विषयों को

(२१२) अभिनिवेशरूप विपर्यय के अठारह प्रकार

भोगते हुए भी हमेशा भयभीत रहते हैं, क्योंकि उन्हें यह आशंका बनी रहती है कि कहीं असुर-लोग हम लोगों के दिव्यादिव्य शब्दादि भोगों तथा उनके साधन अणिमादिअष्टैश्वर्यों के उपभोग में बाधा न पहुँचा दें। इसी भय को 'अभिनिवेश' या अन्धतामिस्र नाम दिया गया है। यह 'अन्धतामिस्र' दिव्यादिव्य शब्दादि दश और अणिमादि आठ ऐश्वर्य,–इस प्रकार अष्टादश-समुदायविषयविषयक होने से अठारह प्रकार का माना गया है।

(२१३) विपर्ययावान्तरभेदसमष्टिसंख्या द्वाषष्टिः।

सोऽयं पञ्चविधो विकल्पो विपर्ययोऽवान्तरभेदाद्-द्वाषष्टिरिति ॥ ४८ ॥

(२१३) समस्त अवान्तर भेदों के साथ विपर्यय के बासठ भेद होते हैं।

तात्पर्य यह है—जिस विपर्यय के पांच मुख्य भेद पहिले बताये थे, उन्हीं के अपने-अपने अवान्तर भेदों के कारण (६२) बासठ भेद बताये गये हैं ॥ ४८ ॥

(२१३) अष्टाविंशतिप्रकाराशक्तिकथनम्।

तदेवं पञ्चविपर्ययभेदानुक्त्वाऽष्टाविंशतिभेदामशक्तिमाह—

(२१४) अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति का कथन।

पूर्व कारिका के द्वारा विपर्यय' के अवान्तर भेदों का वर्णन किया गया। अब इस कारिका में 'अशक्ति' के अट्ठाईस प्रकार बताते हैं—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥

अन्व०—एकादश इन्द्रियवधाः, (सप्तदशसंख्यकैः) बुद्धिवधैः सह (मिलित्वा) अशक्तिः (अष्टाविंशतिविधा) उद्दिष्टा, तुष्टिसिद्धीनां विपर्ययात् बुद्धेर्वधाः सप्तदश (भवन्ति)।

भावार्थः—'एकादश' ग्यारह, 'इन्द्रियवधाः' = मन–श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण,–वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ—ये इन्द्रियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। 'वध' = कुण्ठितभावदोष। ग्यारह इन्द्रियां हैं अतः उनके कुण्ठितभाव (वध) भी ग्यारह हैं। इन्द्रियों के इस वध (वैगुण्य–दोष) को ही 'अशक्ति' कहते हैं। यह 'बुद्धिवधैः सह' = सतरह प्रकार के बुद्धिवधों (दोषों) के सहित अट्ठाईस प्रकार की बताई गई। 'तुष्टिसिद्धीनां विपर्ययात् = तुष्टि और सिद्धियों के विपरीत रूप से (अभाव से) बुद्धेर्वधाः = बुद्धि के वध (दोष), 'सप्तदश' = सतरह 'भवन्ति' होते हैं।

(२१५) एकादशेन्द्रियवधजन्यैकादशविधाऽशक्तिः।

"एकादश" इति। इन्द्रियवधस्य ग्रहो बुद्धिवध-हेतुत्वेन, न त्वशक्तिभेदपूरणत्वेन। "एकादशेन्द्रिय-वधाः"—

बाधिर्यं कुष्ठिताऽन्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा।
मूकता कौण्यपङ्गुत्वे क्लैब्योदावर्तमन्दताः ॥

यथासंख्यं श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां वधाः। एतावत्येव तु तद्धेतुका बुद्धेर-

शक्तिः स्वव्यापारे भवति। तथा चैकादशहेतुकत्वादेकादशधा बुद्धेरशक्तिरुच्यते। हेतुहेतुमतोरभेदविवक्षया च सामानाधिकरण्यम् ॥

"एकादश" इति। शंका—इन्द्रियों के वध' तो इन्द्रियों के धर्म हैं, और 'अशक्ति' बुद्धि का धर्म है, तब 'इन्द्रियवध' को अशक्ति में कैसे परिगणित किया गया?

(२१५) एकादश इन्द्रियोंके वध से होने वाली एकादश प्रकार की अशक्ति।

समा०—"इन्द्रियवधस्य" इति। इन्द्रियों के वध को तो 'बुद्धिवध' के उत्पादक (हेतु-जनक) होने से बताया गया है। अतः 'बुद्धिवध' ही एकादश समझने चाहिये। 'इन्द्रिय वध' को बुद्धिवध रूपी अशक्ति की अट्ठाइस संख्या के पूरणार्थ नहीं बताया गया है।

एकादशेन्द्रिय वधों को बताते हैं—"बाधिर्यमिति।" 'बाधिर्यम्'—'बधिरस्य भावः'—श्रोत्रेन्द्रिय की श्रवण शक्ति का नष्ट होना, अर्थात् शब्दग्रहणापाटव—यह श्रोत्रेन्द्रियदोष है। कुण्ठिता—'कुष्ठः अस्यास्तीति कुष्ठी, तस्य भावः', त्वगिन्द्रिय की शक्ति का नष्ट होना, (स्पर्शग्रहणापाटव) यह त्वगिन्द्रियदोष है। 'अन्धत्वम्' = नेत्रशक्ति का अभाव (रूपग्रहणापाटव) यह नेत्रदोष है। 'जडता'—रसनाशक्ति का अभाव (रसग्रहणापाटव) यह रसनादोष है। 'अजिघ्रता'—घ्राणेन्द्रिय की शक्ति का अभाव (अवघ्राणापाटव) यह घ्राणदोष है। ये पांच ज्ञानेन्द्रियों के वध हुए। अब 'मूकता'—वाक्शक्ति का अभाव (वचनापाटव) यह वाग्दोष है। 'कौण्यम्'—'कुणः अस्यास्तीति कुणी तस्य भावः कौण्यम्'—पाणीन्द्रिय की विकलता, (आदानाऽपाटव) यह हस्तदोष है। 'पङ्गुत्वम्' पादशक्ति का अभाव (चलनापाटव) यह पाददोष है। क्लैब्यम्—रतिशक्ति का अभाव (मैथुनासामर्थ्य) यह उपस्थेन्द्रिय का दोष है। 'उदावर्तः'—पायुशक्ति का अभाव (मलमूत्रवायुनिःसरणरोधक रोगविशेष) यह पायुदोष है। ये कर्मेन्द्रियों के वध बताये गये। अब 'उभयात्मक मानसेन्द्रिय' (मन) का दोष बताते हैं—'मन्दता'—मन का कुण्ठित होना अर्थात् संकल्प शक्ति का अभाव (सुखादिविषयग्रहणासामर्थ्य) यह मनोदोष है। क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ और 'मनः संज्ञक' ग्यारह इन्द्रियों के वध (अशक्ति-दोष) समझने चाहिये। इन 'एकादशेन्द्रियों के दोषों' (वध=अशक्ति) के कारण इतनी ही अर्थात्—एकादश गिनती की ही बुद्धि की अशक्ति (वध-दोष) अपने—'अध्यवसायरूप व्यापार' में समझनी चाहिये। निष्कर्ष यह हुआ कि एकादशेन्द्रियवधहेतुक होने के कारण 'बुद्धि' की अशक्ति की संख्या भी एकादश कही गई है। एकादशेन्द्रियवध तो हेतु (कारण) है और 'बुद्धिवधरूपी अशक्ति हेतुमान् (कार्य) है। दोनों (कार्य-कारण) की अभेदविवक्षा से 'एकादशेन्द्रियवधाः' 'अशक्तिः' दोनों (शब्दों) का समानाधिकरण्य (एकार्थ प्रतिपादकत्व) बताया गया है। अर्थात् 'कार्य-कारण' का अभेद बताने के लिये इन्द्रियवध को बुद्धि की अशक्ति कहा गया है।

तदेवमिन्द्रियवधद्वारेण बुद्धेरशक्तिमुक्त्वा स्वरूपतोऽशक्तीराह "सह बुद्धिवधैः" इति। कति बुद्धेः स्वरूपतो वधा इत्यत आह—"सप्तदशवधा बुद्धे"। कुतः? "विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम्।" तुष्टयो नवधेति तद्विपर्ययास्तन्निरूपणान्नवधा भवन्ति, एवं सिद्धयोऽष्टाविति तद्विपर्ययास्तन्निरूपणादष्टौ भवन्तीति ॥ ४९ ॥

(२१६) बुद्धेः साक्षादशक्तिः सप्तदशविधा।

इस प्रकार एकादशेन्द्रियवध (अशक्ति, वैगुण्य, वैकल्य) के द्वारा पैदा हुई बुद्धि की ग्यारह प्रकार की अशक्ति को बताकर बुद्धि के स्वरूपात्मक तुष्टि, बुद्धि-

(२१६) बुद्धि की साक्षात् अशक्ति सतरह प्रकार की।

संज्ञक जो धर्म हैं, उनकी अशक्तियों को बताते हैं—"सह बुद्धिवधैरिति।" अर्थात् बुद्धिवधों के सहित एकादश इन्द्रिय वधों को जोड़ने से अट्ठाईस होते हैं। बुद्धि के स्वरूपतः कितने वध (दोष) होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—"सप्तदशवधा बुद्धेरिति।" बुद्धि के सतरह वध (दोष) हैं। बुद्धि तो एक है तब उसके वध सतरह कैसे होंगे ? उत्तर देते हैं—"विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम्"—

तुष्टि और सिद्धियों के विपर्यय (अभाव) के कारण तुष्टियां नौ हैं, अतः उनके विपर्यय (अभाव) अर्थात् अतुष्टियां भी नौ होंगीं। जैसे—'प्रकृतिः मोक्षदा' इस तुष्टि का विपर्यय 'प्रकृतिः न मोक्षदा' यह अतुष्टि अप्रकृति १। 'बुद्धिः मोक्षदा इस तुष्टि का विपर्यय 'बुद्धिः न मोक्षदा' यह अतुष्टि अबुद्धि-२। 'मनोलय काले बुद्धिः मोक्षदा' इस तुष्टि का विपर्यय 'मनोलयकालेऽपि बुद्धिः न मोक्षदा' यह अतुष्टि अकाला-३। 'भाग्यमेव मोक्षदम्' इस तुष्टि का विपर्यय 'भाग्यं न मोक्षदम्' यह अतुष्टि अभाग्या-४।—ये चार आध्यात्मिक हैं। और बाह्य पांच—शब्दविषय से शान्त वृत्ति शब्दोपरमा-५। स्पर्श से शान्त वृत्ति स्पर्शोपरमा-६। रूप से शान्तवृत्ति रूपोपरमा-७। रस से शान्तवृत्ति रसोपरमा-८। गन्ध से शान्त वृत्ति गन्धोपरमा-९। अथवा असुवर्णा, अनिला, अमनोज्ञा अदृष्टि, अपरा, सुपरा, असुनेत्रा, वसुनाड़िका, अनुत्तमांभसिका ये नाम भी शास्त्रान्तरों में उपलब्ध होते हैं। अब असिद्धियों के भेद बताते हैं—एवं सिद्ध्योष्टाविति।' सिद्धियां आठ हैं, अतः तत्प्रतियोगिकअभाव भी आठ होंगे। जैसे—अनध्ययन, अशब्द, अनूह, असुहृत्प्राप्ति, अदान, आध्यात्मिकदुःख, आधिभौतिकदुःख, आधिदैविक दुःख,—ये आठ असिद्धियां हैं॥ ४९॥

(२१७) नवविधतुष्टिकथनम्।

तुष्टिर्नवधेत्युक्तम्, ताः परिगणयति—

(२१७) नौ प्रकार की तुष्टियों का कथन।

'पञ्चविपर्ययभेदा' इस ४७ वीं कारिका में 'तुष्टिर्नवधा' कहा गया था उन नवविध तुष्टियों को उनके अवान्तर विभागपूर्वक अब निम्न कारिका के द्वारा गिनवाते हैं—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च, नव तुष्टयोऽभिमताः॥ ५०॥

अन्व०—आध्यात्मिक्यः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः चतस्रः तुष्टयः, विषयोपरमात् पञ्च बाह्याः तुष्टयः (मिलित्वा) नव तुष्टयः अभिमताः।

भावार्थः—प्रकृति से भिन्न आत्मा के विषय में अध्यवसायात्मिक जो सन्तोष वृत्तियां होती हैं, उन्हें आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) कहते हैं। प्रकृति, उपादान, काल, और भाग्य—ये हैं आख्याएं (नाम) जिनकी ऐसी वे (आध्यात्मिक तुष्टि रूप वृत्तियाँ) चार हैं। जैसे—'प्रकृतिः मोक्षदा' इति सन्तोषः। 'उपादानमेव मोक्षदम्' इति सन्तोषः। 'कालः—समये प्राप्ते सत्येव मोक्षः' इति सन्तोषः। भाग्यं—भाग्यादेव मोक्षः' इति सन्तोषः। इस प्रकार प्रकृति आदि संज्ञावाली ये चार आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) तुष्टियां हैं। और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-

संज्ञक पांच विषयों के उपरम (वैराग्य) से बाह्य तुष्टियां पांच हैं। इस रीति से आध्यात्मिक चार और बाह्य पांच मिलकर नौ तुष्टियां सांख्याचार्यों को अभिमत हैं।

(२१८) चतुर्विधाध्यात्मिकतुष्टिकथनम्।

"आध्यात्मिक्यः" इति। आध्यात्मिक्यः—'प्रकृतिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति इति प्रतिपद्य, ततोऽस्य श्रवणमननादिना विवेकसाक्षात्काराय त्वसदुपदेशतुष्टो यो न प्रयतते तस्याध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयो भवन्ति, प्रकृतिव्यतिरिक्तमात्मानमधिकृत्य यस्मात्तास्तुष्टयस्तस्मादाध्यात्मिक्यः। कास्ता इत्यत आह—"प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः", प्रकृत्यादिराख्या यासां तास्तथोक्ताः॥

(२१८) चार प्रकार की आध्यात्मिक तुष्टियां।

'प्रकृतिव्यतिरिक्तः आत्मास्ति' इति। 'प्रकृति से भिन्न आत्मा है' इस प्रकार सद्गुरु के उपदेश से सामान्यतया सुनने के पश्चात् भी जो आदमी किसी प्रतारक के मिथ्या उपदेश से अनायाससाध्य बातों पर मुग्ध होकर अपने को कृतकृत्य समझने लग जाता है, और अपनी कृतकृत्यता का अभिमान उत्पन्न होने के कारण श्रुति के बताये श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि के द्वारा 'ततः' = प्रकृति से 'अस्य' आत्मा का विवेक साक्षात्कार करने के लिये अर्थात् व्यवहार में लोक जिन-जिन पदार्थों में 'आत्मा' शब्द का व्यवहार करते हैं, उनमें—वस्तुतः 'कौन आत्मा है और कौन प्रकृति है' इस प्रकार पृथक्त्व से ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं करता, उस असदुपदेश से सन्तुष्ट होने वाले आदमी की ये 'चार आध्यात्मिक तुष्टियां होती हैं। इन तुष्टियों को 'आध्यात्मिक' इसलिये कहते हैं कि ये तुष्टियां 'प्रकृति से भिन्न आत्मा' के उद्देश्य से होती हैं, वे तुष्टियां कौन-कौन सी हैं ? उत्तर देते हैं—उन तुष्टियों के नाम हैं—'प्रकृति', 'उपादान', 'काल', भाग्य।

(२१९) आध्यात्मिकतुष्टिषु प्रथमा प्रकृत्याख्या अम्भः।

तत्र प्रकृत्याख्या तुष्टिर्यथा कस्यचिदुपदेशे,—'विवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृतिपरिणामभेदस्तञ्च प्रकृतिरेव करोतीति कृतन्तद्ध्यानाभ्यासेन, तस्मादेवमेवास्स्व वत्स',—इति सेयमुपदेष्टव्यस्य शिष्यस्य तुष्टिः प्रकृतौ, सा तुष्टिः प्रकृत्याख्या 'अम्भ' उच्यते॥

(२१९) आध्यात्मिक तुष्टियों में से अम्भः सञ्ज्ञक, प्रकृति' नाम की प्रथम तुष्टि।

उनमें 'प्रकृति' नाम की तुष्टि का स्वरूप इस प्रकार है—"कस्यचित् वत्स" इति। किसी अनाप्त पुरुष के द्वारा इस प्रकार उपदेश पाने पर कि—हे वत्स ! विवेक साक्षात्कार (सत्त्वपुरुषान्यता ख्याति) अर्थात् 'आत्मा' प्रकृतिप्रभृतितो भिन्नः'—इस प्रकार से आत्मसाक्षात्कार (आत्मज्ञान) तो बुद्धि का परिणामविशेष है, उसे वही (बुद्धिरूप प्रकृति ही) करा देगी क्योंकि 'साक्षात्कार', बुद्धि का धर्म है, और बुद्धि, प्रकृति का परिणामविशेष है। अतः बुद्धि जब साक्षात्कार कराती है, तब (साक्षात्कार कराने में) प्रकृति उसकी (बुद्धि की) साधन (सहायक) रहती है। इसलिये आत्मा के श्रवण, 'मनन, निदिध्यासन के अभ्यास करते रहने की कोई आवश्यकता नहीं। 'प्रकृतिरेव'—यहां 'एव' कार अन्ययोगव्यवच्छेदक होने से श्रवणादि का अभ्यास, विवेक-

साक्षात्कार में हेतु नहीं है—यह सूचित होता है। क्योंकि उसका (विवेक साक्षात्कार का) होना तो प्रकृति के अधीन है अतः हे बेटे ! तुम श्रवण मननादि में प्रयत्न मत करना। मूल में 'कृतं' का अर्थ अलम् है। इस प्रकार उपदेष्टव्य शिष्य की जो 'तुष्टि' (प्रकृति विवेक साक्षात्कार करा ही देगी) अर्थात् 'सन्तोष'—उसे 'प्रकृति तुष्टि' कहते हैं। जैसे जल (अम्भस्) डुबा देने में हेतु होता है उसी तरह यह 'प्रकृति नाम की तुष्टि (सन्तोष) संसार में डुबा देने में हेतु बनती है। इसलिये इसे (प्रकृतितुष्टिकी) अन्य संज्ञा 'अम्भः' दी गई है। अर्थात् प्रकृतितुष्टि का नामान्तर 'अम्भः' भी है।

कुछ लोग प्रकृति तुष्टि का 'अंभः' नामकरण करने में यह युक्ति बताते हैं कि यह 'तुष्टि' जल की तरह प्रसन्नता देने वाली होने से और उपदेशात्मक शब्दहेतुक होने से इसे 'अंभः' नाम दिया गया है। 'अभि—शब्दे' धातु से 'असुन्' प्रत्यय किया गया है। जिससे शब्दहेतुक अर्थ का अनुसन्धान किया जाता है।

(२२०) द्वितीया उपादानाख्या सलिलम्।

या तु,—'प्राकृत्यपि विवेकख्यातिर्न, सा प्रकृतिमात्राद्भवति, माभूत्सर्वस्य सर्वदा, तन्मात्रस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात्; प्रव्रज्यायास्तु सा भवति, तस्मात् प्रव्रज्यामुपाददीथाः, कृतन्ते ध्यानाभ्यासेनायुष्मन्' –इति उपदेशे या तुष्टिः सोपादानाख्या 'सलिलम्' उच्यते॥

(२२०) सलिल संज्ञक उपादानाख्या द्वितीय तुष्टि।

दूसरी तुष्टि बताते हैं—"यातु प्राकृत्यपीति।" 'विवेकख्याति' सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति) प्रकृति की धर्मरूप या प्रकृति के अधीन रहने पर भी वह केवल प्रकृति से नहीं हो पाती। तथाहि—मूल प्रकृति को परिणत होने में किसी अन्य साधन की अपेक्षा (जरूरत) नहीं पड़ती, लेकिन प्रकृति के विकृति (विकार) रूप जो बुद्धि आदि हैं, उन्हें परिणत होने में अन्य साधन की अपेक्षा रहती है, अर्थात् उनका परिणाम केवल उनके अपने अधीन नहीं है। बुद्धि को 'घटोऽयम्' इत्याकारक अध्यवसाय करने में इन्द्रियादि की सहायता लेनी पड़ती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि विवेकसाक्षात्कार भी साधनान्तरापेक्ष ही है। यदि विवेकसाक्षात्कार का साधन केवल प्रकृति को ही मान लें तो प्रकृति का सम्बन्ध तो समस्त प्राणियों के साथ रहने से जब जब विवेकख्याति हुआ करेगी तब तब सभी प्राणियों को एक साथ एक ही समय में उसके होने का प्रसंग हुआ करेगा। इस कथन से यह निष्कर्ष निकला कि—'विवेकसाक्षात्कार तो प्रकृति का परिणामविशेष है, उसे प्रकृति ही कर देगी'—किन्तु यह असदुपदेश है। यह उक्त आपत्ति न हो इसलिये विवेकसाक्षात्कार होने में अन्य कारण की कल्पना करनी होगी। वह अन्य कारण—'प्रव्रज्या' है अर्थात् संन्यासग्रहण। अतः प्रव्रज्या से अर्थात् चतुर्थाश्रम में प्रवेश करने से ही विवेकसाक्षात्कार (विवेकख्याति) होता है। इसलिये तुम सन्यास ग्रहण करो। "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"—श्रुति से भी प्रव्रज्या में विवेकख्याति की साधनता प्रतीत होती है। क्योंकि यहाँ प्रव्रज्या उपादेय है। उपादान वही होता है, जो फलसाधन हो।

हे आयुष्मन्! तुम्हें श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अभ्यास की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसा उपदेश प्राप्त होने पर आश्रमान्तरप्रवेश में जो तुष्टि अर्थात् प्रीति अर्थात् प्रव्रज्या ही विवेकसाक्षात्कार कराने में समर्थ है—इस प्रकार का जो सन्तोष, उसे 'उपादान' नाम की 'तुष्टि'

कहते हैं। इस 'तुष्टि' को 'उपादानाख्या' इसलिये कहते हैं—'उप वृद्धावस्थायाः समीपे आदीयते-गृह्यते यः धर्मः प्रव्रज्या, तदाख्या तुष्टिः।' यह तुष्टि संसरण का (संसार पाने का) निमित्त होने से उसे 'सलिल' नाम से भी कहते हैं। 'सृ' धातु से 'इरन्' प्रत्यय करने से सरिरम्; रलयोर-भेदात् 'सलिलम्' शब्द निष्पन्न होता है। अंकुर के प्रति सलिल जैसे सहकारि कारण है। वैसे ही साक्षात्कार के प्रति प्रव्रज्या सहकारिकारण है। इसलिये सलिल के समान है और साक्षात्कार के लिये फलार्थियों से उपादीयमान होने के कारण वह उपादान भी है।

(२२१) तृतीया कालाख्या मेघः।

या तु,—'प्रव्रज्याऽपि न सद्योनिर्वाणदेति सैव कालपरिपाकमपेक्ष्य सिद्धिन्ते विधास्यति, अलमुत्तप्ततया तव'—इति उपदेशे या तुष्टिः सा कालाख्या ओघो' वा, 'मेघ' उच्यते ॥

(२२१) मेघा संज्ञक कालाख्या तुष्टि।

उपर्युक्त द्वितीय (उपादानाख्या) तुष्टि में दोष दिखाते हुए तृतीय 'कालाख्या' तुष्टि को बताते हैं—"या तु प्रव्रज्याऽपीति।" संन्यास भी तत्क्षण मोक्ष प्रदाता नहीं है, वह भी कालपरिपाक अर्थात् भोगसमाप्तिरूप अवधि की अपेक्षा करके ही (काल को अपना सहायक बनाकर ही) तुम्हें विवेकसाक्षात्कार करायेगा, अतः तुम्हें उत्तप्तता = अत्यन्त त्वरा नहीं करनी चाहिये अर्थात् उतावला नहीं होना चाहिये। इस प्रकार उपदेश पाने पर जो तुष्टि अर्थात् कालप्रतीक्षा में सन्तोष, उसे 'काल' नामकी (कालाख्या) तुष्टि कहते हैं। उसीका अन्य नाम 'ओघ' भी है। 'उहिर् अर्दने' धातु से ओघ बना है। कालप्रतीक्षा भी उत्तापक अर्थात् अर्दक होती है।

शंका "कृषेर्वृष्टिसमायोगाद् दृश्यन्ते फलसिद्धयः।
तास्तु काले प्रदृश्यन्ते नैवाकाले कथञ्चन ॥"

इससे तथा अन्वयव्यतिरेक से भी कार्य मात्र के प्रति 'काल' सहकारी कारण होता है—यह प्रसिद्ध है। अतः काल को ही मुक्ति में कारण मान लिया जाय। ध्यानाभ्यास करने की क्या आवश्यकता?

समा०—उपर्युक्त पद्य के द्वारा मुख्यरूप से फलसाधनता तो कृषि में बताई गई है, और काल को केवल सहकारी कारण बताया गया है। एकमात्र काल को फलहेतु नहीं बतलाया है। तात्पर्य यह हुआ—काल तो साधारण कारण है, असाधारण कारण तो कृषि ही है। उसी प्रकार प्रकृत में भी विवेक ख्याति के प्रति ध्यानाभ्यासादि ही आरादुपकारक होने से असाधारण हेतु हैं और 'काल' तो साधारण हेतु हैं। इसलिये 'कालाख्य तुष्टि' का जो उपदेश है वह असदुपदेश है। कुछ लोग इसका नामान्तर 'ओघ' के बजाय 'मेघ' कहते हैं क्योंकि जैसे मेघ, फलसिद्धिहेतु-भूत वृष्टि का साधन है वैसे ही यह कालाख्या तुष्टि है।

(२२२) चतुर्थी भाग्याख्या वृष्टि।

या तु,-'न प्रकृतेर्न कालान्नाप्युपादानाद्विवेकख्यातिः, अपि तु भाग्यादेव। अत एव मदालसापत्यान्यतिबालानि मातुरुपदेशादेव विवेकख्यातिमन्ति मुक्तानि बभूवुः, तस्माद्भाग्यमेव हेतुर्नान्यत्'-इति उपदेशे या तुष्टिः सा भाग्याख्या 'वृष्टिः' उच्यते ॥

'भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न पौरुषम्' इस उक्ति के अनुसार पूर्वोक्त उपदेश की असमीचीनता बताते हुए अन्य उपदेश के द्वारा 'भागाख्या' तुष्टि को बताते हैं—"यावित्विति।" 'प्रकृति' से भी विवेकसाक्षात्कार नहीं हो सकता, उसीतरह 'उपादान' प्रव्रज्या) से भी वह नहीं हो सकता, एवं 'काल' से भी वह नहीं हो सकता, किन्तु भाग्य से ही विवेकसाक्षात्कार हो सकता है। भाग्य के विवेकख्यातिकारक होने के कारण ही तत्त्वज्ञानसम्पन्न रानी 'मदालसा' के छोटे छोटे (एक वर्ष से भी कम आयुवाले) बालक अपने पूर्वजन्म के संस्कार से तत्त्वज्ञ मां को पाकर उसके उपदेश से विवेकसाक्षात्कारसंपन्न हुए और मुक्त हो गये। मदालसाने अपने शिशु बालकों को यह उपदेश दिया—'त्वं शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, मा रुदिहि, दुःखं नात्मधर्मः' इति। उन बच्चों को अपने भाग्य से ही ऐसी माता मिली, भाग्य से ही मां के द्वारा उन्हें उपदेश मिला, जिससे उन्हें विवेकख्याति हुई और उससे मोक्ष प्राप्त हो गया अतः कहना होगा कि विवेकसाक्षात्कार होने में मुख्य हेतु (कारण) 'भाग्य' ही है। पूर्वोक्त कालादि नहीं। इस प्रकार के उपदेश को पाकर शिष्य को यह सन्तोष हो जाता है कि 'विवेकख्याति' तो भाग्य पर निर्भर है, इसी सन्तोष को 'भाग्याख्या तुष्टि' कहते हैं। यह भाग्य, अकस्मात् विवेकख्याति की वृष्टि करता है, इसलिये इस भाग्याख्या तुष्टि का नामान्तर 'वृष्टि' भी है। जन्मान्तरकृतकर्मविशेषजनित अदृष्ट को ही 'भाग्य' कहते हैं।

(२२२) भाग्याख्या चतुर्थ तुष्टि

शंका—"दैवं पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तम।
त्रयमेतन्मनुष्याणां पिण्डितं स्यात् फलावहम्॥"

इस उक्ति के अनुसार भाग्य की तरह काल और पुरुषकार (प्रयत्न) में भी फलसाधनता की प्रतीति होती है। अर्थात् काल और पुरुषकार भी फल के हेतु होते हैं। तब कैसे कह सकते हैं कि एक मात्र भाग्य ही विवेकख्याति रूप फल का साधन (हेतु, कारण) है।

समा०—भाग्य (दैव) यदि अनुकूल न हो तो काल और पुरुषकार सब व्यर्थ हो जाते हैं अर्थात् भाग्य के विना केवल काल और पुरुषकार से फलसिद्धि नहीं होती। किन्तु दैव के अनुकूल होने पर काल व पुरुषाकार के विना भी फलसिद्धि होती दिखाई देती है। अतः भाग्य की ही प्रधानता है, कालपरिपाक प्रव्रज्योपादान आदि का उपदेश उचित नहीं है। इस प्रकार आध्यात्मिक चार तुष्टियां बताई गईं।

बाह्या दर्शयति—"बाह्याः" तुष्टयः "विषयोपरमात्, पञ्च"। याः खल्वनात्मनः प्रकृतिमहदहङ्कारादीनात्मेत्यभिमन्यमानस्य वैराग्ये सति तुष्टयस्ता बाह्याः, आत्मज्ञानाभावे सत्यनात्मानमधिकृत्य प्रवृत्तेरिति। ताश्च वैराग्ये सति तुष्टय इति वैराग्यहेतुपञ्चत्वाद्वैराग्याण्यपि पञ्च, तत्पञ्चत्वात् तुष्टयः पञ्चेति। उपरम्यतेऽनेनेत्युपरमो वैराग्यम्, विषयादुपरमो विषयोपरमः। विषया भोग्याः शब्दादयः पञ्च, उपरमा अपि पञ्च॥

(२२३) पञ्चविधबाह्यतुष्टिकथनम्।

अब बाह्य पांच तुष्टियों को कहते हैं—'बाह्याः' तुष्टयः—'विषयोपरमात्पञ्च' इति। विषयों के प्रति उपरति (वैराग्य) हो जाने से बाह्य तुष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, वे पांच हैं। आत्मभिन्न—प्रकृति, बुद्धि, अहंकार आदि को आत्मा समझकर जो बाह्य शब्दादि विषयों की ओर से सन्तोष होता है उसे बाह्यतुष्टि कहते हैं। आत्मा और प्रकृति दोनों के पार्थक्य (भेद) का ज्ञान होने पर पहिले बताई गयी चार तुष्टियों की अपेक्षया प्रकृति—पुरुष के

(२२३) पांच प्रकार की बाह्य तुष्टियां

अभेद का ज्ञान रहते हुए भी होनेवालीं पांच तुष्टियों के भेद बताते हैं—"याः खल्वनात्मनः" इति। प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, मन, दशेन्द्रिय, तन्मात्रा, पंचभूतात्मक अनात्म-जड पदार्थों को ही 'आत्मा' समझनेवाले अर्थात् 'आत्मा प्रकृत्याद्यभिन्नः' इत्याकारक अध्यवसाय (निश्चय) करनेवाले मनुष्य को किसी कारण शब्दादि पांच विषयों की ओर से वैराग्य हो जानेपर पांच तुष्टियां होती हैं, जो बाह्य हैं। इन तुष्टियों को 'बाह्य' कहने में हेतु बताया है—"आत्मज्ञानाभावे" इति 'आत्मानुयोगिकप्रकृत्यादिजडवर्गप्रतियोगिक आत्मा, प्रकृत्यादिभिन्नः'—इस विवेकज्ञान के अभाव में अनात्मजडवर्ग को ही आत्मा समझ कर सन्तोष कर लेता है, इसलिये इन तुष्टियों को 'बाह्य' कहते हैं, अर्थात् प्रकृत्यादि बाह्य विषयों को विषय करने से अथवा शब्दादिवाले पञ्च विषयों को विषय करने से ये तुष्टियां बाह्य कहलाती हैं। ये पांच बाह्यतुष्टियां वैराग्य के पश्चात् होती हैं। वैराग्य के हेतुभूत पांच विषय हैं, इसलिये वैराग्य भी पांच हैं। वैराग्य पांच होने से तुष्टियां भी पांच हुईं। वैराग्य का अर्थ है—'उपरम'। 'उपरम्यते सरागा वृत्तिः प्रत्याह्रियते अनेन नीरागवृत्यात्मकबुद्धिधर्मेण इति उपरमः = विरागः, तस्य भावः वैराग्यम्'। शब्दादि पांच विषयों से उपरम को 'विषयोपरम' कहते हैं, अर्थात् शब्दादि पञ्च विषयों की असारता के कारण उनमें राग का न होना। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि भोग्यविषय पांच हैं, अतः उनके उपरम भी पांच हैं—'शब्दोपरम, स्पर्शोपरम, रूपोपरम, रसोपरम, गन्धोपरम।

(२२४) बाह्यतुष्टिषु प्रथमा, पारम्।

तथाहि—अर्जनरक्षणक्षयभोगहिंसादोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्चोपरमा भवन्ति। तथाहि-सेवादयो धनार्जनोपायाः, ते च सेवकादीन् दुःखाकुर्वन्ति,

"दृप्यद्दुरीश्वरद्वाःस्थदण्डिचण्डार्धचन्द्रजाम्।
वेदनां भावयन् प्राज्ञः कः सेवास्वनुषज्जते" ॥

एवमन्येऽप्यर्जनोपायाः दुःखा इति विषयोपरमे या तुष्टिः सैषा 'पारम्' उच्यते ॥

(२२४) बाह्यतुष्टियों में 'पार' नाम की प्रथम तुष्टि

वैराग्यों के पांच प्रकार होने में पांच कारण हैं—धनादि का अर्जन-रक्षण-क्षय-भोग-हिंसादि [1]दोषदर्शन से भी वैराग्य होता है। अर्जन = धन का उपार्जन। रक्षण = चोर, डाकू, लुटेरों से रक्षा। क्षय = भुज्यमान वस्तु का व्यय, भोग = स्त्री आदि का उपभोग। हिंसा = मांस के लिये हिंसा। इन सब दोषों में निमित्त, 'द्रव्य' है। इन पञ्च दोषों के कारण उनके प्रति वैराग्य हो जाता है, इसलिये वह वैराग्य पांच प्रकार का है। अर्जन आदि में दोष दिखाते हुए पांच उपरमों को दिखाते हैं—"तथाहि सेवादय" इति। आदि शब्द से भिक्षा, कृषि, विद्या, व्यवहार, वणिक्कर्मादि ग्राह्य हैं। पराधीनवृत्ति ही सेवा है, जिसे धनोपार्जन का उपाय बताया गया है। धनोपार्जन के सेवादि उपाय सेवकों को बड़ा ही दुःख पहुँचाते हैं। जैसे—

"दृप्यद्दुरीश्वरद्वाःस्थदण्डिचण्डार्धचन्द्रजाम्।
वेदनां भावयन् प्राज्ञः कः सेवास्वनुषज्जते ॥"

अभिमानी दुष्ट धनपति के द्वार पर खड़े, हाथ में दण्ड लिये द्वारपाल के असहनीय अर्धचन्द्र (गलहस्त प्रहार) से उत्पन्न क्लेश (वेदना) का स्मरण कर कौन बुद्धिमान् दुःखदायिनी सेवा के लिये प्रवृत्त होगा? उसी प्रकार भिक्षा-वाणिज्यादि अन्य धनार्जनोपाय भी दुःखकर ही हैं।

---

१. अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने। नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः ॥

अर्जनादि के दोषज्ञान से विषयों के प्रति वैराग्य होने पर निष्पन्न तुष्टि की ही अन्य संज्ञा 'पारम्' है। धनार्जन दुःख के पार पहुँचाता है' इसलिये उसे 'पारा' कहते हैं। यह अर्जन में दोष हुआ। वाणिज्य के दुःख को सोचकर विषय से विरक्त हुआ कोई कहता है—

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः
सोढा दुःसहवातशीततपनक्लेशा न तप्तं तपः।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितैः प्राणैर्न शम्भोः पदं
तत्तत्कर्मकृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम्॥

(२२५) द्वितीया सुपारम्॥ तथाऽर्जितन्धनं राजैकागारिकाग्निजलौघादिभ्यो विनङ्क्ष्यतीति तद्रक्षणे महद्दुःखमिति भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा द्वितीया 'सुपारम्' उच्यते।

अर्जन में दुःखहेतुता बताकर अब रक्षण में भी दुःखहेतुता बताते हैं—तथार्जितन्धनमिति"। सेवादि के द्वारा अर्जित धन को [1]ऐकागारिक=चोर, जलप्रवाह (बाढ़), भूकम्प, राजा आदि कहीं नष्ट न कर दें, इस भय से रात में नींद तक नहीं आती, इस प्रकार बड़े परिश्रम से अर्जित धन की रक्षा करने में महान् दुःख (कष्ट) अर्थात् सदैव चिन्ता बनी रहती है—इस दुःख को सोचकर शब्दादि विषयों के प्रति उपरम होने से जो तुष्टि अर्थात् 'विषयों का भोग नहीं करना चाहिये' इत्याकारक सन्तोष—यह दूसरी बाह्य तुष्टि है। इसी को 'सुपारम्' कहते हैं। अर्जन में दोष दिखाई देने पर भी कदाचित् भोगाभिलाष से विषयों में प्रवृत्ति हो सकती है, किन्तु अर्जित धन के रक्षण के भय से अर्जन में प्रवृत्ति होना अत्यन्त असंभव है, इसी अभिप्राय से इस तुष्टि को 'सुपारा' कहा गया है 'अतितरं दुःखपारं प्रापयितृत्वात्' यह 'सुपारा' है। यह रक्षण में दोष है।

(२२५) 'सुपारम्' नाम की द्वितीय तुष्टि।

(२२६) तृतीया पारापारम्। तथा महताऽऽयासेनार्जितन्धनं भुज्यमानं क्षीयते इति तत्प्रक्षयम्भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा तृतीया 'पारापारम्' उच्यते॥

तीसरी बाह्य तुष्टि को कहते हैं="तथामहतेति।' अत्यन्त परिश्रम से अर्जित धन का भोग लेते रहने से उसका व्यय होता है—उस धनव्यय को सोचने से शब्दादिविषयों के प्रति 'विषया न भोक्तव्याः' इत्याकारक जो उपरम (सन्तोष-तुष्टि) है, उसे 'पारापार' कहते हैं। धन का क्षय होता देख कर भी विषयों में कदाचित् प्रवृत्ति, कदाचित् अप्रवृत्ति हो सकती है। जब अप्रवृत्ति हो तब 'दुःखस्य पारः' दुःख के पार, अन्यथा 'अपार'—अतः इस तुष्टि को 'पारापार' नाम दिया गया है। यह क्षय में दोष है।

(२२६) 'पारापारम्' नामकी तृतीय तुष्टि।

(२२७) चतुर्थी, अनुत्तमाम्भः। एवं शब्दादिभोगाभ्यासात् प्रवर्धन्ते कामाः, ते च विषयाप्राप्तौ कामिनं दुःखाकुर्वन्तीति भोगदोषम् भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा चतुर्थी 'अनुत्तमाम्भ' उच्यते॥

---

[1]. "ऐकागारिकट् चौरे" इति पाणिनीयम्।

चौथी बाह्यतुष्टि को कहते हैं—"एवं शब्दादीति" । शब्दस्पर्शादि विषयों के भोग का पुनः पुनः अभ्यास करने से विषयतृष्णाएं बढ़ती हैं। 'भोगाभ्यासमनुविवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम् ।' मनु ने कहा है—"न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।" वे विषयतृष्णाएं (काम) विषयों के उपलब्ध न होने पर कामी पुरुष (सतृष्ण पुरुष) को दुखी बनाती हैं—इस प्रकार विषयों के भोग में दोष देखने वाले मनुष्य को विषयों से उपरम हो जाने पर जो तुष्टि होती है वह चतुर्थ है, उसे 'अनुत्तमाम्भ' कहते हैं । 'नास्ति उत्तमं यस्मात्तद् अनुत्तमम् = मत्युत्कृष्टम्' । अंकुर को जैसे 'अम्भस्' (जल) की आवश्यकता वैसे ही विवेकख्याति के लिये इस भोग तुष्टि की आवश्यकता होने से उसे 'अनुत्तमाम्भः' नाम दिया गया है । अथवा 'भोगे रोगभयम्' भोग में रोग के भय की शंका होती रहने से यह तुष्टि स्वार्थपर है, इसलिये इसमें 'उत्तमेतराम्भस्त्व' है । अथवा—यह तुष्टि पुरुष को विषयों की ओर से अच्छी तरह नहीं बढ़ा पाती अतः यह उत्तमा द्राविका न होने से इसे 'अनुत्तमाम्भ' कहा है । यह भोग में दोष है ।

(२२७) अनुत्तमाम्भः' नामकी चतुर्थतुष्टि ।

एवञ्चानुपहत्य भूतानि विषयोपभोगः सम्भवतीति हिंसादोषदर्शनाद्विषयोपरमे या तुष्टिः सा पञ्चमी 'उत्तमाम्भ' उच्यते ॥

(२२८) पञ्चमो उत्तमाम्भः ।

पांचवी बाह्य तुष्टि बताते हैं—"एवं नानुपहत्येति ।" प्राणियों को अनुपहत्य = बिना मारे (प्राणियों की हिंसा बिना किये) मांस की उपलब्धि नहीं हो सकती और मांसभक्षण के बिना शरीर सबल नहीं हो सकता, शरीर सबल न होने पर विषयोपभोग (कामोपभोग) नहीं किया जा सकता। किन्तु हिंसा अनर्थ पैदा करने वाली है- इस प्रकार हिंसा में पातक रूप दोषदर्शन होने से विषयों के प्रति जो तुष्टि होती है, वह पंचमी बाह्य तुष्टि है, उसे 'उत्तमाम्भ' कहते हैं । उत्तमम = उत्कृष्टम् अम्भः = उत्तमाम्भः । अंकुर के प्रति अम्भस् जैसे हेतु है, वैसे ही विवेकख्याति के प्रति यह तुष्टि (हिंसा तुष्टि) हेतु होने से उसे 'उत्तमाम्भ' कहा गया है । यह हिंसातुष्टि कारुण्यमूलक है ।

(२२८) 'उत्तमाम्भः' नाम की पंचम तुष्टि ।

एवमाध्यात्मिकीभिश्चतसृभिः बाह्याभिश्च पञ्चभिः 'नव तुष्टयोऽभिमताः' ॥ ५० ॥

इस रीति से प्रकृति, उपादान, काल, भाग्यसंज्ञक आध्यात्मिक चार तुष्टियों के साथ पांच[1] बाह्य तुष्टियों को मिला कर नौ तुष्टियां सांख्याचार्यों ने बताई हैं, यह हिंसा में दोष है ॥ ५० ॥

(२२९) सिद्धिभेदकथनम् । . **गौणमुख्यभेदैः सिद्धीराह—**

गौणमुख्यभेदैः सिद्धीराह—गौण और मुख्य सिद्धियों को बताते हैं—सिद्धि का अर्थ है—पुरुषार्थ की निष्पत्ति । पुरुषार्थ का अर्थ है—पुरुषप्रयोजन और प्रयोजन का अर्थ है—इच्छा का विषय । मुख्यत्व का परिष्कार है—'अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वम् ।' गौणत्व का परिष्कार है—'अन्येच्छाधीनेच्छाविषयत्वम् ।' अर्थात् स्वतन्त्रेच्छा का विषय होना मुख्यता है और पराधीनेच्छाका विषय होना गौणता (अमुख्यता) है । "सुखं मे भूयात्'—दुःखं माभूयात्' ये ही दो इच्छाएं स्वाभाविक (स्वतन्त्र) इच्छाएं हैं । इसलिये दुःखविघातनिष्पत्ति-मुख्यसिद्धि है

(२२९) सिद्धियों के गौण-मुख्य भेद ।

---

१. पांच बाह्यतुष्टियां—पारा, सुपारा, पारापारा, अनुत्तमाम्भस्, उत्तमाम्भस् ।

और अध्ययनादि तो दुःखविघात की इच्छा के अधीन रहनेवाली इच्छा का विषय होने से गौणसिद्धि है। निम्नलिखित कारिका में कतिपय मुख्य सिद्धियां और कतिपय गौण सिद्धियां बताई जा रही हैं—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ, सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—त्रयः दुःखविघाताः, अध्ययनम्, शब्दः, ऊहः, सुहृत्प्राप्तिः, दानम्, इति अष्टौ सिद्धयः। पूर्वः (विपर्ययाऽशक्तितुष्टिरूपः) त्रिविधः सिद्धेः अङ्कुशः।

भावार्थः—'त्रयः दुःखविघाताः'=(१) आध्यात्मिक दुःखाभाव (२) आधिदैविकदुःखाभाव, (३) आधिभौतिकदुःखाभाव-ये तीन। 'अध्ययनम्'=अध्ययन से आत्मज्ञान—यह अध्ययन-सिद्धि। शब्दः=पद से आत्मज्ञान—यह शब्दसिद्धि। 'ऊहः'=तर्क से आत्मज्ञान-यह ऊह-सिद्धि। 'सुहृत्प्राप्तिः'=सहपाठियों के साथ शास्त्रार्थ का विचार करने से आत्मनिर्णय—सुहृत्प्राप्तिसिद्धि। 'दानम्=' विवेकख्यातिलाभ-यह दानसिद्धि-ये आठ सिद्धियां हैं। 'पूर्वः=' प्रथम प्राप्त विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि-ये तीन' 'सिद्धेः=' सिद्धि के। 'अंकुशः=' विरोधी हैं। अतः ज्ञानसाधक सिद्धियों का स्वीकार करे और 'विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि' का त्याग करे।

(२३०) सिद्धिभेदकथनम्।

"ऊह" इति। विहन्यमानस्य दुःखस्य त्रित्वात्तद्विघातास्त्रय इतीमा मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः, तदुपायतया त्वितरा गौण्यः पञ्च सिद्धयः, ता अपि हेतुहेतुमत्तया व्यवस्थिताः। तत्राद्याऽध्ययनलक्षणा सिद्धिर्हेतुरेव। मुख्यास्तु सिद्धयो हेतुमत्य एव। मध्यमास्तु हेतुहेतुमत्यः॥

(२३०) सिद्धियों के भेदों का विस्तार।

'विहन्यमानस्येति।' त्याग किये जाने वाले दुःख के-आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक-तीन भेद होने से उनके विघात (निवृत्तियां) भी तीन हैं। ये तीनों दुःखनिवृत्तियां मुख्य सिद्धियां हैं—ये तीनों ग्राह्य हैं। और अन्य अध्ययनादि तत्त्वज्ञानात्मक पांच सिद्धियां, तीनों प्रकार के दुःखविघातों का साधन होने से गौण (सिद्धियां) हैं। वे पांचों (अध्ययन-शब्द-ऊह-सुहृत्प्राप्ति-दान) कारण और कार्य रूप से व्यवस्थित हैं। उन पांचों में पहली जो 'अध्ययनसिद्धि' है, वह शब्दादि सातों की केवल कारण ही है। और 'आध्यात्मिक दुःखाभाव—आधिदैविकदुःखाभाव-आधिभौतिकदुःखाभावसंज्ञक तीनों मुख्य सिद्धियां केवल कार्य ही हैं। तथा शब्द-ऊह-सुहृत्प्राप्ति-दानसंज्ञक बीच की चार सिद्धियां, दुःखविघातसंज्ञक तीन सिद्धियों की कारण हैं और अध्ययनसंज्ञक प्रथम सिद्धि की कार्य हैं।

(२३१) अध्ययनरूपा प्रथमा सिद्धिः, तारम्।

विधिवद्गुरुमुखादध्यात्मविद्यानामक्षरस्वरूपग्रहणमध्ययनम् प्रथमा सिद्धिस्तारमुच्यते॥

(२३१) 'अध्ययन' नाम की प्रथम सिद्धि को 'तारम्' कहते हैं।

अध्ययनसिद्धि का निरूपण करते हैं—"विधिवदिति।" 'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि विधि के अनुसार गुरुमुख से अध्यात्म-विद्याप्रतिपादक शब्दात्मक अक्षरों के-ह्रस्व-दीर्घादिस्वरविशेषात्मक स्वरूप का ग्रहण करना ही अध्ययन है अर्थात् गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण करना ही अध्ययन है—यह प्रथम सिद्धि है। मीमांसकोंने स्वरविशेषविशिष्ट अक्षरग्रहणपूर्वक अर्थग्रहण को ही अध्ययन पदार्थ माना है, तथापि कारिकाकार ने अध्ययन और शब्द दोनों का पृथक्-पृथक् ग्रहण किया है।

इसलिये अध्ययन को अक्षरग्रहणपरक और 'शब्द' को अर्थज्ञानपरक स्वीकार करना चाहिये। अथवा अध्ययनजन्यज्ञान को ही 'सिद्धि' कहें तो कार्य-कारण के अभेद से उसमें 'सिद्धि' व्यवहार कर सकते हैं। भव सागर को तरने (पार करने) का यह प्रथम सोपान होने से उसे 'तार' कहते हैं।

(२३२) शब्दरूपा द्वितीया; सुतारम्।

तत्कार्यम्-शब्दः; 'शब्दः' इति पदं शब्दजनितमर्थज्ञानमुपलक्षयति, कार्ये कारणोपचारात्। सा द्वितीया सिद्धिः, सुतारमुच्यते। पाठार्थाभ्यान्तदिदन्द्विधा श्रवणम्॥

दूसरी 'शब्द' सिद्धि बताते हैं—"तत्कार्यमिति।" अध्ययन का कार्य 'शब्द' होता है। यहां 'शब्द' पद की शब्दजन्य अर्थज्ञान में लक्षणा करनी चाहिये।

(२३२) 'शब्द' नाम की द्वितीय सिद्धि को 'सुतारम्' कहते हैं।

अतः इसे शब्दजन्य अर्थज्ञानरूप सिद्धि समझनी चाहिये। इसीको कहते हैं—'शब्द' इति पदमिति।' इस रीति से अर्थज्ञानरूप कार्य में शब्दात्मक कारण का उपचार किया गया है। यह 'शब्द'-संज्ञक अर्थज्ञानरूप द्वितीय सिद्धि है। यह अर्थज्ञान अच्छी तरह संसारतारक होने से इस सिद्धि की दूसरी संज्ञा 'सुतार' की गई है। तार और सुतार दोनों ही गुरु से किये जाने वाले अध्ययन स्वरूप ही हैं तथापि 'तार' सिद्धि, पाठ विषयक है और 'सुतार' सिद्धि, अर्थ विषयक है। अतः पाठ और अर्थ के भेद से दोनों भिन्न-भिन्न हैं। पाठ के लिये अध्ययन और अर्थ से लिये 'शब्द', इस रीति से ये दोनों 'श्रवण' रूप ही हैं।

(२३३) ऊहरूपा तृतीया तारतारम्।

"ऊहः" तर्कः आगमाविरोधिन्यायेनागमार्थपरीक्षणम्। परीक्षणञ्च संशयपूर्वपक्षनिराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनम्। तदिदम्मननमाचक्षते आगमिनः। सा तृतीया सिद्धिस्तारतारमुच्यते॥

तीसरी 'ऊह' सिद्धि बताते हैं—'ऊह' का अर्थ किया 'तर्क', 'तर्क्यते इति तर्कः।' तर्क का अर्थ बताते हैं—"आगमेति।" आगमाविरोधिन्यायेन आगमार्थपरीक्षणम्'—आगम का अर्थ है अधीतवेदशास्त्रादि। वेद-शास्त्रादि के अनुकूल न्याय (प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनय-निगमनात्मक पंचावयववाक्य) के द्वारा अधीतशास्त्र (अधीतविषयआगमादि) के प्रतिपादित विषयों का परीक्षण करना।

(२३३) 'ऊह' नाम की तृतीयसिद्धि को 'तारतारम्' कहते हैं।

परीक्षण का अर्थ करते हैं—'संशयेति' संशय (संदेह), पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए उत्तरपक्ष (अपने सिद्धान्त) को स्थिर करना। जैसे—'सतः सञ्जायते' 'सतः असञ्जायते'—सत् से सत् होता है, सत् से असत् होता है इत्यादि वाक्यों को लक्ष्य कर पहले संदेह किया—'कार्य सत् है अथवा असत्। उसके बाद पूर्वपक्ष किया—पहिले उपलब्धि न होने से और पश्चात् विनाश होने से 'कार्य-असत्' है। इस पूर्व पक्ष का 'असदकरणादुपादानग्रहणात्' इत्यादि न्याय से निराकरण कर उत्तरपक्ष (अपने सिद्धान्त) का व्यवस्थापन किया—'कार्य-सत्' है। इसी परीक्षण को शास्त्रज्ञलोग 'मनन' कहते हैं। यह ऊह (तर्क-परीक्षण-मनन) नाम की तृतीय सिद्धि है। अध्ययन और शब्दसिद्धि की अपेक्षया यह 'ऊह' (मनन) सिद्धि अधिक तारक होने से इसे 'तारतार' कहते हैं।

"'सुहृत्प्राप्तिः" । न्यायेन स्वयम्परीक्षितमप्यर्थं न श्रद्धत्ते, न यावद्गुरुशिष्यसब्रह्मचारिभिस्सह संवाद्यते । अतः सुहृदां गुरुशिष्यसब्रह्मचारिणां संवादकानां प्राप्तिः सुहृत्प्राप्तिः सा सिद्धिश्चतुर्थी 'रम्यकम्' उच्यते ॥

(२३४) सुहृत्प्राप्तिरूपा चतुर्थी–रम्यकम् ।

चतुर्थसिद्धि 'सुहृत्प्राप्ति' है। उसका स्वरूप बताते हैं—'न्यायेनेति ।' प्रतिज्ञादिपञ्चावयव वाक्यों से अर्थ की परीक्षा करचुकने पर भी तबतक विश्वास नहीं होता, जबतक अपने सहाध्यायियों के साथ (एक ही गुरु के शिष्यों को सह ब्रह्मचारी, सतीर्थ्य कहते हैं, 'सह' को 'स' आदेश होता है) उस परीक्षित अर्थ पर विचार विमर्श द्वारा मिलान (संवाद)–"ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च संवादः" न्या. सू. ४।२।४७। "तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात्" न्या. सू. ४।२।४८ —नहीं कर लेता। तथा च—"शिष्यैः परस्परं शास्त्रं चिन्तनीयं विचक्षणैः" अतः विचार गोष्ठी में अपने गुरु के शिष्य सब्रह्मचारी–सतीर्थ्य स्वरूप संवादकर्ता सुहृदों की जो उपस्थिति–उसे 'सुहृत्प्राप्ति' नाम की चौथी सिद्धि कहते हैं। अपने सुहृदों के साथ शास्त्रार्थसंवाद करने से अत्यन्त सुन्दर मनोहारी निर्णय हो पाता है, उस निर्णय पर श्रद्धा करना रमणीय होने से इस सिद्धि को 'रम्यक' भी कहते हैं।

(२३४) सुहृद् प्राप्ति' नाम की चतुर्थ सिद्धि को रम्य कहते हैं।

"दानं" च शुद्धिर्विवेकज्ञानस्य, 'दैप् शोधने' [पाणिनि ६।४।६८] इत्यस्माद्धातोर्दानपदव्युत्पत्तेः । यथाह भगवान् पतञ्जलिः—"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" इति [योगसूत्र २।२६] । 'अविप्लवः' शुद्धिः, सा च सवासनसंशयविपर्यासानां परिहारेण विवेकसाक्षात्कारस्य स्वच्छप्रवाहेऽवस्थापनम् । सा च न² विनाऽऽदरनैरन्तर्यदीर्घकालसेविताभ्यासपरिपाकाद्भवतीति दानेन विवेकख्यात्या कार्येण सोऽपि संगृहीतः । सेयम्पञ्चमी सिद्धिस्सदामुदितमुच्यते ॥

(२३५) दानरूपा पञ्चमी, सदामुदितम् ।

पांचवीं 'दान' सिद्धि बताते हैं—"दानमिति ।" 'दान' का अर्थ कहते हैं–शुद्धिर्विवेकज्ञानस्य–विवेकज्ञान की शुद्धि अर्थात् जिसमें विपर्ययात्मक मिथ्याज्ञान का लेशमात्र भी स्पर्श नहीं ऐसा विवेकज्ञान। यहां पर 'दैप्–शोधने' धातु से 'दान' शब्द की निष्पत्ति हुई है। 'दान' शब्द का विवेकज्ञानशुद्धि–अर्थ करने में भगवान् पतञ्जलिमुनि के सूत्र का प्रमाण देते हैं—"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः"—(यो. सू. २।२६) अविप्लवविवेकख्याति, हान का उपाय है। 'हान' का अर्थ है—दुःखोपरम = मोक्ष, उसका उपाय (साधन) है विवेकख्याति। वह विवेकख्याति अविप्लव होनी चाहिये। मिथ्याज्ञान का बीज दग्ध हो जाने पर वह वन्ध्यप्रसव हो जाता है। ऐसी स्थिति में विवेकख्याति अविप्लवा अर्थात्शुद्धा कहलाती है। इसी को ध्यान में रखकर 'अविप्लव' का अर्थ करते हैं—"शुद्धिरिति ।" विषयसंस्कारों के सहित संशय–विपर्ययादिवृत्तियों के नष्ट होने पर दग्धबीजभाव को पाने से अर्थात् संशय–विपर्ययादिवृत्तियों के न रहने पर सत्त्व–पुरुषान्यता-

(२३५) 'दान' नाम की पंचम सिद्धि को 'सदा'–मुदितम्' कहते हैं।

ज्ञान का (विवेकसाक्षात्कार का) स्वच्छ प्रवाह "विजातीयप्रत्ययान्तरास्पृष्टत्वे सति सजातीय, प्रत्ययसन्ततिः प्रवाहः।" में (मिथ्याज्ञान-संशयादि के संसर्ग से रहित प्रवाह में) रहना ही 'शुद्धि' है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन करते रहने से संस्कारसहितमिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने पर जो विवेकसाक्षात्कार होता रहता है—वह शुद्ध (निर्विप्लव) कहा जाता है और [1]वही दान का (मोक्ष का) उपाय (साधन) होता है। यह शुद्ध विवेकख्याति पांचवीं सिद्धि है। शुद्ध विवेकख्याति रूप कार्य का कारण जो अभ्यास—"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वञ्च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥'—है वह भी पांचवी सिद्धि है-उसे बताने के लिये कहते हैं—"सा च न विनेति।" उस शुद्धविवेकख्यातिं का उपाय (साधन) अभ्यास (स्वच्छ प्रवाह में उसे रखने का यत्न करना) है, जो आदरपूर्वक निरन्तर और दीर्घकाल तक किया गया हो, ऐसे [2]अभ्यास की पराकाष्ठा हुए बिना विवेकख्याति नहीं होती, अतः विवेकख्याति अर्थात् दानात्मकसिद्धिरूपकार्य से अभ्यासरूप कारण का भी पांचवीं सिद्धि में संग्रह किया गया है। अर्थात् कार्यकारण के अभेदोपचार से [3]'दान' शब्द के द्वारा अभ्यास और विवेकख्याति दोनों ही पांचवीं सिद्धि में संगृहीत हैं। यह 'सदामुद' (सर्वदा आनन्द या सुख) की हेतु होने से 'सदामुदिता' कही जाती है।

(२३६) दुःखविघात-त्रयरूपास्तिस्रो मुख्याः-प्रमोदमुदितमोदमानाः।

तिस्रश्च मुख्याः सिद्धयः प्रमोदमुदितमोदमाना, इत्यष्टौ सिद्धयः॥

अब अवशिष्ट तीन सिद्धियों को बताते हैं—"तिस्रश्चेति।" ये तीन सिद्धियां मुख्य हैं। अर्थात् परमप्रयोजनभूत मोक्षरूप हैं। यह छठी आध्यात्मिकदुःखाभावरूपसिद्धि, प्रकृष्ट आनन्दप्रद होने से इसे 'प्रमोद' नाम से कहा जाता है। और आधिभौतिक दुःखाभावरूप सातवीं सिद्धि भी कभी-कभी मोदप्रद होने से उसे 'मुदित' नाम से कहा जाता है। एवं आधिदैविक दुःखाभावरूप आठवीं सिद्धि भी कथंचित् मोदप्रद होने से उसे 'मोदमान[4]' कहते हैं। इस प्रकार आठ सिद्धियों की व्याख्या की गई।

(२३६) दुःखविघात-त्रयात्मक तीन मुख्य सिद्धियों को प्रमोद, मुदित, मोदमान कहते हैं।

---

१. उपायेन निगृह्णीयात् विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लयेऽचैव यथाकामोलयस्तथा॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति॥
लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीच्छमप्राप्तं न चालयेत्॥
नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसंगः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चलं चित्तमेकी कुर्यात् प्रयत्नतः॥
यदा च लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अलिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥ [गौडपादाः]

२. "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" [यो. सू.]

३. "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"— इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादित निदिध्यासन को भी दान शब्द से संगृहीत किया गया है।

४. 'मोदमाना' यहां पर 'मोदस्य मानं = मानं यत्र' ऐसी व्युत्पत्ति करनी चाहिये।

अन्ये व्याचक्षते-विनोपदेशादिना प्राग्भवीयाभ्यासवशात्तत्त्वस्य स्वयमूहनं यत् सा सिद्धिरूहः। यस्य सांख्यशास्त्रपाठमन्यदीयमाकर्ण्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते सा सिद्धिः शब्दः, शब्दपाठादनन्तरम्भावात्। यस्य शिष्याचार्यसम्बन्धेन सांख्यशास्त्रं ग्रन्थतोऽर्थतश्चाधीत्य ज्ञानमुत्पद्यते साऽध्ययनहेतुका सिद्धिरध्ययनम्। सुहृत्प्राप्तिरिति यस्याधिगततत्त्वं सुहृदं प्राप्य ज्ञानमुत्पद्यते सा ज्ञानलक्षणा सिद्धिस्तस्य सुहृत्प्राप्तिः। दानञ्च सिद्धिहेतुः, धनादिदानेनाराधितो ज्ञानी ज्ञानम्प्रयच्छति। अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरेवावगन्तव्ये इति कृतम्परदोषोद्भावनेन नः सिद्धान्तमात्रव्याख्यानप्रवृत्तानामिति ॥

(२३७) गौणसिद्धिपञ्चकस्य प्रकारान्तरेण व्याख्यानम्।

उपर्युक्त विपरीत पाठक्रम को सहन न कर कुछ अन्य (दूसरे) विद्वानों ने पांच सिद्धियों की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है, वह उचित नहीं है तथापि परीक्षणार्थ विद्वानों के समक्ष उपस्थित की गई है। "अन्ये व्याचक्षते"—बिना उपदेश के भी पूर्वजन्मार्जित अभ्यास के बल पर जड-चेतन तत्त्व का ऊह (तर्क) स्वयं कर लेना 'ऊह' सिद्धि है। दूसरी 'शब्द' सिद्धि—किसी दूसरे को सांख्यशास्त्र पढ़ते हुए सुनकर स्वयं को जो तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, उसे पाठश्रवणलभ्यतत्त्वज्ञानात्मक 'शब्द' सिद्धि कहते हैं। शब्दश्रवणजन्य तत्त्वज्ञान को 'शब्द' संज्ञा देने का कारण यह है कि वह शब्द, पाठ अर्थात् श्रवण के अनन्तर होता है अतः कार्य में कारण का उपचार करने से शब्दलभ्य सिद्धि को अध्ययन 'शब्द' सिद्धि के नाम से ही कहा गया है।

(२३७) पांच गौण सिद्धियों की प्रकारान्तर से व्याख्या।

तीसरी 'अध्ययन' सिद्धि को बताते हैं—"यस्य शिष्येति।" जिसे शिष्याचार्यसम्बन्धपूर्वक (किसी गुरु का शिष्य होकर) सांख्यशास्त्र का ग्रन्थ (पुस्तक) और तत्प्रतिपादित अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले गुरुमुखोच्चारित शब्दों के द्वारा अध्ययन कर तत्त्वज्ञान होता है, उस-अध्ययन-हेतुक तत्त्वज्ञानात्मक सिद्धि को 'अध्ययन' सिद्धि कहा गया है।

चौथी 'सुहृत्प्राप्ति' सिद्धि को बताते हैं—'जिसने पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है ऐसे तत्त्वाधिगमसम्पन्न मित्र के साथ प्रश्नोत्तरात्मक विचार-विमर्श करने पर जिसे तत्त्वज्ञान होता है, वह तत्त्वज्ञानरूप सिद्धि, सुहृत्-प्राप्तिहेतुक होने से 'सुहृत्प्राप्ति' नाम से कही जाती है।

पांचवीं 'दान' सिद्धि को बताते हैं—'दानञ्चेति।' तत्त्वज्ञानसिद्धि का हेतु (कारण) धनदान है। धनादि देकर आराधना किया हुआ—(प्रसन्न किया हुआ) ज्ञानी (विद्वान्) विद्यात्मक ज्ञान (तत्त्वज्ञान) धन देने वाले को देता है। अतः यह सिद्धि दानहेतुक होने से इसे 'दान' सिद्धि कहते हैं। अन्य विद्वानों के द्वारा की गई यह व्याख्या, कारिकाकार के अभिप्राय का अनुसरण करती है या नहीं, इसे विद्वान् परीक्षकगण ही सोच लें। क्योंकि हम (वाचस्पति मिश्र) तो सांख्यकारिकाकार के निर्णीत सिद्धान्तों की व्याख्या करने के हेतु प्रवृत्त हुए हैं, इसलिये हम, अन्य विद्वानों (अन्य व्याख्याकारों) के बुद्धिमांद्यादि दोष प्रकट करना नहीं चाहते। इस प्रकार तुष्टिसिद्धियों का स्वरूप बतादिया।

सिद्धितुष्टिविपर्ययेणाशक्तिर्बुद्धिवधस्सप्तदशधा द्रष्टव्यः। अत्र प्रत्ययसर्गे सिद्धिरुपादेयेति प्रसिद्धमेव। तन्निवारणहेतवस्तु विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इत्याह—"सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः" इति। 'पूर्व' इति विपर्ययाशक्तितुष्टीः परामृशति। ताः सिद्धिकरिणीनामङ्कुशो, निवारकत्वात्। अतः सिद्धिपरिपन्थित्वात् विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इत्यर्थः॥ ५१॥

(२३८) प्रत्ययसर्गे विपर्ययाशक्तितुष्टीनां सिद्धेरङ्कुशत्वम् ततश्च तासां हेयत्वम् सिद्धेश्चोपादेयत्वम्।

अब 'सप्तदशवधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम्' जो पहिले कहा गया है उसे पुष्ट करने के लिये स्मरण दिला रहे हैं—'सिद्धितुष्टीति।' आठ सिद्धि और नौ तुष्टियों के विपर्यय (वध) से 'अशक्ति'संज्ञक बुद्धिवध के सत्रह प्रकार समझने चाहिये।

(२३८) प्रत्ययसर्ग में विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि ये सिद्धि के लाभ में अंकुश के तुल्य हैं, अतः वे हेय हैं और सिद्धियां उपादेय हैं।

अब विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि-सिद्धियों में से कौन सी उपादेय हैं और कौनसी हेय हैं, उन्हें बताते हैं—'अत्रेति।' चार प्रकार से विभक्त किये गये इस बुद्धि (प्रत्यय) सर्ग (सृष्टि) में सिद्धि (ज्ञानाख्यसिद्धि) और मोक्ष नामकी आठ सिद्धियां उपादेय हैं यह प्रसिद्ध ही है। उन ज्ञानात्मक सिद्धियों के लाभ होने में प्रतिबन्धक जो बासठ प्रकार का विपर्यय और अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियां और नौ प्रकार की तुष्टियां ये सब हेय (त्यागने योग्य) अर्थात् अनुपादेय हैं—इसी को कहते हैं—'सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः' इति। यहां पर 'पूर्व' पद 'विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि'-तीनों का सूचक है। वे विपर्यय-अशक्ति-तुष्टियां, करिणी (हथिनी) के तुल्य सिद्धियों की निवारक होने से अंकुश की तरह हैं। एवं च सिद्धिपरिपन्थी (सिद्धि की विघातक) होने से विपर्यय-अशक्ति-तुष्टियों का त्याग करना चाहिये। अर्थात् विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि संज्ञक त्रिवर्ग, सिद्धियों की शुद्धि का विघातक होने से मुमुक्षु को चाहिये कि वह उन तीनों का उपादान न करे॥ ५१॥

स्यादेतत् पुरुषार्थप्रयुक्ता सृष्टिः। स च पुरुषार्थः प्रत्ययसर्गाद्वा तन्मात्रसर्गाद्वा सिध्यतीति कृतमुभयसर्गेणेत्यत आह—

(२३९) उभयसर्गावश्यकत्वशङ्का।

आपका कथन ठीक हो सकता है, किन्तु अनागतावस्थ जो भोगापवर्गात्मक पुरुषार्थ उससे प्रयुक्त यह सृष्टि है और वह पुरुषार्थ, प्रत्ययसर्ग—(भावसर्ग) (प्रतीयन्ते विषया अनेनेति प्रत्ययो बुद्धिः—तस्य सर्गः अर्थात् धर्माधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्यावैराग्य, ऐश्वर्यानैश्वर्यात्मक भावसर्ग, जिसे विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि-इन चार भेदों के द्वारा संक्षेप से बताया गया है)—से सम्पन्न हो सकता है। अथवा तन्मात्रसर्ग (लिङ्गसर्ग)—(सूक्ष्म-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक तन्मात्राओं का जो सर्ग अर्थात् लिङ्गशरीर और षाट्कौशिकस्थूलशरीर। इन्द्रियसहित मन-अहंकार-बुद्धि को तन्मात्रघटित होने पर ही 'सूक्ष्मशरीर' कहा जाता है (चित्रं यथाश्रयमृते०—४१) और षाट्कौशिकशरीर, 'तन्मात्राओं' का कार्य है। अतः स्थूलशब्दादि विषयों से युक्त पंचभूतविकारस्वरूप स्थूल शरीर तथा सूक्ष्मशरीर दोनों को तन्मात्रसर्ग से समझना चाहिये।)—से ही पुरुषार्थ की निष्पत्ति हो

(२३९) उभयसर्ग की आवश्यकता पर आशंका।

सकती है। अतः पुरुषार्थ निष्पत्ति के लिये किसी एक ही सर्ग को स्वीकार किया जाय। दोनों सर्गों को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता ? अभिप्राय यह है कि बुद्धि ने दो प्रकार की सृष्टि क्यों की ? इसके उत्तर में निम्न कारिका उपस्थित हो रही है—

न विना भावैर्लिङ्गं, न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥

अन्व०—भावैः विना लिङ्गं न (भवति), लिङ्गेन विना भावनिर्वृत्तिः न (भवति) तस्मात् भावाख्यो लिङ्गाख्यो द्विविधः सर्गः प्रवर्तते ॥

भावार्थः - भावैः विना = धर्मादि आठ भावों के विना (धर्मादि के सहित बुद्धि के विना) लिङ्गम् = तन्मात्राओं से उत्पन्न होनेवाला लिङ्गसर्ग (भोग्य शब्दादि और भोगसाधन-शरीर), न भवति = उत्पन्न नहीं होता। उसीप्रकार लिङ्गेन विना = भोग्य शब्दादि और भोगसाधन शरीरों के विना भावनिर्वृत्तिः = धर्मादि भावों की उत्पत्ति और भावविशिष्ट बुद्धि भी भोगसाधन न भवति = नहीं बन पाती। तत्मात् = प्रत्येक के विना दोनों का स्वरूप असंभव होने से भावाख्य धर्मादि बुद्धिसर्ग, लिङ्गाख्यः = शब्दादि शरीरादि तन्मात्रसर्ग यह द्विविधः सर्गः = उपर्युक्त दो सर्गों से युक्त सृष्टि, प्रवर्तते = एक दूसरे का आश्रय करके प्रवृत्त होती है ॥

(२४०) उभयविधसर्गावश्यकत्वप्रदर्शनम्।

"न विना" इति। "लिङ्गम्" इति तन्मात्रसर्गमुपलक्षयति, "भावैः" इति च प्रत्ययसर्गम्। एतदुक्तंभवति-तन्मात्रसर्गस्य पुरुषार्थसाधनत्वं स्वरूपञ्च न प्रत्ययसर्गाद्विना भवति, एवं प्रत्ययसर्गस्य स्वरूपं पुरुषार्थसाधनत्वञ्च न तन्मात्रसर्गादृते, इत्युभयथा सर्गप्रवृत्तिः। भोगः पुरुषार्थो न भोग्यान् शब्दादीन् भोगायतनं शरीरद्वयञ्चान्तरेण सम्भवतीत्युपपन्नस्तन्मात्रसर्गः। एवं स एव भोगो भोगसाधनानीन्द्रियाण्यन्तःकरणानि चान्तरेण न सम्भवति। न च तानि धर्मादीन् भावान् विना सम्भवन्ति। न चापवर्गहेतुर्विवेकख्यातिरुभयसर्गं विना, इत्युपपन्न उभयविधः सर्गः ॥

(२४०) उभय सर्ग की आवश्यकता।

"न विनेति।" 'पूर्वोत्पन्नमसक्तम्०' कारिका में लिङ्ग का अर्थ 'सूक्ष्मशरीर' बताया गया है अतः प्रकृत में भी उसी अर्थ को भ्रमवश कोई न समझ ले इसलिये—"लिङ्गम्" का लाक्षणिक अर्थ बताते—'तन्मात्रसर्गमिति।' 'चित्रं यथा'—४१—कारिका के बुद्ध्यादिको तन्मात्र घटित होने से ही लिङ्गशरीर कहा गया है, अतः तादृश शक्यार्थ से सम्बन्धित होने के कारण लक्षणया 'लिङ्ग' पद का 'तन्मात्र सर्ग' अर्थ करना चाहिये। एवं 'भाव' पद का प्रसिद्ध अर्थ घटादि भावपदार्थ हैं अतः "भावैः" पद का लक्षणया प्रत्ययसर्ग (बुद्धिसर्ग धर्मादिक और विपर्ययादि पचास भेद भी) अर्थ करना चाहिये। तन्मात्र सर्ग और प्रत्ययसर्ग दोनों की आवश्यकता बताते हैं—एक दूसरे के बिना उनका अपना स्वरूप और उनकी अपनी पुरुषार्थ-साधनता नहीं बन पाती—इसी अभिप्राय को प्रकट करने के हेतु कहते हैं—"एतदुक्तं भवति" दोनों सर्गों की आवश्यकता को स्पष्ट कर बताते हैं—तन्मात्रसर्ग (शब्दादि और स्थूल-सूक्ष्म-शरीर) की पुरुषार्थसाधनता (भोग्यत्व और भोगाधिकरणत्व) और स्वरूप, प्रत्ययसर्ग (बुद्धि-

सर्ग-धर्मादि कारण और बुद्धि करण) के विना नहीं निष्पन्न होता। अर्थात् बुद्धिरूप करण के विना शब्दादिकों में भोग्यता और धर्मादिकारण के विना शब्दादिकों और शरीरादिकों के स्वरूप की उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी। उसी तरह प्रत्ययसर्ग (धर्मादि और बुद्धि) की क्रमशः स्वरूपोत्पत्ति और भोगात्मक पुरुषार्थ की साधनता तन्मात्रसर्ग के विना (शब्दादि और स्थूल-सूक्ष्मशरीर के विना) नहीं हो सकती अर्थात् शब्दादिविषय के विना और शरीर के विना धर्माधर्मादि उत्पन्न नहीं हो सकते, एवं बुद्धि की भोगसाधनता भी नहीं बन सकती। इस प्रकार एक दूसरे के विना एक दूसरे के स्वरूपादि की सिद्धि न हो सकने के कारण तन्मात्रसर्ग (लिङ्गसर्ग) और भावसर्ग (प्रत्ययसर्ग) दोनों होते हैं। उभयविधसर्ग के विना भोग ही संभव नहीं अतः वही एक दूसरे पर निर्भर रहने वाले दोनों सर्गों को प्रवर्तित करता है, इसी को दिखाते हैं—"भोग" इति। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारात्मक भोगरूप पुरुषार्थ, शब्दादि भोगविषयों और भोगाधिकरण रूप स्थूलसूक्ष्म दोनों शरीरों के विना सम्पन्न हो ही नहीं सकता, इसलिये शब्दाद्यात्मक और शरीरात्मक तन्मात्रसर्ग सिद्ध होता है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा—'भोगः, विषयायतनादिसापेक्षः, तद्विनाऽनुपपद्यमानधर्मत्वात्।' उसी प्रकार जो शब्द, शरीरादिसापेक्ष हो वही भोग है। वह, भोगसाधन चक्षुरादि-इन्द्रिय और बुद्धि आदि अन्तःकरण के विना संभव नहीं, अतः भोग से करणों की सिद्धि होती है। उसी प्रकार वे करण, धर्माधर्मादि भावों के विना संभव नहीं। सर्वत्र कार्यमात्र के प्रति धर्माधर्मात्मक अदृष्ट कारण होने से सर्ग के प्रारम्भ में करणों की प्राप्ति भी अदृष्ट के ही अधीन है, अतः करणों को भी अपने स्वरूप का लाभ धर्मादि के विना होना संभव नहीं। इस प्रकार भोगात्मक पुरुषार्थ के द्वारा भोग्य, भोगायतन और भोगसाधनों की सिद्धि बताकर अब अपवर्गात्मक पुरुषार्थ के द्वारा दोनों सर्गों की सिद्धि करते हैं—'न चापवर्गहेतुरिति।' आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप अपवर्ग और उसका हेतु अर्थात् साक्षात् निमित्तकारण जो 'आत्मा प्रकृत्यादिभिन्नः' इत्याकारक जो विवेकख्याति (सत्त्वपुरुषान्यताज्ञान), वह भी पदार्थतत्त्वज्ञान के विना नहीं हो पाती। वह पदार्थतत्त्वज्ञान भी 'विषयतासंबंध' से विषयसापेक्ष है, 'अवच्छेदकता संबन्ध' से शरीरसापेक्ष है, और 'अधिकरणतासंबन्ध' से बुद्धिसापेक्ष है, 'निमित्तकारणतासंबन्ध' से अदृष्टादिसापेक्ष है, अतः वह (पदार्थतत्त्वज्ञान) उभयसर्ग (भावसर्ग-तन्मात्रसर्ग) के विना संभव नहीं, इसलिये मोक्षजनक विवेकख्याति के द्वारा भावाख्य-लिङ्गाख्य उभयविध सर्ग की आवश्यकता सिद्ध होती है।

शंका—धर्मादि भावों को शरीर की अपेक्षा और शरीर को धर्मादि भावों की अपेक्षा होती है, अतः अन्योन्याश्रय दोष होने से दोनों को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(२४१) उभयविधसर्गे अन्योन्याश्रयदोष-परिहारः।

अनादित्वाच्च बीजाङ्कुरवन्नान्योन्याश्रयदोषमावहति, कल्पादावपि प्राचीनकल्पोत्पन्नभावलिङ्गसंस्कारवशाद्भावलिङ्गयोरुत्पत्तिर्नानुपपन्नेति सर्वमवदातम् ॥ ५२ ॥

(२४१) उभयविधसर्ग के संबन्ध में अन्योन्याश्रय दोष का परिहार।

समा०—'अनादित्वाच्च बीजाङ्कुरवदिति।' बीजाङ्कुर की तरह यह सृष्टिप्रवाह अविच्छिन्न (अनादि) है। बुद्धि अनादि होने से उसका संयोग भी अनादि है, (२१ वीं कारिका 'पुरुषस्यदर्शनार्थम्' में संयोग-परम्परा की अनादिता बताई है) तब संसारप्रवाह भी अनादि होने से उभयविध यह सर्ग भी बीजाङ्कुर की तरह (प्रथम बीज या प्रथम अङ्कुर इसका निर्णय न हो सकने पर भी अन्योन्याश्रय

दोष जैसे नहीं माना जाता वैसे ही) अन्योन्याश्रय दोष से दूषित नहीं हो पाता। यह 'दूषण' यहां पर भूषण है।

शंका—कल्प के आरम्भ में न कोई भाव होगा और न कोई शरीर ही, ऐसी स्थिति में परस्पर सापेक्षता कैसे बताई गई ?

समा०—'कल्पादावपीति।' कल्प के आरम्भ में अर्थात् ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में (सृष्टि के आरम्भ में) इससे पूर्वकल्प के उत्पन्न धर्मादि भाव और उसके अनुमापक शरीर दोनों के सम्बन्ध करानेवाले बुद्धिस्थ चिरस्थायी वासनात्मक संस्कार, उन संस्कारों के कारण सृष्टि के आरम्भ में भावों और तदनुमापक शरीरों की उत्पत्ति सिद्ध होती है। इसी प्रकार प्राचीन कल्प के आरम्भ में भी प्राचीनतर कल्प के भाव लिङ्ग वासना के कारण सर्ग होता है, उसी प्रकार पूर्व-पूर्व भी रहा है। एवं च परस्परसापेक्ष उभय विध सर्ग की उत्पत्ति में कोई प्रतिबन्धक नहीं है, यह सब स्पष्ट है ॥ ५२ ॥

(२४२) भूतसर्ग-विभागः। — **विभक्तः प्रत्ययसर्गः। भूतादिसर्गं विभजते-**

(२४२) भूतसर्ग का विभाग।

'विभक्तः प्रत्ययसर्ग' इति। प्रत्ययसर्ग (बुद्धि सर्ग) अर्थात् बुद्धि के धर्मादि आठ परिणाम जो विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि के रूप में परिणत होते हैं और 'भावसर्ग' के नाम से कहे जाते हैं—उन सबका अवान्तर भेद के सहित, विभाग बता चुके। अब 'भूतादिसर्ग'—अर्थात् तन्मात्र-जन्य स्थूलभूतों का जो पहिले से प्रसिद्ध चेतनविशिष्ट सर्ग है, उसका विभाग किया जा रहा है—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

अन्व—दैवः अष्टविकल्पो भवति, तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति, मानुषकश्चैकविधः भवति, (इति) समासतो भौतिकः सर्गः ॥

भावार्थः—'दैव' = देवानामयं दैवः अर्थात् देवताओं का सर्ग, 'अष्टविकल्पः'—अष्टौ विकल्पाः यस्मिन् सः अर्थात् ब्राह्म, प्राजापत्यादि भेद से आठ प्रकार का है। 'च' = और 'तैर्यग्योनः'—तिर्यग्योनौ भवः अर्थात् पशुपक्षियों का सर्ग (सृष्टि) 'पञ्चधा' = पांच प्रकार का होता है। और 'मानुषकः' = मानुष्याणामयं, मनुष्ययोनौ भवो वा—मानुषकः = मनुष्यों का (सर्ग = सृष्टि), 'एकविधः' = एक प्रकार का होता है। 'इति' = इस प्रकार, 'समासतः'=संक्षेप से, 'भौतिकः'= पञ्चभूतविकार शरीरों का सर्ग (चौदह प्रकार का) भवति = होता है।

(२४३) तत्र-(१) देवोऽष्टविधः। — **'अष्टविकल्प' इति। ब्राह्मः, प्राजापत्यः, ऐन्द्रः, पैत्रः, गान्धर्वः, याक्षः, राक्षसः, पैशाचः, इत्यष्टविधो "दैवः" सर्गः ॥**

(२४५) (१) दैवसर्ग आठ प्रकार का है।

'ब्राह्म' इति। ब्रह्मा के सत्य, तपस्, जन नाम के लोकों में जो सर्ग (सृष्टि) उसे 'ब्राह्म सर्ग' कहते हैं। दक्षादि प्रजापति के महर्लोक में जो सर्ग, उसे 'प्राजापत्यसर्ग' कहते हैं। इन्द्र के स्वर्गलोक में जो सर्ग उसे 'ऐन्द्र' सर्ग कहते हैं। अर्यमादि पितरों के लोक में जो सर्ग, उसे 'पैत्र सर्ग' कहते हैं। 'सोमाधाराश्च पितरः' वचन के अनुसार

इसी पैत्रलोक को ही 'चन्द्रलोक' कहते हैं। 'मेरोः पृष्ठे गन्धर्वा वसन्ति' इस उक्ति के अनुसार मेरु-पृष्ठ पर स्थित गन्धर्वलोक में जो सर्ग उसे 'गान्धर्वसर्ग' कहते हैं। वरुणलोक में जो सर्ग उसे 'याक्ष सर्ग' कहते हैं। अतलादि पातालों में जो सर्ग उसे 'राक्षस और पैशाच सर्ग' कहते हैं। उपर्युक्त ये सब देवयोनि होने से उसे 'दैवसर्ग' कहा जाता है।

(२४४) (२) तैर्यग्योनः पञ्चधा।

"तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति," पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराः इति ॥

(२४४) (२) तैर्यग् योनसर्ग के पांच प्रकार।

अब तिर्यग् योनि का सर्ग पांच प्रकार का बताते हैं—'पश्विति।' पशुः—सखुर चतुष्पद अथवा ग्राम्य चतुष्पद गवाश्वादि पशु, और मृगः—अखुर विविधपद मूषक-गिलहरीप्रभृति अथवा आरण्यक चतुष्पद हरिणादि मृग, पक्षीः—पंखवाले गृध्रादि पक्षी, सरीसृपः—अल्पचरण या चरणरहित सर्प, वृश्चिक आदि अथवा हृदयादि से रेंगनेवाले सरीसृप-सर्प आदि। स्थावरः—प्रायः प्रत्यक्ष चेष्टारहित वृक्षादि स्थावर हैं। बनमानुष-जलमानुष आदि को तिर्यग् योनि में समझना चाहिये। तरु-लता-गुल्मादि घटादि पदार्थों को स्वतः गति न होने से स्थावरों में गिनना चाहिये।

(२४५) (३) मानुष एकविधः।

"मानुषकश्चैकविधः" इति, ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरजातिभेदाविवक्षया, संस्थानस्य चतुर्ष्वपि वर्णेष्वविशेषात् इति "समासतः" संक्षेपतः "भौतिकः सर्गः"। घटादयस्त्वशरीरत्वेऽपि स्थावरा एवेति ॥ ५३ ॥

(४५) (३) मानुष सर्ग एक प्रकार का है।

'मानुषकश्चैकविधः' इति। ब्राह्मणादि भेद से मनुष्यों के चार प्रकार रहने पर भी जैसे पशुओं के अवान्तर भेद की विवक्षा नहीं की गई वैसे ही यहां भी अवान्तर भेद (ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व-वैश्यत्वादि) की विवक्षा नहीं की गई है। केवल मनुष्यत्व की दृष्टि से मानुष सर्ग को एकविध कहा गया है। क्योंकि मुखहस्तपादादि आकृतिरूपसंस्थान ब्राह्मणादि चारों में तथा वर्णसंकरों में भी समान रूपसे पाया जाता है।

'समासतः' का अर्थ किया 'संक्षेपतः'। अर्थात् विस्तार से जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज योनियों में चौरासी लाख प्रकार का सर्ग समझना चाहिये। यह सभी प्रकार का सर्ग भौतिक अर्थात् स्थूल पंचभूतविकारात्मक सर्ग कहा जाता है। ऊपर घटादिकों की स्थावर शरीरों में गिनती की गई है किन्तु 'शीर्यते रोगेण विनाश्यते इति इति शरीरम्' यह शरीर की व्युत्पत्ति है, तब घटादि की गिनती शरीरमें कैसे की जा सकेगी ? उत्तर देते हैं - 'घटादयस्त्विति।' घटादि को भोगायतन शरीर न कह सकने पर भी 'तिष्ठन्तीति स्थावराः' व्युत्पत्ति के अनुसार यहां 'स्थावर' शब्द शरीरपरक नहीं है। अतः वृक्ष-घट आदि पदार्थों की गणना स्थावरों में की गई है ॥ ५३ ॥

(२४६) भौतिकसर्गे गुणभेदादूर्ध्वाधोमध्यभावकथनम्।

भौतिकस्यास्य सर्गस्य चैतन्योत्कर्षनिकर्षतारतम्याभ्यामूर्ध्वाधोमध्यभावेन त्रैविध्यमाह—

'तन्मात्रसर्ग' जब समान है तब सुखादि तारतम्य क्यों होता है? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ कहते हैं—'भौतिकस्यास्येति।' भूतविकारात्मक इस चेतनसम्बन्धित सर्ग की धर्मादिनिमित्तकसत्त्वादिवैषम्यप्रयोज्य-चैतन्य के उत्कर्ष-निकर्ष के तारतम्य से अर्थात् 'चेतन एव चैतन्यम्' = आत्मा, उसका उत्कर्ष = सत्त्वाधिक्यसम्बन्ध और निकर्ष= अपकर्ष अर्थात् रज-तम दोनों में से किसी एक का अधिकसम्बन्ध, इस तरह का जो तारतम्य (भेद) उस तारतम्य से ऊर्ध्वाधोमध्य-भावेन = ऊर्ध्वं स्वर्गादिलोकों में, अधः = पातालादिलोकों में, मध्ये = भूतलादि लोकों में जो भाव = जन्म होता है, अतः उसका (भौतिकसर्ग का) त्रैविध्य (तीन प्रकार) बताया जा रहा है—

(२४६) भौतिकसर्ग में गुणभेद से ऊर्ध्वभाव अधोभाव मध्यभाव का कथन।

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

अन्व०—ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः सर्गः, मूलतः तमोविशालः सर्गः, मध्ये रजोविशालः सर्गः (सोऽयं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः (भवति)।

भावार्थः—'ऊर्ध्वं' = उच्चैः सर्ग अर्थात् देवसर्ग, 'सत्त्वविशालः' = सत्त्वप्रचुर, अर्थात् रज और तम के रहने पर भी सत्त्वगुण की प्रधानता इसमें रहती है, ऐसी 'सर्गः' = सृष्टि होती है। तात्पर्य यह है—देवता सत्त्वप्रधान होते हैं। 'मूलतः' = नीचैः सर्ग अर्थात् तिर्यग्योनि की सृष्टि अपकृष्टता की अन्तिम स्थिति होने से 'मनुष्यों' की अपेक्षया अपकृष्ट 'पशु' होते हैं, उनसे अपकृष्ट 'पक्षी', उनसे अपकृष्ट 'वृक्ष', उनसे अपकृष्ट 'लता', उनसे अपकृष्ट 'तृणादि', इस प्रकार तृण से लेकर पशु तक तैर्यग्योनसर्ग तमोगुणप्रधान होता है। इसमें सत्त्व-रज के रहनेपर भी तमोगुण की अधिकता रहती है। उसी प्रकार मूलतः अर्थात् पाताल लोक से लेकर रसातल, महातल, तलातल सुतल, वितल, अतललोक तक नाग, दैत्य, राक्षसादिसर्ग भी तमःप्रधान होता है। 'मध्ये' = मध्यलोक भूतल पर मनुष्यों का सर्ग, 'रजोविशालः' = रजोगुणप्रधान होता है। इसमें सत्त्व-तम के रहने पर भी धर्माधर्मप्रवृत्तिपरता दिखाई देने से रजोगुण की अधिकता समझ में आती है। (सोऽयं) 'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः' = ब्रह्मदेव, पितृ, मनुष्य, राक्षस, दैत्य, पशु, पक्षी, स्थलचर, जलचर, वृक्ष, तृणादि तक समस्त लोक गुणत्रय से व्याप्त हैं! श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा भी है—

"न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥" (१८।४०) ॥

"ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः" इति। द्युप्रभृतिसत्यान्तो लोकः सत्त्वबहुलः। "तमोविशालश्च मूलतः सर्गः", पश्वादिस्थावरान्तः, सोऽयम्मोहमयत्वात्तमोबहुलः। भूर्लोकस्तु सप्तद्वीपसमुद्रसन्निवेशो "मध्ये रजोविशालो" धर्माधर्मानुष्ठानपरत्वाद् दुःखबहुलत्वाच्च। तामिमां लोकसंस्थितिं संक्षिपति "ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः", स्तम्बग्रहणेन वृक्षादयः संगृहीताः ॥ ५४ ॥

(२४७) ऊर्ध्वं सत्त्वप्रधानाः-मध्ये रजःप्रधानाः-अन्ते तमप्रधानाः।

'ऊर्ध्वं सत्त्वविशाल' इति। इस का अर्थ करते हैं—'द्युप्रभृतीति'। 'द्यौः'=अन्तरिक्ष अर्थात् पृथ्वी के समीप भुवर्नाम का लोक, उसके ऊपर स्वर्, महर्, जनस्, तपस्, सत्यलोक तक का सर्ग सत्त्वगुणप्रधान होता है। एवं च भुवर्लोक से सत्य लोक तक के छह लोकों में क्रमशः सत्त्व का उत्कर्ष अधिक रहता है।

(२४७) ऊर्ध्व में सत्त्व-प्रधान, मध्य में रजः-प्रधान, अधोलोक में तमः-प्रधान रहते हैं।

'तमोविशालश्च मूलतः सर्गः' का अर्थ करते हैं "पश्वादिस्थावरान्तः" इति। पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप, वृक्ष, लतादि-स्थावरान्त सर्ग तमोगुणप्रधान है क्योंकि यह 'मोहमय' (मोहप्रधान) है। मोह की प्रधानता से इस तमोगुण की प्रधानता का अनुमान किया जाता है। पाताल से अतल तक नाग-राक्षसादिकों का सर्ग भी तामस होता है, क्योंकि तामस मांसादि उन्हें प्रिय होते हैं।

'मध्ये' शब्द से भूलोक का ग्रहण करना चाहिये। इस भूलोक में जम्बू, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मल, प्लक्ष, पुष्कर नाम के सात द्वीप, और लवण, इक्षु, सुरा, सर्पि, दधि, मण्ड, क्षीर नाम के सात समुद्र हैं, इस प्रकार का यह मध्यलोक रजोगुणप्रचुर होता है, क्योंकि यहां पर लोक यज्ञ-यागादि धर्मानुष्ठान तथा हिंसामदिरादि अधर्मानुष्ठान में तत्पर रहते हैं। इनमें अधिकांश दुःख दिखाई पड़ने से यह दुःखप्रद राजस सर्ग है ऐसा अनुमान किया जाता है। इस प्रकार चतुर्दश लोकों में विभक्त किये गये स्थानों को संक्षेप से एक ही शब्द के द्वारा दिखाया है—'ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्यन्तः' ब्रह्मा से लेकर तृण तक। 'स्तम्ब' से वृक्षादिकों का संग्रह किया गया है। एवं च—चतुर्दश भुवनात्मक यह ब्रह्माण्ड, विशिष्ट सत्त्व-रजस्तमः सर्गात्मक होता है॥ ५४॥

(२४८) सर्गस्य दुःख-हेतुता।

तदेवं सर्गं दर्शयित्वा तस्यापवर्गसाधनवैराग्योपयोगिनीं दुःखहेतुतामाह—

(२४८) सर्ग की दुःखहेतुता

इस प्रकार विभिन्न जातीय धर्माधर्मात्मक भौतिकसर्ग और भावसर्ग का अच्छी तरह वर्णन करने के पश्चात् उसकी दुःखरूपता बताई जा रही है क्योंकि उसकी दुःखरूपता का निश्चित ज्ञान होने पर ही उसके (सर्ग के) प्रति 'वैराग्य' पैदा हो सकता है, वह वैराग्य ही मोक्ष का मुख्य साधन है।

तत्र जरामरणकृतं दुःखम्प्राप्नोति चेतनः पुरुषः।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद्दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

अन्व०—तत्र लिङ्गस्य अविनिवृत्तेः चेतनः पुरुषः जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति, तस्मात् स्वभावेन दुःखं भवति॥

भावार्थ—'तत्र'=विभिन्नजातीयसर्ग के शरीरों में, 'लिङ्गस्य'=सूक्ष्मशरीर की 'अविनिवृत्तेः'=निवृत्ति न होने से (क्योंकि सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध सर्वत्र है), 'चेतनः'=बुद्ध्यादिजड़पदार्थों से भिन्न रहने पर भी, 'पुरुषः'=पुरुष, 'जरा-मरणकृतम्'=बुढापा (जर्जरितावस्था) और शरीरत्यागरूपीमृत्यु के कारण (उससे होनेवाला), 'दुःखम्'=आध्यात्मिकादिदुःखों को, 'प्राप्नोति'=भोगता रहता है। 'तस्मात्'=लिङ्गशरीर का सम्बन्ध रहने के कारण, 'स्वभावेन'—स्वस्य=आत्मनः 'भावः'=औपाधिकधर्मः—तेन, यह दुःख स्वाभाविकतया बुद्धि का धर्म है लेकिन बुद्धि के सम्बन्ध से आत्मा में प्रतीत होता है॥

कुछ लोग 'लिङ्गस्याविनिवृत्तेः'=यहां पर 'आविनिवृत्तेः' पदच्छेद कर लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) की निवृत्तिपर्यन्त-ऐसा अर्थ करते हैं। संसार में स्वभाव से ही दुःख है अर्थात् 'सर्ग' स्वत एव दुःखरूप हैं। भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः"—(यो. सू. २।१५) यहां 'परिणाम' शब्द से जरादि-दुःख और 'ताप' शब्द से मरणत्रासदुःख समझने चाहिये।

"तत्र" इति। 'तत्र' शरीरादौ। यद्यपि विविधविचित्रानन्दभोगभागिनः प्राणभृद्भेदाः तथाऽपि सर्वेषां जरामरणकृतं दुःखमविशिष्टम्। सर्वस्य खलु कृमेरपि मरणत्रासो-'मा न भूवम्' 'भूयासम्' इत्येवमात्मकोऽस्ति। दुःखं च भयहेतुरिति दुःखम्मरणम्॥

'तत्रे' ति।' 'तत्र' का अर्थ है 'शरीरादौ'। विभिन्न शरीरों में और विभिन्न विषयों में सुख भी होता है—ऐसी आशंका करते हुए जरा-मरण का दुःख सर्वसाधारण है – यह बताते हैं—'यद्यपी'ति। यद्यपि कुछ प्राणी अनेक प्रकार के स्त्रीसुखादि के आनन्द को पाते रहते हैं, तथापि सभी प्राणियों को जरामरण कृत दुःख तो समानरूप से रहता है। सुख के असमान रहने पर भी मरणदुःख तो सभी को समान रहता है। 'जरा' का स्वरूप महर्षि याज्ञवल्क्यने बताया है—"अवेक्ष्या गर्भवासाश्च कर्मजा गतयस्तथा। आधयोव्याधयः क्लेशाः जरा रूपविपर्ययः॥" मरणत्रास बताते हैं सर्वस्येति। अत्यन्त अज्ञ कृमि तक समस्त प्राणधारियों को भी मरण का त्रास—मा न भूवम्'—मेरा नाश न हो, 'भूयासम्'—सदैव मैं जीवित रहूँ—इस प्रतीति से यह स्पष्ट है कि मरण का भय—सभी को रहता है।

भय का हेतु तो 'दुःख' है, उसका अनुमान भय से किया जाता है—'सर्वे, मरणदुःखवन्तः, मरणत्रासवत्त्वात्'। निकष्कर्ष यह है कि मरण दुःखप्रद है।

(२४९) प्राकृतगुणभूत-दुःखादीनां पुरुषेण सह सम्बन्धप्रदर्शनम्।

स्यादेतत्-दुःखादयः प्राकृता बुद्धिगुणा', तत्कथमेते चेतनसम्बन्धिनो भवन्तीत्यत आह-"पुरुष" इति। पुरि लिङ्गे शेते इति पुरुषः, लिङ्गञ्च तत्सम्बन्धीति चेतनोऽपि तत्सम्बन्धी भवतीत्यर्थः॥

किन्तु दुःख तो आत्मधर्म नहीं है, तब उनका आत्मा से सम्बन्ध कैसे बताया जाता है?

(२४९) प्रकृतिके गुणभूत दुःख आदि का पुरुष के साथ सम्बन्ध।

इसी आशंका को व्यक्त करते हैं—'स्यादेतदिति।' शंका—दुःख-सुख-मोह तो बुद्धि के स्वाभाविक (प्राकृत–प्रकृति = स्वभावतज्जन्य) धर्म हैं, तब (बुद्धि के स्वाभाविक धर्म होने के कारण) ये दुःखादिक चेतन (पुरुष) से संबन्धित कैसे होते हैं? समा०—'पुरुष' इति। चेतन पुरुष होने के कारण। अर्थात् पुरि = लिङ्गशरीर में शेते = सोता है (रहता है)। अभिप्राय यह है—लिङ्गशरीर में प्रधानभूत जो बुद्धि, उसमें प्रतिबिम्ब रूप से वह रहता है। लिङ्ग शरीर का दुःखादिकों से तादात्म्य हो जाता है—(लिङ्गं च तत्सम्बन्धि भवति), इसलिये चेतन भी 'स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्व' सम्बन्ध से तत्सम्बन्धी हो जाता है, अर्थात् पुरुष के साथ दुःखादिकों का साक्षात्सम्बन्ध न रहने पर भी परम्परया सम्बन्ध रहता ही है।

(२५०) पुरुषप्रकृतिभेदाग्रहनिबन्धनः पुरुषे दुःखाध्यसायः।

कुतः पुनर्लिङ्गसम्बन्धि दुःखम्पुरुषस्य चेतनस्येत्यत आह—"लिङ्गस्याविनिवृत्तेः"—पुरुषाद्, भेदाग्रहाल्लिङ्गधर्मानात्मन्यध्यवस्यति पुरुषः। अथवा दुःखप्राप्ताववधिराङ कथ्यते, लिङ्गं यावन्न निवर्तते तावदिति ॥ ५५ ॥

शंका—सभी सर्गों में सदैव पुरुष (चेतन) को लिङ्गशरीर से सम्बन्धित दुःख क्यों होता है ? 'कुतः पुनरिति'।

(२५०) पुरुष में दुःख का अध्यवसाय पुरुष और प्रकृति के भेदाऽग्रह से।

समा०—'लिङ्गस्याविनिवृत्तेरिति।' सभी सर्गों में लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) का अनुगमन होते रहने से (लिङ्ग शरीर की निवृत्ति न होने से) सभी सर्गों में सदैव दुःख रहता ही है। ऐसे लिङ्ग शरीर में प्रतिबिम्ब के रूप में वर्तमान रहने के कारण उसे भेदाऽग्रहात्मक जो अज्ञान, उस अज्ञानके कारण वह दुःख का अनुभव करता रहता है 'पुरुषादिति।' पुरुषप्रतियोगिकभेद बुद्धि के द्वारा गृहीत न होने से बल्कि 'बुद्धिः आत्माऽभिन्ना'—इत्याकारक प्रभेदग्रह होने से लिङ्गधर्मों की (बुद्धि के दुःखादि धर्मों को) पुरुष अपने में समझता रहता है। एवं च 'अविनिवृत्तेः' का अर्थ 'अभेदाऽग्रहात्' वाचस्पति मिश्र को अभिप्रेत है।

'लिङ्गस्याऽऽविनिवृत्तेः' में लिङ्गस्य आविनिवृत्तेः'—ऐसा पदच्छेद कर व्याख्या करते हैं—'अथवेति'। 'आङ्' उपसर्ग का अर्थ 'अवधि' है और 'विनिवृत्ति' का अर्थ 'निवृत्ति' करते हैं। एवं च—लिङ्गशरीर की निवृत्ति होने तक दुःख की प्राप्ति होती रहती है। इसी बात को कहते हैं—'लिङ्गं यावन्न निवर्तते तावदिति'—जब तक लिङ्गशरीर का लय नहीं होता तब तक दुःख का अनुभव चेतन करता रहता है। जैसे तपे हुए लोहे के गोले को देखकर अग्नि और लोहे में भेदग्रह नहीं हो पाता, इस कारण अदाहक लोहे को दाहक कहा जाता है, वैसे ही बुद्धि और चेतन दोनों एकरूप भासित होने से दुःखादि धर्मों के साथ आत्मा का वस्तुतः कोई सम्बन्ध न रहने पर भी उसमें सुखी-दुःखी व्यवहार किया जाता है। जब वस्तुतः भेदग्रह (भेदज्ञान) से भ्रमात्मक अभेदज्ञान का नाश होता है तब दुःखनिवृत्ति होती है ॥ ५५ ॥

(२५१) सृष्टिकारणविप्रतिपत्तिनिराकरणम्।

उक्तस्य सर्गस्य कारणंविप्रतिपत्तीर्निराकरोति—

(२५१) सृष्टिके मूल कारण का निर्धारण करने में विप्रतिपत्तियों का निराकरण।

भावसर्ग और लिङ्गसर्ग के मूलकारण के विषय में विप्रतिपत्तियों का (पूर्वोक्त उभयविध सर्ग, ईश्वराधिष्ठित प्रकृतिकृत है ? अथवा ब्रह्मकृत है ? अथवा अकारण है ? इत्यादि विरुद्धवादियों के मतों को) प्रकृतिकारणवाद का प्रतिपादन कर निराकरण करते हैं—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ ५६ ॥

अन्व०—इत्येषः प्रकृतिकृतः महदादिविशेषभूतपर्यंन्तः स्वार्थे इव प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं परार्थे आरम्भो भवति ॥

भावार्थ—'इति' = इस प्रकार 'एषः' = मूलप्रकृति के द्वारा तादात्म्य के आकार में प्रकट किया हुआ महदादिविशेषभूतपर्यन्तः' महत्तत्व से लेकर स्थूलभूतों तक (महत्तत्त्व, अहंकार, मन—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश) का सर्ग = सृष्टि, 'स्वार्थे इव' = जैसे अपने प्रयोजन के लिये वैसे ही, 'प्रतिपुरुष-विमोक्षार्थम् = पुरुषं पुरुषं प्रति इति प्रतिपुरुषम्, प्रतिपुरुषस्य यो विमोक्षः तदर्थम्—प्रत्येक पुरुष को मोक्ष देने के लिये; परार्थे = पर = पुरुष के प्रयोजन के लिये 'आरम्भः' = सर्ग = सृष्टि, प्रकृति के द्वारा ही की जाती है। अभिप्राय यह है—समस्त सृष्टि का कारण केवल 'प्रकृति' ही है, तदतिरिक्त अन्य कोई नहीं। वह सृष्टि उसने (प्रकृति ने) अपने लिये की है—ऐसा भासित होने पर भी वास्तव में वह (उसके द्वारा की गई सृष्टि) दूसरे (पुरुष) के लिये ही है। सांख्यसूत्रकार भी इसी बात को कहते हैं—'प्रधानसृष्टिपरार्थंस्वतोऽप्य-मोक्तृत्वाद् उष्ट्र कुङ्कुमवहनवत्'—(सां० सू० ३।५८)

(२५२) चार्वाकवेदान्त-न्यायमतदूषणम्।

"इत्येष" इति । आरभ्यते इति "आरम्भः" सर्गः महदादिभूतान्तः प्रकृत्यैव कृतो नेश्वरेण, न ब्रह्मोपादानो, नाप्यकारणः । अकारणत्वे ह्यत्यन्तभावोऽत्यन्ताभावो वा स्यात् । न ब्रह्मौपादानः, चितिशक्तेरपरिणामात् । नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतो, निर्व्यापारस्याधिष्ठातृत्वासम्भवात् । न हि निर्व्यापारस्तक्षा वास्याद्यधितिष्ठति ॥

(२५२) चार्वाक, वेदान्त और न्याय के मत में दोष प्रदर्शन।

'इत्येष' इति । 'आरम्भः' यहां कर्मणि प्रत्यय प्रदर्शित करने के लिये 'आरम्भ' पद की व्युत्पत्ति करते हैं—'आरभ्यते' इति । आरभ्यते = आविर्भाव्यते यः सः 'आरम्भः'। 'आरम्भ' का अर्थ है—'सर्ग'—जिस सर्ग (महत्तत्त्व से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त) को मूलप्रकृति ने ही किया है। अर्थात् यह सृष्टि प्रकृत्युपादानक ही है (सृष्टि का उपादान कारण मूलप्रकृति ही है)। 'प्रकृत्यैव कृतः' यहाँ 'एव' कार का व्यवच्छेद्य बताते हैं 'नेश्वरेणेत्यादि।' सृष्टि के भिन्न-भिन्न उपादान कारणों को माननेवालों में से माध्वमत का 'नेश्वरेण' से निरास किया है—ईश्वराधिष्ठितप्रकृति, सृष्टि का कारण नहीं है। शांकरमत का खण्डन करते हैं—'न ब्रह्मोपादान इति।'—ब्रह्म एव उपादानं यस्य सः = ब्रह्मोपादानः—सृष्टि का उपादान कारण ब्रह्म भी नहीं है। असत्कारणवादी बौद्ध-मत और स्वभाववादी चार्वाकमत का खण्डन करते हैं—'नाऽप्यकारण' इति—नास्ति किञ्चिदपि भावात्मकं कारणं यस्य सः—सृष्टि का कारण 'असत्' नहीं और 'स्वभाव' भी नहीं क्योंकि सृष्टि को अकारण अर्थात् स्वाभाविक मानने पर उसे नित्य मानना होगा—'अत्यन्त-भाव' का अर्थ है 'नित्य'। किन्तु सृष्टि (जगत्) तो सावयव और रूपवान् है, अतः उसका उत्पत्ति—विनाश अवश्यंभावी होने से उसे नित्य कैसे माना जा सकेगा ? 'अत्यन्ताभाव' का अर्थ 'असत्त्व' है। जो अकारण होगा उसकी उत्पत्ति होना शशविषाण की तरह असंभव है, लेकिन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध जगत् को इस प्रकार अलीक (असंभव) मानना उचित नहीं है। अनुमान प्रयोग—'सर्गः न अकारणकः व्यवस्थितकार्यत्वात्'। उक्तहेतु को 'अप्रयोजक'

भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'सर्गो यदि अकारणकः स्यात् तदा नित्यत्वम् असत्त्वं वा स्यात्'—यह अनुकूल तर्क है।

'सृष्टि' को यदि ब्रह्मोपादानक (सृष्टि का उपादान कारण ब्रह्म) मानेंगे तो उपर्युक्त दोनों दोष (नित्यत्व और अलीकत्व) नहीं होंगे—ऐसा यदि कहा जाय तो उस भ्रम के निवारणार्थ 'न ब्रह्मोपादान' कह कर ब्रह्मोपादानकत्व का एक बार निषेध कर चुकने पर भी पुनः दोषप्रदर्शनार्थ निषेध करते हैं—'न ब्रह्मोपादानः चितिशक्तेरपरिणामात्' इति। अपरिणामिनी चितिशक्ति चेतन ब्रह्म) का परिणाम होना ही संभव नहीं अतः उसमें (ब्रह्म में) सर्ग की उपादान कारणता नहीं बन सकती। यदि कदाचित् उसके संभव होने का आग्रह ही हो तो उसका (ब्रह्म का) स्वरूप (ब्रह्मत्व) ही नष्ट होने का प्रसंग आवेगा। अनुमानप्रयोगः—'ब्रह्म न जगत्कारणम् अपरिणामित्वात्'।

उपर्युक्त दोष के निरसनार्थ पातञ्जलयोगसूत्रकार कहते हैं—प्रकृति ही ईश्वराधिष्ठित होकर सृष्टि का कारण है—यह मानने पर पूर्वोक्त दोष नहीं होंगे। अतः ईश्वराधिष्ठित प्रकृतिकारणकत्व का भी निषेध कर पुनः दोष प्रदर्शित करते हैं—'नेश्वराधिष्ठितप्रकृतिकृतः, निर्व्यापारस्य अधिष्ठातृत्वाऽसंभवात्' इति। 'व्यापार' का अर्थ है 'क्रिया'। निर्धर्मक = व्यापारशून्य आत्मा में 'अधिष्ठातृत्व' असंभव है, तब ईश्वर में तो अधिष्ठातृत्व अत्यन्त ही असंभव होगा, अतः सृष्टि कभी भी ईश्वराधिष्ठित प्रकृति से पैदा नहीं हो सकती। अनुमानप्रयोगः—'ईश्वरः प्रकृत्यधिष्ठाता भवितुं नार्हति, निर्व्यापारत्वात्'। अभिप्राय यह है—पातञ्जल योग का यह सिद्धान्त है कि प्रकृति, अचेतन होने से उसकी स्वतः प्रवृत्ति तो हो नहीं सकती किन्तु चेतन ईश्वर के अधिष्ठान से ही उसकी प्रवृत्ति होती है। इस सिद्धान्त को दूषित करने के लिये कहते हैं—जब कि वह (चेतन ईश्वर) कुछ करता ही नहीं तब वह अधिष्ठाता कैसे हो सकता है? योगशास्त्र में भी ईश्वर को निर्व्यापार माना है। अधिष्ठान का अर्थ है 'आश्रयण'—आश्रय करना, यह भी एक व्यापार विशेष ही है। अतः जो निर्व्यापार होगा उसमें आश्रयणरूप व्यापारविशेष का कर्तृत्व कैसे संभव हो सकेगा?

इसी को (व्यापार न करनेवाले में वस्तुविशेष का आश्रयण करना भी असंभव है) दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं—"नहीती।" निर्व्यापार अर्थात् कुछ काम न करने वाला तक्षा, (बढाई) वास्यादि—(वाशी-कुठार आदि) आयुध विशेष का आश्रय नहीं करता, किन्तु जब वह सक्रिय (काम करता है) होता है तभी वह उन आयुधों का आश्रय करता है 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' श्रुति से स्पष्ट है कि ब्रह्म—ईश्वर आदि तो निष्क्रिय है।

ननु प्रकृतिकृतश्चेत्, तस्या नित्यायाः प्रवृत्तिशीलाया अनुपरमात् सदैव सर्गः स्यादिति न कश्चिन्मुच्येतेत्यत आह—

(२५३) नित्यप्रवृत्तिशीलप्रकृतसृष्टिपक्षे संसृतिनित्यत्वस्यानिर्मोक्षस्य च प्रसङ्गशङ्का तन्निरासश्च ॥

"प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः" इति। यथौदनकाम ओदनाय पाके प्रवृत्तः ओदनसिद्धौ निवर्तते, एवं प्रत्येकम्पुरुषान् मोचयितुम्प्रवृत्ता प्रकृतिर्यं पुरुषम्मोचयति तम्प्रति पुनर्न प्रवर्तते, तदिदमाह—'स्वार्थ इव', स्वार्थे यथा तथा परार्थे आरम्भ इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

अब अपने पक्ष में वेदान्ति प्रभृतियों ने उपन्यस्त किये दोषों के वारणार्थं प्रकृति कारण-वाद में भी शंका करते हैं—'ननुप्रकृतिकृतश्चेदिति ।' यदि प्रकृति से सृष्टि (सर्ग) होती है तो उस प्रकृति के नित्य होने से प्रवृति करते रहना तो उसका स्वभाव ही रहेगा तब सदैव ही वह प्रवृत्तिशील रहेगी, उसका (प्रवृत्ति का) कभी उपरम (विराम) ही नहीं होगा। तब सदैव (नत्य ही) सर्ग (सृष्टि) होता रहेगा। ऐसी स्थिति में कोई भी आत्मा, मुक्त नहीं हो—पायगा—यह आपत्ति आवेगी।

(२५३) नित्यप्रवृत्ति-शील प्रकृतिकृत सृष्टि के पक्ष में संसत नित्यत्व और अनिर्मोक्ष के प्रसंग की आशंका पूर्वक उसका निराकरण।

समा०—'प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः' इति। प्रकृति के द्वारा अपने लिए ही (अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए ही) वह सृष्टि की गई हो—ऐसा प्रतीत होता है परन्तु उसका (प्रकृति का) अपना कोई स्वार्थ न होने से वह अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये सृष्टि नहीं करती—यह वस्तुस्थिति है। 'स्वार्थे इव' कह कर तो दृष्टान्त प्रदर्शित किया है। जैसे—कान्ता सोचती है कि 'मैं पुरुष की भोग्य बनूँ'—अहं पुरुषेण भोग्या भवानि—तदनुसार स्वकर्मक भोगरूप स्वार्थ में प्रवृत्त होती है, वैसे ही प्रत्येक पुरुष की (पुरुषं पुरुषं प्रति इति प्रति पुरुषं-तस्य= प्रतिपुरुषस्य) मुक्ति कराने के लिए प्रकृति परार्थ साधन के लिये (पुरुषाय अपवर्गो दातव्यः—पुरुष को अपवर्ग देना है—यही परार्थ है) प्रवृत्त होती है। एवं च, पहले भोग देकर पश्चात् परार्थरूप मोक्ष भी करा देती है अतः प्रकृति प्रत्येक पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के लिये सृष्टि करती रहती है। अतः मुक्त न होने का कोई प्रसंग ही नहीं है।

दृष्टान्त के द्वारा इसी का उपपादन करते हैं—'यथौदनेति'। जैसे ओदन (भात) की कामना करने वाला आदमी ओदन बनाने के लिये पाक निष्पत्ति में प्रवृत्त होता है और ओदन बन जाने पर (चावल पक जाने पर) पाकक्रिया से निवृत्त हो जाता है, वैसे ही प्रकृति भी एक-एक पुरुष को मुक्ति देने के लिए प्रवृत्त होती है। और जिस पुरुष को मुक्ति देती है अर्थात् भोग देकर मुक्ति दे देती है तो उस पुरुष से वह (प्रकृति) निवृत्त हो जाती है। अभिप्राय यह है—उस पुरुष को भोग देने के लिये उसकी (प्रकृति की) पुनः प्रवृत्ति नहीं होती। इसी बात को दृष्टान्त के द्वारा बताने के लिए 'स्वार्थे इव' इति। जैसे—चेतनासंपन्न कान्ता भोग्यता-संम्पादनरूप स्वार्थ के लिये अनुकूल रहती है वैसे ही प्रकृति भी अपना कुछ स्वार्थ न रहने पर भी अपने स्वार्थ की तरह ही अपवर्गात्मक परार्थ के लिये सदैव अनुकूल रहती हैं, परार्थ (दूसरे के प्रयोजन) का विघात नहीं करती। एवं च—केवल, प्रकृति कारणवाद में पुरुष के मोक्ष न होने का कोई प्रसंग ही नहीं है ॥ ५६ ॥

स्यादेतत् 'स्वर्थं परार्थं वा चेतनः प्रवर्तते। न च प्रकृतिरचेतनैवं भवितुमर्हति, तस्मादस्ति प्रकृतेरधिष्ठाता चेतनः। न च क्षेत्रज्ञाश्चेतना अपि प्रकृतिमधिष्ठातुमर्हन्ति, तेषां प्रकृतिस्वरूपानभिज्ञत्वात्। तस्मादस्ति सर्वार्थदर्शी प्रकृतेरधिष्ठाता, स चेश्वर' इत्यत आह—

(२५४) अचेतनप्रधान-प्रवृत्तिशङ्का।

अब माध्व-शैव-पाशुपतादिकों के मत से आशंका की जाती है—स्वार्थ या परार्थ साधन के लिये चेतन की ही प्रवृति हो सकती है। अनुमानप्रयोगः—'प्रवृत्तिः चेतनप्रयुक्ता प्रवृत्तित्वात्, देवदत्तप्रवृतिवत्। प्रकृति तो अचेतन (जड़) है, वह इस प्रकार स्वप्रयोजन या पर-प्रयोजन के उद्देश्य से प्रवृत्ति हो नहीं सकती इसलिये जड़ प्रकृति

(२५४) अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति में आशंका

का प्रवर्तक कोई स्वार्थ साधक या परार्थ साधक चेतन अधिष्ठता है। अनुमानप्रयोगः—'प्रकृति-प्रवृत्तिः, चेतनप्रयुक्ता, प्रवृत्तित्वात्, रथप्रवृत्तिवत्।' यदि कहें कि क्षेत्रज्ञ—क्षेत्रं = शरीरं जानन्ति ये ते क्षेत्रज्ञाः अर्थात् जीवात्मा चेतन ही प्रकृति के अधिष्ठाता हैं, तो यह ठीक नहीं। क्षेत्रज्ञ (चेतन जीव)—क्षेत्रेण शरीरेण स्थूलेन सूक्ष्मेण च अर्पितं विषयं जानन्ति साक्षात्कुर्वन्ति ये ते क्षेत्रज्ञाः—भी प्रकृति के अधिष्ठाता नही बन सकते, क्योंकि प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न, अल्पज्ञ जीवात्माएँ (पुरुष), सभी शरीरों में (क्षेत्रों में) समान रूप से व्यापक तथा अनेक रूपों से युक्त जो प्रकृति का स्वरूप है, उससे अनभिज्ञ हैं। अनुमानप्रयोगः—'क्षेत्रज्ञः न प्रकृतिप्रवर्तकः, तत्स्वरूपाऽनभिज्ञत्वात्।' आत्माओं को यदि प्रकृति के स्वरूप का अभिज्ञ मान लिया जाय तो उन्हें प्रकृति—पुरुष दोनों की विवेकख्याति (भेदज्ञान) ही हो गई कहना पड़ेगा। प्रकृति के स्वरूप की अनभिज्ञता होने से ही प्रकृति की सभी बातों को पुरुष अपना ही समझता रहता है, ऐसी स्थितिमें क्षेत्रज्ञ (पुरुष -जीवात्मा) प्रकृति को अधिष्ठित करने में कैसे समर्थ हो सकेंगे। अतः प्रकृतिस्वरूप की अनभिज्ञता के कारण जीवात्मा तो प्रकृति के अधिष्ठाता हो नहीं सकते, इसलिये सभी सर्गों (सृष्टि) में यच्च यावत् शरीरों के समस्त प्रयोजनों का जो प्रत्यक्ष द्रष्टा हो उसे ही प्रकृति का अधिष्ठाता मान लेना चाहिये। अनुमानप्रयोगः—प्रकृतिप्रवृत्तिः, कारणाऽपरोक्षज्ञान-चिकीर्षा-कृतिमदधिष्ठातृप्रयुक्ता, कार्यानुकूल-प्रवृत्तित्वात्, चक्रप्रवृत्तिवत्'—एवं गुण विशेषण विशिष्ट समस्त प्रयोजनों (अर्थ) का द्रष्टा एक मात्र ईश्वर ही हो सकता है, तो प्रकृति का अधिष्ठाता वही ईश्वर है, उसी के द्वारा अधिष्ठित हुई प्रकृति, सृष्टि निर्माण में प्रवृत्त होगी। चेतनईश्वर से अधिष्ठित हुए विना प्रकृति (जड़ होने के कारण) स्वयं कैसे प्रवृत्त हो सकती है ? इस आशंका के सामाधानार्थ निम्न कारिका उपस्थित हो रही है—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥ ५७॥

अन्वयः—यथा वत्सविवृद्धिनिमित्तम् अज्ञस्य क्षीरस्य प्रवृत्तिः, तथा पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानस्य प्रवृत्तिः भवति॥

भावार्थः—अचेतन पदार्थ की भी परप्रयोजनार्थ प्रवृत्ति हुआ करती है, जैसे 'वत्सविवृद्धि-निमित्तम्' = वत्स (बछड़े) के संवर्धन हेतु, 'अज्ञस्य' = वत्स के स्वरूप से अनभिज्ञ अत एव जड होकर भी 'क्षीरस्य' = गोदुग्ध की 'प्रवृत्ति' = निःस्वार्थ प्रवृत्ति होती है 'तथा' = उसी तरह, 'पुरुषविमोक्षनिमित्तम्' = शरीरस्थ चेतन के मोक्षार्थ 'प्रधानस्य' = जड प्रकृति की भी 'प्रवृत्तिः' = प्रवृत्ति होती है। अतः चेतनप्रयुक्त होने से प्रवृत्ति होती है—नहीं कहा जा सकता, क्योंकि क्षीरप्रवृत्ति में चेतनप्रयुक्तत्व नहीं है उसी तरह प्रकृतिप्रवृत्ति में भी चेतन प्रयुक्तत्व की कल्पना नहीं की जा सकती, अतः चेतन से अधिष्ठित हुए विना ही दूध की तरह पुरुष के मोक्ष के लिये 'प्रधानस्य' = प्रकृति की 'प्रवृत्तिः' = प्रवृत्ति 'भवति' = होती रहती है।

इसी बात को सूत्रकार भी कहते हैं—'अचेतनत्वेऽपि क्षीरवत् चेष्टितं प्रधानस्य' 'कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः'—का. सू. ३।५९,६०।

(२५५) तत्परिहारः- क्षीरप्रवृत्तिवत्तस्याः- प्रवृत्तिः। "वत्सविवृद्धिनिमितम्" इति। दृष्टमचेतनमपि प्रयोजनम्प्रतिप्रवर्तमानं, यथा वत्सविवृद्ध्यर्थं क्षीर-मचेतनम् प्रवर्त्तते। एवम्प्रकृतिरचेतनाऽपि पुरुष-विमोक्षणाय प्रवर्तिष्यते॥

'वत्सविवृद्धिनिमित्तम्' की व्याख्या करते हैं—'दृष्टमि'ति। जैसे चेतन किसी प्रयोजन के उद्देश्य से प्रवृत्त होता है, वैसे ही अचेतन अर्थात् जड वस्तु भी प्रयोजन—चाहे वह (प्रयोजन) अपना हो या किसी दूसरे का हो—के उद्देश्य से ही प्रवृत्त होती हुई लोकव्यवहार में दिखाई देती है। जैसे—स्तन पान करने वाले बछड़े के जीवन के लिये बछड़े के स्वरूप से अभिन्न न रहने वाला अचेतन (जड़) दूध भी गाय के स्तन के बाहर क्षरणात्मक प्रवृत्ति करता है, उसी प्रकार अचेतन (जड़) प्रकृति भी शरीरस्थ जीवात्मा (पुरुष) की मुक्ति के निमित्त भोगापवर्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करेगी। अतः पूर्वपक्षी के उपर्युक्त अनुमान में व्यभिचार हो गया, क्योंकि पक्ष में (क्षीरप्रवृत्ति में) हेतु (प्रवृत्तित्व) तो है किन्तु (पक्ष में) साध्य (चेतन प्रयुक्तत्व) नहीं है—अतः पूर्वपक्षी के अनुमान—'प्रकृतिः चेतनप्रयुक्ता प्रवृत्तित्वात् देवदत्तप्रवृत्तिवत्'—में व्यभिचार होने से 'प्रवृत्तित्व' रूप हेतु से प्रकृतिप्रवृत्तिरूप पक्ष में चेतन-प्रयुक्तत्वरूप साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती।

(२५५) उक्त आशंका का परिहार—क्षीर प्रवृत्ति की तरह प्रधान की प्रवृत्ति होती है।

अभिप्राय यह है—'यद् यद् अचेतनं चेतनानधिष्ठितम्, तत्र परार्थप्रवृत्तिमत् यथा घटादि' इस व्याप्ति को ध्यान में रखकर पूर्वपक्षी ने जो अनुमान किया 'प्रधानं चेतनाधिष्ठितम् परार्थप्रवृत्तिमत्त्वात्'—उसे दूषित करने के लिये अर्थात् वस्तुतः वह अनुमान नहीं है बल्कि अनुमानाभास है, यह बताने के लिये पूर्वोक्त व्याप्ति में ही व्यभिचार दिखाया गया है। दूध किसी चेतन से अधिष्ठित न रहने पर भी उसमें परार्थ प्रवृत्तिमत्त्व देखा जाता है अर्थात् अपने बछड़े के पोषणार्थ दूध स्वयं ही क्षरित होता है। अतः उपर्युक्त व्याप्ति में व्यभिचार स्पष्ट हो जाने से 'अचेतनं प्रधानं, चेतनाधिष्ठितम्, परार्थप्रवृत्तिमत्त्वात्' इस पूर्वोक्त अनुमान को प्रमाम कैसे माना जा सकता है अर्थात् वह अनुमानाभास है।

न च-'क्षीरप्रवृत्तेरपीश्वराधिष्ठाननिबन्धनत्वेन साध्यत्वान्न साध्येन व्यभिचार' इति साम्प्रतम्। प्रेक्षावतः प्रवृत्तेः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्तत्वात्। ते च जगत्सर्गाद्व्यावर्तमाने प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वमपि व्यावर्तयतः। न ह्यवाप्तसकलेप्सितस्य भगवतो जगत् सृजतः किमप्यभिलषितम्भवति। नापि कारुण्यादस्य सर्गे प्रवृत्तिः, प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम्? सर्गोत्तरकालं दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयत्वं दूषणम्,-कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति। अपि च करुणया प्रेरित ईश्वरः सुखिन एव जन्तून् सृजेन्न विचित्रान्। 'कर्मवैचित्र्याद्वैचित्र्यम्' इति चेत्-कृतमस्य प्रेक्षावतः कर्माधिष्ठानेन, तदनधिष्ठानमात्रादेवाचेतनस्यापि कर्मणः प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तत्कार्यशरीरेन्द्रियविषयानुत्पत्तौ दुःखानुत्पत्तेरपि सुकरत्वात्॥

(२५६) ईश्वराधिष्ठित प्रधानसृष्टौ दोषाः।

इस पर ईश्वराधिष्ठित प्रकृतिकारणवादी उपर्युक्त व्यभिचार का वारण करता है—'न च क्षीरप्रवृत्तेरि'ति। दुग्ध (क्षीर) की बहिर्निःसरणक्रियात्मक प्रवृत्ति भी ईश्वराधिष्ठिति से प्रयुक्त है, क्योंकि सर्वत्र व्यापक ईश्वराधिष्ठितिप्रयुक्तत्वरूप साध्य है ही। साध्य की संदिग्धता के कारण संदिग्ध जो चेतनप्रयुक्तत्व (चेतनाधिष्ठानप्रयोक्तृत्व)

(२५७) ईश्वराधिष्ठित-होकर प्रधान से सृष्टि

रूप साध्य, उससे युक्त होनें के कारण क्षीर भी पक्ष के अन्तर्गत है।—'साध्येन व्यभिचारः— साध्यते अस्मिन् इति साध्यम् = पक्षः तेन—साध्य का (किसी वस्तु का) साधन किया जाता है जिस पर उसे साध्य (पक्ष) कहते हैं।—क्षीररूप पक्ष में व्यभिचार (साध्याभाववद्-वृत्तिहेतुः—साध्याभावाधिकरण में हेतु का रहना)—'साधारण व्यभिचार' दोष नहीं दे सकते। क्योंकि यह नियम है—'नहि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारो दोषत्वेनाश्रियते।' इस पर भी यदि वहां दोष का आग्रह ही हो तो पक्ष में सदैव साध्य का सन्देह रहने से (संदिग्धसाध्यवान् पक्षः) अनुमान का उच्छेद ही हो जायगा। अतः उपर्युक्त व्यभिचार-दोष देना उचित (साम्प्रत) नहीं है। क्यों उचित नहीं है? प्रश्न करने पर अनौचित्य का हेतु बताते हैं—'प्रेक्षावतः' इति। प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति अर्थात् कारणापरोक्षज्ञान—चिकीर्षा—कृतिमान् (कृतिविशिष्ट) से (कारण से) प्रयुक्त जो कार्यानुकूल क्रिया, स्वार्थ (प्रयोजन) और कारुण्य (दयालुता) से व्याप्त (व्याप्य) रहती है। प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति विना स्वार्थ—कारुण्य के नहीं होती अर्थात् दोनों की व्याप्ति है। अनुमानप्रयोग—'पाकाद्यर्थिका देवदत्तप्रवृत्तिः क्षुन्निवृत्तिरूपस्वार्थप्रयुक्ता प्रवृत्ति-त्वात् मदीयपाकार्थप्रवृत्तिवत्'। एवं च—स्वार्थ-कारुण्य से रहित होने के कारण कारणापरोक्ष-ज्ञानचिकीर्षाकृतिमान् चेतन ईश्वर प्रवर्तक हो नहीं सकता। और चेत्रज्ञ जीवात्माओं की प्रवर्तकता तो प्रकृतिस्वरूप की अनभिज्ञता के कारण पहिले ही खण्डित की जा चुकी है अतः **ईश्वरानधिष्ठित प्रकृति स्वयं ही प्रवृत्त होती है।**

संसार की सृष्टि करने में स्वार्थ—कारुण्य रूप 'व्यापक' के अभाव से प्रेक्षावदधिष्ठितप्रवृत्ति-मत्त्वात्मकव्याप्य का भी अभाव रहेगा—इसी को बताते हैं—'ते चेति।' जगत् के सर्जन में स्वार्थ और कारुण्य (व्यापक) के न रहने पर (व्यावृत्त रहने पर) वह (स्वार्थ और कारुण्यरूपव्यापका-भाव) व्याप्य की भी (प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्व की भी) व्यावृत्ति (निवृत्ति) कर देता है। यहां व्यापक है—स्वार्थ और कारुण्य एवं व्याप्य है प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्व, = 'प्रेक्षा' का अर्थ है—कारणाऽपरोक्षज्ञान, तद्वान् चेतन, जो माध्वादिकों का अभिमत ईश्वर, उसकी प्रवृत्ति (प्रयत्न) तत्पूर्वकत्व = तत्प्रयुक्तत्व अर्थात् तज्जन्यत्व। एवं च—ईश्वर, स्वार्थ और कारुण्य से रहित होने के कारण उसमें प्रवृत्तिमत्प्रकृत्यधिष्ठातृत्व का होना असंभव है। अब ईश्वर में स्वार्थ की असंभवता दिखाते हैं 'नह्यवाप्तेति।' लोकव्यवहार में देखा जाता है कि मनुष्य सुख की अभिलाषा से प्रवृत्त होते हैं, अप्राप्त सुखादिस्वार्थ को प्राप्त करना मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा रहती है। भगवान् (ईश्वर) को तो उसके समस्त अभिलषित सदैव प्राप्त रहते हैं, तब जगत्सर्जन में प्रवृत्त हुए ईश्वर का कोई स्वार्थ (प्रयोजन—अभिलषित) तो हो नहीं सकता क्योंकि वह तो पूर्णकाम है, इसलिये वह प्रयोजन शून्य (निःस्वार्थ) है अर्थात् जगत्सर्जन में ईश्वर का अपना कोई स्वार्थ नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर में करुणा भी नहीं है—'नापीति'। करुणा (कारुण्य) के कारण अर्थात् दयालुता के कारण सृष्टिरचना में ईश्वर की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। करुणा से उसकी प्रवृत्ति कहें तो 'अन्योन्याश्रय' दोष उपस्थित होगा—'प्राक्सर्गादिति'। सर्ग से पूर्व (सर्ग के प्राग्भाव के समय) जीवचेतनों के श्रोत्रादिप्रकाशकेन्द्रियों और स्थूल-सूक्ष्म शरीर के शब्दादिभोग्य विषयों की उत्पत्ति ही संभव नहीं, और तत्प्रयुक्त दुःख भी संभव नहीं तब किस (दुःख) के दूर (विनाश) करने की इच्छा (करुणा) ईश्वर में रहेगी? अर्थात् करुणा का कोई विषय ही नहीं तब करुणा की उसमें कैसे कल्पना की जा सकती है?

अगर यह कहें कि सृष्टि की उत्पत्ति के अनन्तर जीवों को दुःखी देख कर उसे (ईश्वर को) करुणा होती है, और उस करुणा से प्रेरित होकर प्रकृति को वह प्रेरित करता है, तब तो इतरे-तराश्रय (अन्योन्याश्रय) दोष प्राप्त होगा—अर्थात् सृष्टि के लिये करुणा पैदा हुई और कारुण्य

से सृष्टि पैदा हुई। ईश्वर में कारुण्य (दयालुता) की कल्पना करने से एक और दूसरा दोष होगा—'अपिचेति'। अगर ईश्वर करुणा से प्रेरित होकर प्रकृति के द्वारा सृष्टि करे तो समस्त प्राणियों को सुखी ही सुखी बनावेगा। किसी को सुखी तो किसी को दुःखी नहीं बनावेगा। अर्थात् सृष्टि की दृश्यमान विचित्रता उपपन्न नहीं हो सकेगी—यह एक दोष हुआ। दूसरा दोष यह होगा कि समस्त संसार (सृष्टि) जब सुखी ही सुखी पैदा होगा तब संसार की त्रिगुणात्मकता के सिद्धान्त का व्याघात होगा—इस रीति से दो दोष होंगे।

इस पर भी यदि यह कहें कि प्राणियों के विभिन्न प्रकार के विभिन्न कर्मों (शुक्ल कर्म, कृष्ण कर्म, शुक्ल-कृष्ण कर्म) की सहायता से ईश्वर प्राणियों की (किसी को सुखी, किसी को दुःखी, तो किसी को मोहित) विचित्र सृष्टि कर सकता है।

इस पर उत्तर यह होगा कि धर्माऽधर्मादि अदृष्ट से ही सृष्टिरचना के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति हो जायेगी, तब प्रेक्षावान् (कारणाऽपरोक्षज्ञानादिविशिष्ट) ईश्वर को कर्माधिष्ठाता मानने की क्या आवश्यकता ? कर्म का अर्थ है क्रिया-कार्य। कार्यानुकूल प्रवृत्तिमत्प्रकृति का उसे अधिष्ठाता मानने की कोई आवश्यकता नहीं। धर्माधर्म (पुण्यापुण्य) से ही प्रकृति की प्रवृत्ति हो जायेगी। एवं च, माध्वादिको का अभिमत ईश्ववर, जिसे वे अधिष्ठाता के रूप में प्रकृति का प्रवर्तक मानते हैं, अन्यथासिद्ध हो जायेगा—यह भी एक दोष है।

इस पर भी यदि कहें कि प्राणियों का कर्म तो स्वयं जड है, अतः वह (कर्म) भी ईश्वराधिष्ठित होकर ही प्रकृति को प्रवृत्त (प्रेरित) करता है, अतः ईश्वर को अन्यथासिद्ध नहीं कहा जा सकेगा।

इस प्रकार अन्यथासिद्धि के निवारण करने पर भी 'चक्रकापत्ति' होगी, इस दोष को दूर नहीं किया जा सकेगा। 'चक्रक' का प्रकार'करुणा', दुःख से होगी, 'दुःख', शरीर-विषय आदि से होगा, 'शरीर-विषय आदि', सकरुण ईश्वराधिष्ठितकर्म वैचित्र्य से होंगे, ईश्वर में 'करुणा' पुनः दुःख से होगी—यह 'चक्रक' दोष है।

दूसरी बात यह भी है कि माध्व आदिकों के मत में ईश्वर से दयालुता (कारुण्य) ही नहीं बन सकती, तब तद्विशिष्ट ईश्वर में अधिष्ठातृत्व भी संभव नहीं होगा। जब उसमें प्रकृत्यधिष्ठातृत्व नहीं बन सकेगा तो सृष्टि भी अनुपपन्न हो जायेगी—'तदनधिष्ठाने'ति। सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व कर्म से उत्पन्न होने वाले शरीरों का आभाव था, यह स्वीकार करना ही होगा। अब शरीर ही नहीं तब दुःख किससे होंगे ? अर्थात् दुःख भी नहीं थे कहना होगा, और दुःख नहीं तब करुणा क्यों कर होगी ? जब करुणा नहीं तब उससे (करुणा से) प्रेरित ईश्वर में उस समय (सृष्टि के पूर्व) कर्माधिष्ठातृत्व (कर्माधिष्ठाता होना) कैसे सम्भव हो सकेगा। क्योंकि सकरुण ईश्वर को कर्माधिष्ठाता माना गया है, करुणारहित ईश्वर को नहीं। अतः उस समय (सृष्टि के पूर्व) ईश्वर से अनधिष्ठित केवल जडकर्म से ही प्रकृति की प्रवृत्ति होती है—यह कहना होगा—तब 'माध्वादिकों' के सिद्धान्त का भंग हो जायेगा, क्योंकि उनका तो सिद्धान्त है—ईश्वराधिष्ठित कर्म, प्रकृति का प्रवर्तक होता है। उस सिद्धान्त के अनुसार उनके (मध्वादिकों के) मत में तो ईश्वरानधिष्ठित-शुक्लाऽशुक्लादि जड कर्म से प्रकृति की सृष्ट्यनुकूलक्रियात्मक प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। उन् विचित्र कर्मों के कार्यभूत शरीर-इन्द्रियों-विषयों की भी उत्पत्ति नहीं होगी, उनकी उत्पत्ति न होने पर दुःख की भी उत्पत्ति नहीं होगी—यह बात अनायास ही समझ में आ जाती है। दुःख के न होने से करुणा भी नहीं पैदा होगी, करुणा पैदा न होने के कारण ईश्वर, कर्मों को भी प्रेरित नहीं करेगा, उसका परिणाम (फल) यह होगा कि सृष्टि कभी पैदा ही नहीं होगी। अर्थात् सृष्टि का उच्छेद ही हो जायगा।

(२५७) प्रकृति सृष्टौ तद्दे याभावः।

प्रकृतेस्त्वचेतनायाः प्रवृत्तेर्न स्वार्थानुग्रहो न वा कारुण्यम्प्रयोजकमिति नोक्तदोषप्रसङ्गावसरः। पारार्थ्यमात्रन्तु प्रयोजकमुपपद्यते। तस्मात् सुष्ठूक्तम्—"वत्सविवृद्धिनिमितम्' इति ॥ ५७ ॥

(२५७) प्रकृति से सृष्टि मानने पर उक्त दोष नहीं होते।

किन्तु क्षीर की तरह चेतन से अधिष्ठित हुए विना ही जड प्रकृति स्वयं ही प्रवृत्त होती है—यह मानने वाले हम सांख्यों के मत में तो अचेतन (जड) मूल-प्रकृति की सृष्टयनुकूल प्रवृति का प्रयोजक उसका स्वार्थानुग्रह (स्वार्थ सिद्धि) नहीं है क्योंकि उसका (प्रकृति का) अपना कोई स्वार्थ ही नहीं है। और न ही उसकी (प्रकृति की) कोई करुणा (कारुण्य) ही प्रयोजक है। करुणा का अर्थ है दुःख दूर करने की इच्छ। करुणा की उसे (प्रकृति को) आवश्यकता ही नहीं। एवं च—क्षीर-जल, वायु आदि जडपदार्थों की प्रवृत्ति विना स्वार्थ और करुणा के ही देखी जाती है। उसी प्रकार अचेतन प्रकृति की भी प्रवृत्ति, स्वार्थ और करुणा के विना ही होती है—यही कल्पना करना उचित है। ऐसी कल्पना करने से 'नोक्तदोषप्रसंगावसरः' अर्थात् ईश्वरवादी के मत में दिये गये अन्योन्याश्रय', 'चक्रक', 'अन्यथासिद्धि', 'सृष्ट्युच्छेदादि' पूर्वकथित दोषों का प्रसंग सांख्यवादी के मत में नहीं आ पाता।

जडप्रकृति का प्रवर्तक कौन होगा? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं—'परार्थ्यमात्रं तु प्रयोजकमिति।' परस्य अर्थः परार्थः—तस्य भावः = पारार्थ्यम्—पारार्थ्यमेव इति पारार्थ्यमात्रम्। पर अर्थात् पुरुष, उसका जो अर्थ—प्रयोजन (मोक्ष) वही प्रकृति का प्रवर्तक-(प्रयोजक है)। एकमात्र पारार्थ्य (मोक्ष) ही, सृष्टयर्थ प्रकृति का प्रेरक है। अतः इश्वराधिष्ठितप्रकृतिकारणत्ववादी के मत में अन्योन्याश्रयादि दोषों के कारण और सांख्यवादी के मत में दोप का लेश भी न होने से सांख्याचार्यों ने जो कहा है—वत्सविवृद्धिरूप परार्थ साधन के लिये जैसे जड दूध प्रवृत्त होता है—वैसें ही चेतनानधिष्ठित भी जड प्रकृति प्रवृत्त होती रहेगी—यह दोषरहित कथन युक्तियुक्त ही है ॥ ५७ ॥

(२५८) पुरुषविमोक्षार्थम प्रधानस्य प्रवृत्तिः।

"स्वार्थ इव" इति दृष्टान्तितम् [कारिका ५६] तद्विभजते—

(२५८) पुरुष के मोक्षार्थ प्रधान की प्रवृत्ति।

पूर्व कारिका में जो दृष्टान्त बताया गया था कि 'प्रवृति स्वार्थ के समान ही परार्थ के लिए प्रवृत्त होती है' उसी को उदाहरण देकर और अधिक स्पष्ट कर रहे हैं—अर्थात् 'स्वार्थ इव' इस दृष्टान्त को निम्न कारिका के द्वारा स्पष्ट कर रहे है—

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—यथा लोकः औत्सुक्यनिवृत्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते, तद्वत् अव्यक्तं पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते।

भावार्थः—यथा = जैसे, लोकः = मनुष्य, औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं = अपनी इच्छापूर्ति के लिये, क्रियासु = अभीष्ट कर्तव्यकार्य में- प्रवर्तते=प्रवृत्त होता है, तद्वत = उसी प्रकार, अव्यक्तम्=

मूलप्रकृति, पुरुषस्य = चेतन के, विमोक्षार्थम् = भोग देकर मुक्ति देने के लिये, प्रवर्तते = सृष्टि करती है।

"औत्सुक्य-" इति। औत्सुक्यमिच्छा, सा खल्विष्यमाणप्राप्तौ निवर्तते। इष्यमाणश्च स्वार्थः, इष्टलक्षणत्वात् फलस्य। दार्ष्टान्तिके योजयति—"पुरुषस्य विमोक्षार्थम्प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्" इति॥ ५८॥

"औत्सुक्य" इति। 'औत्सुक्य' का अर्थ है इच्छा। इदं मे भवतु, 'इदं मे भवतु'—इत्याकारक ज्ञानवितति' = ज्ञानपरम्परा को इच्छा कहते हैं, वह 'इच्छा' बुद्धि का धर्म है। वह (इच्छा) अपने अभिलषित प्रयोजन की प्राप्ति होने पर निवृत्त हो जाती है, क्योंकि—'यद्विषयक ज्ञान, तद्विषयिणी इच्छा' होती है और 'यद्विषयिणी इच्छा, तद्विषयिणी प्रवृत्ति' होती है। अतः इच्छा[1] (औत्सुक्य) के शान्त (निवृत्त) होने पर प्रवृत्ति भी शान्त (निवृत्त) हो जाती है। कौमुदी के 'इष्यमाण' शब्द का अर्थ बताते हैं—"इष्यमाणश्च स्वार्थः" इति। 'स्वस्य अर्थः = स्वार्थः' = अपना प्रयोजन। जैसे स्वार्थ = अपना प्रयोजन—इष्यमाण = चाहा जाता है उसी तरह परार्थ = दूसरे का प्रयोजन भी इष्यमाण = चाहा जाता है। अर्थात् स्वार्थ साधन में लोग जैसे तत्पर रहते हैं वैसे ही सज्जन लोग परार्थ साधन में भी तत्पर रहते हैं। तात्पर्य यह है कि 'इष्यमाण' (इच्छा के विषय)—स्वार्थ, परार्थ दोनों हुआ करते हैं। इसलिये 'स्वार्थ' शब्द का, स्वार्थ—परार्थ उभयसाधारण अर्थ बताते हैं—'इष्टलक्षणत्वात् फलस्येति'। एवं च 'स्वार्थ' शब्द का अर्थ हुआ 'इष्ट फल।' जो इच्छा का विषय हो उसे 'इष्ट' कहते हैं। 'इष्टलक्षणत्वात् फलस्य' यहाँ पर 'पञ्चमी' और 'षष्ठी' का प्रथमा में व्यत्यास करना चाहिये। निष्कर्ष यह हुआ कि मनुष्य जिस स्वार्थ या परार्थ में प्रवृत्त होता है वह (स्वार्थ या परार्थ) उस मनुष्य का इष्टलक्षण फल कहा जाता है। 'इष्टत्वम् इच्छाविषयत्वं, तदेव लक्षणं यस्य फलस्य तत् फलम् इष्टलक्षणम्।' इसलिये लोगों की उसमें प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार लोकप्रवृत्ति के दृष्टान्त को बताकर, प्रकृतिप्रवृत्तिरूपदार्ष्टान्तिक में उसे घटित करते हैं 'पुरुषस्य विमोक्षार्थम्प्रवर्तते तद्वदव्यक्तमिति'। अर्थात् लोकप्रवृत्ति जैसे इष्यमाण फल में होती है, वैसे ही अव्यक्त मूलकारण—प्रधानकी प्रवृत्ति भी पुरुष के मोक्ष के निमित्त सर्ग (सृष्टि) के लिये होती है॥ ५८॥

(२५९) विवेकख्यात्यनन्तरमप्रधाननिवृत्तिः। **ननु भवतु पुरुषार्थः प्रकृतेः प्रवर्तकः, निवृत्तिस्तु कुतस्त्या प्रकृतेः? इत्यत आह—**

---

१. औत्सुक्यनिवृत्ति का स्वरूप सुख या दुःखाभाव दोनों में से किसी को भी नहीं कह सकते, तथापि उसे (औत्सुक्यनिवृत्ति को) स्वार्थ कह सकते हैं, क्योंकि इच्छा की निवृत्ति फलप्राप्तिनियत रहती है, किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रधान भी 'मुझे पुरुषार्थ सम्पादन करना है' ऐसी इच्छा होने पर ही पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होगा, और पुरुष को मोक्षसंपादन कराये बिना उसकी पुरुषार्थ सम्पादन की इच्छा (उत्सुकता) निवृत्त नहीं होगी, और इच्छा (उत्सुकता) की निवृत्ति न होना तो इष्ट नहीं, अतः स्वार्थपुरःसर ही उसका यह परार्थ आरम्भ है, किन्तु वह सम्भव नहीं क्योंकि प्रधान तो अचेतन है, उसे इच्छा होना कभी सम्भव नहीं, उसका कोई स्वार्थ नहीं। परन्तु इसका समाधान 'कूलं पिपतिषति' = तीर गिरना चाहता है—के समान उक्त दृष्टान्त को औपचारिक समझना चाहिये।

प्रकृति का प्रवर्तक (सर्गविषयकप्रवृत्तिप्रयोजक) पुरुषार्थ (पुरुषविमोक्ष) है—इतना हमें स्वीकार है, लेकिन उसकी (प्रकृति की) सृष्टिरचना से निवृत्ति (२५९) विवेकख्याति के कैसे होगी ? इस प्रश्न का उत्तर निम्न कारिका के द्वारा अनन्तर प्रधान की निवृत्ति दे रहे हैं—

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

अन्वः०—यथा नर्तकी रङ्गस्य (नृत्यदात्मानं) दर्शयित्वा नृत्यात् निवर्तते, तथा प्रकृतिः पुरुषस्य आत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते ॥

भावार्थः०—'रङ्गस्य' 'पुरुषस्य' दोनों में कर्मणि षष्ठी हैं । यथा = जैसे नर्तकी = नाचने वाली, रङ्गस्य = रङ्गस्थित दर्शकों के सामने (नृत्य करती हुई अपने को), दर्शयित्वा = दिखाकर, नृत्यात् = नृत्य से, निवर्तते = निवृत्त होती है (विरत होती है), तथा = वैसे ही प्रकृतिः=प्रधान (अव्यक्त), भी पुरुषस्य = पुरुष के सामने आत्मानम् = अपने को, प्रकाश्य = प्रकटकर, विनिवर्तते = सदा के लिये निवृत्त हो जाती है । अर्थात् मोक्ष देती है ।

"रङ्गस्य" इति, स्थानेन स्थानिनः पारिषदानुपलक्षयति । 'आत्मानम्' शब्दाद्यात्मना पुरुषाद्भेदेन च प्रकाश्येत्यर्थः ॥ ५९ ॥

'रङ्ग' शब्द का मुख्य अर्थ 'स्थान' है, वह अचेतन होने से नर्तकी का नृत्यदर्शन कैसे कर सकता है अतः उसका 'दर्शन'—क्रिया से सम्बन्ध होना असम्भव है, इसलिये 'रङ्ग' का लाक्षणिक अर्थ बताते हैं—'स्थानेनेति ।' 'रङ्ग' का वाच्यार्थ जो नाट्यस्थान है, उस स्थान पर स्थित पारिषद अर्थात् रङ्गभूमि (नाट्यशाला) पर बैठे पुरुष (लोकसमुदाय)—परिषत् = सभा, उसमें स्थित लोग—उपलक्षित किये जा रहे हैं । (लक्षणावृत्ति के द्वारा बोधित किये गये हैं) ।

शंका—अव्यक्त प्रकृति का अभिव्यक्तिरूप प्रकाश कैसे होगा ?

समा०—'आत्मानमिति' । अव्यक्त प्रकृति, अपने को कार्यरूप से प्रकाशित[1] करती है । शब्द, स्पर्शादिविषयों की सृष्टि के रूप में, अपने को 'पुरुष' के लिये प्रकाशित कर अर्थात् 'पुरुष' के लिये भोग अर्पण कर (देकर) और अपने को पुरुष से भेदेन (भिन्न) प्रकाशित करती है और निवृत्त होती है । अर्थात् 'आत्मा प्रकृतिभिन्नः'—इत्याकारक तत्त्वज्ञानात्मक प्रकाश (विवेकख्याति) करके निवृत्त होती है । पुरुष को भोग और अपवर्ग दिलाने के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति होती है । जब दोनों प्रयोजन सम्पन्न हो जाते हैं तो सदा के लिये—वह (प्रकृति) विरत[2] हो जाती है ॥ ५९ ॥

---

१. अव्यक्त 'प्रधान' (प्रकृति) तत्त्व तो नित्य अनुमेय है अर्थात् अनुमान से ही गम्य है, तब 'आत्मानं प्रकाश्य'—अपने को प्रकट कर—यह कथन कैसे उपपन्न हो सकता है ?

समाधान यह है कि शब्दादि विषय प्रधान के ही परिणाम हैं उनका दर्शन होना ही प्रधान तत्त्व का दर्शन है, इसी प्रकार महत्तत्त्व, अहंकार का भी प्रत्यक्ष होता है । जैसे—हम लोगों को परमाणु का प्रत्यक्ष न होने पर भी उनके (परमाणुओं के) कार्य त्रसरेणु आदि का प्रत्यक्ष होता है उसी तरह प्रधान का प्रत्यक्ष न होने पर भी उसके कार्य शब्दादि का प्रत्यक्ष होता ही है, उसी से प्रधान का प्रत्यक्ष होना मान लिया जाता है ।

२. प्रकृति और पुरुष दोनों व्यापक हैं, तब उनकी संयोग निवृत्ति कैसे हो सकती है ? समाधान यह है कि अविवेक के कारण हुए संयोग की निवृत्ति हो जाती है ।

(२६०) गुणवत्याः प्रकृतेः प्रत्युपकारं विनैव पुरुषोपकारः।

स्यादेतत्—'प्रवर्त्तताम्प्रकृतिः पुरुषार्थम्। पुरुषाद्दुपकृतात्प्रकृतिर्लप्स्यते कञ्चिदुपकारम्, आज्ञासम्पादनाराधितादिवाज्ञापयितुर्भुजिष्या। तथा च न परार्थोऽस्या आरम्भः'—इत्यतआह—

(२६०) प्रत्युपकार के विना ही गुणवती प्रकृति के द्वारा पुरुष पर उपकार।

'प्रकृति', भोगापवर्गात्मक पुरुषार्थ के लिये प्रवृत्त होती है, हमें स्वीकार है, अर्थात् प्रकृति, 'पुरुष' के लिये (परार्थ) प्रवृति होती है, और 'पुरुष' प्रकृति से अपना स्वार्थ लाभ करता है। किन्तु जिस पर (पुरुष पर) प्रकृति ने, भोगापवर्गदान देकर उपकार किया है, उस पुरुष से भी प्रकृति का कुछ प्रत्युपकार अवश्य होना चाहिये। जिस प्रकार लोकव्यवहार में भुजिष्या (दासी) अपने स्वामी की आज्ञा का अक्षरशः पालन कर उसकी सेवा करती हैं और उस सेवा का उस दासी को अपने धनी (स्वामी) से पारितोषिक आदि फल मिलता है, उसी तरह प्रकृति को भी अपने द्वारा उपकृत किये गये 'पुरुष' से कुछ फल अवश्य मिलना चाहिए। अतः प्रकृति की सर्वप्रवृत्ति, केवल—पुरुष के प्रयोजन के लिए ही (प्रकृति की प्रवृत्ति परार्थ है)—नहीं कहा जा सकता। दासी के पारितोषिक लाभ के समान प्रकृति का भी कुछ स्वार्थ (पुरुष के द्वारा उपकार प्राप्ति) अवश्य होगा। इस आशंका के समाधानार्थ निम्नकारिका उपस्थित की जा रही है—

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपाकरिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकञ्चरति ॥ ६० ॥

अन्वयः—(प्रकृतिः) अनुपकारिणः पुंसः नानाविधैः उपायैः उपकारिणी (भवति), गुणवती अगुणस्य सतः तस्य अर्थम् अपार्थकम् चरति ॥

भावार्थः—प्रकृति; 'अनुपकारिणः' = प्रत्युपकार न करने वाले, 'पुंसः' = पुरुष की 'नानाविधैः' = भोग्य-भोगसाधन भोगायतनात्मक अनेक, 'उपायैः' = परिणामों के द्वारा 'उपकारिणी' = केवल परार्थदृष्टि से उपकारक होती है, और वह स्वयं 'गुणमयी' = त्रिगुणमयी-(त्रिगुणात्मिका) है, अतः 'अगुणस्य' = 'गुणरहित ([1]निर्गुण-गुणशून्य), 'सतः' = केवल स्वरूप से रहने वाले, 'तस्य' = चेतन (पुरुष) का 'अर्थम्' = भोगापवर्गरूप प्रयोजन, 'अपार्थकम्' = निःस्वार्थ (प्रत्युपकारशून्य) 'अपगतः अर्थः = प्रत्युपकारः यस्मात् तत् = अपार्थकम्।' 'चरिति' = सम्पादन करती है। जो धनवान् होगा वह दूसरे को धन दे सकता है, निर्धन बेचारा क्या देगा। ऐसे ही भोगापवर्गवती प्रकृति, 'आत्मा' को भोगापवर्ग देती है, 'आत्मा' (पुरुष) तो निर्गुण है, वह उसे क्या दे सकता है? अर्थात् कुछ नहीं दे सकता।

"नाना—" इति। यथा गुणवानुपकार्यपि भृत्यो निर्गुणेऽत एवानुपकारिणि स्वामिनि निष्फलाराधन, एवमियम्प्रकृतिस्तपस्विनी गुणवत्युपकारिण्यनुपकारिणि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमेति पुषार्थमेव यतते न स्वार्थमिति सिद्धम् ॥ ६० ॥

---

१. पुरुष के निर्गुण होने में प्रमाण श्रुति है—"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"।

'नाना' इति। जैसे सत्य, सन्तोष, कार्यकुशलता, परोपकार आदि गुणों से युक्त कोई स्वामिनिष्ठ सेवक (नौकर) कर्तव्यबुद्धि से किसी निर्गुण अतएव अनुपकारी स्वामी (मालिक) की (इस स्वामी से अपने को कुछ लाभ नहीं होना है यह मालूम रहने पर भी) एकनिष्ठ होकर सेवा करता है, उसी प्रकार यह प्रकृति तपस्विनी—भोगापवर्गात्मक परफललाभार्थं, तप्यते = परिणामतापसंस्कारदुःखैः सन्तप्यते यत् तत् तपः (सर्गः) तद्वती—अर्थात् दीन प्रकृति स्वार्थरहित होकर अपने लिये किसी फल की इच्छा न रखकर ही सर्ग (सृष्टि) पैदा करती है। प्रकृति, सुख-दुःख मोहात्मकगुणवती है, अतएव भोगापवर्गात्मक उपकार पुरुष पर करती है, किन्तु 'पुरुष' उसके बदले में कोई प्रत्युपकार नहीं करता, जिससे प्रकृत के द्वारा किया गया भोगापवर्गात्मक उपकार, प्रत्युपकार शून्य (व्यर्थ) होता है। अतः मानना होगा कि यह चेतनपुरुष के प्रयोजनार्थ ही सर्ग (सृष्टि) करती है। अपने प्रयोजन के लिये नहीं ॥ ६० ॥

(१६१) विवेकख्यात्यनन्तरम् प्रधानस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः।

स्यादेतत्—'नर्तकी नृत्यम्परिषद्भ्यो दर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनस्तद्द्रष्टृकौतूहलात् प्रवर्तते यथा, तथा प्रकृतिरपि पुरुषायात्मानं दर्शयित्वा निवृत्ताऽपि पुनः प्रवर्त्स्यति'—इत्यत आह—

(२६१) विवेकख्याति के अनन्तर प्रधान की अत्यन्तिक निवृत्ति

नर्तकी रङ्गमञ्चस्थित (नाट्यशालास्थित) लोगों को अपना नृत्य दिखाकर नृत्य समाप्त कर चुकने पर भी 'पुनः एक बार-पुनः एकबार' इस प्रकार उत्सुक लोगों के साग्रह कहने पर वह पुनः नृत्य प्रदर्शनार्थ प्रवृत्त होती है, वैसे ही—प्रकृति भी चेतन पुरुष के सामने सृष्टिरचना करती हुई अपना स्वरूप दिखाकर सर्ग (सृष्टि) रचान को समाप्त कर चुकने पर भी पुनः अर्थात् विवेकख्याति के अनन्तर सर्गरचना में स्वयं प्रवृत्त होगी। एवं च पुनः संसार की प्राप्ति होगी तब 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतियाँ अनुपपन्न होंगी। इस आशंका के समाधानार्थ निम्न कारिका उपस्थित हो रही है—

प्रकृतेः सुकुमारतरन्न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

अन्वयः—प्रकृतेः सुकुमारतरं किञ्चिदपि नास्तीति मे मतिर्भवति, या दृष्टाऽस्मीति पुनः पुरुषस्य दर्शनं न उपैति।

भावार्थः—'प्रकृतेः'—प्रकृति से अधिक, 'सुकुमारतरम्'[1] = अत्यधिक लज्जाशील, 'किञ्चिदपि' = दूसरी कोई वस्तु, 'नास्ति' = नहीं है, 'इति' = ऐसा 'मे' = मुझ ईश्वरकृष्ण का, 'मति' = निश्चय (विश्वास) है, क्योंकि 'या' = जो प्रकृति, जब, 'दृष्टा 'अस्मि' = 'पुरुषेण अहं दृष्टा अस्मि'—अर्थात् पुरुष के द्वारा मैं देख ली गई, 'इति' = ऐसा जान लेती है, तब 'पुनः' = फिर से दुबारा, 'पुरुषस्य' = पुरुष, के 'दर्शनम्' = दृष्टि में (सामने अर्थात् उसकी भोग्य बनकर) 'न उपैति' = नहीं आती।

---

१. कारिकाकार ने 'सुकुमारतर' पदका प्रयोग किया है, दोनों में से एक के निर्धारण करने में 'तरप्' प्रत्यय किया जाता है, अतः उक्त 'सुकुमारतर' शब्द सुकुमार सापेक्ष होने से दृष्टान्तगर्भित प्रतीत होता है, इसीलिये कौमुदीकार ने 'असूर्यम्पश्याहि' से दृष्टान्त बताया है।

"प्रकृतेः" इति। सुकुमारतरताऽतिपेशलता, परपुरुषदर्शनासहिष्णुतेति यावत्। असूर्यम्पश्या हि कुलवधूरतिमन्दाक्षमन्थरा प्रमादाद्विगलितशिरोञ्चला चेदालोक्यते परपुरुषेण, तदाऽसौ तथा प्रयतते, अप्रमत्ता यथैनां पुरुषान्तराणि न पुनः पश्यन्ति, एवम्प्रकृतिरपि कुलवधूतोऽप्यधिका दृष्टा विवेकेन न पुनर्द्रक्ष्यत इत्यर्थः॥ ६१॥

"प्रकृतेः" इति। 'सुकुमारतरता' शब्द का करते हैं—'अतिपेशलता' और 'अतिपेशलता' का अर्थ करते हैं—'परपुरुषदर्शनाऽसहिष्णुता' इति। परः = तत्त्वज्ञान के द्वारा अज्ञान को दूर कर विवेक को प्राप्त हुआ जो पुरुष, उसका 'दर्शन' = भोग विषयता अर्थात् भोग्यता, उसकी असहिष्णुता (सहने की शक्ति न होना)। इसी को दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं—'असूर्यम्पश्येति।'—'सूर्यं न पश्यति इति असूर्यम्पश्या' अर्थात्—अत्यन्त पतिव्रता, जो सूर्य को भी नहीं देखती वह पर पुरुष को कैसे देखे? अतिमन्दाक्षमन्थरा'—'अतिमन्दे अक्षिणी यत्र कर्मणि इति मन्दाक्षं, तेन मन्थरा।' अत्यन्त लज्जा के कारण मन्दगामिनी, कुलवधू (उच्चकुल में पैदा होकर उच्चकुलान्तर में वधू बनकर आई हुई) असावधानी से—'विगलितशिरोञ्चला'—'विगलितं च्युतं शिरसः अञ्चलं वस्त्रं यस्याः सा'—सिर से पल्ला हट गया है जिसका—ऐसी किसी पतिव्रता को पति के अतिरिक्त कोई पुरुष यदि देख ले तो वह पतिव्रता कुलवधू पुनः इस प्रकार सावधान रहने का प्रयत्न करती है कि जिससे उस सुविनीत अनुद्धत कुलवधू को पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष पुनः न देख सके। उसी प्रकार 'प्रकृति', सर्वपुरुषसाधारण होती हुई भी तत्तद्बुद्धितत्त्वात्मककार्यरूप से तो पतिव्रता से भी अधिक धार्मिक है, उसे 'इयं जडा, अशुद्धा, शुद्धचेतनभिन्ना' इत्याकारक विवेकज्ञान से 'पुरुष' यदि एक बार देख ले तो वह (प्रकृति), उस विवेकी पुरुष के दृष्टिगोचर (भोग्य) पुनः अपने को न होने देने का सदैव प्रयत्न करती है। अर्थात् विवेकी पुरुष के प्रति 'बुद्धि' कभी संसरण नहीं करती, अपितु लीन हो जाती है॥ ६१॥

(२६१) निर्गुणपुरुषमोक्षसंसाराद्यसम्भवत्वशङ्का।

स्यादेतत्—"पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी, कथमस्य मोक्षः? मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात्, सवासनक्लेशकर्माशयानाञ्च बन्धनसमाख्यानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसम्भवात्। अत एवास्य च पुरुषस्य न संसारः प्रेत्यभावापरनामाऽस्ति, निष्क्रियत्वात्। तस्मात् 'पुरुषविमोक्षार्थम्' इति रिक्तं वच"—इतीमां शङ्कामुपसंहारव्याजेनाभ्युपगच्छन्नपाकरोति॥

संसार, बन्ध और मोक्ष तो 'प्रकृति' के धर्म हैं, 'पुरुष' के नहीं—इसी को बता रहे हैं—

(२६२) निर्गुण पुरुष के मोक्ष और संसार के असंभव की आशंका।

'स्यादेतदिति।' यदि पुरुष निर्गुण, और धर्मलक्षणावस्थात्मकत्रिविधपरिणामशून्य है, तो उसका (पुरुष का) मोक्ष कैसे संभव है? अर्थात् मोक्ष होना असंभव है। मोक्ष के असंभव होने में हेतु बताते हैं—'मुचेरि'ति। 'मुचि'-धातु का अर्थ है बन्धन-विश्लेष। बन्धन-विश्लेष का अर्थ है = बन्धनतिरोभाव। और वासनासहित क्लेशकर्माशय को 'बन्धन' कहते हैं। जन्म-जन्मान्तरीयसंस्कारों को 'वासना' कहते हैं। और 'आशेरते वासनादयः यत्र इति आशयाः'—वासनादिक जहाँ पड़ी रहती हैं उसे आशय (धर्माधर्म) कहते हैं। उन्हीं को 'बन्धन' यह समाख्या (संज्ञा—नाम) दी गई है। उन

वन्धनों (आशयों) का 'अपरिणामी पुरुष' में सम्भव कैसे हो सकता है ? एवं च 'यो धर्मो यत्र-वर्तते स तत्रैव तिरोभवति' इस नियम के अनुसार पुरुष में बन्धनात्मकधर्माधर्मरूप धर्म का अभाव होने से तद्विश्लेषात्मक तिरोभाव भी 'पुरुष' में सम्भव नहीं। एवं च बन्ध विश्लेषात्मक मुक्ति को 'पुरुष' का धर्म नहीं कहा जा सकता। और निर्धर्मक होने से ही अर्थात् क्रियात्मकधर्मशून्य होने से 'पुरुष' को प्रेत्यभाव (प्रेत्य = मरकर पुनः भावः = जन्म) अर्थात् संसार भी नहीं है, क्योंकि जन्म-मरण तो पुरुष के धर्म नहीं हैं। अतः संसार (बन्धन) और मुक्ति ये पुरुष के धर्म न होने से 'पुरुषस्य—विमोक्षार्थम्' (का–५८) जो कहा गया है, वह असंगत (रिक्त) है। इस आशंका के निवारणार्थ निम्न कारिका उपस्थित हो रही है:—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

अन्व०—तस्मात्, अद्धा कश्चिद् न संसरति, न बध्यते, नापि मुच्यते। प्रकृतिरेव नानाश्रया सती संसरति, बध्यते, मुच्यते च ॥

भावाऽर्थः—'तस्मात्' = पुरुष निर्धर्मक होने से अर्थात् पुरुष अगुण, अपरिणामी होने से 'अद्धा'[1] ॥ तत्त्वतः—वस्तुतः, 'कश्चित्' = कोई भी पुरुष, 'न संसरति'—जन्म-मृत्यु को नहीं पाता है, और 'न' न ही, 'बध्यते' = वासनासहित क्लेश-कर्म-आशय से युक्त होता है, तथा 'न' = न, 'मुच्यते' = वासनाविशिष्ट क्लेश–कर्म–आशयों के तिरोभाव से ही युक्त होता है अर्थात् पुरुष न बद्ध होता है, न संसार को प्राप्त करता है और न मुक्त होता है; "न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥" तब बन्ध, संसरण, मुक्ति किसकी होती है ? उत्तर देते हैं—

'प्रकृतिरेव' = प्रकृति ही, 'नानाश्रया सती' = अनेक प्रकारों को (भोग्य–भोगसाधन—भोगायतनरूप आश्रय = संसार बन्धनादि आलम्बनविशेष है जिसके ऐसी) अपनाती हुई अर्थात् अनेक पुरुषों का आश्रय प्राप्त करती हुई—

'संसरति' = संसरण करती है (अभिव्यक्त जनन–मरणधर्मों से युक्त हो जाती है), 'बध्यते' = अभिव्यक्तवासनाविशिष्ट क्लेशकर्माशयों से युक्त हो जाती है, और 'मुच्यते' = वासनासहित क्लेश–कर्म–आशयों के तिरोभाव से युक्त भी हो जाती है। निष्कर्ष यह है—भोग और अपवर्ग तो 'प्रकृति' के धर्म हैं, 'पुरुष' में तो 'प्रतिबिम्बाख्य सम्बन्ध' से उनका उपचार (लाक्षणिक प्रयोग) किया जाता है ॥

"तस्मात्" इति। अद्धा न कश्चित् पुरुषो बध्यते, न कश्चित् संसरति; न कश्चिन्मुच्यते। प्रकृतिरेव तु नानाश्रया सती बध्यते संसरति मुच्यते चेति बन्धमोक्षसंसाराः पुरुषेषूपचर्यन्ते। यथा जयपराजयौ भृत्यगतावपि स्वामिन्युपचर्यंते, तदाश्रयेण भृत्यानान्तद्भागित्वात्, तत्फलस्य च शोकलाभादेः स्वामिनि सम्भवात्। भोग-

(२६३) तत्परिहारः प्रकृतिगतानां संसारादीनां पुरुषे उपचारः।

---

[1] अद्धा = तत्त्वतः वस्तुत इति यावत् "तत्त्वेत्वद्धाञ्जसाद्वयम्" इत्यमरः।

पवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषसम्बन्ध उपपादित इति सर्वम्पुष्कलम् ॥ ६२ ॥

(२६३)आशंका का परिहार और प्रकृतिगतसंसारादिका पुरुष में उपचार।

"तस्मादि'ति[1]। वस्तुतः कोई भी 'पुरुष' न बँधता है (सवासन क्लेशकर्माशयधर्म वाला होता है) और न कोई 'पुरुष' संसरण (जन्म-मरण धर्मवाला होता है) करता है, एवं न कोई—'पुरुष' मुक्त (मोक्षधर्म वाला) होता है।

पुरुष तो चैतन्यमात्र है, कूटस्थ है, नित्य मुक्त है। और सांसारिक दुःखानुभवरूपभोग परिणामिनी बुद्धि का धर्म है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने से उसके साथ एकाकार हुए पुरुष का बुद्धि के भोग को देखना ही भोग है। वह भोग किसका है यह न समझ पाने से (ववेकाग्रह होने से) पुरुष में आध्यासिक भोक्तृत्व है। विवेकख्याति के द्वारा केवल भोक्तृत्वाध्यास की निवृत्ति हो जाना ही मोक्ष है। वास्तव में पुरुष को न बद्ध होना है और न मुक्ति पाना है।

वल्कि 'प्रकृति' ही अनेक[2] आश्रयों को पाकर अर्थात् बुद्धि–अहंकार से लेकर महाभूतान्त अनेक रूपों को धारण कर बन्धन को (सवासनक्लेशकर्माशयधर्म को) प्राप्त होती है और संसरण (जन्म–मरण धर्म को) प्राप्त होती है, एवं मुक्त (अपवर्ग धर्म से युक्त) होती है।

शंका—बन्धन–संसरणमोक्षादि यदि प्रकृति के ही होते हैं तो "पुरुषविमोक्षार्थम्" जो कारिका में कहा गया है, वह कैसे उपपन्न हो सकेगा ?

समा०—'बन्धमोक्षेति।' बन्ध, संसार, मोक्ष का पुरुष पर उपचार (आरोप) किया गया है—

भेदप्रतीति के तिरोहित होने से प्रकृतिगत बन्धादि पुरुष के प्रतीत होते हैं। बन्धादिक बुद्धिनिष्ठ ही हैं—पुरुष में तो बुद्धि के संपर्क से बुद्धिगत धर्मों का केवल आरोप किया जाता है।

'बुद्ध्यात्मक प्रकृति' के बन्ध–मोक्ष–संसार (कर्माशय–उनका ध्वंस–जन्ममरण) रूप धर्मों का पुरुषों (जीवात्माओं) पर आरोप किया जाता है–अर्थात् पुरुषधर्मत्वेन व्यवहार मात्र किया जाता है। इसी को दृष्टान्त के द्वारा समझा रहे हैं—'यथेति।' जैसे—जय और पराजय वस्तुतः सैनिकों का है लेकिन स्वामिसेवकभावसबन्ध के कारण स्वामी पर जय–पराजय का आरोप किया जाता है अर्थात् स्वामी का विजय अथवा पराजय हुआ—यह व्यवहार होता है, जय और पराजय के साक्षात् आश्रय तो सैनिक हैं; अतः ये सैनिक ही उसके (जय–पराजय के) भागी हैं। जय और पराजय का फल धन लाभ, सुखादि और शोक, अज्ञान के कारण राजा को प्राप्त होता है।

उसी प्रकार 'भोगापवर्ग' वस्तुतः प्रकृति के हैं, 'पुरुष' से उनका कोई सम्बन्ध नहीं, तथापि 'विवेकाग्रह' (प्रकृति–पुरुष का भेदज्ञान न होने से) के कारण 'पुरुष' के साथ सम्बन्ध (स्वाश्रय-

---

१. यहाँ मूलकारिकोक्त पाठक्रम का आदर न कर कौमुदीकार ने अर्थक्रम का आदर किया है—प्रथम बन्ध, पश्चात् संसार, अनन्तर मोक्ष—यह क्रम है।

२. नानाश्रया अर्थात् नानापुरुषाश्रया, तथा च कंचित् पुरुषमाश्रित्य बध्यते, कंचिदाश्रित्य संसरति, कंचिदाश्रित्य मुच्यते च।

प्रतिबिम्बितत्व) कल्पित किया जाता है। एवं च 'पुरुष' में भोगापवर्ग का उपचार किया जाता है। क्योंकि अज्ञान से उनकी कल्पना पुरुष में की जाती है, वास्तव में नहीं। इस कारिका के द्वारा सांख्यदर्शन का समस्त गूढ रहस्य पूर्ण रूप से प्रकट कर दिया गया है॥ ६२॥

(२६४) प्रकृत्या धर्मादि-सप्तरूपैर्बन्धनमेकरूपेण तत्त्वज्ञानरूपेण च मोक्षणम्।

'नन्ववगतम् 'प्रकृतिगता बन्धसंसारापवर्गाः पुरुषे उपचर्यन्ते' इति। किंसाधनाः पुनरेते प्रकृतेः? इत्यत आह—

'बन्ध-मोक्ष' के निमित्त की जिज्ञासा प्रकट करने के लिये 'नन्ववगतमिति।' 'बन्ध-संसार और मोक्ष तीनों ही वस्तुतः 'बुद्धि' के धर्म हैं, 'स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वा'ख्य कल्पित सम्बन्ध से उनका उपचार 'पुरुष' में किया जाता है।'. यह तो अच्छी तरह समझ में आ गया। किन्तु अब जिज्ञासा यह होती है—प्रकृति के इन 'बन्ध, मोच, संसार' धर्मों का निमित्त (साधन) क्या है? इस शंका के निवारणार्थ निम्न कारिका उपस्थित हो रही है :—

(२६४) धर्मादि सात रूपों के द्वारा प्रकृति का बन्धन और एक रूप (तत्त्वज्ञान) से उसका मोच

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थम्प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३॥

अन्व०—प्रकृतिः पुरुषार्थं प्रति आत्मना एव सप्तभिः रूपैः आत्मानम् बध्नाति, सैव च एकरूपेण आत्मानं विमोचयति॥

भावाऽर्थः—'प्रकृतिः' = प्रकृति, 'पुरुषार्थं' = भोगापवर्गारूपपुरुषार्थं में से, 'प्रति' = भोग के प्रति, 'आत्मना = एव' स्वयं ही 'सप्तभिः'—धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य—सात, 'रूपैः' = धर्मों (भावों) से, 'आत्मानम्' = अपने को, 'बध्नाति' = कर्माशयात्मक बन्धन से बांध लेती है। और 'सैव' = वही प्रकृति 'पुरुषार्थं प्रति' = अपवर्ग के प्रति, 'एकरूपेण' = तत्त्वज्ञानात्मक भावसंज्ञक एक धर्म से (विवेकख्याति से) 'आत्मानं' = अपना 'विमोचयति' = बन्धविश्लेष कर लेती है। भाव यह है कि धर्मादि सात निमित्त कारणों को पाकर 'प्रकृति' स्वयं ही अपने को भोग के प्रति बांध लेती है और 'ज्ञानरूप निमित्त कारण' को पाकर अपने को अपवर्ग के प्रति स्वयं ही मुक्त कर लेती है। 'भोग' के लिये बंध जाती है और 'अपवर्ग' के लिये मुक्त हो जाती है॥

"रूपैः" इति। तत्त्वज्ञानवर्जं बध्नाति धर्मादिभिस्सप्तभी रूपैर्भावैरिति। "पुरुषार्थम्प्रति" भोगापवर्गम्प्रति 'आत्मनाऽऽत्मानम्' एकरूपेण तत्त्वज्ञानेन विवेकख्यात्या विमोचयति, पुनर्भोगापवर्गौ न करोतीत्यर्थः॥ ६३॥

"रूपैः" इति। सात रूपों में से वर्ज्य रूप बताते हैं—'तत्त्वज्ञानवर्जमि'ति। तत्त्वज्ञान को वर्ज्य कर अवशिष्ट धर्माधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्यसंज्ञक सात रूपों से अपने को बांध लेती है। "सप्तभी रूपैः" यहां "रूपैः" का अर्थ बताते हैं—'भावः' इति। 'पुरुषार्थं प्रति' का अर्थ करते हैं—'भोगापवर्गौ प्रति'। भोग के प्रति अर्थात् भोग के लिये अपने को बांध लेती है और अपवर्ग के प्रति अर्थात् अपवर्ग (मोक्ष) के लिये अपने को मुक्त कर लेती है (छुड़ा लेती है)। किससे किसको बांधती है और छुड़ाती है—यह आकांक्षा होने पर

कहते हैं—'आत्मना ऽऽत्मानमिति' । स्वयं के द्वारा (ही) स्वयं को ही बांध लेती है और छुड़ा लेती है। 'एक[2]रूपेण' का अर्थ करते हैं—'तत्त्वज्ञानेन' । लेकिन 'पंचविंशतितत्त्व-ज्ञान', विवेकख्याति के द्वारा मुक्ति का कारण होता है, साक्षात् नहीं—यह बताने के लिये कहा 'विवेकख्यात्येति'। अतः यहां पर 'तत्त्वज्ञान' शब्द से 'सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति' का ही ग्रहण करना चाहिये। उसके द्वारा अपने को छुड़ाती है। विमोचयति[3] = विशेषेण मोचयति अर्थात् मुक्ति का स्वयं ही कारण बनती है। चन्द्रिकाकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

पुरुषार्थम् = भोगं प्रति भोग के प्रति, आत्मना = बुद्धिरूपेण-अपनी स्वरूपभूत बुद्धि से, आत्मानम् = पुरुषम्—पुरुष को, रूपैः सप्तभिः = धर्मवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यकैः—धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य इन सात रूपों (भावों, धर्मों) से, बध्नाति = बांधती है, पुरुषार्थम् = स्वरूपावस्थानलक्षणं मोक्षं प्रति स्वरूपावस्थानलक्षण मोक्ष के प्रति, एकेन रूपेण = ज्ञानेन—ज्ञानात्मकएकरूप (भाव, धर्म), से मोचयति = संसारात् निवर्तयति-संसार से निवृत्त कराती है। इस व्याख्या से यह सूचित होता है—वैराग्य उपरति आदि के न होने पर भी केवल ज्ञान से ही मोक्ष हो जाता है अर्थात् ज्ञान, मोक्ष में हेतु बन ही जाता है। वेदान्तीलोग कहते हैं—"पूर्णाबोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा। मोक्षो विनिश्चितः किन्तु दृष्टदुःखं न नश्यति ॥" = द्वौ वैराग्योपरमौ–वैराग्य और उपरम, दृष्टदुःखम् = यथोचितव्यवहारक्लेशः—समुचित व्यवहारकष्ट। तथा च—विषयदोषदर्शनजन्य जो विषयजिघ्रासारूप वैराग्य उसका फल इतना ही है कि विषयभोगों के प्रति पुनः दीन न होना अर्थात् भोगों के अधीन न होना। वैराग्य का फल मोक्ष नहीं है। उसी तरह यमादिकों से साध्य वृत्तिनिरोधात्मक उपरम का भी फल द्वैतदर्शन न होना ही है, मोक्ष नहीं। श्रुति में तो मोक्ष को ज्ञानैकलभ्य बताया है। निष्कर्ष यह है—पुनः 'भोगापवर्ग को नहीं करती।' भोग के न देने पर मोक्ष का न देना युक्तियुक्त ही है। क्योंकि भोगदान पर ही मोक्षदान निर्भर है ॥ ६३ ॥

अवगतमीदृशं तत्त्वम् , ततः किमित्यत आह—

उपरिनिर्दिष्ट समस्त और व्यस्त रूप से पञ्चविंशतिपदार्थों (तत्त्वों) के समुदाय को एकबार समझ भी लिया जाय तो उससे क्या काम ? इस आशंका के समाधानार्थ निम्नकारिका उपस्थित हो रही है—

एवन्तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

---

१. आत्मना—आत्मीयया बुद्ध्या। पुरुषस्य प्रकृतिकृतो बन्धो न साक्षात् , किन्तु बुद्धिद्वारक एव। ननु 'आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना' इत्यादिप्रयोगाः कथं संगच्छन्ते, एकस्यैव वस्तुनो युगपदेकक्रियानिरूपितकर्तृत्वकर्मत्वादेरसंभवात् , परया कर्तृसंज्ञया कर्मकरणादि-संज्ञाया बाधात्। नैष दोषः, अहंकाराद्युपाधिभेदेन आत्मनोऽपि भेदमाश्रित्य "आत्मानमात्मना हन्ति" इत्यादिप्रयोगस्याकरे समर्थितत्वात्। तथा चोक्तं हरिणा—"एकस्य बुद्ध्यवस्थाभिर्भेदेन परिकल्पने। कर्मत्वं करणत्वं च कर्तृत्वं चोपजायते ॥" बुद्ध्यवस्थाभिः = बुद्धिकल्पिताभिरवस्था-भिरित्यर्थः।—(सा. बो.)

२. एकरूपेण = अनेकाकाररहितेन मुख्यरूपेणेत्यर्थः।

३. ननु विमोचनं नाम वास्तवं निगडादिसंयोगध्वंसः, तस्यात्राभावात् कथं मुञ्चतिप्रयोगः इत्यत आह—'पुनरिति।'

अन्व०—एवं तत्त्वाभ्यासात् 'नाऽस्मि, न मे, नाऽहम्' इति अपरिशेषम् अविपर्ययात् विशुद्धं केवलं ज्ञानम् उत्पद्यते ॥

भावार्थः—'एवम्'—उपरिदर्शित समस्त-व्यस्त दोनों प्रकार से, 'तत्त्वाऽभ्यासात्'—'तत्त्वस्य = तत्त्वज्ञान (पंचविंशति पदार्थों के ज्ञान) के अभ्यासात्' = सदासर्वदा पुनः पुनः प्रयत्न करते रहने से 'नाऽस्मि' = आत्मा क्रियावान् नहीं है—यह ज्ञान होता है, (इससे यह सूचित होता है कि अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प, आलोचनात्मक व्यापारों का आत्मा में निषेध किया गया है), उसी तरह 'न मे' = आत्मा स्वामी नहीं है—यह ज्ञान होता है, इससे आत्मा में स्वामित्व का निषेध सूचित होता है, उसी तरह 'नाऽहम्' = आत्मा कर्ता नहीं है—यह ज्ञान होता है, इससे आत्मा में कर्तृत्व का निषेध सूचित होता है। 'इति' = इस प्रकार से, 'आत्मा-क्रिया-स्वामिता-कर्तृताबद्भिन्नः-आत्मा, क्रिया, स्वामित्व, कर्तृत्वविशिष्ट से अतिरिक्त है—इत्याकारक, अपरिशेषम्—'नास्ति किञ्चित् परिशिष्टं ज्ञातव्यं यत्र तत्'—जहाँ ज्ञातव्य रूप से कुछ बाकी न रहा हो ऐसा अर्थात् सर्वथा सम्पूर्ण, 'अविपर्ययात्'—संशय-विपर्यय-विकल्प से भिन्न होने के कारण, 'विशुद्धम्' = संशयादिकों से किञ्चिन्मात्र भी जो स्पृष्ट नहीं, केवलम् = कैवल्य प्रयोजक केवल प्रमात्मक ही, 'ज्ञानम्' = तत्त्वज्ञान, 'उत्पद्यते' = प्रकट होता है। चन्द्रिकाकार इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

"भवतु ज्ञानादेव कैवल्यम्, तदेव तु कस्मात् किमाकारं च ? तदाह—"एवमिति।" उक्तप्रकारेण पुरुषगोचराभ्यासात् = पुनः पुनश्चिन्तनरूपात् निदिध्यासनादेव, केवलम्=पुरुषमात्रगोचरम्, ज्ञानम् = साक्षात्कारः उत्पद्यते इत्यर्थः। एतेन निदिध्यासनसहकृतेन मनसैव आत्मगोचरनिर्विकल्पक-साक्षात्कारो भवति, न श्रुतानुमानाभ्याम्, तयोस्तत्रासामर्थ्यात्, इति बोधितम्। यथाह समानतन्त्रे भगवान् पतञ्जलिः—'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' इति। आकारमाह—नास्मीत्यादिना। "न अस्मि" इत्यस्य "न कर्तास्मि" इत्यर्थः। तेन "बुद्धि-भिन्नोऽहम्" इति प्राप्तम्। न मे = "दुःखम्" इति शेषः। तेन "दुःखाद्यारोपाभावो लब्धः।" "नाहम्" इत्यनेन—अहङ्कारभेदग्रहः। नास्ति परिशेषो यस्मादिति अपरिशेषम् = चरमम्, "तस्य सप्तधा प्रान्तभूमौ प्रज्ञा" इत्यादिना योगसूत्रेणोक्तम्। अविपर्ययात् = विपर्ययभिन्नत्वात् व्यधिकरणप्रकाराभावात्, विशुद्धम् = प्रमात्मकम्, मिथ्याज्ञानवासनोन्मूलनक्षमम्। एवंविध एकात्मसाक्षात्कारः तत्त्वज्ञानपदेन उच्यत इति भावः॥" इत्येवं व्याख्याति "तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च ज्ञानाभ्यासं विदुर्बुधाः॥" इति वासिष्ठे।

"एवम्" इति। तत्त्वेन=विषयेण तत्त्वज्ञानमुपलक्षयति। उक्तरूपप्रकार-तत्त्वविषयज्ञानाभ्यासादादरनैरन्तर्यदीर्घकालसेवितात् सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षात्कारिज्ञानमुत्पद्यते। यद्विषयश्चाभ्यासस्तद्विषयकमेव साक्षात्कारमुपजनयति, तत्त्वविषयश्चाभ्यास इति तत्त्वसाक्षात्कारं जनयति। अत उक्तम्-"विशुद्धम्" इति।

(२६५) अभ्यासात्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिः।

'एवमिति'। शंका—'तत्त्व' का अर्थ है वास्तविक, प्रकृत में तो प्रकृति और पुरुष का पृथक्त्व ही वास्तविक है, वह तो सिद्ध है, तब उसका अभ्यास कैसे संभव है ? क्योंकि पौनःपुन्यलक्षण अभ्यास तो साध्य का ही संभव हो सकता है।

(२६५) अभ्यास से तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति।

समा०—'तत्त्व' शब्द का लाक्षणिक अर्थ करते हैं—तत्त्वेन = विषयेण, विषयि = तत्त्वज्ञानमिति। यहां 'तत्त्व' शब्द विषयवाचक है प्रकृत्यादि पंचविंशति तत्त्व ही पदार्थ हैं, जिन्हें 'विषय' कहते हैं, उन विषयों से विषयी का (ज्ञान का) बोध, लक्षणा के द्वारा कराया गया है। एवं च ज्ञान में साध्यता होने से पौनः पुनिकत्व संभव है। अतः 'तत्त्वाभ्यासात्' का अर्थ हुआ तत्त्वज्ञान के अभ्यास से, 'एवं तत्त्वाभ्यासात्'—इतने का अर्थ करते हैं—'उक्तरूपप्रकारतत्त्वविषयकज्ञानाऽभ्यासादिति।' 'उक्तः प्रकारः = समस्तव्यस्तरूपः येषां तानि, एतादृशानि यानि तत्त्वानि पञ्चविंशतिपदार्थाः ते विषयाः यस्य तत्' एतादृशं यत् ज्ञानं = सकृत् बोधः, तस्य 'अभ्यासात्' = सार्वकालिकप्रयत्नात्। अर्थात् पंचविंशति पदार्थों के समस्त तथा व्यस्त ज्ञान के अभ्यास से ज्ञान पैदा होता है। परन्तु वह अभ्यास कैसा होना चाहिये? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं—'आदरेति'। आदर अर्थात् गुरुवाक्य पर विश्वास करते हुए और नैरन्तर्य अर्थात् नित्यनियमितरूप से और दीर्घकाल अर्थात् सुदीर्घ (चिर) काल तक किया हुआ अभ्यास होना चाहिये। ऐसे अभ्यास से सत्त्वपुरुषान्यताकारि—सत्त्व = बुद्धितत्त्व और पुरुष = चेतन उन दोनों में जो 'अन्यता' = भेद, उस भेद को साक्षात् करनेवाला अर्थात् विषय बनानेवाला (ज्ञान) अर्थात् 'आत्मा प्रकृत्यादिभिन्नः' इत्याकारकज्ञान (विवेकज्ञान) उत्पन्न होता है। इसीका उपपादन प्रयोज्य-प्रयोजकभाव के द्वारा करते हैं—'यद्विषयकश्चेति।' जिस विषय में अभ्यास (यत्न) किया जाता है, वह अभ्यास (यत्न) उस विषय में ज्ञान (साक्षात्कार) कराता है। अतः 'तत्त्वविषयश्च अभ्यासः' इति। पञ्चविंशतितत्त्व (पदार्थ) विषयक अभ्यास उन्हीं पञ्चविंशति तत्त्वों (पदार्थों) का साक्षात्कार (यथार्थज्ञान) कराता है। इसीलिये (तत्त्व विषयक अभ्यास होने के कारण ही) ज्ञान में विशेषण दिया—'विशुद्धम्' इति। अर्थात् विपर्ययात्मक अशुद्धि से रहित ज्ञान।

(२६६) तत्त्वज्ञानस्य विशुद्धिहेतुः अविपर्ययत्वम्।

कुतो विशुद्धमित्यत आह "अविपर्ययात्" इति। संशयविपर्ययौ हि ज्ञानस्याविशुद्धी, तद्रहितं विशुद्धन्तदिदमुक्तम्—"अविपर्ययात्" इति। नियतमनियततया गृह्णन् संशयोऽपि विपर्ययः, तेन 'अविपर्ययात्' इति संशयविपर्ययाभावो दर्शितः। तत्त्वविषयत्वाच्च संशयविपर्ययाभावः।

(२६६) तत्त्वज्ञान की विशुद्धता में हेतु अविपर्ययता है।

उक्त अभिप्राय को ध्यान में रखकर प्रश्न कर रहे हैं—किस कारण वह (ज्ञान) विशुद्ध है?—'कुतो विशुद्धमिति।' उत्तर देते हैं—'अविपर्ययादिति।' 'विपर्यय' शब्द से संशय-विपर्यय दोनों को समझना चाहिये—'संशयविपर्ययौ ही'ति। 'संशय' भी ज्ञान की अशुद्धि है और विपर्यय भी ज्ञान की अशुद्धि है उसी तरह विकल्प को भी ज्ञान की अशुद्धि समझना चाहिये। एवंच इन तीनों (संशय-विपर्यय-विकल्प) से रहित जो ज्ञान, उसे विशुद्ध कहा जाता है। ज्ञान की विशुद्धि बताने के लिये 'अविपर्ययात्' इस हेतुवाक्य का उपन्यास किया गया है।

'अविपर्ययात्'—न विपर्ययः अविपर्ययः—तस्मात्।' विपर्यय का अर्थ है—'तद्रूपाऽप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानम्'। तद्रूपाऽप्रतिष्ठा दो प्रकार से—एक है ज्ञान के स्वरूप में अप्रतिष्ठितता। जैसे—शुक्ति में 'इदं रजतम्' यह ज्ञान स्वरूपतः अप्रतिष्ठित है। दूसरी—विषय के स्वरूप में अप्र-

तिष्ठितता। जैसे—'स्थाणुर्वा पुरुषोवा'—यहाँ पर न स्थाणु में प्रतिष्ठा और न पुरुष में ही प्रतिष्ठा है।

शंका—'अविपर्ययात्' का अर्थ यदि 'विपरीतनिश्चयाभावात्' कहें तो उससे संशयाभाव की भी प्रतीति कैसे होगी ?

उत्तर—'नियतमनियततयेति'। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा'—यहाँ पर एक भाव कोटि में नियत स्थाणु को अभाव कोटि में ग्राह्यत्वेन अनियत के रूप में, उसी प्रकार भाव कोटि में नियत पुरुष को अभाव कोटि में ग्राह्यत्वेन अनियत के रूप में विषय करनेवाला 'संशय' भी विपर्यय ही है। अर्थात् 'शुक्तौ इदं रजतम्'—यह मिथ्याज्ञान जैसे विपर्यय है, वैसे ही संशय भी मिथ्याज्ञान होने से विपर्ययरूप ही है।

उसी प्रकार 'पुरुषस्य चैतन्यम्' यहाँ पर अभेद में भेद का आरोप करनेवाला विकल्प भी, ज्ञानविरोधी होने से 'विपर्यय' के द्वारा संगृहीत होता है।

'तेन' इति—'संशय' भी विपर्ययरूप होने से, 'अविपर्ययात्' इस हेतुवाक्य से संशय और विपर्यय का अभाव 'तत्त्वज्ञान' में प्रदर्शित किया गया है।

शंका—'अविपर्ययात्' से (तत्त्वज्ञान में) संशय-विपर्यय का अभाव क्यों बताया गया ? जिससे लक्षणा करनी पड़ेगी।

उत्तर—'तत्त्वविषयत्वाच्चेति।' संशय का अर्थ है—'एकधर्मिकभावाऽभावविषयकज्ञान।' 'विपर्यय' का अर्थ है—'तदभाववति तत्प्रकारकज्ञान', उन दोनों का अभाव। 'संशय' जब तक नष्ट न हो तब तक ज्ञान में यथार्थता नहीं हो सकेगी, अतः 'विपर्ययाभाव' की तरह 'संशयाभाव' भी आवश्यक है। कुछ विद्वान् दूसरी प्रकार से व्याख्या करते हैं—"अविपर्ययात्" कहने मात्र से 'संशय' का 'निषेध—' नहीं हो पाता, तब 'संशयग्रस्त ज्ञान' को शुद्ध कैसे कह सकते हैं ? इसके उत्तर में—'नियतमनियततयेति।' वस्तु का लक्षण होता है—'नियतत्व', और नियत (निश्चय) में संशय का होना असंभव है। संशय का स्वरूप तो यह है—'नियत का अनियतरूप में ग्रहण होना। 'नियतस्य अनियतत्वेन ग्रहः संशयः' इति। अतः वह संशय भी विपर्यय का एक प्रकारविशेष ही है, क्योंकि विपर्यय का स्वरूप यह है :— 'तथाभूतस्य अतथाभूतत्वग्रहो. विपर्ययः'। 'तत्त्वज्ञान' में संशय, विपर्यय क्यों नहीं होते ? उत्तर देते हैं—तत्त्वविषयत्वाच्चेति। जिस वस्तु का जैसा स्वरूप हो, उसका उसी रूपमें यथार्थज्ञान यदि हो तो उसमें संशय अथवा विपर्यय का संभव ही कैसे हो सकता है ?

(२६७) अनादेर्मिथ्याज्ञानसंस्कारस्यादिमता तत्त्वज्ञानसंस्कारेण समुच्छेदः।

स्यादेतत्—'उत्पद्यतामीदृशाभ्यासात् तत्त्वज्ञानम्, तथाऽप्यनादिना मिथ्याज्ञानसंस्कारेण मिथ्याज्ञानं जनयितव्यम्, तथा च तन्निबन्धनस्य संसारस्यानुच्छेदप्रसङ्ग इत्यत उक्तम्-'केवलम्" इति = विपर्ययेणासम्भिन्नम्। यद्यप्यनादिर्विपर्ययवासना तथाऽपि तत्त्वज्ञानवासनया तत्त्वविषयकसाक्षात्कारमादधत्याऽऽदिमत्याऽपि शक्या समुच्छेत्तुम्। तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः, यथाहुर्बाह्या अपि—

"निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधोयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः" इति ॥

शंका—तत्त्वज्ञान के होने पर भी अपवर्ग की निष्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अनादि संस्कारवशात् प्रकृति और पुरुष की एकत्वप्रतीति भी अवश्यंभाविनी है। 'स्यादेतदिति।' इस प्रकार के (आदर-नैरन्तर्य-सत्कार पूर्वक) किये हुए अभ्यास से भले ही तत्त्वज्ञान (यथार्थज्ञान) प्रकट हो जाय, तथापि अनादि (सर्ग सर्गान्तर के प्रवाह से आये हुए अविच्छिन्न) अतत्त्वविषयक मिथ्याज्ञान का संस्कार, अज्ञान (मिथ्याज्ञान) को भी अवश्य पैदा करेगा। तब तन्निबन्धन (मिथ्याज्ञान से अवश्य होनेवाला) जात्यायुर्भोगात्मक-संसार का उच्छेद ही कभी नहीं होगा। अर्थात् संसार की अविच्छिन्न अनुवृत्ति होती रहेगी।

(२६७) अनादि मिथ्याज्ञान के संस्कारों का सादि तत्त्वज्ञान के संस्कार से नाश होता है यह बात शंकासमाधान के साथ बताई जा रही है।

समा०—उक्त आशंका के निवारणार्थ—'केवलमि'ति। 'विवेकज्ञान' शब्द से कहे जानेवाले 'वस्तुस्वरूप' मात्र में केवल पद का तात्पर्य है। इसी को स्पष्ट करते हैं—'विपर्ययेण असंभिन्न-मि'ति। संशय, विपर्यय, विकल्प का लेशमात्र भी जिसमें न हो—ऐसा ज्ञान।

मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति कैसे रुकती है? उसे बताते हैं—यद्यपि मिथ्याज्ञान से आहित संस्कारों (विपर्ययवासनाओं) का प्रवाह अविच्छिन्न (अनादि) है, तथापि तत्त्वविषयक साक्षात्कार करानेवाली सादि तत्त्वज्ञानवासना से उसका उच्छेद हो जाता है। 'नादिमता अनादे-र्नाशः'—सादि से अनादि का नाश नहीं होता—ऐसा कोई नियम नहीं है। नैयायिकों ने—अनादि प्रागभाव का सादि ध्वंस से नाश होना माना है।

शंका—अनादि होने से अत्यन्त जरठ हुई विपर्ययवासना का उच्छेद अचिरोत्पन्न कोमल तत्त्वज्ञानवासना से कैसे हो सकता है?

समा०—'तत्त्वपक्षपातो हीति।' तत्त्व की ओर झुकाव होना बुद्धि का स्वभाव ही है। बुद्धि एकबार भी वस्तु के याथात्म्य को (यथार्थरूप को) विषय कर ले (जान ले) तो कभी भी वह उससे विमुख नहीं होती। अर्थात् पदार्थतावच्छेदकप्रकारक-पदार्थविशेष्यकत्वेन प्रकट होना बुद्धि का स्वभाव है। जैसे रांगे (रंग) को ही सुदीर्घकाल तक रजत (चांदी) समझने वाले पुरुष को वह्नि के संपर्क से रांगे का निश्चय हो जाने पर पुनः उसमें रजत बुद्धि नहीं हो पाती (रजतत्वेन, ज्ञान पैदा नहीं—होता)। निष्कर्ष यह हुआ—सुदीर्घकाल से परिणत हुआ भी—रजतसंस्कार, अचिरोद्भूत रंगसंस्कार से उच्छिन्न हो ही जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानवासना अचिरोद्भूत होने पर भी उससे चिरकालीन मिथ्याज्ञानवासना का विनाश हो जाता है। 'तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः'—इस नियम को वेदबाह्य बौद्ध तक स्वीकार करते हैं—'निरुप-द्रवेति।' 'निरुपद्रवः'=संशयादि उपद्रवों से रहित अर्थात् निर्दोष। इसी कारण 'भूतार्थ-स्वभावः'=स्वभाव से ही जो सत्य अर्थ है- जैसे-आत्मा अभावरूप है, अर्थात् 'आत्मा नास्ति' 'तस्य' इस सत्य का 'विपर्ययैः'=मिथ्याज्ञानों से—जैसे-आत्मा के अस्तित्वविषयकज्ञानों से, 'यत्नवत्त्वेऽपि'=चिरकाल के अभ्यास के कारण दृढतर संस्कार की महिमा से भी आत्माऽभावरूप तत्त्वार्थ का, 'न बाधः'=बाध नहीं हो पाता। क्यों नहीं होता? तो कहा—'बुद्धेस्तत्पक्षपाततः'। 'बुद्धि' में भूतार्थपक्षपातिता होती है। सत्यवस्तु का पक्ष लेना (पक्षपात करना) बुद्धि का स्वभाव है। वह कभी भी मिथ्यावस्तु के पक्ष को स्वीकार नहीं करती। एवंच—मनुष्य के मन में विविध सांसारिक विषयों के विद्यमान रहने पर भी बुद्धि उनके उन्मुख कभी नहीं होती क्योंकि वे मिथ्या

होते हैं, किन्तु यथार्थतत्त्वग्राहिणी होती हुई तत्त्व का पक्षपात कर मिथ्यासंस्कारों का वह पराभव ही करती है।

उक्त कारिका के द्वारा प्रतिपादित बौद्धमत अनादेय है, क्योंकि आत्मनास्तित्व के साधनार्थ बौद्धों ने उसे उपस्थित किया है, तथापि यहाँ इतने ही तात्पर्य से उसे लिया है कि मिथ्याज्ञान से तात्त्विक अर्थ का बाध नहीं होता।

ज्ञानस्वरूपमुक्तम्—"नास्मि. न मे, नाहम्" इति। 'नास्मि' इत्यात्मनि क्रियामात्रं निषेधति। यथाहुः 'कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवचनाः' इति [सिद्धान्तकौमुदी]। तथा चाध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनानि चान्तराणि बाह्याश्च सर्वे व्यापारा आत्मनि प्रतिषिद्धानि बोद्धव्यानि। यतश्चात्मनि व्यापारावेशो नास्त्यतो 'नाहम्'। अहमिति कर्तृपदम्, 'अहञ्जानाम्यहं जुहोम्यहन्ददे' इति सर्वत्र कर्तुः परामर्शात्। निष्क्रियत्वे च सर्वत्र कर्तृत्वाभावः। ततः सुष्ठूक्तम्—"नाहम्" इति। अत एव "न मे"। कर्ता हि स्वामितां लभते, तस्मात् कुतः स्वाभाविकी स्वामितेत्यर्थः। अथवा "नास्मि" इति "पुरुषोऽस्मि, न प्रसवधर्मा"। अप्रसवधर्मित्वाच्चाकर्तृत्वमाह—"नाहम्" इति। अकर्तृत्वाच्च न स्वामितेत्यत आह—"न मे" इति।

(२६८) तत्त्वज्ञानस्वरूपप्रदर्शनम्-सर्वविधाहङ्कारनिवृत्तिः

तत्त्वज्ञान का स्वरूप बताते हैं—'नाऽस्मि, न मे, नाऽहमि'ति।'—'अस्मि' के प्रयोग से 'सत्ता' और 'क्रिया' दोनों दिखाई गयी हैं। अर्थात् 'सत्-चेतन क्रियावान् नहीं है'—'न सक्रियोऽहम्'—इस प्रकार चेतन में क्रिया का निषेध किया गया है। अथवा 'अस्' धातु का ही अर्थ क्रिया है—भाष्यकार कहते हैं—'कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवचनाः' अर्थात् 'डुकृञ्' करणे, 'भू' सत्तायाम्, 'अस्' भुवि—ये तीन धातु सामान्यतः क्रिया के वाचक होते हैं। वे क्रियाएँ कौन सी हैं?—इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—'तथा चाध्यवसायेति।' 'महत्तत्त्व' की क्रिया अध्यवसाय, 'अहंकार' की क्रिया अभिमान है, 'मन' की क्रिया संकल्प है, 'श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों' की आलोचनादि हैं', 'वागादि कर्मेन्द्रियों' की क्रिया 'वचनाहरणादि' हैं। 'घटादिकों की उत्क्षेपणादि क्रियायें हैं—इस प्रकार के आभ्यन्तरकरणजन्य और बाह्यकरणजन्य तथा अन्य सभी व्यापारों का आत्मा में निषेध किया गया है—'आत्मा नाध्यवसायवान्, आत्मा नाभिमानवान्, आत्मा न संकल्पवान् इत्यादि।' इस रीति से 'आत्मा' (चेतन) में व्यापार (क्रियासामान्य) का प्रवेश नहीं होता। अतः आत्मा में क्रिया न होने से ही उसमें 'कर्तृत्वाभाव' भी है—'नाऽह'मिति। 'अहम्' पद से 'कर्तृत्व' को समझना चाहिये। किसी 'व्यक्तिविशेष' या 'अहंकार' का वह बोधक नहीं है। इसी बात को कहते हैं—'अहमिति कर्तृपदमि'ति। अर्थात् 'अहं' पद कर्तृत्व का बोधक है। 'अहं' पद की कर्तृत्वार्थबोधकता में प्रमाण बताते हैं—'अहं जानामीति।'—'अहं जानामि'=ज्ञानक्रिया का कर्ता, 'अहं जुहोमि'=होमक्रिया का कर्ता, 'अहं ददे'=दान क्रिया का कर्ता, इन प्रयोगों में सर्वत्र 'अहम्' से कर्तृत्व (कर्ता) का ही बोधन (परामर्श) होता है। आत्मा की

(२६८) तत्त्वज्ञान के स्वरूप का प्रदर्शन सर्वविध अहंकार की निवृत्ति।

निष्क्रियता सिद्ध होने पर, सर्वविध कर्तृत्व का अभाव भी उसमें अपने आप सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार उसमें (कर्ता में) कर्तृत्व का अभाव सिद्ध होने के कारण ठीक ही कहा गया है कि 'नाऽहम्' कर्तृत्वाभाव का बोधक है। कर्तृत्वाभाव होने के कारण ही 'न मे'=मेरा नहीं—यहाँ पर 'मम' या 'मे' से 'स्वामित्व' का बोध होता है। एवंच—'आत्मा न स्वामित्ववान्' अर्थ होता है। इसी को बताते हैं—'कर्ताहीति।' जो जिसका कर्ता होता है वह उस पर अपना स्वामित्व (स्वत्व) भी रखता है। 'आत्मा' तो सब तरह से अकर्ता है, अतः उसमें स्वामिता भी नहीं है। स्वाभाविक क्रिया, कर्तृता, और स्वामिता तो 'प्रकृति' में ही होती है। और आत्मा में 'प्रतिबिम्बिताख्यसम्बन्ध' से औपाधिक रहती है, क्योंकि वह अज्ञानकृत होती है, जिसका तत्त्वज्ञान से निषेध हो जाता है। "अस्मि" इस उत्तम पुरुष एकवचन से 'अहम्' इस कर्तृपद का भी आक्षेप हो जाता है। अतः 'अहं नास्मि' इसीसे आत्मा में क्रिया कर्तृत्व का निषेध हो जाता है, तब पुनः 'नाहम्' कहने से तो पुनरुक्ति हो गई। अतः 'अथवेति।'

अथवा 'नाऽस्मि, न मे, नाहम्' की प्रकारान्तर से भी व्याख्या की जाती है—'नास्मि' में 'ना अस्मि' ऐसा पदच्छेद करते हैं। 'नृ' शब्द की प्रथमा विभक्ति का एकवचन 'ना' होता है, उसका अर्थ है 'पुरुष'। एवंच "पुरुषोऽस्मि, न तु प्रसवधर्मा'—मैं पुरुष हूँ, प्रसवधर्मिणी (प्रसवः—महत्तत्त्वादिजननात्मक परिणाम है धर्म जिसका) 'प्रकृति' नहीं हूं'—इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः 'आत्मा' अप्रसवधर्मी होने से 'प्रसव' का कर्ता भी वह नहीं है—'नाहम्' इति—अर्थात् कर्तृत्वाभाववान् 'पुरुष' है। आत्मा में अकर्तृत्व होने से प्रसवनिरूपितस्वामित्व भी उसमें नहीं हो सकता—'न मे' इति अर्थात् स्वामित्वाभाववान् पुरुष है।

ननु 'एतावत्सु ज्ञातेष्वपि कश्चित् कदाचिदज्ञातोविषयोऽस्ति, तदज्ञानं जन्तून् बन्धयिष्यति' इत्यत आह—"अपरिशेषम्" इति। नास्ति किञ्चिदस्मिन् परिशिष्टम् ज्ञातव्यम् यदज्ञानं बन्धयिष्यतीत्यर्थः॥ ६४॥

(२६९) तत्त्वज्ञानस्यापरिशेषत्वम्।

शंका—'बन्ध,' अज्ञान से होता है। सांख्यशास्त्र के बताये पच्चीस पदार्थ ही तो संसार के समस्त पदार्थ नहीं कहे जा सकते। अतः उन पच्चीस पदार्थों का ज्ञान होनेपर भी कदाचित् कोई कालान्तरीय या देशान्तरीय अकथित पदार्थ भी हो सकता है, जिसका ज्ञान न हो पाय, अतः उस पदार्थ के अज्ञान से अज्ञानी प्राणियों को बन्धन हो जायगा।

(२६९) शंका-समाधान के साथ तत्त्वज्ञान की अपरिशेषता।

समा०—'अपरिशेषमि'ति। उसका अर्थ कहते हैं—नास्तीति। इस 'नास्मि, न मे, नाहम्' (इत्याकारक) तत्त्वज्ञान में कोई भी वस्तु ज्ञातव्य (ज्ञेय) रूप से नहीं बचपाई, जिसके अज्ञान से प्राणियों को बन्धन हो सकेगा।

"यावत् कर्माणि दीयन्ते[1] (फलोन्मुखानि भवन्ति, ज्ञानाग्निना न दग्धानि)।
यावत्संसारवासना।
यावदिन्द्रियचापल्यं
तावत् तत्त्वकथा कुतः॥
यावद् देहाभिमानश्च
ममता यावदेव हि।

१. दीयन्ते=फलोन्मुखानि भवन्ति, ज्ञानाग्निना न दग्धानीत्यर्थः।

यावत् प्रयत्नवेगोऽस्ति
यावत्संकल्पकल्पना ॥
यावन्नो मनसः स्थैर्यं।
न यावच्छास्त्रचिन्तनम् ॥
यावन्न गुरुकारुण्यं।
तावत्तत्त्वकथा कुतः ॥ ६४ ॥

(२७०) तत्त्वसाक्षात्कार-फलम् ॥

किं पुनरीदृशेन तत्त्वसाक्षात्कारेण सिध्यतीत्यत आह—

(२७०) तत्त्वसाक्षात्कार का फल।

इस प्रकार के (नास्मि, नाहं, नमे-इत्याकारक) तत्त्वसाक्षात्कार (विवेकख्याति) से और कौन सा लाभ (फल) होता है ? अर्थात् विवेकख्याति होने पर पुरुष क्या करता है ? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ निम्न कारिका उपस्थित हो रही है—

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिम् पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छः ॥ ६५ ॥

अन्व०—तेन स्वच्छः प्रेक्षकवत् अवस्थितः पुरुषः अर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्तां निवृत्तप्रसवां प्रकृतिं पश्यति ॥

भावार्थ—'तेन'=विशुद्धतत्त्वज्ञान से (तत्त्वसाक्षात्कार से) 'स्वच्छः'=रजोगुण की वृत्ति और तमोगुण की वृत्ति से मलिन हुई बुद्धि के संसर्ग से रहित, 'प्रेक्षकवत्' = प्रेक्षक के समान, 'अवस्थितः' = निष्क्रिय, 'पुरुषः' = चेतन, 'अर्थवशात्' = विवेकख्यातिरूप प्रयोजन के सामर्थ्य से, 'सप्तरूपविनिवृत्ताम्'=धर्माधर्मादि सात रूपों से रहित, 'निवृत्तप्रसवाम्' = भोगापवर्गात्मक प्रसव से निवृत्त हुई, 'प्रकृतिम्' = प्रकृति को 'पश्यति' = देखता रहता है।

"तेन" इति। भोगविवेकसाक्षात्कारौ हि प्रकृतेः प्रसोतव्यौ। तौ च प्रसूताविति नास्याः प्रसोतव्यमवशिष्यत इति निवृत्तप्रसवा प्रकृतिः। विवेकज्ञानरूपो योऽर्थस्तस्य वशः सामर्थ्यम् तस्मात्। अतत्त्वज्ञानपूर्वकाणि खलु धर्माधर्माज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि। वैराग्यमपि केवलतौष्टिकानामतत्त्वज्ञानपूर्वकमेव। तत्र तत्त्वज्ञानं विरोधित्वेनातत्त्वज्ञानमुच्छिनत्ति। कारणनिवृत्त्या च सप्त रूपाणि निवर्तन्त इति "सप्तरूपविनिवृत्ता प्रकृतिः" "अवस्थित" इति निष्क्रियः, "स्वच्छः" इति रजस्तमोवृत्तिकलुषया बुद्ध्याऽसम्भिन्नः। सात्त्विकया तु बुद्ध्या तदाऽप्यस्य मनाक् सम्भेदोऽस्त्येव, अन्यथेत्थम्भूतप्रकृतिदर्शनानुपपत्तेरिति ॥ ६५ ॥

तेनेति। 'निवृत्तप्रसवाम्' का अर्थ बताते हैं—'भोगेति।' प्रकृति के प्रसोतव्य अर्थात् प्रकृति से पैदा होने वाले (प्रकट होनेवाले) दो हैं एक 'सुखदुःखान्यतरसाक्षात्काररूप भोग' और दूसरा विवेकसाक्षात्कार' (विवेकख्याति)। वे दोनों (भोग और विवेकसाक्षात्कार) प्रसूत हो चुके (पैदा हो चुके-प्रकट हो चुके)। अतः इस प्रकृति को अब प्रसोतव्य (पैदा करना) कुछ

नहीं रहा, इसलिये प्रकृति को 'निवृत्तप्रसवा'[1] कहा गया है—'निवृत्तः = कृतः प्रसवः भोगापवर्गौ यया सा।' 'अर्थवशात्' का अर्थ बताते हैं—'विवेकज्ञानेति।' विवेकज्ञानरूप (विवेकख्यातिरूप) जो अर्थ (प्रयोजन) उसका 'वशः' = सामर्थ्य-उससे-विवेकज्ञानरूप प्रयोजन के सामर्थ्य से 'सप्तरूपविनिवृत्ताम्' का अर्थ करते हैं—'अतत्त्वेति।' धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, और अनैश्वर्य—ये सात रूप अतत्त्वज्ञानपूर्वक हैं अर्थात् इनका कारण अज्ञान है।

शंका—विषयों से वैराग्य तो तत्त्वज्ञान होने से ही होगा, तब उसे अतत्त्वज्ञानपूर्वक कैसे कहा?

समा०—'केवलतौष्टिकानामि'ति। 'केवल तौष्टिकों' का वैराग्य भी अज्ञानजन्य ही होता है, क्योंकि वे 'विवेकख्याति' का कारण 'प्रकृति, महत्तत्त्व, काल और भाग्य' को ही मानते हैं। किन्तु अतौष्टिकों (मुमुक्षुओं) का 'गुणवैतृष्ण्याख्य' वैराग्य तो तत्त्वज्ञान से होता है। 'तत्त्वज्ञान' अतत्त्वज्ञान का विरोधी होने से वह, अतत्त्वज्ञान (अज्ञान) का संस्कार के सहित नाश कर देता है। अतत्त्वज्ञान (अज्ञान) रूप कारण के नाश (निवृत्ति) से धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य—इन सात रूपों की भी निवृत्ति हो जाती है। इसलिये कहा गया है—'सप्तरूपविनिवृत्ताम्'—'सप्त रूपाणि विनिवृत्तानि यस्याः सा (ऐसी प्रकृति) ताम्।' 'अवस्थित' का अर्थ करते हैं—'निष्क्रिय' अर्थात् 'पश्यति'—देखने की क्रिया के अतिरिक्त समस्त क्रियाशून्य। 'स्वच्छ' का अर्थ करते हैं—रजोगुण की जो दुःखात्मक वृत्तियां और तमोगुण की जो मोहात्मक वृत्तियां, उनसे कलुषित (मलिन) हुई 'बुद्धि' के सम्पर्क से रहित। इसी कारण विवेकख्याति के समय 'भोगानुकूल प्रतिबिम्ब' से शून्य रहता है। लेकिन विवेकख्यातिरूप सात्त्विक प्रकाश से युक्त बुद्धि के साथ तो इस विवेकी चेतन पुरुष का मनाक् सम्पर्क (संभेद) रहता है। अर्थात् 'पश्यति' मात्र क्रिया का प्रयोजक सम्बन्ध किञ्चिन्मात्र (किंचिदिव) रहता है। अन्यथा (मनाक् अर्थात् किञ्चिन्मात्र संबन्ध नहीं मानेंगे तो) 'सप्तरूपविनिवृत्तप्रसवा प्रकृति' को देख पाना ही नहीं बन सकेगा॥ ६५॥

(२७१) एकविषयमपेक्ष्य निवृत्ताया अपि प्रकृतेर्विषयान्तरं प्रतिप्रवृत्तिशङ्का।

स्यादेतत्-'निवृत्तप्रसवामिति न मृष्यामहे। संयोगकृतो हि सर्ग इत्युक्तम्, योग्यता च संयोगः, भोक्तृत्वयोग्यता च पुरुषस्य चैतन्यम्, भोग्यत्वयोग्यता च प्रकृतेर्जडत्वं विषयत्वञ्च। न चैतयोरस्ति निवृत्तिः। न च करणीयाभावान्निवृत्तिः, तज्जातीयस्यान्यस्य करणीयत्वात् पुनः पुनः शब्दाद्युपभोगवत्'-इत्यत आह—

(२७१) एक विषय से प्रकृति की निवृत्ति होने पर भी विषयांतर के प्रति-प्रवृत्ति की आशंका

विवेकी होते हुए भी 'पुरुष का' बुद्धि के साथ किञ्चिन्मात्र भी सम्पर्क जब तक रहेगा तबतक सृष्टि होती ही रहेगी—यह शंका करते हैं—'स्यादेतदिति।' 'निवृत्तप्रसवाम्' जो कहा वह हमें सह्य नहीं है अर्थात् सम्मत नहीं, क्योंकि 'संयोगकृतो हीं सर्गः' इति। अर्थात् 'पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः' (का. २१) के द्वारा बताया गया है प्रकृति और पुरुष दोनों में रहने वाली 'भोग्यत्वभोक्तृत्वयोग्यता' को 'संयोग' कहते हैं। 'संयोग' द्विष्ठ (दो में रहता है) होता है। उनमें भोक्तृत्वयोग्यताख्य जो धर्म है, वह 'पुरुष' में चैतन्यरूप है और भोग्यत्वयोग्यताख्य जो

---

[1]. प्रकृति यदि निवृत्तप्रसवा हो जाती है तो ज्ञान के बिना ही सभी की मुक्ति होने लगेगी। इस शंका का समाधान यह है कि वह (प्रकृति) ज्ञानी के प्रति ही कार्योत्पादन (प्रसव) में समर्थ

धर्म है, वह 'प्रकृति' में जडस्वरूप है। दोनों धर्मों का व्यवहार तादात्म्य-कल्पना के कारण ही किया जाता है। वास्तव में वे दोनों धर्मीस्वरूप ही हैं। एवं च धर्मीस्वरूप चैतन्य और जडत्व नित्य होने से उनका विनाश कभी भी नहीं होगा। अतः उनका संयोग रहने से सृष्टि सदैव होती रहेगी, इसलिये 'विवेकज्ञान' होने के पश्चात् प्रकृति अपरिणामिनी (निवृत्तप्रसवा) होती है यह हमें मान्य नहीं है।

अभिप्राय यह है—योग्यता तो यावद्द्रव्यभावी होती है, तब प्रकृति को निवृत्तप्रसवा (अपरिणामिनी) कैसे कहा जाय ? संयोगकृत (प्रकृति-पुरुषसंबंधकृत) सर्ग है—यह बात 'पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि॰' कारिका में बताई गई है। 'प्रकृति-पुरुष' दोनों के स्वभाव जब एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं तब उनका संयोग कैसे हो पाता है ? यहाँ संयोग है 'योग्यतास्वरूप।' 'पङ्ग्वन्धवदुभयोः संयोगः' यहाँ पंगु और अंध दोनों का संयोग, मार्गोपदेष्टृत्व और उपदेश्यत्व-योग्यता अर्थात् दर्शनशीलत्व और गतिशीलत्वरूपा है। उसी तरह प्रकृत में भी 'पुरुष' का संयोग उसकी 'भोक्तृत्वयोग्यता' है। वह योग्यता चैतन्यस्वरूपा है, क्योंकि चैतन्य के बिना भोक्तृत्व असम्भव है। एवं प्रकृति का संयोग उसकी भोग्यत्वयोग्यता है। वह योग्यता, जडत्व, विषयत्वस्वरूपा है, क्योंकि जडत्व-विषयत्व के बिना भोग्यत्व असंभव है। भोक्तृत्व-भोग्यत्व रूप योग्यता की अर्थात् चैतन्य-जडत्व स्वरूप की निवृत्ति तो कभी होती नहीं, क्योंकि चैतन्य तो पुरुष का स्वरूप ही है और जडत्व-विषयत्व प्रकृति के स्वभाव, हैं अतः स्वरूप तथा स्वभाव का कभी नाश नहीं हुआ करता। निष्कर्ष यह हुआ—पुरुष और प्रकृति की चैतन्य-जडत्वादिरूप भोक्तृत्व-भोग्यत्वस्वरूप योग्यता की निवृत्ति न होने पर योग्यतास्वरूप संयोग की निवृत्ति नहीं हुई। अर्थात् (प्रकृति-पुरुष का) संयोग विद्यमान ही रहा। तब सर्ग (सृष्टि) का होना तो अवश्यंभावी है यह सिद्ध हो गया। ऐसी स्थिति में प्रकृति को 'निवृत्तप्रसवा' कहना ठीक नहीं है। 'चेतन तो जडपदार्थों का भोग किया करता है।' इस नियम के अनुसार प्रकृति के जड़ रहने से, भोगप्रयोजक जो पुरुष का चेतनत्व (चैतन्य) है वह तो विवेकख्याति के पूर्व जैसा ही विवेकख्याति के पश्चात् भी समान ही है, तब भोग की निवृत्ति कैसे हो सकती है ?

यदि ऐसा कहें कि भोगापवर्गरूप कार्य कर चुकने के कारण अब कोई कार्य (कर्तव्य) करना शेष न रहने से ही प्रकृति 'निवृत्तप्रसवा' कहलायगी, तो यह भी नहीं कह सकते-'न च करणीयाऽभावात् निवृत्तिरिति।' कर्तव्यशेष के न रहने से ही सर्गनिवृत्ति हो जायगी सो बात नहीं। क्योंकि 'तज्जातीयस्याऽन्यस्य करणीयत्वादिति।' भोग और अपवर्ग के समानजातीय जो भोगान्तर और अपवर्गान्तर हैं, वे तो कर्तव्य (कार्य) रूप से अभी अवशिष्ट हैं, जैसे—प्रत्येक पुरुष का भोग, अपवर्ग भिन्न भिन्न होने से अनन्त भोगापवर्ग हैं, उसी तरह एक पुरुष के भी कालभेद से (भिन्न भिन्न काल में) अनन्त भोग, अपवर्ग हो सकते हैं। इसी को दृष्टान्त के द्वारा बताते हैं—'पुनः पुनरिति।' शब्द स्पर्शादिकों का उपभोग पुनः पुनः (बार बार) होता है और उनकी उपभोगनिवृत्ति भी पुनः पुनः होती है, उसी तरह अन्य अन्य (भिन्न भिन्न) भोगापवर्गद्वन्द्व का प्रवाह सदैव होता रहेगा। उक्त आशंका के निराकरणार्थ निम्न कारिका उपस्थित हो रही है :—

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको, दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनन्नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

नहीं हो पाती। इसीलिये 'निवृत्तप्रसवां प्रकृतिं पश्यति' कहा गया है। 'निवृत्तप्रसवा' से यह नहीं समझना चाहिये कि वह जीर्ण कामिनी की तरह निवृत्तप्रसवा हो जाती है।

अन्वय :—एकः—मया दृष्टा इति उपेक्षकः, अन्या-अहं दृष्टा इति उपरमति, तयोः संयोगे सत्यपि, सर्गस्य प्रयोजनं नास्ति।

भावार्थ :—'एकः'—विवेकी पुरुष,—'मया'=मैंने (चेतन ने) विवेक के द्वारा, 'दृष्टा'=स्वरूप-स्वभाव धर्मधर्मिभावापन्न प्रकृति का बहुत अनुभव किया इति'=ऐसा विचार (सोच) कर, 'उपेक्षकः'=(उसकी) उपेक्षा करता है। 'अन्या।'=और प्रकृति, 'अहम्'=मैं प्रकृति, 'पुरुषेण दृष्टा'=पुरुष के द्वारा स्वरूप, स्वभावादिचरित्र के सहित बहुत उपयुक्त हो चुकी, 'इति'=यह सोचती हुई 'उपरमति'=प्रवृत्त नहीं होती। ऐसा होने पर 'तयोः'=प्रकृति और पुरुष दोनों का, 'संयोगे सत्यपि'=अनादि काल से होते आये संयोग के रहने पर भी 'सर्गस्य'=भोगापवर्ग-रूप सृष्टि की पुनः, 'प्रयोजनम्'=आवश्यकता, 'नास्ति'=नहीं रहती। भोगापवर्गप्रद सर्ग करने वाला उस प्रकार का संयोग नहीं होता। अभिप्राय यह है—विवेकख्याति से 'असहकृत संयोग' ही सर्ग का कारण होता है। विवेकख्याति से सहकृत संयोग तो सर्ग का कारण होता नहीं, इसलिये 'सृष्टि' (सर्ग) न होगी। अतः 'निवृत्तप्रसवाम्' जो कहा गया है उसे स्वीकार करना ही होगा।

चन्द्रिकाकार ऐसी व्याख्या करते हैं—

"तयोः संयोगेऽपि सर्गस्य जनने प्रयोजनम्=प्रयुज्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या सहकारिकारणं, नास्तीति तयोर्मध्ये अन्या=प्रकृतिः, उपरमति=न प्रसूते, इत्यन्वयः। तत्कथं नास्ति ? तदाह—दृष्टा मयेति। तयोः प्रकृति-पुरुषयोर्मध्ये एकः=द्रष्टा पुरुषः, "स्वभिन्नेयं स्वभिन्नं स्वसम्पर्काद् बध्नातीत्येवंगुणा प्रकृतिर्मया दृष्टा" इत्युपेक्षको भवति=उपरमति, तत्र तद्भोगावेशरहितो भवति, यथा नर्तकीं दृष्ट्वा सभ्यः। तथा च प्रसवे पुरुषस्य प्रकृतिभेदाग्रहः सहकारी, दर्शने सति तु स नास्तीति भावः॥"

(२७२) तन्निरासः।

"दृष्टा" इति। करोतु नाम पौनःपुन्येन शब्दाद्युपभोगम्प्रकृतिर्यया विवेकख्यातिर्न कृता, कृतविवेकख्यातिस्तु शब्दाद्युपभोगन्न जनयति। अविवेकख्यातिनिबन्धनो हि तदुपभोगो, निबन्धनाभावे न तद्भवितुमर्हति, अंकुर इव बीजाभावे। प्राकृतान् हि सुखदुःखमोहात्मनः शब्दादींस्तदविवेकात् 'ममैतत्' इत्यभिमन्यमान आत्मा भुञ्जीत। एवं विवेकख्यातिमपि प्राकृतीमविवेकादेवात्मा 'मदर्थेयम्' इति मन्यते। उत्पन्नविवेकख्यातिस्तु तदसंसर्गाच्छब्दादीन्नोपभोक्तुमर्हति नापि विवेकख्यातिम्प्राकृतीमपि कर्तुम्। ततो विविक्त आत्मा न स्वार्थमभिमन्तुमर्हति। पुरुषार्थौ च भोगविवेकौ प्रकृत्यारम्भप्रयोजकावित्यपुरुषार्थौ सन्तौ न प्रकृतिं प्रयोजयतः। तदिदमुक्तम्—"प्रयोजनन्नास्ति सर्गस्य" इति। अत्र प्रयुज्यते सर्गे प्रकृतिरनेनेति प्रयोजनम्, तदपुरुषार्थे नास्तीत्यर्थः॥ ६६॥

(२७२) पूर्वोक्त आशंका का निरास।

"दृष्टा" इति। 'करोतु नाम पौनःपुन्येनेति।' जैसे—बुद्ध्यात्मक प्रकृति ने जिस आत्मा के प्रति विवेकख्याति नहीं पैदा की उसके प्रति वह प्रकृति बारबार कभी उपभोग तो कभी निवृत्ति पुनः उपभोग, पुनः निवृत्ति इस प्रकार चक्र घुमाती रहे, किन्तु जिस आत्मा के प्रति उसने विवेकख्याति कर दी उस आत्मा के प्रति वह प्रकृति, शब्द स्पर्शादि उप-

१. प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य' = प्रयोजनं नास्ति इत्यत्र हेतुः 'अपुरुषार्थत्वे' इति। मम इदमित्यभिमानाभावात् इत्यर्थः, अर्थात् सहकारिकारणाभावे योग्यतया अकिंचित्करत्वात् सर्गो न भवति।—(सा. बो.)

भोगात्मक सर्ग को पैदा नहीं करेगी। इस रीति से कारण की सत्ता के द्वारा कार्य की सत्ता बताई गई। अब कारणाभाव से कार्याभाव को बताया जा रहा है 'अविवेकेति' शब्दस्पर्शाद्युपभोगात्मक संसार, विवेकख्यात्यभावविशिष्ट संयोग से उत्पन्न होता है अर्थात् संसार की उत्पत्ति में कारण विवेकख्यात्यभावविशिष्ट संयोग है। एवंच जब अविवेकख्यातिनिबन्धन, तदुपभोग अर्थात् शब्दस्पर्शाद्युपभोगरूपसंसार है तब निबन्धन के अभाव में अर्थात् विवेकख्यात्यभावविशिष्ट संयोगात्मक कारण का अभाव रहने पर संसार नहीं होगा। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव रहेगा। जैसे—बीजात्मक कारण के न रहने पर अङ्कुररूप कार्य नहीं होता[1]।

जब तक अज्ञान तभी तक भोग—'प्राकृतानिति।' प्राकृत अर्थात् प्रकृति से पैदा होने वाले सुख दुःख-मोहात्मक शब्दस्पर्शादिविषयों को, प्रकृतिसंबंधी अविवेकग्रह के कारण (प्रकृति-पुरुष दोनों का विवेकग्रह न होने से) अर्थात् अज्ञान से 'मम एते' ये मेरे हैं (इन शब्दादिकों का स्वामित्व मुझमें है) यह अभिमान करता हुआ उपभोग लेता है, अर्थात् अज्ञान से शब्दादि विषयों का उपभोग करता है। उसी प्रकार आत्मा, उत्पन्न होने वाली प्राकृती (प्रकृति की धर्मरूप) विवेकख्याति (सत्त्व-पुरुषाऽन्यताज्ञानरूप) को भी अज्ञान से ही 'मदर्था इयम्' यह उत्पन्न होनेवाली विवेकख्याति मेरे अपवर्गरूप प्रयोजन के लिये है अर्थात् 'विवेकख्यातिनिरूपितस्वामितावान् अहम्' ऐसा अभिमान करता है। विवेकख्याति के पैदा होने पर तो आत्मा, अज्ञान का नाश हो जाने से 'स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वाख्य' संसर्ग (संबंध) न होने के कारण शब्दादि विषयों का भोग नहीं ले पाता। एवं प्रकृति से विविक्त (विवेकख्यातिमान्) हुआ—'चेतनः 'प्रकृतिभिन्नः'— आत्मा, प्राकृती (प्रकृतिजन्य) विवेकख्याति को अपने प्रयोजन के लिये अपनी नहीं समझता। भोग और विवेकख्याति दोनों जबतक पुरुषार्थ हैं अर्थात् जब तक प्राप्तव्य दशा=अनागतावस्था में हैं, तभी तक सर्ग के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति (आरंभ) के प्रयोजक होते हैं, लेकिन जब वे वर्तमान अवस्था में आ जाते हैं तब तो पुरुष ने अर्थी (इच्छुक) होकर उन्हें स्वीकार कर लिया तो वे चरितार्थ हो गये, अब उनके लिये पुरुष, अर्थी नहीं रहता, तब तो उनमें अपुरुषार्थता आ गई, अपुरुषार्थता आ जाने से वे प्रकृति को सृष्टि के लिये प्रेरित नहीं करते[2]। इस प्रकार अपुरुषार्थता को प्राप्त हुए भोगापवर्ग में प्रेरकता न होने से ही कहा गया—'प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य' इति।—अब सर्ग का प्रयोजक कोई नहीं रहा। यहां 'प्रयोजन' शब्द, प्रयोजकपरक है—'अन्ने'ति। 'प्रयुज्यते=प्रेर्यते सर्गे प्रकृतिः अनेन'=अनागतावस्थभोगापवर्गात्मकेन तत्—'प्रयोजनम्' अर्थात् प्रयोजकम्। 'तद्पुरुषार्थे नास्ति[3]'—उक्त प्रयोजकता अनागतावस्थाभिन्न पुरुषार्थ (अपुरुषार्थ) में नहीं है। एवंच वर्तमानावस्थापन्नभोगापवर्ग, प्रकृति के प्रेरक नहीं हुआ करते ॥ ६६ ॥

---

१. "नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात्"—(सां. सू. ६।१४४) उपभोगे निमित्तानां सोपाधिसंयोगविशेषतत्कारणाविवेकादीनाम्-इत्यर्थः।

२. "विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत्"—(सां. सू. ६।१४३) विमुक्तोऽयमिति बोधादेव मुक्तं प्रति न प्रधानस्य सृष्टिः = प्रवृत्तिः, लोकवत् = यथा हि लोके कश्चित् कस्यचित् बन्धमोक्षार्थं यतते, जाते च मोक्षे उदास्ते तथा प्रधानम्।

—[सा. बो. ;

३. 'यह मेरा है' इत्याकारक अभिमान न रहने से एवंच सहकारियों के अभाव में केवल योग्यता की अकिञ्चित्करता होने से सृष्टि नहीं हो पाती।

स्यादेतत्—"उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारान्मुक्तश्चेत्तदनन्तरमेव मुक्तस्य तस्य देहपातः स्यादिति कथमदेहः प्रकृतिमुपश्येत् । अथ तत्त्वज्ञानेऽपि न मुच्यते कर्मणामप्रक्षीणत्वात् ? तेषां कुतः प्रक्षयः ? 'भोगात्' इति चेत्, हन्त भोस्तत्त्वज्ञानन्न मोक्षसाधनम्—इति 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानजन्मना तत्त्वज्ञानेनापवर्ग' इति रिक्तं वचः । 'भोगेन चापरिसंख्येयः कर्माशयप्रचयोऽनियतविपाककालः क्षेतव्यः, ततश्चापवर्गप्राप्तिः इत्यपि मनोरथमात्रम्" इत्यत आह—

(२७३) विविक्तस्यात्मनो देहपातात्प्रकृतिदर्शनासम्भवशङ्का ।

अग्रिम कारिका की अवतरणभूमिका में आक्षेप करते हैं—'तत्त्वज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है - 'स्यादेतदिति ।' "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"—इस याजुषश्रुति के अनुसार, विवेकसाक्षात्कार से यदि पुरुष मुक्त होता है तो विवेकसाक्षात्कार के अनन्तर ही विवेकी पुरुष का स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरों से वियोग होना चाहिये । क्योंकि "न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिः, अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः"—यह छान्दोग्यश्रुति बता रही है कि जब तक शरीर है तब तक सुख दुःख की निवृत्ति नहीं होती, उसकी निवृत्ति न होने से मुक्तता नहीं बनती । तब उभयविध शरीर से वियुक्त हुआ पुरुष, शरीररहित कहलायगा, अतएव प्रतिबिम्ब शून्य हो जाने से वह प्रकृति (बुद्धि) को किस साधन से देखेगा । एवं च 'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः'—(का ६५) जो कहा है, वह ठीक नहीं है ।

(२७३) विविक्त हुए आत्मा का देहपात हो जाने से प्रकृति दर्शन के असंभव की आशंका ।

इस पर भी यदि कहें कि तत्त्वज्ञान (विवेकख्याति) होने पर भी पुरुष देह से वियुक्त नहीं होता, क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का नाश नहीं हो पाया । तत्त्वज्ञान से सञ्चित कर्मों का ही नाश होता है ।

शंका—प्रारब्ध कर्मों का विनाश किससे होता है ?

उत्तर—"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि"—अतः भोग से ही नाश होगा ।

यदि भोग से नाश होगा तो तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साधन नहीं कहना चाहिये । अतः 'व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्'—(का. २) के द्वारा जो कहा गया, वह व्यर्थ ही है । उसी का अर्थ कहते हैं—'व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानजन्मना तत्त्वज्ञानेनाऽपवर्ग' इति । बुद्ध्यादि पृथिव्यन्त व्यक्त, मूलप्रकृति अव्यक्त और ज्ञ = पुरुष इनके ज्ञान से उत्पन्न होने वाले तत्त्वज्ञान (पंचविंशति पदार्थज्ञान से अर्थात् विवेकख्याति) से अपवर्ग (मोक्ष) होता है—यह कहना व्यर्थ है । अगर यह व्यर्थ है तो 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः'—प्रारब्धकर्मों का भोग से ही नाश होता है—यह कथन भी ठीक नहीं है 'भोगेन चेति ।' कर्माशयप्रचय—प्रारब्धकर्मों का धर्माधर्मरूप जो आशय, उनकी सर्गसर्गान्तरीय उपार्जित-अधिकता, अपरिसंख्येय है अर्थात् अरब खरब की संख्या से भी कहीं अधिक है, अर्थात् गणनातीत है, अतः उनके विपाक का समय नियत नहीं है, अर्थात् भोग के द्वारा उनके क्षीण होने का समय निश्चित नहीं है—ऐसे कर्मों को सुखदुःख साक्षात्काररूप भोग से नष्ट करना और उनके नष्ट होनेपर अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होने का भी कोई काल निश्चित न होने से पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान की तरह ही प्रारब्धकर्मक्षय से अपवर्गप्राप्ति होगी—यह कहना भी एक मनोराज्य ही है अर्थात् व्यर्थ है । इस आशंका के निवारणार्थ निम्न कारिका उपस्थित हो रही है :—

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात्, चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः ॥ ६७ ॥

अन्व०—सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनाम् अकारणप्राप्तौ संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवत् धृतशरीरः सन् तिष्ठति ॥

भावाऽर्थः—'सम्यग्ज्ञानाधिगमात्' = मिथ्याज्ञान के उच्छेदक तत्त्वज्ञान (विवेकख्याति) के आविर्भाव से, (आविर्भूत तत्त्वज्ञान के बल से अविद्यारूपी बीज के दग्ध हो जाने के कारण) 'धर्मादीनाम्' = देहारंभक सञ्चित तथा क्रियमाण धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य के दग्ध हो जाने से अकारणप्राप्तौ = उनकी कारणता नष्ट होने पर अर्थात् उनमें अकारणता प्राप्त होने पर, संस्कारवशात् = भोगप्राप्ति के लिये प्रारब्ध धर्माधर्मादिकों की इसी शरीर में समाप्ति निश्चित होने से, उन आरब्ध धर्मादिकों का देहारम्भक जो अदृष्ट संस्कार उसके किञ्चित्सामर्थ्य से, 'चक्रभ्रमिवत्' = दण्ड से आरब्ध हुआ चक्र का भ्रमण, दण्ड के अभाव में भी वेगाख्य संस्कार के सामर्थ्य से कुछ काल तक होता रहता है, उसी तरह आरब्ध हुए कर्मफल के समय तक, 'धृतशरीरः सन्' = शरीरधारण करता हुआ, यह चेतन 'तिष्ठति' = रहता है[1]।

"सम्यक् इति। तत्त्वसाक्षात्कारोदयादेवानादिरप्यनियतविपाककालोऽपि कर्माशयप्रचयो दग्धबीजभावतया न जात्यायुर्भोगलक्षणाय फलाय कल्पते। क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यङ्कुरं प्रसुवते। तत्त्वज्ञाननिदाघनिपीतसकलक्लेशसलिलायामूषरायां कुतः कर्मबीजानामङ्कुरप्रसवः? तदिदमुक्तम् "धर्मादीनामकारणप्राप्तौ" इति, अकारणत्वप्राप्तावित्यर्थः। उत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽपि च संस्कारवशात् तिष्ठति, यथोपरतेऽपि कुलालव्यापारे चक्रं वेगाख्यसंस्कारवशात् भ्रमत् तिष्ठति। कालपरिपाकवशात्तूपरते संस्कारे निष्क्रियम्भवति। शरीरस्थितौ च प्रारब्धकर्मपरिपाकौ धर्माधर्मौ संस्कारौ, तौ च भोगेन क्षेतव्यौ। तथा चानुश्रूयते—"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते" इति "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इति च [छान्दोग्य, ६।१४।२]॥ प्रक्षीयमाणाविद्यासंस्कारावशेषश्च संस्कारस्तद्वशात् तत्सामर्थ्यात् धृतशरीरस्तिष्ठति॥ ६७॥

(२७२) तन्निरासः विविक्तस्यापि संस्कारवशाच्छरीरधारणम्।

---

1. प्रकृति का दर्शन होने तक शरीर का रहना आवश्यक है, अन्यथा निष्क्रिय, निर्विकार पुरुष बिना शरीर के प्रकृति को कैसे देख सकेगा? किन्तु अन्तिमक्षण में शरीर की स्थिति रहना तो संभव नहीं, तत्त्वसाक्षात्कार होते ही पुरुष मुक्त हो जाता है। इस आशंका के निरासार्थ "तस्य तावदेव" इस श्रुति से सिद्ध जीवन्मुक्ति का दृष्टान्त के द्वारा उपपादन किया गया है।

'तत्त्वसाक्षात्कार' इति। 'तत्त्वसाक्षात्कार' (विवेकख्याति) के उदय होने से ही उस अनादि और अनिश्चित काल वाले कर्माशयप्रचय का बीजभाव दग्ध हो जाने से (वह कर्मांशयसमूह अब कारण की कोटि में न रहने से) वह जाति, आयु के भोगरूप फल की उत्पत्ति करने में समर्थ नहीं रहता। उसे दृष्टान्त के द्वारा और स्पष्ट करते हैं—'क्लेश-सलिलेति।'—अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश—इन पंच क्लेशरूपी जल से सिक्त, बुद्धिरूप क्षेत्रभूमि में शुक्ल, कृष्ण, और शुक्लकृष्ण तीन प्रकार के कर्मरूप धर्माधर्मादि सात बीज सृष्टिरूप अंकुर को पैदा करते हैं, जिससे सुखदुःखमोहात्मक फल मिलता रहता है। किन्तु तत्त्वज्ञानजन्यविवेकख्यातिरूप ग्रीष्म (गरमी) के द्वारा अविद्यादि-पंचक्लेशात्मक जल को सोख लिये जाने पर उस ऊसर भूमि में वे कर्मबीज कैसे भला सर्गरूपी अंकुर को पैदा कर सकते हैं? अर्थात् कदापि पैदा नहीं कर सकते। एवं च अंकुरोत्पादक कारण के न होने से ही यह 'धर्मादीनामकारणप्राप्तौ' कहा गया है। 'अकारणप्राप्तौ' का अर्थ करते हैं—'अकारणत्वप्राप्तौ' अर्थात् कारणता के नष्ट हो जाने से। एवं च—विवेकज्ञान के पैदा होने पर भी संस्कार के सामर्थ्य से 'संक्रियन्ते = आरभ्यन्ते भोगा अनया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संस्कार का अर्थ है अविद्या, वह स्थूल-सूक्ष्म शरीर में रहती है। इसी को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं—'यथोपरतेऽपीति।' जैसे कुलाल का व्यापार (हाथ से डण्डे के द्वारा चलाने की क्रिया) समाप्त होने पर भी कुलाल का चाक (चक्र) 'वेग' संज्ञकगुण विशेषरूपसंस्कार के सामर्थ्य से घूमता रहता है, उस संस्कार के ध्वंस (विनाश) होने का जब समय प्राप्त होता है, तब उस वेगाख्य संस्कार के नष्ट होने पर 'चक्र' निष्क्रिय होता है। "संस्कारवशात् धृतशरीरस्तिष्ठति" जो कहा गया है, वहां यह प्रश्न हो सकता है कि शरीरधारण करने में कौन सा संस्कार है?

(२७४) पूर्वोक्त आशंका का निरास = विविक्त होने पर भी आत्मा को संस्कार वश शरीर धारण करना होता है।

इसी के समाधानार्थ प्रकृत (दार्ष्टान्तिक) में उक्त दृष्टान्त को घटित करते हैं - 'शरीर-स्थितावित्ति।' स्थूल-सूक्ष्मोभयविध शरीर के रहने पर ही सूक्ष्म शरीर में विद्यमान कर्मफल भोग दिलाने वाले अदृष्टपदवाच्य धर्माधर्मरूप संस्कारों (बीज रूप होने से और शरीरस्थिति के पूरक होने से इन्हें संस्कार कहते हैं) को भी सुखदुःख साक्षात्कारात्मक फल भोग से नष्ट करना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान से सभी धर्माधर्मों का विनाश हो जाता है, अतः फलभोग के लिये जन्मान्तर की आवश्यकता नहीं है। इसी का समर्थन भागवद्गीता भी कर रही है—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।" किन्तु जिन धर्माधर्मों के द्वारा शरीर के आरम्भ के साथ ही शारीरिक सुःखदुखों के भोग को पैदा करने के लिये उनका प्रारम्भ किया गया है अर्थात् समाप्ति नहीं हुई है, उनका तत्त्वज्ञान से विनाश नहीं होगा। उनका भी यदि विनाश मान लिया जाय तो चक्रभ्रमि की तरह या फेंके गये बाण की तरह तब तक शरीर की स्थिति अवश्य माननी ही होगी। अतः शरीर के विनाश की कल्पना उचित नहीं है। अभिप्राय यह है कि तत्त्वज्ञानियों के समस्त धर्माधर्म का पूर्णरूपेण क्षय (विनाश) हो जाने से उनके लिये जन्मान्तरीय शरीरधारण करने की आवश्यकता नहीं है। एवं च—वर्तमानशरीर के आरम्भक धर्माधर्मों का विनाश न हो पाने से जब तक आयु है तब तक शरीर धारण कर रहना अनिवार्य है। "नामुक्तं०" यह वाक्य पतद्विषयक ही है। तथा च—"ज्ञानाग्निः" यहां का सर्वकर्म शब्द प्रारब्धकर्म से भिन्न संचितक्रियमाणकर्म परक है। "नामुक्तं" यह प्रारब्धकर्म विषयक है। अतः दोनों में कोई विरोध नहीं है। उक्त कथन में छान्दोग्यश्रुति का प्रमाण देते

हैं—'तस्येति'। उस विवेकी पुरुष को मोक्ष लाभ करने में इतना ही काल विलम्ब रहता है, जब तक वह शरीर से वियुक्त नहीं होता है। शरीरपात होनेपर तो वह मोक्षलाभ कर लेता है। वेदान्त-सूत्र भी इसी की पुष्टि करता है—'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते'—इतरे आरब्धपुण्यपापा विवेकिनस्तु भोगेन तत्सुखदुःखसाक्षात्कारेण क्षपयित्वा धर्माधर्मनाशं कृत्वा अथ पश्चात् सम्पद्यते मुक्तिस्थितिं गच्छति। 'संस्कार' का अर्थ बताते हैं—'प्रक्षीयमाणेति।' विवेकख्याति से विनाश होने वाले अविद्या के धर्माधर्मरूप संस्कारों में से जो नष्ट हु वे सञ्चित हैं और जो शेष रहे अर्थात् नष्ट नहीं हुए वे 'धर्मादि' प्रारब्ध संस्कार कहे जाते हैं उन प्रारब्ध संस्कारों के सामर्थ्य से शरीरधारण कर रहना पड़ता है ॥ ६७ ॥

(२७५) शरीरनाशे ऐकान्तिकात्यन्तिकमुक्तिः।

स्यादेतत्-"यदि संस्कारशेषादपि धृतशरीरस्तथाऽपि कदाऽस्य मोक्षो भविष्यति ?" इत्यत आह—

(२७५) शरीर का नाश होने पर ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक मुक्ति होती है।

अग्रिम कारिका में मोक्षसमय की जिज्ञासा शान्त की जायगी। 'स्यादेतदिति।' यदि अवशिष्ट प्रारब्धधर्मादि संस्कार के कारण भी यदि पुरुष को शरीरधारण करना पड़ता है तो उसका[1] मोक्ष कब होगा ? अर्थात् 'ऐकान्तिक' और 'आत्यन्तिक' दुःखनिवृत्ति कब होगी ? इस जिज्ञासा के समाधानार्थ निम्न कारिका उपस्थित हो रही है।

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

अन्वयः—शरीरभेदे प्राप्ते सति चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ सत्याम् ऐकान्तिकम् आत्यन्तिकम् उभयं कैवल्यम् आप्नोति ॥

भावार्थः—प्रारब्धकर्मभोग समाप्त होने पर 'शरीरभेदे सति'=दोनों शरीरों का वियोग होने पर, (देहपात होने पर), 'चरितार्थत्वात्'=कृतकृत्य हो जाने से—'चरितौ आचरितौ भोगापवर्गात्मकौ अर्थौ यया सा तत्वात्'—'प्रधानविनिवृत्तौ सत्याम्'=प्रकृति का अत्यन्त वियोग होने पर, 'ऐकान्तिकम्'=अवश्य—'एक एव अन्तः जन्यजनकभावसंबंधः व्याप्तिनियमो यस्य' इति, 'एकान्तः'=अवश्यं जायमानो दुःखध्वंसः, 'एकान्त एव ऐकान्तिकः', आत्यन्तिकम्'=अत्यन्त; अर्थात् जो 'स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावाऽसमानकालीनो यः दुःखध्वंसः' हो वही दुःखध्वंस आत्यन्तिक है, 'उभयविधं'=दोनो प्रकार के, 'कैवल्यम्'=दुःखत्रयध्वंसात्मक मुक्ति को—'केवलस्य आत्मस्वरूपस्य भावः कैवल्यम्'—पुरुष, 'आप्नोति'=[2]प्राप्त करता है। वस्तुतः मुक्ति तो प्रकृति पाती है जिससे पुरुष अपने स्वरूप से स्थित हो पाता है ॥

---

१. "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इस छान्दोग्यश्रुति से प्रतिज्ञात मोक्ष।

२. यहां यह सन्देह हो सकता है कि सदा सर्वदा ही भोग होते रहना तो संभव नहीं, तब भोगशून्य समय में कुछ न कुछ कर्म होते रहना स्वाभाविक है, उन क्रियमाण कर्मों की ही

"प्राप्ते" इति। अनारब्धविपाकानान्तावत् कर्माशयानां तत्त्वज्ञानाग्निना बीजभावो दग्धः। प्रारब्धविपाकानान्तूपभोगेन क्षये सति, "प्राप्ते, शरीरभेदे" इतिविनाशे। "चरितार्थत्वात्" इति कृतप्रयोजनत्वात्। प्रधानस्य तम्पुरुषम्प्रति विनिवृत्तौ "ऐकान्तिकम्" = अवश्यम्भावि "आत्यन्तिकम्" = अविनाशि इत्युभयं "कैवल्यम्" दुःखत्रयविगमम्प्राप्नोति पुरुषः ॥ ६८ ॥

'अनारब्धेति'। जिनका फलभोग मिलना आरम्भ नहीं हुआ है ऐसे सञ्चित शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण कर्मों के धर्माधर्मसंज्ञक आशयों (कर्माशयों) के बीजभाव (कारणता) को तत्त्वज्ञान की अग्नि (विवेकख्यातिरूपवह्नि) से पहिले दग्ध (नष्ट) कर दिया जाता है, और जिनका फल मिलना आरंभ हो चुका है ऐसे धर्माधर्मादिकों का सुखदुःखसाक्षात्काररूप भोग से क्षय (नाश) होने पर शरीरभेद अर्थात् शरीर का विनाश (वियोग) हो जाता है, तब प्रधान (प्रकृति) के चरितार्थ—भोगापवर्गात्मक प्रयोजन निष्पन्न—हो जाने के कारण (प्रधान-प्रकृति) निरर्थक हो जाती है, तब उस प्रकृति की शरीर से वियुक्त हुए उस पुरुष के प्रति निवृत्ति हो जाती है अर्थात् 'पुरुष' से 'प्रकृति' का अत्यन्त वियोग हो जाता है। तब ऐकान्तिक अर्थात् 'अवश्यंभावी' और आत्यन्तिक अर्थात् 'अविनाशी' दोनों प्रकार के 'कैवल्य' को अर्थात् आध्यात्मिक—आधिभौतिक—आधिदैविक—तीनों दुःखों के विगम (निवृत्ति) को पुरुष प्राप्त करता है। शरीरस्थिति तक 'पुरमें' अर्थात् शरीर में शयन करते रहने से 'पुरुष' कहलाता है। शरीर से वियोग हो जाने पर वह चेतन (पुरुष) अपने स्वरूप में स्थित रहता है (कैवल्य प्राप्त कर लेता है) वास्तवमें—'प्रकृति' मुक्त की जाती है, 'पुरुष' तो सदा मुक्त ही है ॥ ६८ ॥

आरब्धविपाकता होने से उपभोग के द्वारा उनका क्षय होना निश्चित है तब पुनः कर्म करना निश्चित होने से मोक्ष तो कभी नहीं हो सकेगा।

इस सन्देह का समाधान यह होगा कि क्रियमाण कर्मों का सम्बन्ध न हो पाने से मोक्ष होने में कोई बाधक नहीं है। छान्दोग्य श्रुति कहती है—"यथा पुष्करपलाशम् आपो न श्लिष्यन्ते एवम् एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयतेवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते"। एवं ब्रह्मसूत्रकार भी कहते हैं—"तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्" [ब्र. सू. ४। १। १३]।

जैसे—कमलपत्र को जल स्पर्श नहीं करता उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी को पाप स्पर्श नहीं करता। अग्नि में फेंकी हुई सरकण्डे के ऊपर की रुई जैसे भस्म हो जाती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानी के सभी कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं "आत्मज्ञान होने पर आगामि कर्मों का स्पर्श नहीं हो पाता, और पूर्वसंचित कर्मों का नाश हो जाता है, इसी प्रकार परमात्मा का लिङ्गशरीरावच्छिन्न अंश, मायिक लिङ्गशरीर के नष्ट होने पर परमात्मा को प्राप्त कर पुनः निवृत्त नहीं होता किन्तु तत्त्व ज्ञान होने से उसका मोक्ष होता है।

'घटे भिन्ने यथाकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा'।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म सम्पद्यते पुनः ॥

(२७६) सांख्यशास्त्रस्य परमर्षिप्रणीतत्वम् । प्रमाणेनोपपादितेऽप्यत्यन्तश्रद्धोत्पादनाय परमर्षिपूर्वकत्वमाह-

ईश्वर कृष्ण के द्वारा संग्रथित इस शास्त्र पर श्रद्धा पैदा कराने के लिए उसकी परमर्षिपूर्वकता बताते हैं—'प्रमाणेनेति ।' शास्त्रप्रतिपाद्य विषय का उपपादन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों के द्वारा कर चुकने पर भी मुमुक्षुओं की उस पर श्रद्धा उत्पादन कराने के लिये उस शास्त्र की परमर्षिपूर्वकता निम्न कारिका के द्वारा बताते हैं—

(२७७) सांख्यशास्त्र परमर्षि के द्वारा प्रणीत है ।

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यम्परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—इदं गुह्यं पुरुषार्थज्ञानं परमर्षिणा समाख्यातं, यत्र भूतानां स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः चिन्त्यन्ते ।

भावार्थः—'गुह्यम्' = इस शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित 'गुह्यम्' = तत्त्वविषयकबुद्धि से हीन लोगों को दुर्बोध 'पुरुषार्थज्ञानम्' = पुरुष के भोगापवर्गात्मक प्रयोजन को सम्पन्न कराने वाला ज्ञान 'परमर्षिणा = ' ऋषिश्रेष्ठ कपिल ने 'समाख्यातम्' = बताया । कपिल की परमर्षिता 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' में बताई है—"ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येदिति ।" इस प्रकार यह शास्त्र आप्तोक्त है यह बताकर, आगम से भी वह सम्मत है, उसे बताते हैं—'यत्र' = जिस ज्ञान के निमित्त अन्य वैदिक शास्त्रों के द्वारा भी 'भूतानाम्' पृथिव्यादिस्थूलभूत और प्राणियों की 'स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः' = स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय 'चिन्त्यन्ते' = बताये जाते हैं । वैदिकशास्त्र भी तत्त्वज्ञान के लिये जीवों का जन्म, स्थिति, और लय का वर्णन करते हैं, वही यह तत्त्वज्ञान है, उनसे यह भिन्न नहीं है ।

"पुरुष इति । "गुह्यम्" गुहानिवासि, स्थूलधियां दुर्बोधमिति यावत् । "परमर्षिणा" कपिलेन । तामेव श्रद्धामागमिकत्वेन द्रढयति—"स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते 'यत्र भूतानाम्" इति । 'यत्र' ज्ञाने यदर्थम् , यथा 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इति । भूतानाम्" = प्राणिनां "स्थित्युत्पतिप्रलयाः" आगमैः "चिन्त्यन्ते" ॥ ६९ ॥

'गुह्यम्' का अर्थ बताते हैं—'गुहानिवासीति ।'—'गुहा'-'गुम् = अन्धकारम् अज्ञानं हन्ति इति ।'—पूर्ण प्रकाश से व्याप्त हुए हृदय में निवास करने वाला । अतः सांख्यशास्त्रीयतत्त्वों का जिन्हें अभ्यास नहीं है ऐसे स्थूलबुद्धि वालों को दुर्बोध । 'परमर्षिणा' पद से कपिल का परिचय कराना अभिप्रेत है, इसलिये कहा 'कपिलेन' अर्थात् यह सांख्यज्ञान कपिल ऋषि के द्वारा बताया गया है, अतः यह श्रद्धेय है । उसी श्रद्धा को सुदृढ़ कराने के लिये उसकी 'आगमिकता' = वेदमूलकता भी बताते हैं—'स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्'—'यत्र' पद का अर्थ किया है 'ज्ञाने' इति । यहाँ निमित्त अर्थ में सप्तमी की गई है 'निमित्तात्कर्मयोगे' वार्तिक से । यहाँ 'निमित्त' का अर्थ है 'फल-प्रयोजन' । एवं च जिस ज्ञान की प्राप्ति के लिये । महाभाष्य का प्रमाण देते हैं—'चर्मणि द्विपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् । केशेषु चमरीं हन्ति, सीम्नि पुष्कलको हतः ॥'

'चर्मणि' का अर्थ है—चर्म के निमित्त, शेर को मारता है, 'दन्तयोः' का अर्थ है—दन्त के निमित्त हाथी को मारता है, 'केशेषु' का अर्थ है केश के निमित्त चमरीगौ को मारता है, 'सीम्नि' का अर्थ है—राज्य की सीमा के निमित्त 'पुष्कल' नाम के राजा को मारता है। 'भूतानाम्' का अर्थ करते हैं—'प्राणिनाम्' अर्थात् स्थूलसूक्ष्मशरीरवाले और 'स्थूल पृथिव्यादि भूतों' की भी उत्पत्ति, (जन्म, आविर्भाव), स्थिति (भोग्यावस्था-स्थिरता) प्रलय = तिरोभाव, मरण, इन सबका वर्णन, आगम अर्थात् वैदिक शास्त्रों के द्वारा किया जाता है ॥ ६९ ॥

(२७७) सांख्यशास्त्रस्य गुरुशिष्यपरम्परा कपिलादारभ्य पञ्चशिखपर्यन्तम्।

स्यादेतत्-"यत् परमर्षिणा साक्षात्कथितं तच्छ्रद्दधीमहि, यत्पुनरीश्वरकृष्णेन कथितम्, तत्र कुतः श्रद्धा ?" इत्यत आह—

(२७७) कपिल से लेकर पंचशिखाचार्य तक सांख्य शास्त्र की गुरु-शिष्य परम्परा।

अब सम्प्रदायपुरःसर यह तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ है—'स्यादेतदिति'। जो ज्ञान परमर्षि कपिल ने जिसे साक्षात् बताया हो उस ज्ञान पर हम श्रद्धा कर सकते हैं, किन्तु जो ज्ञान किसी ईश्वरकृष्ण ने कहा, उस पर हमारी श्रद्धा अर्थात् उपादेय-बुद्धि कैसे हो सकती है ? इस आशंका के समाधानार्थ निम्न कारिका उपस्थित हो रही है—

एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन च बहुधा कृतन्तन्त्रम् ॥ ७० ॥

अन्व०—मुनिः अनुकम्पया अग्र्यं पवित्रम् एतत् आसुरये प्रददौ, आसुरिरपि पंचशिखाय, तेन च तन्त्रं बहुधा कृतम् ॥

भावार्थः—'मुनिः'—कपिल ने, 'अनुकम्पया' = 'आसुरि' को मोक्ष प्राप्त हो इस दया से, 'अग्र्यम्' = श्रेष्ठ अर्थात् अनादिकाल से चले आने वाले 'पवित्रम्' = अत्यन्त पवित्र, 'एतत्' = यह सांख्यज्ञान, दिया और उसने 'आसुरये' = आसुरि नाम के शिष्य को, 'प्रददौ' = दिया, और 'आसुरिरपि' = आसुरिमुनि ने भी 'पंचशिखाय =' अपने शिष्य पंचशिख नामके मुनि को दिया 'तेन च' = और उस पंचशिखऋषि ने 'तन्त्रम्' = सांख्यशास्त्र रूप इस ज्ञान को 'बहुधा कृतम्' = स्वरचित अनेक ग्रन्थों के द्वारा अनेक शिष्यों में प्रचारित किया ॥

"एतत्" इति। "एतत् पवित्रम्" = पावनम्–दुःखत्रयहेतोः पाप्मनः पुनातीति। अग्र्यम्"=सर्वेभ्यः पवित्रेभ्यो मुख्यम्, "मुनिः" कपिलः आसुरयेऽनुकम्पया प्रददौ, आसुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्" ॥ ७० ॥

'एतदिति'। 'एतत् पवित्रम्' का अर्थ किया 'पावनम्'। 'पावनम्' का अर्थ करते हैं—'दुःखेति'। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों की हेतुभूत अविद्या (पाप) से पुनाति अर्थात् अविद्या को नष्ट कर मोक्ष देने वाले विवेकख्याति-रूप पुण्य को देता हैं। अग्र्यम् का अर्थ करते हैं 'सर्वेभ्य' इति। मोक्षप्रद समस्त पवित्र ज्ञानों से भी अधिक श्रेष्ठ। 'मुनिः' पद से 'कपिल' व्यक्ति का ग्रहण किया है। उस कपिल ने 'आसुरि' नामक शिष्य को बड़ी दया करके इस ज्ञान को दिया, आसुरि ने भी अपने शिष्य 'पंचशिख' को दिया, और उसने विविध प्रकार से इस सांख्यतंत्र (शास्त्र) को रचकर प्रचारित किया ॥ ७० ॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥

अन्व०—शिष्यपरम्परया आगतम् एतत् आर्यमतिना ईश्वरकृष्णेन सिद्धान्तं सम्यग् विज्ञाय आर्याभिः संक्षिप्तम् ॥

भावार्थ—पंचशिखाचार्य के रचित शास्त्रग्रन्थों में अनेक प्रकार से निरूपित किया गया कापिल ज्ञान 'कपिल महामुनि' की शिष्यपरंपरा से मुझ ईश्वरकृष्णनामक शिष्य के पास आ पहुँचा उस सांख्यज्ञान को 'आर्यमिति'—'आरात् समीपे याता प्राप्ता तत्त्वेभ्यः', पंचविंशति तत्त्वों से साक्षात् संबंध रखनेवाली मति = बुद्धि प्रकट हुई जिसकी अर्थात् तत्त्वज्ञानी ईश्वरकृष्ण ने सांख्यसिद्धान्त का संशय, विपर्यय, विकल्प से रहित ज्ञान, अर्थतः विस्तृत रहने पर भी संक्षिप्त शब्दों के द्वारा आर्या छन्द में बहात्तर कारिकाओं में संगृहीत किया ।

(२७८) ईश्वरकृष्णस्य गुरु-शिष्यपरम्परा ।

"शिष्य" इति । आरात् याता तत्त्वेभ्य इत्यार्या, आर्या मतिर्यस्य सोऽयम् "आर्यमतिः" इति ॥ ७१ ॥

(२७८) ईश्वर कृष्ण की गुरु-शिष्य परम्परा ।

'आर्यमतिना' का अर्थ किया 'आराद्विति ।' 'आरात्' = समीप प्राप्त हुई पंचविंशति पदार्थतत्त्वों के जो, उसे आर्या कहते हैं । तत्त्वों को साक्षात् विषय करने वाली मति (बुद्धि) है जिसकी उसे आर्यमति कहते हैं ॥ ७१ ॥

(२७९) सप्ततिकारिकाणां शास्त्रत्वम् ॥

एतच्च शास्त्रम्, सकलशास्त्रार्थसूचकत्वात्, न तु प्रकरणमित्याह—

(२७९) सप्तति (७०) कारिकाओं का समुदाय शास्त्र रूप है ।

बहात्तर कारिकाओं में निबद्ध यह सांख्यतत्त्वप्रतिपादक प्रबन्ध शास्त्रीय अर्थ का सूचक होने से 'शास्त्र' कहने योग्य है, 'प्रकरण' नहीं—प्रकीर्णं वर्णयति यत् तत् प्रकरणम्'—यत् किञ्चित् विषय का वर्णन जिसमें हो उसे प्रकरण कहते हैं । यह तो सकल शास्त्रार्थ का सूचक होने से शास्त्र है । सकल-समासव्यासात्मककला के सहित शास्त्रीय अर्थ = पदार्थ अर्थात् प्रमाण-लक्षण-परीक्षा-प्रयोजन-मोक्ष आदि का बोधक यह शास्त्र है । इसी आशय को व्यक्त करने के लिये निम्न कारिका उपस्थित हो रही है—

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥

अन्व०—सप्तत्याम् आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ये अर्थाः (सन्ति) ते कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य अर्थाः सन्ति किल ॥

भावार्थ—'सप्तत्याम्' = सत्तर कारिकाओं के द्वारा प्रतिपादित इस सांख्यीय तत्त्वज्ञान के निबन्ध में 'आख्यायिकाविरहिताः' = ऋषि आदियों के वंश चरितादि की कथाओं से रहित, तथा परमत के खण्डन से भी रहित अथवा मतमतान्तरों से रहित ये अर्थाः' = जो पंचविंशति पदार्थ निरूपित किये गये हैं, 'ते' = वे समस्त या व्यस्त रूप में निरूपण किये गये पच्चीस पदार्थ,

'कृत्स्नस्य' = सम्पूर्ण, 'षष्टितंत्रस्य' = षष्टितंत्रनामक ग्रन्थ के 'अर्थाः' = पदार्थ, 'किल' = निश्चित रूप से, 'सन्ति' हैं।

"सप्तत्याम्" इति। तथा च राजवार्तिकम्—

"प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता ।
पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश ।
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधास्मृतम् ।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः" ॥ इति ॥

सेयं षष्टिपदार्थी कथितेति सकलशास्त्रार्थकथनान्नेदं प्रकरणमपि तु शास्त्रमेवेदमिति सिद्धम्। एकत्वमर्थवत्त्वम् पारार्थ्यञ्च प्रधानमधिकृत्योक्तम्, अन्यत्वमकर्तृत्वम् बहुत्वञ्चेति पुरुषमधिकृत्य। अस्तित्वम्। वियोगो योगश्चेत्युभयमधिकृत्य, वृत्तिः स्थितिरिति स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य ॥ ७२ ॥

'तथाच राजवार्तिकमिति।' 'राजवार्तिक' नाम के सांख्यग्रन्थ में जो बताया है उसे कहते हैं—'प्रधानेति'। वार्तिक के श्लोकों में साठ पदार्थ गिनाये हैं। उनमें दस पदार्थ मौलिक हैं अर्थात् मूल (मुख्य) रूप में 'जड़' 'चेतन' के भेद से दो पदार्थ हैं, उन दो का अवलम्बन कर ये दस पदार्थ बताये गये हैं—तथाहि—१—प्रधानास्तित्व अर्थात् 'मूलप्रकृति' और 'पुरुष' का अस्तित्व, २—एकत्वम् = अर्थात् प्रधान (मूलप्रकृति) की एकता, ३—'अर्थवत्त्वम्' अर्थात् प्रधान की भोगापवर्गात्मकप्रयोजनवत्ता, ४—'अन्यता' अर्थात् प्रधान और पुरुष की परस्पर-भिन्नता, ५—'पारार्थ्यम्' अर्थात् पुरुष पर प्रधान की उपकारकता, ६—'अनैक्यम्' अर्थात् पुरुष की अनेकता, ७—'वियोगः' अर्थात् अपवर्गदशा में प्रधान और पुरुष का 'विवेक' = 'मोक्ष, ८—'योगः' अर्थात् अपवर्ग से पूर्व प्रकृति पुरुष की संश्लिष्टता = भोग का अत्यन्तयोग, ९—'शेषवृत्तिः' अर्थात् स्थूलसूक्ष्म दोनों शरीरों की स्थिति अथवा स्थूलभूत और सूक्ष्म सत्त्वादिकों का प्रधान के प्रति अंगरूप से रहना, एवं च उनका प्रधान के साथ अङ्गाङ्गिभावसंबन्ध, १०—'अकर्तृत्वम्' अर्थात् पुरुष में कर्तृत्व का अभाव—इस प्रकार से ये पच्चीस पदार्थ—मूलतत्त्व के विषय अर्थात् मौलिक (प्रधान) पदार्थ हैं।

अब पचास पदार्थ, अवान्तर भेद से होते हैं—उन्हें दिखाते हैं—'विपर्ययेति'। 'विपर्यय' पांच प्रकार का—'तम-मोह-महामोह-तामिस्र-अन्धतामिस्र—' होता है, उसी प्रकार 'तुष्टियाँ' नौ प्रकार की—'अम्भस्-सलिल-ओघ-वृष्टि-पार सुपार-पारापार-अनुत्तमाम्भ-उत्तमाम्भ-' होती हैं। 'एकादश इन्द्रियों' (करणों) की अशक्ति (असामर्थ्य-कुण्ठतभाव) *ग्यारह प्रकार की होती है। तथा नौ तुष्टियों और आठ सिद्धियों के विपर्यय—सतरह*, सब मिलकर अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति मानी गई है। 'ऊहादि सिद्धियों' के आठ प्रकार होते हैं—इस रीति से पचास अवान्तर पदार्थ हैं। ये अवान्तर पदार्थ और मौलिक पदार्थ मिलकर साठ पदार्थ होते हैं। इसी आशय को व्यक्त करते हैं—'सेयमिति'। यह सप्तती—'सप्ततिसंख्याकानां कारिकाणां समुदायः यत्र सा'—सांख्यकारिका के रूप में 'षष्टीपदार्थी'—'षष्टिसंख्याकाः पदार्थाः सन्ति यत्र सा'—को ही बताया है*। अतः शास्त्रप्रतिपाद्य 'प्रकृति'—'पुरुष' आदि सकलपदार्थों के

वर्णन करने के कारण इसे 'प्रकरण'[1] नहीं कहा जा सकता, अपितु यह एक शास्त्र ही है—यह अनुमान से—सिद्ध होता है—अनुमान प्रयोग—'सांख्यकारिकाग्रन्थः, शास्त्रम्, सकलशास्त्रार्थप्रतिपादकत्वात् ।'

०'संघातपुरुषार्थत्वात्' के द्वारा पुरुषास्तित्व, 'भेदानां परिमाणात्' और 'कारणमस्त्यव्यक्तम्' से प्रधानास्तित्व, 'हेतुमदनित्यम्' से प्रधान का एकत्व 'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः' से अर्थवत्त्व, 'त्रिगुणमविवेकिविषयः' से प्रकृति पुरुष का अन्यत्व, 'नानाविधैरुपायैः' से प्रधान का पारार्थ्य, 'जननमरणकारणानाम्' से पुरुषबहुत्व, 'प्राप्ते शरीरभेदे' से दोनों का वियोग, 'पुरुषस्य दर्शनार्थम्' से दोनों का योग, 'सम्यग् ज्ञानाधिगमात्' से शरीरद्वय की शेषवृत्ति, 'तस्माच्च विपर्यासात्' से पुरुष का अकर्तृत्व 'पंचविपर्ययभेदा' इत्यादि पांच आर्याओं से विपर्यय, तुष्टि, असामर्थ्य और सिद्धि के पचास भेद बताये गये हैं।

अब राजवार्तिक में बताये गये धर्मों को विभक्त करके बताते हैं—'एकत्वमिति'। एकत्व, अर्थवत्त्व, पारार्थ्य—ये तीन धर्म 'प्रधान' (मूलप्रकृति) को उद्देश्य कर बताये हैं, अन्यत्व, अकर्तृत्व, बहुत्व—ये तीन धर्म 'पुरुष' को उद्देश्य कर बताये हैं, अस्तित्व, वियोग, योग—ये तीन धर्म—प्रकृति और पुरुष दोनों को उद्देश्य कर बताये हैं। 'शेषवृत्ति' शब्द का अर्थ बताते हैं—स्थितिरिति। अर्थात् प्रकृति की अवस्थिति स्थूल (व्यक्तावस्था) सूक्ष्म (अव्यक्तावस्था) दोनों को उद्देश्य कर बताई गई है। अर्थात् प्रकृति—व्यक्त, अव्यक्तरूप है। कुछ लोग व्यक्ताऽव्यक्त के दशविध स्वरूप को ही—मौलिक पदार्थ कहते हैं। राजवार्तिकोक्त पदार्थों को नहीं। जैसे—पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, तीन गुण, तन्मात्रा, इन्द्रिय और भूत—ये दस पदार्थ मौलिक हैं ॥ ७२ ॥

मनांसि कुमुदानीव बोधयन्ती सतां मुदा ।
श्रीवाचस्पतिमिश्राणां कृतिः स्तात् तत्त्वकौमुदी ॥

इति षड्दर्शनटीकाकृच्छ्रीमद्वाचस्पतिमिश्रविरचिता
सांख्यतत्त्वकौमुदी समाप्ता ।

शास्त्र के अन्त में आशीर्वादात्मक मंगल कर रहे हैं—'मनांसीति'। श्रीवाचस्पतिमिश्र की रचना जो 'तत्त्वकौमुदी' नाम की व्याख्या अर्थात् 'सांख्यशास्त्र के तत्त्वों' की कौमुदी=

---

१. 'शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् । प्राहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः' ग्रन्थान्तर्गत प्रकरणन्तु—
'एवं क्वचित् केनचिदर्थेन एकेन सूत्रवाक्यानामेकवाक्यत्वं समूहः प्रकरणम्'—[ता० टी० १।१।१]

चन्द्रिका-प्रकाशिका । जैसे चन्द्र की चन्द्रिका कुमुदपुष्पों को विकसित करती है—उसी तरह यह सांख्यतत्त्वकौमुदी सज्जनों के चित्त में ज्ञान का विकास (प्रकाश) सदा करती रहे ।

विश्वविख्यातवैदुष्यश्रीराजेश्वरशास्त्रिणः ।
अन्तेवासी, तनूजस्तु श्रीसदाशिवशास्त्रिणः ॥
मुसल्गांवकरोपाख्यो गजानन इति श्रुतः ।
आराध्यपादयोर्ध्यानं कुर्वन्नारब्धवान् यतः ॥
पादयोः स्मरणेनैव द्वयोरपि महात्मनोः ।
तत्त्वप्रकाशिकाव्याख्या निर्विघ्नं पूर्णतां गता ॥
वाचस्पतेरभिप्राय-प्रकाशन-पटीयसी ।
छात्रोपकारिणी भूयाद् विदुषां स्वान्ततोषिणी ॥

इति श्रीमुसलगांवकरोपनामकगजाननशास्त्रिविरचिता सांख्यतत्त्वकौमुदी तत्त्वप्रकाशिकाख्या व्याख्या समाप्ता

टिप्पणी : नोट्स

(१)

प्रश्न—'सूक्ष्म शरीर' का स्वरूप स्पष्ट करो और इसे क्यों स्वीकार किया जाता है ?

Define सूक्ष्मशरीर and show why it should be recognized.

उत्तर—सांख्य एवं वेदान्त दर्शन में सूक्ष्म शरीर की कल्पना की गई है। शुद्ध आत्मा व्यापक एवं निष्क्रिय होने से उसका परलोक में गमन और वहाँ से पुनः आगमन होना सम्भव नहीं, और स्थूल देह तो यहीं भस्म हो जाता है। इस कारण परलोक गमन आदि की उपपत्ति लगाने के लिये मोक्ष तक स्थिर रहने वाले सप्तदश अवयवात्मक लिङ्गशरीर को माना गया है।

साधना की दृष्टि से 'सूक्ष्म शरीर' का बड़ा महत्व सांख्य शास्त्र में ही नहीं अन्यत्र भी है। सूक्ष्म शरीर की दूसरी संज्ञा 'लिङ्ग-शरीर'—भी है।

सूक्ष्म शरीर का स्वरूप—सांख्य शास्त्र में 'सूक्ष्म शरीर' को सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, अप्रतिहतगति, स्थायी, महत्तत्त्व से लेकर सूक्ष्मतन्मात्रों से बना हुआ, भोग रहित, धर्माधर्म इत्यादि भावों से युक्त एवं संसरण करने वाला बताया है—

"पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्" ॥

पूर्वोत्पन्न—सूक्ष्मशरीर सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति के द्वारा प्रत्येक पुरुष के लिये पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ था।

असक्त—यह सूक्ष्मशरीर अप्रतिहतगति से शिला में भी प्रविष्ट हो जाता है।

नियत—सूक्ष्मशरीर सृष्टि से लेकर महाप्रलय पर्यन्त रहता है।

महत् से लेकर सूक्ष्म तक सूक्ष्मशरीर—महत्, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रियां—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक्, पांच कर्मेन्द्रियां—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ, एकादशवां मन तथा पांच सूक्ष्म तन्मात्र—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र एवं गन्धतन्मात्र इन—'अष्टदशअवयवात्मक'–अठारह अवयवों वाला है। जो शान्त, घोर और मूढ इन्द्रियों से युक्त होने के कारण विशेष कहलाता है। जैसे महाभूत शान्त इत्यादि रूप से अनुभूत होने के कारण 'विशेष' हैं, वैसे ही इन्द्रियां भी विशेष हैं और सूक्ष्म शरीर भी महत्, अहंकार इत्यादि के अतिरिक्त इन्द्रियों से भी युक्त होने के कारण 'विशेष' ही है।

संसरणशील—यह सूक्ष्म शरीर भूयः-भूयः धारण किये हुए-६ कोषोंवाले स्थूल शरीर का परित्याग करके नूतन स्थूल शरीर को धारण करता है।

भोगरहित—चूँकि सूक्ष्म शरीर-६ कोषों के स्थूल शरीर के बिना भोग-विहीन रहेगा, इसलिये वह पुनः पुनः गृहीत स्थूल शरीर को छोड़कर नया ग्रहण करता रहता है।

भावों से युक्त—धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य एवं अनैश्वर्य इन आठ भावों से बुद्धि युक्त होती है और बुद्धि से युक्त रहता है सूक्ष्म-शरीर। 'सूक्ष्म-शरीर' भी बुद्धि के द्वारा धर्माधर्म इत्यादि भावों से उसी प्रकार युक्त होता है, जैसे सुगन्धित चम्पक पुष्प के सम्पर्क के कारण वस्त्र उसकी महक से सुवासित हो जाता है। इसलिये धर्माधर्मादि भावों से युक्त होने के कारण 'सूक्ष्म-शरीर' संसरण करता है।

लिङ्गात्मक—सूक्ष्मशरीर महाप्रलय में प्रधान की भांति नहीं रहता है, क्योंकि यह लिङ्ग है अर्थात् प्रधान में लय को प्राप्त हो जाता है और यह लिङ्ग इसलिये भी है कि प्रधानरूप कारण का कार्य है।

सांख्यीय सूक्ष्मशरीर का स्वरूप वेदान्तियों के सूक्ष्मशरीर से कुछ भिन्न—यद्यपि वेदान्त में भी सूक्ष्म शरीर की कल्पना है, पर सांख्यशास्त्रगत सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर से वेदान्तीय सूक्ष्मशरीर थोड़ा भिन्न है। जहां सांख्य में सूक्ष्मशरीर अठारह तत्त्वों का बना माना जाता है, वहां वेदान्त उसे सप्तदश, अवयवात्मक ही मानता है। वेदान्ती अहंकार का अन्तर्भाव मन इन्द्रिय में करते हैं। इसके विपरीत एक भेद और है, वह यह है कि सांख्य के पांच तन्मात्र के स्थान में वेदान्त पञ्चप्राण की कल्पना करता है। जैसा कि वेदान्त परिभाषा में कहा है—

"पञ्चप्राणमनोबुद्धि-दशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्"॥

सूक्ष्म शरीर के संसरण का प्रकार और कारण—

सांख्य और वेदान्त दोनों ही 'सूक्ष्मशरीर' से प्रायशः एक ही प्रयोजन की सिद्धि मानते हैं। यह प्रयोजन पुरुष का संसरण है। इसी सूक्ष्म शरीर के द्वारा पुरुष (आत्मा) जगत् में विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है। सांख्यकारिकाकार ने सूक्ष्म-शरीर की तुलना नट से करते हुए बहुत सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। जैसे नट अनेक प्रकार की वेषभूषा आदि बनाकर परशुराम, युधिष्ठिर या उदयन इत्यादि बन जाता है, उसी प्रकार यह सूक्ष्मशरीर भी अनेक प्रकार के स्थूलशरीर ग्रहण करके देव, मनुष्य, पशु और वृक्ष इत्यादि बनता रहता है। प्रकृति की विभुत्वशक्ति के संयोग से सूक्ष्मशरीर को इतनी शक्ति प्राप्त है। यह सूक्ष्मशरीर धर्म, अधर्म, इत्यादि निमित्त एवं विभिन्न योनियों में उत्पन्नस्थूलशरीररूप नैमित्तिक के साथ सम्बन्ध होने के कारण संसरण करता है। जैसा कि कहा भी है—

"पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥"

वे कौन से निमित्त एवं नैमित्तिक हैं जिनसे सूक्ष्म शरीर संसरण करता है?

'सूक्ष्म-शरीर' निमित्त-नैमित्तिक रूप कारण व कार्य से संसरण कर नट इत्यादि की भूमिका दर्शक के सामने उपस्थित करता है। इन निमित्त नैमित्तिक का स्वरूप निम्न-लिखित कारिका से स्पष्ट हो जाता है—

"सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृतिकाश्च धर्माद्याः।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः"॥

इस कारिका का तात्पर्य यही है कि बुद्धि के ज्ञान, अज्ञान, धर्म, अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य एवं अनैश्वर्य ये आठ भाव अष्टादश-अवयवात्मक 'सूक्ष्म शरीर' के संसरण के हेतु होने से निमित्त कहलाते हैं। ये प्राकृतिक और वैकृतिक रूप से दो प्रकार के होते हैं। जो धर्म, अधर्म इत्यादि पूर्व जन्म के कर्मों के फल स्वरूप सहज अर्थात् जन्म के साथ ही उत्पन्न होते हैं। वे स्वभावसिद्ध होने से प्राकृतिक हैं। जैसे सृष्टि के प्रारम्भ में आदि विद्वान् महामुनि पूज्य कपिल धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए थे। और जो वर्तमान जीवन में पुरुष के प्रयत्न से प्राप्त होते हैं, वे वैकृतिक हैं। जैसे वाल्मीकि इत्यादि महर्षियों के धर्म, ज्ञान इत्यादि वैकृतिक निमित्त के अन्तर्गत आते हैं। इन धर्म, अधर्म इत्यादि निमित्तों से कलल, बुद्बुद, मांसपिण्ड, अङ्ग इत्यादि अवस्थाओं से होता हुआ जो शरीर बनता है, वह इनका नैमित्तिक अर्थात् कार्य है। ये सब भाव बुद्धिरूप कारण में स्थित हैं। श्री राधाकृष्ण पूछन ने अपने The Theory of Rebirth नामक ग्रन्थ में इन भावों के तीनों प्रकारों के विषय में प्रसङ्गतः इस प्रकार लिखा है—

What Vedant calls 'Karma-Samskara', Sankhya calls it mere Samskara; What Vedant calls 'Prarabdha Karma', Sankhye calls it 'Samsiddhika Bhavah; What Vedant calls 'Kriyamana Karma', Sankhya calls it Vaikrtika Bhavah, What Vedanta calls Sancita Karma Samkhya calls it "Prakrtika Bhavah.

इससे सिद्ध है कि वेदान्त भी स्वकीय मान्य सप्तदश-अवयवात्मक सूक्ष्म शरीर का इन्हीं निमित्त–नैमित्तिकों से संसरण मानता है। इन आठ भाव रूप निमित्तों से आठ प्रकार के नैमित्तिक कार्य होते हैं। और यह सूक्ष्म शरीर उन उन में संसरण करता है—

"धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चाऽपवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥
वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः।

धर्म से ऊर्ध्व लोकों में तथा अधर्म से अधोलोकों में गति प्राप्त होती है। ज्ञान से मोक्ष तथा उसके विपरीत अज्ञान से बन्धन प्राप्त होता है। वैराग्य से प्रकृतिलय रजोमय राग से संसरण, ऐश्वर्य से इच्छा की सफलता तथा ऐश्वर्य के अभाव से उसका हनन होता है। अतः यदि यह स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीर से संयुक्त न हो तो कदापि इनके ऊर्ध्वगमन और अधोगमनरूप कार्यों की उपपत्ति नहीं हो सकती। इससे सिद्ध है कि यह सूक्ष्मशरीर ही विभिन्न योनियों में प्रविष्ट होता है।

सूक्ष्मशरीर की कल्पना का हेतु—

यह शंका कदापि नहीं करनी चाहिये कि अप्रामाणिक सूक्ष्मशरीर को मानने की क्या आवश्यकता है? अहंकार और इन्द्रियों से युक्त बुद्धि ही संसरण करने वाली बन सकती है। इस शंका का समाधान यही है कि जैसे आधार के बिना चित्र और स्तम्भ के बिना

छाया नहीं रहती, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीररूप विशेष के बिना आश्रयहीन लिङ्ग अर्थात् बुद्धि, अहंकार आदि भी नहीं रह सकते हैं। जैसा कि कहा है—

"चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विनायथाच्छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रधान के अनुमापक होने से बुद्धि इत्यादि लिङ्ग हैं। यह लिङ्ग, विना किसी आश्रय के नहीं रह सकता है। इस विषय में यह आगम भी प्रमाण है—

"ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशङ्गतम्।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥"

यहाँ 'अङ्गुष्ठमात्रं' का तात्पर्य लक्षणा से सूक्ष्मशरीर है आत्मरूप पुरुष का निष्कर्ष असम्भव होने के कारण यहां 'पुरुष' शब्द से सूक्ष्म शरीर है, क्योंकि वह भी स्थूलशरीर रूपी पुरी में स्थित है। इसलिये पुनः पुनः गृहीत स्थूल शरीर को छोड़कर नया नया शरीर धारण करने के लिये सूक्ष्म शरीर की कल्पना करना आवश्यक है। और स्थूल शरीर, जिसके चर्म, रक्त, मांस माता से तथा स्नायु, अस्थि, एवं मज्जा पिता से उत्पन्न होते हैं, अनित्य या नश्वर होते हैं, क्योंकि गाड़े जाने पर ये पृथ्वीभाव को प्राप्त हो जाते हैं और जलाये जाने पर भस्म बन जाते हैं एवं व्याघ्र इत्यादि से खा लिये जाने पर पचकर मल बन जाते हैं। इसके विपरीत सूक्ष्मशरीर नियत अर्थात् नष्ट होने वाला नहीं है। अतः परलोकगमन आदि की उपपत्ति लगाने के लिये मोक्ष तक स्थिर रहने वाले अष्टादश-अवयवात्मक शरीर की कल्पना आवश्यक है।

(२)

प्रश्न—सांख्यदर्शन के अनुसार 'बुद्धि सर्ग' (प्रत्यय सर्ग) के बारे में लिखिये।

Write a note on Intellectual creation according to the Sankhya system side by side Physical creation also.

उत्तर—आत्मज्ञान या विवेकसाक्षात्कार मोक्ष का कारण है। आत्मज्ञान के लिये अक्षेतर ज्ञान की आवश्यकता है। सांख्यदर्शन सत्कार्यवादी है। इसके अनुसार सृष्टि का मूल कारण प्रकृति है और प्रकृति की ही परिणामपरम्परा से इस विश्व की सृष्टि हुई है।

प्रकृति से लेकर पञ्चमहाभूतों तक जो विचारधारा चलती है, उसको हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। ज्ञानवृत्ति या बुद्धिवृत्ति जिसके विकास को Intellectual creation कहा जाता है और पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चमहाभूत जिसके विकास को Physical creation कहा जाता है "लिङ्गाख्यो भावाख्यः"।

मूलप्रकृति से उत्पन्न बुद्धि और उसका विकास अहंकार एवं अहंकार से उत्पन्न एकादश इन्द्रियां इतने बुद्धिसर्ग के अंग हैं। बुद्धि का धर्म है निश्चय करना। इस बुद्धि के सात्विक अंश से धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य की उत्पत्ति होती है। धर्म के दो भेद हैं (१) अभ्युदयसाधक (२) निःश्रेयससाधक। ज्ञान ही बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। बाह्यज्ञान–शिक्षा, कल्पादिसम्बन्धी एवं अभ्यन्तरज्ञान–प्रकृति

पुरुषविवेक। वैराग्य-दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णा को कहते हैं। यह भी यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय एवं वशीकार भेद से चतुर्विध है। ऐश्वर्य में—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामावसायित्व हैं। धर्मादिक चार निमित्तों के फल—ऊर्ध्वगमन, प्रकृतिलय, आविर्भाव, अपवर्ग ये क्रम से चार नैमित्तिक हैं। अधर्मादि में इनका विपर्यय है।

"अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम्" ॥ 23

उपर्युक्त धर्माधर्मादि आठ भावों का संक्षेप से चार भागों में वर्गीकरण किया गया है—

"एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्" ॥

विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि ये चार बुद्धि के संक्षिप्त परिणाम हैं। विपर्यय में अज्ञान आता है। अशक्ति में अनैश्वर्य, अवराग्य एवं अधर्म। तुष्टि में धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, और सिद्धि में ज्ञान का अन्तर्भाव होता है। ये विपर्ययादि बुद्धि के ही परिणाम हैं। सत्व, रजस् एवं तमस् के कारण इनमें मोक्ष के प्रति बाधकत्व एवं साधकत्व होता है। गुणों की विषमता से उत्पन्न उपमर्द अर्थात् एक-एक या दो दो न्यून बलवालों के अभिभव से पचास भेद हो जाते हैं। वे निम्न प्रकार हैं—

"पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात्।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः" ॥

विपर्यय के पाँच भेद करणों के दोष के कारण, अशक्ति के अट्ठाईस भेद, तुष्टि के नव भेद और सिद्धि के आठ भेद होते हैं।

विपर्यय के पांच भेदों का सूक्ष्मतम भेद—

तम, मोह, महामोह, तामिस्र एवं अन्धतामिस्ररूप विपर्यय के; जिनको शास्त्रान्तर में अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष एवं अभिनिवेश कहते हैं, निम्नलिखित सूक्ष्म भेद ये हैं—

"भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः" ॥

तम – अविद्या के आठ प्रकार हैं। आत्मभिन्न प्रकृति, महत्, अहंकार और तन्मात्राओं में आत्मभावना अविद्या या तमस् है।

मोह—मोह भी आठ प्रकार का है। अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों के लाभ से अपने को अजर अमर मानना।

महामोह—दिव्यादि भेद से दस प्रकार के शब्दादि विषयों में उपादेय बुद्धि होने के कारण राग होना ही महामोह है।

तामिस्र—अष्टविध ऐश्वर्य तथा दिव्यादिव्य शब्दादि 10 विषयों में से किसी के ऊपर यदि अप्रीति हो गई हो तो उसके प्रति द्वेष अथवा दूसरों द्वारा उपभुज्यमान पदार्थों को देखकर द्वेष होना ही तामिस्र है।

अन्धतामिस्र—तामिस्र के १८ विषयों को प्राप्त करने का प्रबल आग्रह तथा प्राप्त करके भोग के समय उनके विनाश का भय अन्धतामिस्र है।

इस प्रकार यह पांच प्रकार का विपर्यय सूक्ष्मभेदों के कारण बासठ प्रकार का है।

अशक्ति के अट्ठाईस भेद—

"एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम्" ॥

अशक्ति के २८ भेद हैं। ११ इन्द्रियवध-बहरापन, कोढ, अन्धापन, स्वादों का ज्ञान न होना, गन्ध का ज्ञान न होना, गूंगापन, हाथ का टूटा होना, लंगड़ापन नपुंसकत्व, गुदादोष तथा मनःस्तब्धता हैं। तथा १७ बुद्धि के भावों में जो ९ तुष्टि और अष्ट सिद्धियां होती हैं उनका अभाव तथा अभिभव, इस तरह से ये २८ अशक्तियां हैं। सांख्य शास्त्र के अनुसार भावों में धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य में जितनी भी उन्नतावस्था हो ये कोई मोक्ष के साधन नहीं हैं। इसी प्रकार हम आगे देखेंगे कि तुष्टि भी मोक्ष की साधिका नहीं है। किन्तु अशक्ति में भावों की अकर्मण्यता से जो असामर्थ्य दोष दिखाई पड़ता है वह तुष्टि में नहीं है। तुष्टि मोक्ष का साधन नहीं है और किसी भाव या धर्म के अभाव की सूचक भी नहीं है। इस अशक्ति में ९ तुष्टियां—जो कि (१) प्रकृति तुष्टि (२) काल तुष्टि (३) उपादानतुष्टि (४) भाग्यतुष्टि तथा (५) शब्दोपरमा (६) स्पर्शोपरमा (७) रूपोपरमा (८) रसोपरमा तथा (९) गन्धोपरमा ये नाम हैं—उनके अभाव पाये जाते हैं। अतः इन तुष्टियों के अभाव से प्रकृत्यातुष्टि, कालातुष्टि, उपादानातुष्टि, भाग्यातुष्टि, शब्दोपरमातुष्टि, स्पर्शोपरमातुष्टि इत्यादि होती हैं। इसी तरह से ऊह, शब्द, अध्ययन, आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक दुःखविघात, सुहृत् प्राप्ति, और दान नामक सिद्धियां भी अशक्ति में-अनूह, अनध्ययन, आध्यात्मिक आधिभौतिक, आधिदैविक दुःखानभिघात, सुहृदाप्राप्ति तथा दान भी अदान में परिणत होकर-अभाव की सूचना देती हैं।

तुष्टि के ९ भेद—

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नवतुष्टयोऽभिमताः" ॥

आभ्यन्तर और बाह्य भेद से ९ तुष्टियां हैं।

१. प्रकृतितुष्टि—यद्यपि प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान से ही मुक्ति होती है यह सिद्धान्त है तथापि किसी अल्पज्ञ गुरु द्वारा इस उपदेश से कि विवेक साक्षात्कार प्रकृति का कार्य है अतः प्रकृति मुक्ति कर ही देगी, ध्यान, समाधि की आवश्यकता नहीं है। ऐसा सन्तोष हो जाने से इसे प्रकृति तुष्टि कहते हैं।

२. उपादानतुष्टि—यद्यपि विवेक से तुष्टि होती है परन्तु वह प्रकृति मात्र से नहीं होती। क्योंकि यदि ऐसा हो तो प्रकृति सबके लिए समान होने से सब विवेकयुक्त होकर मुक्त हो जायेंगे, पर ऐसा सम्भव नहीं है। अतः सन्यास लेने से ही विवेक ज्ञान होता है ध्यानादि की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के उपदेश से जो तुष्टि होती है वह उपादान तुष्टि है—

"उपद्रुतावस्थायां समीपे आदीयते गृह्यते यः।
सन्यासाख्यो धर्मः सा एव उपादानतुष्टिः" ॥

उपादान तुष्टि 'सलिल तुष्टि' भी कहलाती है।

३. कालतुष्टि—'संन्यास' भी शीघ्र अपवर्ग देने वाला नहीं है। वह कालान्तर में परिपक्व होकर ही तुम्हें विवेक-ज्ञान देगा, तुम्हारे उद्विग्न होने से कोई लाभ नहीं'—ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वह काल नामक तुष्टि है जो 'ओघ' भी कहलाती है।

४. भाग्य तुष्टि—'विवेकज्ञान न प्रकृति से, न काल से, न संन्यास-ग्रहण से ही होता है। इसीलिये मदालसा की सन्तानें अत्यधिक बाल होने पर भी माता के उपदेश से ही विवेकज्ञानयुक्त होकर मुक्त हो गईं। इसलिये भाग्य ही हेतु है अन्य कुछ नहीं'—ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है वह भाग्यनामक तुष्टि है जो वृष्टि भी कहलाती है।

बाह्यविषयोपरामस्पञ्च—शब्दादि ५ विषयों से ये ५ बाह्य तुष्टियां होती हैं। इन तुष्टियों के ये ही कारण हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध के अर्जन में कष्ट, अर्जित हो गये के रक्षण में कष्ट, रक्षण के समय विनाश की आशंका से कष्ट, विषयोपभोग के समय भोग की अशक्ति, तथा भोग अत्यधिक बढ़ जाने से कष्ट तथा हिंसा के बिना शब्दादि का अर्जन नहीं हो सकता इसलिये कष्ट। अतः जब इन क्लेशों को सोचकर ऐसे पांच प्रकार के सन्तोष हो जाते हैं तो चित्त विषय से निवृत्त हो जाता है। इनके दूसरे नाम योग में इस प्रकार हैं—(१) अम्भ (२) सलिल (३) ओघ (४) वृष्टि (५) पार, (६) सुपार (७) पारापार (८) अनुत्तमाम्भ (९) उत्तमांभ हैं।

अष्ट सिद्धि—

> "ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
> दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः" ॥

ऊह, शब्द, अध्ययन, त्रिविधदुःखविनाश, सुहृत्प्राप्ति तथा दान ये आठ सिद्धियां हैं।

अध्ययन—शास्त्रविधिपूर्वक गुरुमुख से अध्यात्म-विद्या के पारायण का श्रवण 'अध्ययन नामक प्रथम सिद्धि है। जो संसार तरण का प्रथम हेतु होने से तार कहलाती है।

शब्द—अध्ययन का कार्य शब्द है। कार्य में कारण के आरोप द्वारा शब्द पद से शब्दोत्पन्न अर्थज्ञान सूचित होता है। वह दूसरी सिद्धि है, जो सुखपूर्वक संसारतारक होने से 'सुतार' कहलाती है। इस प्रकार पारायण तथा अर्थ रूप से दो प्रकार का श्रवण हुआ।

ऊह—शास्त्रानुकूल युक्तियों से शास्त्रोक्त विषय की परीक्षा ऊह है और यह परीक्षा सन्दिग्ध पूर्वपक्ष के परित्याग द्वारा उत्तरपक्ष या सिद्धान्त की स्थापना है। इसे ही शास्त्रज्ञ मनन कहते हैं। यह तीसरी सिद्धि अध्ययन और शब्द से अधिक तारक होने से तारतार कहलाती है।

सुहृत्प्राप्ति—साधक युक्तियों के द्वारा स्वयं परीक्षा किये हुए सिद्धान्त में तब तक विश्वास नहीं करता जब तक कि गुरु, शिष्य और सहाध्यायियों के साथ संवाद नहीं कर लेता। इसलिये सुहृदों का संवाद प्राप्त होना सुहृत प्राप्ति है। यही चौथी सिद्धि शास्त्रार्थ संवाद में रमणीय होने के कारण रम्यक कहलाती है।

दान—ज्ञानाभ्यास से उत्पन्न शुद्धविवेकख्याति में अन्तर्भूत है। क्योंकि यहां दान पद की निष्पत्ति शोधन अर्थ वाली दैप् धातु से होने के कारण उसका अर्थ विवेकज्ञान

की शुद्धि है। यह पांचवीं सिद्धि सार्वकालिक आनन्द का हेतु होने के कारण सदा-मुदित कहलाती है।

दुःखत्रयविनाश—स्वरूप तीनों मुख्य सिद्धियां प्रमोद, मुदित और मोदमान कहलाती हैं। इस प्रकार ये कुल आठ सिद्धियां हैं। ये सिद्धियां मोक्षदीपिका हैं। सिद्धि के पहले विपर्यादि जो तीन हैं, वे सिद्धि के लिये अन्तराय या बाधक स्वरूप हैं। अतः इनका अतिक्रमण करके तब सिद्धि प्राप्त होती है। जिस प्रकार कैवल्य प्राप्त करने के लिये प्रकृति-पुरुष विवेकख्याति और विवेकख्याति के लिये प्रकृति तथा उससे उत्पन्न सभी वस्तुओं का ज्ञान आवश्यक है। वैसे ही सिद्धि प्राप्त करने के लिये प्राथमिक दशायें, तथा उसके अन्तराय क्या होते हैं, उनका ज्ञान भी आवश्यक है। यही है प्रत्ययसर्ग। बुद्धि के विकास का क्रम इस प्रकार से चलता है।

भौतिकसर्ग—

"अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुषकश्चैकविधः, समासतो भौतिकः सर्गः"॥

देवसृष्टि आठ—ब्रह्मा, प्रजापति इन्द्र, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा पिशाच यह आठ प्रकार की देवों की सृष्टि है।

तिर्यक् सृष्टि पांच—पशु, पक्षी, मृग, सर्पादि तथा तरु-गुल्म आदि स्थावर रूप से—पाँच प्रकार की होती है।

मनुष्य सृष्टि एक—चारों वर्णों में आकार के समान होने के कारण ब्राह्मण इत्यादि विभिन्न जातियों की पृथक् गणना न करने से—ही प्रकार की होती है। यही संक्षेप से भौतिक सृष्टि है।

परन्तु चैतन्य के आधिक्य और न्यूनत्व के कारण ऊर्ध्व, अधः और मध्यम लोकों में जन्म होने से इस भौतिक सृष्टि की त्रिविधता बतलाई गई है—

"ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः"॥

भुवर्लोक से लेकर सत्यलोक तक के ऊर्ध्वलोक सत्वप्रधान होते हैं। पशुओं से लेकर वृक्ष आदि स्थावरों तक की निम्न सृष्टि तमःप्रधान होती है। सात द्वीपों और समुद्रों-वाला मध्यस्थित यह भूलोक धर्म, अधर्म आदि कर्मों में तत्पर होने तथा दुःखमय होने से रजःप्रधान जाना जाता है। यही ब्रह्मा से लेकर तृणादि पर्यन्त सृष्टि है। यही भौतिक सृष्टि है। इस दूसरी अवस्था में पांच तन्मात्राओं, पंच महाभूतों तथा उनके विकारों का आविर्भाव होता है। इससे स्पष्ट है कि जो—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि"॥

इस कारिका के द्वारा सृष्टि का विकास दिखाया है। वह केवल सैद्धान्तिक निर्वाह क लिये ही नहीं होता, बल्कि वह साभिप्राय होता है, और उसका विशेष उद्देश्य होता है। इस प्रकार प्रत्ययसर्ग और भौतिक सर्ग का विकास चलता है।

(३)

प्रश्न—सांख्यदर्शन के अनुसार विस्तारपूर्वक 'गुणवाद' के विषय में लिखिए।

Discuss fully the theory of Cuna according to the Samkhya.

उत्तर—योगी अरविन्द के मतानुसार—

"Gunas are Three essential modes of action of Nature"

गुण, प्रकृति गत व्यापार के तीन प्रकार हैं। २३ अवान्तर तत्त्वों के रूप में परिणत होने वाली सांख्य की यह प्रकृति अनादि अनन्त अविनाशिनी है। इसमें सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुण हैं, इसी लिए यह त्रिगुणात्मक कहलाती है। ये तीनों गुण प्रकृति के धर्म या स्वभाव नहीं इसके स्वरूप ही हैं। अर्थात् प्रकृति या अव्यक्त सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण का आधार नहीं अपितु तादात्मक है, जैसा कि 'सत्त्वदीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' इत्यादि सांख्य सूत्र तथा 'एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति' इत्यादि योगभाष्य की पंक्ति से स्पष्ट है। इसी से ये गुण तथा इनके धर्म भी महत्, अहंकार तन्मात्र इत्यादि प्रकृति के कार्यों में भी आ जाते हैं, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि "कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते" इससे सिद्ध है कि सांख्य के ये तीनों गुण न्याय के चौबीस गुणों की भांति द्रव्याश्रित धर्मरूप नहीं अपितु द्रव्य रूप ही हैं। इतना अवश्य है कि प्रलय काल में सदृश परिणाम होता है और सृष्टि काल में विसदृश परिणाम।

सत्त्व, रजस् एवं तमस् को गुण क्यों कहा जाता है?

गुण शब्द के संस्कृत में तीन अर्थ हैं (१) धर्म (Quality) (२) रस्सी का गुन (Strand) तथा (३) गौण। त्रिगुणात्मक प्रकृति के ये द्रव्यात्मक गुण इसलिये गुण कहलाते हैं, क्योंकि वे रस्सी के तीनों गुनों अथवा रेशों के समान आपस में मिलकर पुरुष को बाँधते हैं। प्रकृति के उद्देश्य के साधन में गौण रूप से सहायक होने के कारण ये भी गुण कहलाते हैं। अतः गुणीभूत होने के कारण उन्हें गुण कहा गया है।

गुणों की सत्ता सिद्ध करने के लिये प्रमाण—

गुणों की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है।

गुण सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय हैं। गुण प्रत्यक्ष के विषय कभी नहीं हो सकते। अतः उनके कार्यों अथवा प्रभावों से उनकी उपस्थिति का अनुमान लगाया जाता है। क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि—'करणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' और फिर सत्कार्यवादी सांख्यदर्शन तो कारण-कार्य में तादात्म्य ही मानता है। अतः विषयरूप कार्यों का स्वरूप देखकर हम गुणों के स्वरूप का अनुमान करते हैं। जगत् के समस्त विषय सूक्ष्म बुद्धि से लेकर स्थूल पत्थर पर्यन्त सब में ये तीनों गुण पाये जाते हैं, जिसके कारण वह सुख, दुःख या मोह उत्पन्न करते हैं। एक ही वस्तु एक के मन में सुख, दूसरे में सुखानुभूति तथा तीसरे के मन में उदासीनता का भाव का उत्पन्न करती है। जैसे न्यायाधीश का निर्णय एक पक्ष के लिये हर्षवर्धक, दूसरे पक्ष के लिये विषादवर्धक तथा तीसरे—आम जनता—के लिये कोई भाव उत्पन्न नहीं करता है। इससे

सिद्ध होता है कि सांसारिक कार्यों में ये गुण विद्यमान हैं। अतः इनके कारण में भी ये अवश्य होने चाहिये। अतः संसार के मूलभूत कारण प्रकृति में भी ये तीनों गुण विद्यमान हैं। इसी अनुमान के आधार पर हम गुणों का स्वरूप जानते हैं।

गुणों का स्वभाव—

सत्त्व, रज, और तम इन तीनों गुणों का अलग-अलग स्वभाव है। सांख्यकारिका के एक श्लोक में इन तीनों गुणों का स्वभाव इस प्रकार बताया गया है—

"सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः" ॥

सत्त्वगुण—सत्त्वगुण लघु, प्रकाशक एवं आनन्दस्वरूप है। ज्ञान में विषय-प्रकाशकत्व, इन्द्रिय में विषयग्राहिता आदि सत्त्वगुण के कारण है। मन, बुद्धि, तेज का प्रकाश, दर्पण की प्रतिबिम्बशक्ति आदि इसके कार्य हैं। लघुता या, हल्केपन के कारण अग्नि की ज्वालाएं ऊपर को उठती हैं। यही हल्कापन किसी में तिर्यग्गमन का कारण बनता है, जैसे 'वायु के तिर्यग्गमन का। इसी प्रकार सभी प्रकार के आनन्द जैसे हर्ष, सन्तोष, तृप्ति, उल्लास आदि सत्त्व गुण के कारण हैं। इसका रंग श्वेत है। यह बुद्धिप्रधान जीवों में पाया जाता है। यह अतिसूक्ष्म है।

रजोगुण—सत्त्व और तमस् स्वयं प्रवृत्तिशील न होने के कारण अपने प्रकाशन एवं नियमन आदि कार्यों के उत्पादन में असमर्थ होने पर रजस् के द्वारा उत्तेजित किये जाकर अपने कार्य में प्रवृत्तिशील किये जाते हैं। इसीलिये रजस् उपष्टम्भक या उत्तेजक कहा गया है। इस गुण के कारण ही हवा चलती है, इन्द्रिय विषय की ओर दौड़ते हैं।

तमोगुण—तमोगुण गुरु तथा अवरोधक होता है। यह सत्त्वगुण के विपरीत है। यह प्रकाश का आवरक तथा रजोगुण का अवरोधक है। इससे वस्तुओं की गति नियन्त्रित होती है। यह जड़ता तथा निष्क्रियता को उत्पन्न करता है। इसके कारण बुद्धि का तेज मन्द पड़ता है। इससे मूर्खता या अन्धकार की उत्पत्ति होती है। यह भौतिकता का उत्पादक है। इन गुणों के स्वभाव के विषय में डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने लिखा है—

"An infinite number of Subtle substances which agree in certain characteristics at selfshining or plasticity are called the sattva-gunas and those which behave as units of activity are called rajo-gunas and those which behave a factors of obstructions mass or materiality are called Tamo gunas"

परस्पर भिन्न स्वरूपात्मक होते हुए भी गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध—

ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होते हुए भी सहयोगी हैं। इनमें से कोई गुण अकेला न रहता है और न अन्य गुणों के सहयोग के बिना कार्य कर सकता है। ईश्वरकृष्ण ने गुणों की उपमा प्रदीप से करते हुए उनके आपसी सम्बन्ध का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। जैसे अग्नि, बत्ती और तेल का विरोधी है फिर भी

उसके साथ मिलकर बत्ती और तेल वस्तुओं के रूप या आकार को प्रकाशित करने का कार्य करते ही हैं अथवा वात, पित्त और कफ शरीर को धारण करने का कार्य करते हैं, उसी प्रकार सत्त्व रजस् और तमस् परस्पर विरोधी होने पर भी परस्पर मिलकर ही अपना कार्य करते हैं। "प्रदीपवच्चार्थतोवृत्तिः"

सत्वादि गुणों के स्वरूप, कार्य (प्रयोजन) एवं क्रिया के प्रकार—

"प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥"

सत्त्व, रजस् एवं तमस् ये तीनों गुण सुख-दुःख मोहात्मक हैं। जैसा कि कवि रसलीन ने इन तीनों गुणों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से निम्नलिखित दोहे में किया है—

"अमिय हलाहल मद भरे श्वेतश्यामरतनार ।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार ॥"

ये सुख, दुःख एवं मोह एक दूसरे के अभाव नहीं है, अपितु ये भाव रूप हैं क्योंकि कारिका में आया 'आत्मा' शब्द भाव अर्थ का वाचक है। इन सुख, दुःख एवं मोह की भावरूपता मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ इत्यादि अनुभव से ही सिद्ध है।

ये तीनों गुण प्रकाशन, सञ्चालन एवं नियन्त्रण के लिये हैं।

ये तीनों गुण एक दूसरे के अभिभावक, आश्रय बनने वाले, उत्पादक एवं सहचारी होते हैं।

अभिभावक—ये सत्वादि गुण उपमर्द्य-उपमर्दक भाव से रहते हैं। सत्व, रजस् एवं तमस् को अभिभूत करके ही अपनी शान्त वृत्ति को प्राप्त करता है, इसी प्रकार रजस् सत्व और तमस् को अभिभूत करके अपनी घोर अर्थात् दुःखात्मक वृत्ति को एवं तमस्, सत्व और रजस् को अभिभूत करके अपनी मोह या विषाद की वृत्ति को प्राप्त करता है। यदि इनमें एक दूसरे को अभिभूत करने की वृत्ति न होती तो उस समय अनर्थ हो जाता। इसके उदाहरण के लिये बढ़ते हुए वृक्ष को लिया जा सकता है। वृक्ष में जो बाढ़ हो रही है वह रजस् का परिणाम है। किन्तु यदि रजस् का व्यापार ही सब कुछ होता तो वृक्ष सदैव बढ़ता ही जाता और उसकी बाढ़ की सीमा न रहती, तथा दूसरे पूरी बाढ़ पा लेने में उसे तनिक भी देर न लगाती, परन्तु ऐसा नहीं होता। वस्तुतः होता यह है कि वृक्ष थोड़ा सा ही बढ़ पाता है कि सत्वगुण अपना कार्य आरम्भ कर देता है। उसी प्रकार तमस् भी उसकी सहायता करता है और इस प्रकार दोनों मिलकर उसकी वेगपूर्वक होने वाली बाढ़ में रुकावट हुई कि त्यों ही सत्वगुण, रजस् की सहायता के लिये दौड़ पड़ता है और बाढ़ की रुकावट को दूर करने में अपना योग देता है। इस प्रकार क्रमशः ये गुण एक दूसरे को अभिभूत करके अपना कार्य करते हैं।

परस्पर आश्रय वृत्ति—ये गुण एक दूसरे के आश्रय बनने वाले हैं। आश्रय का आधार-रूप मुख्य अर्थ न लेकर एक दूसरे के कार्य में सहकारित्वरूप गौण अर्थ के द्वारा प्रकृति में आश्रित रहते हैं, एक दूसरे में नहीं। जैसे सत्वगुण, रजस् और तमस् के क्रमशः प्रवर्तन और कार्यों के आश्रय या साहाय्य से होने वाले अपने प्रकाशन कार्य द्वारा उन दोनों की सहायता करता है। अन्यथा रजस् और तमस् के अभाव में सत्व अपने प्रकाशन कार्य

में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। इसी प्रकार रजस् गुण, सत्त्व और तमस् के क्रमशः प्रकाशन और नियन्त्रण कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने प्रवर्तन कार्य द्वारा अन्य दोनों की एवं तमस् गुण, सत्त्व और रजस् के क्रमशः प्रकाशन और प्रवर्तन कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने नियन्त्रण कार्य द्वारा अन्य दोनों की सहायता करता है।

इस पारस्परिक आश्रय द्वारा एक दूसरे के कार्य में सहायक होने का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त माठरवृत्ति में मिलता है। "जैसे तिरछे खड़े किये गये तीन दण्डों या खम्भों पर आश्रित घर किसी एक पर नहीं आश्रित रह सकता और घर को अपने ऊपर सम्हालने के कार्य में तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार तीनों गुण भी अपने कार्य में अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं।

अन्योन्यजननवृत्ति—तीनों गुण एक दूसरे की उत्पत्ति करने वाले हैं अर्थात् तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की अपेक्षा रखते हुए परिणाम को उत्पन्न करता रहता है। परन्तु यह सरूप परिणाम है।

अन्योन्यमिथुनवृत्ति—ये परस्पर युग्मभाव से रहते हैं। अर्थात् एक दूसरे के सहचर या एक दूसरे के अभाव में न रहने वाले होते हैं। इसमें देवीभागवत का प्रमाण है—

"अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्र गामिनः।
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते" ॥

इस प्रकार ये सत्त्वादि भिन्न भिन्न क्रियावाले हैं।

गुणों के स्वरूप एवं विरूप परिणाम—

सत्त्वादि गुणों के दो प्रकार के परिणाम हैं (१) सरूप (२) विरूप। प्रलय की अवस्था में प्रत्येक गुण अन्य से खिंचकर स्वयं अपने में परिणत हो जाता है। इस प्रकार सत्त्व, सत्त्व में रज, रज में एवं तम, तम में परिणत हो जाता है। पृथक्-पृथक् रहने के कारण इस अवस्था में गुण कोई कार्य नहीं कर सकते। सृष्टि के पूर्व यही साम्यावस्था रहती है। साम्यावस्था में गुण अस्फुटित रूप से एक ऐसे अव्यक्त पिण्ड के रूप में रहते हैं, जिसमें न रूपान्तर है, न कोई विषय है और न शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि धर्म ही हैं। इसी को साम्यावस्था कहते हैं। और जब प्रकृति और पुरुष का पारस्परिक संयोग होता है तब इन त्रिविध गुणों की साम्यावस्था में क्षोभ (विकार) उत्पन्न होता है। इसी को गुणक्षोभ कहते हैं। फलतः प्रकृति में भीषण आन्दोलन उत्पन्न होता है और फिर इन्हीं गुणों के न्यूनाधिक्य के अनुपात से नानाविध सांसारिक विषयों की उत्पत्ति होती है। यही गुणों का सरूप विरूप परिणाम गुणों की परिवर्तनशीलता का द्योतक है।

साम्यावस्था में गुणों का सरूप होने पर विषम अवस्था में विरूप परिणाम वाला होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जैसे—

परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्"।

जैसे एक ही जल अनेक भूविकारों को प्राप्त करके अनेक प्रकार का हो जाता है उसी प्रकार प्रत्येक गुण, प्रलयकाल में एकविध होने पर भी सृष्टिकाल में अङ्गाङ्गिभाव को प्राप्त होने से विविध परिणाम उत्पन्न करता है।

गुणों का प्रयोजन—

"गुणाः" इति परार्थाः ।

सत्वादिगुण पुरुषके भोगापवर्ग के लिये होने के कारण ही गौण कहलाते हैं। अर्थात् पुरुष के पूर्वकृत कर्मों के भोगोन्मुख होने पर उनके भोग एवं भोगानन्तर तत्त्व-ज्ञान द्वारा अपवर्ग इन उभय प्रयोजनों की सिद्धि के लिये गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे न्यूनाधिक्य या गौण-प्रधान भाव उत्पन्न होता है और उससे विविध परिणामों की सृष्टि होने लगती है।

गुणों की इन विशेषताओं को देखकर योगी अरविन्द की निम्न पंक्ति युक्तियुक्त प्रतीत होती है—

"Gunas are three essential modes of action of Nature.

सत्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्"। (सां. सू.)

(४)

प्रश्न—सयुक्तिक अपवर्ग का स्वरूप स्थापित करिये। क्या एक पुरुष के मुक्त होने पर भी प्रकृति अपना कार्य करती रहती है ?

Describe the nature of Salvation. State and examine its nature. Does प्रकृति (creative energy) function even after the salvation of पुरुष ?

उत्तर—हमारा सांसारिक जीवन दुःख से भरा है। हमें जीवन में कुछ आनन्द की भी अनुभूति होती है, किन्तु यह बहुत अल्प मात्रा में है। दुःख, सुख से बढ़कर है। सुख क्षणिक है, दुःख सनातन है। अतः बौद्धों की भांति सांख्य भी सभी अनुभवों को दुःखमय बताता है। त्रिगुणों में तमोगुण दुःख का प्रतिनिधित्व करता है। प्रत्येक वस्तु या अनुभव में तमोगुण सन्निहित है। अतः प्रत्येक वस्तु तथा अनुभव दुःख है। सुख प्राप्ति के लिये किये गये प्रयत्न भी दुखदायी हैं। क्षणिक सुख के पहले तथा बाद में दुःख ही दुःख है। अतः सनातन दुःख से छुटकारा प्राप्त करना ही मानव का उद्देश्य या पुरुषार्थ होना चाहिये।

हमारा सांसारिक जीवन सांख्य दर्शन के अनुसार तीन प्रकार के दुःखों से भरा पड़ा है। वे हैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक।

इनमें से आध्यात्मिक दुःख शारीरिक और मानसिक रूप से दो प्रकार का होता है। वात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न दुःख को शारीरिक तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद तथा सुन्दर शब्द स्पर्श आदि श्रेष्ठ विषयों के अभाव से उत्पन्न दुःख को मानसिक कहते हैं। ये सभी दुःख आन्तरिक उपायों से साध्य या निवर्तनीय होने के कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं।

बाह्य उपायों से साध्य दुःख दो प्रकार का होता है आधिभौतिक और आधिदैविक। उनमें से मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प तथा वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक है।

यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला दुःख आधिदैविक कहलाता है।

सभी मनुष्य दुःखों से निवृत्ति तथा सुख-प्राप्ति की इच्छा करते हैं। परन्तु केवल सुख प्राप्ति सम्भव नहीं। अतः दुःख निवृत्ति के लिये ही प्रयास करना चाहिये। अतः इन तीनों प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति पाना ही मोक्ष या अपवर्ग है—

"दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ"।

सांख्य दर्शन के अनुसार ज्ञान से ही मुक्ति—

सुख दुःख तो गुणों से उत्पन्न होते हैं। इनकी अनुभूति मन या बुद्धि को होती है। आत्मा या पुरुष इनके प्रभावों से मुक्त है। किन्तु अज्ञान के कारण आत्मा बुद्धि से अपना पार्थक्य नहीं समझता तथा उन्हें अपना ही अंग समझने लगता है। यह अपने वास्तविक स्वभाव शुद्ध बुद्ध चैतन्य को भूलकर अपने को शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रिय समझने लगता है। जब पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है तथा यह जान लेता है कि यह मन, बुद्धि और शरीर से परे है तब वह मुक्त हो जाता है। इस भेद का ज्ञान होना ही मोक्ष है।

कर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं—

मोक्ष कर्म के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। अच्छे, बुरे या उदासीन कर्मों का आधार गुण है। अतः सभी अच्छे बुरे कर्मों से बन्धन हो सकता है, मोक्ष नहीं। सत्कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है, तथा असत् कर्मों से मनुष्य नरकगामी हो सकता है, किन्तु स्वर्ग और नरक दोनों सांसारिक हैं। ये सांसारिक जीवन की तरह ही दुःखदायी हैं। अतः ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। क्योंकि जब आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है तब उसमें कोई विकार नहीं आता। उसमें किसी गुण या धर्म का आविर्भाव भी नहीं होता।

सांख्य दर्शन के अनुसार अपूर्ण से पूर्ण अवस्था प्राप्त करना मोक्ष नहीं—

सांख्यदर्शन में कैवल्य या मोक्ष का अर्थ किसी अपूर्ण से पूर्ण अवस्था को प्राप्त करना नहीं। अमरत्व एक सामयिक घटना नहीं। यदि मोक्ष, देश, काल या कार्य-कारण की श्रृंखला में बँधा होता तो आत्मा की मुक्ति नहीं होती, तब वह नित्य भी नहीं कहा जाता। सांख्य के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति तब होती है जब पुरुष या आत्मा इस तत्त्व का अनुभव करता है कि वह देश, काल की परिधि से परे है। शरीर, मन, इन्द्रिय से भिन्न है, वह मुक्त, नित्य तथा अमर है। इस तरह की अनुभूति होते ही आत्मा शरीर या मन के विकारों से प्रभावित नहीं होता, वह केवल उनका साक्षी बन जाता है। सांख्य दर्शन के अनुसार यही मोक्ष का स्वरूप है।

सांख्य दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवस्थायें—

सांख्यदर्शन के अनुसार मोक्ष की दो अवस्थायें हैं (१) जीवन्मुक्ति तथा (२) विदेहमुक्ति। जिस समय ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, पुरुष उसी क्षण मुक्त हो जाता

है, यद्यपि उसका शरीर प्रारब्ध कर्म के अनुसार चलता रहता है। पूर्व कृत कर्मों के फलस्वरूप शरीर कुछ समय के लिये संसार में रहता है। "जिस प्रकार कुम्हार चाक पर से घुमाने वाली लाठी को हटाकर घुमाना बन्द कर देता है, तब भी चाक कुछ समय के लिये नाचता रहता है, कारण यह है कि पहले की शक्ति कुछ देर तक काम करती रहती है, उसी प्रकार मुक्त महात्माओं का शरीर भी प्रारब्ध कर्म के अनुसार चलता रहता है। परन्तु मुक्त महात्मा शरीरधारी होने पर भी शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, नवीन कर्मों की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि सभी कर्मों की शक्ति का ध्वंस हो जाता है—

"सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः" ॥

संक्षेप में जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त यही है—ज्ञान का अभ्युदय हो जाता है परन्तु शरीर प्रारब्धकर्मवश चलता रहता है।

मृत्यु के अनन्तर जब देह से भी मुक्ति होती है, उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। इस अवस्था में स्थूल-सूक्ष्म, सभी शरीरों से सम्बन्ध छूट जाता है और पूर्ण कैवल्य प्राप्त हो जाता है। अतः सांख्य दर्शन के अनुसार मोक्ष पूर्ण निरोध की अवस्था है, यह सभी दुःखों से निवृत्ति की अवस्था है। इस अवस्था में पुरुष या आत्मा अपनी पूर्ण चेतना प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में किसी सुख या आनन्द का अनुभव नहीं होता क्योंकि सुख तथा दुःख सम्बद्ध है। आनन्द सत्वगुण का ही फल है परन्तु मोक्ष की अवस्था गुणों से परे है।

सांख्य दर्शन के अनुसार बन्धन तथा मोक्ष व्यावहारिक—

सांख्य दर्शन के अनुसार बन्धन तथा मोक्ष दोनों लौकिक तथा व्यावहारिक हैं। पुरुष या आत्मा का बन्धन एक भ्रम है। बन्धन प्रकृति का होता है आत्मा का नहीं। फलतः प्रकृति की ही मुक्ति भी होती है। आत्मा न बद्ध है न मुक्त। अगर आत्मा का बन्धन होता तो सैकड़ों जन्म के बाद भी उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि यथार्थ बन्धन का विनाश नहीं होता है। अतः प्रकृति ही बद्ध है तथा प्रकृति ही मुक्त होती है। अतः ईश्वर कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि "पुरुष न तो बद्ध है और न मुक्त। बन्धन तथा मोक्ष प्रकृति का होता है पुरुष का नहीं—

"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥"

प्रकृति अपने सातों स्वरूपों से बद्ध है—

"रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ॥"

प्रकृति से अधिक सूक्ष्म कुछ नहीं है। प्रकृति अत्यन्त सुकुमारी है। वह पुरुष के सम्मुख दुबारा प्रकट नहीं हो सकती। जिस पुरुष ने उसके सातों स्वरूपों को देख लिया है—

"प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥"

जिस प्रकार नर्तकी दर्शकों को अपना नृत्य दिखला कर और उन्हें सन्तुष्ट कर अपने नृत्य से विरत होती है उसी प्रकार प्रकृति अपना भिन्न रूप पुरुष को दिखलाकर सृष्टि के कार्य से विरत होती है—

"रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥"

अतः सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति ही अपने को बांधती है तथा मुक्त करती है। पुरुष इन दोनों से परे है, क्योंकि वह पारमार्थिक सत्ता है। पुरुष, निरपेक्ष है। अतः उसे बन्धन में नहीं फंसना पड़ता। ये सभी उपाधियां प्रकृति के लिये लागू हैं।

सांख्य में मोक्ष को अभावात्मक माना जाता है अवस्था तीनों गुणों की निवृत्ति की अवस्था है, आनन्द स्वरूप नहीं है। सांख्य दर्शन मानता है कि आनन्द सत्त्व गुण का फल है। अतः मोक्ष में इसका अस्तित्व नहीं रह सकता, क्योंकि मोक्ष तीनों गुणों से परे की अवस्था है। मोक्ष का आनन्द लौकिक सुख नहीं है। वह आनन्द भी पारमार्थिक है। वह सुख दुःख दोनों से परे है। दुःख के साथ सम्बद्ध लौकिक सुख है। आनन्द नहीं। कैवल्य की अभावात्मक धारणा का ही हीनयान पर प्रभाव पड़ा है।

जहाँ तक प्रकृति पुरुष के भोगापवर्ग के लिये बुद्धि अहंकारादि की सृष्टि करती है। जैसा कि कहा है—

"पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥"

प्रकृति के समस्त विकारों में प्रथम विकार बुद्धि के सुख दुःख इत्यादि विभिन्न परिणाम अचेतन हैं। इसके विपरीत पुरुष सुख दुःख इत्यादि से सम्बन्ध न रखने वाला चेतन है। "पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गी चेतनः" इस प्रकार का वह पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता हुआ उसके साथ तादात्म्य ग्रहण करके उसमें स्थित ज्ञान, सुख इत्यादि धर्मों के द्वारा भी उनसे युक्त सा प्रतीत होता है, जिससे कि निष्क्रिय, निर्लिप्त, निस्त्रैगुण्य पुरुष भी अपने को कर्त्ता भोक्ता, आसक्त समझने लगता है। इसी व्युत्क्रम रूप से पुरुष के प्रतिबिम्ब से अचेतन बुद्धि अपने को चेतनवत् समझने लगती है। यही बुद्धि का पुरुष को विषयों का दिखाना बन्ध है, और जब पुरुष को विवेक ज्ञान, हो जाता है, तब पुरुष बुद्धि गत सुखदुःखादि को अपने में न मानकर बुद्धि में मानता है। परन्तु प्रकृति एक पुरुष के विवेक ज्ञान हो जाने पर उसके प्रति नष्ट होने पर भी जो अन्य अकृतार्थ पुरुष हैं उनके प्रति अपने कार्य को समाप्त नहीं करती है—

"कृतार्थमेकं पुरुषं प्रति दृश्यं नष्टमपि।
नाशं प्राप्तमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात् ॥"

क्योंकि पुरुष अनेक हैं। यदि वह एक होता तो एक के मरण पर सबका मरण तथा एक पुरुष के विवेक ज्ञानयुक्त होने पर सबको ज्ञान की स्थिति उत्पन्न हो जाती। इससे सिद्ध है कि पुरुष की अनेकता के कारण पुरुष में नानात्व जन्ममरण, सुखदुःख तथा बन्धन मोक्ष की व्यवस्था सिद्ध है अन्यथा एक को जन्ममरण, सुखदुःख एवं बन्धमोक्ष होने

पर सबका जन्ममरण, सुखदुःख तथा बन्ध मोक्ष होना चाहिये। इससे सिद्ध है कि पुरुष अनेक है जैसा कि श्रुति कहती है—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येकोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥"

पुरुष की अनेकता के कारण हो प्रकृति के कार्य की सिद्धि होती है। प्रकृति जिस पुरुष के प्रति अपने भोगापवर्ग रूप प्रयोजन को सिद्ध कर चुकी है उनके प्रति पुनः अपने कार्य को प्रस्तुत नहीं करती है। परन्तु वे व्यक्ति जो अकृतार्थ हैं उनके प्रति प्रकृति अपने भोगापवर्ग रूप प्रयोजन रूप कार्य को जारी रखती है। इससे सिद्ध है कि एक पुरुष के मोक्ष की स्थिति में अवस्थित होने पर प्रकृति अपने कार्य को अपवर्ग स्थित पुरुष के लिये न करती हुई अन्य पुरुषों के प्रति कार्य में तत्पर रहती है, क्योंकि प्रकृति का कार्य ही है कि प्रत्येक पुरुष को भोग के पश्चात् मोक्ष की स्थिति में आरूढ़ कराना।

(५)

प्रश्न—सांख्यदर्शन के अनुसार 'पुरुष' का स्वरूप क्या है? पुरुष एक है? अथवा अनेक? पुरुषसिद्धि में क्या प्रमाण है? प्रकृति से पृथक् पुरुष तत्त्व को मानने की आवश्यकता क्यों पड़ी?

What is Purush according to Sankhya? Is Purush one or many? What are the proofs for existence? and why should it be recognized as distinguished from प्रकृति?

उत्तर—सांख्य की भूमि में तीन प्रकार के तत्त्व हैं व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ। अव्यक्त को मूला प्रकृति या प्रधान कहते हैं। सारा जड़ जगत इसी जड़ प्रकृति का परिणाम है। महत तत्त्व से लेकर पञ्च महाभूत पर्यन्त सभी व्यक्त हैं। ये अपने कारण से उत्पन्न होने के कारण अनित्य, अव्यापक, क्रियाशील एवं अनेक हैं। ज्ञ चेतन है।

पुरुष का स्वरूप—

सांख्य में पुरुष आत्मा को कहते हैं। पुरुष प्राणवान्, सजीव एवं संवेदनशील है। यदि सांख्य दर्शन में पुरुष की योजना न होती तो प्रकृति एवं उससे उद्भूत विषयों की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। बिना पुरुष के विकास सम्भव नहीं।

आत्मा या पुरुष के अस्तित्व को सभी दार्शनिक मानते हैं। लोकव्यवहार में हम नित्य अनुभव करते हैं 'अहमस्मि' 'इदं ममास्ति'। दर्शन की दृष्टि से समस्त सांसारिक जीव का कोई अस्तित्व नहीं, किन्तु उनके भीतर जो सर्वव्यापक चेतन है, जिसे हम अन्तरात्मा या अन्तश्चेतना कहते हैं यथार्थतः वही सब कुछ है। अतः निर्जीव शरीर में आत्मा के आवास के कारण ही हम अपने पराये का अनुभव करते हैं। इसी के कारण व्यक्ति का अस्तित्व है। अतः इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अस्वीकार करने पर भी हमें चेतन आत्मा की आवश्यकता होती है। अतः सांख्यदर्शन का मत है कि आत्मा का अस्तित्व स्वयं सिद्ध है। इसकी सत्ता सबको माननी पड़ती है।

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी दार्शनिक एकमत नहीं हैं। भौतिकवादी चार्वाक इत्यादि स्थूल शरीर को ही आत्मा की संज्ञा देते हैं—"देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः"।

कुछ इन्द्रियों को, कुछ प्राण को, कुछ मन को आत्मा मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक आत्मा को विज्ञान का प्रवाह मानते हैं। न्यायवैशेषिक तथा प्रभाकर आदि मीमांसकों के अनुसार आत्मा अचेतन द्रव्य है। यह विशेष अवस्थाओं में चैतन्य का आधार हो सकता है। यह मीमांसकों का कहना है कि आत्मा सचेतन पदार्थ है, किन्तु कभी-कभी अज्ञान से आवृत हो जाता हैं। इसलिये हमें अपने विषय में जो ज्ञान होता है वह अधूरा रह जाता है।

शांकर वेदान्त का मत है कि आत्मा एक है। वह विभिन्न शरीरों में अवस्थित है। वह शुद्ध, बुद्ध, नित्य और आनन्दस्वरूप है। वह सच्चिदानन्द कहा जाता है।

सांख्य के अनुसार पुरुष अर्थात् आत्मा ज्ञाता है। वह न तो शरीर है, न इन्द्रिय है, न मस्तिष्क है और न बुद्धि। वह सांसारिक विषयों से परे हैं। वह कभी ज्ञान का विषय नहीं होता। वह चैतन्य या आधारभूत द्रव्य नहीं, किन्तु स्वतः चैतन्य स्वरूप है। चैतन्य उसका गुण नहीं, स्वभाव है। वेदान्त आत्मा को आनन्द स्वरूप मानता है किन्तु सांख्य नहीं। वह आनन्द और चैतन्य को दो वस्तु मानता है, एक नहीं। पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो प्रकृति के प्रभाव से परे है। ज्ञान उसका स्वभाव ही है। ज्ञान का विषय बदलता रहता है परन्तु चैतन्य का प्रकाश सदा एक ही रहता है। आत्मा निष्क्रिय तथा अविकारी है। विकार या क्रिया तो प्रकृति में उत्पन्न होती है। पुरुष उससे अछूता रहता है। वह स्वयंभू, नित्य तथा सर्वव्यापी सत्ता है। विषय या राग से वह प्रभावित नहीं होता। प्रकृति परिणामिनी है। उसमें प्रतिक्षण परिणाम हुआ करता है। अतः सभी विकार मन, बुद्धि, अहंकार आदि के धर्म हैं। मन, बुद्धि, अहंकार आदि को आत्मा समझना है, इस भ्रम में पड़कर पुरुष अपने को कर्ता और भोक्ता समझने लगता है। यही बन्धन का कारण है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि अनाश्रितत्व, अलिङ्गत्व, निरवयवत्व, स्वतन्त्रत्व, अत्रिगुणत्व, विवेकित्व, अविषयत्व, असामान्यत्व, चेतनत्व, अप्रसवधर्मित्व, साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य औदासीन्य, द्रष्टृत्व तथा अकर्तृत्व ये सभी धर्म ज्ञ-पुरुष-में हैं—

"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥
तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥
तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥"

पुरुष की सत्ता की सिद्धि—

जिस प्रकार प्रकृति की सत्ता सिद्ध करने के लिये सांख्य विचारकों ने प्रौढ़ प्रमाण दिये हैं वैसे ही पुरुष की सत्ता के लिये भी। स्वकीय मत के उपन्यास के लिये ईश्वरकृष्ण पुरुष के अस्तित्व के संबन्ध में निम्नलिखित कारिका उद्धृत करते हैं—

"संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥"

१. संघातपरार्थत्वात्—

संसार में यह देखा जाता है कि जितने संघात या मिश्रित या अवयवों से युक्त पदार्थ हैं, जैसे पलंग, आसन, अङ्गराग आदि सभी किसी अन्य के उपयोग के लिये होते हैं।

उसी प्रकार अव्यक्त, महत्, अहंकार इत्यादि संघात होने के कारण किसी अपर के भोग के हेतु हैं। वह दूसरा अर्थात् पर जीवात्मा या बद्धपुरुष है जिसके भोग के लिये महद् इत्यादि व्यक्त हैं।

२. त्रिगुणादिविपर्ययात्—

सन्देह नहीं करना चाहिये कि जैसे शयन, आसन आदि संघात शरीर के लिये देखे जाते हैं उसी प्रकार ये अव्यक्तादि भी अपने से भिन्न दूसरे संघात का अनुमान कराते हैं, असंहत पुरुष का नहीं। अर्थात् 'यत्र यत्र संघातत्वं तत्र तत्र अन्य संघातप्रयोजनसाधनत्वम्।' क्योंकि अव्यक्त इत्यादि संघात को दूसरे संघात के लिये मान लेने पर संघात होने के कारण इस दूसरे को तीसरे संघात के लिये मानना पड़ेगा। इसलिये इस अनवस्था के भय से पर अर्थात् पुरुष को संघात से भिन्न माना गया है। व्यक्त और अव्यक्त के त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व तथा प्रसवधर्मित्व साधारण धर्म कहे गये हैं। यदि ये धर्म व्यक्त और अव्यक्त के समान हैं तो प्रश्न होता है कि ये किसके असमान धर्म हैं जिसके ये असमान धर्म हैं, वह तत्व पुरुष ही है। इसीलिये ईश्वरकृष्ण के 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' कहने का तात्पर्य यही है कि त्रिगुणादि से भिन्न भी कोई वस्तु है जो संघात रूप नहीं है और वही पुरुष है।

३. अधिष्ठानात्—

सभी जड़ पदार्थ किसी चेतन की सत्ता के द्वारा ही नियंत्रित होते हैं। रथ, मशीन आदि तभी अपनी क्रिया में प्रवृत्त होते हैं जब उनकी देखभाल तथा नियन्त्रण करने वाला कोई सारथि या कारीगर हो। उसी प्रकार त्रिगुणात्मक प्रकृति एवं उसके विकार जड़ होने के कारण ही किसी पुरुष के द्वारा प्रेरित होकर अपनी सृष्टि क्रिया का उत्पादन करते हैं। वे बिना पुरुष की सहायता के सृष्टि नहीं कर सकते। अतः वह अधिष्ठाता पुरुष ही है। न्याय दर्शन भी आत्मा की सिद्धि के लिये ऐसा ही मुख्य प्रमाण प्रस्तुत करता है—

"प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगस्येव सारथिः।
अहंकारस्याश्रयोऽयं मनोमात्रस्य गोचरः॥"

४. भोक्तृभावात्—

त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिये भोक्ता अपेक्षित होने से भी पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। भोक्ता का अर्थ है सुख, दुःख एवं मोहरूप वस्तुओं का भोग करने वाला। यह भोक्ता चेतन ही हो सकता है। अव्यक्त तथा व्यक्त जड़ होने से भोक्ता नहीं हो सकते हैं, ये तो भोग्य ही हैं। वही भोक्ता पुरुष या जीवात्मा है।

५. कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च—

संसार में पुरुष दुःखों के अनवरत चक्र से मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। कैवल्य जिसे शास्त्र एवं दिव्यदृष्टि महर्षि त्रिविध दुःख की सार्वकालिक निवृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं वह बुद्धि इत्यादि के विषय में असम्भव है, क्योंकि दुःख इत्यादि तो इनका स्वरूप ही है। फिर ये अपने स्वरूप से वियुक्त या पृथक् कैसे किये जा सकते हैं? किन्तु बुद्धि इत्यादि से भिन्न कोई तत्व, जिसका स्वरूप दुःख इत्यादि नहीं है उससे पृथक् किया जा सकता है। इसलिये शास्त्रों एवं महामतिमान् महर्षियों ने 'कैवल्य के लिये प्रवृत्ति होने से भी' सुखदुःखात्मक तत्वों से भिन्न पुरुष की पृथक् सत्ता सिद्ध की

है। अतः यदि हम चेतन पुरुष न माने तो मोक्ष निरर्थक हो जाता है। मोक्ष की अभिलाषा किसको होगी।

अतः उपर्युक्त सिद्धान्तों द्वारा पुरुष की सत्ता स्वयं सिद्ध है। पुरुष को न मानने का साहस चार्वाक आदि दार्शनिकों को नहीं करना चाहिये।

सांख्यदर्शन में पुरुष बहुत्व की सिद्धि—

सांख्य दर्शन में अनेक आत्माओं की सत्ता स्वीकार की गई है। सांख्यकारिका में पुरुष की अनेकता निम्नलिखित कारिका से सिद्ध की है—

"जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥"

१. जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात्—

जन्म-मरण तथा करणों अर्थात् इन्द्रियों के व्यापार प्रतिपुरुष के भिन्न २ रूप से नियमित हैं। एक उत्पन्न होता है तो दूसरा मरता है। यह भेद इसी स्थिति में सम्भव है कि जब पुरुष अनेक हों। एक ही पुरुष होता तो ऐसी दशा देखने में न आती। अतः जन्म मरण एवं करण की सुव्यवस्था के लिये पुरुष बहुत्व को मानना अत्यन्त आवश्यक हैं। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि एक पुरुष होने पर भी शरीर इत्यादि उपाधियों के भेद से भी व्यवस्था हो जायेगी, क्योंकि ऐसा होने पर तो हाथ, स्तन इत्यादि उपाधियों के भेद से भी व्यवस्था होने लगेगी। परन्तु हाथ के टूट जाने अथवा स्तन इत्यादि अवयवों के उत्पन्न होने से कोई युवती मृत या उत्पन्न नहीं होती। अतः इससे पुरुष बहुत्व की सिद्धि होती है।

२. अयुगपत्प्रवृत्तेः—

'एक साथ प्रवृत्ति न होने के कारण' भी प्रत्येक शरीर में पुरुष की भिन्नता सिद्ध होती है। "जैसे प्रत्येक रथ एक साथ प्रवर्तित न होने अथवा कथञ्चित वैसा होने पर भी एक ही प्रकार से प्रवर्तित न होने से प्रत्येक के प्रेरक या चालक व्यक्ति (सारथी) के अनेक या विभिन्न होने पर अनुमान होता है, वैसे ही प्रत्येक शरीर के एक साथ ही प्रवृत्त या क्रियाशील न होने से अथवा कथञ्चित वैसा होने पर भी एक ही प्रकार से प्रवृत्त न होने से प्रत्येक (शरीर) के प्रवर्तक या प्रेरक पुरुष के विभिन्न अथवा पृथक् होने का अनुमान होता है, भेद से भेद का ही, सामान्यतः क्रियाभेद से क्रियाश्रयों के भेद का ही अनुमान होता है, तथापि शरीरों के क्रियाभेद से पुरुषों के भेद का अनुमान इसलिये किया जाता है कि शरीर अचेतन होने से स्वयं तो प्रवृत्त होता नहीं, उसकी प्रवृत्ति तो चेतन पुरुष से अधिष्ठित होने के कारण उसके सान्निध्य से होती है। इसलिये यदि सभी शरीरों की एक साथ या एक सी प्रवृत्ति नहीं होती तो स्पष्ट है कि सभी में प्रवर्तक पुरुष एक ही नहीं भिन्न २ हैं। एक ही होता तो एक साथ और एक सी प्रवृत्ति होती।

३. त्रैगुण्यविपर्ययात्—

त्रैगुण्य-भेद के कारण भी पुरुषभेद सिद्ध होता है। मनुष्य देवताओं से नीचे हैं तथा पशु पक्षियों से ऊपर हैं। यदि देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि सभी में एक ही आत्मा रहती तो विभिन्नता कैसे होती ? यदि एक पुरुष होता तो एक ही साथ सब में सत्त्वगुण, रजोगुण या तमोगुण आते। परन्तु कोई सुखी, कोई दुखी और कोई उदासीन दिखाई पड़ता है। अतः पुरुष अनेक हैं।

योग भी पुरुषबहुत्व की सिद्धि करता है, क्योंकि पुरुषार्थ के प्रयोजन से सृष्टि का विकास करने वाली प्रकृति पुरुष को अपने शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वरूप का बोध कराकर उस पुरुष के प्रति मोक्षरूप प्रयोजन को सिद्ध करके भी अन्य पुरुषों को मोक्षारूढ कराने के लिये तत्पर रहती है। अतः यदि पुरुष एक होता तो एक के विवेक ज्ञान से सबको विवेक ज्ञान हो जाता और सभी मोक्षापन्न हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः निम्नलिखित पतञ्जलि कृत सूत्र से भी पुरुष बहुत्व की सिद्धि होती है—"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।"

प्रकृति से भिन्न पुरुष की सिद्धि का हेतु—

प्रकृति और उसके कार्य सब जड़ हैं, दृश्य हैं, भोग्य हैं। उनकी दृश्यता, भोग्यता तभी बन सकेगी, जब उनका कोई द्रष्टा, भोक्ता हो। किसी द्रष्टा, भोक्ता के बिना उन्हें दृश्य भोग्य नहीं कहा जा सकेगा, अतः प्रकृति से भिन्न द्रष्टा, भोक्तारूप पुरुष की सिद्धि हो जाती है।

(६)

प्रश्न—सांख्य के सृष्टि-प्रलय की प्रक्रिया बताते हुए इसकी समीक्षा करो?

State the samkhya doctrine of evolution and distruction and examine it.

उत्तर—सांख्य के प्रमेय या पदार्थ मुख्यतः दो ही हैं। एक तो जड़ प्रकृति और दूसरा चेतन पुरुष, और सारा जड़ जगत इसी जड़ प्रकृति का परिणाम है। और इसी परिणाम का नाम सर्ग या सृष्टि है। सांख्य के अनुसार सृष्टि के पूर्व सत्व रज और तम ये तीनों गुण साम्यावस्था में वर्तमान रहते हैं। जब प्रकृति और पुरुष का पारस्परिक संयोग होता है तब इन त्रिविध गुणों की साम्यावस्था में क्षोभ (विकार) उत्पन्न होता है। इसी को 'गुणक्षोभ' कहते हैं। पहले क्रियाशील रजोगुण में स्पन्दन होता और उसके बाद सत्व तथा तम आन्दोलित होते हैं। फलतः प्रकृति में भीषण आन्दोलन उत्पन्न होता है। ये तीनों गुण एक दूसरे को अपने भीतर समाहित करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में गुणों में न्यूनाधिक्य की स्थिति पैदा होती है और गुणों के उसी न्यूनाधिक्य के अनुपात से नानाविध सांसारिक विषयों की उत्पत्ति होती है।

"प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥"

इन पच्चीस तत्वों की तालिका इस प्रकार बनाई जाती है—
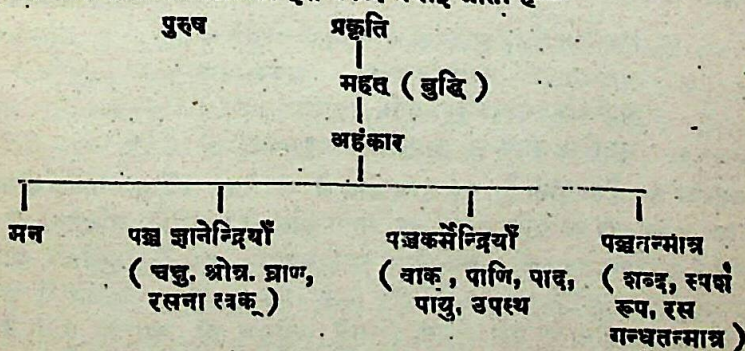
त्रिगुणात्मक प्रकृति से सर्वप्रथम बुद्धितत्त्व का प्रादुर्भाव होता है, बुद्धितत्त्व से अहंकार, अहंकार से मन, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्र पैदा होते हैं। अन्त में पञ्च तन्मात्राओं से आकाश, वायु, इत्यादि पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। यही सृष्टि कही जाती है।

बुद्धितत्त्व—

"अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं, वैराग ऐश्वर्यंञ्च।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥"

बुद्धितत्त्व का ही दूसरा नाम महत्तत्त्व है, इसको महत् इसलिये कहा जाता है कि यह धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि सभी उत्कृष्ट महान् गुणों का उसमें आवास रहता है। किसी विषय के सम्बन्ध का निश्चय हम बुद्धि से करते हैं। उसमें सत्त्व गुण की प्रधानता रहती है, किन्तु तम और रज उसमें तिरोहित रूप में रहते हैं। बुद्धि के साथ मन और अहंकार को मिलाकर अन्तःकरण की निष्पत्ति होती है। अन्तःकरण में उचित निश्चयात्मक वृत्ति का नाम ही बुद्धि है। बुद्धि का धर्म होता है अपने सहित दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करना।

बुद्धि के दो प्रकार हैं सात्त्विक और तामस। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य सात्त्विक बुद्धि के गुण हैं और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य तामस बुद्धि के गुण हैं। बुद्धि, जीवात्मा के भोग का प्रधान साधन है। भोग और मुक्ति जो कि क्रमशः प्रकृति और पुरुष के स्वभाव हैं, बुद्धि के ही द्वारा प्रकाशित एवं ग्राह्य होते हैं।

अहंकार—

बुद्धितत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है। बुद्धि में जब 'मैं' और 'मेरा' यह अहंभाव पैदा होता है तब उसको अहंकार कहा जाता है। बुद्धि में यह अहंभाव इन्द्रिय और मन के द्वारा होता है। पहले इन्द्रियों के द्वारा विषयों का प्रत्यक्ष होता है और तदनन्तर मन उसके स्वरूप को निर्धारित करता है। विषयों का स्वरूप निर्धारित होने के बाद नाना प्रकार के सांसारिक व्यवहारों में हमारी प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृत्ति मनुष्य को मिथ्या भ्रम में डालती है।

अहंकार के भेद—

"अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव॥
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्" ॥

अहंकार तब पैदा होता है, जब बुद्धि तत्त्व में अवस्थित रजोगुण प्रबल होता है। इसी कारण अहंकार को बुद्धि का विकार माना जाता है। क्योंकि बुद्धितत्त्व की भांति अहंकार में भी सत्त्व, रज और तम तीनों गुण वर्तमान रहते हैं। इसलिये सात्त्विक, राजस और तामस दृष्टि से अहंकार के तीन प्रभेद होते हैं। जिस अहंकार में सात्त्विक गुण की प्रधानता होती है उसे वैकृत, जिसमें तमोगुण की प्रधानता होती है उसे भूतादि और जिसमें रजोगुण की प्रधानता होती है उसे तैजस कहते हैं। सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। तामस अहंकार से पांच तन्मात्राओं

की सृष्टि होती है। राजस अहंकार शेष दोनों अहंकारों का सहायक होता है और वह उन्हें शक्ति प्रदान करता है।

इन्द्रियाँ—

"बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः" ॥

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। उन्हें बुद्धीन्द्रिय भी कहा जाता है। इसके विषय हैं रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श। ये पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ अहंकार का परिणाम है और पुरुष के निमित्त उनकी उत्पत्ति होती है।

वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा क्रमशः जो कार्य सम्पादित होते हैं उनके नाम हैं वर्णोच्चारण, आदान, गमन, मलत्याग और सन्तानोत्पत्ति।

ये दसों इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से पैदा हुई हैं। आत्मा अर्थात पुरुष इनका अधिष्ठाता है। इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष अवयवों में रहती हुई भी अप्रत्यक्ष रहती हैं। इसलिये वे अनुमेय होती हैं।

मन—

"उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च" ॥

मन उभयात्मक इन्द्रिय है। ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने से वह ज्ञानेन्द्रिय का रूप धारण कर लेता है और कर्मेन्द्रिय के साथ कार्य करते समय वह कर्मेन्द्रिय के समान हो जाता है। इसलिये मन वस्तुतः लोचदार इन्द्रिय है। संकल्प और विकल्प उसके विषय हैं, धर्म हैं, स्वरूप हैं। किसी कार्य को किया जाय या न किया जाय उसको संकल्प विकल्प कहते हैं, जो मन की क्रिया है।

तन्मात्राएं—

तन्मात्र शब्द का अर्थ होता है। 'तदेव इति तन्मात्रम्' अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच विषय हैं, वे ही पांच तन्मात्राएं हैं किन्तु ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा तन्मात्राओं में कुछ विशेषता होती है अन्यथा उनकी आवश्यकता को ज्ञानेन्द्रियां ही पूरा कर लेतीं।

अहंकार में जो तामस अंश होता है उससे पांच तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति होती है। वे तन्मात्राएं इतनी सूक्ष्म हैं कि उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, अनुमान के द्वारा ही उनको जाना जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तत्त्व अहंकार से उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे स्थूल हैं। उनमें जो पांच तन्मात्रायें अभिव्यक्त हैं वे सूक्ष्म और अविशेष हैं।

महाभूत—

सांख्य के पांच महाभूत यद्यपि स्थूल हैं, किन्तु न्याय वैशेषिक के महाभूतों से वे सूक्ष्म हैं अर्थात न्याय वैशेषिक के ये परमाणु हैं। पाँच तन्मात्राओं को अविशेष (सूक्ष्म) और पाँच महाभूतों को विशेष (स्थूल) कहा जाता है—

"तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥"

पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत की स्वतन्त्र रूप से सृष्टि होती है। शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है जिसका गुण है कान से सुनना। स्पर्शतन्मात्र से ही वायु की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण है शब्द। रूपतन्मात्र से तेज की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण है स्पर्श। रसतन्मात्र से जल की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण रस, गन्धतन्मात्र से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है, जिसका गुण है गन्ध।

प्रकृति से लेकर पांचमहाभूतों तक उत्पत्ति के जिस क्रम को दिखाया गया है उसकी दो अवस्थायें होती हैं। प्रत्ययसर्ग या बुद्धिसर्ग, तन्मात्रसर्ग या भौतिक सर्ग। प्रथम अवस्था में बुद्धि और अहंकार एवं एकादश इन्द्रियों का आविर्भाव होता है और दूसरी अवस्था में पांच तन्मात्राओं, पंचमहाभूतों तथा उनके विकारों का आविर्भाव होता है। यह सांख्यीय सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम है।

जिस क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति होती है ठीक उसके विपरीत क्रम में जब कार्य कारण में लीन होते जाते हैं तब विनाश की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कारण में कार्य के विलीन होने से ही इन महत् आदि विकारों को लिङ्ग कहा जाता है। पञ्चमहाभूत कार्य अपने कारण पञ्चतन्मात्र में लीन हो जाते हैं, एकादश इन्द्रिय एवं पञ्चतन्मात्र रूप कार्य अपने कारण अहंकार में, अहंकार महत् में, एवं महत् अपने मूलकारण प्रकृति में विलीन हो जाता है। प्रकृति २३ तत्त्वों का कारण है, वह किसी का कार्य नहीं है। अतः उस कारण रूप प्रकृति के अपने किसी कारण में लीन होने का प्रश्न नहीं उठता है। क्योंकि कारण में कार्य विलीन होते देखा गया है। किन्तु कारण में कारण विलीन नहीं होता। प्रकृति सकल कार्यों की जड़ है, उसकी कोई जड़ नहीं है, इसलिये प्रकृति को मूला प्रकृति कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि—

"विश्वस्य कार्यसङ्घातस्य सा प्रकृतिः मूलम्, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति, अनवस्था-प्रसङ्गात्। न चानवस्थायां प्रमाणमस्ति"।

यदि प्रकृति का भी कोई कारण माना जाय तो अनवस्था दोष का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। अतः अनवस्था के निवारण के लिये बीजाङ्कुर-न्याय से प्रकृति को ही सबका मूल अर्थात् कारण माना गया है, प्रकृति किसी का कार्य नहीं है। इस प्रकार सृष्टि-उत्पत्तिक्रम से ठीक विपरीत कार्य का कारण में विलीन होना ही सांख्य के अनुसार विनाश की स्थिति का उपस्थित होना है।

सांख्यीय सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त—

सांख्य के अनुसार सृष्टि से पूर्व संसार साम्यावस्था में था। उस अवस्था में गुण अपनी साम्यावस्था में थे। यह साम्यावस्था प्रकृति है। जब प्रकृति और पुरुष का संयोग हुआ तो प्रकृति में क्षोभ (Disturbance) उत्पन्न हुआ। इसी क्षोभ के कारण गुणों का संयोग आरम्भ हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप जगत की उत्पत्ति हुई। अतः प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है। यही सांख्यीय सृष्टि की उत्पत्ति का मूल सिद्धान्त है।

शंका—यहाँ यह प्रश्न होता है कि यह संयोग कैसे सम्भव है? प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन। प्रकृति विषय है और पुरुष विषयी है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और पुरुष निर्गुण है। प्रकृति एक है, पुरुष अनेक है। प्रकृति सक्रिय है और पुरुष निष्क्रिय है। प्रकृति देश

कालसापेक्ष है और पुरुष देशकाल—अनिरपेक्ष। प्रकृति भोग्या है, पुरुष भोक्ता है। प्रकृति अविद्या है और पुरुष ज्ञानस्वरूप है। प्रकृति जगत् का आदि कारण है, पुरुष जगत् से परे है। प्रकृति बन्धन का कारण है, पुरुष मुक्त है। इस तरह सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो विरोधी तत्वों की निरपेक्ष सत्ता स्वीकार की गई है। इन दो निरपेक्ष तत्वों का संयोग आपस में कैसे सम्भव है?

समाधान—सांख्य का कहना है कि प्रकृति और पुरुष का संयोग साधारण संयोग नहीं, दो भौतिक द्रव्यों में जैसे रथ और घोड़े में साधारण संयोग होता है। परन्तु पुरुष और प्रकृति का संयोग एक विशेष संयोग है। यह पंगु अन्ध का सम्बन्ध है। "जिस प्रकार एक अन्धा और लंगड़ा ये दोनों आपस में मिलकर एक दूसरे की सहायता से अपना कार्य सम्पादित कर सकते हैं। प्रकृति दर्शनार्थ पुरुष की अपेक्षा करती है और पुरुष कैवल्यार्थ अपना स्वरूप पहचानने के लिये प्रकृति की सहायता लेता है"। अतः सांख्यकारिका में कहा गया है—

"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥"

इस तरह प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि सम्भव है। यदि दोनों तत्व अलग-अलग हों तो वह प्रलय की अवस्था होगी। दोनों मिलकर ही अन्धे और लंगड़े की तरह सृष्टि करते हैं।

शंका—परन्तु दो विरोधी तथा स्वतन्त्र तत्व आपस में मिलते कैसे हैं?

समाधान—सांख्य इस शंका का समाधान करते हुए कहता है कि इन दोनों में वास्तविक संयोग नहीं होता, बल्कि पुरुष का 'सन्निधिमात्र' ही प्रकृति की साम्यावस्था में विक्षोभ उत्पन्न करता है। इस तरह विकास प्रारम्भ होता है।

शंका—परन्तु इससे दो कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। पुरुष सर्वदा प्रकृति के साथ रहता है, क्योंकि निष्क्रिय पुरुष चल नहीं सकता, तब तो सर्वदा विकास ही होता रहेगा। प्रलय की अवस्था कभी नहीं आयेगी। विकास का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। प्रकृति की साम्यावस्था तथा तीनों गुणों की कल्पना बेकार है; सांख्य द्विविधा में पड़ जाता है या तो संयोग सम्भव नहीं फलतः विकास भी नहीं, या साम्यावस्था नहीं फलतः प्रकृति तथा प्रलयावस्था नहीं।

समाधान—इस शंका का निराकरण सांख्य 'संयोगाभास' के सिद्धान्त को अपनाते हुए देता है। अर्थात् पुरुष और प्रकृति में वास्तविक संयोग नहीं, परन्तु दोनों में संयोग का आभास होता है। इसी आभास से सृष्टि होती है। पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है और भ्रमवश बुद्धि में प्रतिबिम्बित अपने रूप को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझने लगता है। पुरुष के इसी प्रतिबिम्ब का संयोग प्रकृति से होता है, पुरुष के वास्तविक स्वरूप से नहीं।

शंका—परन्तु यहाँ शंका होती है कि बुद्धि या महत् प्रकृति का प्रथम विकार है। अतः वह जन्म से पहले ही पुरुष का प्रतिबिम्ब कैसे ग्रहण करती है?

समाधान—इस शंका के निराकरण के लिये सांख्य का उत्तर है कि पुरुष प्रकृति में स्वतः प्रतिबिम्बित होता है। इससे सिद्ध है कि प्रकृति-पुरुष के संयोग से विकास प्रक्रिया आरम्भ होती है।

(७)

प्रश्न—प्रकृति का स्वरूप क्या है। उसके अस्तित्व में क्या प्रमाण है? इसका व्यक्त और पुरुष से भेद सिद्ध करो और लिखो कि उसे क्यों स्वीकार किया गया है?

What is Prakrti ? What are the proofs for its existence. Distinguish it from व्यक्त and पुरुष and what is its purpose ?

उत्तर—परिणामवाद के आधार पर सांख्य दार्शनिक जगत के मूल कारण प्रकृति पर पहुँचते हैं। जगत् के कारणहीन मूलकारण के रूप में वह प्रकृति कहलाती है। प्रत्येक वस्तु का कारण है परन्तु प्रकृति का कोई कारण नहीं वह आदि कारण है। वह सृष्टि से पूर्व है। उस पर समस्त कार्य आधारित हैं। वह जगत का प्रथम तत्त्व है अतः वह प्रकृति कहलाती है। लोकाचार्य लिखते हैं—

"समस्त विकारों का उत्पादन करने के कारण वह 'प्रकृति' कहलाती है। वह 'अविद्या' कहलाती है क्योंकि वह समस्त ज्ञान की विरोधिनी है। 'माया' कहलाती है क्योंकि वह विचित्र सृष्टि उत्पन्न करती है। वह अत्यन्त सूक्ष्म एवं अदृश्य है और उसकी उत्पत्तियों को देखकर ही उसका अनुमान लगाया जाता है, अचेतन तत्त्व के रूप में वह 'जड़' कहलाती है। और सदैव गतिशील असीम शक्ति के रूप में वह 'शक्ति' कहलाती है। समस्त वस्तुओं की अव्यक्त अवस्था के रूप में 'अव्यक्त' कहलाती है। सत्व, रज और तम इसके तीन गुण हैं अतः यह 'त्रिगुणात्मिका' कहलाती है। यह समस्त पदार्थों को उत्पन्न करने वाली है अतः यही 'अजा' है। यह विचित्र सृष्टि की रचना करती है अतः माया कहलाती है—

"प्रकृतिरित्युच्यते विकारोत्पादकत्वात् अविद्याज्ञानविशेषत्वात् माया विचित्र सृष्टिकर्तृत्वात्"।

सांख्यशास्त्र प्रकृति की सत्ता की सिद्धि का अपवाद नहीं है अपितु इसके मूलतत्त्व वेद, बृहदारण्यक, छान्दोग्य एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों में भी सूक्ष्म रूप से मिलते हैं। जैसे—

"तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम्।"

ऋग्वेद में सांख्य के भावी 'अव्यक्त प्रकृति' का संकेत मिलता है। श्वेताश्वतर का तो कहना ही क्या? वह तो सांख्य-उपनिषद् ही माना जाता है—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः॥"
"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्॥"

इत्यादि पंक्तियाँ प्रकृति की सत्ता सिद्ध करती हैं। इतना अवश्य है कि इन उपनिषदों में सांख्य के तत्त्वों का निर्देश मात्र हुआ है आगे चलकर यही तत्त्व सांख्यशास्त्र में प्रस्फुरित हुए। प्रकृति इत्यादि के मूलतत्त्व ऋग्वेदादि प्राचीन वेदों में पाये जाने के कारण ही डॉ० जॉनसन ने अपने Early Samkhya नामक ग्रन्थ के आरम्भ में ठीक लिखा है—

"Hindu philosophy was in the making for many Centuies before any of the extant authoritative treatises on the various classical systems was composed"

जगत् का आदि कारण प्रकृति—

सांख्य के अनुसार यह समस्त जगत् ऐसी वस्तुओं से बना है जो कि कार्य द्रव्य हैं। जगत् कार्य-कारण का प्रवाह है। अतः इसका कोई मूल कारण भी होगा। यह मूल कारण आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा न कार्य है और न कारण, उसका स्वभाव भी जगत् की वस्तुओं से विपरीत है। चार्वाक, बौद्ध, जैन, न्याय तथा वैशेषिक मतों के अनुसार जगत् पृथ्वी, जल, तेज, वायु के परमाणुओं से बना है। सांख्य का कहना है कि इन भौतिक परमाणुओं से मन, बुद्धि और अहंकार जैसे सूक्ष्म तत्वों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जगत् का मूलकारण ऐसा होना चाहिये जो जड़ होने पर भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो। जो अनादि तथा अनन्त हो और जिससे समस्त विषय उत्पन्न हो सकें। ये सब गुण प्रकृति में मिलते हैं। अतः प्रकृति ही जगत के समस्त वस्तुओं की मूलकारण है। वह अनित्य और निरपेक्ष है, क्योंकि सापेक्ष और अनित्य तत्व जगत् का मूलकारण नहीं हो सकता। वह गहन, अनन्त तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति प्रकृति है।

प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि—

सांख्यकारिका में प्रकृति के अस्तित्व की सिद्धि के उपन्यास के लिये निम्नलिखित कारिका प्रस्तुत की गई है—

"भेदानां परिमाणात् समन्वयात् कार्यतः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागात् वैश्वरूपस्य॥
कारणमस्त्यव्यक्तम्"

१. भेदानां परिमाणात्—

जगत की समस्त वस्तुएँ सीमित, परतन्त्र, सापेक्ष और सान्त हैं अतः उनको उत्पन्न करने वाला कारण असीम, स्वतन्त्र, निरपेक्ष और अनन्त प्रकृति तत्व ही होना चाहिये।

२. भेदानां समन्वयात्—

महत् तत्व आदि कार्यों का अव्यक्त कारण है, इसमें समन्वय भी एक हेतु है। क्योंकि जगत् की वस्तुएँ भिन्न-भिन्न होने पर भी कुछ सामान्य गुण रखती हैं जिनके कारण सुख दुःख एवं मोह उत्पन्न करती हैं। अतः उनको एक सूत्र में बाँधने वाला एक ऐसा कारण होना चाहिये जिसमें तीनों गुण हों जिससे संसार की वस्तुएँ उत्पन्न हो सकें और जो समन्वय (सबकी एक रूपता) करने वाला हो। वह मूल कारण प्रकृति तत्व ही है।

३. शक्तितः प्रवृत्तेश्च—

सभी कार्य ऐसे कारणों से उत्पन्न होते हैं जिनमें वे अव्यक्त या बीजरूप में निहित

रहते हैं। विकास का अर्थ अव्यक्त का व्यक्त होना है। जगत का विकास करने वाली शक्ति जगत के कारण में निहित होनी चाहिये। वह कारण प्रकृति तत्त्व है।

४. कारणकार्यविभागात—

कारण और कार्य एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कारण और कार्य के रूप में तत्वों का विभाग किया जाता है जैसे महत् कारण है और अहंकार उसका कार्य है। कार्य व्यक्त कारण है और कारण अव्यक्त कार्य है। प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है। अतः जगत् का भी एक कारण होगा, जिसमें समस्त जगत् अव्यक्त रूप से अवस्थित है, वही प्रकृति है।

५. अविभागात् वैश्वरूपस्य—

सांख्य के कारण और कार्य में तादात्म्य माना गया है। सरूप या सदृश परिणाम के समय अर्थात् वर्तमान से अतीत में जाकर कार्य अपने कारण में लीन होकर एक हो जाता है। इस प्रक्रिया से क्रमशः प्रत्येक कार्य अपने कारण में लीन हो जाता है। इस प्रकार समस्त जगत में तादात्म्य अथवा अविभाग प्रतीत होने के लिये महत् को भी अपने कारण में लीन होना चाहिये। अतः जिसमे महत् आदि सभी कार्य लीन होकर जगत् एक मालूम होता है वही अव्यक्त है। इस प्रकार उपर्युक्त ५ तर्कों के आधार पर अव्यक्त 'प्रकृति' की सिद्धि होती है।

प्रकृतितत्त्व का व्यक्ततत्वों से समता एवं विषमता—

महदहंकारादि प्रकृति रूप कारण के कार्य होने से कार्य और कारण में साधर्म्य होना तो अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि दार्शनिकों का सिद्धान्त है कि—

"कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते।"

अतः प्रकृतिरूप कारण एवं महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र एवं महाभूतादि कार्य में निम्नलिखित समानता है—

"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥"

व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों ही (१) त्रिगुणात्मक, (२) अपृथक या अभिन्न, (३) विषय (४) सर्वसाधारण (५) जड़ (६) तथा परिणामी हैं। परन्तु इस साम्य के साथ निम्न वैषम्य भी है—

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम् ॥"

व्यक्त (१) सकारण उत्पन्न होने वाला (२) विनाशी (३) एक देशीय (४) क्रियावान् (५) अनेक (६) स्वकारण में आश्रित (७) परतन्त्र (८) अवयव युक्त (९) एवं प्रधान के अनुमान में हेतु होता है। अर्थात् व्यक्त सभी परिणामी कारण को व्याप्त नहीं करते। कारण से कार्य व्याप्त होता है, कार्य से कारण नहीं। बुद्धि, अहंकार आदि परिणाम परिणामी प्रधान को कभी भी व्याप्त नहीं करते इसीसे वे अव्यापक हैं।

बुद्धि इत्यादि सूक्ष्म व्यक्त पुनः पुनः ग्रहण किये गये शरीर को छोड़कर दूसरे-दूसरे

शरीर को ग्रहण करते हैं। यही उनका कार्य है। शरीर पृथिवी इत्यादि स्थूल व्यक्तों का कर्म तो प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः व्यक्त सक्रिय हैं।

यद्यपि बुद्धि इत्यादि कार्यों का अपने कारण से वस्तुतः कोई भेद नहीं है, तथापि किसी प्रकार से भेद की अपेक्षा होने पर कारण और कार्य में आश्रय और आश्रित का सम्बन्ध घटित होता है जैसे "इस वन में तिलक के पेड़ हैं"—इस वाक्य में आये हुए वन और तिलक के पेड़ों में।

बुद्धि इत्यादि व्यक्त अपने अव्यक्त प्रधान की सत्ता के अनुमान में लिङ्ग बनते हैं।

पहले न प्राप्त हुई वस्तु का प्राप्त होना संयोग कहलाता है। ऐसे संयोग के साथ वर्तमान वस्तु सावयव हुई। जैसे पृथिवी इत्यादि व्यक्त परस्पर संयोग प्राप्त करते हैं उसी प्रकार अन्य इन्द्रिय मन इत्यादि भी एक दूसरे का संयोग प्राप्त करते हैं। परन्तु प्रधान का बुद्धि, अहंकार, इत्यादि के साथ संयोग नहीं होता, क्योंकि उनका प्रकृति के साथ सदा तादात्म्य रहता है अतः मन व्यक्त सावयव है।

बुद्धि आदि व्यक्त दूसरे पर आश्रित हैं। अपने कार्य अहंकार को उत्पन्न करने के लिये प्रकृति की सहायता लेनी पड़ती है, अन्यथा असमर्थ होने के कारण वह अहंकार को उत्पन्न नहीं कर सकती, यह वस्तु स्थिति है। उसी प्रकार अहंकार इत्यादि भी अपने कार्य को उत्पन्न करने में प्रकृति के माहात्म्य की अपेक्षा रखते हैं। अतः सभी व्यक्त अपने कार्य को उत्पन्न करने में स्वतः समर्थ होने पर भी प्रकृति पर आश्रित होने के कारण परतन्त्र है।

व्यक्त के विपरीत, कारण प्रकृति (१) कारणरहित (अज) (२) अविनाशी (३) व्यापक (४) क्रियाहीन (यद्यपि अव्यक्त में परिणाम रूप क्रिया विद्यमान है तथापि प्रवेश निस्सरण आदि क्रिया का अभाव है) (५) एक (स्व कारण के अभाव में) (६) अन्यत्र अनाश्रित (स्वयं के अनुमान में ज्ञापक हेतु न होने से) (७) अलिङ्ग (८) अवयव हीन (संयोग रहित) एवं (९) स्वतन्त्र है।

प्रकृति का पुरुष के साथ वैधर्म्य एवं साधर्म्य—

प्रकृति का पुरुष के साथ साधर्म्य है। जो गुण व्यक्त में नहीं है परन्तु साम्य के साथ प्रकृति-पुरुष में नितान्त भेद हैं। ईश्वर कृष्ण की एक ही कारिका प्रकृति का पुरुष से साधर्म्य एवं वैधर्म्य का निर्देश करती है—

"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्"॥

इस कारिका का चतुर्थांश 'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्' प्रकृति का पुरुष से साधर्म्य एवं वैधर्म्य को बताता है : प्रकृति त्रिगुणात्मक है, पुरुष अत्रिगुण है। प्रकृति अविवेकी है और पुरुष विवेकी है। प्रकृति विषय है, पुरुष विषयी है। प्रकृति अचेतन किन्तु पुरुष चेतन, प्रकृति प्रसवधर्मी पुरुष अप्रसवधर्मी है। परन्तु इस वैधर्म्य के साथ-साथ समानता भी है, वह यह है—(१) प्रकृति और पुरुष दोनों ही कारणरहित (२) अविनाशी (३) व्यापक (४) क्रियाहीन (५) एक (६) अन्यत्र अनाश्रित (७) अलिङ्ग (८) अवयवहीन एवं (९) स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार 'प्रकृति' का व्यक्त और पुरुष से जहाँ एक तरफ साधर्म्य है वहाँ दूसरी तरफ वैधर्म्य भी है।

प्रकृति के अप्रत्यक्ष का हेतु—

शंका—पूर्वपक्षी को इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये कि जैसे अभाव के कारण खार्थों में सातवें रसका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार इस प्रकृति का भी अभाव होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः अदृश्य प्रकृति तत्त्व को क्यों माना जाय ?

समाधान—सिद्धान्ती का कहना है कि प्रकृति के अप्रत्यक्ष का हेतु है उसकी सूक्ष्मता! सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अभाव के कारण नहीं, क्योंकि उसके कार्यों से उसकी अवगति होती है। कार्य महत्तत्त्व आदि हैं जो प्रकृति के समान भी हैं और उससे विलक्षण भी। कहा भी है—

"सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च॥"

अतः किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होना या कारण रूप में अप्रत्यक्ष रहना सत् असत् का निर्णायक नहीं हो सकता, क्योंकि निम्नलिखित कारणों से सत्तावान् पदार्थ भी नहीं दिखाई देते—

"अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानात् अभिभवात् समानाभिहाराच्च॥"

इससे सिद्ध है कि सूक्ष्मता का प्रत्यक्ष न होने पर भी कार्य से प्रकृतिरूप कारण की सत्ता का अनुमान किया जाता है।

गीता में भी प्रकृति पुरुष की सत्ता को अनादि स्वीकार करने का उपदेश कृष्ण ने अर्जुन को दिया है—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥"

व्यास जी ने भी प्रकृति के स्वरूप का निर्देश स्पष्ट रूप से किया है—

"निःसत्तासत्तं निःसदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानम्"।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और अस्मिता ये छह अविशेष, महत्तत्त्व में सूक्ष्म रूप से रहते हुए महत्तत्त्व के साथ ही वह सत्ता और असत्ता दोनों धर्मों से रहित, कार्य-कारणभाव से रहित, खपुष्प आदि अलीक पदार्थ से विलक्षण, सूक्ष्म होने से इन्द्रिय-विषयता से रहित, निरुपादान होने से किसी में लय न होने वाला प्रधान अर्थात् त्रिगुण की साम्यावस्थावाली प्रकृति है, जिसमें उपर्युक्त तत्त्व लीन होते हैं।

प्रकृति का प्रयोजन—

प्रकृति—का प्रयोजन निम्नलिखित पंक्ति से सिद्ध होता है—

"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्"।

पुरुष के पूर्वकृत कर्मों के भोग के भोग तथा भोगान्तर तत्त्वज्ञान द्वारा पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि के लिये विविध सृष्टि अपेक्षित है और इस विविध सृष्टि के लिये गुणों में वैविध्य या वैषम्य होना आवश्यक है। इस गुण क्षोभ के लिये प्रकृति पुरुष का संयोग आवश्यक है जिस संयोग से सृष्टि का विकास प्रारम्भ होता है। गीता में कहा है—

"क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।
सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्" ॥

अतः पुरुष के भोगापवर्ग के लिये ही प्रकृति अपने कार्य का सर्जन करती है और जिस पुरुष को अपने विषय दर्शन से बद्ध किया है उसे ही विवेक ज्ञान से मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये गीता में कहा है कि इस प्रकृति-पुरुष के विभेद ज्ञान से कैवल्य की स्थिति में पुरुष आरूढ होता है—

"य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥"

तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र ने कहा है—

"अनादित्वाच्च संयोगपरम्परया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यते इति युक्तम्"।

इसी प्रयोजन के लिये प्रकृति सर्जनात्मक कार्य करती है।

अन्ततः यही कहा जा सकता है कि प्रकृति की इतनी सत्ता नहीं जितनी शक्ति है। हम प्रकृति तथा उसके गुणों का यथार्थ स्वभाव नहीं जानते क्योंकि हमारा ज्ञान वस्तु-जगत् तक ही सीमित है। उसमें स्पर्श और शब्द नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से वह नाम मात्र है। परन्तु फिर भी उसका होना परम सत्य है और ज्ञान की वस्तुओं के आधार पर अनुमान से प्रमाणित होता है।

(८)

प्रश्न—"सांख्य मत में इन्द्रियों की उत्पत्ति एवं त्रयोदश करण का विवेचन संक्षेप में करो।

उत्तर—विभिन्न भारतीय दर्शनों में इन्द्रियों की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार से बताई गई है। इस सम्बन्ध में सांख्यशास्त्र की अपनी विशिष्ट प्रणाली है जहाँ न्याय एवं वेदान्त में इन्द्रियाँ भौतिक हैं वहां सांख्य में आहङ्कारिक (अर्थात् अहंकार से उत्पन्न) मानी गई हैं। ईश्वर कृष्ण ने—"सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्"।

इत्यादि पच्चीसवीं कारिका में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से बताई है। "सात्विकमेकादशकम्" इत्यादि सांख्य सूत्र में भी इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्विक अहंकार से कही गई है। विज्ञानभिक्षु ने—

"सात्विक एकादशकः इत्यनेन मनो ग्राह्यं तैजसावुभयमित्युभयपदेन च द्विविधमिन्द्रियं ग्राह्यम्"।

इस पंक्ति से यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि ग्यारहवीं इन्द्रिय मन ही सात्विक है अन्य दसों इन्द्रियाँ आहङ्कारिक होती हुई भी राजस हैं, सात्विक नहीं। परन्तु सांख्य सिद्धान्त की दृष्टि से विज्ञान भिक्षु का यह मत युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता है। इसके विपरीत वाचस्पति का सिद्धान्त सुसंगत प्रतीत होता है कि इन्द्रियों की सात्विक अहंकार से उत्पत्ति होती है—"सात्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्"।

शंका—यदि वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रतिपादित इन्द्रियों की उत्पत्ति के मत के विरोध

में कोई यह शंका करे कि सभी इन्द्रियों के सात्विक होने पर कर्मेन्द्रियाँ भी विषयों को क्यों नहीं प्रकाशित करती उन्हें भी मन और ज्ञानेन्द्रियों की ही भाँति विषयों को प्रकाशित करना चाहिये।

विज्ञानभिक्षु के इन्द्रियोत्पत्ति मत का खण्डन—

समाधान वाचस्पति मिश्र जी का कहना है कि ऐसी ही शंका तो विज्ञानभिक्षु के भी मत के सम्बन्ध में होगी, क्योंकि यदि सभी इन्द्रियाँ सात्विक नहीं है केवल मन ही सात्विक है तो फिर बुद्धीन्द्रियाँ विषय का प्रकाश क्यों करती हैं? और फिर मेरे मत के विरोध में जो शंका उठी है उसका तो समाधान भी है और वह यह कि चूँकि उत्कृष्ट-सत्व-प्रधान अहंकार से मन, मध्यम-सत्व-प्रधान अहंकार से बुद्धीन्द्रियाँ तथा निकृष्ट सत्व-प्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। जहाँ मन सर्वाधिक विषय प्रकाशक है, वहाँ बुद्धीन्द्रियाँ विषय का प्रकाश करती हुई भी मन की तरह नहीं करतीं और कर्मेन्द्रियां तो प्रकाश करतीं ही नहीं। तथापि सात्विक होने से ही वे भी लघु होने के कारण क्षिप्रकारिणी हैं, अन्यथा ऐसी न होतीं। और फिर विज्ञानभिक्षु के के मत के विरुद्ध उठी शंका का परिहार केनापि प्रकारेण नहीं दिखाई देता है।

नैयायिकों के इन्द्रियोत्पत्ति मत का खण्डन—

नैयायिक आदि दार्शनिक इन्द्रियों को भौतिक अर्थात् आकाश इत्यादि भूतों से क्रमशः उत्पन्न मानते हैं और उसमें—

"चक्षुरिन्द्रियं तैजसं रूपादिषु पञ्चसु रूपस्यैवाभिव्यंजकत्वात् दीपवत्......"।

इत्यादि अनुमान प्रमाण देते हैं, वह सर्वथा भ्रमात्मक है क्योंकि विचार करने पर इनके विरुद्ध जो बात आपाततः मन में आती है वह यह है कि यदि ये इन्द्रियाँ प्रकाशक सात्विक अहंकार से न उत्पन्न होकर अप्रकाशक आकाश, वायु आदि पाँच भूतों से पृथक् २ उत्पन्न हुई तो वे प्रकाशक कैसे हुई? आकाश इत्यादि की भाँति इन्हें भी प्रकाश्य होना चाहिये, प्रकाशक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि उपर्युक्त प्रकार के अनुमानों में नैयायिक जो यह हेतु देते हैं कि चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियाँ आकाश, वायु आदि भूतों के शब्द, स्पर्श आदि विशेष गुणों की उपलब्धि में करण हैं, यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह दीप इत्यादि उदाहरणों से प्राप्त नहीं है। जैसे दीप ही को लेकर विचार करने पर ज्ञात होता है कि दीप 'रूप' के प्रत्यक्ष में करण नहीं है, क्योंकि करण तो वह है जिसके होने पर कार्य अवश्य हो, परन्तु रूप के प्रत्यक्ष में सन्निकृष्ट चक्षुरिन्द्रिय ही करण है, दीप नहीं, अन्यथा चक्षुरिन्द्रिय सन्निकर्ष के अभाव में भी दीप से रूप का प्रत्यक्ष होता। जब उदाहरण ही असिद्ध है तो अनुमान कहाँ से सिद्ध होगा?

अतः उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि उत्कृष्ट-सत्व-प्रधान अहंकार से मन, मध्यम-सत्व-प्रधान अहंकार से ज्ञानेन्द्रियाँ तथा निकृष्ट-सत्व प्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

त्रयोदश करण का विवेचन—

करण षड्विध कारकों में से (साधकतम रूप) कारण विशेष होता है। "साधकतमम्" इति हि पाणिनिसूत्रम्। और किसी कार्य के अन्वय अथवा योग बिना अर्थात्

क्रियावान् हुए बिना कोई वस्तु कारक नहीं होती है। सांख्य शास्त्र में १३ करणों का निर्देश किया है—

"करणं त्रयोदशविधम्" उन १३ करणों का समुच्चय वाचस्पति मिश्र ने इस प्रकार किया है। "इन्द्रियाण्येकादश बुद्धिरहङ्कारश्चेति त्रयोदशप्रकारं करणम्"।

बुद्धिकरण—

"अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं वैराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद् रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्॥"

क्रिया और क्रियावान् में अभेद मानकर 'निश्चय' को ही बुद्धि कहा है। यह सर्वप्रसिद्ध बात है कि प्रत्येक कार्य करने वाला मनुष्य पहले उस कार्य का बाह्येन्द्रियों से ग्रहण करने के बाद मन से उसका विचार अर्थात् संकल्प-विकल्प करके फिर अहंकार से मैं इसे करने में अधिकृत हूँ, ऐसा अभिमान करके 'यह मुझे करना है'—इस प्रकार का जो बुद्धि का निश्चय है और जिसे वह, चेतन पुरुष के सान्निध्य से चैतन्यवती होकर करती है, वही 'अध्यवसाय' है। यह बुद्धि का असाधारण कार्य है उससे क्रिया और क्रियावान् में अभेद के आधार पर अभिन्न बुद्धि कही जाती है।

इस बुद्धि के धर्म ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य सात्विक रूप तथा इनके विपरीत तामस रूप है। धर्म वह है जो लौकिक सुख तथा पारलौकिक कल्याण का कारण बनता है जैसा कि कणाद मुनि ने कहा है—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"

इसमें यज्ञ, दान, इत्यादि के सम्पादन से उत्पन्न धर्म लौकिक सुख का कारण बनता है और अष्टांग योग के साधन से उत्पन्न धर्म निःश्रेयस अर्थात् कैवल्य का कारण होता है। वे अष्टांग योग ये हैं—

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि"

त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा पुरुष के विवेक या भेद का साक्षात्कार ही ज्ञान है। राग का अभाव ही वैराग्य है, उसकी यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार ४ संज्ञाएँ हैं।

यतमान—राग, द्वेष आदि चित्त के कषाय अर्थात् मल हैं। इनके द्वारा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवर्तित होती हैं। इन विषयों में ये इन्द्रियाँ न प्रवृत्त हों, इसके लिये इन मलों का परिपाक अपेक्षित है। एतदर्थ किया गया आरम्भ अर्थात् प्रयत्न 'यतमान' नामक वैराग्य है।

व्यतिरेक—अवशिष्ट मलों की शान्ति के लिये किया जाने वाला प्रयत्न 'व्यतिरेक' वैराग्य है। वैराग्य का पहला प्रकार मलक्षय के लिये केवल प्रयत्न रूप होने से यतमान कहलाता है। प्रस्तुत प्रकार 'अमुक पक चुके हैं, अमुक अभी बाकी हैं' ऐसे व्यतिरेक अर्थात् भेद के साथ किये गये प्रयत्न के रूप का होने से 'व्यतिरेक', वैराग्य कहलाता है।

एकेन्द्रिय—इन्द्रियों की प्रवृत्ति में असमर्थ हो जाने के कारण पक्व अर्थात् निवृत्त किन्तु विषयतृष्णा के रूप में भी अवशिष्ट मलों को मन में ही नियत रखना (अर्थात् उभड़ने न देना) एकेन्द्रिय संज्ञा वैराग्य है।

वशीकार—भोजन, पान, विलेपन इत्यादि लौकिक और स्वर्गादि वेदोक्त भोग-विषयों के उपस्थित होने पर उत्सुकता का भी न होना वशीकार नामक वैराग्य है। पतञ्जलि मुनि ने लिखा है—

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्"

ऐश्वर्य भी बुद्धि का धर्म है, इसमें अणिमा आदि की उत्पत्ति होती है। बुद्धि के तामस धर्म से इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य की उत्पत्ति होती है।

अहंकारकरण—

"अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥"

अहंकार अभिमान को कहते हैं, 'जो यह गृहीत और विचारित विषय है, इसमें मैं ही अधिकृत हूँ, मैं ही इसे करने में समर्थ हूँ, ये विषय मेरे ही लिये हैं, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई इसमें अधिकृत नहीं है, अतः मैं ही अधिकृत हूँ।' इस प्रकार का यह अभिमान अहंकार का असाधारण कार्य होने के कारण 'अहंकार' है।

"सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥"

सात्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों का सात्विक गण उत्पन्न होता है। तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्राओं का तामससमूह प्रादुर्भूत होता है एवं राजस अहंकार से दोनों ही उत्पन्न होते हैं।

बाह्य दश इन्द्रियकरण—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः" ॥

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक् नामक पांच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाद, पायु और उपस्थ पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों का काम रूप, शब्द, गन्ध रस, स्पर्श विषयों को ग्रहण करना है। एवं कर्मेन्द्रियों के व्यापार भाषण, ग्रहण, गमन, मलत्याग तथा रमण ये पाँच हैं—

"रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्" ॥

आन्तर इन्द्रिय मन—

"उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च" ॥

मन दोनों प्रकार की इन्द्रिय है। यह संकल्प करने वाला है और इन्द्रियों के सजातीय होने से इन्द्रिय कहलाता है। क्योंकि मन से ही संयुक्त होकर चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं अन्यथा नहीं। मन की उभयात्मकता में दृष्टान्त माठरवृत्ति में इस प्रकार दिया है—

"यथा देवदत्तो गोपालमध्ये स्थितो गोपालत्वं कुरुते, मल्लमध्येस्थितो मल्लत्वं कुरुते" इसी पर परमार्थ-कृत चीनी भाषागत अनुवाद में जो दृष्टान्त है, उसका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

"यथा एकः पुरुषः कदाचित् कर्मकर उच्यते, कदाचित् प्रवक्ता एवं मन इन्द्रियमिति"।

संकल्प करने वाला मन है। मन का इन्द्रिय होना उसके विशिष्ट व्यापार वाला होने के कारण नहीं अपितु अन्य इन्द्रियों के साथ उसकी समानधर्मता होने के कारण सिद्ध होता है, और यह समानधर्मता इस बात की है कि मन और इन्द्रियाँ दोनों ही सात्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वेदान्ती मन को इन्द्रिय नहीं मानते हैं।

ऊपर जो अन्तःकरण का वर्णन किया गया है वे सब इन्द्रियों के विशिष्ट व्यापार हैं। क्योंकि व्यापार विशिष्ट और सामान्य के भेद से दो प्रकार का है। इन अन्तःकरणों (मन, बुद्धि और अहंकार) का साधारणधर्म पञ्चप्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान वायु को धारण करना है। क्योंकि अन्तःकरण के रहने पर ही प्राण इत्यादि रहते हैं और न रहने पर नहीं रहते—

"सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च"

मन, बुद्धि अहंकार एवं विशिष्ट इन्द्रिय का युगपत् एवं क्रमशः व्यापार—

"युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा। दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विकावृत्तिः"॥

प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में चारों ही बाह्य एवं त्रिविध अन्तरिक करणों का व्यापार कभी एकसाथ और कभी क्रमशः होता है। इसी प्रकार परोक्ष पदार्थ के विषय में भी तीनो अंतःकरणों का व्यापार एक साथ और क्रमशः प्रत्यक्षपूर्वक होता है।

प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में एक साथ व्यापार—

जैसे जब घने अन्धकार में बिजली के चमकने से कोई व्यक्ति बाघ को अपने सम्मुख अत्यन्त समीप देखता है, तब चूँकि उसके बाह्येन्द्रियकृत आलोचन, मनकृत संकल्प, अहंकारकृत अभिमान तथा बुद्धिकृत निश्चय एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वह तत्काल ही उस स्थान से कूद कर भागता है।

प्रत्यक्षपदार्थ के विषय में क्रमशः व्यापार—

जैसे जब कोई व्यक्ति मन्द प्रकाश में पहले केवल वस्तु को अस्पष्ट रूप से देखता है, तब एकाग्र मन मे विचार करता है कि यह तो कानों तक खिंचे हुए एवं बाणयुक्त-धनुष वाला क्रूर चोर है, फिर उसे यह अभिमान होता है कि यह मेरी ओर आ रहा है, और फिर वह यह निश्चय करता है कि इस स्थान से भाग जाऊँ।

परोक्ष पदार्थ के विषय में बाह्य इन्द्रियों के सहयोग के बिना ही तीनो अन्तःकरणों का यौगपद्येन एवं अयौगपद्येन व्यापार होता है। इस प्रकार ये करण पारस्परिक अभिप्राय एवं संकेत के कारण अपने व्यापार में संलग्न होते हैं—करणों की इस व्यापारशीलता में पुरुषार्थ ही एकमात्र कारण है, अन्य कोई ईश्वर या आत्मा प्रयोजक या कारण नहीं है—

"स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम्"॥

आहरण, धारण एवं प्रकाश करने वाले इन्द्रियों के कार्य—

"कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च"

तेरह करणों के आहार्य, धार्य और प्रकाश्य कार्य दश-दश प्रकार के हैं। आहार्य का अर्थ है व्याप्य।

आहार्य—वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ भाषण, ग्रहण, गमन, मलत्याग तथा आनन्द कार्यों में अपने व्यापार से व्याप्त रहती हैं। ये कार्य दिव्य देवयोग्य तथा अदिव्य मनुष्ययोग्य होने से दश होते हैं। इस प्रकार आहार्य दश प्रकार के हैं।

धार्य—त्रिविध अन्तःकरण का प्राण इत्यादि अपने पाँचो व्यापारों के द्वारा धारण करने योग्य कार्य 'शरीर' है और यह पृथ्वी इत्यादि पञ्चभूतों का बना होता है। इन भूतों में पृथ्वी, शब्द, स्पर्श आदि पांचों तन्मात्राओं का समूह होता है। ये पांच दिव्य और अदिव्य रूप से द्विविध होनेकेकारण दश होते हैं। इस प्रकार 'धार्य' भी दश प्रकार के हैं।

प्रकाश्य—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पांच प्रकाश्य विषय ज्ञानेन्द्रियों से यथायोग्य व्याप्त होते हैं और वे भी दिव्य तथा अदिव्य रूप से दस होते हैं। इसलिये प्रकाश्य भी दस प्रकार के हैं।

त्रयोदश करणों का सूक्ष्मतमविभाग—

"अन्तःकरणं त्रिविधं दशधावाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्।
साम्प्रतकालं वाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्"॥

अन्तःकरण बुद्धि, अहंकार तथा मन के भेद से तीन प्रकार के हैं। ये शरीर के अन्तर्गत होने से अन्तःकरण कहलाते हैं। वेदान्त के मत में मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त इन चतुष्टय से अन्तःकरण की निष्पत्ति होती है। कहा है—

"मनोबुद्धिरहकांरश्चितं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं त्रिपया इमे"॥

वाह्य करण दस प्रकार के हैं। ये बाह्य करण तीनों अन्तःकरणों के विषयों को प्रस्तुत करने में द्वार का काम करते हैं।

समस्त करणों में से बुद्धि की प्रधानता—

"सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि"॥

बाह्य इन्द्रियाँ द्वार अर्थात् अप्रधान हैं क्योंकि बाह्येन्द्रियों के द्वारा उपस्थित किये गये सभी विषयों में मन और अहंकार के सहित बुद्धि व्याप्त होती है, इसलिये बाह्य इन्द्रियाँ द्वार या साधनमात्र हैं और मन तथा अहंकार से युक्त बुद्धि साधनवती अर्थात् प्रधान है।

बाह्येन्द्रियों की ही अपेक्षा बुद्धि प्रधान नहीं है अपितु अहंकार और मन जो दो अन्य अन्तःकरण प्रधान हैं, उनकी अपेक्षा भी बुद्धि प्रधान है—

"एते प्रदीपकल्पाः परस्पर विलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति"॥

जैसे ग्रामणी सभी गृह-स्वामियों से कर लेकर जनपद या प्रान्त के अध्यक्ष को, प्रान्ताध्यक्ष सारे देश के अध्यक्ष को तथा देशाध्यक्ष सम्राट् को सौंपता है उसी प्रकार बाह्य इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करके मन को सौंपती हैं, मन उनका संकल्प करके अहंकार को तथा अहंकार उनका अभिमान करके सभी कारणों में प्रधान बुद्धि को सौंपता है। अतः गुणों के ही विशिष्ट विकार किन्तु परस्पर विलक्षण ये करण प्रदीप के समान हैं। ये समस्त पुरुषार्थ को प्रकाशित कर बुद्धि को समर्पित कर देते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि सारे करण समस्त विषयों को बुद्धि को ही क्यों सौंपते हैं, क्यों नहीं बुद्धि उन्हें प्रमुख अहंकार या मन को सौंपती हैं? इसका निम्नलिखित समाधान है—

"सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्"॥

चूँकि समस्त विषयों के सम्बन्ध में होने वाले पुरुष के योग को बुद्धि ही सम्पादित करती है और वही प्रकृति एवं पुरुष के सूक्ष्म भेद को प्रकट करती है। इसलिए सभी करण स्व-प्रकाशित समस्त अर्थ बुद्धि को ही सौंपते हैं और इसलिये वही प्रधान है।

अन्त में यही कहा जा सकता है कि विषयों को प्रकाशित करने के लिये त्रयोदश करण अत्यन्त आवश्यक हैं।

(६)

प्रश्न—सांख्यसिद्धान्त के अनुसार दुःखत्रयाभिघात पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो।

Write short note on 'दुःखत्रयाभिघात्' according to Saṁkhya System.

उत्तर—पाश्चात्य विचारकों के अनुसार दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य से होती है 'Philosophy begins in wonder'. यह आश्चर्य एक मानसिक कौतूहल है, एक जिज्ञासा मात्र है। परन्तु भारतवर्ष में दर्शन की उत्पत्ति दुःखनिवृत्ति तथा सुखप्राप्ति या मोक्ष-साधन के लिये होती है।

अतः यदि जगत् में दुःख न हो, अथवा होने पर भी उसको छोड़ने की इच्छा न हो अथवा छोड़ने की इच्छा होने पर भी उसके नित्य होने के कारण या विनाश के उपाय के अज्ञान के कारण उसकी निवृत्ति सम्भव न हो, अथवा निवृत्ति सम्भव होने पर भी प्रस्तुत शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय–प्रकृति तथा पुरुष का विवेकज्ञान–उस दुःख की निवृत्ति का उपाय न हो अथवा वैसे होने पर भी इस विवेक-ज्ञान की अपेक्षा कोई सुलभ एवं सरलतर उपाय हो तो इसके विषय में जिज्ञासा कदापि न होगी। परन्तु जगत् में दुःख है ही नहीं अथवा होने पर भी उसकी निवृत्ति किसी को अभीष्ट नहीं है—ऐसी बात नहीं है। इसलिये सांख्य में 'दुखत्रयाभिघातात्' कहा है। क्योंकि बुद्धितत्त्वान्तर्वर्ती रजोगुण के विशिष्ट परिणाम-भूत एवं प्रत्येक के द्वारा अनुभव किये जाने वाले इस दुःख को हम अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"तदेतत् प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणाम-भेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम्"

त्रिविध दुःख—

दुःख तीन प्रकार के हैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—

"दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम्। तत् खलु आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम् आधिदैविकञ्च।"

आध्यात्मिक दुःख—"तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च"

इनमें आध्यात्मिक दुःख शारीरिक और मानसिक रूप से दो प्रकार का होता है। वात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न दुःख को शारीरिक तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद तथा सुन्दर शब्द स्पर्श, आदि श्रेष्ठ विषयों के अभाव से उत्पन्न दुःख को मानसिक कहते हैं। ये सभी दुःख आन्तरिक उपायों से निवर्तनीय होने के कारण आध्यात्मिक कहलाते हैं।

वस्तुतः शारीरिक दुःख भी दो प्रकार का होता है। एक नैसर्गिक जैसे अशनाया, पिपासा इत्यादि से उत्पन्न, दूसरा त्रिदोष-जन्य जैसे ज्वर, अतीसार इत्यादि।

यद्यपि सभी दुःख मन का धर्म होने कारण मानसिक ही होता है, अतएव आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक रूप से उसका विभाजन सम्भव नहीं है, तथापि यहाँ ऐसा विभाजन इस दृष्टि से किया गया है कि जिसमें केवल मन की अपेक्षा हो, वह तो मानसिक और जिसमें उसके अतिरिक्त बाह्य निमित्तों की भी अपेक्षा हो, वह उससे भिन्न अर्थात् शारीरिक, आधिभौतिक या आधिदैविक हैं।

आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख—

बाह्य उपायों से साध्य दुःख, दो प्रकार के होते हैं, आधिभौतिक और आधिदैविक।

"बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्च"।

उनमें से मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प तथा वृक्षादि स्थावरों से उत्पन्न होने वाला दुःख-आधिभौतिक, तथा यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह इत्यादि के दुष्ट प्रभाव से होने वाला दुःख-आधिदैविक कहलता है।

शंका—बौद्धदार्शनिक आदि यह शंका कर सकते हैं कि सत्कार्यवादी सांख्यके मत में दुःख का नाश कैसे हो सकता है? 'नासत उत्पादो न वा सतो निरोधः'—असत् की उत्पत्ति या सत् का विनाश होता नहीं। अतः सत् दुःख का नाश कैसे सम्भव है?

समाधान—यद्यपि सत् होने के कारण दुःख का पूर्ण निरोध या विनाश सम्भव नहीं है, तथापि उसका अभिभव या उसकी शान्ति की जा सकती है। इस प्रकार 'तदपघातके हेतौ' यह कथन युक्त है। अब प्रश्न होता है कि 'दुःखत्रयाभिघात' कैसे सम्भव है?

दुःखत्रयाभिघात के लौकिक उपाय—

यह जगत् त्रिविध दुःखात्मक है, उसकी निवृत्ति भी अभीष्ट एवं सम्भव है तथा शास्त्रोक्त उपाय उसकी निवृत्ति करने में समर्थ भी है; तथापि उसके विषय में विद्वानों को जिज्ञासा नहीं होगी, क्योंकि जहाँ एक ओर उस निवृत्ति का सुकर लौकिक उपाय सुलभ है वहाँ दूसरी ओर तत्वज्ञान, जो दुःख की निवृत्ति का शास्त्रोक्त उपाय है, वह अनेक जन्मों के सतत अभ्यास से होने वाले श्रम के द्वारा साध्य होने के कारण दुष्कर है। लोकोक्ति भी ऐसी है—

"अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्" ॥

यदि मंदार वृक्ष में ही मधु मिल जाय तो पर्वत पर किस लिये जाया जाय? अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर भला कौन विद्वान् तदर्थ प्रयत्न करेगा। शारीरिक दुःख की निवृत्ति के लिये सैकड़ों सुकर उपाय वैद्यों के द्वारा बताए गए हैं। मानसिक दुःख के भी निवारण का उपाय, जैसे सुन्दर स्त्री, पान, भोजन, लेप, वस्त्र, अलंकार इत्यादि वस्तुओं की प्राप्ति सुकर ही है। इसी प्रकार आधिभौतिक दुःख के भी निवारण का उपाय, जैसे नीतिशास्त्रों के सतत अध्ययन से उत्पन्न चातुर्य तथा निर्बाध या निरुपद्रव स्थानों में वास इत्यादि भी सुकर है। इसी प्रकार आधिदैविक दुःख के भी निवारण के मणि-धारण, मन्त्रानुष्ठान तथा औषध सेवन इत्यादि उपाय भी सरल हैं।

लौकिक उपाय द्वारा दुःखत्रयाभिघात के समर्थन का खण्डन—

सांख्य-दार्शनिकों का कहना है कि लौकिक उपाय कभी भी दुःखत्रयाभिघात में समर्थ नहीं है क्योंकि लौकिक उपाय से अवश्य एवं सार्वकालिक निवृत्ति नहीं होती है—

"दृष्टेसाऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्"

इसका अभिप्राय यह है कि यथाविधि रसायन, कामिनी, नीतिशास्त्र और मन्त्रादि के प्रयोग से भी त्रिविध दुःख की प्रायः निवृत्ति न दिखाई पड़ने के कारण वह निवृत्ति ऐकान्तिक नहीं हुई। निवृत्त हुए दुःख की भी पुनः उत्पत्ति दीख पड़ने के कारण वह आत्यन्तिक नहीं हुई। इस प्रकार लौकिक उपाय सरल होते हुए भी दुःख की ऐकान्तिक निवृत्ति नहीं कर पाते। इसलिये शास्त्रोपाय-विषयिणी जिज्ञासा व्यर्थ नहीं कही जा सकती।

कर्मकाण्डपरक वैदिक कार्य-कलापादि उपाय का दुःखत्रयाभिघात के लिये खण्डन—

शंका—दुःख की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति का लौकिक उपाय न हो तो न सही, किन्तु स्वल्पकालसाध्य ज्योतिष्टोम इत्यादि वेदोक्त यज्ञकर्म त्रिविध दुःख की अवश्य ही सार्वकालिक निवृत्ति कर देंगे और श्रुति का वचन भी है—

"यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्" ॥

जो न दुःख से मिश्रित हो, न भविष्य में क्षयोन्मुख हो और संकल्प मात्र से प्राप्त हो अर्थात् परिश्रम-साध्य न हो वही सुख स्वर्गपद-वाच्य है।

अन्य श्रुति भी है—

अपाम सोमममृता अभूम"

अतः इन वचनों के अनुसार स्वर्ग दुःखहीन सुखविशेष है, और वह अपनी सत्ता द्वारा दुःख को उसके मूल कारण के सहित नष्ट कर देता है। वह क्षयोन्मुख भी नहीं है। और यदि वह क्षयोन्मुख होता तो इसकी अमरता कैसे सम्भव होती? इसलिए अनेक जन्मों के सतत परिश्रम से साधनीय विवेकज्ञान की अपेक्षा मुहूर्त, प्रहर, रात-दिन, मास तथा वर्ष इत्यादि स्वल्प समय में साध्य एवं त्रिविध दुःख के निवर्तक वैदिक उपाय के सुकर होने के कारण शास्त्रोक्त उपाय की जिज्ञासा व्यर्थ ही है।

समाधान—

"दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्" ॥

कार्यकलापरूप वैदिक उपाय भी लौकिक उपायों के सदृश ही दुःखत्रय की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ हैं क्योंकि यह अशुद्धि, विनाश तथा न्यूनाधिक्य दोष से युक्त है। व्यक्त-अव्यक्त तथा चिद्रूप पुरुष के विवेकज्ञान से उत्पन्न तत्त्व-साक्षात्काररूप सांख्यशास्त्रोक्त उपाय उससे भिन्न होने के कारण श्रेयस्कर है।

सोमादि यज्ञों का पशु-हिंसा तथा बीज-नाश इत्यादि साधनों से सम्पादित होना ही उसकी अशुद्धि वा मलिनता है। जैसा भगवान् पञ्चशिखाचार्य ने कहा है—

"स्वल्पः सङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः"

अर्थात् "ज्योतिष्टोमादि-जन्य पुण्य या धर्म से हिंसादि-जन्य पाप या अशुद्धि का अत्यल्प मेल या मिश्रण तो रहता ही है जो प्रतीकार्य और सह्य होता है"। परन्तु यदि प्रमादवश प्रायश्चित्त नहीं किया गया तो प्रधान कर्म के फल-काल में वह अधर्म भी फल देता है। फिर भी यह अधर्म जो कुछ भी दुष्परिणाम उत्पन्न करता है, वह सप्रत्यवमर्ष अर्थात् सहने योग्य होता है, क्योंकि पुण्यसञ्चय से प्राप्त स्वर्गरूपी अमृत-सरोवर में अवगाहन करने वाले लोग किञ्चिन्मात्र पाप से प्राप्त दुःखाग्नि की चिनगारी को निस्सन्देह सह लेते हैं।

मीमांसकमत का खण्डन—

मीमांसकों का यह कथन भी उचित नहीं है कि—

"अग्निषोमीयं पशुमालभेत"

अग्नि और सोम को समर्पित पशु की हिंसा करनी चाहिये। इस विशेष नियम से—

"न हिंस्यात् सर्वा भूतानि',

'किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये इस सामान्य नियम का बाध हो जाता है। क्योंकि दोनों में कोई विरोध नहीं है। जगत में बहुत से लोग अन्य अनेकों की अपेक्षा बलवान होते हैं परन्तु सभी बलवान सभी निर्बलों का दमन करते नहीं फिरते। जिस बलवान का जिस किसी निर्बल के साथ विरोध होगा, वही बलवान् अपने विरोधी का दमन करेगा। सिंह, मशक से कितना अधिक बलवान् होता है पर क्या वह

कभी मशक का दमन करता हुआ देखा जाता है ? हाँ, हाथी का दमन वह अवश्य करता है क्योंकि वह उसका सहज विरोधी है। ऐसी ही स्थिति शास्त्र में भी सामान्य और विशेष विधानों की होती है। जहाँ दोनों परस्पर विरोधी होंगे, वहीं विशेष, सामान्य का बाध करेगा अतः उपर्युक्त उदाहरण में तो दोनों नियमों के भिन्न-विषयक होने के कारण उनमें कोई विरोध है ही नहीं।

दोनों वाक्यों की भिन्न-विषयता स्पष्ट है। किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये,' यह निषेध-वाक्य इतनी ही बात सूचित करता है कि हिंसा अनर्थकारिणी है न कि यह बात भी कि वह यज्ञ के लिये अनुपयोगी है। इसी प्रकार "अग्नि और सोम के लिये पशु की हिंसा करनी चाहिये" यह वाक्य इतनी ही बात बताता है कि पशुहिंसा यज्ञ के लिये उपयोगी है, न कि यह बात भी कि वह अनर्थकारिणी नहीं है क्योंकि वैसा होने पर वाक्यभेद दोष आ जायगा जिसको मीमांसक सबसे बड़ा दोष मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि वैदिक क्रिया-कलाप से सम्पन्न यज्ञादिअनुष्ठान अशुद्ध्यात्मक होने से दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति करने में समर्थ नहीं हैं।

इसी प्रकार क्षयित्व तथा न्यूनाधिक्य वस्तुतः स्वर्गादि फलों में विद्यमान होने पर भी गौणरूप से उन यज्ञादि वैदिक उपायों के दोष कहे गये हैं। स्वर्गादि 'भाव' पदार्थ होते हुए दूसरे के कार्य हैं–इसी से उनका क्षयित्व अर्थात् अनित्यत्व सिद्ध है क्योंकि यह नियम है कि "यत् कार्यं तदनित्यम्"।

ज्योतिष्टोमादि यज्ञ केवल स्वर्ग के साधन हैं, परन्तु वाजपेय आदि स्वर्गाधिपति इन्द्र होने के। यही एक की अपेक्षा दूसरे का अतिशय वा आधिक्य है और दूसरे की सम्पत्ति का अतिशय न्यून सम्पत्ति वाले को अवश्य ही दुःख होता है।

और जो 'हम सोम पीकर अमर हो गये' यह कहा गया है वह तो यहाँ 'अमर' का अर्थ लक्षणा से चिरस्थायी लिया गया है जैसी कि अन्य श्रुति भी है—

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः"

इस उपर्युक्त मीमांसकमत के खण्डन से सिद्ध है कि लौकिक उपाय की तरह वैदिक कर्मकाण्डपरक उपाय भी त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति नहीं कर सकते।

सांख्यशास्त्र द्वारा प्रतिपादित प्रमेय-पदार्थों—का ज्ञान दुःखत्रयाभिघात का मुख्य उपाय है।

सांख्याचार्यों का कहना है कि हिंसादि से दूषित अनित्य तथा विषम फल वाले एवं दुःखनाशक समझे जाने वाले उस सोम दान इत्यादि वैदिक उपायों से भिन्न सांख्यशास्त्र द्वारा प्रतिपादित २५ तत्त्वों का ज्ञान ही दुःखत्रय की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति का मूल एवं सफल उपाय है। वे २५ तत्त्व हैं व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ। ग्रन्थकार ने साधक-चित्त की एकाग्रता के लिये उन तत्त्वों का इस प्रकार संक्षेप में उपन्यास किया है—

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" ॥

अतः दर्शनविद्या का 'दुःखत्रयाभिघात प्रयोजन सिद्ध होता है, जो समस्त प्रकार के दोषों से विमुक्त है।

जैसा कि दुःख से सार्वकालिक और आत्यन्तिक छुटकारा पाने के लिये डा० दासगुप्त दास ने दर्शन को ही आश्रय माना है उनका कथन है—

"Philosophy shows how extensive is sorrow, why sorrow comes, what is the way to uproot it, and what is the state, when it is

uprooted. The man who has resolved to uproot sorrow turns to philosophy to find out the means of doing it."

(१०)

प्रश्न—प्रमाण क्या है ? सांख्याभिमत प्रमाणों का स्वरूप निर्धारित करो। और यह बताओ कि उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य प्रमाणों का सांख्य द्वारा स्वीकृत प्रमाणों में अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ?

What is a Pramana ? Describe briefly the Pramanas accepted by Sāṁkhya School. And Demonstrate how उपमान and अर्थापत्ति may be included in the प्रमाण s recognized by the Sāṁkhya System.

or

Prove it—"त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि"

or

Explain fully this Kārikā—

"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु" ॥

उत्तर—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा······व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इन दो कारिकाओं में ईश्वरकृष्ण ने सांख्यसम्मत चतुर्व्यूहता का संकेत किया है। (१) दुःख (२) दुःख का कारण (३) दुःखनाश (४) दुःखनाश का उपाय।

दुःख (१) इनमें से दुःख का विभाजन निम्न है—
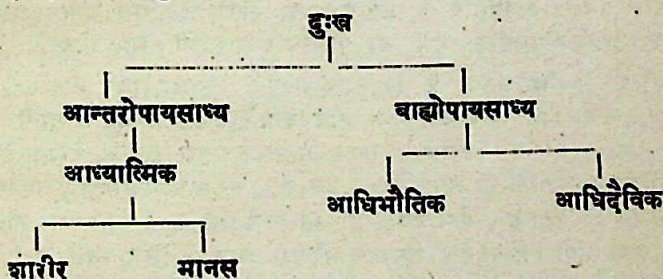
दुःख का कारण (२) दुःख बुद्धि का स्वाभाविक धर्म है। किन्तु पुरुष निर्गुण अतएव निर्दुःख है। यह पुरुष अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर उसमें वर्तमान सुखादि को अपना समझता है। वह भोक्तृत्व-भोग्यत्व रूप सम्बन्ध ही पुरुष के लिये दुःखत्रय का कारण है।

दुःखनाश (३) सत्कार्यवादी सांख्य के मत में दुःख रजोगुण का परिणाम है अतः उसका नाश नहीं हो सकता। क्योंकि—

"नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः" अतः दुःखनाश का मतलब है दुःख का अभिभव, तिरोभाव।

दुःखनाश का उपाय (४) दुःखनाश के तीन उपाय हैं।

दुःख नाश

दृष्ट उपाय | आनुश्रविक | व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञान

उक्त तीनों उपायों में से प्रथम दो अपर्याप्त हैं, क्योंकि उनसे दुःखों का ऐकान्तिक (अवश्यंभावी) और आत्यन्तिक (सार्वकालिक) अभाव नहीं होता।

(११)

प्रश्न—Demonstrate how उपमान, अर्थापत्ति अनुपलब्धि, सम्भव and ऐतिह्य are included in the प्रमाण्स accepted by Sāṁkhya System.

उत्तर—प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाणों के अतिरिक्त—न्याय उपमान को और भाट्ट तथा वेदान्ती उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि को भी पृथक् प्रमाण मानते हैं। किन्तु सांख्य उपमान और अर्थापत्ति को अपने तीन प्रमाणों में अन्तर्हित करते हैं।

उपमान—इसके तीन स्वरूप हैं (१) प्राचीन नैयायिक-सम्मत (२) नैयायिक-सम्मत (३) मीमांसक-सम्मत।

(१) गवय शब्द सुने हुए किन्तु जीव को न देखे हुए नागरिक के द्वारा—गवय कैसा होता है?—पूछे जाने पर गवय को देखा हुआ आरण्यक, नागरिक एवं आरण्यक उभय प्रसिद्ध गौ के साधर्म्य से अप्रसिद्ध गवय का बोध—"यथा गौः तथा गवयः" इस वाक्य से कराता है। यह वाक्य ही उनके मत में उपमान है—"प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्य साधनमुपमानम्" गौ० सू०। सांख्यवादी इसके विरुद्ध कहते हैं कि यह शब्द प्रमाण है "यथा गौः तथा गवयः" वाक्य सुनने के बाद वाक्य के आकार की चित्तवृत्ति बनती है। यह वैसे ही है जैसे आप्तपुरुष के द्वारा सुने गये "अयं घटः घट पदवाच्यः" वाक्य से बनी चित्तवृत्ति और वाक्यवृत्ति से जब पुरुष का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है तब "गवयपदवाच्यत्वेन गवयं जानामि" यह पौरुषेय बोध शाब्द प्रमाण होता है।

(२) कोई व्यक्ति जानता है कि गवय शब्द है पर वह गवय जीव नहीं जानता। दूसरे से पूछने पर कि, गवयशब्दवाच्य जीव क्या है, उसे उपदेश होता है "गो सदृशो गवयपदवाच्यः" अब वह जंगल में जाकर जो उसके सदृश जीव को देखता है और उसे उपदेश वाक्य का स्मरण हो आता है। गवय शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष हुआ था, अर्थ का चाक्षुष प्रत्यक्ष हो रहा है। शेष बचता है वह ज्ञान कि इसी गो सदृश जीव के लिये गवय शब्द का प्रयोग होता है। उपमान भी इसी ज्ञान को सिद्ध करता है "गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः"। व्यापारवदसाधारणं कारणं करणं के अनुसार इस उपमान का कारणत्व निम्न रूप से है—

उपमान	आवान्तरव्यापार	उपमिति
(गवय में गो) सादृश्य का प्रत्यक्ष	वाक्यार्थ स्मरण	संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध का ज्ञान

सांख्य में इस उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव कर लिया गया है। अनुमान का आकार है—

"गवयपदं, गोसदृशपिण्डस्य वाचकम् (प्रतिज्ञा) असति लक्षणादि-वृत्यन्तरे वृद्धैः गोसदृशजीवाभिव्यक्तये प्रयुज्यमानत्वात्"

इस अनुमान की मूल व्याप्ति का स्वरूप निम्न है—

"यत्र यत्र यः शब्दः पदार्थाभिव्यक्तये वृद्धैः प्रयुज्यते
तत्र तत्र स असति वृत्यन्तरे तदर्थस्य वाचकोभवति"

व्याप्ति के बाद उपनय और निगमन देते हैं—

प्रयुज्यते चैवं गवयशब्दः गो सदृशे—उपनय
तस्मात् गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः—निगमन

(३) गौ को देखने वाले किसी नागरिक ने जंगल में जाकर गौ के सदृश जीव को देखा। और उसने पहले से सुन रखा था कि गौ के सदृश गवय होता है। अब जब वह गौ के सदृश जीव को देखता है तो उसे यह ज्ञान होता है "गोसदृशो गवयः"। यह प्रत्यक्ष ज्ञान है। क्योंकि इसका अनुयोगी गवय प्रत्यक्ष है। फिर उसे स्मरण होता है "अनेन सदृशी मदीया गौः"। यह स्मरण है, क्योंकि इसका अनुयोगी (मदीया गौः) प्रत्यक्ष नहीं है और सादृश्यज्ञान में अनुयोगी (जिससे सादृश्य हो) का प्रत्यक्ष होने पर सादृश्यज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। अतः उक्त स्मरणज्ञान उपमिति प्रमा है और प्रथम प्रत्यक्षज्ञान उपमानं प्रमाण है। यद्यपि दोनों सादृश्यज्ञान में विषय एवं सादृश्य समान है तथापि प्रतियोगी-अनुयोगी के भेद से दोनों ज्ञान भिन्न हैं।
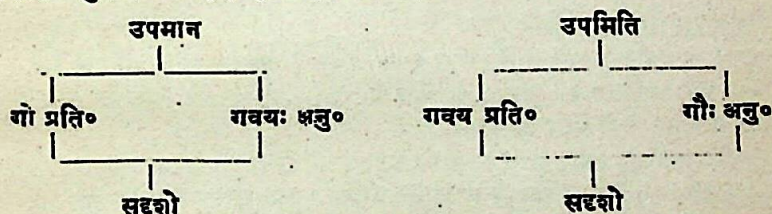
वाचस्पति का कहना है कि सादृश्य तो एक ही है, यद्यपि परिस्थिति अर्थात् सादृश्य के सम्बन्धी—में भेद भले ही हो। यह नहीं है कि गो में दूसरा सादृश्य है और गवय में दूसरा। क्योंकि तद्भिन्न होते हुए भी तद्गत भूयो. धर्मवत्त्व ही सादृश्य होता है। यदि उस सादृश्य का गवय में प्रत्यक्ष हो रहा है तो गौ में भी प्रत्यक्ष मान लीजिये क्योंकि दोनों सादृश्य की आत्मा एक है।

A | गो — खुर, पुच्छ आदि = | B गवय — खुर पुच्छ आदि
↓ ↓ ↓ ↓
| गोत्व — खुरत्व, पुच्छत्व = | गवयत्व — खुरत्व पुच्छत्व

यह A. B. गत खुरत्व, पुच्छत्व समान है। और समवायसम्बन्ध से दोनों में रहता है। चूँकि समवाय एक है और वही सादृश्य है अतः सादृश्य भी एक है।
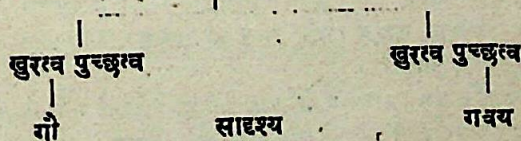
अर्थापत्ति—

मीमांसक आदि व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर होने वाले अनुमान को नहीं मानते, क्योंकि उनका कहना है कि जब निगमन अन्वित (Positive) निकलता है तो उसके

लिये व्यतिरेक व्याप्ति क्यों मानी जाय? सांख्य आदि व्यतिरेक व्याप्ति को मानकर अर्थापत्ति का खण्डन कर देते हैं।

मीमांसक कहते हैं कि जीवित चैत्र को जब हम घर पर नहीं देखते और बाहर भी नहीं देखते तो कल्पना करते हैं कि वह बाहर होगा। यही बहिर्भाव की कल्पना-उपपादक-अर्थापत्ति प्रमा है और गृहाभाव-जो कि उपपाद्य है—अर्थापत्ति प्रमाण है। बहिर्भाव प्रत्यक्ष है नहीं, (व्यतिरेक-व्याप्ति के न मानने से) अनुमान से भी बहिर्भाव गतार्थ नहीं है। उपमान में दो व्यक्ति चाहिये। और आप्त कोई बतलाया नहीं है कि चैत्र बाहर है। अतः अर्थापत्ति एक नवीन प्रमाण मानिये, जिससे अर्थापत्तिप्रमा का उदय होता है।

वाचस्पति मिश्र के मत में इसका अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है। अनुमान का स्वरूप है—

जीवँश्चैत्रः बहिरस्तितावान्, जीवित्वे सति स्वगृहेऽवर्त्तमानत्वात्, स्वशरीरवत्।

मिश्र जी इस अनुमान में व्यतिरेक के अतिरिक्त अन्वयव्याप्ति भी प्रस्तुत करते हैं ताकि अर्थापत्ति पूर्णतः खण्डित हो जाय—

यदा अव्यापकः सन् एकत्र नास्ति तदा अन्यत्रास्ति।

और व्यतिरेकव्याप्ति है—

यदा अव्यापकः अन्यत्र नास्ति तदा एकत्र अस्ति (अन्यत्र नास्ति इति न)

इस प्रकार जीवित एवं अव्यापक चैत्र के गृहाभावदर्शनरूप हेतु से बहिरस्तिता का दर्शन अनुमान से सिद्ध हो जाता है।

यहाँ हेतु में दो प्रकार के आभास की आशङ्का होती है—

(१) स्वरूपासिद्ध—"चैत्रः क्वचिदस्ति जीवित्वे सति गृहासत्त्वात्"

इन अनुमान में चैत्रपक्ष में क्वचित्सत्त्वरूप धर्म की सत्ता है। क्वचित् का अर्थ है देश। इससे देशसत्त्व भी चैत्र में आया। घर भी देशात्मक हो सकता है अतः गृहसत्त्व भी चैत्र में आ गया। इस प्रकार गृहसत्त्ववान् चैत्र (पक्ष) में गृहासत्त्वरूप हेतु नहीं रह सकता। जब हेतु ही नहीं है फिर बहिःसत्त्व साध्य की सिद्धि कैसे सम्भव है? अतः अर्थापत्ति मानिये। यहाँ = साध्य को प्रबल मानकर हेतु को दुर्बल माना है।

(२) साध्यासिद्ध—यदि गृहेऽवर्त्तमानत्वरूप हेतु को प्रत्यक्ष होने से प्रबल मान लें तो पक्ष में साध्य के न रहने से साध्य असिद्ध रहेगा। अतः अनुमान अशुद्ध है। चूँकि साध्य और हेतु का विरोध है। अतः अनुमान नहीं हो सकता।

उत्तर में वाचस्पति मिश्र का कहना है कि यहाँ विरोध ही नहीं है। चैत्र के गृहासत्त्व से आप सत्त्वमात्र का विरोध मानते हैं या गृहसत्त्व का। यदि गृहसत्त्व मात्र से विरोध है तो कोई हर्ज नहीं क्योंकि वह साध्य ही नहीं है। यदि सत्त्वमात्र से विरोध मानते हैं तो विरोध ही नहीं है। क्योंकि दोनों के विषय भिन्न हैं। चैत्र में असत्त्व, गृह से निरूपित है अतः असत्त्व का निरूपक गृह है। और सत्त्व का निरूपक बाह्य प्रदेश है। और बाह्य आभ्यन्तर में कोई विरोध नहीं है।

यदि यह कहिये कि देश सामान्य से गृह का भी-देश होने से-आक्षेप हो जायेगा, फिर पाक्षिक विरोध होगा ही? तो ऐसा नहीं कह सकते। गृहासत्त्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से सिद्ध है और गृहसत्त्व पाक्षिक होने से सांशयिक है। अतः दोनों का मूल भिन्न होने से कोई विरोध नहीं है।

अब फिर प्रश्न है कि जैसे गृहसत्त्व पाक्षिक संशयिक होने से दुर्बल है अतः उसका बाध हो जाता है उसी प्रकार बहिर्भाव भी पाक्षिक संशयिक होने से दुर्बल, अतः बाधित हो जायेगा ? उत्तर है—यहाँ भी विषय भिन्न है। हेतु है गृहावच्छिन्न अवर्त्तमानता और साध्य है बहिर्देशावच्छिन्न वर्त्तमानता। नियम यह है कि तन्निष्ठ अवच्छेदकताक तन्निष्ठ-प्रकारताक तदभाववत्ता बुद्धि, तन्निष्ठ अवच्छेदताक तन्निष्ठप्रकारताक तद्वत्ता बुद्धि के प्रति प्रतिबन्धिका होती है। न कि केवल तद्वत्ताबुद्धि के प्रति। उसके प्रति तो वह उदासीन रहेगी। इसलिये गृहाभाव हेतु से बहिःसत्त्वसाध्य की अनुमिति हो जायगी। अर्थापत्ति मत मानिये।

कुछ लोग जो यह कहते थे कि दो विरुद्ध प्रमाणों की विषयव्यवस्था द्वारा अविरोध सिद्धि अर्थापत्ति का विषय है, जैसे चैत्रः जीवति शब्द प्रमाण है और गृहेऽवर्त्तमानत्वात् प्रत्यक्ष प्रमाण है। दो भिन्न प्रमाणों में सत्ताऽसत्तात्मक विधि है। अतः अर्थापत्ति दोनों के विरोध को समाप्त कर देती है। उस पर वाचस्पति का कहना है कि यहाँ भिन्न विषय होने से विरोध है ही नहीं। अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न में कोई विरोध नहीं होता।

अभाव—इसी प्रकार अभाव भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही हैं, उससे भिन्न नहीं। घट का अभाव भूतल के घटरहितस्वरूप परिणामविशेष से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि एक चितिशक्ति को छोड़कर शेष सभी पदार्थों का प्रतिक्षण परिणाम होता है। और यह घटरहितस्वरूप भूतल का परिणामविशेष इन्द्रियग्राह्य ही है। इसलिये प्रत्यक्ष का विषय न बनने वाला 'अभाव' नामक ऐसा कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं जिसके ज्ञान के लिये अभाव नामक पृथक् प्रमाण माना जाय।

सम्भव—खारी में द्रोण, आढक, प्रस्थ, कुडव इत्यादि अन्य परिमाण सम्भव है—यह ज्ञान करने वाला सम्भव नामक जो पृथक् प्रमाण पौराणिकों को मान्य है, वह भी अनुमान ही है, क्योंकि द्रोण इत्यादि के बिना न होने वाली अर्थात् उनसे व्याप्त खारी अपने में द्रोण, आढक इत्यादि अल्प परिमाणों की सत्ता का अनुमान कराती है। जैसे अग्नि से व्याप्त धूम व्यापक अग्नि, की सत्ता का अनुमान कराता है।

ऐतिह्य—इस वृक्ष में यक्ष रहता है, ऐसा वृद्धजन कहते हैं इत्यादि प्रकार की परम्परागत जनश्रुति जो ऐतिह्य प्रमाण है, वह तो मूलवक्ता का कोई पता न होने से प्रमाण है ही नहीं, क्योंकि वक्ता के ज्ञात न होने के कारण यह ऐतिह्य सन्दिग्ध रहता है और सन्दिग्ध ज्ञान कभी प्रमाण नहीं होता। यदि यह निश्चितरूप से ज्ञान हो कि इसका वक्ता कोई आप्त पुरुष है, तब तो वह आगम प्रमाण ही है।

इस प्रकार सिद्ध है कि तीन ही प्रमाण हैं शेष सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं तीनों में हो जाता है।

(१२)

प्रश्न—निम्नलिखित पंक्तियों की व्याख्या कीजिए—

'तच्च असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। बोधश्च पौरुषेयः, फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति। एतेन संशयविपर्ययस्मृति साधनेष्वप्रसंगः।

'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इस प्रमाण के लक्षण के अवयव प्रमा का निर्वचन करते हुए वाचस्पति मिश्र ने कहा—"असन्दिग्ध···" आदि।

प्रमात्मक ज्ञान की तीन विशेषताएँ होती हैं—

(१) असन्दिग्धत्व—प्रमात्मक ज्ञान निश्चित होता है। वृक्ष के ठूठे को देखकर 'यह स्थाणु है या पुरुष है' इस प्रकार का सन्देहात्मक ज्ञान होते हुए भी प्रमात्मक ज्ञान नहीं है।

(२) अविपरीतत्व—प्रमा, विपरीत नहीं। क्योंकि वह (प्रमा) तद्वतितत्प्रकारक ज्ञान होता है। शुक्ति में शुक्तित्व प्रकारक शुक्ति विशेष्यक ज्ञान प्रमा है, न कि उसके विपरीत रजतत्व प्रकारक शुक्ति विशेष्यकज्ञान।

(३) अनधिगतत्व—वह ज्ञान पहले से प्राप्त नहीं रहता। नूतन रहता है।

उक्त तीनों विशेषताओं को देने से क्रमशः सन्देह, विपर्यय और स्मृति को हम प्रमा नहीं कह सकते।

प्रमा के स्वरूप सांख्यमत में दो हैं—

(१) चित्तवृत्ति—इन्द्रिय का बाह्य पदार्थ से जब सन्निकर्ष होता है तब शरीर के भीतर रहने वाली बुद्धि का तम अभिभूत हो जाता है। यह अभिभव उसी केन्द्र पर होता है जहाँ इन्द्रिय बुद्धि से मिलती है। इस तम के अभिभूत होने के साथ तैजस बुद्धि इन्द्रिय के रास्ते से निकल कर विषयदेश को जाकर विषयाकार में परिणत हो जाती है, अर्थात् घटादि विषय बुद्धि में प्रतिबिम्ब होने लगता है। फिर बुद्धि उसी विषय के रूप में बदल जाती है। यह बदलजाना ही चित्तवृत्ति है।

किन्तु यह गौण प्रमा है। इसका स्वरूप है 'अयं घटः।' इसका भान नहीं होता। न्यायमत में इसे ही व्यवसाय कहते हैं। बुद्धि जड़ है अतः यह वृत्ति भी जड़ होती है। किन्तु वह वृत्ति असन्दिग्धाविपरीतानधिगत होती है।

(२) पौरुषेय बोध—जब इस बुद्धि में पुरुष प्रतिबिम्बित होता है तो विभु होने के कारण वह बुद्धि के कोने २ में प्रतिबिम्बित होता है। फिर घट उसके प्रतिबिम्ब में प्रतिबिम्बित, होने लगता है चूँकि पुरुष अविद्या ग्रस्त है अतः वह बुद्धि को भूल जाता है और प्रतिबिम्ब के द्वारा तादात्म्य स्थापित कर लेता है। फिर जैसी ज्ञानवती बुद्धि है वैसे ही पुरुष भी ज्ञानवान् हो जाता है।

यही मुख्य प्रमा है जिसमें पुरुष को बोध होता है—"घटज्ञानवानहम्"। यह नैयायिकों का अनुव्यवसाय है।

(१३)

प्रश्न—सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्त्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति चेतनोऽनुगृह्यते। चितिच्छायापत्त्याऽचेतनाऽपि बुद्धिश्चेतनवद्भवतीति॥

उत्तर—सृष्टि के दो मूलतत्त्वों में से पुरुष चेतनमात्र है। किन्तु प्रकृति अचेतन एवं त्रिगुणमयी होने के कारण सुख-दुःखादि युक्त है। बुद्धितत्त्व भी प्रकृति का उपादेय होने के कारण सुखादिमय है, किन्तु साथ ही साथ जड़ भी है।

अब प्रश्न है कि यदि (अध्यवसाया बुद्धि…) इस धारणा के अनुसार ज्ञान, सुख आदि बुद्धि के धर्म हैं तो 'सुखी चेतनोऽहं जानामि' इस प्रकार की चैतन्यसामानाधिकरण्येन ज्ञान सुखादि की प्रतीति कैसे होती है? इसी के उत्तर में कहते हैं—सोऽयं बुद्धितत्त्व…इत्यादि।

ज्ञान सुख आदि से युक्त बुद्धि में पुरुष प्रतिबिम्बित होता है और पुरुष में बुद्धि का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस प्रकार परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव (विज्ञानभिक्षुके मतानुसार)

होने से एक के गुण से दूसरा युक्त हो जाता है। पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने से अचेतना बुद्धि चेतनवत् हो जाती है। जैसे जपाकुसुम का प्रतिबिम्ब पड़ने पर स्फटिक रक्त-सी मालूम पड़ती है। और बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्ब पड़ने से बुद्धि के सुख-दुःखादि पुरुष के गुण मालूम पड़ते हैं तथापि वह सुखाद्यनुपङ्गी है। इस प्रकार दोनों भ्रान्त हैं। यह बिम्बप्रतिबिम्ब भाव अन्य कुछ नहीं, केवल अविवेकनिबन्धनतादात्म्य है। पुरुष की यह धारणा कि "अहं भोक्ता इयं भोग्या" और बुद्धि की "अहं भोग्या अयं भोक्ता" ही अविवेक है। यह अविवेक भी बुद्धि का धर्म है, परन्तु पुरुष में चूँकि वह प्रतिबिम्बित होती है अतः पुरुष भी अविवेक युक्त हो जाता है और फिर भोक्तृत्व भोग्यत्व योग्यता दोनों के बीच बन्धन या तादात्म्य स्थापित कर देती है। परिणाम स्वरूप पुरुष समझता है 'अहं' सुखी और बुद्धि समझती है "अहं चेतना" 'तस्मात्त-त्संयोगात्' बुद्धि के द्वारा अपने सभी धर्मों का पुरुष को समर्पित कर देना ही पुरुष को अनुगृहीत करना है।

किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि जैसे आकाश का प्रतिबिम्ब जल में पड़ सकता है किन्तु आकाश में किसी का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, क्योंकि वह द्रव नहीं है। उसी प्रकार पुरुष, बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है पर बुद्धि, पुरुष में प्रतिबिम्बित नहीं होती। अतः वह तो चेतनावती हो जाती है परन्तु पुरुष सुखी आदि नहीं होता। वही स्वयं सुखी-दुःखी आदि होती है। इस सिद्धान्त के मूल में वे सांख्य की दो कारिकायें रखते हैं—

"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः" ॥ "रूपैः सप्तभिरेवतुबध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येक रूपेण"।

किन्तु 'तस्माच्च विपर्यासात्'····'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः'····"एवं तत्त्वाभ्यासात्···" आदि कारिकाओं की संगति तभी हो सकती है जब कि दोनों को भ्रान्त माना जाय। अर्थात् परस्पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो। यह बिम्बप्रतिबिम्बभाव विवरणाचार्य का है। वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद को मानते हैं।

(१४)

प्रश्न—न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम) "प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावाः ऋते चितिशक्तेः। स च परिणामभेदः ऐन्द्रियक इति, नास्ति प्रत्यक्षानवरुद्धोविषयो यत्राभावाह्वयं प्रमाणान्तरमभ्युपेयेत।"

उत्तर—अर्थापत्तिप्रमाण को अनुमान में अन्तर्भूत करके सांख्यदार्शनिक, भाट्ट एवं वेदान्ती लोगों के द्वारा स्वीकृत अनुपलब्धि प्रमाण को प्रत्यक्षप्रमाण में अन्तर्भूत कर लेते हैं।

प्रश्न होता है कि प्रत्यक्षप्रमाण इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होता है किन्तु अभाव के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष हो नहीं सकता। इसलिये अभाव का इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष न होने से वह प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्दर नहीं आ सकता?

उत्तर में सांख्य दार्शनिक कहते हैं कि अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है।

सांख्यमत में प्रकृति से लेकर महद्, अहंकार, तन्मात्र, इन्द्रिय, भूतघटपटादि सब के सब क्षण-क्षण परिणत होते रहते हैं क्योंकि वे त्रिगुणात्मक हैं और परिणाम का प्रयोजक रजस् सर्वत्र अनुस्यूत है। चूँकि भूतल भी त्रिगुणात्मक है। अतः कारणगुणात्मक होने से वह भी क्षणपरिणामी है।

यह परिणाम तीन प्रकार का होता है धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम एवं अवस्था-परिणाम। भूतल में जब घट था तब उसमें घटवत्ता नामक एक धर्म था। और उस धर्म-रूप विशेषण के कारण वह घटवद् भूतलम् कहलाता था। अब घट वहाँ से हट गया तो एक धर्म हट गया और अब भूतल पर केवलत्व धर्म आरूढ हो गया अर्थात् धर्म परिणाम हो गया और अब वह 'केवलं भूतलम्' इस प्रकार धर्म विशिष्ट हो गया। इस प्रकार धर्म-परिणाम होने पर भी धर्मी तो परिणत नहीं हुआ। और जब धर्मी नहीं परिणत हुआ तो उसकी योग्यता भी अपरिणत रही। अतः जैसे घटवत्ता दशा में भूतल था वैसा ही घटाभाववत्ता दशा में भी है। घटाभाव उस केवल भूतल से पृथक् कोई पदार्थ नहीं, वह तो भूतल का परिणामविशेष है। फिर अभाव प्रत्यक्ष योग्य है ही। क्योंकि धर्मी का प्रत्यक्ष होता तो उसके धर्म का भी प्रत्यक्ष होगा ही। इस प्रकार अभाव का भी प्रत्यक्ष होता ही है।

ऋते चितिशक्तेः कहकर वाचस्पति मिश्रजी ने बौद्धमत से अपने मत की विशेषता प्रकट की है। बौद्धों के यहाँ चितिशक्ति अर्थात् आत्मा भी क्षण-क्षण परिणामी अर्थात् द्वितीय क्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी है। पर सांख्यमत में पुरुष कूटस्थ नित्य है।

भाट्ट और वेदान्ती सृष्टि को त्रिगुणमयी मानते हुए भी प्रत्येक पदार्थों को क्षण-परिणामी नहीं मानते। सम्भवतः उनके यहाँ त्रिगुण का स्वरूप ही दूसरा है। और इसीलिये घटवत्भूतल का केवल भूतल के रूप में परिणाम उनके मत में होता नहीं। इस कारण अभाव एक अतिरिक्त पदार्थ है जिसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। अतः उसके ज्ञान के लिये वे अनुपलब्धि प्रमाण अलग से मानते हैं।

(१५)

प्रश्न—स्वात्मनिक्रियानिरोधबुद्धिव्यदेपशार्थक्रियाभेदाश्च नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्ति। एकस्मिन्नपि तत्तद्विशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामेतेषाविरोधात्"

उत्तर—कार्य कारणव्यापार से पहले भी उपादान में अनागतावाध होकर रहता है उसके लिये जो आनुमानिकयुक्तियाँ दी गई हैं वे ये हैं—

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्
शक्तस्यशक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्"

इनमें से अन्तिम—कारणभावाच्च का मतलब है कि कार्य एवं कारण दोनों में तादात्म्य—भेद सहिष्णु अभेद—रहता है। इस प्रकार जब कारण सत् है तो तदात्मक कार्य को भी सत् मानना चाहिये। उसमें चार अनुमान भी प्रमाण दिये हैं—

(१) कार्यं (घटः) कारणात् (तन्तुभ्यः) अभिन्नः—कारणधर्मत्वात् (तन्तुसम्बन्धात्)
(२) उपादानोपदेय भावात्।
(३) संयोगविभागाभावात्।
(४) गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्।

इन चार परिशेषानुमानों के द्वारा कार्य एवं कारण का अभेद सिद्ध हो जाने पर यह निश्चित है कि तन्तु आदि ही संस्थान अर्थात् अवयव संयोगआदि भेद से अवस्थान्तर को प्राप्त होने के कारण पट आदि के रूप में व्यवहृत होते हैं।

अब असत् कार्यवादी नैयायिक कारण से कार्य की भिन्नता सिद्ध करने में निम्न अनुमान देते हैं।

(१) पटस्तन्तुभ्यो भिन्नः—

तीद्‌योत्पत्तिनामकक्रियाभेदात्—यह व्यवहार होता है कि तन्तु से पट की

उत्पत्ति होती है। यदि तन्तु और पट एक होते हैं तो हम ऐसा भेदात्मक व्यवहार नहीं कर पाते, उत्पत्ति पट की होती है तन्तु की कदापि नहीं।

(२) तदीयविनाशात्मकनिरोधभेदात्--हम कहते हैं कि पट फट (नष्ट हो) गया। इस दशा में तन्तु तो वर्त्तमान रहता है। यदि तन्तु और पट अभिन्न हैं तो उक्त व्यवहार नहीं हो सकेगा। दूसरी बात यह है कि असमवायिकारण के नाश से कार्य का जो नाश होता है, वह सांख्य मत में सम्भव नहीं होगा।

(३) अयं पट इति बुद्धिभेदात्--हम समझते हैं अयं पटः, और अयं तन्तुः। यदि तन्तु एवं पट एक हों तो तन्तु में भी अयं पटः यह ज्ञान होने लगेगा।

(४) पट इति शब्दव्यवहारभेदात्--यदि कारण और कार्य में अभेद हो तो पट के लिए तन्तु एवं तन्तु के लिये पट शब्द का प्रयोग होने लगेगा।

(५) प्रावरणाद्यात्मकार्थक्रियाभेदात्--हम पट से शरीर ढकते हैं। यदि पट एवं तन्तु अभिन्न होते तो पट की भाँति तन्तु से भी शरीर क्यों नहीं ढका जाता?

(६) प्रावरणाद्यात्मकार्यक्रियाव्यवस्थाभेदात्--यह नियम है कि आवरणात्मक कार्य पट से ही होता है नकि तन्तु से। अभेद होने पर तन्तु से भी हो सकता था। अतः कारण और कार्य अभिन्न नहीं हैं।

भेदसाधक उक्त अनुमानों का खण्डन करते हुए श्री वाचस्पति मिश्र ने कहा है—स्वात्मनि क्रिया निरोध···इत्यादि।

कार्य और कारण सर्वथा भिन्न नहीं हैं। उनमें आंशिक भेद है। यदि तन्तु से पट सर्वथा भिन्न है तो जैसे तन्तु से अत्यन्तभिन्न पट उत्पन्न होता है उसी प्रकार अत्यन्त भिन्न घट भी तन्तु से उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि घट एवं पट दोनों में तन्तुगत अत्यन्त भेद समान है। पर ऐसा होता नहीं है। अतः पट तन्तु से भिन्न होता हुआ भी अभिन्न है।

उपर्युक्त जो हेतु भेद की सिद्धि में दिये गये हैं वे सांख्य के धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामों के अज्ञान के कारण हैं।

(१) तन्तु का धर्म एवं लक्षणपरिणाम ही वर्तमान पट है। हम इसी धर्म, लक्षण परिणाम से युक्त तन्तु को कहते हैं कि पट उत्पन्न हो गया।

(२) और अब फिर उसे हम नष्ट मानते हैं। यह उसी प्रकार है जैसे कच्छप के शरीर से बाहर निकलते अवयवों को देख कर हम उन्हें उत्पन्न होता समझते हैं। वे अङ्ग वस्तुतः उत्पन्न और नष्ट नहीं होते, क्योंकि जो सत् है उसका नाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। गीता में कहा है—

नासतोविद्यते भावो नाभावोविद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(३) इसी परिणामविशेष के कारण अयं कूर्मः, इमान्यस्याङ्गानि-यह बुद्धिभेद भी होता है। अन्यथा जो कूर्म है वही उसका अङ्ग है।

(४) व्यवहार में जो भेद प्रतीत होता है 'इह तन्तुषु पटः' यह आधाराधेयभाव रूप भेद, 'राहोः शिरः' या 'इह वने तिलकाः' के समान है। राहु और शिर, तिलकवृक्ष और वन जैसे एक हैं वैसे तन्तु एवं पट भी। इह तन्तुषु एकः पटः-यह एकत्व व्यवहार भी प्रावरणरूपएकक्रियौपाधिक है। अर्थक्रियाभेद भी कार्य-कारण में भेद नहीं सिद्ध कर

सकता। क्योंकि एक ही वस्तु अवस्थाभेद से भिन्न-भिन्न काम करती देखी जाती है। जैसे एक ही अग्नि दाह, पचन एवं प्रकाश सब कुछ करती है।

यदि आप यह कहें कि अर्थक्रिया में व्यवस्था होने से कार्य-कारण भिन्न हैं? जैसे सीवन-क्रिया तन्तु से ही हो सकती है पट से नहीं। प्रावरण पट से ही हो सकता है तन्तु से नहीं। इस प्रकार—"पटस्तन्तुभ्यो भिन्नः प्रावरणात्, तन्तुःपटाद्भिन्नः सीवनात्"

ये अनुमान करें तो भी भेद नहीं सिद्ध होता। जैसे अलग २ विष्टि अपना २ रास्ता देखते हैं पर मिल कर वे शिविकावहन करते हैं उसी प्रकार अलग २ तन्तु सीवन करते हुए भी आतान वितान सब संस्थानभेद से प्रावरण का भी कार्य करते हैं। इसलिये पट एवं तन्तु एक हैं। भेद जो दिखाई देता है वह तन्तुरूप कारण का धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम है।

(१६)

प्रश्नः—सांख्यदर्शन को द्वैतवादी क्यों कहा जाता है? क्या आप उससे सहमत हैं?

Why is Sāṅkhya System called dualistic? Do you accept the Sāṅkhya argument for a dualistic metaphysics?

सांख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष नामक दो विरोधी तत्त्वों की निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार करता है। अतः उसे द्वैतवादी या द्वितत्त्ववादी कहते हैं। प्रकृति चलायमान है और पुरुष अचल है। जब प्रकृति पुरुष के पास आती है तो उसके स्वभाव में क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप जगत् का विकासक्रम प्रारम्भ हो जाता है। पुरुष नित्य और मुक्त होने के नाते जगत के फन्दे में नहीं बंधता। प्रकृति और पुरुष एक दूसरे से भिन्न हैं अतः सांख्य का 'द्वैतवाद' निरन्तर कायम रहता है।

द्वैतवाद की समीक्षा—

परन्तु प्रकृति और पुरुष के द्वैत को सिद्ध करने के लिये सांख्यदर्शन ने उपमाओं और रूपकों का आलम्बन लिया है जो उपयुक्त नहीं है, ऐसा आधुनिक बुद्धिमान् कहते हैं—

(१) सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष अन्धे और लंगड़े व्यक्तियों के समान हैं जो परस्पर मिलकर अपने गन्तव्य स्थल तक पहुँच जाते हैं। सांख्य की यह उपमा ठीक नहीं क्योंकि प्रकृति अचेतन और पुरुष निष्क्रिय है जब कि अन्धा और लँगड़ा दोनों चेतन हैं। चेतना के अभाव में प्रकृति और पुरुष का सहयोग सम्भव नहीं।

(२) सांख्यविचारकों के अनुसार प्रकृति पुरुष के लिये विश्व की रचना करती है। क्योंकि अचेतन पदार्थ में चेतन पदार्थ का भाव आ ही नहीं सकता। अतः प्रकृति पुरुष के लिये रचना नहीं कर सकती।

(३) यदि प्रकृति और पुरुष का संग मान लिया जाय तो प्रलय असम्भव हो जावेगी। क्योंकि प्रकृति अचेतन होने से पुरुष से दूर नहीं जा सकती है।

(४) यह कहना कि जैसे बछड़े के लिए गाय के थन से दूध बहता है वेसे ही पुरुष के लिये प्रकृति रचना करती है ठीक नहीं, क्योंकि गाय में चेतना है और बछड़ा भी चेतन है तथा गाय में वात्सल्य प्रेम जगा रहता है, जिसके कारण दूध बहता है। प्रकृति अचेतन है। अतः उसमें चेतन तत्व उत्पन्न नहीं हो सकते।

(५) यह कहना कि जैसे घास दूध बन जाती है वैसे ही प्रकृति भी रचना करती है, ठीक नहीं, क्योंकि रक्खी हुई या बैल को खिलाई हुई घास से दूध नहीं बनता। केवल उसी गाय को घास खिलाने से दूध बनता है जिसने बछड़े को जन्म दिया है।

(६) यह कहना कि जैसे चुम्बक लोहे के कणों को खींच लेता है वैसे ही चेतन पुरुष अचेतन को खींच लेता है, ठीक नहीं, क्योंकि लोहे में खिंचने और चुम्बक में खींचने की शक्ति है तथा लोहे के कणों में भी ऊर्मि पैदा होती है।

(७) यह कहना कि जैसे पानी ऊँचे से नीचे गिरता है वैसे ही प्रकृति भी स्वभावतः विश्व की रचना करती है, उचित नहीं लगता क्योंकि पानी के बहाव का कारण ईश्वर की सत्ता माना गया है न कि अचेतन पानी का स्वभाव।

(८) यह कहना कि जैसे दूध से दही बन जाता है वैसे ही प्रकृति से यह विश्व उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि दही को उत्पन्न करने के गुण दूध में विद्यमान हैं और अचेतन से अचेतन की रचना हो रही है, न कि चेतन की।

(९) सांख्य दार्शनिकों ने आक्षेपों से बचने के लिये प्रकृति और पुरुष के सहयोग को आभास मात्र माना है। यदि प्रकृति-पुरुष का सान्निध्य आभास है तो यह जगत् भी आभास ही हुआ क्योंकि आभास से आभास की उत्पत्ति होती है। अतः सांख्य का प्रकृति-परिणामवाद वेदान्त के विवर्तवाद में बदल जाता है जो उपयुक्त नहीं।

(१०) इस विचित्र और रमणीक संसार की रचना को देख कर बड़े बड़े कलाकारों के दाँत खट्टे हो जाते हैं और वे दाँतों तले उँगली दबाते हैं। ऐसी स्थिति में इस विश्व की रचना का कारण अचेतन प्रकृति को मानना समीचीन नहीं।

आधुनिक बुद्धिमानों को इस प्रकार की आलोचना का अवसर पाने का एकमात्र कारण यही है कि चिरकाल से सांख्यदर्शन की अध्ययनाध्यापनपरम्परा उच्छिन्न हो गई है, अतः सांख्य के अनेक संप्रदायों का ज्ञान नहीं रहा, परिणाम स्वरूप किसी भी संप्रदाय को किसी के नाम पर समझा जाने लगा, जिससे सिद्धान्तों का सामञ्जस्य नहीं बन पाता। आधुनिक बुद्धिमान् यदि सांख्य के भिन्न-भिन्न संप्रदायों की ओर भी कृपया ध्यान देते, तो ऐसी ऊटपटांग आलोचना कदापि न करते।

(१७)

प्रश्न—"तदनेनज्ञानादयः परपुरुषवर्त्तिनोऽभिप्रायभेदात् वचनभेदात् वा लिङ्गादनुमानाद्वा इत्यकामेनापि अनुमानंप्रमाणमभ्युपेयम्" की व्याख्या करिये।

उत्तर—अनुमानप्रमाण न मानने वाले प्रत्यक्षप्रमाणवादी चार्वाक के लिये भी अनुमानप्रमाण मानना आवश्यक है। इसी के प्रसङ्ग में वाचस्पति तर्क देते हैं "तदनेन···"

लोकायतिक लोकव्यवहार में अपने से भिन्न पुरुष के अन्दर रहने वाले अज्ञान, भ्रम, विपर्यय आदि का ज्ञान तब तक नहीं कर सकते जबतक वे अनुमानप्रमाण की शरण नहीं लेते। क्योंकि किसी के भी ज्ञान आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिये उन अज्ञान आदि का अनुमान ही करना पड़ता है। वह इस प्रकार—

यदि अभिप्रायभेदात् = वक्तृतात्पर्यविशेषात्, एवं वचनभेदात् = वाक्यविशेषात् अर्थ करें तो पहले वाक्यविशेष से तात्पर्यविशेष का अनुमान करना होगा, तब अज्ञानादि का अनुमान करना होगा।

"अयं वक्ता, ईदृशाभिप्रायवान्, एतादृशवाक्यप्रयोक्तृत्वात् सम्प्रतिपन्नवत्"

यह अभिप्रायविशेष का अनुमान हुआ। फिर—अयं वक्ता एतद्विषयकाज्ञानादिमान्, एतादृशाभिप्रायवत्वात्॥

इसप्रकार अज्ञानादि का अनुमान होता है। यदि अभिप्रायभेदात् = अज्ञानादि विशेषात् तस्माज्जातो यो वचनभेदस्तस्मात्, अर्थ करें तो अनुमान लिङ्ग होगा—

"एतद्वचनं, एतदीयाज्ञानप्रयुक्तम्, असद्वचनत्वात् मदीयासद्वचनवत्"

एतद्वचनम्, एतदीयसंशयप्रयुक्तम्, अनिश्चितवचनत्वात्, मदीयानिश्चितवचनवत्।
एतद्वचनं, एतदीयविपर्ययप्रयुक्तम्, भ्रान्तवचनत्वात् मदीयभ्रान्तिवचनवत्।
ये उपर्युक्त अनुमान मनुष्य के मन में स्वभावतः असम्बद्ध वचन सुनने पर तुरन्त हो जाते हैं। ऐसा सबका अनुभव है। अतः अनुमान तो मानना ही पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त सर्वदर्शनसंग्रह के बौद्धदर्शनवाले अध्याय में ऐसा कहा गया है—प्रमाण और प्रमाणाभास तथा अभाव का भी अनुमान स्वभावतः होता है। अतः चार्वाक को अनुमान मानना ही पड़ेगा।

(१८)

प्रश्न—शङ्कितसमारोपितोपाधिनिराकरणेन च वस्तुस्वभावप्रतिबद्धं व्याप्यम्। येन प्रतिबद्धं तद्व्यापकम्' की व्याख्या कीजिये

उत्तर—प्रत्यक्षोपजीव्य अनुमान का सामान्यलक्षण सांख्यकारिका में किया गया है "तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकम्"। असत् लिङ्ग के परिहारार्थ आगे चलकर लिङ्ग का पर्याय कहा गया है—"लिङ्गं—व्याप्यम्" और बाधित साध्य का वारण करने के लिये लिङ्गि व्यापकम् भी कहा है। अब इसी व्याप्य और व्यापक का परिष्कार करते हैं "शङ्कित समरोपित···"

"शङ्कित और समारोपित' (निश्चित) इन दो प्रकार की उपाधियों से रहित होकर, वस्तु=धूम आदि के स्वभाव=वह्नि आदि के साथ अविनाभाव (अन्वय-व्यतिरेक-रूप) नियम से जो प्रतिबद्ध=आक्रान्त हो वही व्याप्य है। अथवा शङ्कित···स्वभाव प्रतिबद्ध जो वस्तु वह व्याप्य है। अथवा शङ्कित···वस्तु=वह्नि के साथ जो स्वभाव=अविनाभावात्मक प्रतिबन्ध=नियम तदाश्रय जो हो, वह व्याप्य है। और जिस=वह्नि आदि के द्वारा प्रतिबद्ध=अविनाभूत—संसर्गवत्-होता है वह व्यापक है। अर्थात् उपाधि-रहित होते हुए जो स्वभावतः (किसी के साथ) सम्बद्ध होता है वह व्याप्य और जिसके साथ सम्बद्ध होता है वह व्यापक होता है। व्याप्य=हेतु से व्यापक=साध्य का अनुमान करते हैं। सोपाधिक हेतु व्यभिचारी होने से साध्य का अनुमापक नहीं होता।

हेतु के व्यभिचारादि पाँच दोषों में से असिद्धि दोष तीन प्रकार का होता है—(१) आश्रयासिद्धि, (२)स्वरूपासिद्धि, (३) व्याप्यत्वासिद्धि। व्याप्यत्वासिद्धि ही उपाधि है। वह दो प्रकार की होती है—

उपाधि
- सन्दिग्धोपाधि
- निश्चितोपाधि

उपाधि साध्य की व्यापक होती हुई साधन की अव्यापक होती है।

सन्दिग्धोपाधि—जिस उपाधि में साध्यव्यापकत्व अथवा साधनाव्यापकत्व का सन्देह हो। जैसे—"सः श्यामः मित्रातनयत्वात्"

यहाँ शाकपाकजत्व एक उपाधि है जिसको कुक्षि में रखने के कारण मित्रातनयत्व हेतु, श्यामत्व वस्तु (साध्य) के साथ स्वभावतः प्रतिबद्ध हो रहा है। क्योंकि मित्रा के ५, ६ पुत्रों को श्याम देखकर हम व्याप्ति बनाते हैं—"यत्र-यत्र मित्रातनयत्वं तत्र-तत्र श्यामत्वम्", और इसी के आधार पर अदृष्ट सातवें पुत्र के बारे में अनुमान करते हैं कि वह श्याम है। किन्तु यदि आठवां पुत्र श्याम नहीं है तो फिर व्याप्ति अशुद्ध हो गई अर्थात् शाकपाकजन्यत्व उपाधि, हेतु के साथ लग गई है। पर मित्रातनय के श्यामत्व में शाकपाकजत्व ही हेतु होगा सो निश्चित नहीं, पिता या माता की श्यामता भी उसका

प्रयोजक हो सकती है। अब यह सन्देह हो जाता है कि मित्रातनयत्व हेतु, श्यामत्व की सिद्धि कर रहा है उसमें (हेतु के साथ) शाकपाकजत्व उपाधि है या मातृ-पितृश्यामत्व आदि। यही सन्दिग्ध उपाधि है। क्योंकि यहाँ साध्यव्यापकत्व एवं साधनाव्यापकत्व दोनों अंश सन्दिग्ध हैं।

यह ध्यान रखना चाहिये कि साध्यव्यापकत्व का सन्देह भी वहीं होता है जहाँ उपाधि साधनावच्छिन्न साध्य की व्यापक होती है, जैसे उक्त उदाहरण में—

"यत्र मित्रातनयत्वविशिष्टश्यामत्वं तत्र पुत्रे शाकपाकजत्वम्"। इस व्याप्ति में सन्देह है कि "मित्रातनयत्वविशिष्टश्यामत्वं शाकपाकजन्यव्याप्यम् न वा"। यहाँ साध्य-व्यापकत्व सन्दिग्ध है और शाकपाकजत्व उपाधि साधन की अव्यापक भी है—

जहाँ आठवें शुक्ल पुत्र में मित्रातनयत्व तो है पर शाकपाकजत्व नहीं है।

इस प्रकार हेतु को शङ्कित उपाधि से शून्य होना चाहिये। निश्चितउपाधि, जैसे— "पर्वतो धूमवान् वह्नेः"।

यहां आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि है। यह साध्य का व्यापक निश्चितरूप से है। "यत्र-यत्र धूमस्तत्रतत्र आर्द्रेन्धनसंयोगः", और साधन का अव्यापक भी है क्योंकि अयो-गोलक में वह्नि रहती है, पर आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं रहता। हेतु को इससे भी शून्य रहना चाहिये।

(१६)

प्रश्न—"प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः" की व्याख्या कीजिये।

उत्तर—श्रीवाचस्पति के अनुसार सांख्यमत में अनुमान के दो भेद होते हैं—

परिशिष्यते = साहायकानुमानानां निषेधविषयो न भवतीति शेषः। विषयता-सम्बन्धेन शेषपदार्थवत् यत् फलितं भवति तत् शेषवत्। अर्थात् निषेध का विषय न होते हुए कोई पदार्थ जिस अनुमानज्ञान का विषय होता है, वही परिशेषानुमान कहलाता है। इसी में गौतम सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन का वचन उद्धृत करते हैं— "प्रसक्त प्रतिषेधे"......।
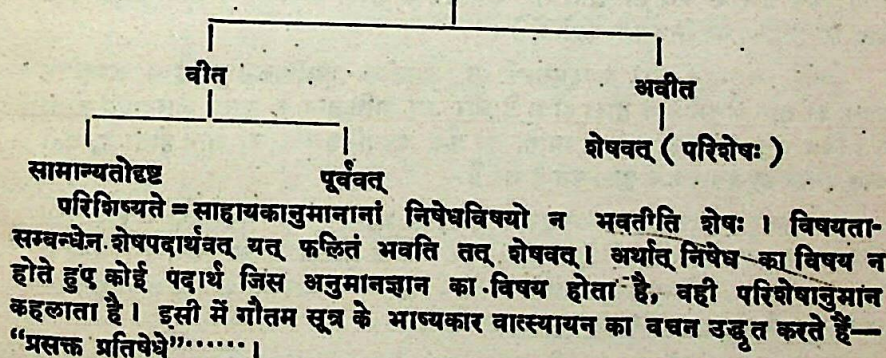
उदाहरणार्थ—न्यायमत में आकाश का साधक निम्न अनुमान परिशेषपदार्थगगन-विषयक होने से परिशेषानुमान है—अनुमान का आकार है—

"शब्दः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्।"

किन्तु इस अनुमान तक पहुँचने के लिये हमको बीच में कई अनुमान करने पड़ते हैं—

(१) शब्दः क्वचिद्द्रव्याश्रितः गुणत्वात्।

इस अनुमान से शब्द के आश्रय (क्वचित्पद से) आठो द्रव्य उपस्थित होते है। उनमें प्रसक्त प्रतिषेध, अर्थात् आश्रयतया प्रसक्त आठ द्रव्यों का निषेध किया जाता है कि वे शब्द के आश्रय नहीं हो सकते।

(२) शब्दः न पृथिव्यप्तेजोवायुविशेषगुणः अयावद्द्रव्यभावित्वात् ।

पृथिव्यादि के गुण गन्ध आदि सम्मत पृथिव्यादि में रहते हैं। (३) शब्द ध्मायमान शङ्ख में रहते हुए भी चुपचाप पड़े शङ्ख में नहीं रहता ।

(४) शब्दो, न आत्मगुणः बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात् । इन अनुमानों से आश्रयतया प्राप्त आठ द्रव्यों का प्रतिषेध होने पर एवं अन्यत्र = गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभावों में अप्रसंगात् = अप्राप्ति होने से, (क्योंकि गुणे गुणानङ्गीकारात् नियम है) शिष्यमाणे गगननामक द्रव्य में जो सम्प्रत्ययः = शब्दाधिकरणता का अनुमान होता है—

(५) शब्दः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात् । यन्नैवं तन्नैवं यथा गन्धादिः ।

यही केवलव्यतिरेकी या परिशेषानुमान है। पूर्ववत्, दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयक होता है, और सामान्यतोदृष्ट, अदृष्टस्वलक्षणसामान्य विषयक होता है तथा शेषवत् में प्राप्त का निषेध करते हैं। अन्त में बचे हुए को अनुमान के द्वारा ग्रहण करते हैं ।

(२०)

प्रश्न—"प्रयोजकवृद्धशब्दश्रवणसमनन्तरं प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तिहेतुज्ञानानुमानपूर्वकत्वात्, शब्दार्थसम्बन्धग्रहणस्य, स्वार्थसम्बन्धज्ञानसहकारिणश्च शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वात् अनुमानपूर्वकत्वम्" की व्याख्या कीजिये ।

उत्तर—प्रयोजकवृद्ध के द्वारा उक्त शब्द सुनने के बाद प्रयोज्यवृद्ध की प्रवृत्ति होती है। उस प्रवृत्ति के हेतु शब्द, अर्थ एवं सम्बन्ध का ज्ञान (एक तीसरे व्यक्ति को) चूँकि अनुमान के द्वारा होता है, एवं शब्द तथा अर्थ के बीच वर्तमान सम्बन्ध-शक्ति के ज्ञान में सहायक शब्द के अर्थ का ज्ञान भी अनुमान के द्वारा होता है; (अतः अनुमान के बाद शब्दप्रमाण का निरूपण करते हैं) ।

स्पष्टार्थ—अनुमान और शब्दप्रमाणों में उपजीव्य-उपजीवकभाव है । शब्दनिष्ठ शक्ति का ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है और उस शक्तिज्ञान के द्वारा शाब्दबोध होता है। किस अनुमान के द्वारा किस व्यक्ति को कैसे शब्दनिष्ठशक्ति का ज्ञान होता है, यही बात प्रयोजकवृद्धवाक्य के द्वारा बताई गई है—

प्रयोजकवृद्ध (पिता) प्रयोज्यवृद्ध (पुत्र) से कहता है कि 'गामानय' । इस शब्द को सुनकर पुत्र सास्नादिमती दुग्धदात्री एक व्यक्ति (जीव) को लाता है। पास में बैठा एक लड़का, जो गामानय वाक्य का अर्थ नहीं जानता, पिता के आदेश से पुत्र को गवानयन में प्रवृत्त देखकर अनुमान करता है कि—

"प्रयोज्यवृद्धस्य गवानयनप्रवृत्तिः" गवानयनविषयकज्ञानजन्या, गवानयनविषयकप्रवृत्तित्वात् ।

या यद्गोचराप्रवृत्तिः सा तद्विषयकज्ञानजन्या यथा स्वीयस्तन्यपानप्रवृत्तिः ।

उक्त अनुमान से जब वह प्रयोज्यवृद्धगतगवानयनविषयकज्ञान का अनुमान कर लेता है तो फिर दूसरा अनुमान करता है—

इदं गवानयनविषयकज्ञानं प्रयोजकवृद्धोच्चारितवाक्यजन्यम् तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् ।

यद् यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत् तज्जन्यं यथा दण्डान्वयव्यतिरेकानुविधायी घटः ।

उक्त अनुमान से होने वाला अन्वयव्यतिरेक इसप्रकार है—वाक्यश्रवणेसति गवानयन-प्रवृत्तिजनकज्ञानम् (तत्सत्वेतत्सत्ता), वाक्यश्रवणाभावेसति गवानयनप्रवृत्तिजनक-ज्ञानाभावः (तदभावेतदभावः)

इस प्रकार अनुमान करके वह निश्चित करता है कि 'गामानय' इस पूरे वाक्य का 'सास्नादिमती व्यक्ति को लाओ' यह अर्थ है।

फिर जब 'गां बधान, अश्वमानय,' वाक्य सुनकर पुत्र लाये हुए जीव को शङ्कु-रज्जु से संयुक्त कर एक दूसरे जीव को लाता है तब, व्युत्पित्सु बालक देखता है कि पिता ने 'गामानय' इस वाक्य में 'आनय' शब्द का उद्वाप (विक्षेप) कर बधान पद का आवाय (प्रक्षेप) किया तो वही जीव शङ्कु-रज्जु के संयुक्त कर दिया गया। अतः यहाँ भी उक्त रीति से अनुमान कर बालक यह निश्चय करता है कि गां शब्द की शक्ति गो में है और आनय की शक्ति आहरण में तथा बधान की शङ्कु-रज्जु-संयोगानुकूल-व्यापार में है।

इस प्रकार चाहे वाक्यनिष्ठ शक्तिज्ञान हो, चाहे पदनिष्ठ शक्तिज्ञान हो, दोनों के मूल में अनुमान रहता ही है। वैसे अन्यान्य प्रमाणों से भी शक्तिज्ञान होता है, परन्तु जहाँ अनुमान और शब्द की बात आवेगी वहाँ अनुमान, शब्दज्ञान का उपजीव्य होने से प्राथमिकता को प्राप्त करता ही है।

(२१)

प्रश्न—"वाक्यार्थो हि प्रमेयः न तु तद्धर्मो वाक्यं येन तत्र लिङ्गं भवेद्। न च वाक्यं वाक्यार्थं बोधयत् सम्बन्धग्रहणमपेक्षते" की व्याख्या कीजिये।

उत्तर—"आप्तवचनं तु" में 'तु' कहकर ईश्वरकृष्ण ने अनुमान से पृथक् स्वतन्त्र है शब्दप्रमाण है इस ओर संकेत किया है और सामान्य अनुभव भी होता है कि 'गौरस्ति' वाक्य से गौ एवं अस्तिता के परस्पर सम्बन्ध-ज्ञान के लिये किसी अनुमान आदि की अपेक्षा नहीं होती।

परन्तु बौद्ध एवं वैशेषिक शब्दप्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव करना चाहते हैं। वह इस प्रकार है—

"गौः अस्ति" इस वाक्य को सुनने के बाद यह अनुमान होता है—

गौः अस्तितावान्, अस्तिपदसमभिव्याहृतगौरितिपदस्मारितत्वात्"।

चूँकि सर्वत्र पद स्वार्थस्मरण द्वारा शाब्दबोध कराते हैं अर्थात् पदार्थस्मरण वाक्य-बोध का व्याप्य होने से हेतु होता है। इस प्रकार उक्त अनुमान में अस्तिपदसमभिव्या-हृत गौः पद हेतु है जिससे उसके अर्थ (साध्य) की अनुमिति होती है।

वैशेपिकों की उक्तयुक्ति में असङ्गति दिखाते हुए वाचस्पतिमिश्र ने कहा है कि वाक्यार्थः प्रमेयः "...."

उनके कहने का अभिप्राय यह है कि अस्तिपदसमभिव्याहृत गौ पद, जो कि हेतु है वह पक्ष में न रहने से स्वरूपासिद्धिरूपदोष से ग्रस्त है अर्थात् हेत्वाभास है। अतः उससे उचित अनुमान नहीं हो सकता। हेतु का पक्षावृत्तित्व इस प्रकार है—

अनुमान साध्यविशिष्टधर्मी को सिद्ध करता है इसलिये यहाँ अस्तित्वविशिष्टगोरूप-वाक्यार्थ को सिद्ध करना है। गोरूप अर्थ जो कि पक्ष है, उसमें अस्तिपदसमभिव्याहृत गौः इस पद को किसी न किसी सम्बन्ध से रहना चाहिये। पर यहाँ पदात्मक हेतु का

अर्थरूप पक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। क्रिया कारक आदि के रूप में वर्तमान पदों का पदों से ही सम्बन्ध होता है। अर्थ से पदों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। यदि यह कहिये कि शब्द, अर्थ का विषय होता है अतः अर्थ के साथ शब्द का विषयतासम्बन्ध है अर्थात् विषयतासम्बन्धेन···गो पद (हेतु) जो अर्थ (पक्ष) में रहेगा, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यह सम्बन्ध अर्थबोध होने के बाद उत्पन्न होता है। अतः यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा।

दूसरी बात यह है कि अनुमान में हेतु की साध्यनिरूपितव्याप्ति से युक्त होना चाहिये। किन्तु यहाँ वाक्यरूप हेतु अर्थ ज्ञान (वाक्यार्थ) रूप साध्य से व्याप्त नहीं रहता। जैसे यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्नि में धूम और वह्नि की व्याप्ति पूर्वगृहीत नहीं होती। अर्थात् जहाँ-जहाँ वाक्य दिखाई दे वहाँ-वहाँ उसके पहले अर्थज्ञान रहना ही चाहिये। ऐसी व्याप्ति दिखाई नहीं देती। जैसे किसी कवि के द्वारा नया-नया रचा गया पद्य जब सुनने को मिलता है तो उस वाक्यश्रवण के पूर्व उसका अर्थज्ञान कभी नहीं रहता जिससे पहले व्याप्ति बन चुकी हो और फिर अनुमान हो कि—"अभिनवकाव्यं, एतदर्थबोधकम् एतद्वाक्यप्रयोगात् यत्रयत्रैतद्वाक्यप्रयोगस्तत्रतत्रैतदर्थबोधः।"

तीसरी बात यह है कि वाक्यश्रवण के बाद आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति एवं तात्पर्य के द्वारा वाक्यार्थबोध होने के समय हमें जो अनुभव होता है वह 'अहममुमर्थं प्रत्येमि' करके होता है, न कि अमुमर्थमनुमिनोमि करके। यह विलक्षण अनुभव आगमप्रमाण की स्वतन्त्रता बताता है। इसलिये इन तीनों बातों को ध्यान में रखने पर यह सिद्ध है कि आगमप्रमाण को अनुमान में अन्तर्भूत नहीं कर सकते।

(२२)

प्रश्न—Establish सत्कार्यवाद of सांख्य and distinguish it from other types of कार्यवाद.

उत्तर—तत्त्वचिन्तन की नीव है कार्यकारणभाव की विचारणा। जहाँ कार्य कारण भाव की विचारणा पैदा ही नहीं होती वहाँ कभी तत्त्वमीमांसा के उदय का सम्भव ही नहीं है। कार्यकारणभाव की विचारणा देश एवं काल की मर्यादा में ही हो सकती है। उसमें गहराई और सुनिश्चितता भी अधिकाधिक आती जायेगी। ऐसे विस्तार, विकास एवं संशोधन के कारण ही तत्त्वचिन्तन में नये २ चिन्त्यविषय दाखिल होते रहते हैं। उसके स्वरूपचिन्तन में भी परिवर्तन होता है। कार्य किसे कहते हैं? कारण क्या है? इसका विशद विवेचन वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, आगम एवं पिटक आदि ग्रन्थों में काफी स्पष्टरूप से दिया गया है।

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दर्शन के भिन्न २ सम्प्रदाय के भिन्न २ मत हैं। सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने—

> असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
> शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

इस कारिका के द्वारा सांख्यसम्मत सत्कार्यवाद की प्रतिष्ठापना की है।

(१) बौद्धदर्शन का कहना है कि असत् अर्थात् विनष्ट उपादान से सत्-भाव कार्य की उत्पत्ति होती है—

"सर्वे कार्यरूपाभावा, अभावकारणकाः कार्यत्वात्, बीजनाशोत्पन्नाङ्कुरादिवत्।"

(२) वेदान्त का भी विचार है कि एक अद्वितीय त्रैकालिक बाधरहित नित्य-ब्रह्म का अतात्त्विक अन्यथाभाव यह संसार है। "नेह नानास्ति किञ्चन"। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"।

(३) न्याय वैशेषिक का कहना है कि सत् अर्थात् नित्य परमाणु से असत् अर्थात् अनित्य द्व्यणुकादि की उत्पत्ति होती है।

(४) इसी प्रकार सत् शब्दब्रह्म से असत् जगत् उत्पन्न होता है। यह वैयाकरण कहते हैं—

"अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः" वा. प.॥

अन्य मतोंका खण्डन करने के लिये उक्त कारिका कही गई है। वाचस्पति का कहना है कि यह ठीक है कि बीज एवं मृत्पिण्ड के नष्ट होने पर अङ्कुर एवं घटादि उत्पन्न होते हैं तथापि उनका प्रध्वंसाभाव अङ्कुरादि का कारण नहीं है, बल्कि उस उपादान कारण की भावात्मकता कारण है। यदि प्रध्वंस ही कारण हो तो तन्तु से जो कि ध्वस्त नहीं होता पट कभी बनेगा ही नहीं। दूसरी बात यह है कि अभाव तो सर्वत्र सुलभ है फिर सर्वदा सर्वत्र सभी कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिये पर ऐसा कहाँ होता है?

और वेदान्त का यह कहना भी ठीक नहीं है कि सत् ब्रह्म से मिथ्या संसार की उत्पत्ति होती है। यदि यह प्रपञ्चप्रत्यय मिथ्या होता तो इसका कभी न कभी बाध होता। पर ऐसा होता नहीं। इसलिये यह संसार मिथ्या अर्थात् स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं हैं।

न्यायवैशेषिक का कहना है कि कार्य अपने कारणव्यापार के पूर्व वर्त्तमान नहीं रहता। कारणव्यापार के बाद उत्पन्न होने वाली यह एक नवीन वस्तु है। इसके उत्तर में सांख्य का अनुमान है—

१. असदकरणात्—"कार्यं कारणव्यापारात् प्रागपि सत् क्रियमाणत्वात्"। असदकरणात् इसमें व्यतिरेकव्याप्ति अन्तर्भूत है—

यत् असत्=न शृंगतुल्यम् प्रागविद्यमानम् तत् अकरणम्=अनुत्पन्नम्। इसका अन्वय इस प्रकार है—"यच्च करणम्=क्रियमाणं तत् सत् यथा घटः। वस्तुतः जो चीज कारण व्यापार के पूर्व नहीं है उसको कभी भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। पीतत्वाभावयुक्त नील को कभी भी पीत नहीं बनाया जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि कार्य के असत्त्व का अर्थ नृशृङ्गवत् नहीं है बल्कि जैसे घट में पाक के पहले श्यामता (रक्तत्वाभाव) एवं पाक के बाद रक्तत्व की सत्ता होती है। उसी प्रकार असत्त्व एवं सत्त्व घट के धर्म हैं। अन्तर इतना ही है कि पहला घट भी उत्पत्ति के पहले और दूसरा बाद में रहता है? तो यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि सत्त्व या असत्त्वरूप धर्म बिना धर्मी के विद्यमान रहे तो किस अधिकरण में रहेंगे। जिस समय हम कहेंगे असन् घटः, उस समय धर्म और धर्मी में (सांख्यमत में) तादात्म्य होने से यदि धर्म (असत्त्व) वर्तमान है तो उसका धर्मी घट अवश्य ही वर्तमान रहेगा। इसलिये जैसे पीडन से तिल में तैल व्यक्त होता है। अवघात से धान्य में तण्डुल व्यक्त होते हैं उसी प्रकार कारणव्यापार के द्वारा उपादान में पहले से विद्यमान कार्य की अभिव्यक्ति होती है।

२. उपादानग्रहणात्—दूसरी बात यह है कि किसी भी कार्य को प्राप्त करने के लिये हम उसका उपादानकारण खोजते हैं। यदि उस उपादान में कार्य अनागतावस्थ होकर

न रहे तो फिर वह उपादान और दूसरी वस्तु ये दोनों समान हैं। फिर तेल को प्राप्त करने के लिये जैसे तिल का ग्रहण होता है वैसे सिकता का भी ग्रहण होना चाहिये। पर ऐसा होता नहीं। क्यों? इसीलिये कि तिल में तेल अनागतावस्थ है और सिकता में उसका अत्यन्ताभाव है। अतः कार्य से कारण सम्बद्ध होकर ही कार्य का अभिव्यञ्जक होता है।

प्रश्न है कि हम कारण से असम्बद्ध ही कार्य की उत्पत्ति मानें तो क्या हर्ज है? उत्तर में कहते हैं—

३. सर्वसम्भवाभावात्—यदि तिल को तेल से असम्बद्ध माना जाय तो जैसे वह तेल से असम्बद्ध है उसी प्रकार पट से भी असम्बद्ध है। फिर जैसे तिल से तेल उत्पन्न होता है वैसे पट भी उत्पन्न होना चाहिये। अर्थात् सबका सभी से सम्भव होना चाहिये। पर ऐसा असम्भव है। अतः—

"कार्यं कारणेन सम्बद्धम्, कारणे नियमेनाभिव्यज्यमानत्वात्"।

यही बात निम्न कारिका में भी कही गई है—

असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥

अर्थात् कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मानने पर तन्तु से ही पट उत्पन्न होता है। कपाल से नहीं। क्यों? इसका कोई उत्तर (व्यवस्था) नहीं रह जायगा।

प्रश्न है कि असम्बद्ध भी सत्कारण उसी कार्य को उत्पन्न करेगा जिसमें जो कारण शक्त रहेगा। जैसे पट-शक्ति से युक्त तन्तु पट को उत्पन्न करते हैं। और कारण की यह शक्ति कार्य को देखने से अनुमित हो जाती है—

"कपालं घटोत्पादनशक्तिमत् घटजनकत्वात्।

इसप्रकार अव्यवस्था नहीं रहेगी। अतः कार्य को असत् मानिये? उत्तर में कहते हैं—

४. शक्तस्यशक्यकरणात्—जिस कार्य में जो कारण शक्त है उस शक्त कारण का वही कार्य होगा। यदि कार्य असत् हो तो शक्ति का भी अभाव माना जायेगा। अतः—

"कारणगता शक्तिः अनागतावस्थकार्यसम्बद्धा, विद्यमानसत्पदार्थविषयकत्वात्, ज्ञानवत्।

इस अनुमान से कार्य सत् सिद्ध होता है। विकल्प से भी यही बात सिद्ध होती है—शक्त कारण में रहने वाली वह शक्ति सभी कार्यों में है या केवल शक्य कार्य में? यदि सभी कार्यों में है तब तो वही पहले की अव्यवस्था होगी। और यदि शक्यमात्र में है तो धर्मी के अविद्यमान रहने पर कैसे उसमें रहेगा? अर्थात् शक्ति में असत् कार्य-निरूपितत्व कैसे रहेगा?

यदि नैयायिक कहे कि शक्ति में ऐसा वैशिष्ट्य है कि वह कार्यानिरूपित भी किञ्चित् कार्य को उत्पन्न कर सकता है तब सांख्यवाले प्रश्न करते हैं कि वह शक्तिविशेष कार्य से सम्बद्ध है या असम्बद्ध? यदि सम्बद्ध है तो सम्बन्ध द्विष्ठ होता है। अतः आपको शक्ति और कार्य दोनों मानना पड़ेगा। और यदि असम्बद्ध है तो फिर सर्वसम्भव की अव्यवस्था आवेगी।

५. कारणभावाच्च—इसके अतिरिक्त हमारे मत में कार्य, कारण से भिन्न नहीं होता। फिर यदि कारण सत् है तो कार्य भी सत् मानिये। कार्य और (उपादान) कारण के अभेद में साधक निम्न अवीतानुमान है—

(क) पटः तन्तुभ्यो न भिद्यते तद्धर्मत्वात्। व्यतिरेक व्याप्ति है—

यद् यतो भिद्यते तत्तस्य धर्मो न भवति। यथा गौः अश्वस्य।

उपनय—धर्मश्चपटस्तन्तूनाम्। निगमन—तस्मान्नार्थान्तरम्।

(ख) पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते, उपादानोपादेयभावात्। यद्यस्मात् भिद्यते तयोर्न उपादानोपादेयभावः। यथा घटपटयोः।

उपादानोपादेयभावश्चतन्तुपटयोः तस्मात् न तन्तुपटयोर्भेदः।

(ग) १+२. तन्तुपटौ परस्परभेदानुयोगिनौ संयोगाप्राप्त्यभावात्। यौ परस्परभेदानुयोगिनौ तौ संयोगाप्राप्तिमन्तौ यथा कुण्डबदरौ, हिमवद्विन्ध्याचलौ। तन्तुपटौ न संयोगाप्राप्तिमन्तौ। तस्मात् तौ परस्परभेदानुयोगिनौ।

(घ) पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात् यद्यस्माद्भिन्नम् तस्य गुरुत्वान्तरकार्यं गृह्यते, यथा एकपलिकस्य स्वस्तिकस्यगुरुत्वकार्योऽवनतिविशेषात् द्विपलिकस्य स्वस्तिकस्य गुरुत्वकार्यावनतिविशेषोऽधिकः।

न च तन्तुगुरुत्वकार्यात् पटस्य गुरुत्वकार्याऽधिक्यं दृश्यते।

तस्मान्न तन्तुभ्यः पटः भिद्यते।

इस प्रकार पाँच अभेदसाधक अवीत अनुमान से उपादानकारण एवं कार्य में अभेद सिद्ध होता है। फिर कारण सत् है तो कार्य भी सत् ही होगा। तन्तु का ही धर्म-लक्षण एवं अवस्था परिणाम पट है।

यदि कोई कहे कि कारण एवं कार्य में क्रिया, निरोध, बुद्धि, व्यपदेश, अर्थक्रिया, एवं अर्थक्रियाव्यवस्थाभेद है। जैसे—

क्रियाभेद—पटः उत्पद्यते जब कहते हैं तो उस समय तन्तुः उत्पद्यते यह भी कह सकते है।

निरोधभेद—पटः नश्यति, तन्तुर्नश्यति।

बुद्धिभेद—अयं पटः, इमे तन्तवः।

व्यपदेशभेद—पटः, तन्तवः।

अर्थक्रिया—पट से प्रावरण, तन्तु से सीवन।

व्यवस्थाभेद—पट से ही प्रावरण तन्तु से नहीं। तन्तु से ही सीवन पट से नहीं। अतः इनके द्वारा कार्य एवं कारण में भेद सिद्ध होगा? तो उत्तर में सांख्य का कहना है कि ये हेतु ऐकान्तिक भेद को नहीं सिद्ध कर सकते। क्योंकि एक ही पदार्थ से तत्तत् विशेष धर्मों के आविर्भाव एवं तिरोभाव से आगन्तुक भेद प्रतीत होता है। जैसे कि कूर्म के अङ्ग जब निकलते हैं तो वे उसके शरीर से भिन्न मालूम पड़ते हैं और जब तिरोभूत हो जाते हैं तब अभिन्न। अतः कार्य सत् है। गीता में व्यास ने भी कहा है—
"नाऽसतोविद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।

(२३)

प्रश्न—What is the nature of Salvation? How it is attained?

उत्तर—"स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसः" "द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः" (सां० सू०)

"यः पुरुषस्यापवर्गउक्तः स प्रतिबिम्बरूपस्य मिथ्यादुःखस्य वियोग एव"। सां० प्र० भा०।

प्रकृति (बुद्धि) एवं पुरुष दोनों का अथवा किसी एक का दूसरे के प्रति उदासीन हो जाना ही अपवर्ग है। इस अपवर्ग के बारे में सांख्य ने दो दृष्टियों से विचार किया है। प्रथम स्थूल या सामान्य दृष्टि, द्वितीय है सूक्ष्म या पारमार्थिक दृष्टि।

स्थूलदृष्टि से यह व्यवहार होता है कि पुरुष का बन्धन है और पुरुष का ही मोक्ष होता है। सांख्य की प्रथम कारिका में दुःखत्रयभिघातात् का अर्थ है दुःखत्रयेण सह आत्मनः प्रतिकूलवेदनीयत्वाख्यनिष्ठसंयोगाद्धेतोः। त्रिविधदुःख बुद्धि का स्वाभाविक धर्म है। बुद्धि व्याप्य है, पुरुष व्यापक है। इस व्यापक पुरुष का प्रतिबिम्ब जब बुद्धि के कोने में पड़ता है तब पुरुष भ्रमवश बुद्धि की सत्ता को भूलकर प्रतिबिम्ब को प्रतिबिम्ब न समझकर आत्मा समझता है और चूँकि इस प्रतिबिम्ब में बुद्धि के समस्त धर्म आरोपित हो उठते हैं, उसी प्रकार जैसे कि खड्ग, मुकुट, तैल, मलिन दर्पणरूप भिन्न-भिन्न आधारों के धर्म मुखप्रतिबिम्ब में आरोपित हो उठते हैं। जैसे हम अविद्यावश खड्गादि आधारों को भूलकर उसमें प्रतिबिम्बित मुख को लम्बा, स्वच्छ, श्याम, मलिन देखकर दुःखी होते हैं, उसी प्रकार पुरुष भी बुद्धि के सुख-दुःख से सुखी-दुःखी आदि होता है।

सृष्टि तो होती है प्रकृतिपुरुष के संयोग से, परन्तु सुख-दुःखरूप जो भोग अर्थात् सुखाद्यात्मकविषयाकाराकारित चित्तवृत्ति जो बनती है वह बुद्धिपुरुषसंयोग से बनती है। और उसके मूल में है अविद्या (अहं प्रकृतिः)। चूँकि मोक्ष के लिये तत्त्व-साक्षात्कार आवश्यक है और उसकेलिये आवश्यक है भोग। इसलिये प्रकृति, महदादि-विशेषभूतपर्यन्त की सृष्टि करती है—

"इत्येष प्रकृति कृतो···परार्थ आरम्भः"। उसमें जड़ प्रकृति का कोई स्वार्थ नहीं है। वह उसी प्रकार पुरुष के मोक्षार्थ प्रवृत्त होती है जैसे दूध बछड़े की पुष्टि के लिये प्रवृत्त होता है—"वत्सविवृद्धिनिमित्तम्..."

जिसप्रकार सामान्यजन अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिये किसी क्रिया में प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार प्रकृति को भी यह उत्सुकता होती है कि प्रत्येक पुरुष मुक्त हो जाय। इसका कारण यह है कि प्रकृति भोग्य है। अतः जब तक पुरुष के द्वारा उसका भोग नहीं हो लेता तब तक वह उसीप्रकार अपना भोग कराने के लिये व्याकुल रहती है। जैसे कि कुलाङ्गना अपना उपभोग पति से कराने के लिये इच्छुक रहती है। प्रकृति का भोग है उसका साक्षात्कार। जैसे कुलाङ्गना भुक्त हो जाने पर विरत हो जाती है। उसी प्रकार प्रकृति अपना साक्षात्कार करा देने पर उदासीन हो जाती है। और पुरुष साक्षात्कार करके उदासीन हो जाता है। चूँकि प्रकृति अत्यन्त लज्जावती कुलाङ्गना के समान है अतः एकबार साक्षात्कार हो जाने पर फिर वह पुरुष के सामने अपना रूप नहीं प्रस्तुत करती। और पुरुष भी जब प्रकृति के २५ तत्त्वात्मक रूप को देख लेता है तब उसे ज्ञात होता है कि वह त्रिगुण है, मैं निर्गुण हूँ। यह परिणामनित्य है, मैं कूटस्थ नित्य हूँ। 'अतः अहं प्रकृतेर्भिन्नः' यही विवेकख्याति है। यह जब उत्पन्न हो जाती है तो हेय अनागत दुःख का हान हो जाता है और प्रारब्ध का भोग के द्वारा क्षय होता है, फिर पुरुष का कैवल्य हो जाता है।

किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो बन्ध और मोक्ष बुद्धि का होता है पुरुष का नहीं। वह तो सदैव मुक्त है, क्योंकि वह अपरिणामी है। क्लेश, कर्म, आशय और विपाक ही बन्धन हैं। ये अपरिणामी पुरुष में हो नहीं सकते। और चूँकि यह

निष्क्रय है इसलिये इसका संसरण होना भी असम्भव है। फिर जिसका संसरण और बन्धन नहीं है उसके मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरी बात यह है कि भोग है विषयाकाराचित्तवृत्ति और मोक्ष है स्वरूपाकाराचित्तवृत्ति। यह वृत्ति अर्थात् परिणाम चित्त का धर्म है। फिर विषयभोग भी चित्त में ही होता है। और तत्त्वसाक्षात्कार ज्ञान है, वह भी चित्त में ही होगा। विवेक ख्याति भी ज्ञान है, वह भी चित्त में होगी। विवेकख्याति का हान (निरोध=इयमपि हेया) भी चित्त ही करेगा। इस नाश से जन्य निरोधसंस्कार चित्त में ही होगा। निष्कर्ष यह है कि चित्त का ही बन्धन और मोक्ष होता है—

"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥"

पुरुष में उस बन्ध और मोक्ष को उपचरित समझना चाहिये। जैसे कि वास्तविक जय या पराजय सेना का होता है पर चूंकि सेना राजा के अधीन है अतः वह जय-पराजय राजा का समझा जाता है। उसी प्रकार विवेकाग्रह के कारण बन्ध और मोक्ष पुरुष का समझा जाता है।

चाहे किसी का भी मोक्ष मानिये। इस मोक्ष की दो अवस्थायें होती हैं।

(१) जीवन्मुक्ति—तत्त्वों का अदर्शन (अविद्या) ही बुद्धिपुरुषसंयोग का मूल है, जिससे भोग होता है। जब दर्शन—विद्या—विवेकख्याति से अदर्शन हट जाता है तो संयोग का अभाव हो जाता है। यह संयोग है अविवेकनिबन्धनतादात्म्य, जिससे क्लेश उत्पन्न होता है। क्लेश से उसके कर्माशय और उससे त्रिविपाक (जाति, आयु, भोग) होता है। किन्तु जब विवेकख्याति होजाती है तो इस अग्नि से कर्माशय का प्रसव सामर्थ्य दग्ध हो जाता है। और सञ्चितकर्म फिर अग्रिम जाति, आयु, और भोग देने में असमर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार धर्माधर्म, वैराग्यावैराग्य, ऐश्वर्याऽनैश्वर्य एवं अज्ञान के कारण जो बुद्धि अपने को बन्धन में डाले थी, वह ज्ञान से मुक्त हो गई। और पुरुष का जो अविवेकनिबन्धनतादात्म्य के नाते अहं कर्त्ता आदि भ्रम था वह समाप्त हो जाता है—

"एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्"।

और प्रकृति को पुरुष आसक्तिरहित होकर देखता है। इस अनासक्ति के कारण वह जीवनावस्था में जीवनयापनार्थ जो कुछ करता है उससे कर्माशय नहीं बनता। इस प्रकार संचित और क्रियमाण कर्मों की शक्ति क्षीण हो जाती है। तथापि प्रारब्ध कर्मों के कारण जो शरीर धारण किया है उसका तो फल भोग करना ही पड़ेगा। अतः तत्त्वसाक्षात्कार के बाद अविद्यात्मक बुद्धिपुरुषसंयोग हट जाने पर पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है। और प्रकृति से संयोग रहने पर भी उसके भोग को वह तुच्छ समझता है और इस प्रकार सृष्टि से उसको कोई मतलब नहीं रहता—"दृष्टामयेऽत्युपेक्षकः—प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य"। तथा केवल प्रारब्धकर्माशयवश शरीर को धारण किये रहता है जैसे क चक्र एकबार घुमा दिये जाने पर संस्कारवश कुछ देर तक घूमता रहता है। यही असम्प्रज्ञात समाधि की दशा है—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

(२) विदेहमुक्ति—किन्तु जब प्रारब्धकर्मों का भोग समाप्त हो जाता है तब चित्त चूंकि यह साधिकार नहीं है अतः प्रकृति में लीन हो जाता है। और फिर न तो चित्त-पुरुष के संयोग की सम्भावना रहती है, न पुनः शरीर धारण करने की। इस प्रकार योगी का

शरीरपात हो जाता है। और वह आत्यन्तिक और ऐकान्तिक दोनों कैवल्यों को पाजाता है। प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ। ऐका···उभयं कैवल्यमाप्नोति"। यही है विदेह मुक्ति।

दुःखत्रय की ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्तिरूप इस मुक्ति के लिये प्रत्येक दर्शनों की भाँति सांख्य का भी कहना है कि तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है।

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञः यत्रतत्राश्रमेरतः। जटीमुण्डीशिखीवाऽपि मुच्यते नात्र संशयः॥

दृष्ट उपायों जैसे आयुर्वेद, नीतिशास्त्र का अध्ययन, मनोज्ञस्त्री, पान आदि के द्वारा दुःखों की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति सम्भव नहीं है। आनुश्रविक अर्थात् कर्मकाण्ड यज्ञादिजन्य पुण्य से भी उक्त मुक्ति की प्राप्ति नहीं मानी जा सकती। वह (आनुश्रविक) अविशुद्धि, क्षय, एवं अतिशय से युक्त है। इसप्रकार ईश्वरकृष्ण का भी यही कहना है कि इन दोनों से विपरीत व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ के विवेक ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है—

"तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।"

व्यक्त-अव्यक्त और ज्ञ को इस प्रकार समझना चाहिये।

पहले व्यक्त का ज्ञान करना चाहिये। ज्ञान का मतलब है साक्षात्कार। यमनियम आदि अष्टांगयोग के द्वारा जब चित्त एकाग्र होता है तब पहले स्थूल ५ महाभूत का साक्षात्कार होता है फिर तन्मात्र का। यह ग्राह्यसमापत्ति है। फिर इन्द्रिय से लेकर क्रमशः प्रकृति तक का साक्षात्कार होता है। यह ग्रहणसमापत्ति है। और जब पुरुष का साक्षात्कार हो जाता है तब ग्रहीतृसमापत्ति--कहलाती है। इसी प्रकार स्थूल तत्त्वों का साक्षात्कार सवितर्क सूक्ष्म का सविचार समापत्ति हैं। इनके साक्षात्कार से जो आनन्द होता है वह भी सानन्द नामक एक समाधि है और पुरुष का साक्षात्कार सास्मिन समाधि है। इसके बाद विवेकख्याति का त्यागरूप वैराग्य होता है और असम्प्रज्ञात समाधि होती है। फिर योगी मुक्त हो जाता है। यह क्रमिक साक्षात्कार उसके लिये है जो योग का अभ्यास करता है। परन्तु यदि किसी सिद्ध महात्मा आदि की कृपा हो जाय तो अक्रमिक साक्षात्कार भी हो सकता है। जो भी हो; तत्त्वसाक्षात्कार ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

"लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत्" सां० सू० जिसका ज्ञान अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया है; ऐसे महापुरुष के संग से भी कोई व्यक्ति विवेक का निष्पादन करसकने में समर्थ होता है। जिस प्रकार अलर्क नृप ने महायोगी दत्तात्रेय के संग से विवेक प्राप्त किया।

(२४)

प्रश्न—Point out the arguments that prove the manyness of पुरुष. Discuss the nature of them in brief. A.

उत्तर—'संघातपरार्थत्वात्···'के द्वारा प्रकृत्यादि से व्यतिरिक्त पुरुष की सत्ता को सिद्ध करने के बाद यह प्रश्न उठता है कि पुरुष सभी चेतन शरीरों में एक है या प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न है? इस प्रकार "आत्मा क्षेत्रभेदनियमस्वसजातीयप्रतियोगित्वभेदवान् न वा" ऐसा एकधर्मिकविरुद्धकोटिद्वयावगाहिज्ञानरूपसंशय होने पर ईश्वरकृष्ण ने सांख्य-सम्मत पुरुषबहुत्व को निम्न कारिका से सिद्ध किया है—

"जननमननकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव" ॥

पुर अर्थात् शरीर में शयन करनेवाले या पुर-फल—को प्राप्त करनेवाले पुरुष प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न हैं। एतद्विषयकअनुमान में निम्न हेतु हैं—

(१) जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्—निकाय (समूह) विशिष्ट एवं अपूर्वदेह, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि एवं वेदना (सुखाद्यनुभव) के साथ पुरुष का विलक्षण संयोग ही पुरुष का जन्म है। न कि पुरुष का परिणाम पुरुष का जन्म है क्योंकि वह अपरिणामी है। और इन्हीं प्राप्त देहादि का परित्याग ही पुरुष की मृत्यु है, न कि आत्मा का विनाश (जैसा कि चर्वाक मानते हैं), क्योंकि पुरुष कूटस्थ नित्य है। करण से तात्पर्य मन, अहंकार, बुद्धि-अन्तःकरणों तथा दश इन्द्रियों से है। इन जन्म-मरण एवं करणों की एक व्यवस्था है। अर्थात् प्रत्येक शरीर में इनकी स्थिति भिन्न-भिन्न है। यह भिन्नता तभी सम्भव है यदि प्रत्येक शरीर में पुरुष भिन्न २ माने जाँय। यदि एक ही पुरुष माना जायगा (जैसा कि वेदान्त मानता है)। तो वही पुरुष यदि शरीरादि से सम्बद्ध होगा तो सभी शरीरों से होगा। अतः सबका एक साथ जन्म होगा। इसी प्रकार यदि उसका शरीरादि से विच्छेद होगा तो सभी की एक साथ मृत्यु होगी। इसी प्रकार यदि एक पुरुष को (भले ही औपचारिक हो तथापि) यह प्रतीति होती है कि 'अहं अन्धः' तो सभी को यह प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु उक्त बातें व्यवहार में नहीं देखी जाती। अतः प्रतिशरीर पुरुष भिन्न २ हैं और अलग २ सबका जन्म, मरण एवं करणत्व, वधिरत्व आदि की प्रतीति होती है।

यदि यह कहा जाय कि (वेदान्त के समान) एक ही पुरुष में तत्तत् शरीररूप उपाधि के भेद से जनन-मरणादि पृथक् प्रतीत होते हैं। वस्तुतः पुरुष एक ही है तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि तब तो एक ही शरीर में पाणि एवं स्तन आदि के भेद से भी जनन-मरण व्यवस्था होनी चाहिये। अर्थात् युवती के हाथ कट जाने पर युवतिर्मृता यह प्रतीति एवं स्तन के उत्पन्न होने पर युवतिर्जाता यह प्रतीति होनी चाहिये पर ऐसा नहीं होता। उसी प्रकार शरीर के भेद से एक ही पुरुष में भेद सम्भव नहीं है। अतः यह अनुमान होगा कि—

"पुरुषः स्वानुयोगिवृत्तित्वस्वप्रतियोगिवृत्तित्वोभयसम्बन्धेनभेदविशिष्टासाधारण धर्मवान्, स्वप्रतियोगिताश्रयावच्छेद्यबुद्धिप्रतिविम्बितत्वसम्बन्धेन शरीर-भेदवत्वात् जननमरणकरणभेदवत्वाच्च"।

(२) अयुगपत् प्रवृत्तेश्च—यद्यपि निष्क्रिय होनेसे प्रवृत्ति, पुरुष का धर्म नहीं है, तथापि स्वस्वामिभावसम्बन्ध के द्वारा बुद्धिगत इस धर्म का पुरुष में आरोप हो जाता है। इसप्रकार किसी भी काम के लिये सभी की एकसाथ प्रवृत्ति न देखकर अनुमान होता है कि—

"प्रत्येकशरीराणि, विभिन्नपुरुषाधिष्ठेयानि, अयुगपत् प्रवृत्तिमत्वात्"।

इसप्रकार अयुगपत् प्रवृत्ति की व्यवस्था पुरुष के नानात्व मानने पर ही सम्भव है।

(३) त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव—इसके अतिरिक्त यह भी दिखाई देता है कि मनुष्यों या समस्त चेतन में त्रैगुण्यविपर्यय है। कुछ लोगों में सत्त्व अधिक है जैसे योगी लोग। कहीं रजस् अधिक है, जैसे सामान्य मनुष्य और तिर्यक् योनिवाले तमोबहुल हैं। यदि एक ही पुरुष मान लिया जाय तब तो सबमें एक ही गुण रहना चाहिये। पर ऐसा है नहीं अतः अनुमान होता है—"पुरुषः प्रतिशरीरं भिन्नः एकदैव प्रत्येकप्रधानगुणान्यतमाधिकरण तयोपचर्यमाणत्वात्"—

इसप्रकार अनुमानपूर्वक उक्त कारिका के द्वारा पुरुषबहुत्व की सिद्धि की गई। व्यक्ताव्यक्तविज्ञानात् के अनुसार पुरुष का विज्ञान दुःखत्रयाभिघातार्थ आवश्यक है और वह विवेकज्ञान पुरुष के स्वभाव को जाने बिना नहीं हो सकता। अतः पुरुष के धर्मों को भी निम्न कारिका में बताया है—"तस्माच्चविपर्यासात्······"

तस्माच्च विपर्यासात्—पद का संकेत ११वीं कारिका के पूर्वार्द्ध के विपर्यास से है। इस प्रकार पुरुष—

अत्रिगुण (निर्गुण) विवेकी=असंहत्यकरी, अविषयी, असाधारण=पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व वाला, चेतन एवं अप्रसवधर्मी है। इन्हीं के द्वारा उसका कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व एवं अकर्तृभाव सिद्ध होता है। इनमें चेतनत्व और अविषयत्व के द्वारा पुरुष का साक्षित्व और द्रष्टृत्व समझना चाहिये। जो चेतन होगा वही द्रष्टा होगा न कि अचेतन, एवं जो दर्शितविषय होता है अर्थात् जिसको विषय दिखाया जाता है, वही साक्षी होता है।

"साक्षात् सम्बन्धात् साक्षित्वम (सां० सू० १–१६१)। जैसे लोक में वादी-प्रतिवादी अपना विवाद-विषय साक्षी को दिखाते हैं उसी प्रकार बुद्धिरूपेण परिणत प्रकृति भी अपना चेष्टितविषयसमूह अपने सन्निहित पुरुष-प्रतिबिम्ब को दिखाती है अर्थात् भोगार्थ समर्पित करती है। इस प्रकार पुरुष साक्षी अर्थात् समर्पित का ग्रहीता भी है। जो अचेतन होगा अथवा जो स्वतः विषय होगा उसको विषय नहीं दिखाया जा सकता। चूँकि पुरुष चेतन है और विषय नहीं है। अतः वह साक्षी है और द्रष्टा है। इस प्रकार— "पुरुषः साक्षी चेतनत्वात्। पुरुषः द्रष्टा अविषयत्वात्" यह अनुमान भी हो जाता है।

चूँकि पुरुष अत्रिगुण है। अतः उसका कैवल्य भी अनुमित हो जाता है—

"पुरुषः कैवल्ययोगी अत्रिगुणत्वात्"

कैवल्यं कहते हैं आत्यन्तिक दुःखत्रायाभाव को अर्थात् स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंस ही कैवल्य है और यह कैवल्य पुरुष का स्वभाविक है। वह सदैव मुक्त है। बन्ध और मोक्ष बुद्धि का होता है। "तस्मान्न बध्यतेऽद्धा···"

"द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।

चूँकि यह अत्रिगुण है अतः मध्यस्थ भी है। त्रिगुण का परिणाम है सुख दुःख मोह। जो सुख से तृप्त होकर सुख ग्रहण का पक्षपाती होगा या दुःख से उद्विग्न होकर उसे हटाना चाहेगा वह मध्यस्थ—उदासीन अर्थात् उपेक्षक नहीं हो सकता। उपेक्षक वही होगा जो सुख-दुःख से परे हो और यह परत्व तभी सम्भव है जब त्रिगुणत्व का अभाव हो।

चूँकि पुरुष विवेकी है अर्थात् सम्भूयकारिता उसमें नहीं है और वह अप्रसवधर्मी अर्थात् परिणामशून्य है अतः वह अकर्त्ता माना जाता है। बुद्धि का कर्तृत्व उसमें आरोपित होता है। वस्तुतः कर्तृत्व त्रिगुण में है।

तस्मात्तत्संयोगात्······गुण कर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।

इस प्रकार—कैवल्य माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व, साक्षित्व एवं अकर्तृभाव पुरुष में है यह जानना चाहिये। साथ-साथ "तद्विपरीतस्तथाचपुमान्" कारिका पर ध्यान देना चाहिये, जो इस बात की तरफ संकेत करती है कि पुरुष में यद्यपि अत्रिगुणत्व, विवेकित्व आदि व्यक्ताव्यक्त के विपरीत धर्म हैं तथापि पुरुष कुछ अंश में अव्यक्त धर्मवान् है यथा अहेतुमत्त्व नित्यत्व, व्यापकत्व, निष्क्रियत्व, अनाश्रितत्व, अलिङ्गत्व, निरवयवत्व, स्वतन्त्रत्व और कुछ अंश में वह व्यक्त धर्मवान् भी है जैसे अनेकत्व।

पारिभाषिक-शब्दानुक्रमणिका

अकर्तृभावः—एष सप्तविधो भवति, आत्मा विषयेषु स्वान्तःकरणसान्निध्ये अध्यवसायं न कुरुते। गुणैः सह कार्यं न कुरुते। स्थितप्रयोगं न कुरुते। न स्वात्मनः, न परतः, नापि आदेशात्, न उभयतः कार्यं कुरुते। 'नाध्यवसायं कुरुते पुरुषो नैव स्थितिं प्रयोगं वा। न स्वात्मनो न परतो न व्यपदेशान्न चोभयतः॥'

अचेतनम्—स्वप्रकाशचेतनाद्भिन्नम्। व्यक्तं तथा प्रधानम् अनवभासकत्वात् अचेतनम्

अतीतम्—दृष्टविषयमदृष्टविषयमिति द्विविधम्। दृष्टविषयम्प्रत्यभिज्ञानम्। अदृष्टविषया स्मृतिः, सा च स्मृतिर्लिङ्गागमाभ्यामकस्माद् वा भवति।

अद्धा न कश्चित् पुरुषो बध्यते—वस्तुतः कश्चित् पुरुषो बद्धो न भवति,

अधिकरणम्—सांख्यस्य अधिकरणानि पञ्च भवन्ति—प्रकृतिविकारवृत्तम्, कार्यकारणवृत्तम्, अतिशयाऽनतिशयवृत्तम्, निमित्त-नैमित्तिकवृत्तम्, विषयविषयिवृत्तम् इति।

अध्यवसायः—गौरेवाऽयम्, पुरुषएवाऽयमिति यः प्रत्ययो निश्चयः।

अनुमानम्—वीताऽवीतभेदेन द्विविधम्—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टमिति।

अनुश्रवः—मन्त्रब्राह्मणं यावदनुश्रूयमाणम्। अनुश्रूयत इति अनुश्रवो वेदः। यथाश्रुतिनिबन्धनाः स्मृतयः,।

अनैकान्तिकत्वम्—नियमेन अवश्यंभावित्वाऽभाववत्त्वम्।

अन्तःकरणम्—मनोऽहङ्कारबुद्धयः। मायावादिनां मते अन्तःकरणं चतुर्विधम्। तदुक्तम्—मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्। संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे॥ 'यदा तु संकल्पविकल्पकृत्यं तदाभवेत्तन्मन इत्यभिख्यम्। स्याद्बुद्धिसंज्ञं च यदातुवेत्ति सुनिश्चितं संशयरूपहीनम्॥ अनुसंधानरूपं तच्चित्तं च परिकीर्तितम्। अहंकृत्यात्मवृत्त्या तु तदहंकारतां गतम्।' (वाचस्पत्य).

अन्तःकरणत्रयम्—मनोबुद्ध्यहंकारभेदात् अन्तःकरणं त्रिविधम्। तच्च त्रिकालविषयम्।

अन्तःकरणत्रयस्यवृत्तयः—शरीराभ्यन्तरवर्तिनः प्राणापानसमानोदानव्यानेति पञ्च वायवः।

अन्तकरणवृत्तिः—असामान्या सामान्या चेति द्विविधा। महतोऽध्यवसायः, अहङ्कारस्याऽभिमानः, मनसः सङ्कल्प इत्यसामान्या वृत्तिः। प्राणाद्याः पञ्च वायवः इति सामान्यवृत्तिः।

अन्तःकरणानां बुद्ध्यहंकारमनसां वायुविषयः—(१) दिव्य-प्राणः, (२) अदिव्यः प्राणः, (३) दिव्यः अपानः, (४) अदिव्यः अपानः, (५) दिव्यः समानः, (६) अदिव्यः समानः, (७) दिव्य उदानः, (८) अदिव्य उदानः, (९) दिव्यो व्यानः, (१०) अदिव्यो व्यानः।

अपवर्गः—आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिरपवर्गः। निवृत्तेरात्यन्तिकत्वं नाम निवर्त्यसजातीयस्य पुनस्तत्रानुत्पादः। ज्ञानेन प्रकृतिपुरुषयोर्विभिन्नत्वज्ञानेन अपवर्गः जीवन्मुक्तिः, देहपाते तु विदेहकैवल्यम्। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये, अथ सम्पत्स्ये॥ इति श्रुतेः। त्रिविधो मोक्षः इति भाष्योक्तेः अपवर्गोऽपि त्रिविधः। तथाहि—आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्। कृच्छ्रक्षयात्तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥ कृच्छ्रक्षयोनाम सर्वत्र वासनोच्छित्तिः, यत्रासंप्रज्ञातसमाधेर्हेतुता।

अपानः—वायुः। अपक्रमणादपानः, यो वायुः मूत्रपुरीषादीन् अधो नयति। मलादेरधो नयनादपानः। (दिनकरी) गुदादीनामथ उन्नयनादपानः। (सिद्धान्तचन्द्रोदय)।

अपार्थः—व्यर्थः ।

अपूर्वज्ञानम्—ऊहः, शब्दः, अध्ययनं चेति ।

अप्रकृत्यविकृतिः—पुरुषो हि न कस्माच्चिदुत्पद्यते, नापि पुरुषात् किञ्चिदुत्पद्यत इति सः अप्रकृत्यविकृतिः । 'तत्त्वान्तरानुपादानत्वे सति तत्त्वान्तरानुपादेयत्वम् ।'

अभिघातः—अभिहन्यतेऽनेन । बन्धजनकसंयोगः, प्रतिकूलवेदनीयत्वमितियावत् । शब्दजनकसंयोग इति नैयायिकाः ।

अभिनिवेशः—अन्धतामिस्रः । सोऽयमष्टादशधा भवति । अणिमादिकमष्टविधमैश्वर्यमासाद्य दश शब्दादीन् उपभुञ्जानोऽभिनिविशते भयम् ।

अभिनिवेशभेदाः—अणिमादीनि अष्टौ ऐश्वर्याणि, दिव्यादिव्यभेदेन शब्दादयोदश विषयाः, इति अष्टादश विषयान् प्राप्य कदाचिदेतान् असुरा मापहार्षुः'—अर्थात् एतैर्वियोगो माभूत् इति देवानां भयं जायते । तथाच—भयरूपाऽभिनिवेशविषयाणामणिमशब्दादीनामष्टादशत्वात् तद्विषयकभयरूपाभिनिवेशस्यापि अष्टादश भेदा भवन्ति ।

अभिमानः—अहंकारः । धर्मस्याभिमानस्य धर्मिणश्चाहंकारस्याभेदविवक्षयाऽभिमानोऽहंकार इत्युच्यते । अभिमानवान्-अहंकार इतियावत् ।

अम्भः—तुष्टिभेदः ।

अर्थतः—पुरुषार्थवशात् ।

अर्थम्—भोगापवर्गात्मकं प्रयोजनम् ।

अवगाहते—विषयीकरोति । अवगाहनमत्र न विलोडनं किन्तु बुद्धिकर्माध्यवसायपर्यवसायीत्यतः अध्यवस्यतीत्यर्थः ।

अवयवः—(द्रव्यावयवः) द्रव्यस्य समवायिकारणम् (तर्कसंग्रहदी०) यथा कपालं घटस्य अवयवः, तन्तुश्च पटस्यावयवः सचावयवः परमाणूनारभ्य कपालपर्यन्तं तन्तुपर्यन्तं चानेकधा । (न्यायावयवः) साधनीयस्यार्थस्य यावति शब्द-समूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पंचावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्यन्ते । तेचावयवाः पञ्च—प्रतिज्ञा, हेतुः, उदाहरणम्, उपनयः, निगमनं चेति । (गौतमः)

अवयवाः—दश । वीतस्य अवयवाः—जिज्ञासा-संशय-प्रयोजन-शक्यप्राप्ति-संशयव्युदासा व्याख्याङ्गम् । प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त-उपसंहार-निगमनानि परप्रतिपादनाङ्गम् ।

अवस्थापरिणामः—घटपटादिपदार्थानां नव पुराणानि रूपाण्येव अवस्थापरिणामशब्देनोच्यन्ते ।

अविकृतिः—अविकारः, अनुपाद्यः । अन्यस्य कस्यचिद् विकारो न, कस्यचित् कार्यं न भवतीतियावत् ।

अविघातः—विघातः, प्रतिहननम्, तदभावः अप्रतिहननम्, इच्छायाः सर्वत्राविघातः । यदेवेच्छति तदेव करोतीतियावत् ।

अविद्या—तमः । अविद्या विपर्ययेण यदवधार्यते वस्तु अस्मितादयस्तत्स्वभावाः सन्तस्तदभिनिविशन्ते । तमसोऽष्टविधो भेदः—अव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेष्वनात्मसु आत्मबुद्धिः, अष्टविधविषयत्वात् । सेयमविद्या पञ्चपर्वाऽप्युच्यते ।

अविद्या—ज्ञानाभावः । (न्याय) विद्याविरोधी भावपदार्थः । (वेदान्त) 'अनात्मनि च देहादावात्मबुद्धिस्तु देहिनाम्' अविद्या । (योग) यदेवपररूपादर्शनं सैवाविद्या । (शांकर) असत्प्रकाशनशक्तिरविद्या । (शांकर) दूरत्वपित्तदोषेत्यादीन्द्रियदोषजन्यो बुद्धिविशेषः—(अयथार्थबुद्धिः)—[वैशेषिक]

अविद्याभेदाः—अव्यक्तमहत्तत्त्वाहंकारशब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेत्यष्टतत्त्वेषु आत्मबुद्धिरूपा अविद्या । साचाष्टविधाभवति ।

अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य—प्रलयकाले निखिलस्य कार्यस्य तिरोभावात् ।

अविविदिषा—वेत्तुमिच्छाया निवृत्तिः ।

अविशुद्धिः—हिंसा, प्राणिनामिष्टशरीरव्यापादनात् । योऽसौ हिंसानिमित्तकः कारुण्यान्मनसि परिताप उत्पद्यते सा अविशुद्धिरत्राभिप्रेता । संशय-विपर्ययावपि अविशुद्धिशब्देनोच्येते ।

अविशेषः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि तन्मात्राणि सूक्ष्माणि अविशेषपदेनोच्यन्ते । अभिव्यक्तशान्तघोरमूढत्वशून्यत्वमविशेषत्वमितियावत् ।

अवीतम्—अनुमानम्। व्यतिरेकव्याप्तिहेतुकम्। न वीतम् अवीतम्।

अव्यक्तम्—मूलप्रकृतिः—अव्यक्तम्। सत्त्वादि रूपेणनिरूप्यमाणे व्यक्तिरस्य नास्तीति प्रधानमव्यक्तमित्युच्यते। रूपादिहीनतया चक्षुराद्यगोचरत्वात् प्रधानस्य अव्यक्तपदवाच्यता।

अव्यक्तम्—अङ्गभावमगच्छतां निर्लिखितविशेषाणां गुणानामवस्थितिः।

अव्यक्तम्—मूलप्रकृतिः।

अव्यक्त धर्माः—अहेतुमत्त्वम् (कारणशून्यत्वम्), नित्यत्वम्, व्यापकत्वम्, निष्क्रियत्वम्, एकत्वम्, अनाश्रितत्वम्, अलिङ्गत्वम्, निरवयवत्वम्, स्वतन्त्रत्वम् इति अव्यक्तस्य नव धर्माः।

अव्यापि—असर्वगतम्।

अशक्तिः—इन्द्रियादिकरणानामसाध्यम्। एकादशानामिन्द्रियाणां विघातादेकादश बुद्धेरशक्तयो भवन्ति, नव तुष्टीनामष्टसिद्धीनाञ्च वैपरीत्यात्सप्तदश भवन्ति चेतिमिलित्वाऽष्टाविंशत्यशक्तयो भवन्ति।

अशक्तिः—करणवैकल्यादसामर्थ्यम्। इयमेव वधशब्देनोच्यते। बाह्यकरणवैकल्यं मनसा सह एकादशविधम्, सप्तदशविधं च बुद्धिवैकल्यं इत्यष्टाविंशतिभेदाऽशक्तिर्भवति।

अशक्तिभेदाः—एकादश इन्द्रियवधाः, नव तुष्टयः, अष्टौ सिद्धयः इति अष्टाविंशतिधा अशक्तयः। मन्दता, अन्धता, बधिरता, अजिघ्रता, कुण्ठता, मूकता, कौण्यम्, पङ्गुता, क्लैब्यम्, उदावर्त इत्येकादश इन्द्रियवधजन्या अशक्तयः। प्रकृतिविपरीता, उपादानविपरीता, कालविपरीता, भाग्यविपरीता, पारविपरीता, सुपारविपरीता, पारापारविपरीता, अनुत्तमांभोविपरीता, उत्तमांभोविपरीता, अध्ययनविपरीता, शब्दविपरीता, ऊहविपरीता, सुहृत्प्राप्तिविपरीता, दानविपरीता, आध्यात्मिकदुःखनाशविपरीता, आधिभौतिकदुःखनाशविपरीता, आधिदैविकदुःखनाशविपरीता इति सप्तदश बुद्धिवधजन्याः, मिलित्वा अष्टाविंशतिधा अशक्तयः।

अष्टधा—अष्टविधम्।

अष्टौ—अष्टसंख्याकाः सिद्धयो भवन्ति।

अष्टौ प्रकृतयः—शब्दादीनि पञ्चतन्मात्राणि, महत्तत्त्वम्, मूलप्रकृतिः, अहंकार इत्यष्टौ प्रकृतयः। 'खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा।' अव्यक्तं, महान्, अहंकारः, पञ्चतन्मात्राणि—इत्यष्टौ। (चरक)

असदकरणात्—असतोनृशृङ्गतुल्यस्य प्रागविद्यमानस्य अकरणात् उत्पादनासंभवात्। व्यतिरेकव्याप्तिमन्तर्भाव्य प्रयुक्तोऽत्र हेतुः। यद् असत् तत् अकरणम्, यथा नृशृङ्गम्। असतः कर्तुमशक्यत्वात् इति यावत्।

असम्बन्धः—अविद्यमानसम्बन्धः, अयुक्तसम्बन्धो वा।

अस्मिता—मोह इति यावत्। सेयमष्टविधा, अष्टविधैश्वर्यविषयत्वात्।

अस्मिता—सत्त्वपुरुषयोरहमस्मीत्येकताभिमानः। 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता' (यो० सू०)

अस्मिताभेदाः—अणिमादिकमस्माकं सदातनमैश्वर्यमित्यभिमानरूपा अस्मिता। अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, वशित्वम्, ईशित्वमित्येवं सिद्धीनामष्टत्वात् तद्विषयिण्या अस्मितताया अपि अष्टविधत्वम्।

अहङ्कारः—कर्तुः स्वात्मप्रत्यवमर्शात्मको योऽयमहमिति प्रत्यय उत्पद्यते स खल्वहङ्कारः। स चायं वैकारिक-तैजस-भूतादिभेदेन त्रिविधः।

अहङ्कारवृत्तिः—'अहमत्राधिकृतः' इत्यभिमानः अहंकारस्य वृत्तिः। स चाहंकारः सात्त्विकराजसतामसभेदात् त्रिविधः।

आकूतम्—अभिप्रायः, सङ्कल्पः, इच्छा।

आत्यन्तिकम्—अविनाशि।

आधिदैविकं दुःखम्—शीतोष्णवातवर्षाऽशन्यवश्यायाऽवेशनिमित्तम्। यक्षराक्षसपिशाचादिभिर्यद् दुःखं जायते तदाधिदैविकम्। देवान् अग्निवाय्वादीन् अधिकृत्य निर्वृत्तमिति व्युत्पत्तिः।

आधिभौतिकं दुःखम्—मनुष्यपशुपक्षिसर्पादिभिर्यद् दुःखं जायते तदाधिभौतिकम्। भूतानि-

व्याघ्रसर्पादीनि अधिकृत्य जातमिति व्युत्पत्तिः ।

आध्यात्मिक दुःखभेदो—आध्यात्मिकं दुःखं द्विविधं शारीरं मानसंचेति । तत्र शरीरे वातपित्तकफानामपचयोपचयाभ्यां यज्ज्वरादिदुःखं जायते तच्छारीरम् । यच्च मनसि काम-क्रोध-लोभ-मोह-भयेर्ष्याविषादादिभिर्दुःखमुत्पद्यते तन्मानसम् । आत्मानं मनः शरीरादिकमधिकृत्य भवमिति व्युत्पत्तिः ।

आध्यात्मिक्यः—प्रकृतिभिन्नम् आत्मानमधिकृत्य भवन्ति सन्तोषाख्या अध्यवसायात्मिक्यो वृत्तयः ।

आनुश्रविकः—अनुश्रवे भवः, वैदिकइत्यर्थः ।

आप्तः—अपगतरागादिदोषः, असन्दिग्धमतिः, अतीन्द्रियार्थद्रष्टा, ईश्वरमहर्षिप्रभृतिर्जनः, यथार्थवक्ता ।

आप्तश्रुतिः—आप्तवाक्यम् । आप्तेभ्यः श्रुतिः अपुरुषबुद्धिपूर्वक आनायः स पुरुषनिःश्रेयसार्थम्प्रवर्तमानो निःसंशयम्प्रमाणम् । मन्वादिनिबन्धनानां च स्मृतीनां वेदाङ्गतर्केतिहासपुराणानां शिष्टानां नानाशिल्पाभियुक्तानां चादुष्टमनसां यद् वचस्तत् प्रमाणम् ।

आश्रितम्—आधेयम् ।

इन्द्रियम्—बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च मनश्चेत्येकादश ।

इन्द्रियम्—सात्त्विकाहंकारोपादनत्वम् । इन्द्रस्य प्रत्यगात्मनो लिङ्गमनुमापकम् । इन्द्र+घ ।

इन्द्रियवधः—एकादशेन्द्रियाणामशक्तिरसामर्थ्यं वा वैकल्याद् भवति । स्वसंस्कारविषययोगात् प्रकर्षापन्नेन तमसा ग्रहणरूपस्य सत्त्वस्य अभिभवात् स्वविषयेष्वप्रवृत्तिः । एकादशविधोऽयं वधः । तथाहि—बाधिर्यमान्ध्यमन्धत्वं मूकता जड़ता च या । उन्मादकौष्ठकौण्यानि क्लैब्योदावर्तपङ्गुताः ।

इन्द्रियवृत्तिः—इन्द्रियाणां व्यापारः शब्दादिषु विषयेषु आलोचनमात्रमिति पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां वृत्तिः । वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिः ।

इन्द्रियादिसंघातस्य स्वामी—सांख्यदर्शने इन्द्रियादिसंघातस्य अध्यक्षपदे बुद्धितत्त्वमेवाभिषिक्तमस्ति । नैयायिकानामिव आत्मा अध्यक्षो नास्ति । सर्वं ज्ञानं बुद्धावेवतिष्ठति, आत्मनस्तत्र छायामात्रं पतति साक्षात्सम्बन्धस्य ज्ञानं भ्रान्तिरूपमेव । अतः बुद्धिरेव प्रधाना ।

उत्तमाभयम्—तुष्टिभेदः । उपभोगार्थेन अवश्यमन्योपघातः कार्यो निहितदण्डेन वा विषयोपभोगस्त्याज्य इत्येतस्माद् दर्शनान्माध्यस्थ्यं लभते, सा नवमी तुष्टिरुत्तमाभयमित्युच्यते ।

उदासीनः—उपेक्षकः कृतिरहितः आत्मा ।

उपभोगः—विषयसेवनजन्यसुखविशेषः ।

उपष्टम्भः—प्रयत्नः ।

उपादानग्रहणात्—उपादानं कारणं तस्य ग्रहणात् ।

उभयात्मकं मनः—ज्ञानेन्द्रियाणां प्रवर्तकत्वात् ज्ञानेन्द्रियम् । कर्मेन्द्रियाणां प्रवर्तकत्वात् कर्मेन्द्रियमपि ।

ऊर्ध्वसर्गः—प्रथमः ऊर्ध्वसर्गोऽस्ति, यत्र 'भुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यम्' इति षट् लोका भवन्ति । अत्र च सत्त्वगुणस्य प्रधानता वर्तते । रजस्तमसी च गुणभावेन तिष्ठतः । मध्यसर्गः अस्मिन् सर्गे रजोगुणस्य प्रधानता तिष्ठति । सत्त्वतमसी च गुणभावेन तिष्ठतः । अतएवायं दुःखबहुलोऽस्ति । अस्य गणनायां सम्पूर्णो भूलोकोऽस्ति, यत्र सप्तद्वीपाः सप्त समुद्राश्च सन्ति ।

मूलसर्गः—मूलसर्गो जीवस्य नीचगतेः सर्गोऽस्ति । अस्मिन् तमोगुणस्य प्रधानता भवति । सत्त्वरजसी गुणभावेन तिष्ठतः । अतएवायं मोहमयो भवति । अस्य गणना पशुतो वृक्षपर्यन्तम् अस्ति । तदित्थं भौतिकः सर्गः चैतन्योत्कर्षनिकर्षतारतम्याभ्याम् ऊर्ध्वादिभावेन त्रिविधो जायते ।

एकः—विवेकी ।

एकादश इन्द्रियवधाः—इन्द्रियदोषाः । मन्दता, अन्धता, बधिरता, अजिघ्रता, जडता, कुण्ठिता, मूकता, कौण्यम्, पङ्गुता, क्लैब्यम्, उदावर्तम् । इन्द्रियाणां स्वस्वकार्याक्षमत्वमिन्द्रियवधत्वम् ।

एकान्तः—नियमेन भावः ।

एकेन्द्रियसंज्ञा—विरागभेदः विपरिपक्वसर्वेन्द्रियः संकल्पमात्रावस्थितकषायो यदा भवति तदा विरागस्य एकेन्द्रियसंज्ञा भवति। निवृत्तसर्वेन्द्रियविषयेच्छस्य यतेरेकमेव मनोलक्षणमिन्द्रियं तदा परिपक्वं भवति।

एषः प्रत्ययसर्गः—विपर्ययश्च अशक्तिश्च तुष्टिश्च सिद्धिश्च आख्याः नामानि यस्य तादृशः एषः गणः प्रत्ययसर्गः बुद्धिसृष्टिः। एषः महदादिविशेषभूतपर्यन्तः महत्तत्त्वप्रभृतिस्थूलभूतपर्यन्तः।

ऐकान्तिकम्—अवश्यंभावि।

ऐश्वर्यम्—अष्टविधमैश्वर्यम् अप्रतीघातलक्षणम्। अष्टविधम्—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यम्, ईशित्वम्, वशित्वम्।

ऐश्वर्यात् अविघातः—अणिमादिलक्षणात् अविघातः इच्छायांअप्रतिबन्धः। यस्य वस्तुनः इच्छां करोति तदेव तस्य मिलतीत्यर्थः।

ओघः—तुष्टिभेदः। प्राणिनां कालानुरूपाः स्वभावाहारविहारव्यवस्था दृश्यन्ते, तत्रासावेव हेतुः। तदेकदेशश्चाप्रकृतिविकारभूतो भोक्तेत्येतस्माद् दर्शनात् सङ्क्लेषनिवृत्तिं लभते। सा तृतीया तुष्टिरोघ इत्युच्यते।

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थम्—इच्छानिवृत्त्यर्थम्। औत्सुक्यम् इच्छा प्रवृत्तिमात्ररूपा। सांख्यनये गुणत्रयपर्यासंवृत्तिः, न तु न्यायमत इव इच्छायाश्चेतनधर्मत्वम्।

कारणम्—निवृत्तविशेषाणामविभागात्मनाऽवस्थानम्।

करणम्—एकादशेन्द्रियाणि बुद्धिरहङ्कारश्चेति त्रयोदशविधम्। बुद्धिरहङ्कारश्चेति भेदात् करणं कर्त्रादिषट्कारकमध्ये साधकतमरूपम्।

करणकार्यम्—आहार्यम्, धार्यम्, प्रकाश्यञ्चेति। कर्मेन्द्रियाणां वाक्पाणिपादपायूपस्थानां यथाक्रमं वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दा यथायथमाहार्यम्। विषयार्जनसमर्थत्वात् आहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, धारणं बुद्धीन्द्रियाणि कुर्वन्ति, प्रकाशमन्तःकरणं करोति। अपर आह—आहरणं कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति, धारणं मनोऽहंकारश्च, प्रकाशनं बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्चेति। उभयविधान्यपि इन्द्रियाणि दिव्यादिव्यतया दशेतिदशविधमाहार्यमपि अन्तःकरणस्य त्रयस्य प्राणादिलक्षणया वृत्त्या शरीरम्, तच्च पार्थिवादिपाञ्चभौतिकम्। पञ्चविधानि शरीराणि दिव्याऽदिव्यतया दशेति धार्यमपि दशधा। बुद्धीन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा यथायथं व्याप्याः, तेच दिव्याऽदिव्यतया दशेति प्रकाश्यमपि दशधा।

करणवैकल्यात्—बुद्ध्यादित्रयोदशकरणानामपाटवात्।

करणव्यापारः—आहरणम्, धारणम्, प्रकाशश्चेतित्रिधा।

करणानां प्रधानगुणभावः—सर्वापेक्षया प्रधाना बुद्धिः, बाह्यकरणापेक्षया मनोऽहंकारौप्रधानौ, बुद्ध्यपेक्षया च गौणौ।

करणाश्रयिणः—करणम् बुद्धिम् आश्रयन्ते इति करणाश्रयिणः बुद्धिनिष्ठाः।

कर्णत्वक्चक्षूरसननासिकाख्यानि—पंच बुद्धीन्द्रियाणि सन्ति।

कर्मयोनिः—धृतिः, श्रद्धा, सुखम्, विविदिषा, अविविदिषा च।

कर्मेन्द्रियाणां—दशविध आहार्यविषयः (१) दिव्यं वचनम्, (२) अदिव्यं वचनम्, (३) दिव्यमादानम् (४) अदिव्यमादानम्, (५) दिव्यो विहारः, (६) अदिव्यो विहारः, (७) दिव्य उत्सर्गः, (८) अदिव्य उत्सर्गः, (९) दिव्य आनन्दः, (१०) अदिव्य आनन्दः।

कर्मेन्द्रियाणि—कर्मसाधनानि इन्द्रियाणि। वाक्, पाणिः, पादः, पायुः, उपस्थश्चेति पञ्च, यैः कार्यं क्रियते। वाक् वदति, हस्तौ (पाणी) नाना व्यापारं कुरुतः, पादौ गमनागमनं कुरुतः, पायुर्मलोत्सर्गं, करोति, उपस्थः प्रजोत्पत्त्या आनन्दं ददाति।

कललाद्याः—गर्भस्थस्य कललादयो भावाः स्वाभाविकत्वात् सांसिद्धिकाः।

कारण-कार्यविभागात्—उत्पत्तिकाले विद्यमानस्यैव कार्यस्य, कारणसकाशात् आविर्भावात्।

कारणगुणात्मकत्वात्—सुखदुःखमोहरूपत्वात्।

कार्यम्—सूक्ष्माणां मूर्तस्वरूपलाभः, कारणादन-

र्थान्तरभूतम् ।

कार्यतः—महत्तत्त्वादिपृथिव्यन्तं यत् कार्यं तस्मात् ।

कार्यस्य—पृथिव्यादिमहत्तत्त्वान्तस्य ।

कार्याश्रयिणः—शरीरनिष्ठाः धर्माऽधर्मादिभावजन्याः स्थूलदेहाः कललाद्यवस्थात्मका अपि भावा इत्युपचर्यन्ते । भवन्तीति भावाः विकारा अवस्थाविशेषाः ।

कुटुम्बः—दशविधः । मातृपितृपुत्रभ्रातृस्वसृपत्नी दुहितृगुरुमित्रोपकारिणः ।

कृतम्—विस्तृतं कृतं शिष्योपदेशद्वारा प्रकाशितम् ।

कृत्स्नम् अर्थम्—निखिलं विषयम् । ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियाणि मनोऽहङ्कारौ चेति द्वादशेन्द्रियाणि स्वस्वविषयानुसारं प्रकाशितं कृत्वा बुद्धौ स्थापयन्ति ।

कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य—संपूर्णस्य पुरुषप्रकृत्यादिषष्टि (६०) पदार्थव्युत्पादकशास्त्रस्य ।

केनचित्—चेतनेन अधिष्ठात्रा

केवलम्—मिथ्याज्ञानेन अमिश्रितम् ।

केवलविकृतिः—मनश्चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वग्वाक्पाणिपादपायूपस्थाकाशवायुतेजोजलपृथिवीति षोडश पदार्थाः केवल विकृतयः । 'तत्त्वान्तरोपादेयत्वं केवलविकृतित्वम् ।' विकृतिशब्दः कार्यवाचकः । तथा च—षोडश पदार्थाः । कार्याण्येव, न कस्यचित्कारणानीति ।

केवलप्रकृतिः—प्रकृतिः (प्रधानम्) न कस्माच्चिदुत्पद्यते, तस्या एव सकाशात् साक्षात् परम्परया वा सर्वकिमपि उत्पद्यते इति सा केवलप्रकृतिः । तस्यास्तु कारणान्तरं नाभ्युपेयते, अनवस्था—प्रसंगात् ।

कैवल्यार्थम्—पुरुषस्य प्रधानस्य चोभयोः मेलनं दर्शनार्थं कैवल्यार्थं च भवति । तत्र प्रधानेन स्वदर्शनार्थं सुखाद्यात्मकस्वस्वरूपानुभवरूपभोगार्थं पुरुषोऽपेक्ष्यते, पुरुषेण च स्वकैवल्यार्थं कैवल्यकारण विवेकज्ञानरूप प्रकृतिपरिणामार्थं प्रधानमपेक्ष्यते ।

कैवल्यार्थम् प्रवृत्तेः—शास्त्राणां महर्षीणां च कैवल्यार्थं मोक्षार्थं प्रवृत्तिः यस्य कृते भवति स मोक्षाधिकारी आत्मा सिद्धो भवति ।

कोशः—लोम-रुधिर-मांसाऽस्थि-स्नायु-शुक्रलक्षणः षड्विधः । अशितपीताभ्यां सहाष्टौ-इत्यपरे । सूक्ष्मशरीरमेतैः कोशैरावेष्टितम् ।

क्रमशः—प्रथममालोचनं ततः संकल्पस्ततोऽभिमानस्ततोऽध्यवसाय इति क्रमेण व्यापारा भवन्ति ।

क्रिया—परिणामलक्षणा स्पन्दलक्षणा चेतिद्विधा ।

क्षयः—ध्वंसप्रतियोगित्वम्, अनित्यमित्यर्थः ।

ख्यातिः—सदसत्ख्यातिरेव सांख्यानां सिद्धान्तः । सर्वेषामेव भावानां स्वरूपेण नैव बाधः संभवति नित्यत्वात्; संसर्गतस्तु बाधः स्वीकरणीयः । अत्र बाधोनाम—पुरोवर्तितया गृह्यमाणे अधिष्ठाने निषेधधीविषयत्वं, तदेव च असत्त्वं प्रकृते अभिप्रेतम् ।

गर्भस्थितस्य दोषस्मरणं गर्भोपनिषदि वर्ण्यते—पूर्वयोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया । आहारा विविधा भुक्ताः पीता नाना विधाः स्तनाः ॥ जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः । यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म-शुभाऽशुभम् ॥ एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिनः । अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् ॥ तथाहि—"जातो मृतश्च कतिधा न कतिस्तनानां पीतं पयो न कलिताः कति मातरो न । उत्पद्य बन्धविधुतावधुना यतिष्य इत्यस्य विप्लवमुपैतिबहिर्मनीषा ॥" अतएव भृशं रोदिति शिशुः ।

गुणाः—सत्त्वरजस्तमोभेदात् गुणाः त्रयः सन्ति । तथाहि—'सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणत्रयमुदाहृतम्' । पुरुषरूपराज्ञो भोगापवर्गरूपार्थसाधका ये सत्त्वादयस्तेऽपि परार्थत्वात् गुणा इति व्यवह्रियन्ते । वस्तुतः सत्त्वादयो गुणा द्रव्याण्येव ।

गुणकर्तृत्वेऽपि—बुद्ध्यादिरूपेण परिणतानां गुणानां कृतिमत्त्वेऽपि ।

गुणानां प्रयोजनम्—सत्त्वस्य प्रकाशकरणं, रजसः प्रवृत्तिकरणं, तमसश्च नियमनम् (अवरोधनम्) ।

गुणानां स्वरूपम्—सत्त्वं सुखरूपम्, रजो दुःखरूपम्, तमश्च मोहरूपम्, सतः साधोः भावः सत्त्वम् प्रकाशकं ज्ञानं सुखहेतुः । रजो राग-

त्मकं दुःखहेतुः। ताम्यति ग्लानिं प्राप्नोति अनेनेति तमः आवरकं मोहहेतुः। सत्त्वगुणयुक्तस्य मनसो गुणाः—'आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचो, मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानं च निर्दम्भता। कर्मानिन्दितमस्पृहं च विनयो धर्मः सदैवादरा—देते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः॥

गुरुत्वम्—कार्यस्य अधोगमनहेतुर्धर्मः।

गुह्यम्—तत्त्वविषयकधीशून्यानां दुर्बोधम्।

गौणसिद्धयः—अध्ययनम् (तारम्), शब्दः (सुतारम्) शब्देन अर्थज्ञानम्, ऊहः (तर्कः) [तारतारम्], सुहृत्प्राप्तिः (मित्रमिलनम्) [रम्यकम्], दानम् (विवेकबुद्धिः) [सदामुदितम्], इति पञ्च गौणसिद्धयः।

ग्रहणम्—विषयसम्पर्कात् ताद्रूप्यापत्तिरिन्द्रियवृत्तिः।

चक्रकम्—तदपेक्षापेक्ष्यपेक्षितत्वनियन्धनोऽनिष्टप्रसङ्गः।

चरमत्वम्—स्वसजातीयपदार्थप्रागभावानधिकरणत्वम्।

चाकचक्यम्—भ्रमोत्पादको दोषविशेषः। शुक्तौ चाकचक्यदोषवशात् 'इदं रजतम्' इति ज्ञानमुत्पद्यते।

चार्वाकः—बृहस्पतिशिष्यो लोकायताख्योनास्तिकः। चारुः लोकसंमतः वाकः वाक्यं यस्य स इति व्युत्पत्तिः।

चिकीर्षा—कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्यक्रियाविषयिणीच्छा। यथा–पाकं कृत्या साधयामि इत्याकारिकेच्छा। यथा वा पाकः कृत्या साध्यताम् इत्याकारिकेच्छा।

चूलिकार्थाः—मूलिकार्था अपि एते उच्यन्ते। तेच दश। तथाहि–प्रधानास्तित्वम्, एकत्वम्, अर्थवत्त्वम्, अन्यता, पारार्थ्यम्, अनैक्यम्, वियोगः, योगः, शेषवृत्तिः, अकर्तृत्वञ्चेति।

चेतनः पुरुषः—पुरि लिङ्गशरीरे शेते वर्तते इति पुरुषः। तथाच यौगिकपुरुषपदं चेतनस्य हेतुगर्भं विशेषणम्। यतश्चेतनः–पुरुषः सूक्ष्मशरीरवर्ती। अतो जरामरणकृतं दुःखंप्राप्नोतीत्यर्थः।

जन्म—महदादेः सूक्ष्मशरीराश्रितस्य लिङ्गस्य यथासंस्कारं बाह्येन स्थूलशरीरेण सम्बन्धः।

जन्ममरणकरणानाम्—उत्पत्तिनिधनेन्द्रियाणाम्।

जरामरणकृतम्—शरीरादौ पुरुषः जराकृतं मरणकृतं च दुःखं सूक्ष्मशरीरस्य निवृत्तिपर्यन्तं स्वभावेन प्राप्नोति। तथाह याज्ञवल्क्यः—
अवेक्ष्या गर्भवासाश्च कर्मजा गतयस्तथा।
आधयो व्याधयः क्लेशा जरारूपविपर्ययः॥
भवो जातिसहस्रेषु प्रियाप्रियविपर्ययः।

जिज्ञासा—ज्ञातुमिच्छा

जीवन्मुक्तिः—स्वस्वरूपस्य यथार्थज्ञानं जीवन्मुक्तिः। (सांख्य) योगजादृष्टजन्यतत्त्वसाक्षात्कारः (न्या. सि. दी.) अवधारितात्मतत्त्वस्य नैरन्तर्याभ्यासापहृतमिथ्याज्ञानस्य प्रारब्धं कर्म उपभुञ्जानस्य जीवतः सत एव जायमानश्चरमदुःखध्वंसः। (गौ. वृ.)

ज्ञानेन्द्रियाणां—दशविधः प्रकाश्यविषयः (१) दिव्यः शब्दः, (२) अदिव्यः शब्दः, (३) दिव्यः स्पर्शः, (४) अदिव्यः स्पर्शः, (५) दिव्यं रूपम्, (६) अदिव्यं रूपम्, (७) दिव्यो रसः, (८) अदिव्योरसः, (९) दिव्यो गन्धः, (१०) अदिव्यो गन्धः।

तत्कृतः—महदादिलक्षणः सर्गः संयोगजन्य एवेत्यर्थः। प्रकृत्यैव कृतोऽस्ति नान्येन केनचिदितियावत्।

उदासीनःकर्तेव भवति—उदासीनोऽपि पुरुषः बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वात् कर्ता इव भवति, तेन 'करोमि' इति प्रत्यय उपपद्यते।

तदपघातके हेतौ जिज्ञासा—दुःखत्रयोच्छेदके विवेके पुरुषाणां विविदिषा ज्ञानेच्छा भवति।

तदनुपलब्धिः—तेषां प्रधानपुरुषादीनाम् अनुपलब्धिः अप्रत्यक्षम्।

तन्मात्राणि—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेति सूक्ष्मभूतानि। तथाहि—'शब्दतन्मात्रकं स्पर्शतन्मात्रं रूपमात्रकम् रसतन्मात्रकं गन्धतन्मात्रमिति तानितु॥' यान्येव वेदान्तिभिः अपञ्चीकृतभूतानि सूक्ष्मभूतानि इति च अभिधीयन्ते,

न्यायवैशेषिकाभ्यांच परमाणुनाम्ना व्यवह्रियन्ते, तान्येव सांख्यशास्त्रे तन्मात्राणीत्यवगन्तव्यम् ।

तमोयुक्तमनसो गुणाः—'नास्तिक्यं सुविषण्णतातिशयितालस्यं च दुष्टा मतिः प्रीतिर्निन्दितकर्मशर्मणि सदा निद्रालुताऽहर्निशम् । अज्ञानं किल सर्वतोऽपि सततं क्रोधान्धता मूढता प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥

तस्मादपि चासिद्धम्—सामान्यतोदृष्टानुमानात् शेषवदनुमानाच्च यदतीन्द्रियं न सिद्धयति तत् ।

तिर्यग्योनिसर्गः—पशवः, मृगाः, पक्षिणः, सरीसृपाः, स्थावराः इति पञ्चविधः तिर्यग्योनिसर्गः ।

तुष्टिभेदाः—प्रकृतिः, उपादानम्, कालः, भाग्यम्, इति चतस्रः आध्यात्मिकतुष्टयः । अर्जनदोषदर्शनजन्यविषयोपरमजन्या, रक्षणदोषदर्शनजन्यविषयोपरमजन्या, क्षयदोषदर्शनजन्यविषयोपरमजन्या, भोगदोषदर्शनजन्यविषयोपरमजन्या, हिंसादोषदर्शनजन्यविषयोपरमजन्या, इति पञ्च बाह्यतुष्टयः, मिलित्वा नवधा तुष्टयः ।

तुल्यवित्तिवेद्यत्वम्—एकज्ञानविषयत्वम् ।

दुःखभेदाः—दुःखं त्रिविधम् । आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकं चेति ।

दैवसर्गः—ब्राह्मः, प्राजापत्यः, ऐन्द्रः, पैत्रः, गान्धर्वः, याक्षः, राक्षसः, पैशाचः, इति अष्टविधो दैवसर्गः ।

द्वेषभेदाः—रागाणां दशविधत्वात् तद्विषयकद्वेषस्यापि दशविधत्वम् । सिद्धीनामष्टत्वात् तद्विषयकद्वेषस्यापि अष्टविधत्वमिति मिलित्वा द्वेषस्य अष्टादश भेदा भवन्ति ।

द्वयणुकम्—परमाणुद्वयसंयोगेन यदुत्पद्यते तत् । गवाक्षरन्ध्रे दृश्यमानानामेव द्वयणुकत्वमिति द्वयणुकं नातीन्द्रियम् (दिनकरी) । अत्रायं विशेषः-गवाक्षरन्ध्रे दृश्यमानस्यैव द्वयणुकस्य त्रसरेणुरित्यपिव्यवहारः । द्वयणुकार्थे त्रसरेणुरितिपदं केवलरूढमेव (रामरुद्री) अतो न मनुस्मृतेः (अ. ८ श्लो. १३२) विरोधः ।

धर्मपरिणामः । चित्तरूपेधर्मिणि व्युत्थान धर्मस्याभिभवः तथा निरोधधर्मस्य प्रादुर्भावः ।

न कार्यते—न प्रेर्यते ।

न किञ्चित् अस्ति—अन्यद् वस्तु नास्ति ।

न मे—आत्मा न स्वामी । अनेन स्वामिता निषिद्धा ।

नाऽहम्—आत्मा न कर्ता । अनेनात्मनि कर्तृता निषिद्धा ।

नानाविधैरुपायैः—भोग्य-भोगसाधन-भोगायतनात्मकैः परिणामैः ।

नास्मि—आत्मा न क्रियावान् । अनेन अध्यवसायाऽभिमानसंकल्पाऽऽलोचनव्यापारा आत्मनि प्रतिषिद्धाः ।

निःश्रेयसम्—(मोक्षः) प्रकृत्युपरमे पुरुषस्य स्वरूपेण अवस्थानम् अहंकारनिवृत्तौ औदासीन्यम्, आत्यन्तिकदुःखत्रयविगमो वा मोक्षः । (सांख्यः), पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिच्छक्तिर्मोक्षः । (योगः) ।

निरूपितत्वम्—स्वरूपसम्बन्धविशेषः । यथा–राज्ञः पुरुष इत्यत्र पुरुषनिष्ठस्वत्वे राजनिष्ठस्वामित्वनिरूपितत्वम् ।

निर्धर्मकत्वम्—किञ्चिन्निष्ठप्रकारत्वानिरूपकत्वम् । यथा–निर्विकल्पकज्ञानस्य निर्धर्मकत्वम् । मायावादिनस्तु स्वभिन्न धर्मशून्यत्वम् । यथा–ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वम् ।

निर्विकल्पकम्—(प्रत्यक्षम्) वस्तुस्वरूपमात्रग्रहणम् । संमुग्धं वस्तुमात्रं तु प्राग्गृह्णात्यविकल्पितम् । तत्सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः ॥ अलौकिक आलोचनात्मकोज्ञान विशेषः इति केचित् । अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजम् ॥ ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यात्यादिभिर्यया । बुद्धयावसीयते सा हि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥

पञ्चविंशतितत्त्वानि—मूलप्रकृतिः, महत्तत्त्वम्, अहंकारः, पञ्चतन्मात्राणि, पञ्चमहाभूतानि, पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः, पुरुषश्चेति ।

परतः प्रमाणम्—प्रमाणान्तरसापेक्षस्वार्थबोधनसमर्थम् ।

परिणामः—अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः । स च धर्मलक्षणावस्था भेदात् त्रिविधः ।

परिणामतः सलिलवत्—यथा सलिलमेकमपि नारिकेलजम्बीरादिपरिणामभेदात् मधुरतिक्तादिभावं प्रतिपद्यते, तद्वत् प्रकृतिरपि सहकारिभेदादेव विषमा भवति ।

परिशेषानुमानम्—विशेषाभावसहकृतसामान्यहेतुकानुमानम् । तदितरविशेषभाववत्वेसति-सामान्यवत्त्वरूपो हेतुः । यथा—अविगीत शिष्टाचारविषयत्वेन मंगलस्य सफलत्वे सिद्धे मंगलं समाप्तिफलकं समाप्त्यन्याफलकत्वेसति सफलत्वात् इत्यनुमानम् । लक्षणसमन्वयः—तस्मात् समाप्तिरूपात्फलात् इतरो विशेषः स्वर्गादिरूपं फलं तस्याभाववत्त्वे जनकतासम्बन्धेन स्वर्गादिफलस्याभाववत्त्वे सति सामान्यवत्त्वम् फलवत्त्वम् ।

पुराणम्—सर्गप्रतिसर्गवंशमन्वन्तरवंशानुचरितेति पञ्चलक्षणात्मकः शास्त्रविशेषः ।

पुरुषः—चैतन्यमात्रवपुः कूटस्थः नित्यमुक्तः । पुरुषस्य तु बुद्धिच्छायापत्त्या तदैक्यमिवापन्नस्य तद्दर्शनमात्रं भोगः । तस्य विवेकाग्रहादाध्यासिकं भोक्तृत्वम् । विवेकख्यात्या भोक्तृत्वाध्यासमात्रनिवृत्तिर्मोक्षः । वस्तुतः पुरुषो न बद्धो नापि मोक्ष्यते ।

तथा हि—न निरोधो न चोत्पत्ति र्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥'

पुरुषधर्माः—अत्रिगुणत्वम्, विवेकित्वम्, अविषयत्वम्, असामान्यत्वम् चेतनत्वम्, अप्रसवधर्मित्वम्, कारणशून्यत्वम्, नित्यत्वम्, व्यापकत्वम्, निष्क्रियत्वम्, अनाश्रितत्वम्, अलिङ्गत्वम्, निरवयवत्वम्, स्वतन्त्रत्वम्, नानात्वम्, साक्षित्वम् द्रष्टृत्वम्, केवलत्वम्, मध्यस्थत्वम्, अकर्तृत्वम्, इति विंशतिः पुरुषस्य धर्माः ।

पर्यनुयोगः—दूषणार्थं जिज्ञासा ।

प्रकृतिपुरुषयोः साधारणधर्माः—प्रकृतिपुरुषौ उभावपि अनादी, उभावपि अनन्तौ, उभावपि अलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावपि अपरौ, उभावपि सर्वगतौ । नित्यौ लयं कचिदपि न यातः । उभावपि अपरौ—न विद्यते परः, अपरः याभ्यां तौ अपरौ ।

प्रकृति-विकृतिः—महत्त्वाहङ्कारशब्दस्पर्शरूपरसगन्धेति सप्तपदार्थाः प्रकृति-विकृतयः । 'तत्त्वान्तरोपादानत्वेसति तत्त्वान्तरोपादेयत्वं प्रकृतिविकृतित्वम् ।'

प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः—प्रकृत्यादिभिन्नत्वेन आत्मसाक्षात्कारो मोक्षोपायः । प्रकृत्यादिः आख्या यासां ताः प्रकृत्यादिनामवत्यः चतस्रः आध्यात्मिक्यः आभ्यन्तरा तुष्टयः सन्ति । अध्यात्मनि भवा आध्यात्मिक्यः, प्रकृत्यादिभिन्नम् आत्मानं ज्ञात्वाऽपि असच्चिन्तनोपदेशादिना यो नात्मश्रवणादौ प्रयतते तस्य आत्मविषयिण्यः चतस्रः उक्तास्तुष्टयो भवन्ति, अतस्ता आध्यात्मिक्य उच्यन्ते ।

प्रमा—बुद्धिवृत्तिः पौरुषेयबोधश्चेत्युभयमपि प्रमा । मुख्यामुख्यभेदेन सा द्विधा भवति । संशय-विपर्यय-विकल्प-स्मृतिरूपचित्तवृत्तिभिन्ना, या चित्तवृत्तिः सा प्रमा इति अमुख्या बौद्धप्रमा । चित्तवृत्तेः फलं यः पुरुषवर्त्ती बोधः सा मुख्या प्रमा । योऽयं प्रमारूपो बोधो, नाऽसौ पुरुषस्य मुख्यो धर्मः, असंगसाक्षीत्यादिश्रुतिविरोधात्, अपितु चित्तप्रतिबिम्बितचेतनस्य चित्ताऽभिन्नत्वात् पुरुषे स उपचरितः ।

प्रमाणम्—प्रपूर्वस्य मा धातोरर्थः प्रमा, कृत्प्रत्ययार्थश्च करणत्वं इति प्रमाकरणत्वलाभः । चित्तवृत्तेर्यत् साधनं सन्निकर्षरूपव्यापारवच्चक्षुरादि, यच्च पौरुषेयबोधकरणं चित्तवृत्तिरूपं, तदुभयमपि प्रमाणशब्देनोच्यते ।

बाह्या विषयोपरमात् पञ्च—बाह्यास्तुष्टयः पञ्च, विषयोपरमात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां पञ्च विषयाणां उपरमात् दुःखदोषदर्शनेन निवृत्तिभावात् ।

बुद्धेर्विस्तृतः सर्गः—अष्टौ विपर्ययाः, अष्टाविंशतिधा अशक्तयः, नवधा तुष्टयः, अष्टौ सिद्धयः, इति पञ्चाशत् बुद्धेर्विस्तृतः सर्गः ।

बुद्धेर्वृत्तिः—अध्यवसायो बुद्धेर्वृत्तिः।

भावसर्गः—बुद्धितत्त्वजनिता भावसृष्टिः, इयमेव प्रत्ययसर्ग इत्युच्यते। भावसृष्टेः संक्षेपः धर्माद्यष्टभेदेषु, विस्तारश्च पञ्चाशद्भेदेषु भवति। एष च भावसर्गः विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यो महदादिसंर्गः।

भावफलम्—धर्माद् ऊर्ध्वगमनम्, अधर्माद् अधोगतिः, ज्ञानात् मोक्षः, अज्ञानाद् बन्धनम्, वैराग्यात् प्रकृतिलयः, अवैराग्यात् संसारः, ऐश्वर्यात् इच्छानभिघातः अनैश्वर्यात् सर्वत्रेच्छाविघातः—इति अष्टभावानां फलानि।

भावाः—धर्माऽधर्मज्ञानाऽज्ञानवैराग्याऽवैराग्यैश्वर्याऽनैश्वर्येत्यष्टौ भावाः। धर्मादिभिरन्विता बुद्धिस्तदन्वितं सूक्ष्मशरीरम्। 'भावयन्ति यतो लिङ्गं तेन भावा इति स्मृताः॥'

भोगः—सांसारिकसुखदुःखानुभवरूपः। सच परिणामिन्या बुद्धेर्धर्मः। प्रकृतिरेव नानापुरुषाश्रया सती बद्धाभवति, संसारं लभते, मुक्ता भवति च। कंचित् पुरुषमाश्रित्य बध्यते, कंचिदाश्रित्य संसरति, कंचिदाश्रित्य मुच्यते चेतियावत्।

मनोवृत्तिः—संकल्पः मनसोवृत्तिः। तत्र विशिष्टा कल्पना संकल्पः।

मनुष्यसर्गः—मनुष्यसृष्टिः। मनुष्यसर्गे मनुष्य एव वर्तते।

महाभूतानि—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेति पञ्च महाभूतानि। तथाहि–'महाभूतानि पञ्चैव खानिलाग्न्यम्बु-भूमयः।'

मुख्यसिद्धयः—आध्यात्मिकदुःखनाशः (प्रमोदः), आधिभौतिकदुःखनाशः (मुदितम्), अधिदैविकदुःखनाशः (मोदमानः) इति तिस्रो मुख्यसिद्धयः।

रजः उपष्टम्भकम्—रजोगुणः सत्त्व-तमसोरुत्तेजकः।

रजोगुणयुक्तमनसोगुणाः—क्रोधस्ताडनशीलता च बहुलं दुःखं सुखेच्छाधिका, दम्भः कामुकताऽप्यलीकवचनं चाधीरताऽहङ्कृतिः। ऐश्वर्यादभिमानितातिशयितानन्दोऽधिकश्चाटनं प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः।

रम्यकम्—सिद्धिभेदः। यदा कुशलं सन्मित्रमाश्रित्य सन्देहनिवृत्तिं लभते सा रम्यकमिति सप्तमी सिद्धिः।

रागः—महामोहः। शब्दादिषु पञ्चसु दिव्याऽदिव्यतया दशविधेषु विषयेषु रञ्जनीयेषु आसक्तिः।

रागभेदाः—दिव्याऽदिव्यभेदेन दशविधेषु शब्दादिविषयेषु आसक्तिरूपो रागः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेति पञ्चविषया दिव्याऽदिव्यभेदेन दशविधा भवन्ति। अतस्तद् विषयकरागस्यापि दशविधत्वम्।

रूपम्—सप्तविधम्—धर्मः, वैराग्यम्, ऐश्वर्यम्, अधर्मः, अज्ञानम्, अवैराग्यम्, अनैश्वर्यं च। केषाञ्चिन्मते—महान्, अहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि च रूपशब्देनोच्यन्ते।

लक्षणपरिणामः—लक्षणं हि कालः। प्रत्येकस्य वस्तुनः अनागतवर्तमानातीताः तिस्रोवस्थाः। योहि अनागतोभवति स एव वर्तमानो भवति, पश्चात् स एव पुनरतीतो भवति। तिसृष्वप्यवस्थासु 'समाहितं चित्तं' धर्मिरूपेण विद्यते। कोऽपि कालः इतराभ्यां कालाभ्यां न वियुक्तो भवति। अयमेव लक्षणपरिणामः।

लिङ्गम्—लिङ्गयतीति लिङ्गनम् ज्ञापनम्। लिङ्गनात् आत्मनोऽनुमापकत्वात् तन्मात्राणि विहाय त्रयोदशकरणानि बुद्ध्यादीनि लिङ्गशब्देनात्रोच्यन्ते।

लिङ्गम्—महत्तत्त्वादिकार्यजातं लिङ्गमुच्यते। लियं लयं गच्छति प्रधाने इति लिङ्गम्। पृषोदरादित्वात्साधुत्वम्।

लिङ्गसर्गः—तन्मात्रसर्गः। तन्मात्रकृतसूक्ष्मशरीरस्थूलशब्दादिस्थूलमहाभूततत्कृतस्थूलशरीरादिरूपः। बुद्धितत्त्वात् द्विविधा सृष्टिर्भवति, भावसृष्टिः लिङ्गसृष्टिश्च। तत्र लिङ्गसृष्टिः अहंकारद्वारा एकादशेन्द्रियाणां पञ्चतन्मात्राणां च रूपेण भवति, यस्या विस्तारः स्थूलदेहप्रभृतयः सर्वे एव स्थावरजङ्गमाः सन्ति।

लोकः—त्रिविधः—सत्त्वप्रधानः, रजःप्रधानः, तमःप्रधानश्च।

विकल्पः—शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। शब्दश्च ज्ञानं च शब्दज्ञाने, ते अनुपातिनी जनके यस्य सः शब्दज्ञानानुपाती, अर्थात् श्रोतुः श्रूयमाणशब्दहेतुकः, प्रयोक्तुः पदार्थोपस्थितिहेतुकः, बाधनिश्चयेऽपि कलहादौ नरशृङ्गादिप्रयोगे उत्प्रेक्षादौ च सर्वानुभवसिद्धः, वस्तुशून्यः बाधितविषयप्रत्ययः नरविषाणं, खपुष्पं, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्याद्याकारा विकल्पाख्या वृत्तिः।

विकारः—यत् कारणात् उत्पद्यते, यथा—पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्चभूतानि, मनश्चेति षोडशविकाराः।

विदेहमुक्तिः—मृत्योः पश्चात् या मुक्तिः सा विदेहमुक्तिः। दुःखत्रयनिवृत्तिः, स्वस्वरूपावस्थानमात्रम्, केवलीभावः कैवल्यमितियावत्।

विना विशेषैः—विशेषैः सूक्ष्ममातापितृजसहभूतान्यतमं विना।

विपर्ययभेदाः—अविद्या (तमः), अस्मिता (मोहः), रागः (महामोहः), द्वेषः (तामिस्रम्), अभिनिवेशः (अन्धतामिस्रम्) इति पञ्च विपर्ययाः। अतस्मिँस्तद्बुद्धिर्विपर्ययः।

विषयाः—विषिन्वन्तीति विषयाः शब्दादयः। अथवा—विषीयन्ते उपलभ्यन्ते इति विषयाः। ते च द्विविधाः—विशेषाः पृथिव्यादिलक्षणा अस्मदादिगम्याः, अविशेषास्तन्मात्रलक्षणा योगिनामूर्ध्वस्रोतसां च गम्याः।

वैकृतम्—सात्त्विकम्।

वैराग्यभेदाः—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञेति चत्वारो वैराग्यस्य भेदाः। तत्र रागादिकषायाणां परिपाकार्थं विषयेषु दोषाणां भूयोभूयश्चिन्तनरूपः प्रयत्नो यतमानसंज्ञा। पक्वकषायाणामपक्वकषायेभ्यो विभागेन निश्चयकरणं व्यतिरेकसंज्ञा। पक्वानां रागादिकषायाणां चित्ते स्थितिमात्रम्—एकेन्द्रियसंज्ञा। मम एते विषया वश्याः, नाहमेतेषांवश्यः इति त्रिभिन्नो वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

वृत्तिः—व्यापारः।

वृष्टिः—तुष्टिभेदः।

व्यक्तम्—महत्तत्त्वाहंकारमनश्चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वग्वाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाकाशवायुतेजोजलपृथ्वीति त्रयोविंशतितत्त्वानि व्यक्तानि।

व्यक्तधर्माः—हेतुमत्त्वम्, अनित्यत्वम्, अव्यापकत्वम्, क्रियावत्त्वम्, नानात्वम्, आश्रितत्वम्, लिङ्गत्वम्, सावयवत्वम्, परतन्त्रत्वम्, इति व्यक्तस्य नवधर्माः।

व्यक्ताव्यक्तयोः साधारण धर्माः—त्रिगुणत्वम्, अविवेकित्वम्, विषयत्वम्, सामान्यत्वम् अचेतनत्वम्, प्रसवधर्मित्वम्, इति षट् व्यक्ताव्यक्तयोः साधारणा धर्माः।

शेषवृत्तिः—स्थूल-सूक्ष्मशरीरद्वयस्थितिः।

षट् कोषाः—रोमरक्तमांसेति त्रयो मातृतः, स्नाय्वस्थिमज्जेति त्रयः पितृतः, मिलित्वा षट् कोषा भवन्ति।

षष्टितन्त्रस्य षष्टिः पदार्थाः—प्रधाने वर्तमानाः—एकत्वम्, अर्थवत्त्वम्, परार्थता इति त्रयः। पुरुषे वर्तमानाः—अन्यत्वम्, अकर्तृत्वम्, बहुत्वम् इति त्रयः। उभयोर्वर्तमानाः—अस्तित्वम्, योगः, वियोगः इति त्रयः। स्थूल-सूक्ष्मभूतयो वर्तमानाः—स्थितिः, पञ्च विपर्ययाः, अष्टौ सिद्धयः, नव तुष्टयः, अष्टाविंशतिधा अशक्तयः इति एकपञ्चाशत्। मिलित्वा षष्टिः पदार्थाः।

संक्षिप्तोबुद्धिसर्गः—विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्धीति चत्वारो बुद्धेः संक्षिप्तः सर्गः।

समानः—वायुभेदः।

सलिलम्—तुष्टिभेदः।

सांख्यशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—चत्वारोव्यूहा यथा—हेयं, हेयसाधनं, हानं, हानसाधनंचेति। तत्र हेयं—सर्वप्रतिकूलवेदनीयतया दुःखम्, हेयसाधनम्—प्रकृतिपुरुषयोरविवेकः, हानम् दुःखस्यात्यन्तनिवृत्तिः परमपुमर्थः, हानसाधनम् प्रकृति-पुरुषविवेकद्वारा शास्त्रम्।

सा एषा—स्वालक्षण्यरूपा वृत्तिः। स्वालक्षण्यम्—स्वकीयानि लक्षणान्येव।

साधारणं प्रकृतिलक्षणम्—'तत्त्वान्तरोपादनत्वम्'। सांख्यसूत्रोक्तप्रकृतिलक्षणं तु मूलप्रकृतेरेवेतिविवेकः।

समानाभिहारात्—स्वसजातीयवस्त्वन्तरमिश्रणात्।

सामान्यकरणवृत्तिः—सामान्याचासौ करणवृत्तिश्चेति सामान्यकरणवृत्तिः। अन्तःकरणत्रयस्य साधारणोव्यापारः।

सिद्धिभेदाः—अध्ययनम्, शब्दः, ऊहः, सुहृत्प्राप्तिः, दानम्, आध्यात्मिकदुःखनाशः, आधिभौतिकदुःखनाशः, आधिदैविकदुःखनाशः इत्यष्टौसिद्धयः। तथा च विपर्ययभेदीयाविद्यात आरभ्य सिद्धिभेदीयाधिदैविकदुःखनाशपर्यन्तेन पञ्चाशता विस्तृतो बुद्धेः सर्गः।

सुकुमारतरम्—परपुरुषदर्शनाऽसहिष्णु।

सुतारम्—तुष्टिभेदः।

सुनेत्रम्—तुष्टिभेदः।

सुपारम्—तुष्टिभेदः।

सुमारीचम्—तुष्टिभेदः।

सुषुप्त्याद्यवस्थासु गुणानां तारतम्यम्—सुषुप्त्यवस्थायां सर्वपदार्थविषयकावरणसद्भावात् तत्रावरणस्वभावस्तमोगुण एव प्रधानतया वर्तते। स्वप्नावस्थायां च तमोरजसोरुभयोः प्राधान्यम्। जाग्रदवस्थायामपि रजस्तमसी तिष्ठत एव। सत्त्वं च तमोरजोगुणमिश्रितमेव तिष्ठति।

सूक्ष्मशरीरतत्त्वानि—महत्तत्त्वाहङ्कारमनांसि, श्रोत्रघ्राणरसनत्वग्वाचः, वाक्पाणिपादपायूपस्थाः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इति मिलित्वा अष्टादश तत्त्वानि सूक्ष्मशरीरस्येतिसांख्यसिद्धान्तः।

स्थूलशरीरम्—अतिरजोगुणोत्थजनुषा रागेण स्त्री-पुरुषयोः संगमे सति ऋतुकाले गर्भाशये रेतःशोणितयोः सम्मिश्रणं जायते। पूर्वस्मिन् मासे धातूनां वातपित्तश्लेष्मणां क्षोभात् भूतचैतन्ययुक्तं क्लेदमात्रं (कलिलं) जायते। द्वितीये मासे तेजसा वायुना च तत् कलिलं संशुष्कं सत् अर्बुदत्वं (मांसकीलत्वं) प्राप्नोति, "द्वितीये मासे एव गर्भस्य हि संभवतः पूर्वं शिरः संभवतीत्याह शौनकः, शिरोमूलत्वाद्देहेन्द्रियाणाम्। पाणिपादमितिमार्कण्डेयः तन्मूलत्वाच्चेष्टाया गर्भस्य। नाभिरिति पाराशर्यः, ततो हि वर्धते देहो देहिनः। हृदयमिति कृतवीर्यः, बुद्धेर्मनसश्चस्थानत्वात्। मध्यशरीरमिति सुभूतिर्गौतमः, तन्निबद्धत्वात्सर्वगात्रस्य। सर्वाङ्गानि युगपत्संभवन्तीति धन्वन्तरिः।" (सुश्रुत), पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि, सत्त्वादयोगुणाः, ज्ञानेन्द्रियाणि आत्मा चेति गर्भं जीवयन्ति, यथा मलादिदुर्गन्धिना अधः पतनं न भवेद् तथा रक्षन्ति। यस्मात् गर्भवत्या रसवहा नाड्यो बालकस्य नाभिनाड्यां लग्ना भवन्ति तस्मात् तावदाहारयोगात् शिशुर्वृद्धिं प्राप्नोति। ततस्तृतीये मासे इन्द्रियाणि उद्भवन्ति। चतुर्थेमासे स्पन्दते। अङ्गानां स्थैर्यं च भवति। पंचमेमासे रुधिरस्य समुद्भवः। षष्ठे मासे बलस्य वर्णस्य नखलोम्नां च संभवः। सप्तमे मासे शिशुः नाडीस्नायुशिरायुतः समनाः, प्रव्यक्तचैतन्ययुक् च सन् प्रादुर्भूत स्मृतिर्भवति। तत्र नाड्यः स्नायुवाहिन्यो धमन्यः, स्नायवः शरीराच्छादकनाडयः। शिराः—वातपित्तश्लेष्मवहाः इति विज्ञेयम्। अष्टमे मासे स शिशुः त्वङ्मांसवान् भवति। नवमे अथवा दशमे मासे प्रसववायुना प्रेरितो गर्भः सहसा बहिरेति। क्वचिच्च स्वकर्माधीनो गर्भः सप्तमेऽष्टमे वा आयासवशाद् बहिरेति, परं तत्रोत्पन्नः शिशुः प्रायो न जीवति। मातुः सकाशादस्य लोमलोहितमांसानि जायन्ते, पितुः सकाशाच्च स्नाय्वस्थिमज्जानो जायन्ते, तस्मादिदं वपुः षाट्कौशिकमुच्यते। बहिर्गतवायुना संस्पृष्टस्तत्क्षणं विगतस्मृतिः मातृयोनेर्यन्त्रात् कनकतन्तुवत् निःसरणेन जातपीडः स शिशुः हतधन इव रोरुयते।

स्वतःप्रमाणम्—अन्यप्रमाणनिरपेक्षस्वार्थबोधनसमर्थम्।

सांख्यकारिकानुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
शुवल	शुक्ल	४	१
अतीसार	अतिसार	१७	३१
प्रयजोन	प्रयोजन	३४	२३
प्रकति	प्रकृति	३५	२२
षाडशक	षोडशक	३७	१६
उपादनत्वम्	उपादानत्वम्	३८	२
,,	,,	,,	१४
चार्वक	चार्वाक	४५	४
बाला	वाला	४५	११
लिङ्गलिङ्गि	लिङ्गलिङ्गि	५४	२१
लिग	लिङ्ग	५४	३१
|	×	५५	२४
वाक्यर्थं	वाक्यार्थं	५५	२७
मतुप	मतुप्	५७	३५
कोइ	कोई	६४	३
वैशेषिकों	वैशेषिकों	६५	१०
चेन्दवये	चेद्वये	६६	२२
निश्च	निश्चय	६७	११
रोति	रीति	६९	९
ग्रहा	गृहा	७०	२८
पकार	प्रकार	७१	१४
यताने	बताने	७१	२२
सपादनार्थं	संपादनार्थं	७३	३
बत्ता	वक्ता	७५	३४
अविनाववलेन	अविनाभाव बलेन	७७	१२
व ह्न	वह्नि	७९	१७
जसे	जैसे	७९	२०
मे	मेघ	८३	१२
मर्नो	मर्तो	८८	१४
तयोवि	तयोर्वि	१०२	६
क्योकि	क्योंकि	१०३	२२
वस्त	वस्तु	१०५	५
कारणव्यापा रसप्रयोजन	कारणव्यापार सप्रयोजन	१०८	७
हेतुमत	हेतुमत्	११२	२५
पद्दा	पैदा	११२	३५
सकती	सकता	११८	११

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
प्रकृत	प्रकृति	११८	१२
याप्य	व्याप्य	१२०	६
किवा	किया	१२९	८
होगे	होंगे	१२९	३१
व्यक्ता व्यक्त	व्यक्ताव्यक्त	१२९	३८
नरियल	नारियल	१४२	२५
वनाते	बताते	१४४	११
व्यक्ती भवन्ति	व्यक्तीभवन्ति	१४४	३१
×	भी	१४८	३८
हुइ	हुई	१५१	१८
चापर	चापरं	१५३	२३
सुख	सुख	१५६	२
जा	जो	१६०	३१
स्व सजातीय	स्वसजातीय	१६२	१२
अकर्तृत्व	अकर्तृत्व	१६६	२०
अत्रिगुणत्व	अत्रिगुणत्व	१६९	१
ह्रस	ह्रस	१७५	२४
गुणक्रेमण	गुणक्रमेण	१७६	४
तैसज	तैजस	१८६	१
कारणो	करणों	१९८	१३
शब्दादषः	शब्दादयः	२०५	२
धार्य	धार्य	२०५	२०
शान्त	शान्त	२११	८
अकाश	आकाश	२११	२०
सूक्ष	सूक्ष्म	२१२	२
रूक्ष्य	सूक्ष्म	२१२	२५
विशेव	विशेष	२२२	१७
तन्मात्राआ	तन्मात्राओं	२२५	१४
त्रयोदय	त्रयोदश	२२९	८
यिकाल	त्रिकाल	२३०	२५
विपय्य	विपर्यय	२४४	२१
दिव्यरूं	दिव्यरूं	२४७	१
नवव	नव	२५२	२२

चित्रपट

चित्रपट संख्या १
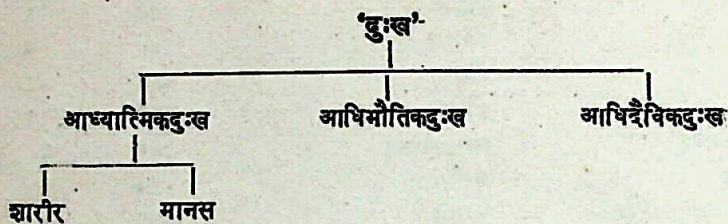
चित्रपट संख्या २

चित्रपट संख्या ३

चित्रपट संख्या ४

चित्रपट संख्या ५

चित्रपट संख्या ६
'भाव'
सात्त्विक भाव
तामस भाव
धर्म
ज्ञान
वैराग्य
ऐश्वर्य
अधर्म
अज्ञान
अवैराग्य
अनैश्वर्य
चित्रपट संख्या ७
'इन्द्रिय'
बुद्धीन्द्रिय
कर्मेन्द्रिय
उभयेन्द्रिय
चक्षु
श्रोत्र
घ्राण
रसना
त्वक्
वाक्
पाणि
पाद
पायु
उपस्थ
मन
चित्रपट संख्या ८
'बुद्धीन्द्रिय-व्यापार'
शब्दगुण
स्पर्शगुण
रूपगुण
रसगुण
गन्धगुण
चित्रपट संख्या ९
'कर्मेन्द्रिय-व्यापार'
वचन
आदान
गमन
मलत्याग
रमण
चित्रपट संख्या १०
'प्राण'
प्राण
अपान
व्यान
उदान
समान
चित्रपट संख्या ११
'वृत्ति'
युगपत् वृत्ति
अयुगपत् वृत्ति

चित्रपट संख्या १२
'करण'
अन्तःकरण
बाह्यकरण
बुद्धि
अहंकार
मन
ज्ञानेन्द्रिय
कर्मेन्द्रिय
वृत्ति
सामान्यवृत्ति
असामान्यवृत्ति
प्राणादिपञ्च
अध्यवसायात्मकवृत्ति
अहंकारात्मकवृत्ति
संकल्पात्मकवृत्ति
चित्रपट संख्या १३
'विषय'
विशेष (स्थूलविषय)
अविशेष (सूक्ष्मविषय)
सूक्ष्मशरीर
स्थूलशरीर
महाभूत
पञ्चतन्मात्राएँ
चित्रपट संख्या १४
'भाव'
सांसिद्धिकभाव
प्राकृतिकभाव
वैकृतभाव
चित्रपट संख्या १५
'सर्ग'
प्रत्ययसर्ग
भौतिकसर्ग
चित्रपट संख्या १६
'परिणाम'
सरूपपरिणाम (साम्यावस्था)
विरूपपरिणाम (वैषम्यावस्था)

चित्रपट संख्या १७
'विपर्यय'

- तम (अविद्या)
- मोह (अस्मिता)
- महामोह (राग)
- तामिस्र (द्वेष)
- अन्धतामिस्र (अभिनिवेश)

चित्रपट संख्या १८
'अशक्ति'

- इन्द्रियवध
  - आन्ध्य
  - बाधिर्य
  - अजिघ्रता
  - मूकता
  - जडता
  - उन्माद
  - कुष्ठिता
  - कौण्य
  - क्लैब्य
  - उदावर्त
  - पङ्गुता
- बुद्धिवध
  - तुष्टि विपर्यय
    - अनम्भ
    - असलिल
    - अनोघ
    - अवृष्टि
    - अपार
    - असुपार
    - अपारापार
    - असुमारीच
    - अनुत्तमाम्भ
  - सिद्धिविपर्यय
    - अतार
    - असुतार
    - अतारतार
    - अप्रमोद
    - अप्रमुदित
    - अप्रमोदमान
    - अरम्यक्
    - असदामुदित

चित्रपट संख्या १६
'तुष्टि'
आध्यात्मिकी
बाह्य
प्रकृति (अम्भ)
उपादान (सलिल)
काल (ओघ)
भाग्य (वृष्टि)
पार
सुपार
पारपार
अनुत्तमाम्भ
उत्तमाम्भ
चित्रपट संख्या २०
'सिद्धि'
ऊह
शब्द
अध्ययन
त्रिविधदुःखाभाव
सुहृत्प्राप्ति
दान
आध्यात्मिक दुःख
आधिदैविक दुःख
आधिभौतिक दुःख

हमारे कतिपय प्रमुख प्रकाशन

प्राकृतप्रकाशः । संस्कृत हिन्दी टीका, सं० पं० जगन्नाथ शास्त्री हो

काव्यप्रकाशः । पं० हरिशंकर शर्मा कृत 'नागेश्वरी' टीका सहिता । सं० न्यायोपाध्याय पं० ढुण्ढिराज शास्त्री

रघुवंशम् । मल्लिनाथ कृत 'संजीवनी' संस्कृत टीका तथा हरगोविन्द कृत 'मणिप्रभा' हिन्दी टीका सहित संपूर्ण ।

नाट्यशास्त्रम् । सं० पं० बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय संशोधित । संपूर्ण

काव्यालङ्कारः । भामह । पं० बटुकनाथ शर्मा तथा पं० बलदेव उपाध्याय द्वारा भूमिका आदि सहित । २५—००

नलचम्पूः अथवा दमयन्ती कथा । चण्डपाल कृत 'विषमपद' टीका श्री कैलाशपति त्रिपाठी कृत हिन्दी टीका, नोट्स, भूमिकादि सहित ४०—००

वाक्यपदीयम् । (ब्रह्मकांड) पं० श्री सूर्यनारायण शुक्ल कृत 'भाव-प्रदीप' टीका तथा श्रीरामगोविन्द शुक्ल कृत हिन्दी टीका । २५—००

कादम्बरी । पं० कृष्णमोहन शास्त्री तथा आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र कृत 'चन्द्रकला' संस्कृत तथा 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका, नोट्स, भूमिका आदि सहित । १-२ भाग संपूर्ण ८०—००

तर्कभाषा । आचार्य विश्वेश्वर शिरोमणि कृत हिन्दी टीका २५—००

वक्रोक्तिजीवितम् । श्रीराधेश्याम मिश्र कृत 'प्रकाश' हिन्दी टीका सहित ५०—००

शुक्रनीतिः । पं० ब्रह्मशंकर मिश्र कृत 'विद्योतिनी' हिन्दी टीका सहित । पंडितराज पद्मभूषण श्री राजेश्वर शास्त्री द्रविड कृत प्रस्तावना सहित ४०—००

दशरूपकम् । आचार्य श्री चरणतीर्थ महाराज कृत विस्तृत अंग्रेजी व्याख्या, टिप्पणी, सुविस्तृत संस्कृत भूमिका आदि सहित । प्रथम प्रकाश १५—००

अलङ्कारसर्वस्वम् । जयरथ कृत 'विमर्शिनी' तथा डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी टीका परीक्षांश २५—०० सम्पूर्ण ६०—००

चित्रमीमांसा । जगदीशचन्द्र मिश्र कृत संस्कृत हिन्दी टीका सहित ३०—००

काव्यालङ्कारसूत्राणि । आचार्य वामन कृत । डॉ० बेचन झा कृत हिन्दी टीका युक्त । १५—००

तृतीय अधिकरण ५—००

नाट्यशास्त्रम् । प्रो० बाबूलाल शुक्ल शास्त्री कृत 'प्रदीप' हिन्दी टीका, १-३ भाग २२५—००

मेघदूत । जगद्[illegible]र्य श्री चरणतीर्थ जी महाराज कृत 'कात्यायनी' संस्कृत टीक[illegible]नुवाद तथा विशद आंग्लभूमिका सहित २५—००

प्राप्तिस्थान—चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी—२२१००१